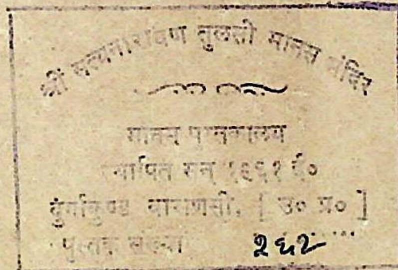
रामभक्ति शाखा



रामनिरंजन पांडेय,

साहित्यशास्त्री, वेदान्तशास्त्री, एम. ए., पीएच-डी.

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, उसमानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद

नवहिन्द पब्लिकेशन्स, हैदराबाद

प्रकाशक :
नवहिन्द पब्लिकेशन्स
८३१, बेगमबाज़ार, हैदराबाद

मुद्रक :
कमर्शियल प्रिंटिंग प्रेस
८३१, बेगमबाज़ार, हैदराबाद

प्रथम संस्करण
मकर संक्रान्ति, २०१६
१५ जनवरी, १९६०

मूल्य
बीस रुपये

[नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा पीएच-डी. उपाधि के लिए शोध-प्रबन्ध के रूप में स्वीकृत]

'सीय राममय सब जग जानी।' अरपि ग्रंथ जोरउँ जुग पानी ।।

तथा

त्रिभुवनपति राघवेन्द्र, राजेन्द्र राम के रहस्य को समझने के पथ पर मिला हुआ, चिन्तन और अनुभूति का यह सुमन-संग्रह, लोकसेवक श्री राजेन्द्र प्रसाद जी की कर-कमलाञ्जलि में अर्पित हो कर उनके मस्तक को अनंत काल के लिए गौरवान्वित करे।

अनुक्रम

			पृष्ठ
अवतरण विधान			एक
आमुख		डॉक्टर बलदेव प्रसाद मिश्र	ग्यारह
अध्याय	१	पूर्व परम्पराएँ	१
अध्याय	२	रामभक्ति में विमल सन्तोष	५७
अध्याय	३	विमल विज्ञान-वैराग्य का सिद्धान्त	१४६
अध्याय	४	रामभक्ति : जीवन और विमल वैराग्य	२३१
अध्याय	५	विशुद्ध संतोषमय जीवन का स्वरूप	२५६
अध्याय	६	विमलज्ञानयुक्त जीवनदर्शन	२६४
अध्याय	७	विमल विज्ञानमय जीवनदर्शन	२७२
अध्याय	८	अविरल हरिभक्ति : उच्चतम जीवनदर्शन	२८९
अध्याय	९	तुलसी के मानसेतर ग्रंथ	३१४
अध्याय	१०	तुलसी की भक्ति-साधना : अवशेष	३४५
अध्याय	११	अन्य कवि : साधना और सिद्धान्त	३९६
	परिशिष्ट १	सन्दर्भ तथा सहायक ग्रन्थों की अनुक्रमणिका	५१५
	परिशिष्ट २	सन्दर्भ-सूची	५१९

अवतरण विधान

रामभक्तिशाखा के साधकों ने हिन्दी साहित्य-साधना के क्षेत्र में मर्यादोपासना तथा माधुर्योपासना के द्वारा अपने हृदय के स्वच्छ वलिदान और पवित्र आनंद के पक्षों का अनुपम शृंगार किया है। वास्तव में ये दोनों पक्ष एक ही सत्य के दो पार्श्व हैं। पवित्र प्रेम का अकलुप आनंद ही व्यक्ति के भीतर अनंत प्रिय के लिए, विश्वरूप भगवान् के लिए पवित्र वलिदान की महा साधना का आनंदात्मक भाव प्रस्तुत करता है। मर्यादापुरुषोत्तम का जीवन इन दोनों पार्श्वों से समृद्ध है। उन्होंने अवतीर्ण हो कर विश्व को जितना ही प्रेम किया उतना ही उसके लिए उत्सर्ग भी किया। विश्वमंगलविधान के लिए उन्होंने अपने जीवन को वलिदानमय वना दिया था। इसी वलिदान से मुग्ध हो कर मधुरोपासकों ने उनके जीवन के आनंदोपभोग को अपनी आँखों में विठा लिया। उनके वलिदान की स्मृति की पीड़ा को वे नहीं सह सकते थे; इसीलिए उन्होंने विश्वमंगल विधायक के जीवन के माधुर्य की उपासना में ही अपने को खो दिया। पर इस मधुरोपासना का वोजभाव तो मर्यादा पुरुषोत्तम के वलिदानमय जीवन की मर्यादाओं के साक्षात्कार के बाद भक्त-हृदय में उत्पन्न हुई उनके प्रति अनंत कृतज्ञता-वुद्धि और उसके आधार पर उत्पन्न हुआ अनंत पवित्र प्रेम ही है।

अनंत जब अवतीर्ण होता है तव अपने साथ अनंत मर्यादा, अनंत प्रेम, अनंत शक्ति, अनंत शील और अनंत सौंदर्य को ले कर ही आता है। अथर्ववेदीय रामपूर्वतापनीय उपनिषद्, रामोत्तर तापनीय उपनिषद्, सीतोपनिषद्, शौनकीयतन्त्र, वाल्मीकि रामायण, आलवार संत शठकोप, आलवार भक्त कुलशेखर, आचार्य रामानुज, वेदान्तदेशिक, स्वामी राघवानंद, आचार्य रामानन्द, संत कवीर, सूरदास तथा गोस्वामी तुलसीदास इत्यादि सब भक्त और संत अनंत सीताराम की अनंतता की उपासना करते हैं। इन सव के सीताराम सान्त और अनंत दोनों हैं। शरीर चाहे सीमित हो; पर इसके भीतर रहने वाली आत्मा तो अनंत है। विन्दु और सिन्धु का यह योग, सान्त और अनंत का यह मिलन सब संतों और भक्तों ने अनुभव किया था। कृष्णदास पयहारी, स्वामी अग्रदास, स्वामी कील्हदास तथा महात्मा नाभादास इत्यादि ने इन्हीं सान्त और अनंत सीता-राम की उपासना की थी ‡।

मर्यादाएँ सीमा के शरीर के भीतर ही साकार होती हैं। इसीलिए मर्यादा के उपासक भक्तों ने शरीरी अनंत की भी उपासना की।

---

‡ पृष्ठ १ से ५६ तक।

मर्यादोपासक संतों में गोस्वामी तुलसीदास जी सर्वश्रेष्ठ और महनीय नेता हैं। उन्होंने मर्यादापुरुषोत्तम के अनंत तेजोमय, बलिदान-सिक्त जीवन का अंकन करके हृदय-हृदय में राम को आलोकित करना चाहा था। विमल संतोष, विमल विज्ञान-वैराग्य, विमल वैराग्य, विशुद्ध संतोष, विमल-ज्ञान, विमल-विज्ञान तथा अन्तिम अविरल हरिभक्ति के इन सात सोपानों की ऊँचाई पर मानव-मन को ले जाने का स्तुत्य और सफल प्रयत्न गोस्वामी तुलसी दास जी ने किया। अनंत राम के अद्वैत जीवन के इंगित प्रस्तुत करने वाले ये सात सोपान सीमित राम के विशिष्ट जीवन के बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किंधा, सुन्दर, लंका तथा उत्तरकांडों के क्रमिक विकासों के साथ जुड़े हुए हैं। क्रिया के आधार शरीर और आदर्शों के आधार आत्मा का यही अद्वैत और पवित्र एकीकरण तुलसी को अभीष्ट था।

विमल और विशुद्ध विशेषणों को संतोष, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य के साथ जोड़ कर गोस्वामी जी ने एक मौलिक क्रान्ति की स्पष्ट सूचना दी है। जीवन और अध्यात्म की एकता अवतारवाद के भीतर सहज-सुन्दर भाव भूमि पर हुई; पर उसकी इस प्रकार की जागरूक व्याख्या का श्रेय केवल गोस्वामी जी को प्राप्त हुआ। ज्ञानात्मिका मुक्ति की वेदान्ती चिन्तनभूमि से भावात्मिका मुक्ति की अनुभूत्यात्मिका भूमि पर जीव को उतार कर उसे संतोष, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य और अविरल हरिभक्ति का सहज गम्य अमोघ वरदान प्रेमाभक्ति में प्राप्त कराया गया। जीवन का त्याग न करके भी इस भक्ति-क्षेत्र में वासनाओं से कृती वीर की तरह युद्ध करके नर, नारायण हो गया। नरत्व के भीतर नारायणत्व की यह अवतारणा भक्ति के कर्मठ और भावपूर्ण प्रांगण में हुई। भक्ति को पा कर जीवन अपना रूप परम विकास की अवस्था तक पहुँचा कर विश्वरूप भगवान् का सेवक, सखा और सब कुछ बन गया।

वेदान्त की अरूपात्मिका चिन्तन-साधना के भीतर संतोष, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य बिना विशेषण के रह सकते थे; पर रूपात्मिका भाव-साधना के भीतर उन्हें विशेषण विशिष्ट हो कर भक्ति के भव्य भवन में रहने का अवसर मिल सका। ज्ञानात्मिका साधना रूप से अरूप की तरफ़ गयी; पर भावात्मिका साधना सीमित रूप और अनत रूप के कोमल पथ पर अवतीर्ण हुई; इसीलिए उसे विमल और विशुद्ध आभूषणों से विभूषित हो कर अभिसार यात्रा करनी पड़ी।

यद्यपि विमलानन्द और विशुद्धानन्द की धारणा वेदान्ती साधना में भी बद्धमूल थी; पर वेदान्ती आनंद "माया महा ठगिनि मैं जानी"‡ की धारणा पर आधारित था। सगुण भक्ति-साधना के भीतर माया और मायापति के अनंत श्रृंगार की अनुभूति के भीतर से विशुद्ध

---

‡ कबीर बीजक : संपादक, हंसराज शास्त्री, महावीर प्रसाद, कबीर ग्रंथ प्रकाशन समिति, हरक, बाराबंकी, उत्तर-प्रदेश, पृष्ठ ४९, शब्द ५९।

सूचना :—इस ग्रंथ के मानसोद्धरण. हिन्दी पुस्तक एजेंसी, २०३ हरिसन रोड, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित तथा श्री रामदास जी गौड़ द्वारा संपादित रामचरितमानस के हैं। प्रकाशन वर्ष— तुलसी संवत् ३१२।

और विमल आनंद प्राप्त हो रहा था। यह भक्ति "माया महा ठगिनि मैं जानी" को अपना आधार नहीं बना सकती थी। कबीर की ज्ञानात्मिका भक्ति में तो उसको स्थान मिला; पर तुलसी की भावात्मिका भक्ति 'सीय राममय सब जग' ‡ की भावभूमि पर ही संभव थी। 'कौसल्या हितकारी' † राम से आरम्भ करके 'सीय राममय सब जग' तक पहुँचने वाली तुलसी की अभिसार यात्रा सीमित रूप और अनंत रूप के पथ की कोमल यात्रा थी। वह रूप से अरूप की ओर नहीं गयी। उसके पथ पर मुक्ति भी अनंत साकेतलोक में अनंत और अमित सुन्दर सीता-राम के साथ अनंत निवास के रूप में ही प्राप्त होती है।

अभाव की पूर्ति में सन्तोष होता है। स्वार्थ के अभावों की प्राप्ति-कामना के ऊपर उठ जाना वेदान्तियों का संतोष है। स्वार्थ के अभावों को विश्व का अभाव मान कर उसे विश्वमंगल के लिए प्राप्त करना भक्त का संतोष है। अपनी वासनाओं की पूर्ति से, अभाव की समाप्ति में, जो संतोष प्राप्त होता है उसे भक्त मलज संतोष या वासनात्मज संतोष मानता है। यदि उसकी अभावपूर्ति विश्वहित-रत हो जाती है तो उसे विमल संतोष प्राप्त हो जाता है। इस संतोष में स्वार्थगत वासना का मल नहीं होता। इसीलिए गोस्वामी जी ने बालकांड को विमल संतोष संपादन सोपान की संज्ञा दी है। इस कांड में विश्वप्रतिनिधि मनु और उनकी पत्नी सतरूपा ने अपने को प्रेम से तपा कर अनंत प्रेममय परमात्मा को राम-सीता के रूप में पृथ्वी पर पृथ्वी के ही शील-विकास के लिए उतार लिया था। अपने राजसी भोगैश्वर्य से विरक्त हो कर हृदय के अनासक्तियोग से विश्व-मंगल विधान के लिए अनंत शक्ति-शील-सौन्दर्य के निधान को धरती पर उतार लेना ही विमलसंतोष का परिणाम है। मनु और सतरूपा के हृदय में विमल संतोष की सिद्धि ने उन्हें अपने स्वार्थ के ऊपर उठा कर विश्वार्थ में लीन कर दिया था। विश्व के भीतर व्यक्ति का मंगल जब विश्व का मंगल बन जाता है तब वह अपने वैयक्तिक स्वार्थ के ऊपर उठ जाता है। वैयक्तिक स्वार्थ की सिद्धि से जो संतोष होता है वह क्षुद्रवासना से संपृक्त हो कर मलिन रहता है। इस क्षुद्र वासना के ऊपर उठा हुआ विश्वमंगल विधान से उत्पन्न संतोष विमल हो जाता है। विश्वार्थ के लिए मनु और सतरूपा ने अनंत शक्ति, शील और सौन्दर्य को विश्व में अवतरित किया था; इसीलिए उनका सौजन्यपूर्ण यह प्रयास विमल संतोष का कारण बना। मानस के बालकांड में विश्वमंगल विधान की समग्र योजना शक्ति, शील और सौन्दर्य के आधार पर बनी है; इसीलिए इस कांड में गोस्वामी जी ने राम-जन्म से ले कर अन्य सब संबद्ध घटनाओं और चेष्टाओं के भीतर से विमल संतोष का अनुभव किया है। राम का बाल जीवन भी क्षुद्र स्वार्थों के ऊपर उठा हुआ है तथा विश्व-मंगल-विधान का संकेत पर्याप्त मात्रा में दे चुका है; अतः उससे भी विमल संतोष की ही सिद्धि हुई है। लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न में भी इसी विमल संतोष विधायक विश्वमंगल विधान की योग्यता बाल्यावस्था से ही दिखाई पड़ती है $।

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७ के बाद। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १७९ के बाद। $ पृष्ठ ५७ से १४५ तक।

मानस का अयोध्याकांड गोस्वामी जी के अनुसार विमल विज्ञान-वैराग्यकांड है। समत्व दर्शन विज्ञान है तथा अनासक्ति-योग वैराग्य है। विज्ञान और वैराग्य विमल तब होते हैं जब उनका योग प्रेम से स्थापित हो जाता है। अनुरागपूर्ण समत्व-भाव और अनुरागपूर्ण वैराग्य-भाव विमल हो जाते हैं। विश्वमंगल विधायक राम विश्व में समत्व का दर्शन करता है और उसके लिए अपने हृदय में अखंड प्रेम का भाव धारण करता है। अकारण अनुराग और अकारण वैराग्य, विमल विज्ञान और विमल वैराग्य होते हैं। ये दोनों अवस्थाएँ आनंदात्मिका हैं। आघात लगने पर जो क्षोभपूर्ण वैराग्य भाव पीड़ा के कारण के प्रति हो सकता है वह विमल नहीं है। अपने स्वार्थ के लिए सबसे समभाव से प्रेम करना भी विमल विज्ञान का समत्वभाव नहीं है। विश्वमंगल विधान के लिए सबसे समभाव की मैत्री और अपने स्वार्थों के प्रति विरक्ति ही विमल विज्ञान और विमल वैराग्य हैं। मानस के अयोध्याकांड में इन्हीं दो अवस्थाओं का मानस के सब आदर्श पात्रों के शील में विवेचन किया गया है। इन दोनों का अभाव शील के ह्रास का आधार माना गया है‡।

विमल वैराग्य के इसी आधार पर मानस का अरण्यकांड केवल विमल वैराग्य का विवेचन पात्रों के शील के आधार पर प्रस्तुत करता है†।

किष्किंधाकांड में राम का जीवन पूर्ण प्रौढावस्था में पहुँच गया है; इसीलिए विश्वमंगल विधान का जो प्रथम उन्मेष बालकांड में विमल संतोष को साथ ले कर उत्पन्न हुआ था वह चिन्तन और अनुराग की प्रौढ़ता प्राप्त करके विशुद्ध संतोष का रूप प्राप्त कर सका है। भवभूति के अनुसार "कालेनावरणत्ययात्परिणतं यत्स्नेहसारेस्थितं $"—काल के द्वारा आवरण के नष्ट हो जाने के कारण प्रेम परिणत हो कर स्नेह के अनंत तत्त्व को प्राप्त कर विशुद्ध हो जाता है। विश्वप्रेम की इसी विशुद्धता को राम के शील में इस कांड में पूर्ण विकास प्राप्त हो चुका है। यहाँ के सब आदर्श पात्रों में गोस्वामी जी ने विशुद्ध प्रेम के इसी अद्वैत का विवेचन किया है*।

रामचरितमानस का सुन्दरकांड विमल ज्ञान का सोपान है। ज्ञान अपने केवल चिन्तन के पक्ष को ले कर निर्गुण ब्रह्म का बौद्धिक साक्षात्कार कर सकता है; पर भक्ति की साधना शक्ति, शील और सौन्दर्य के अद्वैत का, कर्मभूमि पर, अपने हृदय के मधुर अनुराग के भीतर साक्षात्कार करना चाहती है। निर्गुण की इसी सगुण उपलब्धि को गोस्वामी जी विमल ज्ञान कहते हैं। मलिन जगत् के भीतर जब अनंत अवतीर्ण होता है तब विमल ज्ञान उसका सहचर बन कर आता है और उसके आलोक में विश्व में मनुष्य की सब चेष्टाएँ अनंत से संबद्ध हो कर विमल और पवित्र हो जाती हैं। उसका हर्ष भी अनंत को प्राप्त करके विमल हो जाता है और उसकी वेदना अनंत से संबद्ध हो कर अकलुष हो जाती है। हृदय की इसी विमलावस्था का चित्रण गोस्वामी जी ने सुन्दरकांड के राम तथा अन्य आदर्श पात्रों के शील में किया है§।

‡ पृष्ठ १४६ से २३० तक। † पृष्ठ २३१ से २५६ तक। $ उत्तररामचरित, अंक १, श्लोक ३९। * पृष्ठ २५६ से २६५ तक। § पृष्ठ २६४ से २७१ तक।

मानस का लंकाकांड केवल विमल विज्ञान का सोपान है। विज्ञान का समत्व भाव यहाँ मानव और राक्षस में अन्तर नहीं देखता; पर उनके शील के अन्तर को अवश्य ध्यान में रखता है। राम के भीतर राक्षसों से वैर नहीं है। वे भी उन्हें उतने ही प्रिय हैं जितने कि अयोध्या के निवासी; पर दुःशील स्वभाव के लिए दण्ड दे कर फल भोग के द्वारा उनके पापों का क्षय ही राम का लक्ष्य है। इसी दृष्टिकोण से देखने पर यहाँ युद्ध भी धर्म हो गया है और शासक राम का दंडविधान विमल समत्व के प्रेम के आधार पर आधारित ही दिखाई पड़ता है। इस सोपान में जितने आदर्श पात्र हैं सब इसी लक्ष्य की सिद्धि की दिशा में अग्रसर होने का प्रयत्न करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं ‡।

मन जब इस समत्व भाव के ऊपर उठता है, तब जगत्‌के समत्व के भीतर आत्मैक्य भाव के आधार पर परमात्मा में आत्मा के लय की सिद्धि उसे प्राप्त हो जाती है। यही लय मानस के अन्तिम सोपान की 'अविरल-हरि-भक्ति' में चित्रित हुआ है। गोस्वामी जी के द्वारा प्रस्तुत किया गया उच्चतम जीवन दर्शन 'अविरल हरि-भक्ति' ही है। इसे प्राप्त करके मानव अपने शील के सर्वोच्च विकास को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर उसका नर अपने नारायणत्व की सिद्धि तक पहुँच जाता है। इस अन्तिम सोपान में गोस्वामी जी ने मानव जीवन के सब सूत्रों को विकसित करके नारायणत्व की भावभूमि तक पहुँचा दिया है †।

गोस्वामी जी ने अपने मानसेतर ग्रंथों में भी जीवन दर्शन और अध्यात्म दर्शन का बड़ा सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। इस ग्रंथ के नवम अध्याय में मानसेतर ग्रंथों के जीवनदर्शन और अध्यात्मदर्शन के दृष्टिकोणों का विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है। इस अध्याय में विनय पत्रिका के दैन्य पक्ष और जीवन तथा दर्शन में उसकी महत्ता, कृष्ण गीतावली के माधुर्य, रामलला नहछू के विवाह मंगलोत्सव की पवित्र अद्वैत परिणति, वैराग्य संदीपिनी के संत-स्वभाव, संत महिमा और शान्ति के स्वरूप, बरवैरामायण में व्यक्त हुई भक्ति, पार्वती मंगल में चित्रित नारी के शील के उच्चतम निर्माण, जानकी मंगल में प्राप्त होने वाली सीताराम के पवित्र शील की विश्वव्यापिनी झाँकी, रामाज्ञाप्रश्न के शकुन शास्त्र में भी दिखाई पड़ने वाले सशक्त भक्तिदर्शन, दोहावली की अनन्य प्रेमभक्ति, कवितावली के राम के विश्वमंगल विधायक शील तथा गीतावली में दृष्टिगोचर होने वाली, आनंद की समाधि के भीतर, प्रेम की मधुमय अंतःसाधना की मानस पूजा पर यथाशक्ति प्रकाश डाला गया है $।

इस ग्रंथ के लेखन-काल में डॉक्टर निकॉल मैकनिकॉल, एम. ए., डी. लिट्. के विख्यात ग्रंथ 'इंडियन थीइज़्म' को पढ़ने का अवसर मिला। इस ग्रंथ का अध्ययन करने पर ऐसा लगा कि सगुण उपासना के मूल रहस्यों और विशेषतः गोस्वामी जी की सगुणोपासना के भीतर विकसित हुए जीवनदर्शन और अध्यात्म दर्शन को कृती लेखक अवधी तथा ब्रज भाषा और नागरी लिपि का ज्ञान न रहने के कारण पूर्णतः हृदयंगम नहीं कर सका

‡ पृष्ठ २७२ से २८८ तक। † पृष्ठ २८९ से ३१३ तक। $ पृष्ठ ३१४ से ३४४ तक।

है। अज्ञान के परिवेश से इस लेखक के द्वारा अनजान में तुलसी के सम्बन्ध में भ्रम प्रचारित हो गया था। उनकी अनंत स्पर्शिणी साधना का पूर्ण परिचय न प्राप्त कर सकने के कारण इस विचार-साधक ने गोस्वामी जी पर जाति-पक्षपात और बहुदेववादिता का अभियोग लगा दिया था। अतः कम से कम हिन्दी समझने वाले आंग्लभाषाविदों के भीतर यह भ्रम बार-बार न प्रचारित होता चले—यह सोच कर केवल भ्रम निराकरण के लिए ही इस ग्रंथ का दसवाँ अध्याय लिखना पड़ा। यदि श्री डॉक्टर निकॉल मैकनिकॉल महोदय का ग्रंथ उपलब्ध न हुआ होता तो गोस्वामी जी की भक्तिसाधना के जीवनदर्शन और अध्यात्म दर्शन के कुछ पक्षों की ओर ध्यान आकर्षित न हुआ होता। अतः इस दशम अध्याय का पूरा श्रेय मैं सच्चे भाव से इस कृती विचारक को देता हूँ। यों तो श्री डॉक्टर मैकनिकॉल ने तुलसी की अथाह साधना के परिणाम—रामचरितमानस—पर बहुत-सी उचित और मधुर बातें ही हैं, पर चन्द्रमा में सुन्दर श्यामता की तरह उनके चिन्तन-चन्द्र में मेरी अल्पमति के अनुसार कुछ श्यामलता रह गयी थी और उसी को दूर करने का यथाशक्ति प्रयास इस ग्रंथ के दशम अध्याय में हुआ है‡।

अंतिम ग्यारहवाँ अध्याय रामभक्ति-साधना के तुलसीतर साधकों की साधना का मूल्यांकन प्रस्तुत करता है। इस अध्याय में मर्यादोपासना तथा मधुरोपासना दोनों को स्थान प्राप्त हुआ है।

मर्यादोपासना और मधुरोपासना, दोनों का लक्ष्य निर्गुण सगुण अनंत राम के विश्व-मंगल विधायक व्यक्तित्व के चरणों में उपासक के अहं का विसर्जन ही रहा है। प्रथम कोटि के साधकों ने पर-हित-निरत राम की आत्मबलिदानात्मिका विश्वमंगल विधायिनी साधना पर अपने हृदय को निछावर कर दिया है और दूसरी कोटि के उपासकों ने विश्वमंगल के साधक को मंगलमय आनंद के शृंगार के बीच में प्रतिष्ठित करके उसके चरणों में अपना आत्मविसर्जन कर दिया है। दोनों प्रकार के साधकों ने व्यक्ति के हृदय को विश्व का हृदय बना देने के स्तुत्य प्रयत्न किये हैं। मर्यादोपासकों ने 'नानापुराणनिगमागम सम्मत' मर्यादा को जुटा कर राम का उससे शृंगार किया है तथा मधुरोपासकों ने अपने हृदय की शृंगार भावना को सीताराम के चरणों में अर्पित कर दिया है। मर्यादोपासक साधकों ने मर्यादापुरुषोत्तम के जीवन की मर्यादाओं की अनुभूति में विश्वमात्र के हृदय के लिए लययोग की साधना प्रस्तुत की है पर मधुरोपासकों ने राम के हृदय को पर-दुःख-संवेदना में निरन्तर तड़पते हुए नहीं देखना चाहा है। उन्होंने उस पर-दुःख-कातर के प्रति अपनी कृतज्ञता अर्पित करने के लिए उससे अपना मधुर सम्बन्ध जोड़ लिया है—सखी या पत्नी भाव से उसकी उपासना करके।

तुलसीतर मर्यादोपासकों की तथा प्रायः सब मुख्य मधुरोपासकों की उपासना के रहस्यों को समझाने का प्रयत्न इस अन्तिम अध्याय में किया गया है†। मधुरोपासना को हृदयंगम करने का जो प्रयत्न मैंने इस ग्रंथ में किया है उसका पूरा श्रेय काशी हिन्दू

‡ इंडियन थीइज्म पृष्ठ ११६ से १२० तक तथा इस ग्रंथ के पृष्ठ ३४५ से ३९५ तक।
† अध्याय ग्यारह, पृष्ठ ३९६ से ५१४ तक।

विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष, पद्मभूषण डाक्टर हजारीप्रसाद जी द्विवेदी को है। मेरा झुकाव मुख्यतः मर्यादोपासना को ओर था। इसके लिए प्रेरणा मुझे अपने गुरु स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल से मिली थी। इसी प्रेरणा ने मुझे गोस्वामी जी की मर्यादित साधना को समझने की दिशा में आगे बढ़ने की शक्ति दी थी। अब मधुरोपासना के मर्म को जो थोड़ा बहुत मैं समझ सका हूँ उसके लिए प्रेरणा मुझे श्रद्धेय द्विवेदी जी से मिली। यदि इस दिशा की ओर उन्होंने मेरा ध्यान आकर्षित न किया होता तो मधुरभाव की रामभक्ति साधना का मेरा परिज्ञान संभवतः अत्यल्प ही रह जाता। दिल्ली विश्व-विद्यालय के अध्यक्ष, डॉक्टर नगेन्द्र जो का भी मैं आभारी हूँ, क्योंकि रामभक्ति की साधना के इस परिज्ञान की दिशा में कुछ और आगे बढ़ जाने का इंगित उन्होंने भी दिया था। मधुरोपासना की मेरी जानकारी एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकी होती यदि मुझे श्रद्धेय श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' जी की पुस्तक 'राम भक्ति साहित्य में मधुर उपासना' न प्राप्त हुई होती। माधव जी की कठोर साधना के द्वारा रामभक्ति की मधुरोपासना के दुर्गम मंदिर में जो 'वाग्द्वार' बन गया था उसमें बिना प्रयास ही मुझे प्रवेश मिल गया और 'मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति-मे गतिः' की बात चाहे कविकुलगुरु कालिदास के लिए सच्ची न रही हो, पर मुझ अबोध और अल्पमति के लिए तो सोलह आने सच हो गयी। अतः मेरे पास अग्रजकल्प मिश्र जी के प्रति और बिहार राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के समक्ष आभार प्रदर्शित करने के लिए शब्द ही नहीं हैं। मिश्र जी की यह पुस्तक मुझे हैदराबाद हिन्दी प्रचार सभा से प्राप्त हो सकी। एतदर्थ सभा के पुस्तकालय के अधिकारियों, कर्मचारियों और सभा के प्रति मैं आभारी हूँ।

बचपन से ले कर आज तक जिन गुरुओं ने मुझे सम्हाला-सँवारा उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना भी धृष्टता है, तथापि स्वर्गीय ऋषि वामदेव जी मिश्र, अध्यक्ष साहित्य विभाग, प्राच्यविद्या महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, आचार्य पंडित महादेव जी शास्त्री, आचार्य पंडित कालीप्रसाद जी मिश्र, स्वर्गीय श्री आनंद शंकर बापू भाई ध्रुव, आइ. इ. एस, स्वर्गीय पूज्य पंडित बटुकनाथ जी शर्मा, पूज्य डॉक्टर बलदेव जी उपाध्याय, स्वर्गीय पंडित रामचन्द्र जी शुक्ल, स्वर्गीय पंडित केशव प्रसाद जी मिश्र, स्वर्गीय डाक्टर पीताम्बर दत्त जी बडथ्वाल, स्वर्गीय पंडित विंध्येश्वरी प्रसाद जी पाण्डेय, स्वर्गीय पंडित अम्बिका प्रसाद जी पाण्डेय, पूज्य पंडित रामव्यास जी पाण्डेय, स्वर्गीय पंडित बलदेव जी पाठक, स्वर्गीय पंडित रामयत्न जी ओझा, स्वर्गीय पंडित भास्कर दत्त जी मिश्र, पूज्य डॉक्टर एस. के. बेल्वेल्कर स्वर्गीय पंडित राजनीति जी पांडेय इत्यादि सब गुरुजनों के चरणों में मैं अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। इन कृती आचार्यों से प्रकाश न मिला होता तो मेरी जड़ता कैसे कम हुई होती। स्वर्गीय महामना पंडित मदनमोहन मालवीय जी के चरणों पर मेरा मस्तक है, जिनके आठ साल के साथ ने न जाने कितना उपकार किया।

हैदराबाद में भी स्नेहियों की प्रेरणाशक्ति का मुझे बहुत बड़ा सहारा मिला। यदि डॉक्टर सत्यनारायण सिंह, एम. एस-सी., पी-एच. डी., डी. एस-सी. (लंदन), प्रोफ़ेसर और अध्यक्ष जीवविज्ञान विभाग, उसमानिया विश्वविद्यालय, का अथक तगादा मेरे साथ न

होता तो यह कार्य अधिक विलंबित हो जाता। उस्मानिया विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉक्टर वंशीधर जी विद्यामार्तण्ड की अटूट शुभकामना से मुझे निरन्तर संबल मिलता गया था। इन महानुभावों को मैं किन शब्दों में धन्यवाद दूँ। मेरे सहयोगी अनुजकल्प श्री रामकुमार जी खण्डेलवाल के भी अथक परिश्रम ने इस कार्य को संभव बनाया। चिरंजीव श्रीकृष्ण ने प्रायः सम्पूर्ण ग्रंथ टाइप किया। मैं इन लोगों का पूरा आभार किसी प्रकार नहीं व्यक्त कर सकता। मेरे अनुसंध्येता छात्र अनंतपुर कॉलेज के हिन्दी प्राध्यापक श्री वेंकटरमण तथा बी. ए. कक्षा के श्री शुकदेव से भी इस कार्य में बड़ी सहायता मिली है। उनका भी आभार मुझ पर है और वह व्यक्त नहीं किया जा सकता।

मुझे प्रोफ़ेसर सरस्वती प्रसाद जी चतुर्वेदी व्याकरणाचार्य, एम्. ए, विद्या महाविद्यालय, रायपुर, मध्य प्रदेश तथा प्रोफ़ेसर डॉक्टर शुकदेव प्रसाद जी तिवारी, प्राचार्य, गवर्नमेंट कला तथा विज्ञान महाविद्यालय, रायगढ़ का सहज स्नेह और आशीर्वाद निरन्तर प्राप्त होता रहा, जिससे मेरा यह कार्य पूरा हो गया। मैं इन महानुभावों के इतने निकट हूँ कि इन्हें धन्यवाद देने से भी वंचित होना पड़ रहा है। सेवाकाल के आरम्भ से अब तक का मेरा पूरा जीवन ही इन दो पूज्य स्नेहियों ने बनाया है। गुरु, डॉक्टर पंडित बलदेव प्रसाद जी मिश्र, एम्. ए. डी. लिट्., एल् एल्. बी. के प्रति आभार प्रदर्शित करने के समय भी मुझे इसी संकट का सामना करना पड़ रहा है। उनके निर्देशन में मैंने यह पूरा काम किया है और बचपन से मैं उनके इतने निकट हूँ कि भारतीय शिष्टाचार मुझे आभार व्यक्त करने से रोक रहा है! इस आभारी हृदय को गुप्त रखना ही ठीक है। अपने दोनों अनुजों चिरंजीव आचार्य श्री अलखनिरंजन पाण्डेय प्राध्यापक प्रशिक्षण महाविद्यालय गवर्नमेंट संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, और चिरंजीव माहेश्वर प्रसाद पाण्डेय को भी उनकी श्रद्धा और स्नेहपूर्ण सहायताओं के लिए मैं आशीर्वाद प्रदान करता हूँ। चिरंजीव भाई रविशंकर जी भार्गव, प्राध्यापक, वाणिज्य-विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय को भी समय-समय पर प्राप्त उनकी स्नेह पूर्ण सहायताओं के लिए अनेक धन्यवाद। श्रीयुत डॉक्टर उमावर मिश्र भूतपूर्व रजिस्ट्रार, नागपुर विश्वविद्यालय तथा डॉक्टर एम्. एस्. मोडक, रजिस्ट्रार, नागपुर विश्वविद्यालय तथा महामहोपाध्याय डॉक्टर वी. वी. मिराशी जी, नागपुर, के प्रति भी मैं अपना आभार प्रदर्शित करता हूँ जिनकी वैध सहायता से इस ग्रंथ को मैं नागपुर विश्वविद्यालय की पीएच्. डी. उपाधि के लिए यथासमय प्रस्तुत कर सका। नागपुर विश्वविद्यालय के प्रति भी मैं आभारी हूँ।

इस ग्रंथ के अन्तिम पृष्ठ लिखने के समय सौभाग्य से चाचा जी संत गुरुदयाल मलिक का पाँच दिन का अमूल्य सत्संग मिला और उनके द्वारा विकिरित प्रकाश का प्रभाव उन पृष्ठों पर है। इसके लिए मैं अपनी श्रद्धांजलि उनके चरणों पर अर्पित करता हूँ। भाई श्री वैजनाथ प्रसाद जी चतुर्वेदी, रीडर, भूगोल-विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय तथा श्रद्धेय श्री बी. के. भट्ट जी, रीडर, संस्कृत-विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय, मेरे मंथर पगों को निरन्तर गति देते रहे हैं, अतः उनके प्रति भी मैं आभारी हूँ। मेरे सहयोगी श्री डॉक्टर राजकिशोर जी पाण्डेय को भी इस ग्रंथ के प्रकाशन में दिलचस्पी थी। उनका

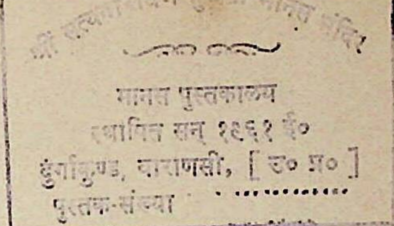
भी मैं हृदय से आभार मानता हूँ। मध्य प्रदेश, रायगढ़, के वयोवृद्ध साहित्यकार तथा अनुसंध्येता, विद्यावाचस्पति, इतिहास पारंगत, स्वर्गीय पंडित लोचन प्रसाद जी पाण्डेय, ने अभी हाल ही में अपनी इहलीला संवृत की है। इस ग्रंथ को देखने की उनकी बड़ी अभिलाषा थी। उनकी दिवंगत आत्मा के प्रति मैं अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। स्वर्गस्थ पितामही, पितामह तथा पितृव्य की वात्सल्य पूर्ण अथक सेवाओं से मैं इस योग्य हो सका। उनकी आत्माओं की कोटि वन्दना। पूज्य जननी, पूज्य जनक तथा विधुरा पितृव्या मेरे बचपन से ले कर आज तक अपनी कठोर साधना की छाया मुझ पर रख रहे हैं। मैं उनकी आत्मा हूँ; अतः उनके प्रति मैं अपने भाव कैसे व्यक्त करूँ। उनके भक्ति-पावन हृदय से ही मुझे सब कुछ मिला है। मेरे सहायक शिष्यों की एक लम्बी सूची है। उन सब ने मेरे इस कार्य को संभव बनाया है। बिना नाम निर्देश के मैं उन्हें सामूहिक आशीर्वाद देता हूँ। कुछ और कोमल करों ने मेरी सेवा करके इस प्रयत्न-पथ पर अग्रसर होने में मुझे सहायता दी है। मेरे मूक भाव उनके प्रति व्यक्त होने में सहम रहे हैं। विश्वात्मा उन्हें सुखी रखे यही मेरी उनके लिए हार्दिक कामना है।

अब मैं नवहिन्द पब्लिकेशन्स के संचालक, श्री बद्रीविशाल जी पित्ती के प्रति आभार निवेदन को अपना सबसे आवश्यक कर्तव्य मानता हूँ। आपने हिन्दी की जो मौन सेवा की है वह सर्वविदित है तथा इस ग्रंथ के प्रकाशन का भार उठा कर भी आपने अपनी अनन्य सहृदयता का परिचय दिया है। प्रकाशन के व्यवस्थापक श्री मुनीन्द्र जी के कठोर श्रम और अटूट लगन से भी यह ग्रंथ इतनी उत्तमता से छप सका। अस्वस्थता के समय भी इस ग्रंथ का प्रूफ़ देख कर मुनीन्द्र जी ने अपना नाम सार्थक किया है। इसके लिए मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद और साधुवाद देता हूँ। प्रकाशन के उप-व्यवस्थापक श्री बलदेव प्रसाद जी गुप्त का भी मैं आभारी हूँ। यदि वे क़सम खा कर मेरे पीछे न पड़ गये होते तो इस ग्रंथ को मैं प्रकाशन के उपयुक्त रूप न दे सका होता और सम्भवतः इसे प्रकाशित भी न कराता। नवहिन्द प्रकाशन तथा कमर्शियल प्रिंटिंग प्रेस के उन सब कर्मचारियों के प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके कर्मठ हाथों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस ग्रंथ को यह मुद्रित रूप प्राप्त हो सका है। मेरा आभारी हृदय उन सब सज्जनों के प्रति कृतज्ञ है जिनकी सहायता मुझे इस प्रयास में प्राप्त हुई हो और अपनी सीमित स्मरणशक्ति के कारण मैंने उन्हें विस्मृत कर दिया हो।

भावनिवेदन के इस प्रयास को पूर्णता प्रदान करने के लिए मैं विश्व के कण-कण में व्याप्त 'उर-प्रेरक रघुवंश-विभूषण' और जगज्जननी विदेह-नन्दिनी के चरण कमलों क पराग को अपने मस्तक पर धारण करता हूँ; क्योंकि यदि उनके बलिदानपूर्ण विश्वप्रेमी नर-जीवन ने मुझे अपनी ओर बलात् आकृष्ट न किया होता, तो मैं उनके चिन्तन और अनुभूति के पथ की यह क्षीण आभा भी कैसे प्राप्त कर सका होता।

लेखक

मार्गशीर्ष शुक्ला प्रतिपदा, मंगलवार,
विक्रम संवत् २०१६



आ मु ख

आचार्य श्री रामनिरंजन जी पाण्डेय, एम. ए., एल्एल्. बी., पीएच्-डी. उस्मानिया विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं। वे आरंभ से ही चिन्तनशील सज्जन रहे हैं और उनका यह शोधग्रंथ, जिस पर उन्हें पीएच्-डी. की उपाधि मिली है, उनके अनेक वर्षों के चिन्तन का परिणाम है।

ग्रंथ ग्यारह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय विषय की पूर्व पीठिका का कार्य कर रहा है। इसमें भी अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का अच्छा तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। तदनन्तर द्वितीय से अष्टम अध्याय तक रामचरित मानस का विवरणात्मक अध्ययन अंकित है। आचार्य पाण्डेय जी ने इस अध्ययन का आधार उन नामों को माना है, जो श्री गोस्वामी जी द्वारा अपने मानस के सोपानों को दिये गये हैं। रामचरितमानस को भी रामायण कहने की परम्परा-सी चल पड़ी है और इसी भाँति उसके सोपान काण्ड कहे जाने लगे हैं—बाल काण्ड, अयोध्याकाण्ड आदि। इस परम्परा के कारण, 'विमल संतोष सम्पादन', 'विमल विज्ञान-वैराग्य सम्पादन', 'अविरल हरिभक्ति सम्पादन' आदि नामों की जो विशेषता रही है और इन तत्वों को ध्यान में रख कर ही गोस्वामी जी ने अपनी मानसी रामकथा का जैसा विकास कराया है, उस ओर सर्वसाधारण का ध्यान ही नहीं जाने पाता। सर्वसाधारण ही नहीं, ऐसे विद्वज्जन भी कम ही हैं, जिन्होंने गोस्वामी जी द्वारा दिये गये इन नामों का महत्त्व समझा हो और उस दृष्टिकोण से उनके 'मानस' का अध्ययन किया हो। अतएव इस विषय का आचार्य पाण्डेय जी का यह अध्ययन अपनी विशेष महत्ता रखता है। नवें अध्याय में तुलसी के मानसेतर ग्रंथों का अध्ययन है।

दसवें अध्याय में श्री पाण्डेय जी ने डॉक्टर निकॉल मैकनिकॉल के 'इण्डियन थीइज़्म'' के उन अंशों का सप्रमाण विद्वत्तापूर्ण उत्तर दिया है, जो अंश गोस्वामी जी के विरुद्ध आक्षेप-रूप में रखे गये थे। डॉक्टर निकॉल मैकनिकॉल के समान ऐसे कुछ

विद्वान् हुए हैं, और होंगे भी, जिन्हें प्रायः दोषोद्भावना में ही रस मिलता है। यदि दोष वस्तुतः है और उसका उद्घाटन किया जा रहा है, तब तो वह प्रयत्न किसी सीमा तक क्षम्य भी कहा जा सकता है। परन्तु जब अपने अभिमान अथवा अपने अपूर्ण ज्ञान, अपने पूर्वाग्रह, अपनी मनोवृत्ति, आदि के कारण दोष की कल्पना करके उस पर आलोचनाओं के भवन खड़े कर दिये जाते हैं तब वह प्रयत्न कुछ ऐसा ही वाल-प्रयत्न-सा जँचता है जो धूल की मुट्ठियाँ फेंक कर सूर्य-प्रभा ढँक लेने की चेष्टा में देखा जाता है। कालप्रवाह की वायु ऐसे राजस मालिन्य को आप ही दूर कर दिया करती है। परन्तु कभी-कभी विद्वज्जनों को भी इस दूरीकरण का निमित्त बनना पड़ता है। अतएव श्री पाण्डेय जी ने डॉक्टर मैकनिकॉल को समुचित उत्तर दे कर उत्तम ही कार्य किया है।

इस शोधग्रंथ के अन्तिम ग्यारहवें अध्याय में उत्तर-तुलसी-युग के रामभक्त कवियों की चर्चा है और यह चर्चा भी शोधग्रंथ की महत्ता के अनुरूप ही हुई है।

आचार्य पाण्डेय जी ने यह शोधग्रंथ लिख कर हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि की है और मानस-विषयक चिन्तनधारा को स्पृहणीय गति दी है, इसमें कोई संदेह नहीं। मुझे विश्वास है कि आचार्यों और संतों— दोनों ही वर्गों में यह ग्रंथ यथेष्ट समादृत होगा।

बलदेवप्रसाद मिश्र

राजनाँद गाँव,
वसन्त पंचमी,
१२ फरवरी, १९५९

अध्याय १

पूर्व परम्पराएँ

भारत में राम का अवतार साधारण मनुष्य के रूप में हुआ था। इसीलिए राम साधारण मनुष्य के हृदय के पास अधिक स्वाभाविक और अधिक स्पष्ट रूप से आ सके। कृष्ण के अवतार के साथ जन्म से ही पारमात्मिक शक्तियों का इतना अधिक सम्बन्ध है कि साधारण मनुष्य उन्हें न तो अविकल रूप से अपने हृदय में रख सकता है, और न इस अवतार के जीवन के रहस्यों को पूरी तरह से समझ ही सकता है। कृष्ण के अवतार को समझने में ग़ल्ती करने के कारण ही साधारण भारतीय जनता कभी-कभी, राधाकृष्ण और गोपीकृष्ण के सम्बन्धों से भ्रान्त धारणा और भावना ग्रहण करके विलासी और अमर्यादित जीवन की ओर चली गयी। पर राम के जीवन में ऐसी कोई जटिलता नहीं थी जो जीवन-पथ पर अग्रसर होने वाले मानव को भ्रम में डाल देती। राम का अवतार पूर्णतः बोधगम्य था और उसके सहारे जीवन-पथ का पथिक कभी भ्रान्त नहीं हुआ, बराबर शील के विकास की ओर ही बढ़ा। हिन्दी कविता के क्षेत्र में 'नानापुराणनिगमागम' से चुने हुए, भाव-सम्पत्ति और विचार-सम्पत्ति के रत्नों को समुचित और स्वाभाविक स्थान पर सँजो कर गोस्वामी तुलसीदास जी ने राम के जीवन को साधारण मनुष्य के चलने के लायक एक भव्य राजमार्ग का रूप प्रदान किया।

अथर्ववेदीय रामपूर्वतापनीय उपनिषद् 'राम' शब्द के विविध अर्थ प्रस्तुत करती है। इसने 'राति राजते वा महींस्थितः सन् इति रामः' की धारणा का प्रचार किया है। शक्ति, शील और सौन्दर्य के आधार पर यहाँ राम शब्द की व्युत्पत्ति की गयी है। संस्कृत की 'रा' धातु का अर्थ दान देना होता है। राम की दानशीलता तथा विश्व में हर तरह की पीडा को, साधु प्रकृति के मनुष्यों के भीतर से निकाल देने के स्वभाव के कारण 'राम' शब्द का 'रा' अक्षर 'रा' धातु से लिया गया है। सज्जनों के सब अभावों तथा उनकी हर तरह की पीडाओं को दूर करने वाला 'राम' होता है। संसार को सुखी बनाने के लिए, उसके अभावों को दूर करने के लिए राम ने अपने को जीवन भर तप की अग्नि में तपाया। दूसरों के लिए तप की अग्नि में अपनी चेतना को तपाना ही राम का शील था। इस शील के विकास के लिए जिस अनंत शक्ति की आवश्यकता होती है, वह राम में थी।

संस्कृत की 'राज्' धातु का अर्थ 'चमकना' होता है। राम तेजस्वी, प्रतापवान् तथा रूप-सौन्दर्य और कर्म-सौन्दर्य के समाहित स्वरूप थे। राजा में इन्हीं गुणों की आवश्यकता

होती है। प्रताप और सौन्दर्य के पुंजीभूत रूप राम, शक्ति, शील और सौन्दर्य को एक साथ अपने व्यक्तित्व में धारण किये हुए एक आदर्श राजा थे। संस्कृत की इन दो धातुओं के प्रारम्भिक अक्षर 'रा' से 'राम' शब्द के 'रा' अक्षर की उत्पत्ति रामपूर्वतापनीय उपनिषद् मानती है। 'मही' शब्द के 'म' से राम का 'म' बना हुआ है। 'मही', पृथ्वी पर राम की यह आदर्श लीला प्रसारित हुई थी। वे दुष्टों और राक्षसों का मरण बन कर पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे। इसीलिए 'राक्षस' के 'रा' और 'मरण' के 'म' से भी यह उपनिषद् राम शब्द की व्युत्पत्ति समझाती है। अभिराम (सुन्दर) शब्द से भी 'राम' शब्द की व्युत्पत्ति इस उपनिषद् में दी गयी है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी सौन्दर्य के द्वारा जगत् को आकर्षित कर लेने वाला, राम का गुण व्यंजित होता है। राहु के समान, मनसिज (चन्द्रमा) को ग्रस्त कर लेने वाला अर्थ बतलाने के लिए भी 'राहु' से 'रा' और 'मनसिज' से 'म' अक्षर को ले कर इस उपनिषद् ने 'राम' शब्द की योजना की है। जिस तरह राहु, मनसिज (चन्द्रमा) को ग्रस्त कर लेता है उसी तरह अपने अनासक्तिमय स्वभाव से राम ने मनसिज (काम) को पराजित कर लिया था। अपनी इसी अनासक्तिमय लोकसेवा से राम मर्यादा पुरुषोत्तम थे। इस प्रकरण में मनसिज शब्द का चन्द्रमा के पर्याय की तरह प्रयोग है। इसका कारण यह है कि यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में चन्द्रमा, विराट् पुरुष के मन से उत्पन्न होने वाला माना गया है—'चन्द्रमा मनसोजातः' ‡।

राक्षसों को मनुष्य-रूप धारण करके दण्ड देने के कारण भी 'राम' नाम की व्युत्पत्ति इस उपनिषद् ने समझायी है। 'राक्षस' के 'रा' और 'मनुष्य' के 'म' से यह उपनिषद् 'राम' शब्द को बना हुआ मानती है।

राज्य पाने वाले महीपालों को अपने आदर्श शील से आदर्श व्यक्ति बनाने वाले पुरुषोत्तम को 'राम' का नाम, यह उपनिषद् देती है। इस स्थिति में 'राज्य' से 'रा' और 'महीपाल' से 'म' को ले कर इस उपनिषद् में 'राम' शब्द की योजना की गयी है।

इस तरह राम की समग्रता के आधार पर यह उपनिषद् 'राम' शब्द के अर्थ को व्युत्पत्ति के आधार पर समझाती है। इन सब व्युत्पत्तियों के समाहित उपसंहार के रूप में यह उपनिषद् मानती है कि ज्ञानी राम के नाम के उच्चारण से ज्ञान, अनासक्तिमय राम के शील के ध्यान से वैराग्य तथा परम सुन्दर और समग्र ऐश्वर्यों की निवासभूमि उनके सुन्दर शरीर की मूर्ति की उपासना से ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है।

इस प्रकरण के अंत में 'राम' का शुद्ध दार्शनिक अर्थ बताते हुए यह उपनिषद् कहती है कि शाश्वत आनन्द के रूप, विश्व के समग्र चैतन्य के केन्द्र, जिस सनातन ब्रह्म में, ध्यानमग्न हो कर योगी लोग परमानन्द में लीन हो कर, रमण करते हैं, वह परब्रह्म परमात्मा ही राम है, और वही पृथ्वी पर राम के नाम से अवतीर्ण होता है। यहाँ

‡ यजुर्वेद, अध्याय ३१, मंत्र १२।

'रम्' (खेलना) धातु से विराट् ब्रह्म राम की व्युत्पत्ति करके अनंत की आनन्दमयी अभेदानुभूति का प्रतिपादन किया गया है। विराट् के अनंतव्यापी एकत्व की अनुभूति में खो जाना ही वेदान्ती दार्शनिक की मुक्ति है। इसी मुक्ति-तत्त्व को यह उपनिषद्, 'राम' शब्द के आधार पर, इस प्रकरण के अन्त में समझाती है‡।

इस उपनिषद् की यह मान्यता है कि परम चैतन्यमय, अद्वितीय, पांचभौतिक अवयवयुक्त शरीर में न बँधने वाला ब्रह्म ही भक्तों की इच्छा-पूर्ति के लिए, उनके स्नेह से आकृष्ट हो कर, निराकार होने पर भी चैतन्यमय नराकार शरीर धारण कर लेता है†।

यह उपनिषद् इस तथ्य का प्रचार करती है कि सब देवता भगवान् राम के स्वरूप में ही अन्तर्भूत हैं। वे ही पुरुष या स्त्री रूप में प्रकट हुआ करते हैं। वे ही भगवान् की सेवा किया करते हैं। जिस प्रकार हाथ, पैर इत्यादि अंग सम्पूर्ण शरीर की सेवा करते हुए उस शरीर के ही भाग हैं, और उस शरीर से अलग नहीं हैं, उसी प्रकार ये सब देवता भगवान् की सेवा करते हैं और अभेद-सम्बन्ध से उन्हीं के अंग हैं। ये उनसे पृथक् नहीं हैं। ये ही देवता भगवान् के रूप के अनुसार उनके चार, छह, आठ, दस, बारह, सोलह या अट्ठारह हाथ बन जाते हैं और उन हाथों में रहने वाले शंख इत्यादि का रूप धारण कर लेते हैं। ये ही देवगण भगवान् के विश्वरूप या विराट् रूप में उनकी सहस्रों भुजाओं के रूप में परिणत हो जाते हैं। भगवान् के इन सभी रूपों के रंग और वाहन इत्यादि पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। यह देवताओं के ही रूपान्तर से सम्भव होता है। ये ही देवता भगवान् की विविध शक्तियों और सेनाओं के रूप में भी परिणत हो जाते हैं। परब्रह्म राम के विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश इत्यादि पंचविध रूपों और उपकरणों का यही रहस्य है§। इसी प्रक्रिया से विराट् राम के सर्वदेवमय रूप की उपस्थापना रामपूर्वतापनीय उपनिषद् करती है।

यह उपनिषद् इस तथ्य को स्वीकार करती है कि 'राम' मन्त्र ब्रह्मा से ले कर वृक्ष तक समस्त जड-चेतन जगत् के ज्ञान से ओतप्रोत है। इसका प्रभाव अनंत है। साधक को इसका ध्यान निरन्तर करना चाहिए। इस मन्त्र के निरन्तर ध्यान से साधक के लिए सब रहस्य प्रकट सत्य के रूप में बदल जाते हैं। कोई बात उससे छिपी नहीं रह जाती। मनन और त्राणन (चिन्तन होने पर रक्षाकारक) के कारण मन्त्र कहलाने वाले शक्तिपुंज मन्त्रों के सब गुण 'राम' मन्त्र में हैं। स्त्री तथा पुरुष रूप में व्यक्त होने वाले भगवान् की उपासना के लिए निर्मित यन्त्र उनके विराट् शरीर का प्रतीक होता है। अतः इस उपनिषद् के अनुसार उनके अनंत शरीर का ध्यान यन्त्र की सहायता से करके उसी यन्त्र की पूजा होनी चाहिए। यन्त्र पर भगवान् के विराट् शरीर का रहस्य अंकित

---

‡ रामपूर्वतापनीय उपनिषद्, खंड १, श्लोक १ से ६ तक। † रामपूर्वतापनीय उपनिषद्, खंड १, श्लोक ७। § रामपूर्वतापनीय उपनिषद्, खंड १, श्लोक ८ से १० तक।

रहती है; इसीलिए यन्त्रपूजन से उपनिषद् के अनुसार भगवान् का अनंत शरीर पूजित हो जाता है‡।

भगवान् राम स्वयं उत्पन्न होने वाले (स्वभू) तथा शाश्वत हैं। ज्ञानमय प्रकाश के अपने रूप के कारण वे ज्योतिर्मय हैं। रूपवान् होते हुए भी वे देश, काल और वस्तु को अतिक्रान्त करके असीम रूप में भी रहते हैं। वे स्वतः प्रकाशित तथा स्वतन्त्र हैं। अपने नियन्त्रण में रहने वाले त्रिगुणों का उपयोग करके इस व्यक्त जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयावस्था को वे ही संचालित करते रहते हैं। अपने चैतन्य को ले कर वे ही समस्त जीवों के अन्तर्यामी बनते हैं। उनके न रहने पर जीव भी नहीं रह जाता। परमात्मस्वरूप ॐकार का विराट् रूप यह जगत् उन्हीं का रूप है।

अणु-बीज में वट वृक्ष की तरह 'राम्' बीज-मन्त्र में जगत् का सम्पूर्ण विकास अन्तर्निहित रहता है। 'राम्' के 'र्' पर ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव का निवास रहता है। 'र्' इस त्रिमूर्ति शक्ति से ऊर्जस्वित है। इस 'र्' में इतनी शक्ति है कि त्रिमूर्ति की पूरी शक्ति इसी से प्राप्त होती रहती है। उत्पत्ति, पालन और संहार की शक्तियाँ तथा बिन्दु, नाद और बीज से उत्पन्न रौद्री, ज्येष्ठा और वामा शक्तियाँ 'र्' से ही प्रसूत होती हैं।

र्, आ, अ, म् से 'राम्' का बीज निर्मित होता है। 'र्' रामवाचक तथा आ, अ और म् में ब्रह्मा, विष्णु और शिव की शक्तियाँ रहती हैं। 'राम्' बीज में प्रकृति-पुरुष-रूप सीता-राम की ही उपासना होती है। इसी 'राम्' बीज से चौदह भुवनों की उत्पत्ति, स्थिति और लय हुआ करते हैं। यह 'राम्' बीज ब्रह्म राम का ध्वनिविग्रह या ध्वनिमय शरीर है।

लीला (माया) के लिए भगवान् राम मानव हो गये। इसी अनंत राम में तदाकार परिणति का प्रचार रामपूर्वतापनीय उपनिषद् करती है। जीव की मुक्ति इसी में है कि वह अपने को श्रीराम ब्रह्म का स्वरूप अनुभव करके जगत् की स्वार्थमयी संकुचित भावना से ऊपर उठ जाए†।

यह उपनिषद् 'रामाय नमः' मन्त्र का बड़ा रहस्यात्मक और दार्शनिक अर्थ बताती है। इसके अनुसार 'नमः' जीववाचक है; क्योंकि जीव के हृदय में रहने वाली नमस्कार की भक्ति भावना इसी के भीतर है। 'राम' शब्द आत्मा का बोधक है। सर्वव्यापी आत्मा (परमात्मा) का इसी नाम से जीव ध्यान करता है। चतुर्थी की 'आय' विभक्ति को यह उपनिषद् जीव और आत्मा (परमात्मा) से एकत्व स्थापित करने वाली मानती है; क्योंकि इसी चतुर्थी विभक्ति के द्वारा जीव अपने भक्ति-प्रवण हृदय को राम के लिए समर्पित कर देता है।

यह सम्पूर्ण मन्त्र 'रामाय नमः' जीवात्मा और परमात्मा के अभेद रूप राम का बोध कराता है। इस उपनिषद् ने मन्त्र और परमात्म-सिद्धि का एक बड़ा ही

‡ रामपूर्वतापनीय उपनिषद्, खंड १, श्लोक ११ से १३ तक। † रामपूर्वतापनीय उपनिषद्, खंड २, श्लोक १ से ४ तक।

स्वाभाविक सम्वन्ध वताया है। इसके अनुसार मन्त्र के द्वारा वार-वार परमात्मा को वुलाने से भगवान् राम जीव के सम्मुख ठीक उसी प्रकार उपस्थित हो जाते हैं जिस प्रकार किसी व्यक्ति को उसके नाम के द्वारा पुकारने से वह व्यक्ति आ जाता है।

दशरथपुत्र राम के सगुण-निर्गुण रूप की उपासना का प्रचार यह उपनिषद् भी करती है। एक तरफ़ राम को यह दशरथपुत्र मानती है और दूसरी तरफ़ उन्हें अनंत और परम आत्मा मानती है।

इस उपनिपद् ने तान्त्रिक विचार-परम्परा और योजना का उपयोग करके वड़े तर्कपूर्ण ढंग से राम की व्यापकता सिद्ध की है। संस्कृत में 'आ' अनंतवाची शब्द है। 'र्' को तन्त्रों ने अग्नि-शक्ति का रूप माना है। यह अक्षर अग्नि-शक्ति से गर्भित अग्नि-वीज माना गया है। अतः 'र्' और 'आ' युक्त राम अनंत तेजोमय अग्नि-रूप हैं।

सीता से युक्त राम सम्पूर्ण विश्व के रूप हैं। और उनके नाम का 'म्' वर्ण सीता का ही वाचक है। तन्त्रों में 'म्' वीज सोम (चन्द्र) की शक्तियों से गर्भित माना गया है। नारी की प्रकृति शीतल मानी गयी है और पुरुष की तप्तांगार की तरह—'घृतकुंभ-समा नारी तप्तांगारसमः पुमान्'। ज्योतिष-शास्त्र भी शीतल चन्द्रमा को स्त्री ग्रह मानता है। इसीलिए यह चन्द्र वीज 'म्' सौम्यकान्ति और शीतल स्वभाव वाली सीता का वोधक है। ब्रह्म राम अपने भीतर अग्नि के अनंत तेज 'रा' और सोम की अनंत शीतलता 'म्' को धारण किये हुए जगत् के अनंत स्त्री-पुरुषों की उत्पत्ति के मूल स्रोत हैं। उनका यह अनंत अग्निषोमात्मक रूप अनंत जगत् के स्त्रीत्व और पुरुषत्व को अपने भीतर ही रखता है‡।

इस उपनिपद् के अनुसार 'सीता' राम की प्रकृति और उनकी ह्लादिनी शक्ति हैं। वे ही राम ब्रह्म की वह शक्ति हैं जिससे जगत् की सृष्टि होती है। वे मूलप्रकृति-रूपा परमेश्वरी शक्ति हैं, जिसमें सम्पूर्ण जगत् सूक्ष्म रूप से प्रलय की अवस्था में जा कर विलीन हो जाता है। वे परम चैतन्यमयी और परम आनन्दमयी हैं†।

रामपूर्वतापनीय उपनिपद् में दिये गये राम के पूजा-यन्त्र पर सम्पूर्ण विश्वशक्तियों की अभेदोपासना होती है। इस पूजा-यन्त्र पर लक्ष्मी और सीता में अभेद-सम्वन्ध स्थापित करने के लिए रमावीज 'श्रीं' स्थापित किया गया है। राम और नारायण का अभेद दिखाने के लिए 'ॐ नमो नारायणाय' तथा 'ॐ नमो वासुदेवाय' नारायण मन्त्र इस यन्त्र पर रखे गये हैं। सम्पूर्ण जीवों की इच्छाओं में प्रेरक रूप से निवास करने वाले राम की सूचना देने के लिए यन्त्र पर कामवीज (इच्छा वीज) 'क्लीं' का भी समावेश है। प्रकृति के अधीश्वर मायापति राम की ओर लक्ष्य करने के लिए यन्त्र पर मायावीज 'ह्रीं' भी रखा गया है। राम के सात्त्विक क्रोध से पवित्र वुद्धि, लोकमंगल और आदर्शों की स्थापना होती है। इसीलिए राम की पूजा के यन्त्र पर क्रोध वीज 'हुम्' के दोनों पार्श्वों पर सरस्वती का 'ऐं' वीज

‡ रामपूर्वतापनीय उपनिपद्, खंड ३, श्लोक १ से ६ तक। † रामपूर्वतापनीय उपनिषद्, खंड ३, श्लोक ७ से ९ तक।

लिखा जाता है। राम का सात्विक क्रोध अपनी दोनों भुजाओं से सरस्वती (पवित्र आदर्श और पावन बुद्धि) का प्रचार करता रहता है। इसीलिए मन्त्र पर क्रोधबीज 'हुम्' के दोनों पार्श्वों में सारस्वत बीज 'ऐं' है‡।

इस पूजा-यन्त्र पर राम की शक्तियों के रूप में हनुमान्, सुग्रीव, भरत, विभीषण, लक्ष्मण, अंगद, जाम्बवान् तथा शत्रुघ्न सम्मिलित किये गये हैं। इनके अतिरिक्त पांचरात्र के चतुर्व्यूह† अपनी शक्तियों$ के साथ यन्त्र पर रखे गये हैं। अष्ट लोकपाल* और दस दिक्पाल§ भी इस राम यन्त्र पर पूजित होते हैं। दस दिक्पालों के आयुधों× की भी इस यन्त्र पर स्थापना और पूजा होती है। इनके अतिरिक्त वानरों तथा+ ऋषियों* की भी पूजा इस यन्त्र पर होती है¶। अष्ट वसु‡⊕ ग्यारह रुद्र‡‡ बारह सूर्य‡† और वषट्कार (ब्रह्मा) की स्थापना और पूजा भी राम यन्त्र पर होती है। इनके अतिरिक्त शेषनाग तथा आठ और नाग‡$ भी राम यन्त्र पर स्थापित और पूजित होते हैं‡*।

रामपूजायन्त्र पर नृसिंह का 'क्ष्रौं' बीज-मन्त्र तथा वराह का 'हुम्' बीज-मन्त्र भी लिखा जाता है। 'क्ष्रौं' का 'क्ष्' अमोघा शक्ति का, 'र्' क्रोधिनी शक्ति का, 'औ' अनुग्रह शक्ति का तथा अनुस्वार ब्रह्मज्ञान की ओर ले जाने वाले अनाहत नाद का प्रतिनिधि है।

इस तरह विश्व भर में व्याप्त अनंत शक्तियाँ जो विभिन्न रूपों में दिखाई देती हैं, रामपूजायन्त्र पर अभेद-सम्बन्ध से सम्बद्ध करके एक ही विराट् अनंत राम के अंग की तरह देखी गयी हैं।

राम-सम्बन्धी मालामन्त्र तथा उसके अक्षरों में गर्भित शक्तियों का विवेचन रामपूर्वतापनीय उपनिषद् में बड़े आश्चर्यमय ढंग से किया गया है। इस उपनिषद् के अनुसार रामोपासना का मालामन्त्र इस प्रकार है :—

---

‡ रामपूर्वतापनीय उपनिषद्, खंड ७, श्लोक १ से ८ तक। † वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। $ शान्ति, श्री, सरस्वती तथा रति। * वृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप, धर्मपाल और सुमन्त्र। § इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, चन्द्रमा, ईशान, ब्रह्मा और अनंत। × वज्र, शक्ति, दण्ड, खड्ग, पाश, अंकुश, गदा, शूल, पद्म तथा चक्र। + नल, नील, सुषेण, मैन्द, शरभ, द्विविद, धनद, गवाक्ष, किरीट, कुण्डल, श्रीवत्स, कौस्तुभ, शंख, चक्र, गदा और पद्म इत्यादि। * वसिष्ठ, वामदेव, जाबाल, गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, वाल्मीकि, नारद, सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार इत्यादि। ¶ रामपूर्वतापनीय उपनिषद्, खंड ६, श्लोक १२ से १६ तक। ‡⊕ ध्रुव, धर, सोम, आप, अनिल, अनल, प्रत्यूष तथा प्रभास। ‡‡ हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, शम्भु, वृषाकपि, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व और कपाली। ‡† धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, अंश, भग, इन्द्र, विवस्वान्, पूषा, पर्जन्य, त्वष्टा, तथा विष्णु। ‡$ अनन्त, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, पद्म, महापद्म शंख और कुलिक। ‡* रामपूर्वतापनीय उपनिषद्, खंड ८, श्लोक १ से ६ तक।

ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय रक्षोघ्नविशदाय मधुरप्रसन्नवदनायामिततेजसे बलाय-रामाय विष्णवे नमः ॐ ‡।

परमात्मा की सगुण-निर्गुण उपासना के भीतर सगुण-रूप का निर्देश करने वाले मन्त्रों के अक्षरों की शक्तियों के द्वारा उपनिषदों ने तान्त्रिक पद्धति से मन्त्रों के द्वारा निर्गुण अनतशक्ति की भी सिद्धि की है। तन्त्रों ने अक्षरों की जिन मूलभूत शक्तियों का निर्धारण कर दिया है उनके आधार पर सगुण-सूचक उपासना-मन्त्र भी निर्गुण का बोध कराने लगते हैं। तन्त्रों ने वर्णमाला के सब अक्षरों की अन्तर्निहित शक्तियों के अनुभव के रहस्य का प्रतिपादन करते हुए विराट् ब्रह्म के भीतर विकसित हुए शब्दब्रह्मात्मक अक्षरों को भी ब्रह्म की विभिन्न शक्तियों से सम्पन्न माना है।

उल्लिखित मन्त्र का प्रथम अक्षर 'ॐकार' विराट् ब्रह्म का सूचक है। तान्त्रिक चिन्तन-पद्धति के आधार पर मन्त्र के 'म' अक्षर को इस उपनिषद् ने निद्रावाचक माना है, 'ग' स्मृति का केन्द्र है, 'व' भेद का स्वरूप है, 'त्' कामिका शक्ति है, 'ए' रुद्र शक्ति है, 'र्' अग्नि शक्ति है, 'घ्' मेधा शक्ति है, 'उ' अमरता है, 'न' दीर्घकला शक्ति है, 'आ' मानदा कला है, अनुस्वार (चन्द्रमा) सौम्यशक्ति है, 'द' ह्लादिनी शक्ति है, 'न्' फिर दीर्घकला शक्ति है, 'आ' मानदा शक्ति है, 'य' क्षुधा शक्ति है, 'र्' क्रोधिनी शक्ति है, 'क्ष्' अमोघा शक्ति है, 'ओ' विश्व शक्ति है, 'य्' मेधा शक्ति है, 'न्' फिर दीर्घ कला है, 'व' ज्वालिनी या वह्नि कला है, 'इ' सूक्ष्म रुद्र है, 'श्' मृत्यु प्रणव कला है, 'अ' उससे लगी हुई प्रतिष्ठा या उच्चारण की आधार-स्वरूपा शक्ति है, 'दा' फिर अनंत 'आ' से युक्त ह्लादिनी शक्ति है, 'य' त्वक् शक्ति है, 'म' विष शक्ति है, 'ध' प्रीति शक्ति है, 'उ' अमर शक्ति है, 'र' ज्योति शक्ति है, 'प्' तीक्ष्णा शक्ति 'र्' अग्नि शक्ति से युक्त है, 'स' श्वेता शक्ति अनुस्वार (चन्द्रमा) सौम्य शक्ति से युक्त है, फिर 'न' कामिका शक्ति है। इसके बाद पूर्व सूचित 'व', 'द' और 'न' हैं, जिनके अन्त में अनन्त वाची 'आ' है। इसके बाद 'आ' से युक्त 'या' अनन्त वायु शक्ति है, इसके बाद ह्रस्व 'इ' रुद्र शक्ति से युक्त 'म्' विष शक्ति है। 'ते' में कामिका 'त्' तथा रुद्र 'ए' शक्तियाँ हैं, 'से' में 'स्' श्वेता तथा 'ए' रुद्र शक्तियाँ हैं, 'ब' में तापिनी तथा 'ला' के 'ल्' में भू, और 'आ' में अनंत शक्तियाँ है, 'रा' के 'र्' में अग्नि तथा 'आ' में अनंत शक्तियाँ हैं, 'मा' के 'म्' में विष (काल) तथा 'आ' में नारायण (अनंत) शक्तियाँ हैं, 'य' वायु (प्राण) शक्ति है, 'वि' में 'व्' जल शक्ति तथा 'इ' विद्या शक्ति है, 'ष्ण' में 'ष्' पीला शक्ति तथा 'ण' रति या प्रेम शक्ति है, 'वे' में 'व्' जल शक्ति तथा 'ए' विश्व की सृष्टि करने वाली शक्ति है, 'नमः' के 'न' में दीर्घकला शक्ति और 'म' में काल शक्ति है तथा ॐकार अन्त में पुनः विराट् ब्रह्म का सूचक है।

इस तान्त्रिक पद्धति से मन्त्र के आदि और अंत में ॐकार की ध्वनि, आदि और अंत में, सृष्टि के पूर्व तथा अन्त में विराट् ब्रह्म की स्थिति की सूचना देती है तथा बीच के शक्ति-गर्भित सब अक्षर व्यक्त जगत् की विभिन्न स्थितियों में दिखाई पड़ने वाले

‡ रामपूर्वतापनीय उपनिषद्, खंड ९, श्लोक ४ से १० तक।

तथा अनुभूत होने वाले शक्तिपुंजों की सूचना देते हैं। भगवान् राम की सगुण उपासना का यह मन्त्र उपनिषद् के तान्त्रिक दृष्टिकोण से निर्गुण की अनंत व्यापकता के भीतर शाश्वत जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय की सूचना देते हुए यह स्पष्टतः घोषित करता है कि अनंत शक्तियाँ विराट् से ही उत्पन्न होती हैं, विराट् में ही स्थित रहती हैं और विराट् में ही प्रलय की दशा में लीन हो जाती हैं। इस तरह रामपूर्वतापनीय उपनिषद् का यह मन्त्र-रहस्य, राम की सगुण-निर्गुण उपासना का बड़ा स्पष्ट संकेत देता है तथा नवम खंड के अंत में यह सूचना भी देता है कि मन्त्र के भीतर निहित शक्तियाँ धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्यमय सम्पूर्ण जगत् से सम्बन्ध रखती हैं और इनसे युक्त अनंत सत् (अस्तित्व) अनंत चित् (चेतना) और अनंत आनन्दमय इस मन्त्र के सतत ध्यान से धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य की सिद्धि होती है‡।

रामोत्तरतापनीय उपनिषद् के अनुसार—(१) रां रामाय नमः, (२) रामचन्द्रायनमः और (३) रामभद्राय नमः—तारक मन्त्र के तीन स्वरूप हैं। ये ही क्रम से ॐकारस्वरूप, तत्स्वरूप और ब्रह्मस्वरूप हैं। ये ही 'सत्' स्वरूप, 'चित्' स्वरूप तथा 'आनन्द' स्वरूप हैं। 'रा' और 'ॐ' में कोई अन्तर नहीं है। दोनों तारक ब्रह्म हैं। 'रा' में 'र्' अग्नि तत्त्व, 'आ' अनंत तत्त्व और 'म्' काल तत्त्व है। अनंत काल और अनंत देश में व्याप्त निर्गुण ज्योति-तत्त्व (ज्ञान) ही ॐकार स्वरूप ब्रह्म है। इसीलिए 'रां रामाय नमः' ॐकार स्वरूप है। 'रामचन्द्राय नमः' में 'चन्द्र' मनवाचक तथा अनंत ज्योति का ही एक स्थूल तथा मन के लिए गम्य वस्तु-पिंड है। अनंत को तत् (वह) शब्द से निर्देश नहीं कर सकते; क्योंकि वह बोध का विषय नहीं बन सकता। निश्चयात्मिका बुद्धि उसे निश्चय के भीतर ला कर बाँध नहीं सकती। 'यो बुद्धेः परतस्तु सः'† । इसीलिए अनंत ॐकार को निश्चय के भीतर नहीं बाँध सकते। उसका सगुण स्थूल रूप 'चन्द्र' मन और बुद्धि के लिए गम्य हो जाता है। उसके लिए निश्चयवाचक सर्वनाम तत् (वह) का प्रयोग किया जा सकता है। 'रामचन्द्राय नमः' इसीलिए तत्स्वरूप है। 'रामभद्राय नमः' में भद्र (मंगल) की स्थिति लोकमंगल विधान की सूचना देती है। स्वार्थ से ऊपर उठ कर अभेदानुभूति की ब्राह्मी स्थिति पर पहुँचा हुआ शीलविकास ही लोकमंगल विधान कर सकता है। यही ब्राह्मी स्थिति परम मंगला भद्रा स्थिति है। इसीलिए 'भद्र' युक्त 'रामभद्राय नमः' मन्त्र ब्रह्मस्वरूप है। पूर्वकथित 'रां रामाय नमः' अनंतव्यापी ॐकार-स्वरूप अस्तित्व होने के कारण ब्रह्म का सत्स्वरूप है; 'रामचन्द्राय नमः' चेतन बोध के भीतर आने वाले 'चन्द्र' से युक्त होने के कारण ब्रह्म का चित्स्वरूप है; क्योंकि 'चन्द्रमा मनसो जातः' के अनुसार भी ब्रह्म के चित्स्वरूप से उसका सम्बन्ध है और मन, प्रकाश युक्त सूक्ष्मेन्द्रिय भी माना जाता है। चन्द्र ब्रह्म की चित् शक्ति (मन) से सम्बन्ध रखता है इसीलिए 'रामचन्द्राय नमः' ब्रह्म का चित्स्वरूप है। भद्र और मंगल का सम्बन्ध आनन्द से है। इसीलिए 'रामभद्राय नमः' मन्त्र को यह उपनिषद्, ब्रह्म का आनन्द स्वरूप मानती है§।

---

‡ रामपूर्वतापनीय उपनिषद्, खंड ९, श्लोक ११ से १२ तक। † गीता, अध्याय ३, श्लोक ४२। § रामोत्तरतापनीय उपनिषद्, कंडिका २।

यह उपनिषद् इस स्वाभाविक सत्य को स्वीकार करती है कि निरन्तर उपासना और पवित्र चिन्तन के कारण व्यक्ति स्वयं ही पवित्र नहीं होता अपितु वह अपनी पवित्रता को प्रसारित भी करता रहता है। अपनी अधिकता के कारण वह पवित्रता उसके शरीर के बाहर जा कर उस स्थान को बहुत दूर तक पवित्र कर देती है, जहाँ कोई पवित्रात्मा रहती है। यह उपनिषद्, शिव को राम का अनंत उपासक मानती है और शंकर की यह उपासना काशी की भूमि पर होती रहती है। इसी उपासना की शिवगत पवित्रता के कारण काशी के भीतर भी शाश्वत पवित्रता उत्पन्न हो गयी है। राम के तारक मंत्र के साथ वह भी जगत्तारणी हो गयी है‡। इसी सत्य के आधार पर परम रामभक्त शिव और उनकी पुरी काशी का साथ गोस्वामी जी ने अपने जीवन के अंत तक नहीं छोड़ा। इन्हीं स्रोतों से गोस्वामी जी के शिव की रामभक्ति भी परिवर्धित हुई होगी।

पांचरात्र के संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और वासुदेव के सिद्धान्त को माण्डूक्योपनिषद् के चतुष्पाद् ब्रह्म से सम्बद्ध करके इस उपनिषद् ने राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न को भी चतुष्पाद् ब्रह्म के वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न रूपों से सम्बद्ध कर दिया है। भारतीय धर्मसाधना की इस परम्परा में कृष्णोपासना से सम्बद्ध ये चतुर्व्यूह के नाम रामोपासना से सम्बद्ध कर दिये गये। इस तरह राम और कृष्ण में, अभेदोपासना के दृष्टिकोण से भारतीय भक्तों ने साम्य स्थापित कर अभेदानुभूति की अपनी उदार साधना का परिचय दिया। इन दो उपासनाओं को एक केन्द्रीय सूत्र से सम्बद्ध करने के लिए रामोत्तरतापनीय उपनिषद् ने माण्डूक्य उपनिषद् का पूरा उपयोग किया है। इस तरह के उपयोग का इस उपनिषद् को अधिकार भी स्वभावतः प्राप्त था; क्योंकि ये दोनों उपनिषद् अथर्ववेद के ही हैं। अतः अथर्ववेद का साहित्य भारतीय धर्मसाधना के भीतर समन्वय साहित्य की एक कड़ी है। माण्डूक्य उपनिषद् का सम्पूर्ण शरीर केवल बारह गद्यवाक्यों से बना हुआ है। रामोत्तरतापनीय उपनिषद् में इन बारहों वाक्यों की विचार-परंपरा का उपयोग करके चतुर्व्यूह का सिद्धान्त चतुष्पाद् ब्रह्म के सिद्धान्त से सम्बद्ध किया गया है, और उसके साथ ही साथ राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न के अवतारों को भी चतुर्व्यूह का रूप सिद्ध किया गया है।

रामोत्तरतापनीय के अनुसार लक्ष्मण ॐकार के 'अ' अक्षर से उत्पन्न हुए हैं। ये जाग्रत अवस्था के स्वरूप हैं तथा विश्व के रूप में इनका ध्यान किया जा सकता है। चतुर्व्यूहों के संकर्षण ये ही हैं—'अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः'†।

इस उपनिषद् के अनुसार लक्ष्मण, रामब्रह्म के प्रथम पाद हैं। ब्रह्म के प्रथम पाद का लक्षण, माण्डूक्य उपनिषद् के अनुसार निम्नांकित है—

"जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञःसप्तांग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः"§।

---

‡ रामोत्तरतापनीय उपनिषद्, कंडिका ४। † रामोत्तरतापनीय उपनिषद्, कंडिका ३।
§ माण्डूक्य उपनिषद्, वाक्य ३।

इस लक्षण में ब्रह्म के इस चरण को वैश्वानर ब्रह्म कहा गया है। वैश्वानर ब्रह्म जागरित स्थान, बहिष्प्रज्ञ, सप्तांग, उन्नीस मुख वाला तथा स्थूलभुक् होता है। जिस तरह जागता हुआ जीव अपने चारों तरफ़ के संसार को देखता रहता है, उसका ज्ञान बाह्य जगत् से सम्बद्ध होता रहता है, सिर से पैर तक के अपने सातों अंगों का तथा अपनी पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच प्राणों और मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त इन चार प्रकार के अन्तःकरणों का, उन्नीस मुखों की तरह, स्थूल जगत् का उपभोग करने में उपयोग करता रहता है, उसी तरह वैश्वानर ब्रह्म जाग्रत अवस्था (अपनी चित् शक्ति) से सम्पूर्ण जगत् को देखता है। अनंत ज्ञान और अनंत चैतन्य रूप से वह सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त रहता है। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्य लोकों के सात स्तरों को व्याप्त करके, वह पाताल के सात लोकों में फैला हुआ रहता है। तथा उन्नीस इन्द्रियों की विश्व समष्टि में व्याप्त हो कर इस सम्पूर्ण स्थूल जगत् का स्वयं उपभोग करता रहता है। विश्व को धारण करने वाला विश्वरूप ब्रह्म ही ब्रह्म का प्रथम चरण, वैश्वानर ब्रह्म है।

रामोत्तरतापनीय उपनिषद् लक्ष्मण को इसी सर्वव्यापी. अनंत तथा निर्गुण वैश्वानर का सगुण रूप मानती है और यह बताती है कि अनंत ब्रह्म राम के लीलापुरुषोत्तम रूप के प्रथम पाद यही हैं। इनमें वैश्वानर ब्रह्म के सब लक्षण मिलते हैं। श्रीराम की प्राप्ति के लिए प्रथम साधन इन्हीं की उपासना है। ये अनंत शेष के रूप में जगत् को धारण करते हैं, इसलिए भी ये विश्वधारक या वैश्वानर कहलाते हैं। वैश्वानर ब्रह्म ज्ञान-स्वरूप, परम चेतन और जागरित स्थान है। लक्ष्मण भी परम ज्ञानी, सचेत और जागृत रहते हैं। अपने इन्हीं तीन गुणों की सम्पत्ति की सहायता से इन्होंने भगवान् राम की सेवा की। अपने चारों तरफ़ के बाह्य जगत् की अवस्थाओं को ये बड़ी सतर्कता से ध्यान में रखते थे। इसीलिए वैश्वानर ब्रह्म की बहिःप्रज्ञता का लक्षण इनमें माना गया है। सात ऊपर के तथा सात नीचे के लोकों को धारण करने के कारण ये शेषनाग के रूप में सप्तांग हैं। वैश्वानर ब्रह्म भी सप्तांग होता है। पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द, कल्प, शिक्षा, निरुक्त, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद, अर्थशास्त्र और दर्शन की समष्टि के रूप में उन्नीस विद्याओं के पारंगत लक्ष्मण, वैश्वानर ब्रह्म की तरह उन्नीस मुख वाले कहे जाते हैं। प्रलयकाल में शेष रूप से अपने मुख की आग से ये समस्त स्थूल जगत् को अपने भीतर खींच लेते हैं, इसीलिए ये पांचरात्र के संकर्षण और स्थूलभुक् हैं।

इसी विश्वरूप वैश्वानर ब्रह्म को लक्षित करते हुए गोस्वामी जी के वसिष्ठ ने नामकरण के प्रकरण में संक्षेप में कहा है—"लच्छन धाम रामप्रिय सकल-जगत-आधार, गुरु वसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार ‡।" गोस्वामी जी के 'सकल-जगत-आधार' में लक्ष्मण के शेषावतार और विश्वरूप वैश्वानर ब्रह्म दोनों का बड़ी सुन्दरता से समन्वय हो गया है।

‡ रामचरित मानस, बालकांड, दोहा १९७।

रामोत्तरतापनीय उपनिषद् ने इनको ॐकार के 'अ' अक्षर से पैदा हुआ माना है। माण्डूक्य उपनिषद् भी सम्पूर्ण विश्व को ॐकार से उत्पन्न तथा ॐकार-स्वरूप मानती है—"ओमित्येतदक्षरमिदम् सर्वंतस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव" ‡ ।

ॐ ही अविनाशी ब्रह्म है। यह सम्पूर्ण जगत् उसी का परिचायक है। अतीत, वर्तमान और भविष्य जगत् सब ॐकार के भीतर ही रहता है। त्रिकालातीत ब्रह्म भी ॐकार ही है।

इसी ॐकार स्वरूप अनंत ब्रह्म के 'अ' अक्षर से लक्ष्मण की उत्पत्ति रामोत्तरतापनीय उपनिषद् ने मानी है† ।

रामोत्तरतापनीय उपनिषद् शत्रुघ्न को ॐकार के 'उ' अक्षर से उत्पन्न हुआ मानती है। "उकाराक्षर सम्भूतः शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः" $ । 'उ' अक्षर से उत्पन्न शत्रुघ्न तैजस स्वभाव के हैं। ये रामब्रह्म के द्वितीय पाद हैं। ब्रह्म के द्वितीय पाद का लक्षण बताते हुए माण्डूक्य उपनिषद् कहती है—"स्वप्नस्थानः अन्तः प्रज्ञः सप्तांगः एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः" *—स्वप्न के स्वभाव वाले सूक्ष्म जगत् को व्याप्त करने वाला, सात अंगों और उन्नीस मुखों से सूक्ष्म जगत् का अनुभव करने वाला तैजस ब्रह्म (ज्ञानमय प्रकाश का स्वामी) ब्रह्म का द्वितीय पाद है। जिस तरह सम्पूर्ण स्थूल जगत् में वैश्वानर ब्रह्म व्याप्त रहता है वैसे ही समस्त सूक्ष्म (मनोमय) जगत् में तैजस ब्रह्म व्याप्त रहता है।

तैजस ब्रह्म के इन्हीं लक्षणों को ले कर रामोत्तरतापनीय उपनिषद् ने शत्रुघ्न के लक्षणों की परीक्षा की है। चतुर्व्यूह के संकर्षण के बाद प्रद्युम्न ये ही हैं। प्रद्युम्न (काम या मनोमय जगत्) का अंश होने के कारण ये विश्व भर के मन में स्थित रहते हैं। मनोमय सूक्ष्म जगत् में अन्तर्यामी ब्रह्म के ये सगुण रूप हैं। मनोमय जगत् के अधिष्ठाता होने के कारण वे अन्तःप्रज्ञ हैं, सबके मन की बात जानते हैं। सूक्ष्म मनोमय जगत् का सम्पूर्ण तंत्र शत्रुघ्न की शक्ति से चलता है। विश्वसमष्टि मन इन्हीं की शक्ति पर आधारित है। लक्ष्मण के सगुण विशेषणों की तरह ये भी सप्तांग और उन्नीस मुख वाले हैं। कामशक्ति का मूल स्रोत होने के कारण ये परम सुन्दर हैं। अतः उपनिषदों के तैजस तथा पांचरात्र के प्रद्युम्न ब्रह्म शत्रुघ्न ही हैं।

सम्पूर्ण जगत् के मनोमय कोष में व्याप्त इसी तैजस ब्रह्म का लक्षण शत्रुघ्न में बताने के लिए गोस्वामी जी ने नामकरण के समय वसिष्ठ से कहवाया है—"जाके सुमरिन तें रिपु नासा, नाम शत्रुहन वेद प्रकासा §" । यहाँ सुमिरन शब्द मनोमय अनंत कोष

‡ माण्डूक्य उपनिषद्, वाक्य १। † रामोत्तरतापनीय उपनिषद्, कंडिका ३। $ रामोत्तरतापनीय उपनिषद्, कंडिका ३। * माण्डूक्य उपनिषद्, वाक्य ४। § रामचरित मानस, बालकांड, दोहा १९७ के पहले।

की ओर संकेत कर रहा है तथा तैजस ब्रह्म का अंश अग्निदाहक होने के कारण अपने तेज के सामने शत्रुओं को नष्ट कर देता है। अनंत मनोमय कोष में व्याप्त इस ब्रह्म का ध्यान करने से मन पवित्र हो जाता है। उसके भीतर रहने वाले शत्रु, मनुष्य के काम इत्यादि पवित्र हो जाते हैं। इस तैजस ब्रह्म का सगुण अवतार, शत्रुघ्न इतना प्रतापी है कि उसके सामने बाहरी शत्रु भी नहीं टिक सकता। इसीलिए उसका नाम शत्रुघ्न रखा गया।

रामोत्तरतापनीय उपनिषद् के अनुसार भरत ॐ के 'म्' अक्षर से उत्पन्न हुए हैं। "प्राज्ञात्मकस्तु भरतो मकाराक्षरसम्भवः" ‡ प्रज्ञास्वरूप भरत 'म्' अक्षर से उत्पन्न हुए हैं। रामब्रह्म के ये तृतीय पाद हैं। ब्रह्म के इस तृतीय पाद का लक्षण बतलाते हुए माण्डूक्य उपनिषद् ने कहा है—"यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानंदमयो ह्यानंदभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः" †। सुषुप्ति की अवस्था में सोया हुआ मनुष्य चेतना की लहरों से प्रभावित नहीं रहता। उसके भीतर चेतना की लहरें नहीं उठतीं। न तो वह किसी स्थूल भोग की कामना करता है और न मन की सूक्ष्मावस्था में उत्पन्न होने वाला कोई स्वप्न ही देखता है। इस अवस्था में मन भी शान्त हो जाता है। जीव की इस सुषुप्ति अवस्था के समान ही प्राज्ञब्रह्म का लक्षण होता है। जिस तरह जीव सुषुप्ति की अवस्था में मन और इंद्रियों के ऊपर उठ जाता है, न तो इंद्रियों के स्थूलभोग ही उसके साथ रहते हैं और न सूक्ष्म मन के स्वप्न ही, उसी तरह प्राज्ञ ब्रह्म मन और इंद्रियों के धर्मों के ऊपर रहता है। वह प्रकृष्ट ज्ञान के प्रकाश से भरा हुआ, आनंद में निवास करने वाला, आनंद ही का अनुभव करने वाला तथा एकमात्र चैतन्यस्वरूप और चैतन्य रहता है। उपर्युक्त दो प्रकार के स्वभावों के समान उन्नीस मुख वाला वह नहीं होता; क्योंकि ये मुख मन और इंद्रियों के हैं। प्राज्ञब्रह्म केवल चेतोमुख होता है। इस ब्रह्म पर मन और इंद्रियों का निरोध नहीं रहता। इसीलिए पांचरात्र आगम इसे अनिरुद्ध कहता है। वह अनिरुद्ध ब्रह्म किसी आवरण के आधार से सम्बद्ध नहीं है, सबसे परे है।

रामोत्तरतापनीय उपनिषद् के अनुसार भरत ही रामब्रह्म के तृतीय पाद, माण्डूक्य उपनिषद् के प्राज्ञब्रह्म तथा पांचरात्र आगम के अनिरुद्ध ब्रह्म हैं। अनिरुद्ध ब्रह्म के ये ही सगुणरूप हैं। प्राज्ञब्रह्म के इसी प्रज्ञानघन अनिर्लिप्त स्वभाव के कारण भरत जी किसी वस्तु से लिप्त नहीं होते। मिले हुए राज्य और ऐश्वर्य को भी उन्होंने छोड़ दिया। रामब्रह्म के प्रेम में वे अपने परम ज्ञान के साथ लीन रहे। प्रेम की इसी लीनता की समाधि में वे नन्दिग्राम में रहने लगे। वे परम ज्ञानी और कुशाग्र बुद्धि के थे। प्राज्ञ ब्रह्म का यह धर्म उनमें असीम रूप से विद्यमान था। अपने विवेक के कारण वे एकमात्र चैतन्य मुख थे। चैतन्यावस्था का परम ज्ञान ही उनके हर पग का संचालन करता था। अतः प्राज्ञब्रह्म का यह सगुण रूप अपनी समग्र साधनाओं से महाप्राज्ञ था। विश्व में व्याप्त सच्चिदानन्द की इसी 'चित्' शक्ति के द्वारा विश्व का भरण-पोषण होता रहता

‡ रामोत्तरतापनीय उपनिषद्, कंडिका ३। † माण्डूक्य, वाक्य ५।

है। इस चैतन्य के न रहने पर विश्व का क्षरण और नाश होने लगता है। चैतन्य की इसी शक्ति के सगुणरूप भरत का ज्ञान कराने के लिए गोस्वामी जी के वसिष्ठ ने नामकरण संस्कार के समय कहा है—"विस्वभरन पोषन कर जोई, ताकर नाम भरत अस होई" ‡। जिस शरीर को चैतन्य छोड़ देता है वह क्षरित हो कर नष्ट हो जाता है। जगत् के भीतर सब पिंडों के साथ यही नियम लागू है। गोस्वामी जी ने 'चित्' शक्ति के इसी लक्षण को चेतोमुख प्राज्ञ ब्रह्म के सगुणरूप भरत में दिखाया है।

रामोत्तरतापनीय उपनिषद् के अनुसार ॐकार के 'म्' के बाद उच्चरित होने वाली अर्धमात्रा से राम की उत्पत्ति हुई है—"अर्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः" †। ॐकार की अर्धमात्रा राम का ही स्वरूप है। राम केवल ब्रह्मानन्दस्वरूप हैं। सगुण स्वर और व्यंजनों के बाद की अर्धमात्रा का उच्चारण निर्गुण हो जाता है। यही निर्गुण ब्रह्म राम का द्योतक है। विराट् की इसी सर्वातीत अवस्था से राम ब्रह्म का संकेत दिया गया है। मर्यादापुरुषोत्तम इसी आनन्दमयी ब्राह्मी अवस्था के अधिदेव हैं। इसी निर्गुणावस्था के भीतर से वे सगुण हो जाते हैं। ब्रह्म की यह अवस्था ब्रह्म का चतुर्थ पाद मानी जाती है। पांचरात्र आगम का 'वासुदेव' ब्रह्म यही है।

माण्डूक्य उपनिषद् ने ब्रह्म के इस लक्षण को बतलाते हुए कहा है—"नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यम व्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम् चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः" $।

यह ब्रह्म न अन्तःप्रज्ञ, न उभयतःप्रज्ञ, न प्रज्ञान घन, न प्रज्ञ, न अप्रज्ञ, अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अलक्षण, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपंचोपशम, शान्त, शिव तथा अद्वैत है। चतुष्पाद् ब्रह्म का यह विज्ञान रामोत्तरतापनीय उपनिषद् में अविकल उद्धृत है *।

निर्गुण तो अचिन्त्य, अदृष्ट, अव्यवहार्य है तथा वह बुद्धि के भीतर नहीं आ सकता। शब्दों के द्वारा उसे समझाने का केवल प्रयत्न किया जाता है। वह एक ऐसी स्थिति है जो केवल अनुभवगम्य होती है। बुद्धि के भीतर आने वाला कोई ज्ञान और दृश्य उसे पूर्णतः नहीं समझा सकता।

यही असीम और अचिन्त्य निर्गुण, सगुण हो कर सीमा में भी अपने व्यक्त सम्बन्ध स्थापित करता रहता है। यही शान्त, शिव तथा अद्वैत आत्मा सगुण राम के रूप में व्यक्त होता है। यही पांचरात्र का वासुदेव ब्रह्म है। ब्रह्म की ये चारों अवस्थाएँ विराट् ॐकार ब्रह्म की ही अवस्थाएँ हैं। इनमें कोई अधिक भेद नहीं है।

इस तरह औपनिषद ब्रह्म की चार अवस्थाओं से चतुर्व्यूह के चार प्रकार के अवतारों को सम्बद्ध करके रामोत्तरतापनीय उपनिषद् ने उन सबसे राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न का समन्वय स्थापित किया है।

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १९७ के पूर्व। † रामोत्तरतापनीय उपनिषद्, कंडिका ३।
$ माण्डूक्य उपनिषद्, वाक्य ४। * रामोत्तरतापनीय उपनिषद्, कंडिका ३।

गोस्वामी जी ने इन चारों प्रकार के अवतारों का समन्वय बहुत थोड़े से शब्दों में, पर बड़ी स्वाभाविकता से कर दिया है।

विश्व में चार प्रकार से व्याप्त एक ही अनंत की चार विश्वव्यापिनी अवस्थाओं का वर्णन उपनिषदों ने चतुष्पाद् ब्रह्म के रूप में किया है। इस निर्गुण की सगुण उपासना के भीतर भक्तों ने यह अनुभव किया कि अपनी इन चार अवस्थाओं को चार भागों में विभक्त करके इनमें से एक-एक को प्रधान बना कर ब्रह्म चार प्रकार के रूपों में अवतीर्ण होता है। पांचरात्र आगम के अनिरुद्ध, संकर्षण, प्रद्युम्न, और वासुदेव इसी प्रक्रिया में आने वाले, अनंत ब्रह्म के चार प्रकार के सगुण अवतार हैं। बहुत प्राचीन काल से पांचरात्र आगम कृष्णोपासना से सम्बद्ध भक्ति-शास्त्र मालूम पड़ता है, क्योंकि उसने ब्रह्म के सगुण अवतारों के प्रकारों का उन्हीं नामों के द्वारा निर्देश किया है जो कृष्णावतार के समय वासुदेव (श्री कृष्ण), संकर्षण (बलराम), प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के थे। अथवा यह भी माना जा सकता है कि ये नाम कृष्णावतार के भी पहले वैष्णव साधना के भीतर सम्भवतः आ गये हों और कृष्ण-जन्म के समय गुणों के अनुसार कृष्ण इत्यादि को दे दिये गये हों। अस्तु, इन चार नामों के सगुण ब्रह्म के आधार पर रामोत्तरतापनीय उपनिषद् ने राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न के अवतारों के रहस्य को समझाया तथा इसी पांचरात्र और औपनिषद परम्परा का अनुसरण करते हुए गोस्वामी जी ने भी राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न को एक ही अनत के चार रूपों की तरह देखा है और उन सब को अलग-अलग भी अनंत ही माना है तथा भगवान् राम को पूर्ण ब्रह्म मानते हुए उनके भीतर चारों तरह के स्वभावों को एक ही केन्द्र में केन्द्रित भी देखा है।

बालकांड में रामजन्म के बाद ही गोस्वामी जी ने लिखा है—"जगनिवास प्रभु प्रगटे अखिल-लोक-बिस्राम"‡ और इसके बाद ही 'भये प्रगट कृपाला' स्तुति में गोस्वामी जी ने राम के लिए 'अनंत', 'सोभासिन्धु', 'माया-गुन-ज्ञानातीत', 'अमान', 'सब-गुन-आगर', 'रोम रोम प्रति मायानिर्मित ब्रह्माण्ड निकाया' और 'माया-गुन-गोपार' तथा 'सुजाना' इत्यादि शब्दों का उपयोग किया है। इनमें से 'जगनिवास', 'सब-गुन-आगर' 'रोम रोम प्रति मायानिर्मित ब्रह्माण्ड निकाया' विशेषण विश्वरूप वैश्वानर ब्रह्म के हैं; 'अखिल लोक बिस्राम', 'माया-गुन-ज्ञानातीत' तथा 'मायागुन-गोपार' विशेषण वासुदेव ब्रह्म के हैं, जिसका वर्णन माण्डूक्य उपनिषद् ने प्रपंचोपशमं, शान्तं, शिवं, अग्राह्यं अलक्षणं, अचिन्त्यं, अव्यपदेश्यं इत्यादि विशेषणों के द्वारा किया है; 'सोभासिन्धु' विशेषण तेजोमय प्रद्युम्न ब्रह्म का है; 'सुजाना' और दूसरे स्थानों में 'मोहपर' इत्यादि विशेषण प्राज्ञ (अनिरुद्ध) ब्रह्म के हैं तथा 'अनंत' और 'अमान' विशेषण ब्रह्म की चारों अवस्थाओं के हैं। इस तरह गोस्वामी जी ने राम के भीतर ब्रह्म की सब अवस्थाओं का अन्तर्भाव करके एकत्व का सिद्धान्त स्थापित किया है और बाद में चारों अवस्थाओं के सगुण अवतारों को अलग-अलग स्वीकार करते हुए, उन सब को फिर एकत्व की दृष्टि से अपना ईश ही माना है—

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १९१।

"सकल तनय चिर जीवहु तुलसिदास के ईश ‡।" दशरथ के चारों पुत्रों को अपना ईश मान कर उन सबको गोस्वामी जी ने अनंत ब्रह्म के चार प्रकार के अवतार मान लिया है। नामकरण के समय भी गोस्वामी जी के वसिष्ठ ने कहा है—"इन्हके नाम अनेक अनूपा, मैं नृप कहव स्वमति अनुरूपा" †। चारों के नाम की अनेकता और अनुपमता की चर्चा करके गोस्वामी जी ने चारों की अनंतता ही व्यक्त की है। ब्रह्म के इन चार प्रकार के अवतारों के जन्म के समय सम्पूर्ण वातावरण ब्रह्मानन्द से आप्लावित था। गोस्वामी जी जगत् में उत्पन्न हुए इस परिवर्तन के प्रति जागरूक हैं। उन्होंने लिखा है—"सुमन वृष्टि अकास तें होई, ब्रह्मानन्द मगन सब कोई $।" उनके शिव और कागभुशुंडि भी ब्रह्मानन्द से पूर्ण वायुमंडल में परामनन्द में मग्न हो कर और राम के प्रेमसुख में फूल कर अयोध्या की वीथियों में घूम रहे थे। उन्हें अपने अस्तित्व तक का ज्ञान न था। उनके शिव कहते हैं—"काकभुशुंडि संग हम दोऊ, मनुजरूप जानइ नहिं कोऊ। परमान्द प्रेम-सुख-फूले, वीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले *।"

एक ही अनंत, अयोध्या में चार रूपों में अवतीर्ण हुआ है। इसीलिए उन चारों का वर्णन करते हुए भी उनमें से उस एक के प्रति उनका ध्यान विशेष केन्द्रित है और उसी एक पुरुषोत्तम के विकास का चित्रण करने में उन्होंने अपनी सम्पूर्ण कलात्मक और भावात्मक योग्यता को केन्द्रित कर दिया है। बालकों के सौन्दर्य-वर्णन के समय ही अपने इस एक-केन्द्र-केन्द्रित ध्यान की सूचना गोस्वामी जी ने दे दी है—"स्याम गौर सुन्दर दोउ जोरी, निरखहिं छवि जननी तृन तोरी। चारिउ सील-रूप-गुन-धामा, तदपि अधिक सुखसागर रामा §।" राम के एक केन्द्र में केन्द्रित अपने इस ध्यान के भीतर गोस्वामी जी उनके अनंत शील, शक्ति और सौन्दर्य का दर्शन कर लिया है।

इस उपनिषद् ने भगवान् श्री रामचन्द्र को पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश के सम्पूर्ण विस्तार में व्याप्त अद्वैतपरमानन्दात्मा, अखंडेकरसात्मा, ब्रह्मानन्दामृत, तारक ब्रह्म, ब्रह्मा, विष्णु और शिव स्वरूप, सब वेद, वेदांग, वेदशाखा और पुराणस्वरूप, जीवात्मास्वरूप, सर्वभूतान्तरात्मा, देव, असुर तथा मनुष्य इत्यादि के रूप में व्याप्त, मत्स्य कूर्मादि अवतारों में व्यक्त होने वाला, पंचप्राणस्वरूप, चार प्रकार के अन्तःकरणों में व्याप्त रहने वाला, यम, अंतक, मृत्यु तथा अमृतस्वरूप पंचमहाभूत तथा समस्त स्थावर-जंगम की आत्मा, पंचाग्नि तथा सप्तमहाव्याहुतियों में व्याप्त रहने वाला, विद्या, सरस्वती, लक्ष्मी, गौरी तथा जानकी के रूप में व्यक्त होने वाला, त्रैलोक्य रूप, सूर्य, सोम, नक्षत्र, ग्रह, आठ लोकपाल, आठ वसु, ग्यारह रुद्र तथा बारह आदित्यों में व्याप्त रहने वाला, अतीत, वर्तमान और भविष्य के विस्तार में विस्तृत, ब्रह्माण्ड के अन्दर और बाहर विराट् रूप में स्थित रहने वाला अनुभव किया है। जो हिरण्यगर्भ सृष्टि का आदि कारण, विराट्, स्वर्णिम अंडाकार

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १९६। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १९६ के बाद। $ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १९३ के बाद। * रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १९५ के बाद। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १९८ के पहले।

अभिव्यक्ति है उसके स्वरूप में उसने राम को ओत-प्रोत देखा है। प्रकृतिस्वरूप, ॐकार-स्वरूप राम का उसने साक्षात्कार किया है। चार अर्धमात्राओं के भीतर निवास करने वाले राम का उसे ज्ञान है। परमपुरुषस्वरूप, महेश्वर तथा महादेव के रूप में रहने वाले राम को वह जानती है। 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मंत्र तथा महाविष्णु में शक्तिरूप से वर्तमान रहने वाले, परमात्मा, विज्ञानात्मा तथा सच्चिदानन्देकरसात्मा राम की उपलब्धि उसने की है‡।

इसी विराट् राम की सगुण-निर्गुण भक्ति की सिद्धि में यह उपनिषद् चतुर्वर्ग की सिद्धि का मूल बीज देखती है।

इस उपनिषद् के अनुसार सीता जगदानन्ददायिनी, सब शरीरों की उत्पत्ति स्थिति और संहारकारिणी मूल प्रकृति है—"श्रीरामसांनिध्यवशाज्जगदानन्ददायिनी उत्पत्तिस्थिति संहारकारिणी सर्वदेहिनाम्। सा सीता भवति ज्ञेयामूलप्रकृतिसंज्ञिका। प्रणवत्वात् प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः"†।

जिस तरह सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध से ही अपना कार्य कर सकती है उसी प्रकार सीता भी परमपुरुष राम की ही शक्ति है और उनसे अभिन्न है, विराट् ॐकार स्वरूप ब्रह्म का वह अंग ही है और उससे अभिन्न है। प्रकृति और पुरुष की अभिन्नता, माया और ब्रह्म की अभिन्नता का सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत के मायाविशिष्ट ब्रह्म के सिद्धान्त के समान ही है। इस सिद्धान्त में माया और ब्रह्म दोनों एक तत्त्व और सत्य हैं। ये दोनों ऐसे ही अभिन्न हैं जैसे शरीर और शरीरी। राम और सीता दोनों एक ही तत्त्व हैं और दोनों विराट् ॐकार के ही स्वरूप हैं।

गोस्वामी जी ने भी सीता को नमस्कार करते हुए राम के साथ उनका इसी तरह का सम्बन्ध स्थापित किया है—"उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीं। सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोहं रामवल्लभाम्§।"

सीता और राम को एक साथ नमस्कार करते हुए उन्होंने यही अभेद-सम्बन्ध उनमें देखा है—"गिरा अरथ, जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न, बन्दउँ सीता रामपद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न"*।

सीता और राम का सम्बन्ध गोस्वामी जी ने वाणी और अर्थ के सम्बन्ध तथा जल और लहर के अभेद-सम्बन्ध के समान ही माना है।

अथर्ववेद के सीतोपनिषद् में सीता के स्वरूप का ही मुख्यतः विवेचन किया गया है; इसलिए इसमें विस्तार से सीता शक्ति का रहस्य समझाया गया है। इस उपनिषद् के अनुसार भी सीता ॐकार से उत्पन्न हुई, ब्रह्म की शक्ति और प्रकृति स्वरूप हैं। व्यक्त प्रकृति को रूप देने वाली मूलप्रकृति शक्ति सीता ही हैं।

---

‡ रामोत्तरतापनीय उपनिषद्, कंडिका ५ † रामोत्तरतापनीय उपनिषद्, कंडिका ३। § रामचरितमानस, बालकांड, मंगलाचरण, श्लोक ५। * रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १८।

इस उपनिषद् ने 'सीता' शब्द के तीन खंड किये हैं—स्, ई और ता। 'स्' सत्य तथा अमृत शब्द का सूचक है। अष्टसिद्धियों में प्राप्ति-सिद्धि का भी यही सूचक है। 'प्राप्ति'-सिद्धि से साधक कहीं भी पहुँच सकता है। यही ध्वनि चन्द्र शक्ति से भी गर्भित मानी जाती है। चन्द्र शक्ति अनंत मनोमय कोष (जगत् भर का मन) पर नियन्त्रण रख कर उसका स्वभाव बनती है। इतनी सब शक्तियाँ सीता के एक अंश केवल 'स्' में निहित हैं। 'प्राप्ति' से उनकी सर्वव्यापी शक्ति का संकेत मिलता है। उनके लिए यह सम्भव है कि सगुण रूप में भी जहाँ चाहें वहाँ किसी भी समय पहुँच और रह सकती हैं। इस पद्धति से सीता के नाम के ही आधार पर सीतोपनिषद् ने उनकी शक्तियों का विवेचन किया है।

सीता के नाम का ईकार सम्पूर्ण जगत् के प्रपंच के बीज-स्वरूप भगवान् विष्णु की योगमाया या अव्यक्तरूपा महामाया है। यही योगमाया 'स्' (चन्द्र) के समान अपने धवल अंगों और उज्ज्वल आभूषणों के साथ व्यक्त रूप की सगुणता में सीता के रूप में आती है।

दीर्घ 'आ' की मात्रा के साथ रहने वाला 'त्' अक्षर महालक्ष्मी का स्वरूप है। वह प्रकाशमय तथा 'आ' (विस्तार) को सम्भव बनाने वाले, सृष्टि का विस्तार करने वाले शक्तिपुज से ओत-प्रोत है।

सीतोपनिषद् सीता के तीन स्वरूप मानती है। उनका प्रथम स्वरूप शब्द ब्रह्म है। वे बुद्धि-स्वरूपा हैं। अध्ययन-काल में विद्यार्थियों पर प्रसन्न हो कर उन्हें बोध प्रदान करती हैं। उनका दूसरा स्वरूप सगुण है। इस स्वरूप में राजा सीरध्वज की कन्या के रूप में उनका आविर्भाव होता है। उनका तीसरा रूप 'ईकार'-रूपिणी अव्यक्त सत्ता महामाया योगमाया का है। इस रूप से वे जगत् के विस्तार को सम्भव बनाती रहती हैं।

सीतोपनिषद् ने शौनकीय तन्त्र के आधार पर सीता को सर्ववेदमयी, सर्वदेवमयी, सर्वलोकमयी, सर्वकीर्तिमयी, सर्वधर्ममयी, सबकी आधारभूता, कार्य और कारण के स्वभावों में व्याप्त रहने वाली, चेतन और जड दोनों में निवास करने वाली, देवता, ऋषि, मनुष्य और गन्धर्वों में व्याप्त रहने वाली, असुर, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच इत्यादि प्राणियों में अव्यक्त रूप से निवास करने वाली पंचमहाभूतों, दस इन्द्रियों, मन और प्राण की शक्तियों में व्याप्त रह कर विश्वरूपा महालक्ष्मी माना है। उन्हें देवाधिदेव भगवान् से भिन्न और अभिन्न दोनों माना है।

ऐसे ही आधारों पर सीताराम के सम्बन्ध का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी ने भेदाभेद सिद्धान्त के अनुसार 'कहियत भिन्न न भिन्न' ‡ कहा है।

शौनकीय तन्त्र शक्तिरूप में भी सीता के तीन स्वरूप मानता है—इच्छाशक्ति रूप, क्रियाशक्ति रूप तथा साक्षात्शक्ति रूप। इन तीन शक्ति-रूपों में सीताशक्ति विकसित होती रहती है।

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १८।

सीता का इच्छाशक्ति रूप भी तीन तरह से विकसित होता है—श्रीदेवी के रूप में, भूदेवी के रूप में तथा नीलादेवी के रूप में। इच्छाशक्ति कल्याणरूपिणी, प्रभाव-रूपिणी तथा सूर्य, चन्द्र और अग्निरूपिणी हो कर प्रकट होती है। सीता की चन्द्रशक्ति से औषधियाँ पुष्ट होती रहती हैं। चन्द्रशक्ति ही अमृत की मूलभूता शक्ति है। इसी से अमृत उत्पन्न हो कर देवताओं को पोषित करता रहता है। अन्न और तृण के द्वारा सीताशक्ति ही अपनी चन्द्रशक्ति से सब जीवों का पालन करती रहती है।

ब्रह्म की यही सीताशक्ति सूर्यादि समस्त ज्योतिष्पिंडों को प्रकाशित करती है। काल की समस्त प्रकार की कल्पनाओं में काल बन कर सीताशक्ति का ही अनंत विस्तार विस्तृत रहता है। अतः सीता प्रकाशरूपा और कालरूपा भी हैं। उनका अग्निरूप, विभिन्न तापमानों में जगत् की विभिन्न वस्तुओं के भीतर-बाहर स्थित रह कर उनका पोषण और संहार दोनों करता रहता है। समस्त जीवों में भूख और प्यास बन कर वही व्यक्त होता रहता है। हवि ले जाने के लिए वही देवताओं का मुख बनता है। नित्य व्यापक अग्नि-तत्त्व उन्हीं की शक्ति है तथा सीमित काल में जलने वाली आग में उन्हीं का निवास है।

सम्भवतः इसी आधार पर गोस्वामी जी के राम ने पंचवटी में सीताहरण के पहले असली सीता को अग्नि में निवास करने के लिए भेज दिया और माया सीता के साथ रहने लगे, जो रावण की लंका में गयी और रावण-वध के बाद जो अग्नि में जल गयी तथा मूलभूता सीताशक्ति उसी आग में से पुनः आविर्भूत हो गयी।

इस प्रकार भगवान् के संकल्प का संकेत पा कर सीतादेवी, लक्ष्मी, भू और नीलादेवी के रूप में रूपान्तरित हो जाती हैं। लक्ष्मी के रूप में वह अनंत जगत् का पालन करती हैं, भूदेवी के रूप में चौदह भुवनों के और सप्तद्वीपों तथा सप्तसमुद्रों के रूप में प्रणवस्वरूपा यही सीता व्यक्त हो जाती हैं तथा विद्युत्माला के रूप में समस्त प्राणियों के अस्तित्व को सम्भव बनाती हैं। समस्त भुवनों के आधार के लिए जलाकार और मण्डूकमय रूप में यही शक्ति परिवर्तित हो जाती है।

सीतोपनिषद् द्वारा उद्धृत शौनकीय तन्त्र के अनुसार श्रीहरि के मुख से व्यक्त हुए 'नाद' के रूप में सीता का क्रियाशक्ति रूप व्यक्त हुआ। उस नाद से विन्दु प्रकट हुआ।

नाद और विन्दु के रहस्य को समझने के लिए श्रीमधुसूदन सरस्वती का 'प्रस्थानत्रय' ग्रन्थ बड़ा उपयोगी है। इस ग्रन्थ ने सृष्टि के रहस्य को समझाने के लिए उपनिषदों और तन्त्र-ग्रन्थों के आधार पर नाद और विन्दु का बड़ा स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ के अनुसार प्रलयावस्था में स्वयं प्रकाश, अखंड, एकरस अद्वैत ब्रह्म ही रहता है। 'स्पन्दन' और 'अस्पन्दन' नामक दो शक्तियाँ इस ब्रह्म में अव्यक्त रूप में लीन रहती हैं।

प्राणियों के कर्मों के अनुसार प्रलय के बाद पुनः सृष्टि होती है। जीवों के कर्मों के अनुसार प्रलय के विश्राम के पश्चात् उन्हें फिर से सुख-दुःख के चक्र में चलाने के लिए ब्रह्म में सृष्टि करने का संकल्प उत्पन्न होता है। संकल्प के स्फुरण से ईक्षणा शक्ति के द्वारा स्पन्दन और अस्पन्दन शक्तियों का संयोग (सम्मिलन) होने लगता है। इस सम्मिलन

से गुणत्रय की साम्यावस्था वाली, जड-चेतन विभाग के साथ महाशक्ति (प्रकृति) उत्पन्न होती है। ब्रह्म का शुद्ध चेतनांश (चिदात्मा) जब प्रकृति में प्रतिबिम्बित होता है तब प्रकृति के दो रूप हो जाते हैं। स्पन्दनांशमय प्रकृति का जड अंश 'परा प्रकृति' कहलाता है और उसका अस्पन्दनशील चेतन अंश 'अपरा प्रकृति' कहलाता है। शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दावली में स्पन्दनांश को 'पर प्रणव' और अस्पन्दनांश को 'अपर प्रणव' का नाम दिया जाता है। 'पर प्रणव' वाच्य होता है और 'अपर प्रणव' वाचक। पहला अपवाद रूप है, और दूसरा अध्यारोप रूप।

मायावाद के अनुसार मिथ्या का निवारण करने के लिए अपवाद का प्रयोग होता है— "मिथ्याभूतपदार्थनिवारणार्थमुपदेशविशेषः" ‡। 'पर प्रणव' या 'परा प्रकृति' प्रकृति की वह अवस्था है जिसमें चैतन्य का योग नहीं हुआ रहता। चैतन्य के योग के बिना वह एकत्व-रूप रहती है। उसमें बहुत्व की कल्पना नहीं उत्पन्न हो सकती। एकत्व अद्वैत का स्वरूप है। मायावाद के अनुसार बहुत्व मिथ्या है और एकत्व सत्य (ब्रह्म) है। इसी के एकत्व-रूप उपदेश को मायावाद 'अपवाद' कहता है। 'परा प्रकृति' या 'पर प्रणव' के एकत्वमूलक अस्तित्व को समझाने के लिए 'सर्वदर्शन संग्रह' कहता है—"विकारापगमे सत्यं सुवर्णं कुण्डले यथा। विकारापगमो यत्र तामाहुः प्रकृतिं पराम्" †। सुवर्ण एकत्व की अवस्था है। उसके विकार, कुण्डल इत्यादि बहुत्व के परिचायक हैं। 'परा प्रकृति' एकत्व सम्पन्न सुवर्ण की अवस्था के समान बहुत्वमय विकार से अस्पृष्ट रहती है। इसीलिए एकत्वमय 'परा प्रकृति' या 'पर प्रणव' को मधुसूदन सरस्वती ने अपने 'प्रस्थानत्रय' में अपवादरूप कहा है, क्योंकि मायावाद का 'अपवाद' मिथ्या ज्ञान को दूर करने के लिए एकत्व का ही उपदेश करता है। मिथ्या का अपवाद, सत्य या ज्ञान है। मिथ्या के निवारण के बाद ज्ञान उत्पन्न होता है। मिथ्या की अपवाद-स्थिति को उत्पन्न करने के लिए जो ज्ञानात्मक उपदेश दिया जाता है उस उपदेश को, मिथ्या की अपवाद-स्थिति को उत्पन्न करने का हेतु बनने के कारण, अपवाद कहते हैं।

'अपरा प्रकृति' या 'अपर प्रणव' प्रकृति का चेतन अंश है। इसी के योग से बहुत्व की कल्पना उत्पन्न हो सकती है। इस कल्पना को वेदान्त मिथ्या कल्पना मानता है। वेदान्त के अनुसार वस्तु (सत्य) में अवस्तु (असत्य) की कल्पना करना अवस्तु का वस्तु पर आरोप करना 'अध्यारोप' कहलाता है। 'असर्पभूतरज्जौसर्पारोपवत् अजगद्रूपे ब्रह्मणिजगद्रूपारोपवत् वस्तुनि अवस्त्वारोपः अध्यारोपः' $ जिस तरह रस्सी सर्प नहीं रहती, पर भ्रमवश मनुष्य उस पर सर्प का आरोप कर उसे सर्प समझने लगता है, उसी तरह ब्रह्म जगत् नहीं रहता, पर भ्रमवश उसे अज्ञानी मनुष्य जगत् समझने लगता है। सत्य ब्रह्म पर असत्य जगत् का आरोप अध्यारोप कहलाता है। मूलतः यह अध्यारोप ब्रह्म के एकत्व पर जगत् के बहुत्व का आरोप है। 'अपरा प्रकृति' बहुत्व कल्पना की ओर झुकी हुई ब्रह्म की स्थिति है, इसीलिए इस बहुत्व कल्पना की स्थिति को मधुसूदन सरस्वती ने अध्यारोप रूप माना है।

---

‡ न्यायकोश (महामहोपाध्याय भीमाचार्य द्वारा संपादित), पृष्ठ ५५। † सर्वदर्शन संग्रह (महामहोपाध्याय वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर द्वारा संपादित), पृष्ठ ३०९। $ सदानन्द-लिखित वेदान्तसार, अध्याय २, सूत्र ३२।

पराप्रकृति और अपराप्रकृति के संयोग से एक महाशक्ति उत्पन्न होती है। इसे शास्त्र विवृच्छक्ति कहता है। इस विवृच्छक्ति को, विकास की प्रकृति रखने वाली या व्यक्त होने की प्रकृति रखने वाली शक्ति की तरह समझ सकते हैं। यही शक्ति जगत् की उत्पत्ति का निकटतम कारण बनती है। परब्रह्म की ईक्षणा शक्ति जगत् का महाकारण है। ईक्षणा शक्ति की प्रेरणा से ही अभिव्यक्ति की यह शक्ति उत्पन्न होती है और अव्यक्त के भीतर से प्रकृति व्यक्त होने लगती है। ब्रह्म की यही शक्ति सृष्टि का आयोजन और संकल्प करती है। सृष्टिसंकल्प की यह प्रक्रिया 'पर्यालोचना' कहलाती है।

'पर प्रणव' या 'परा प्रकृति' के सान्निध्य से ही 'अपर प्रणव' या 'अपरा प्रकृति' में संकल्प की विवृति 'अभिव्यक्ति' प्रारम्भ होती है और वह 'अकार', 'उकार', और 'मकार' के तीन रूपों में विभक्त हो जाती है। यह संकल्प की विवृति 'एकोऽहं बहुस्याम्' के रूप में होती है। इसमें 'एकोऽहं' 'पर प्रणव' के एकत्व की और 'बहुस्याम्' 'अपर प्रणव' या 'अपरा प्रकृति' के बहुत्व की स्थिति है।

इस तरह अद्वैत ब्रह्म स्वयं प्रकृति के द्वारा तीन विभागों में अभिव्यक्त होता है। ये तीन विभाग ब्राह्मी, वैष्णवी, माहेश्वरी शक्तियों के रूप में सृष्टि, स्थिति और लय के कार्य को प्रारम्भ करने के लिए अभिव्यक्त होते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर इन्हीं तीन महाशक्तियों के शासक देव हैं। इन तीन महाशक्तियों को शास्त्र 'सृष्टि संकल्पशक्तयः' भी कहते हैं।

सृष्टि, स्थिति और लय के अनंत रूप इन्हीं तीन शक्तियों के भीतर पैदा हुए संक्षोभों से उत्पन्न होते हैं। ये संक्षोभ ब्रह्म की ईक्षणा शक्ति के द्वारा उत्पन्न हुई विवृत् शक्ति की प्रेरणा से उत्पन्न होते हैं।

इसी संक्षोभ के कारण अकार में से एक सूक्ष्म ध्वनि उत्पन्न होती है। उकार में से एक स्थूल ध्वनि उत्पन्न होती है और मकार में से अत्यन्त स्थूल ध्वनि उत्पन्न होती है। इन्हीं ध्वनियों को यौगिक विज्ञान में 'नाद' कहते हैं।

नाद की इन तीन महाशक्तियों से क्रम से मनोबीज, प्राणबीज और अहंबीज उत्पन्न होते हैं। ये ही तीनों, क्रम से सृष्टि, स्थिति और लय के कारण-बीज हैं। इन्हीं बीजों को नादशास्त्र में बिन्दु कहते हैं ‡।

मूलप्रकृति की ये नादबिन्दु-रूपिणी महाशक्तियाँ सीता के क्रियाशक्ति रूप से ही प्रकट होती हैं। सीता के इसी क्रियाशक्ति रूप से सृष्टि, स्थिति और लयात्मक विराट् ॐकार उत्पन्न होता है। इसी क्रियाशक्ति के भीतर से चतुर्वेद, छह वेदांग, मीमांसा और न्यायशास्त्र के विस्तार के रूप में वेदों के उपांग, शास्त्र के रहस्यों को समझाने वाले निबन्ध, धर्मशास्त्र, इतिहास-पुराण से प्रारम्भ करके वास्तुवेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा आयुर्वेद इत्यादि पाँच उपवेद, दण्ड-नीति, व्यापार-विद्या तथा समाधि की मुक्तावस्था भी

---

‡ कल्याण, योगांक पृष्ठ ६१९–२०, श्री सुंदरलाल नाथामल जोशी, विद्यावारिधि, एम्०आर०ए०एस्० के लेख के आधार पर।

सीता की इसी क्रियाशक्ति से उत्पन्न होती है। यह सनातन ब्रह्ममय अनंत रूप धारण करने वाली क्रियाशक्ति भगवान् की साक्षात् शक्ति मानी जाती है। भगवान् के संकल्प-मात्र से सीता अपनी क्रियाशक्ति से जगत् को उत्पन्न करके स्वयं सगुण रूप में अवतीर्ण हो जाती हैं। भगवान् का संकेत पा कर समस्त व्यक्त जगत् और अव्यक्त देवादि जगत् की सृष्टि वे स्वयं अपनी क्रियाशक्ति से करती हैं। वे स्वयं अविनाशिनी हैं और भगवान् से पृथक् कभी नहीं होतीं। निमेष, उन्मेष, सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान तथा अनुग्रह आदि समस्त शक्तियों में रहने के कारण वे भगवान् की अभिन्न शक्ति मानी जाती हैं।

सीता के इच्छाशक्ति रूप के तीन प्रकार हैं। पहला प्रकार योगशक्तिरूप है। यह स्वरूप प्रलय के समय भगवान् के दाहिने वक्षःस्थल पर श्रीवत्स (भृगु के चरण-चिह्न) का रूप धारण करके विश्राम करता रहता है। दूसरा प्रकार भोगशक्तिरूप है। इस रूप से सीता कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि तथा शंख से प्रारम्भ करके पद्म इत्यादि नव-निधियों के रूपों में निवास करती हैं तथा किसी भी प्रकार भगवान् की उपासना करने वाले भक्तों के लिए उपासना तथा उपभोग की अनंत प्रकार की सामग्रियाँ प्रस्तुत करती रहती हैं। तीसरा प्रकार वीरशक्ति रूप है। उनकी यह शक्ति चार भुजाओं वाली रहती है। ये भुजाएँ अभय और वरदान की मुद्राओं और दो कमलों से युक्त रहती हैं। इस शक्ति की समस्त देवता वन्दना करते हैं। सूर्य और चन्द्र दीपक बन कर इस शक्ति के पास प्रकाश करते हैं। राका और सिनी वाली (दुर्गा, शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा, एक वैदिक देवी) देवियाँ इसे छत्र लगाती हैं। ह्लादिनी और माया इसकी चामरग्राहिणी हैं। स्वाहा और स्वधा पंखा झलती हैं। सब महात्मा इसकी पूजा करते हैं। सीता का यह वीरलक्ष्मी रूप है। कल्पवृक्ष के नीचे देवताओं से घिरी हुई इस वीरशक्ति का, चार श्वेत हाथी, अमृत से अभिषेक करते हैं।

सीता के इन अनंत शक्तिमय रूपों का संकेत तुलसी-साहित्य में 'मानस' और 'विनय-पत्रिका' इत्यादि ग्रन्थों के द्वारा बार-बार मिलता है। रामभक्ति से सम्बद्ध इसी तरह की पूर्व परम्परा ने अपनी अपार ज्ञान और भाव-राशि के साथ हिन्दी की रामभक्ति शाखा और गोस्वामी जी के साहित्य को प्रभावित किया है।

वाल्मीकि-रामायण भी अवतारी राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप को ही प्रस्तुत करती है। लेकिन तुलसी और वाल्मीकि की साहित्यिक शैलीगत भाव-प्रक्रिया में कुछ अन्तर है। गोस्वामी जी के मानस में भक्ति और जीवन के आदर्शों की धाराएँ समानान्तर रेखाओं की तरह आदि से अंत तक अविच्छिन्न प्रवाह से प्रवाहित होती रहती हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम के नर और नारायण रूपों को गोस्वामी जी कभी ओझल नहीं होने देते। पर वाल्मीकि बालकांड में राम के नारायणत्व और पुरुषोत्तमत्व की स्थापना कर लेने के बाद जब उनके नर रूप को ले कर चलते हैं तब राम नरमात्र रह जाते हैं। उनके नारायणत्व की चर्चा बीच में वे कभी नहीं करते। केवल इतना ही होता है कि कभी-कभी राम के कार्यों

से पुरुषोत्तम राम के नारायणत्व का आभासमात्र मिलता है, अन्यथा एक महापुरुष की ही तरह राम के जीवन की धारा प्रवाहित होती रहती है। अंत में उत्तरकांड में पहुँच कर और कुछ पहले से युद्धकांड से ही पूर्ण नारायणत्व को पुनः विकसित करके वाल्मीकि स्वर्गारोहण के समय राम को पूर्ण नारायण बना देते हैं। बालकांड के ७७ सर्गों में से केवल प्रारम्भ के अट्ठारहवें सर्ग तक वाल्मीकि ने राम के नारायणत्व को रहने दिया है। उनमें से भी दस सर्गों में दशरथ से सम्बन्ध रखने वाली कथाएं हैं। प्रारम्भ के इन अट्ठारह सर्गों में से प्रथम चार और अंतिम चार में ही राम का नारायणत्व दिखाई पड़ता है। इसके बाद प्रायः सम्पूर्ण ग्रन्थ समाप्त हो जाने पर युद्धकांड में पुनः नारायणत्व विकसित होने लगता है और पूर्ण नारायण के रूप में उत्तरकांड में राम का स्वर्गारोहण होता है। यह भी एक स्वाभाविक भाव-प्रक्रिया ही है। नारायण जब अवतीर्ण होने की तैयारी में रहता है तब सब देवताओं के बीच में उसकी तैयारी को वाल्मीकि देख लेते हैं। अवतार ले लेने के बाद तो विष्णु और सब देवता नर और वानरों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं, तब उनके विष्णुत्व और देवत्व की चर्चा बार-बार क्यों की जाए, यही सोच कर वाल्मीकि दिव्य शक्तियों की नर-वानर लीला को प्रायः नर-वानरों की भूमि पर ही रहने देते हैं। इस लीला का जब संवरण होने लगता है, तब फिर स्वाभाविक हो जाता है कि विष्णुत्व और देवत्व पुनः दृष्टिगोचर हों, क्योंकि यहाँ से नर और वानर अपने देवरूप की ओर प्रस्थान करने के लिए प्रस्तुत होते हैं। इसीलिए वाल्मीकि-रामायण का आदि और अंत देवत्व की अभिव्यक्ति करता है और उसका अवशिष्ट अंश उसी के नरत्व और वानरत्व की। लेकिन गोस्वामी जी नारायण और देवताओं के प्रति बड़े कृतज्ञ हैं। इन शक्तियों ने अवतीर्ण हो कर राक्षसत्व का विनाश किया था और आदर्श का प्रचार। उनके इस त्याग का साक्षात्कार करके गोस्वामी जी को अन्तःसुख का अनुभव प्राप्त हुआ है। उन्होंने यह अनुभव किया है कि देवों और देवाधिदेव ने साधुता की रक्षा के लिए नर और वानर रूपों में तप-तप कर आदर्श के प्रचार के लिए बड़े कष्ट उठाये, इसीलिए अपने 'मानस' में उनके प्रति कृतज्ञता बार-बार व्यक्त करने में उन्हें तनिक भी संकोच नहीं होता। प्रातिभासिक के आवरण के पीछे से सत्य का दर्शन, वे बार-बार लोगों को इसी कृतज्ञता-बुद्धि के कारण कराना चाहते हैं और यह भी चाहते हैं कि रामायण के माध्यम से आदर्श जीवन की साधना करने वाला साधक भी इस कृतज्ञ बुद्धि को अपनी साधना के पथ पर कभी न छोड़े। यह सब भक्ति के पथ पर नति और विनय उत्पन्न करने के लिए किया गया है। वाल्मीकि अधिकांशतः इतिहास की शक्ति ले कर मानवता को उसकी भूलों की स्मृति दिला कर उसे दानवत्व की ओर जाने से बचाने का प्रयत्न करते हैं, पर तुलसी अंधकार में भक्ति के निरन्तर जलते हुए दीपक के प्रकाश को ले कर मानवता को पूर्णता और देवत्व की ओर बढ़ने के लिए मार्ग बताते हुए चलते हैं। वाल्मीकि ने भक्ति को इतिहास के हाथों में दे दिया है और तुलसी ने इतिहास को भक्ति की गोद में डाल दिया है, दोनों के साथ दो भिन्न-भिन्न भाव-प्रक्रियाओं ने कार्य किया है। वाल्मीकि प्रातिभासिक की स्वाभाविकता की ओर अधिक झुके हुए हैं और विशिष्टाद्वैती

तुलसी सत्य तथा प्रातिभासिक में बहुत अंतर न देखते हुए दोनों को अपना हृदय प्रदान करते हुए चलते हैं। वाल्मीकि की योजना अधिकांशतः बुद्धि-बीज पर विकसित हुई है और तुलसी की योजना मुख्यतः भाव-बीज का विकसित रूप है। वाल्मीकि की बुद्धि हृदय को अपने हाथों की अंजलि में ले कर चलती है और तुलसी का भाव-निकुंज बुद्धि को अपनी शीतल छाया में बिठा कर परितृप्त, शीतल, शान्त और सुरक्षित बना लेता है। अपने-अपने मार्ग पर दोनों महान् हैं।

चौबीस हज़ार श्लोकों में प्रस्तुत किये गये अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण के लिए वाल्मीकि ने केवल दो श्लोकों का उपयोग किया है। वे निम्नांकित हैं :

श्रीमद्राघवपादपद्मयुगलं पद्मार्चितं पद्मया,
पद्मस्थेन तु पद्मजेन विनुतं पद्माश्रयस्याप्तये।
यद् वेदैश्च नतु सुखैकनिलयं सर्वाश्रयं निष्क्रिय
शश्वच्छंकरशंकरं मुहुरहो सन्नौमि तल्लब्धये ॥१॥
श्रीमद्ब्रह्म तदेव बीजममलं यस्यांकुरश्चिन्मयः
कांडैः सप्तभिरन्वितोऽस्ति विवतश्चर्ष्यालवालोदितः
पत्रैः तत्त्वसहस्रकैः सुविलसच्छाखाशतैः
पंचभिश्चात्मप्राप्तिफलप्रदो विजयते रामायणस्वस्तरुः॥२॥

"जो वेदों के द्वारा प्रशंसित, सर्वाश्रय, निष्क्रिय, सुख का एकमात्र निलय है, उस ब्रह्म की प्राप्ति के लिए मैं राघव के उन सुन्दर चरणकमलों की बार-बार वन्दना करता हूँ, जिसकी पूजा लक्ष्मी कमलों से करती हैं, जिसके नाभिकमल पर बैठे हुए ब्रह्मा उस पद्माश्रय की निरन्तर प्राप्ति के लिए या उनकी शक्ति पद्मा से, सृष्टि करने की शक्ति का आश्रय प्राप्त करने के लिए, जिन चरणकमलों की वन्दना करते हैं और जो निरन्तर शंकर का भी मंगल किया करते हैं।

"वह रामायणरूपी कल्पतरु धन्य है जिसका धवल बीज स्वयं तेजोमय ब्रह्म है, जिसका चैतन्यमय व्यापक अंकुर सात कांडों (गाठों और रामायण के कांडों) से युक्त हो कर ऋषि-रूपी थाले में उदय हुआ है, जो चौबीस हज़ार पत्तों और पाँच सौशाखाओं से सुशोभित है और जो आत्मप्राप्तिरूप फल को उत्पन्न करता है।"

इस संक्षिप्त मंगलाचरण के प्रथम श्लोक का अनुवाद देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शाश्वत सगुण की उपासना को वाल्मीकि शाश्वत निर्गुण की प्राप्ति का सुगम और स्वाभाविक उपाय मानते हैं। इसीलिए निर्गुण, निष्क्रिय तथा सर्वाश्रय ब्रह्म की प्राप्ति के लिए वे सगुण राघव के उन सुन्दर चरणकमलों की उपासना करते हैं, जिनकी उपासना लक्ष्मी और ब्रह्मा दोनों करते हैं, जो शंकर की भी मंगलकारिणी शक्ति को बल प्रदान करते रहते हैं तथा जिनमें निर्गुणता, नैष्कर्म्य और सर्वाश्रयता स्वभाव बन कर बैठे हुए हैं। गोस्वामी जी की राम-शिव-ऐक्य की योजना का बीज वाल्मीकि में भी इसी रूप में दिखाई पड़ता है। राम और शिव का सेव्य-सेवक-भाव वाल्मीकि-रामायण के प्रथम श्लोक में ही

दिखाई पड़ता है, यद्यपि उसके विकास की आवश्यकता सम्भवतः वाल्मीकि के युग में न रहने के कारण वह बीजरूप प्रायः अपरिवर्तित ही रह जाता है। उसका विकास प्रायः अंकुरित अवस्था तक ही पहुँच कर युग की आवश्यकता पूर्ण कर लेता है। पर तुलसी का युग उसके पूर्ण विकास की अपेक्षा रखता था और गोस्वामी जी ने वैसा किया भी। इस स्थिति की व्यंजनामात्र कर लेने पर वाल्मीकि ने यह इशारा इस प्रथम मंगलाचरण श्लोक में दिया है कि अनंत निर्गुण की प्राप्ति के लिए अनंत सगुण की उपासना स्वाभाविक और आवश्यक है तथा अनंत सगुण स्वतः निर्गुण, निष्कर्म और सर्वाश्रय है।

मंगलाचरण का दूसरा श्लोक भी यही बताता है कि ब्रह्म-बीज के चैतन्यमय अंकुर (राम) का ही विकास रामायण के सात कांडों में दिखाया गया है। इस रामायण-रूपी कल्पतरु की छाया में पहुँच जाने पर आत्मप्राप्ति का फल प्राप्त हो जाता है। वाल्मीकि भी यही मानते हैं कि शरीरी मानव के लिए अपने विचारों और भावों को पूर्ण के साथ जोड़ कर ब्राह्मी स्थिति में पहुँचना, आत्मप्राप्ति करना. तभी सम्भव है जब वह ब्रह्म के मर्यादा पुरुषोत्तम नररूप राम के आदर्शों को अपने शील के भीतर उतार ले। इसीलिए ब्राह्मीस्थिति में पहुँचे हुए इस शील का विवेचन वाल्मीकि के समान ब्रह्मनिष्ठ महात्मा ने किया है। उनके भीतर वह व्यक्तित्व था जिसका इतना दयामय विकास हो चुका था कि पक्षी की पीडा को भी वह नहीं देख सकता था। वाल्मीकि के हृदय का विकास जड-चेतन की समग्र सृष्टि से जुड़ गया था। वे स्वयं भावरूप में विश्वरूप हो गये थे।

रामायणरूपी कल्पतरु के चौबीस हज़ार पत्ते ही उसके २४,००० श्लोक हैं। उसकी पाँच सौ शाखाएँ रामायण के पाँच सौ सर्ग हैं। यद्यपि रामायण में ६४७ सर्ग हैं, पर राम की कथा से सीधे सम्बद्ध रहने वाले पाँच सौ सर्ग ही हैं। बाकी के सर्गों में संदर्भ में आने वाली दूसरी कथाएँ हैं।

वाल्मीकि-रामायण के बालकांड के सोलहवें सर्ग में पुत्रेष्टि यज्ञ के कुंड से प्रकट हो कर दिव्य प्राजापत्य पुरुष देवनिर्मित पायस दशरथ को देता है‡। इसके पहले ही पन्द्रहवें सर्ग में सनातन ब्रह्म, विष्णु, रावण को मारने के लिए नर रूप में अपने अवतीर्ण होने का वरदान रावणपीडित देवताओं को दे चुकते हैं। इस सर्ग के इकतीसवें और बत्तीसवें श्लोक में विष्णु स्वयं अपने को चार प्रकारों में विभाजित कर दशरथ के पुत्रों के रूपों में अवतीर्ण होने की इच्छा व्यक्त करते हैं—"एवं दत्वा वर देवो देवानां विष्णु-रात्मवान्। मनुष्ये चिन्तयामास जन्मभूमिमथात्मनः। ततः पद्मपलाशाक्षः कृत्वात्मानं चतुर्विधम्। पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम्†।" इस तरह अनंत शक्तिवान् विष्णु देवों को वर दे कर मनुष्यों के बीच में अपनी जन्मभूमि का स्थान सोचने लगे। इसके बाद ही कमलनयन नारायण ने अपने को चार प्रकारों में विभक्त करके राजा दशरथ को अपने पिता की तरह प्राप्त करना चाहा।

---

‡ वाल्मीकि-रामायण, बालकांड, सर्ग १६, श्लोक ११ से २० तक। † वाल्मीकि-रामायण, बालकांड, सर्ग १६, श्लोक ३० से ३२ तक।

चार प्रकार के अनंत अस्तित्व के भीतर उपनिषदों ने ब्रह्म की चार अवस्थाओं का दर्शन किया है। इन्हीं अनंत अस्तित्वों के स्वभाव को ले कर उसके चार प्रकार के सगुण अवतारों का पता पांचरात्र आगम ने लगाया है। उसी का समर्थन अपनी रामायण में वाल्मीकि ने किया है। इसी प्रक्रिया का दर्शन हमें रामचरित मानस में भी मिलता है। राम के जन्म की सूचना देते हुए वाल्मीकि ने लिखा है—"प्रोद्यमाने जगन्नाथं सर्वलोकनमस्कृतं कौसल्या जनयद्रामं दिव्यलक्षणसंयुतम्। विष्णोरर्धं महाभागं पुत्रमिक्ष्वाकुनंदनम्" ‡। —'दिव्य लक्षणों से युक्त, विष्णु के अर्धभाग, महाभाग सर्वलोकनमस्कृत, जगन्नाथ, इक्ष्वाकुनन्दन को कौसल्या ने ग्रह नक्षत्रों की उक्त स्थिति में जन्म दिया।' यहाँ वाल्मीकि ने राम को विष्णु का आधा भाग माना है।

इसी तरह भरत के जन्म की सूचना देते हुए वाल्मीकि ने लिखा है—"भरतो नाम कैकेय्यां जज्ञे सत्यपराक्रमः साक्षाद्विष्णोश्चतुर्भागः सः सर्वैः मुदितो गुणैः" †। साक्षात् विष्णु के चतुर्थांश, सर्वगुणसम्पन्न, सत्यपराक्रम भरत ने कैकेयी में जन्म लिया।

लक्ष्मण और शत्रुघ्न के जन्म की चर्चा करते हुए वाल्मीकि ने उन दोनों को भी विष्णु के आधे अंश से उत्पन्न हुआ माना है—"अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रा जनयत्सुतौ वीरौ सर्वास्त्रकुशलौ विष्णोरर्धसमन्वितौ" $। 'वीर, सर्वास्त्रकुशल तथा विष्णु के अर्धांश से युक्त लक्ष्मण और शत्रुघ्न को सुमित्रा ने जन्म दिया।

इस तरह चतुष्पाद् ब्रह्म या चतुर्व्यूह का सिद्धान्त वाल्मीकि को भी मान्य था। इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न के जन्म के रहस्य को समझाया है।

इस चतुष्पाद् ब्रह्म की अभिव्यक्ति का रहस्य बालकांड के तेरहवें सर्ग से ही कुछ-कुछ व्यक्त होना आरम्भ होता है। इस सर्ग में ऋश्यशृंग की सहायता से राजा दशरथ अश्वमेध यज्ञ की तैयारी करते हैं—चौदहवें सर्ग में यज्ञ होता है और उसी समय ब्रह्मवत् वातावरण चारों तरफ़ उत्पन्न हो जाता है—"दृश्यते ब्रह्मवत्सर्वं क्षेमयुक्तं हि चक्रिरे" *। 'सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्मवत् देख कर राजा ने हर तरह सुखी बनाया और यज्ञकार्य पूरा किया।' पन्द्रहवें सर्ग में ऋश्यशृंग ने पुत्रेष्टि यज्ञ कराया और उसी समय देवताओं की प्रार्थना स्वीकार करके भगवान् नारायण ने दशरथपुत्र हो कर मानवरूप से रावण का वध करने का वचन दिया §। इस तरह ब्रह्मवत् जगत् को देखने वाले दशरथ के हृदय ने नारायण ब्रह्म को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। इसके बाद पुत्रेष्टि के फलस्वरूप नारायण के चार रूप—राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न—जगत् में अवतीर्ण हुए और उनकी सहायता के लिए सब देवता वानर-रूप हो गये ×।

---

‡ वाल्मीकि-रामायण बालकांड, सर्ग १८, श्लोक १०-११। † बालकांड, सर्ग १८, श्लोक १३। $ बालकांड, सर्ग १८, श्लोक १४। * बालकांड, सर्ग १४, श्लोक १०। § बालकांड, सर्ग १५, श्लोक १६ से ३० तक। × बालकांड, सर्ग १७, श्लोक १ से ३७ तक।

अब यहाँ से वाल्मीकि अपने नर राम को ले कर चलते हैं; पर युद्धकांड में नारायणत्व का रहस्य फिर व्यक्त होने लगता है। इसके पूर्व भी शबरी के शब्दों से भी वाल्मीकि ने राम के देवत्व को स्पर्श किया है। राम को देख कर योगिनी शबरी ने कहा है—"अद्य मे सफलं तप्तं स्वर्गश्चैव भविष्यति। त्वयि देववरे राम पूजिते पुरुषर्षभ" ‡—'हे पुरुषश्रेष्ठ और देव-श्रेष्ठ राम, आज मेरी तपस्या सफल हो गयी। तुम्हारी पूजा करके मैं स्वर्ग भी प्राप्त करूँगी।' उसने यह भी कहा कि स्वर्ग की ओर जाने वाले ऋषियों ने मेरी स्वागतपूर्ण पूजा से प्रसन्न हो कर मुझे सूचना दी थी कि लक्ष्मण के साथ, राम तुम्हारे आश्रम में आएँगे। उनका दर्शन कर लेने के बाद तुम्हें श्रेष्ठ और अक्षय लोकों की प्राप्ति होगी—"तं च दृष्ट्वा वरांल्लोकानक्षयांस्त्वं गमिष्यसि †।" अतः अरण्यकांड के अंत में भी राम का देवत्व फिर से प्रकाश में आ गया है। इसके बाद किष्किंधाकांड और सुन्दरकांड में राम का शक्तिसम्पन्न नरत्व ही प्रायः चित्रित हुआ है।

लंकाकांड में नारायणत्व को वाल्मीकि ने पुनः प्रकाश में लाने की स्थिति उत्पन्न कर ली है। रावण की मृत्यु के बाद विलाप करती हुई मन्दोदरी ने बीती हुई बातों को स्मरण करके अपने मृत पति से कहा है—"मुझे यह विश्वास नहीं होता है कि त्रैलोक्य विजयी राम तुम्हें मार सकते हैं। यह हो सकता है कि स्वयं यमराज ने ही राम का छद्मवेश धारण करके तुम्हें मारा हो अथवा इन्द्र ने तुम्हारा वध इस रामरूप से किया हो या यह भी सम्भव नहीं दिखाई पड़ता। युद्ध में तो इन्द्र तुम्हारी तरफ़ दृष्टि भी नहीं डाल सकता था।" "व्यक्तमेप महायोगी परमात्मा सनातनः। अनादिमध्यनिधनो महतः परमो महान्। तमसः परमो धाता शंखचक्रगदाधरः। श्रीवत्सवक्षा नित्यश्रीरजय्यः शाश्वतो ध्रुवः। मानुपं रूपमास्थाय विष्णुः सत्यपराक्रमः। सर्वः परिवृतो देवैर्वानरत्व-मुपागतैः सर्वलोकेश्वरः श्रीमान् लोकानां हितकाम्यया। ...यदैव हि जनस्थाने राक्षसैर्ब-हुभिर्वृतः। खरस्तु निहतो भ्राता तदा रामो न मानुषः।" इन श्लोकों में मन्दोदरी ने राम को महायोगी, आदि, मध्य तथा अंतहीन, प्रकृति से भी अत्यन्त विराट्, अज्ञान से अस्पृष्ट, शंख, चक्र और गदा धारण करने वाला, हृदय पर भृगु का चरण-चिह्न रक्षित रखने वाला, शाश्वत सौन्दर्यवान्, नित्यस्थित, अविचल, सत्यपराक्रम सनातन परमात्मा ही माना है। उसने यह भी कहा है कि संसार की रक्षा के लिए देवताओं के वानर रूपों से घिर कर सर्वलोकेश्वर परम सुन्दर नारायण ही नर रूप में अवतीर्ण हुए हैं। रावण को उसने यह भी स्मरण करने को कहा है कि जनस्थान में राक्षसों की बड़ी सेना से घिरे हुए तुम्हारे भाई खर को मारने वाले राम मनुष्य कैसे हो सकते हैं §।

इसी युद्धकांड में जब रावण की मृत्यु के बाद राम ने सीता की अग्नि-परीक्षा की और सीता जलती हुई चिता पर बैठ गयीं तब त्रिनयन वृषध्वज महादेव तथा ब्रह्मा इत्यादि देवताओं ने राम से कहना आरम्भ किया—"आप सब लोकों की सृष्टि करने

‡ वाल्मीकि-रामायण, अरण्यकांड, सर्ग ७४, श्लोक ११। † अरण्यकांड, सर्ग ७४, श्लोक १४ से १६ तक। § युद्धकांड, सर्ग ११३, श्लोक ११ से १७ तक।

वाले, विभु तथा ज्ञानियों में श्रेष्ठ हैं। जलती हुई चिता पर बैठी हुई सीता की आप अज्ञानी की तरह कैसे उपेक्षा कर रहे हैं? देवगणों में श्रेष्ठ होते हुए भी आप अपने को क्यों भूले हुए हैं। वसुओं में ऋतधामा वसु आप ही हैं। तीनों लोकों के आदिस्रष्टा परमात्मा आप ही हैं। आप स्वतः शक्तिवान् हैं। रुद्रों में से आठवें रुद्र आप ही हैं। साध्यों में से पंचम साध्य देवता—नारायण—आप ही हैं। अश्विनी और कुमार ये दोनों देववैद्य आपके कान हैं, सूर्य और चन्द्रमा आपके दो नयन हैं। इस सृष्टि के आदि, मध्य और अंत में आप ही रहते हैं। आप प्राकृत और अज्ञानी मनुष्य की तरह वैदेही की उपेक्षा कैसे कर रहे हैं"‡ ?

देवताओं के इस प्रश्न के बाद भी आदिकवि ने राम के भीतर एक स्वाभाविक प्रक्रिया से स्वाभाविक नरत्व का भोलापन फिर से उभारा है। उन्होंने लिखा है—"देवताओं के ऐसा कहने के बाद समग्र लोकों के स्वामी धर्मनिष्ठों में श्रेष्ठ राघव ने उन श्रेष्ठ देवताओं से कहा—'मैं तो अपने को दशरथ का पुत्र तथा मनुष्य समझता हूँ, इसीलिए मैं जो हूँ और जहाँ से आया हूँ, आप लोग मुझे बताइए†' अपने को इस तरह मनुष्य समझने वाले राम से ब्रह्मा ने कहा—'सत्य पराक्रम राम, आप मेरी सत्य वाणी पर ध्यान दीजिए। आप श्रीमान् चक्रायुध परमात्मा नारायण हैं। आप एक शृंग वाले वराह भगवान् हैं। आप अतीत और भविष्यत् शत्रुओं को जीतने वाले अजेय परमात्मा हैं। सत्यस्वरूप अक्षर ब्रह्म आप ही हैं। आदि, मध्य और अंत में आप ही रहते हैं। विश्व के मूल कारण आप ही हैं। विष्वक्सेन, चतुर्भुज, शार्ङ्गधन्वा, हृषीकेश, पुरुष, पुरुषोत्तम, अजित, खड्गधृक्, विष्णु, कृष्ण, वृहद्बल सेनानी, ग्रामणी इत्यादि विष्णु के अनंत नाम आप ही के हैं। सम्पूर्ण विश्व आप ही हैं। बुद्धि, क्षमा और दम आप ही हैं। प्रभव, अव्यय, उपेन्द्र और मधुसूदन आप ही हैं। इन्द्रकर्मा, महेन्द्र, पद्मनाभ तथा रणांतकृत् आप ही हैं। दिव्य महर्षियों ने आपको शरण और शरण्य दोनों माना है। वेद, यज्ञ और ॐकार आप ही हैं। कारणों के भी कारण आप ही हैं। जन्म और मृत्यु दोनों आप ही हैं। हम लोग स्वयं नहीं जानते कि आप और क्या-क्या हैं। आप सब प्राणियों में दिखाई पड़ते हैं। गायों और ब्राह्मणों में आप ही हैं। आप सब दिशाओं में, आकाश में, पर्वतों में, तथा नदियों में व्याप्त हैं। आप अनंत चरण, अनंत शीर्ष और अनंत नेत्र हैं। आप सब तत्त्वों को, सम्पूर्ण पृथ्वी और सब पर्वतों को धारण करते हैं। पृथ्वी के अंत में जल के भीतर अनंत शेषनाग के रूप में आप ही रहते हैं। देव, गन्धर्व, दानव तथा त्रिलोक, सब आपके ही सहारे रहते हैं। मैं आपका हृदय हूँ, देवी सरस्वती आपकी जिह्वा हैं। देवता और ब्राह्मण आपके शरीर के रोम हैं। आपकी पलकों का उठना ही दिन है और उनका गिरना रात्रि। आपके संस्कार वेद के रूप में व्यक्त हुए। सम्पूर्ण जगत् आपका शरीर है। पृथ्वी आपकी स्थिरता है। अग्नि ही आपका क्रोध है। चन्द्रमा ही आपकी प्रसन्नता है। प्राचीन काल में आपके द्वारा ही तीन पगों में त्रिलोक नाप लिया गया था और उसके बाद बलि को बंधन दे कर आप ही ने इन्द्र

---

‡ युद्धकांड, सर्ग ११९, श्लोक १ से ९ तक। † युद्धकांड, सर्ग ११९, श्लोक ९ से ११ तक।

को स्वर्ग का राजा बनाया था। सीता लक्ष्मी हैं और आप भगवान् विष्णु हैं, कृष्ण हैं तथा सम्पूर्ण विश्व की प्रजा के स्वामी हैं। रावण-वध करने के लिए इस पृथ्वी पर आपने मानव-शरीर में प्रवेश किया था। हम लोगों का वह कार्य आपने करके अपने श्रेष्ठ धर्म-रक्षक पद को जगत् के सामने सिद्ध कर दिया है। अब रावण मारा गया। आप प्रसन्नता से स्वर्ग चलिए। आपका तेज अव्यर्थ है। आपका पराक्रम कभी व्यर्थ नहीं होता। आपका दर्शन तथा आपका यशोगान अमोघ है। संसार में आपके भक्त भी सर्वदा अमोघ-शक्ति-सम्पन्न होंगे। जो लोग पुराण, पुरुषोत्तम तथा अविचल ब्रह्म को आपमें प्राप्त कर लेंगे वे भुक्ति और मुक्ति दोनों को अपने लिए करतलगत कर लेंगे ‡।"

इस तरह उपनिषदों के विश्वरूप ब्रह्म को अनंत विश्व में व्याप्त राम की तरह वाल्मीकि ने भी देखा है। इसी विश्वरूप ब्रह्म को वेदों ने भी देखा है। इसी परम्परा में रामानुजाचार्य ने माया को ब्रह्म का अंग मान कर विश्व को ब्रह्म का शरीर तथा इस अनंत शरीर में व्याप्त अनंत चेतना को ब्रह्म का अनंत चैतन्यांश आत्मरूप माना है। उनके अनुसार जगत् शरीर की तरह तथा परमात्मा, परब्रह्म, उसमें चैतन्य रूप से व्याप्त शरीरी की तरह है, ठीक उसी तरह जिस तरह एक मनुष्य के व्यक्तित्व में जीवात्मा शरीरी है और उसका भौतिक अधिष्ठान शरीर।

सीता के भूमि-प्रवेश के बाद राम के क्रोध को शान्त करने के लिए उत्तरकांड में ब्रह्मा ने उन्हें फिर से स्मरण दिलाया है—"इमं मुहूर्तं दुर्धर्ष स्मर त्वं जन्म वैष्णवम् †"। 'हे दुर्धर्ष, इस क्षण में आप विष्णु के अपने मानव रूप अवतार का स्मरण कीजिए।' उन्होंने यहीं पर आगे और कहा है—"सीता पवित्र और साध्वी है। वह निरन्तर आपके ही ध्यान में मग्न रहती है। आपके आश्रय और अपने तपोबल के प्रभाव से वह आनन्दमग्न हो कर सुखपूर्वक नागलोक जा रही है और स्वर्ग में लक्ष्मी रूप से आपसे पुनः मिल जाएगी §"।

महाप्रस्थान की सब विधियों को पूर्ण करके सरयू की ओर भगवान् राम चले। उनका अग्निहोत्र प्रज्ज्वलित होकर उनके सामने जा रहा था। ब्राह्मण उस अग्निहोत्र के साथ थे। उस महापथ पर वाजपेय छत्र शोभित हो रहा था। राम अपनी ब्राह्मी चेतना में मग्न थे। उनके दोनों हाथों में यज्ञीय कुश थे। सूर्य की तरह चमकते हुए तेज के साथ वे अपने महल से निकले। उनके दक्षिण पार्श्व में लक्ष्मी, वाम पार्श्व में पृथ्वी तथा उनके सामने अपने देवरूपों को धारण कर उनके सब अस्त्र-शस्त्र जा रहे थे। ये ही सात्त्विक दैवी शक्तियाँ अस्त्रों का रूप धारण कर जगत् में ब्रह्म के मानव रूप के साथ धर्म की स्थापना और दुष्टों का संहार करने के लिए अवतीर्ण होती हैं। ब्राह्मण-रूप में वेद भी राम के साथ जा रहे थे। सर्वरक्षिणी गायत्री, ॐकार तथा वषट्कार यज्ञ तेजस्वी देवरूप में उनके साथ थे। सब ऋषि और ब्राह्मण स्वर्ग के खुले हुए द्वार की ओर राम के साथ जा रहे थे। लक्ष्मण ने इसके पूर्व ही सशरीर स्वर्गारोहण किया था। भरत तथा शत्रुघ्न

---

‡ युद्धकांड, सर्ग ११९, श्लोक १२ से ३१ तक। † उत्तरकांड, सर्ग ९८, श्लोक १३।
§ उत्तरकांड, सर्ग ९८, श्लोक १४–१५।

दोनों अपने-अपने अग्निहोत्रों को ले कर राम के साथ थे। सब रानियाँ, मन्त्री तथा भृत्य-वर्ग इस महाप्रस्थान के लिए राम के साथ थे। अयोध्या की पूरी प्रजा, वानर, भालू, राक्षस, पशु, पक्षी, कीट, पतंग तक आनन्द के अनंत सागर में मग्न हो कर महाप्रस्थान के लिए राम के साथ थे। यह सारा समाज सरयू के तट पर पहुँच गया।

ब्रह्मा के साथ सब देवता अपने-अपने विमानों में आकाश में छा गये। सब दिशाएँ दिव्य तेज से भर गयीं। राम सरयू के जल में आगे बढ़ने लगे।

इसी समय ब्रह्मा ने कहा—"आगच्छ विष्णो भद्रं ते दिष्टया प्राप्तोऽसि राघव। भ्रातृभिः सह देवाभैः प्रविशस्व स्विकां तनुम। यामिच्छसिमहावाहो तां तनुं प्रविश स्विकाम्। वैष्णवीं तां महातेजो यद्वाकाशं सनातनम्। त्वं हि लोकगतिर्देव न त्वां केचित्प्रजानते। ऋते मायां विशालाक्षीं तव पूर्वपरिग्रहाम्। त्वामचिंत्यं महद्भूतमक्षयं चाजरं तथा ‡।"

इन पंक्तियों में वाल्मीकि के ब्रह्मा ने राघव राम को विष्णु नाम से संबोधित करके उनके भाइयों को देवरूप कहा है। यहाँ वाल्मीकि ने विष्णु का ध्यान उनके दो शरीरों की ओर आकृष्ट किया है—एक विराट् तेजयुक्त नारायण का रूप तथा दूसरा अनंत तेजों का आधार विराट् आकाश का अनंत रूप। इसमें से पहला सगुण रूप है तथा दूसरा निर्गुण।

पवित्र शील के रूप में ब्रह्म की उपासना के लिए उसके सगुण रूप का आधार नितान्त आवश्यक है। इसीलिए आदर्श की इस भक्तिमयी उपासना के भीतर वाल्मीकि ने सगुण की रक्षा अंत तक करते हुए उसी से अपने रामायण का उपसंहार किया है। उन्होंने कहा है—"पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः। विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः। ततो विष्णुमयं देवं पूजयन्तिस्म देवताः। साध्या मरुद्गणाश्चैव सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः †।"

ब्रह्मा ने राम के सामने दो विकल्प रखे थे। एक सगुण शरीर का तथा दूसरा अनंत व्यापी निर्गुण शरीर का। राम ने निर्गुण शरीर की अपेक्षा नारायण के अपने सगुण रूप का ही चुनाव अपने लिए किया। अतः वाल्मीकि की रामायण का प्रारंभ ब्रह्म के सगुण रूप नारायण से हुआ और अंत भी उसी रूप से। सगुण रूप से ही ये चार अवतार हुए थे और ये चारों उसी रूप में पुनः परिवर्तित हो कर तदाकार हो गये तथा नारायण के उस रूप की उपासना इन्द्र और अग्नि के साथ सब देवताओं ने की। उपासना के लिए रूप का आधार परमावश्यक होता है। इस रूप के चुनाव के रहस्य को ध्यान में रख कर ही वाल्मीकि ने इस चुनाव के लिए अपने राम को महामति के विशेषण से अलंकृत किया है। उनके अनुसार आदर्श को साकार करने वाले ब्रह्म के सगुण रूप का आधार स्वीकार करने का निश्चय महामतित्व का लक्षण है। इस प्रकार

‡ उत्तरकांड, सर्ग ११०, श्लोक ८ से १३ तक। † उत्तरकांड, सर्ग ११०, श्लोक १२–१३।

वाल्मीकि भी भक्ति की साधना में निर्गुण की अपेक्षा सगुण ब्रह्म को ही अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं।

वाल्मीकि-रामायण का प्रारम्भ ही आदर्श के साथ होता है। मंगलाचरण के दो श्लोकों में भी वाल्मीकि लोकरक्षक आदर्शों की ओर संकेत करते हैं, पर तीसरे श्लोक से, जो मुख्य रामायण का प्रथम श्लोक है और जहाँ से कथाभाग प्रारम्भ होता है, आदर्शों की विराट् योजना आरम्भ हो जाती है। स्वाध्याय और तप जीवन के आदर्शों के वीज हैं। इन्हीं में रत नारद मुनि से वाल्मीकि का यह प्रश्न आदर्शों का ही प्रश्न है—"कोन्वस्मिन्सां-प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्। धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः। चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः। आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान्कोऽनसूयकः। कस्य विभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे ‡।" इसी प्रश्न में वाल्मीकि ने नारद से एक ऐसे शीलवान् मनुष्य का परिचय चाहा है जो गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवाक्, दृढव्रत, चरित्रयुक्त, सर्वभूतहित, विद्वान्, समर्थ, सबसे सुन्दर, आत्मज्ञानी, जितक्रोध, कान्तिवान् तथा अनसूयक हो और युद्धक्षेत्र पर जिसके क्रोध को देख कर देवता भी भयभीत हो जाते हों। इस प्रश्न के प्रारम्भ ही में वाल्मीकि का ध्यान गुणों पर है। लोकमंगल विधान की भावना 'सर्वभूतहित' शब्द में है। आत्मवान् शब्द में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की समत्वयुक्त भावना है। 'धर्मज्ञ' और 'सत्यवाक्' शब्द इस बात की सूचना देते हैं कि आदर्श व्यक्ति के सब कार्य विश्वधर्म और सत्य के द्वारा परिचालित होते रहते हैं।

वाल्मीकि का उत्तर देते हुए नारद ने उपर्युक्त सब आदर्शों के केन्द्र राम की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया और बताया कि राम नियतात्मा, अतुल पराक्रमी, कान्तिवान्, धैर्यशाली, वशी, बुद्धिमान्, नीतिवान्, वाग्मी, परम सुन्दर तथा शत्रुविनाशक हैं। नियतात्मा, धैर्यशाली, वशी, और नीतिवान् योद्धा का शत्रु विश्वशत्रु ही हो सकता है, इस पर विस्तृत प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है। उपर्युक्त विशेषणों के द्वारा राम की शक्ति, शील और सौन्दर्य पर समाहित दृष्टि डाली गयी है। नारद ने वाल्मीकि को यह भी बताया कि राम धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ, प्रजा के हित में रत रहने वाले, यशस्वी, ज्ञानसम्पन्न, पवित्र, वश्य तथा योगनिष्ठ हैं। उन्होंने यह भी बताया है कि राम प्रजापति के समान सृष्टि करने की शक्ति रखने वाले, सम्पूर्ण जीवलोक के रक्षक तथा धर्म के रक्षक हैं। वे अपने धर्म के तथा स्वजनों के भी रक्षक हैं। अनंत शक्तिवान् होने के कारण वाल्मीकि के राम जीवलोक के रक्षक हैं तथा शरीरी अवतार होने के कारण कुछ स्वजनों की सीमा से भी वे सम्बद्ध हैं, इसीलिए उनकी भी रक्षा करते हैं। वे वेदों तथा वेदांगों के रहस्यों को जानते हैं। धनुर्वेद के ज्ञान की उनमें विशेष योग्यता है। सब शास्त्रों के अर्थ और तत्त्व को वे जानते हैं। उनमें अतुलनीय स्मरणशक्ति और प्रतिभा है। वे सर्वलोकप्रिय, साधु स्वभाव वाले, तेजस्वी तथा कार्यकुशल हैं। वे सदा सज्जनों के साथ रहते हैं। आर्य

‡ वाल्मीकि-रामायण, बालकांड, सर्ग १, श्लोक २ से ४ तक।

स्वभाव वाले वे सर्वदा सबसे समानता का व्यवहार करते हैं। ऐसा कोई सद्गुण नहीं है जो उनमें न हो। गांभीर्य में वे समुद्र के समान, धैर्य में हिमालय की तरह, शक्ति और पराक्रम में विष्णु के समान, चन्द्रमा के समान सुन्दर, क्रोध में प्रलयाग्नि के समान, क्षमा में पृथ्वी के समान, त्याग में कुवेर के वरावर तथा सत्य के लिए दूसरे धर्मराज की तरह हैं। सत्य को ही वे अपना वल समझते हैं‡।

इस तरह वाल्मीकि के नारद ने एक आदर्श व्यक्ति में लोकरक्षा और लोकमंगल विधान के लिए जितने गुणों की आवश्यकता होती है, उन सबको राम के व्यक्तित्व में देखा है। अयोध्याकांड में कैकेयी को समझाते हुए दशरथ ने कहा है—"न वेत्ति रामः परुपाणि भापितुम्" †—'राम कठोर शब्द बोलना ही नहीं जानते।' इस तरह वाल्मीकि के राम भी सर्वथा आदर्श पुरुप हैं। इसी सिद्धान्त के आधार पर रामायण की आदर्शात्मक पृष्ठभूमि को ले कर वाल्मीकि ने अपने ग्रन्थ के भीतर राम से सम्बद्ध सब आदर्श व्यक्तियों के शील की सृष्टि की है। इन्हीं आदर्शों के माधुर्य से भक्ति की निरन्तर प्रवाहित होने वाली पृष्ठभूमि पर गोस्वामी जी ने अपने मानस में राम, और रामायण के सब आदर्श पात्रों के भीतर शील का निर्माण किया है।

त्रिदेव में ब्रह्मा की उपासना वहुत पहले से ही सीमित हो ग ी। इस परिसीमन के लिए पुराणों में कई कारण यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते हैं। पर अभी भी सावित्री के साथ ब्रह्मा की उपासना सावित्री-व्रतों के अवसर पर होती है। यज्ञों में भी ब्रह्मा का स्थान रहता है। सन्तानार्थ विधियों के आरम्भ में भी ब्रह्मा की उपासना का विधान है। कालिदास ने महाराजा दिलीप और उनकी रानी सुदक्षिणा को सन्तानार्थ उपासना के लिए भेजने के पहले उनसे विधाता की उपासना करायी है। "अथाभ्यर्च्य विधातारम्"§ की सूचना इसी प्रकरण में वे अपने 'रघुवंश' में देते हैं। पर विष्णु और शिव की उपासना मनुष्य के जीवन में उसके प्रत्येक क्षण के साथ आज तक सम्बद्ध है। साधनारत साधक इनकी उपासना अपने प्रत्येक प्राण के साथ करने की इच्छा रखता है।

इस प्रवृत्ति के अनुसार शैव और वैष्णव सम्प्रदाय अपने व्यापक रूप से भारतवर्ष में वरावर रहते चले आये हैं और अपनी दुर्वलता के कारण इन दो बड़े-बड़े सम्प्रदायों में विभक्त हो कर उपासना के स्थान पर मनुष्य ने कई वार द्वेष की ही सिद्धि की है। इस द्वेष को मिटाने के लिए महामानवों ने इस प्रकार के प्रत्येक युग में, सर्वेश्वाद और अद्वैतवाद की अभेदोपासना के प्रकाश से मनुष्य को अज्ञान की निद्रा से जगाने के स्तुत्य प्रयत्न किये हैं।

यद्यपि इस तरह की किसी समस्या का स्पष्ट संकेत वाल्मीकि के युग में नहीं मिलता, जैसा कि तुलसी के युग में स्पष्टतः दिखाई पड़ता है, तथापि इतना तो अवश्य प्रतीत होता है कि वाल्मीकि भी वैसे युगों से परिचित थे जिनमें भेदोपासना के आधार

---

‡ वाल्मीकि-रामायण, वालकांड, सर्ग १, श्लोक ८ से १९ तक। † अयोध्याकांड, सर्ग १३, श्लोक १०८। § रघुवंश, सर्ग १, श्लोक ३५।

पर मानवता विभक्त हो गयी थी और भद-दृष्टि की सम्भावना को रोकने के लिए उन्होंने मुख्यतः विष्णु से सम्बद्ध अपने इस रामकाव्य में शिव और ब्रह्मा को भी सर्ववाद और अद्वैतवाद की उदार भाव-साधना के आधार पर समान महत्त्व के सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया है। वाल्मीकि ने अपनी रामायण में क्रौंच-वध के बाद शोक के श्लोकत्व में परिणत हो जाने पर ब्रह्मा से ही मार्गदर्शन प्राप्त किया है और ये ब्रह्मा लोककर्ता, महातेजस्वी, चतुर्मुख ब्रह्मा ही हैं। लोकपितामह ब्रह्मा ने वाल्मीकि से कहा है कि मेरी इच्छा से ही शोक से पवित्र तुम्हारे हृदय में सरस्वती उत्पन्न हो कर श्लोक बन गयी है। तुम राम की पावन तथा रमणीय कथा की श्लोकमयी सृष्टि करो। इस पुण्य कार्य के फल से तुम मेरे लोकों में निवास करोगे। ऐसा कह कर भगवान् ब्रह्मा अंतर्हित हो गये ‡। इस तरह ब्रह्मा को सर्वशक्तिवान् त्रिदेव के एक घटक की तरह मान कर वाल्मीकि ने सम्मान दिया है। रामायण के अंत में उत्तरकांड में भी ब्रह्मा का यही महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। सन्तानकलोक उन्हीं के अधीन दिखाये गये हैं, जिनमें सुग्रीव इत्यादि राम के सब भक्त भेजे गये। स्वर्गारोहण के समय लोकपितामह ब्रह्मा ने ही मर्यादा पुरुषोत्तम अनंत शक्तिवान् विष्णु के सब कार्यों का उपसंहार कराके स्वर्ग-प्रवेश के लिए उनका स्वागत किया है।

इसी तरह का महत्त्व वाल्मीकि ने महेश्वर शिव को भी रामायण में दिया है। पहले बताया जा चुका है कि शंकर की चर्चा वाल्मीकि ने रामायण के मंगल श्लोक में ही की है। इसके बाद सब देवताओं के द्वारा रावण का वध करने के लिए विष्णु की स्तुति की चर्चा वाल्मीकि ने की है—"ततो देवर्षिगन्धर्वाः सरुद्राः साप्सरोगणः स्तुतिभिर्दिव्य-रूपाभिस्तुष्टुवुर्मधुसूदनम् †"। यहाँ सब देवताओं, ऋषियों तथा गन्धर्वों के साथ शिव के रूप रुद्र से भी नारायण की स्तुति कराके वाल्मीकि ने शिव और नारायण की परस्पर अनुकूलता प्रदर्शित की है। इसी सर्ग में वाल्मीकि ने 'उग्रेण तपसा युक्तां ददौ शैलवरः सुताम्। रुद्रायाप्रतिरूपाय उमां लोकनमस्कृताम् $' कह कर रुद्र को अप्रतिरूप और उमा को लोकवन्दनीया रूप में प्रस्तुत किया है। इस तरह तेजस्वी रुद्र और जगद्वन्द्या उमा के विवाह की सूचना दे कर वाल्मीकि ने कार्तिकेय के जन्म तक की सब परिस्थितियों का वर्णन किया है। इसी प्रकरण में वाल्मीकि ने शिव के लिए 'देवदेव', 'महादेव', 'सर्वलोक महेश्वर' इत्यादि विशेषणों का प्रयोग करके विष्णु के समान ही उनके महत्त्व को भी स्वीकार और प्रतिपादित किया है *। इसी कथाप्रसंग को गोस्वामी जी ने विस्तार के साथ प्रस्तुत करके शिव के गौरव को और अधिक महत्त्व प्रदान किया है। त्रिदेव के गौरव को वाल्मीकि के आधार पर ही चित्रित करते हुए गोस्वामी जी ने अपने मौलिक कौशल से उसे एक नये ढंग से प्रस्तुत किया है।

---

‡ बालकांड, सर्ग २, श्लोक १ से ३८ तक। † बालकांड, सर्ग १५, श्लोक ३२। $ बालकांड, सर्ग ३५, श्लोक २०। * बालकांड, सर्ग ३६ और ३७।

धनुर्वेद की प्राप्ति के लिए वाल्मीकि के विश्वामित्र ने महादेव की उपासना हिमालय में की है‡। अयोध्याकांड से कैकेयी के भवन में पड़े हुए शोकाकुल दशरथ को प्रबुद्ध करने के लिए सुमन्त्र ने उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा है—"सोमसूर्यौ च काकुत्स्थ शिव-वैश्रवणावपि। वरुणश्चाग्निरिंद्रश्च विजयं प्रदिशन्तु ते"†। वहाँ भी शिव, विजयप्रद देव की तरह सुमन्त्र के द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं। शिव का कैलास वाल्मीकि के ध्यान में निरन्तर बना रहता है। उच्च धवल प्रासादों की उपमा उन्होंने बार-बार कैलास से दी है। वन जाने के समय राम की मंगलविधि के अंत में वाल्मीकि की कौसल्या ने कहा है—"मयार्चिता देवगणाः शिवादयो महर्षयो भूतगणाः सुरोरगाः। अभिप्रयातस्य वनं चिराय ते हितानि कांक्षन्तु दिशश्च राघव"$—'शिव इत्यादि देवगण, महर्षिगण, भूतगण (पंचमहाभूत) सुर तथा नागगण मेरे द्वारा पूजित हुए हैं। वे तथा सब दिशाएँ चिरकाल तक वन में रहने के समय तुम्हारे लिए मगल कामना करें'। यहाँ भी वाल्मीकि की कौसल्या शिव को नहीं भूलतीं।

अरण्यकांड में भी सुतीक्ष्ण के आश्रम में 'सुरेश्वर महादेव' आ कर उन्हें तपस्या के परिणामस्वरूप सब पुण्यलोकों की प्राप्ति की सूचना दे जाते हैं। सुतीक्ष्ण ने राम से कहा है—"उपागम्य च मे देवो महादेवः सुरेश्वरः। सर्वान्लोकान् जितानाह मम पुण्येन कर्मणा* 'देव, महादेव, सुरेश्वर ने मेरे पास आ कर कहा कि मैंने अपने पवित्र कर्मों से सब लोकों को जीत लिया है'। इसी कांड में राम से जटायु ने प्रजापतियों के नामों की चर्चा करते हुए स्थाणु का नाम भी बताया है। ये स्थाणु शिव ही हैं। अदिति से रुद्रों की उत्पत्ति की चर्चा भी जटायु ने की है। ये रुद्र शिव के ही रूप हैं§। इसी कांड में पंचवटी में गोदावरी में राम, सीता और लक्ष्मण ने जब प्रथम बार स्नान किया तब उनकी तुलना वाल्मीकि ने शिव, उमा तथा नन्दी से की है—"कृताभिषेकः स रराज रामः सीताद्वितीयः सह लक्ष्मणेन। कृताभिषेकस्त्वगराज पुत्र्या रुद्रः सनंदिर्भगवानिवेशः×।" 'सीता और लक्ष्मण के साथ स्नान कर लेने पर राम इस प्रकार शोभित हुए, जैसे शैल-पुत्री और नन्दी के साथ स्नान करके भगवान् शिव शोभित होते हैं'। शिव में सम्बद्ध अन्तर्कथाओं के संकेत भी वाल्मीकि ने बराबर दिये हैं। खर के वध का वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने लिखा है—"स पपात खरो भूमौ दह्यमानः शराग्निना। रुद्रेणेव विनिर्दग्धः श्वेतारण्यये यथांधकः" "बाण की अग्नि से जल कर खर इस तरह भूमि पर गिरा जिस तरह रुद्र के द्वारा जलाया जा कर श्वेतवन में अंधकासुर गिरा+।"

किष्किंधाकांड में भी वाल्मीकि ने शंकर की चर्चा के लिए स्थान बना लिया है। जिस दुंदुभि राक्षस के द्वारा बालि को मारा हुआ समझ कर सुग्रीव ने गुफा का द्वार बन्द

‡ बालकांड, सर्ग ५५, श्लोक १२। † अयोध्याकांड, सर्ग १४, श्लोक ५१ के बाद। $ अयोध्याकांड, सर्ग २६, श्लोक ४३। * अरण्यकांड, सर्ग ७, श्लोक ११। § अरण्यकांड, सर्ग १४, श्लोक ८ से १५ तक। × अरण्यकांड, सर्ग १६, श्लोक ४३। + अरण्यकांड, सर्ग ३०, श्लोक २७।

कर दिया था वही अपने युद्धोन्माद के कारण लड़ने के लिए योद्धा ढूँढ़ता हुआ चला आ रहा था। उसके युद्धाह्वान से त्रस्त हो कर समुद्र ने दुंदुभि से कहा—"समर्थो नास्मि ते दातुं युद्धं युद्धविशारद। श्रूयतां त्वभिधास्यामि यस्ते युद्धं प्रदास्यति। शैलराजो महारण्ये तपस्विशरणं परम्। शंकरश्वशुरो नाम्ना हिमवानिति विश्रुतः महा प्रसवणोपेतो बहुकंदर निर्झरः। स समर्थस्तव प्रीतिमतुलां कर्तुमर्हति ‡।" 'हे युद्ध विशारद, मैं तुमसे युद्ध करने में समर्थ नहीं हूँ। जो तुम्हें युद्धक्रीड़ा का उपहार दे सकता है उसका नाम सुनो। महावन में तपस्वियों को अनन्य शरण देने वाला, बड़े-बड़े निर्झरों, प्रपातों और गुफाओं वाला पर्वत जो शिव का श्वशुर है और हिमवान् नाम से विश्रुत है, वही तुम्हें युद्धक्रीड़ा से पूर्ण सन्तुष्ट कर सकता है।' यहाँ समुद्र ने हिमवान् का परिचय 'शंकरश्वशुर' कह कर दिया है। इस बहाने से शैव वातावरण वाल्मीकि ने यहाँ भी उत्पन्न कर लिया है। इसी कांड में सुग्रीव के आदेश से पृथ्वी भर के वानरों की सेना एकत्रित करने के प्रकरण में हिमालय पर एक प्रभावशाली माहेश्वर यज्ञ की भी चर्चा वाल्मीकि ने की है—"ये तु त्वरयितुं याता वानराः सर्ववानरान्। ते वीरा हिमवच्छैले ददृशुस्तं महाद्रुमम्। तस्मिन्गिरिवरे पुण्ये यज्ञो माहेश्वरः पुरा। सर्वदेवमनस्तोषो वभूव सुमनोरमः। अन्ननिष्यन्दयातानि मूलानि च फलानि च। अमृतस्वादुकल्पानि ददृशुस्तत्र वानराः। तदन्नसंभवं दिव्यं फलं मूलं मनोहरम्। यः कश्चित्सकृदश्नाति मासं भवति तर्पितः" †—'जो वानर सब वानरों को शीघ्रता से ले आने के लिए गये थे, उन्होंने हिमालय पर उस विशाल वृक्ष को देखा, जिसके पास प्राचीन काल में सब देवताओं को तुष्ट करने वाला पवित्र माहेश्वर यज्ञ हुआ था। इस यज्ञ के अन्न के रस से उत्पन्न, अमृत के समान स्वाद वाले मूलों और फलों को वानरों ने देखा। उस अन्न से उत्पन्न दिव्य और सुन्दर फल तथा मूल को जो एक बार भी खा लेता है उसे इतनी तृप्ति और पुष्टि प्राप्त हो जाती है कि एक मास तक भोजन करने की आवश्यकता नहीं रहती।"

इस तरह इस महाप्रभावशाली माहेश्वर यज्ञ की चर्चा करके वाल्मीकि ने इस पूरे कांड के अवशिष्ट ३० सर्गों तक व्याप्त रहने वाला शैव वातावरण उत्पन्न कर लिया है।

सुन्दरकांड में भी सीता की खोज में एक बार असफल हो कर अवशिष्ट अशोक वाटिका में दुबारा खोजने की तैयारी करते हुए हनुमान् ने रुद्र को नमस्कार करके प्रस्थान करने का संकल्प किया है। वाल्मीकि के हनुमान् कहते हैं—"अशोकवनिका चापि महतीयं महाद्रुमा। इमामधिगमिष्यामि नहीयं विचिता मया। वसून्रुद्रांस्तथादित्यानश्विनौ मरुतोऽपि च। नमस्कृत्वा गमिष्यामि रक्षसां शोकवर्धनः"। यहाँ वसुओं, रुद्रों, आदित्यों, अश्विनी और कुमार तथा मरुतों को नमस्कार करने का निश्चय हनुमान् ने किया है। अशोक-वाटिका की ओर प्रस्थान करते हुए उन्होंने नमस्कार किया—"नमोऽस्तु रामाय स लक्ष्मणाय देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै। नमोऽस्तु रुद्रेंद्रयमानिलेभ्यो नमोस्तु चंद्राग्नि-

---

‡ वाल्मीकि-रामायण किष्किंधाकांड, सर्ग ११, श्लोक ११ से १३ तक। † किष्किंधाकांड, सर्ग ३७, श्लोक २७ से ३० तक।

मरुद्गणेभ्यः"‡—यहाँ हनुमान् ने राम, सीता, लक्ष्मण, रुद्र, इन्द्र, यम, अनिल, अग्नि, चन्द्र तथा मरुद्गण को नमस्कार किया है ।

इसके बाद सीता के मिल जाने पर उनसे परिचय पूछते हुए भी वाल्मीकि के हनुमान कहते हैं—"का त्वं भवसि रुद्राणां मरुतां वा वरानने"†—'आप कौन हैं ? रुद्रों या मरुतों के कुल की तो नहीं हैं ?' यहाँ भी वाल्मीकि को शिव के रूप रुद्रों का ध्यान है ।

अशोक वाटिका का विनाश करते हुए जब हनुमान् बहुत से राक्षसों के साथ रावण के पुत्र अक्ष को मार कर अंत में ब्रह्मास्त्र से बद्ध होना स्वीकार करके रावण के सामने लाये गये तब उन्हें देख कर रावण बड़े सन्देह में पड़ गया । उसकी दशा का वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने लिखा है—"शंकाहृतात्मा दध्यौ सः कपीन्द्रं तेजसा वृतम् । किमेष भगवान्नंदी भवेत् साक्षादिहागतः"$ । तेज से आवृत कपीन्द्र को देख कर रावण बहुत शंकाकुल हो गया और उसने सोचा कि साक्षात् भगवान् नन्दी ही तो यहाँ नहीं चले आये हैं । शंकर के गण नन्दी के प्रति रावण की श्रद्धा की व्यंजना करके वाल्मीकि ने यहाँ शैव वातावरण फिर से उत्पन्न कर लिया है ।

लंकाकांड में इन्द्रजित् के द्वारा किये गये माहेश्वर यज्ञ और उससे प्राप्त शक्ति की चर्चा रावण के मन्त्रियों ने उसे उत्साहित करने के लिए की है* । इसी कांड से राम और लक्ष्मण में विष्णु का अंश देखना वाल्मीकि ने पुनः प्रारम्भ किया है । रावण की शक्ति लगने पर वाल्मीकि के लक्ष्मण ने अपने को विष्णु के अतर्कित अंश की तरह स्मरण किया और इसी प्रभाव से रावण उन्हें पृथ्वी पर गिर जाने के बाद उठा न सका§ । यहीं पर राम को भी विष्णु के अनिर्वचनीय अंश से अपनी उत्पत्ति का स्मरण हो आता है× । अतः वाल्मीकि के प्रायः सब कांडों में शैव-वैष्णव वातावरण साथ-साथ चलते हैं ।

इसी सर्ग में हनुमान् जब मृत-संजीवनी इत्यादि बूटियों को लाने हिमालय गये तब वहाँ कैलास में उन्होंने शंकर के धनुष को देखा । इस चर्चा से वाल्मीकि ने अपने पाठकों की कल्पना में शिव को पुनः जागृत कर लिया है+ । इसके बाद राम, लक्ष्मण तथा वानर सेना के स्वस्थ हो जाने पर रात्रियुद्ध में रावण के क्रोध की चर्चा करते हुए उसके क्रुद्ध रूप की वाल्मीकि ने रुद्र से तुलना की है⁂ । इसी कांड में मेघनाद के द्वारा माहेश्वरास्त्र के प्रयोग की चर्चा की गयी है¶ । मेघनाद की मृत्यु का समाचार पा कर क्रुद्ध रावण के मुख की तुलना वाल्मीकि ने पुनः रुद्र के रूप से की है‡⊕ । रावण की मृत्यु के पहले अगस्त्य ऋषि ने आ कर राम को आदित्यहृदय स्तोत्र दिया है । उस स्तोत्र में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, स्कन्द, प्रजापति, महेन्द्र, धनद, काल, यम, सोम, वरुण इत्यादि आदित्य के

---

‡ सुन्दरकांड, सर्ग १३, श्लोक ५४–५५ और ५८ । † सुन्दरकांड, सर्ग ६, श्लोक ६ $ सुन्दरकांड, सर्ग ५०, श्लोक २ । * युद्धकांड, सर्ग ७, श्लोक १८ । § युद्धकांड, सर्ग ५९, श्लोक ११० से ११२ तक । × युद्धकांड, सर्ग ५९, श्लोक १२० । + युद्धकांड, सर्ग ७४, श्लोक ४५ । ⁂ युद्धकांड, सर्ग ७५, श्लोक ४५ । ¶ युद्धकांड, सर्ग ९१, श्लोक ५५ और ६० । ‡⊕ युद्धकांड, सर्ग ९३, श्लोक २१ ।

रूप माने गये हैं। इस आदित्य हृदय में भी वाल्मीकि ने शैव वातावरण की रक्षा शिव, स्कन्द, ईशान के नामस्मरण से कर ली है‡।

रावण-वध के बाद सीता ने अग्नि-परीक्षा देने के लिए जब चितारोहण किया, उस समय ब्रह्मा इत्यादि सब देवताओं के साथ वाल्मीकि की रामायण में 'त्रिनयन वृषध्वज महादेव' भी आ कर सीता के शुद्ध चरित्र की गवाही देते हैं†। यहाँ शिव तथा विष्णु की एकता की घोषणा सर्ववाद के आधार पर देवताओं ने की है, राम को सर्वदेवमय मान कर उन्होंने राम को रुद्रों में अष्टम रुद्र माना है $। इसी प्रकरण में महेश्वर शिव ने राम से विमानस्थ दशरथ की भेंट करायी *। अयोध्या पहुँचने के पहले भरत के पास अपने वापस लौटने का समाचार भेजते हुए राम ने शिव के द्वारा प्राप्त इस सहायता की जानकारी भी भरत को करायी §।

अपने इस वैष्णव ग्रन्थ के उत्तरकांड में भी वाल्मीकि ने रामायण का उपसंहार करते हुए शैव वातावरण का भी उपसंहार किया है, और इसीलिए इस कांड में पर्याप्त शैव वातावरण उत्पन्न कर लिया है। इस कांड में सुकेश राक्षस को शिव ने आकाशगामी नगर दिया है ×। सुकेश के पुत्र माली, सुमाली, माल्यवान् के अत्याचारों से उद्विग्न हो कर देवताओं और ऋषियों ने देवदेव महेश्वर से सहायता की प्रार्थना की है। इस प्रकरण में वाल्मीकि ने शिव को कामारि, त्रिपुरारि और त्रिलोचन विशेषणों के साथ जगत् की सृष्टि और उसका संहार करने वाला, अजन्मा और अव्यक्तस्वरूप, सब लोकों का आधार तथा परम गुरु माना है +। इस तरह विष्णु के सब विशेषण यहाँ शिव को भी दे कर उन दोनों में वाल्मीकि ने अभेद दर्शन की सिद्धि की है। इसी कांड में वाल्मीकि ने अगस्त्य और राम के वार्तालाप के समय अगस्त्य के द्वारा बताये हुए इतिहास में रावण के भाई कुबेर के द्वारा रावण के देवद्रोह को शान्त करने के लिए उसके पास भेजे गये दूत से यह संवाद रावण को दिलवाया है कि रुद्र का व्रत करने के प्रभाव से मेरे सम्मुख जब उमा-महेश्वर प्रकट हुए तब दुर्योग से मेरी दाहिनी आँख वासना से प्रेरित हो कर उमा पर पड़ी और पीली हो कर निष्क्रिय हो गयी। बाद में शिव के द्वारा निर्मित समधार व्रत करने से मैंने शिव की कृपा प्राप्त कर ली। देवद्रोह विनाश का कारण बनता है। पर मदान्ध रावण पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा *।

इसी प्रकरण में रावण का इतिहास बताते हुए अगस्त्य ने राम से यह भी बताया है कि शिव के क्रीडास्थल कैलास के प्रतिषिद्ध क्षेत्र में रावण ससैन्य पहुँचा। नन्दीश्वर ने उसे आगे बढ़ने से रोका और रावण ने नन्दीश्वर की आज्ञा की अवहेलना करते हुए उनकी वानराकृति का उपहास किया। क्रुद्ध नन्दीश्वर ने वानरों के द्वारा उसकी मृत्यु होने का

‡ युद्धकांड, सर्ग १०५, श्लोक ८। † युद्धकांड, सर्ग ११९, श्लोक ३। $ युद्धकांड, सर्ग ११९, श्लोक ८। * युद्धकांड, सर्ग १२१, श्लोक १ से ८ तक। § युद्धकांड, सर्ग १२७, श्लोक ११। × उत्तरकांड, सर्ग ४, श्लोक २७ से ३२ तक। + उत्तरकांड, सर्ग ५, श्लोक १–२। * उत्तरकांड, सर्ग १३, श्लोक ११ से ३१।

शाप दिया। कैलास पर रखा हुआ कुबेर का पुष्पक विमान जब रावण की आज्ञा से नहीं चला तब उसने कैलास को ही उठा कर शिव का अपमान करना चाहा। उठते हुए कैलास को शिव ने अंगूठे से स्पर्श किया और रावण की भुजाएँ स्तब्ध हो गयीं। पीडा से वह चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगा। अंत में मन्त्रियों के परामर्श से उसने महादेव को प्रसन्न कर लिया। इस रोने की घटना के कारण शिव ने रावण नाम से उसका नामकरण किया। रावण ने मनुष्य और वानरों को छोड़ और लोगों से अपनी अवध्यता का वरदान, चन्द्रहास खड्ग तथा पुष्पक विमान शिव के द्वारा प्राप्त किया ‡। इस प्रकरण से भी वाल्मीकि ने अपने वैष्णव काव्य में शिव को देवश्रेष्ठ बता कर उनके प्रभाव को विष्णु के प्रभाव के साथ समन्वित कर लिया है।

अगस्त्य के द्वारा राम से इतिहास-वर्णन के इसी प्रकरण में यम-रावण युद्ध का वर्णन करते हुए अप्रस्तुत विधान के रूप में अगस्त्य ने त्रिपुरासुर और शंकर के युद्ध की ओर संकेत करके शैव वातावरण के प्रवाह की रक्षा की है†। इसी कांड में वाल्मीकि के भार्गव ऋषि ने शिव से प्राप्त मधुराक्षस के शूल की चर्चा की है और यह बता कर कि उसके पुत्र लवणासुर ने वह शूल उससे प्राप्त करके बड़ा अत्याचार प्रारम्भ कर दिया है, उन्होंने राम से रक्षा की प्रार्थना की है और राम के आदेश से शत्रुघ्न ने उसका वध किया है$।

इस प्रकरण से भी शैव वातावरण की रक्षा हुई है और शिव की अमोघ शक्तियों का विकास आगे बढ़ाया गया है।

इस कांड में अश्वमेध यज्ञ का प्रभाव बताते हुए राम ने लक्ष्मण से प्रजापति कर्दम के पुत्र वाह्लीक देश के राजा इल की चर्चा की है। शिव के स्त्रीवन में जा कर इल भी स्त्री हो कर इला हो गये और शिव तथा पार्वती की कृपा से एक मास स्त्री तथा एक मास पुरुष रहने का वर प्राप्त किया। अंत में अपने पिता कर्दम, भृगु के पुत्र यवन तथा अन्य ऋषियों की सहायता से अश्वमेध यज्ञ करके स्थायी पुरुषत्व को इल ने प्राप्त कर लिया। इल के पिता कर्दम ने ऋषियों से कहा—"द्विजाः शृणुत मद्वाक्यं यच्छ्रेयः पार्थिवस्य हि। नान्यं पश्यामि भैषज्यमंतरा वृषभध्वजम्।" हे ब्राह्मणो, राजा इल के लिए शिव के अतिरिक्त कोई दूसरा उपचार नहीं दिखाई पड़ता। इस घटना को बता कर भगवान् राम ने लक्ष्मण से कहा—"कर्दमेनैव युक्तास्तु सर्वं एव द्विजर्षभाः। रोचयंतिस्म तं यज्ञं रुद्रस्याराधनं प्रति"—'कर्दम के द्वारा ऐसा कहा जाने पर श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने अश्वमेध यज्ञ को ही रुद्र की आराधना का उत्तम उपाय निश्चित किया।" अश्वमेध की समाप्ति की चर्चा करते हुए राम ने लक्ष्मण से कहा है—"अथ यज्ञे समाप्ते तु प्रीतः परमया मुदा। उमापतिर्द्विजान्सर्वानुवाच इलसन्निधौ। प्रीतोस्मि हयमेधेन भक्त्या च द्विजसत्तमाः"—'यज्ञ की समाप्ति पर परम प्रसन्न उमापति ने ब्राह्मणों से कहा—अश्वमेध

‡ उत्तरकांड, सर्ग १६, श्लोक ८ से ४९ तक। † उत्तरकांड, सर्ग २२, श्लोक ४१।
$ उत्तरकांड, सर्ग ६१ और ६२।

यज्ञ और तुम्हारी भक्ति से मैं प्रसन्न हूँ।' इसके वाद शिव ने इल को निरन्तर स्थायी रहने वाला पुरुषत्व प्रदान किया ‡।

इस तरह लक्ष्मण से चर्चा करने के बाद राम ने वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि, तथा कश्यप इत्यादि ऋषियों से अश्वमेध यज्ञ कराने की प्रार्थना की। इस निश्चय की सूचना दे कर वाल्मीकि ने लिखा है—"तेऽपि रामस्य तच्छ्रुत्वा नमस्कृत्वा वृषध्वजम्। अश्वमेध द्विजाः सर्वे पूजयन्तिस्म सर्वशः"†—'राम से ऐसा सुन कर ब्राह्मणों ने वृषध्वज शिव को नमस्कार किया और अश्वमेध की अर्चना की।'

इस तरह राम को शिवोपासक की तरह वाल्मीकि ने भी प्रस्तुत किया है और समन्वय का यही वातावरण गोस्वामी जी के साहित्य में अधिक महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है। अपने इस वैष्णव काव्य में राम के जीवन के आरम्भ से अंत तक वाल्मीकि ने शैव वातावरण की भी रक्षा की है। यहाँ तक कि सीता के पाताल-प्रवेश और शपथ के समय भी सब देवताओं के साथ रुद्र भी आये हुए हैं $। इस तरह भक्ति-साधना के क्षेत्र में अद्वैत वुद्धि को स्थान दे कर मानव चेतना को अभेद-दर्शन के द्वारा वाल्मीकि ने भी परमोच्च उदारता का आदर्श दिया था और इसी आदर्श का एक विस्तृत और अधिक स्पष्ट रूप गोस्वामी जी ने अपने साहित्य के द्वारा प्रस्तुत किया है।

वाल्मीकि के पर्वत के समान व्यक्तित्व से जो कथानदी निकल कर रामसागर तक प्रवाहित हुई, उसका स्रोत कभी सूखा नहीं। वैसे तो रामायण का स्रोत वाल्मीकि से भी प्राचीन है। लौकिक संस्कृत भाषा के इस कवि के पहले भी वेद और उपनिषद् के ऋषियों ने भी राम की चर्चा की है। आज से चार सौ वर्ष पूर्व महाभारत के टीकाकार नीलकंठ चतुर्धर ने वेदों के भीतर मिलने वाले राम-सम्वन्धी मन्त्रों को संगृहीत करके 'मंत्र रामायण' की रचना की। पर वेदों के बाद वाल्मीकि ने तो रामायण की पवित्र, धवल और अजवती गंगा ही वहा दी। महाभारत और अन्य पुराणों में भी राम के जीवन की चर्चा रामायण के क्रम से ही दिखाई पड़ती है। जैन और वौद्ध साहित्यों में भी रामचर्चा है। वौद्ध साहित्य में तो दशरथ जातक एक स्वतंत्र जातक ही है जिसमें रामचर्चा एक दृष्टिकोण से की गयी है। इनके अतिरिक्त कालिदास, भवभूति, भर्तृमेंठ, मुरारि इत्यादि संस्कृत कवियों की परम्परा में राम साहित्य का वड़ा सुन्दर प्रवाह एक स्वस्थ गति से आगे वढ़ता चला आया है। यद्यपि तमिल देश के वारह आलवार संतों का समय भी वहुत प्राचीन माना जाता है, तव भी यह समय सातवीं से ले कर दसवीं शताव्दी से अधिक अर्वाचीन तो कदापि नहीं है। डा० जे० एन्० फार्कुहर, एम्०ए०, डी० लिट्० भी यही समय आलवारों का मानते हैं *।

इन आलवारों में शठकोप या नम्मालवार पाँचवें आलवार संत थे। इनके ग्रन्थ तिरुवाय मोलि के संस्कृत अनुवाद सहस्रगीति में रामसम्वन्धी ये पंक्तियाँ हैं—"दुःखमात्रो-

‡ उत्तरकांड, सर्ग ८९ और ९०। † उत्तरकांड, सर्ग ९० और ९१। $ उत्तरकांड, सर्ग ९७, श्लोक ७। * आउट लाइन्स-ऑफ़ द रिलीजस लिटरेचर ऑफ इंडिया, पृष्ठ १८८।

त्पादकं सदसत् कर्मभूतं तद्रहितं उच्चैःस्थितमेकं ज्योतिः लोकान् सप्त निगीर्योदीर्णवन्तं मोहहेत्वापकर्षणकर्तृयमभटानां क्रूरविषमच्युतं दशरथस्य सुतं तं विना अन्यशरणवान् नास्मि"‡—'सत् और असत् कर्मों का समुदाय केवल दुःख ही उत्पन्न करता है। उससे रहित और उसे अतिक्रान्त करके स्थित रहने वाली एक ज्योति है, जो सात लोकों को अतिक्रान्त करके उनके ऊपर उठ रही है। वह ज्योति अज्ञान में बँधे हुए जीवों को घसीट कर ले जाने वाले यम-दूतों के लिए क्रूर विष के समान है। वह ज्योति अच्युत है। उसकी अनंत शक्ति कभी कम नहीं होती। वही ज्योति दशरथ के पुत्र राम हैं। उन्हें छोड़ मैं किसी दूसरे की शरण में नहीं जाता।' इन पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शठकोप आलवार रामभक्त ही थे। कहा जाता है कि तमिल भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि कंबन् की रामायण को भगवान् रंगनाथ ने तब तक स्वीकार नहीं किया जब तक आरम्भ में उन्होंने शठकोप की स्तुति नहीं की†।

केरल देश के राजा भक्त कुलशेखर सातवें प्रसिद्ध आलवार संत हो गये हैं। एक बार ये रामायण की कथा सुन रहे थे। खरदूषण के साथ रामयुद्ध के वर्णन में जब उन्होंने वाल्मीकि का यह श्लोक सुना—"चतुर्दशसहस्राणि राक्षसां भीमकर्मणां एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धं करिष्यति"$—'भयानक कर्म करने वाले चौदह सहस्र राक्षसों से धर्मात्मा राम अकेले युद्ध कैसे करेंगे', तब अपनी तन्मयता में उन्होंने अपने सेनापति को राम की तरफ़ से राक्षसों से युद्ध करने के लिए तुरन्त तैयार हो जाने को कहा, पर जब कथावाचक ने यह सुनाया कि भगवान् राम ने सब राक्षसों का अंत कर दिया, तब उन्हें शान्ति मिली*। अतः आलवार संतों में भी राम-भक्ति की परम्परा चल रही थी और उसका आधार-साहित्य वाल्मीकि-रामायण ही था।

शठकोप की शिष्य-परम्परा में रंगनाथ मुनि (ई० ८२४–९२४ ई०) का 'न्यायतत्त्व' ग्रन्थ विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय का प्रथम मान्य ग्रन्थ है। रंगनाथ मुनि त्रिचनापल्ली के श्रीरंगम् की गद्दी के प्रथम आचार्य हुए§। रंगनाथ मुनि के बाद पुंडरीकाक्ष और राममिश्र श्रीरंगम् की गद्दी पर आये। राममिश्र नाम ही उन परिवारों पर रामभक्ति का प्रभाव सूचित करता है। आलवंदार यामुनाचार्य को राजसी वैभव की लिप्तता से हटा कर भक्ति की ओर लाने वाले राममिश्र ही हैं। राममिश्र के बाद रंगनाथ मुनि के पौत्र यही यामुनाचार्य श्रीरंगम् की गद्दी पर आये। ये भी विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के साहित्यनिर्माता, प्रसिद्ध आचार्य हैं।

वैष्णव मत के सर्वश्रेष्ठ आचार्य रामानुज (ई० १०७४–११३७) इन्हीं यामुनाचार्य जी के पौत्र श्री शैल जी के भानजे थे। रामानुज ने मुख्यतः नारायण की भक्ति का

‡ डा० बलदेव उपाध्याय, भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ २६१–२६२। † डा० बलदेव उपाध्याय, भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ १९०। $ अरण्यकांड, सर्ग २४, श्लोक २३। * डा० बलदेव उपाध्याय भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ १९२। § डा० बलदेव उपाध्याय, भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ २००।

प्रचार किया, पर उन्होंने अपने गद्यात्मक स्तोत्रों में काकुत्स्थ नाम से राम की स्तुति की है। आचार्य रामानुज का नाम भी राम के साथ होने के कारण रामभक्ति का संकेत देता है। यदि इनके द्वारा लिखे हुए राम के स्तोत्र न भी होते तब भी केवल इनका नाम ही रामभक्ति का संकेत देने को पर्याप्त होता। व्यंकटाद्रि के तिरुपति का राममन्दिर रामानुज के व्यंकटाद्रि मठ का है। व्यंकटाद्रि की श्रीवैष्णव गद्दी दूसरी प्रधान गद्दी है। यह भी श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में रामोपासना के महत्त्व को पर्याप्त प्रदर्शित करती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने जिस वैष्णव तत्त्व का उपदेश श्री (लक्ष्मी) को दिया, वही 'श्री' के द्वारा प्रचारित हो कर श्रीवैष्णव सम्प्रदाय हुआ।

आचार्य रामानुज के वाद चौदहवीं शताब्दी में प्रसिद्ध श्री वैष्णव आचार्य वेदान्त देशिक हुए। इस शताब्दी के मध्य के वाद वे श्रीरंगम् की गद्दी पर आये। उपासना के पथ पर गुरु के महत्त्व को समझाने के लिए उन्होंने रामायण की कथा का उपयोग किया है। उनके अनुसार जानकी जीव है, हनुमान् गुरु हैं, लंका शरीर है जिसमें जानकीरूपी जीव बन्द रहता है। लंका के राक्षस, दर्प से प्रचंड दस इन्द्रियों की प्रवृत्तियाँ और मन हैं, जो लंकारूपी शरीर में रहते हैं और जानकीरूपी जीव को घेरे रहते हैं। लंका के चारों तरफ़ का समुद्र देह को घेरे रहने वाला भवसिन्धु है। राम परमात्मा हैं। हनुमान्-रूपी गुरु जब जानकी-रूपी जीव को परमात्मा राम का संदेश देता है तब जीव के मन का भार हल्का हो जाता है। उसकी भवपीडा कम हो जाती है और गुरु की वतायी हुई सावना के द्वारा अपने हृदय पर भगवान् की मुद्रा लगा कर उसे वह प्राप्त कर लेता है‡।

आचार्य वेदान्त देशिक के वाद रामभक्ति के प्रसिद्ध प्रचारक आचार्य रामानन्द का समय आता है, परन्तु डा० वलदेव उपाध्याय, रामभक्ति के प्रचार के विकास में, रामानन्द जी के गुरु स्वामी राघवानन्द जी को एक महत्त्वपूर्ण कड़ी मानते हैं। उनके अनुसार 'मध्यकालीन धार्मिक आन्दोलन के इतिहास का परिचय स्वामी राघवानन्द जी के परिचय के विना कथमपि पूरा नहीं हो सकता।' उपाध्याय जी के अनुसार 'ये रामानुज सम्प्रदाय के महात्मा तथा योग-विद्या के पारंगत पंडित माने जाते थे।' एक किंवदन्ती के अनुसार राघवानन्द जी ने, अपनी योग-विद्या के वल से, स्वामी रामानन्द जी को मृत्यु-योग से बचाया था†।

स्वामी राघवानन्द जी के विषय में अपना मत देते हुए नाभादास जी ने कहा है— "देवाचारज दुतिय महामहिमा हरियानंद। तस्य राघवानंद भये भक्तन को मानद। पत्रावलंब करी वस कासी स्थाई। चारी बरन आश्रम सव ही को भक्ति दृढ़ाई। तिनके रामानंद प्रगट विश्वमंगल जिन वपु धर्‌यौ। रामानुज पद्धति प्रताप अवनी अमृत ह्वै अनुसर्‌यौ§।"

अनंत स्वामी की 'हरिभक्ति सिन्धुवेला' में भी राघवानन्द जी के लिए एक बहुत सुन्दर वन्दना-श्लोक मिलता है—"वन्दे श्री राघवाचार्यं रामानुजकुलोद्भवम्। याम्यादुत्त-

‡ डा० वलदेव उपायाय भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ २१९। † डा० वलदेव उपाध्याय भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ २४३। § भक्तमाल, छप्पय ३०।

रमागत्य राममंत्रप्रचारकम् ‡।" इससे यह निश्चित हो जाता है कि राघवानन्द जी रामानुज के कुल में उत्पन्न हुए थे और दक्षिण से आ कर उन्होंने उत्तर में राममन्त्र का प्रचार किया था। राघवानन्द जी का नाम भी उनकी राघवभक्ति की गवाही देता है, क्योंकि आचार्यों के नाम प्रायः उनके सम्प्रदाय की मान्यताओं के अनुरूप ही हुआ करते थे। राघवानन्द जी काशी में पचगंगा घाट पर रहते थे। रामानन्द जी को इन्होंने अपना मंत्रशिष्य बनाया था। उनके नाम से एक गढ़ी का ध्वंसावशेष पंचगंगा घाट पर आज भी अवशिष्ट है। नागरी प्रचारिणी के हस्तलेख-संग्रह में राघवानन्द जी का 'सिद्धान्त तन्मात्रा' ग्रन्थ संगृहीत है। यह छोटा-सा ग्रन्थ योग और भक्ति का समन्वय करता है। राघवानन्द जी दत्तात्रेय के उपासक, 'अवधूत' महात्मा बताये गये हैं†। इस तरह रामभक्ति का यह अरुणोदय रामानन्द के उद्दीप्त सूर्य को उदित करके स्वयं लुप्त हो गया। इस विषय की जानकारी बहुत कम है।

डा० मैक् निकाल रामानन्द जी को आचार्य रामानुज की पाँचवीं पीढ़ी में मानते पर डा० बलदेव उपाध्याय ने स्वामी रामानन्द के संस्कृत गद्य-पद्यात्मक ग्रन्थ 'रामार्चन द्धति' से रामानन्द जी के द्वारा दी गयी, उनकी निम्नांकित गुरु-परम्परा उद्धृत की है :

(१) रामचन्द्र (२) सीता (३) विष्वक्सेन (४) शठकोप (५) श्री नाथमुनि (६) पुंडरीकाक्ष (७) राममिश्र (८) यामुनाचार्य (९) महापूर्णाचार्य (१०) श्री रामानुज (११) कूरेश (१२) माधवाचार्य (१३) वोपदेवाचार्य। (१४) देवाधिप (१५) पुरुषोत्तम (१६) गगाधर (१७) रामेश्वर (१८) द्वारानंद (१९) देवानंद (२०) श्रीयानंद (२१) हरियानंद (२२) राघवानंद (२३) रामानंद*।

अतः स्वयं रामानन्द जी के द्वारा दी गयी इस विश्वस्त गुरु-परम्परा के अनुसार आचार्य रामानन्द, रामानुज की पाँचवीं पीढ़ी में न हो कर चौदहवीं पीढ़ी में आते हैं।

इसी तरह डा० मैक् निकाल, रामानन्द जी का समय ईसा की चौदहवीं शताब्दी का अंत तथा पन्द्रहवीं शताब्दी का आरम्भ मानते हैं। पर डा० बलदेव उपाध्याय इन्हें रामानुज की चौदहवीं पीढ़ी में सिद्ध करके इनका अंतिम समय पन्द्रहवीं शताब्दी के अंत या सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में मानते हैं। आचार्य रामानुज का स्वर्गवास ११३९ ई. में हुआ था। उनके बाद की एक पीढ़ी के लिए यदि २५ वर्ष का भी समय दिया जाए, तो चौदहवीं पीढ़ी में आने वाले स्वामी रामानन्द का समय पन्द्रहवीं शताब्दी के अंत में तो सरलता से स्थिर किया जा सकता है§। डा० फार्कुहर का भी प्रायः यही मत है। वे कहते हैं— "देयर सीम्स टु बी सफ़ीशिएण्ट एविडेंस टु शो दैट् रामानन्द फ्लरिश्ड इन दि सेकंड एण्ड थर्ड क्वार्टर्स आफ़ दि फिफ्टीन्थ सेंचुरी×।" रामानन्द जी भी पंचगंगा घाट पर ही रहते थे।

‡ हरिभक्ति सिन्धुवेला, मन्त्र-प्रकरण, तरंग ४। † डा० बलदेव उपाध्याय, भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ २४५ से २४७ तक। $ इंडियन थीइज्म, पृष्ठ ११५। * भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ २४८। § वही, पृष्ठ २५३। × आउटलाइन्स ऑफ़ दि रिलीजस लिटरेचर ऑफ़ इंडिया, पृ० २११–२९९।

डा० मैक् निकाल ने लिखा है कि जनश्रुति के अनुसार रामानुज सम्प्रदाय की जातिभेद की मान्यता और कट्टरता से ऊब कर रामानन्द जी दक्षिण से काशी चले आये ‡। पर डा० बलदेव उपाध्याय जी के अनुसार इनका जन्म प्रयाग के कान्यकुब्ज परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम पुण्य सदन तथा माता का नाम सुशीला देवी था †। डा० फार्कुहर भी रामानन्द जी को दक्षिण से ही आया हुआ बताते हैं $। सम्भव है, राघवानन्द जी से दीक्षा लेने के बाद स्वामी रामानन्द ने अपना कुछ समय दक्षिण में बिताया हो और वहाँ से भक्ति का एक पुष्ट वायुमंडल अपने साथ ला कर उन्होंने उत्तर में व्यापक और अधिक उदार ढंग से उसका प्रचार किया हो।

स्वामी रामानन्द ने रामभक्ति का बड़ा प्रबल प्रचार किया। उनके जीवन का सिद्धान्त था—"जाति पाँति पूछौ नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।" स्वामी जी की शिष्य-परम्परा में आने वाले तुलसीदास जी की शबरी ने भी जब भगवान् राम से 'अधम जाति मैं जड़ मति भारी' * कहा तब उन्होंने भी यही कहा—"मानउँ एक भगति कर नाता" ×। गोस्वामी जी के राम की दृष्टि में 'जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई' + इत्यादि का कोई महत्त्व नहीं है, यदि व्यक्ति में भक्ति का पावन प्रकाश आलोकित न हुआ हो।

रामानन्द जी के बारह शिष्यों में से कबीर मुसलमान थे, दादू (ई० १५४४–१६०४) अहमदाबाद के ब्राह्मण थे, पर अपना अधिक समय इन्होंने राजपूताने में बिताया, रैदास चमार थे, पीपा (ई० १४२५) राजपूताने के राजपूत राजा थे, धन्ना सम्भवतः जाट थे, सेना रीवा-नरेश के नाई थे और पद्मावती स्त्री थीं।

नाभादास जी के अनुसार रामानन्द जी के बारह शिष्यों के नाम ये हैं :—

(१) अनंतानन्द (२) सुखानन्द (३) सुरसुरानन्द (४) नरहर्यानन्द (५) भावानन्द (६) पीपा (७) कबीर (८) सेना (९) धन्ना (१०) रैदास (११) पद्मावती (१२) सुरसुरी (सुरसुरानन्द की पत्नी)।

रूपकला जी के 'भक्ति सुधाबिन्दु' के अनुसार रामानन्द जी के साढ़े बारह शिष्य हैं :—

(१) कबीर (२) रैदास (३) सेना (४) पीपा (५) धन्ना (६) पद्मावती (स्त्री होने के कारण ये आधी हैं), रूपकला जी ने इन लोगों को जितेन्द्रिय कहा है।

(१) अनंतानन्द (२) सुरसुरानन्द (३) नरहर्यानन्द (४) योगानन्द (५) सुखानन्द (६) भावानन्द और (७) गालवानन्द, इन सात को रूपकला जी ने रामानन्द जी के नन्दन शिष्य कहा है। इस सूची में सुरसुरा के स्थान पर योगानन्द आ गये हैं।

---

‡ इंडियन थीइज़्म, पृष्ठ ११५। † भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ २५४। $ आउटलाइन्स ऑफ़ दि रिलीज़स लिटरेचर ऑफ़ इंडिया, पृष्ठ ३२४। * रामचरितमानस, अरण्यकांड दोहा ३४ के बाद। § रामचरितमानस। × वही। + वही।

स्वामी जी के शिष्य कवीर पर तो इस्लामी प्रभाव स्वभावतः आया पर इन्होंने अपनी भक्ति-साधना के प्रचार में इसलामी प्रभाव को अलग रखा। गुरु ग्रन्थसाहब में नामदेव के साथ इनके पद संगृहीत हैं। सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुन (ई० १५६३–१६०६) ने १६०४ में पाँच गुरुओं की वाणियों के साथ इनके, नामदेव के तथा कवीर के भी, पदों को आदिग्रन्थ में सम्मिलित कर लिया ‡। डा० फार्कुहर ने तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में रहने वाले भक्त नामदेव दर्ज़ी के विषय में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है—"ही इज़ रिगार्डेड ऐज़ वन् आफ़ दि फ्यू भवताज़, हू कमिंग जस्ट विफोर रामानन्द प्रिपेयर्ड दि वे फार हिम्"—ये कुछ ऐसे थोड़े से भक्तों में माने जाते हैं, जो रामानन्द के ठीक पहले आ कर उनके लिए मार्ग निर्मित कर गये। नामदेव इत्यादि की परम्परा में उन्हीं की प्रचार-शैली का अनुसरण करके रामानन्द जी ने भी भक्ति का प्रचार किया। इसी धारा के भीतर रह कर गोस्वामी जी भी इस्लामी प्रभाव से अलग रहे।

रामानन्द जी का सम्प्रदाय वैरागी सम्प्रदाय कहलाता है। रामदेव और त्रिलोचन रामानन्द के पूर्व के महाराष्ट्र वैष्णव संत हैं। उत्तर भारत में सदन और बेनी दो वैष्णव संत रामानन्द जी के पूर्व हो चुके थे। विष्णु के अवतारों में से केवल राम और उनकी शक्ति सीता की उपासना स्वामी रामानन्द जी ने की और इसी उपासना का उन्होंने प्रचार भी किया।

रामानुज सम्प्रदाय के श्रीवैष्णव मुख्यतः विष्णु और उनके अवतार श्री कृष्ण की भी उपासना करते हैं। पर राम और नृसिंह की उपासना भी इस सम्प्रदाय में होती है। श्रीवैष्णवों का मन्त्र 'ॐ नमो नारायणाय' है। इस सम्प्रदाय में शिव पूजा सर्वथा निषिद्ध है। यह सम्प्रदाय राधा को भी नहीं स्वीकार करता। सम्भवतः भागवत में राधा का अस्पष्ट उल्लेख न होने के कारण ही ऐसा हुआ है।

रामानुज के श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के भीतर से उभर कर भी स्वामी रामानन्द जी ने अपने सम्प्रदाय के भीतर उदारता को स्थान दिया। उन्होंने 'वैष्णव' शब्द को छोड़ कर अपने सम्प्रदाय का नाम 'श्री' के आधार पर केवल श्रीसम्प्रदाय रखा। ऐसा प्रतीत होता है कि केवल विष्णु के नाम के साथ सम्प्रदाय को जोड़ कर वे उस पर एकांगिता का रंग नहीं आने देना चाहते थे। इसी उदार दृष्टिकोण को सुन्दर मान कर सौन्दर्य की देवी विष्णु-पत्नी 'श्री' को उन्होंने अपने सम्प्रदाय का संकेत बना लिया। इस परिवर्तन से विष्णु की उदार और सौन्दर्यमयी जगद्व्यापिनी शक्ति की उपासना का संकेत सुरक्षित रह गया और श्रीवैष्णवों की एकांगिता का वातावरण भी नहीं रहने पाया। रामानन्द जी का यह सम्प्रदाय सब पुराणों की उपासना-पद्धति के प्रति उदार दृष्टिकोण रखते हुए अदृश्य, परमात्मा, एकेश्वर राम पर विश्वास करता है, और इन्हीं राम की उपासना करता है।

रामानन्द सम्प्रदाय का मन्त्र 'ॐ रामाय नमः' है। इस सम्प्रदाय का तिलक भी श्रीवैष्णव सम्प्रदाय से कुछ भिन्न है। श्रीवैष्णवों की तरह रामानन्द त्रिदंडी सन्यासी

---

‡ डा० मैक् निकाल, इंडियन थीइज़्म, पृष्ठ १५२।

नहीं थे। डा० फार्कुहर का अनुमान है कि तमिल देश के रामभक्त श्रीवैष्णवों की एक शाखा के रूप में थे और रामानन्द उन्हीं में से थे। यदि रामानन्द का उत्तरभारतीय होना निश्चित है, तब भी उनके गुरु राघवानन्द जी तो दक्षिण से अवश्य ही आये थे। डा० फार्कुहर का यह भी अनुमान है कि 'अध्यात्म रामायण' और 'अगस्त्य सुतीक्ष्ण संवाद' ग्रन्थों को रामानन्द जी ही दक्षिण से उत्तरभारत ले आये होंगे। गोस्वामी जी के 'रामचरित मानस' पर 'अध्यात्म रामायण' का पर्याप्त प्रभाव है। रामानन्दियों के मुख्य ग्रन्थों में से 'अध्यात्म रामायण' भी एक है। डा० सर रामकृष्ण भंडारकर के एक पत्र का हवाला देते हुए डा० फार्कुहर ने सूचित किया है कि उस पत्र के अनुसार 'अगस्त्य सुतीक्ष्ण संवाद' रामानन्द जी की जीवनी के साथ छपा हुआ है‡। डा० फार्कुहर का यह भी अनुमान है कि रामानन्द आचार्य रामानुज के श्रीभाष्य का बराबर अध्ययन किया करते थे। रामानन्दी आज भी इसी का उपयोग करते हैं और इस सम्प्रदाय में बादरायण व्यास के ब्रह्मसूत्रों का कोई दूसरा भाष्य लिखना आवश्यक नहीं समझा गया।

रामानन्द सम्प्रदाय में श्रम के आधार पर जातीय सगठन का विरोध नहीं किया जाता, पर यह सम्प्रदाय ऊँच-नीच की भावना से दूर रहना चाहता है। भक्ति के आधार पर सब भक्तों को इस सम्प्रदाय ने एक जाति का मान लिया है।

रा ानन्दी सम्प्रदाय में संस्कृत के स्थान पर जनभाषा को, भक्ति-साधना के माध्यम की तरह स्थान मिल गया। यह युग की आवश्यकता थी; इसलिए उस युग के सब आचार्य और भक्तों ने जनवाणी को माध्यम बनाया। यही प्रक्रिया प्रत्येक युग में विशिष्टों की वाणी और जनवाणी का सम्बन्ध निश्चित करती चली आती है। स्वामी रामानन्द ने भक्ति प्रचार के कार्य में संस्कृत का प्रयोग प्रायः बन्द कर दिया।

रामानन्द की साधना के भीतर अद्वैत और विशिष्टाद्वैत दोनों तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं। रामानन्द की अद्वैत भावना अध्यात्म रामायण के उनके अध्ययन का परिणाम है। उनकी विशिष्टाद्वैती प्रवृत्ति, आचार्य रामानुज के श्रीभाष्य पर आजीवन मनन के कारण उत्पन्न हुई होगी।

आचार्य रामानन्द के विषय में डा० फार्कुहर ने लिखा है—"लाइक दि मराठा भक्ताज़ रामानन्द मे हैव क्रिटिसाइज़्ड आइडलस सिवियरली बट देयर इज़ नाट दि स्लाइटेस्ट साइन दैट हि ऑर हिज़ इम्मीडियेट फॉलोअर्स गेव अप हिन्दू वर्शिप"—'मराठा भक्तों के समान ही रामानन्द ने मूर्तियों की चाहे कड़ी आलोचना की हो, पर यह कहीं भी नहीं दिखाई पड़ता कि उन्होंने या उनके निकटतम अनुयायियों ने हिन्दू उपासना की इस पद्धति को छोड़ दिया हो†।

रामानन्द तथा उनके पहले या बाद के भी संतों ने जहाँ कहीं भी मूर्ति की उपासना की निन्दा की है वहीं पाश्चात्य और उनके अनुयायी एतद्देशीय आलोचक ऐसी समस्या में

---

‡ आउटलाइन्स ऑफ़ द रिलीजस लिटरेचर ऑफ़ इंडिया, पृष्ठ ३२४। † आउटलाइन्स ऑफ़ दि रिलीजस लिटरेचर ऑफ़ इंडिया, पृष्ठ ३२६।

उलझ गये हैं कि उनसे उसका हल खोजते ही नहीं बना है। एक तरफ़ मूर्तिपूजा की निन्दा करने वाला संत जब दूसरी तरफ़ मूर्तिपूजा करते हुए दिखाई पड़ता है, तब ऐसे आलोचकों की बुद्धि कुंठित हो जाती है; क्योंकि उन्हें इन संतों की वाणी और क्रिया में सामंजस्य नहीं दिखाई पड़ता। पर प्रश्न बिलकुल सीधा है। कोई भी संत ऐसी किसी भी उपासना-पद्धति की निन्दा नहीं करता जो प्रेम पर आधारित हो। जब कोई उपासना-पद्धति किसी युग में प्रेम के पथ से अलग हट कर निरर्थक और निर्जीव बन जाती है, तभी संत उसकी निन्दा करके उसका प्रेमात्मक रहस्य उपासकों को समझा देते हैं।

मूर्तिपूजा की कड़ी आलोचना के भीतर भी इन संतों की यही अन्तर्दृष्टि निहित है। अनंत की उपासना जब केवल मूर्ति की एक क्षुद्र सीमा के भीतर ही होने लगती है, तब संत इस बात को नहीं सह सकता। यदि अनंत की अनंतता के रहस्य को समझ कर मूर्तिपूजा की जाए तो मूर्ति केवल प्रतीकमात्र रहती है। उसके माध्यम से उपासना परम विराट् की ही होती रहती है। ऐसी स्थिति ही संतों को अभीष्ट होती है, और जब कभी इस दृष्टिकोण का लोप होने लगता है तब वे सोये हुए उपासकों को कशाघात से जगा देते हैं। यही उनकी कड़ी आलोचना का रहस्य है। इस तरह उस उपासना-शैली को वे पुनः सार्थक और सजीव बना देते हैं।

इसके अतिरिक्त भी आर्त, जिज्ञासु, ज्ञानी और अर्थार्थी उपासकों में से अंतिम का संत लोग समूल उच्छेद कर देना चाहते हैं। पीडित अपनी पीडा दूर करने के लिए उपासना करे तो बात कुछ समझ में आ सकती है और इस पीडित उपासक के प्रति संतों की सहानुभूति भी स्वभावतः हो जाती है और भवसागर की पीडा एक दिन आध्यात्मिक विरह की पीडा को स्थान दे सकती है, यह संतों का मत है। अपनी उपासना के द्वारा परमात्मा की अनंत शक्ति के सहारे जब सांसारिक जीव व्याधियों की पीडा से मुक्त हो जाता है, तब निरभिमान हो कर दीनता की व्याकुलता की पवित्र जागृति के भीतर उस परम कृपासागर के विरह में वह कातर हो जाता है। जिज्ञासु और ज्ञानी की उपासना तो सब दृष्टियों से वैध है, पर अर्थार्थी के घोर स्वार्थभाव को संत नहीं सह सकते। वे तो इस क्षुद्र स्वार्थ को परमार्थ के रूप में परिणत करके नर के विकास को नारायण के पास तक पहुँचा देना चाहते हैं। इसीलिए वे अनंत के प्रेम की पीडा सीमित जीव के भीतर जागृत कर देने की चेष्टा में निरन्तर संलग्न रहते हैं। जब वे मूर्तिपूजा बन्द करते हुए प्रतीत होते हैं तब उनके भीतर यही क्षोभ काम करता रहता है। ये अर्थपरायण और घोर स्वार्थपरायण भाव से मूर्तिपूजा का होना नहीं देखना चाहते। प्रेम और पीडा की उपासना ही उनकी दृष्टि में विकासोन्मुखी उपासना है और जिसके भीतर प्रेम और पीडा है, उसकी मूर्तिपूजा की साध की प्रवृत्ति की संत स्वयं उपासना करता है। ऐसे उपासक को वह वन्दनीय मानता है और इसी अनंत प्रेम और पीडा को ले कर वह स्वयं भी मूर्ति के माध्यम से अनंत की उपासना करता है। संतों के द्वारा की गयी मूर्तिपूजा, और मूर्तिपूजा की उनके द्वारा की गयी कड़ी आलोचना का यही रहस्य है।

रामानन्दी वैरागी 'अवधूत' भी कहाते हैं। दत्तात्रेय की उपासना भी इस सम्प्रदाय में प्रचलित हो जाने से योग और ज्ञान की सम्मिलित अभिव्यक्ति के लिए दत्तात्रेय की यह उपाधि रामानन्दी वैरागियों को भी दे दी गयी होगी। योग और ज्ञान के प्रकाश में जिसने सांसारिक वासनाओं को अतिक्रान्त कर लिया हो, उसे अवधूत कहते हैं। वैसे यह उपाधि किसी भी सम्प्रदाय के इस तरह के अनासक्त संत को दी जा सकती है। इसके लिए केवल दत्तात्रेय सम्प्रदाय का सम्बन्ध ही आवश्यक नहीं है।

बनारस तथा अयोध्या इत्यादि स्थानों में रामानन्दियों के मठ हैं। शंकराचार्य के दशनामी संन्यासियों के बराबर ही अपने को रामानन्दी वैरागी मानने वाले साधुओं की संख्या है। वैसे तो जहाँ-जहाँ गोस्वामी जी के रामचरित मानस का प्रभाव है, वहाँ-वहाँ हमें रामानन्द का ही प्रभाव मानना होगा, क्योंकि जनभाषा के इस युग के, तुलसी के पहले के, राम-भक्ति के प्रमुख प्रचारक वे ही हैं। उनका प्रभाव गोस्वामी जी पर निश्चित ही दिखाई पड़ता है।

रामानन्द जी मुख्यतः प्रचारक संत थे। कोई निश्चित सम्प्रदाय बनाने की ओर उनका झुकाव न था। पर ऐसे संतों के बाद उनके नाम का सुदृढ़ सहारा पा कर मनुष्यों के समूह एक विचारधारा को ले कर संगठित हो जाते हैं, और उसकी एक परम्परा स्थिर हो जाने से सम्प्रदाय बन जाता है।

रामानन्दी संतों में से धन्ना और पीपा के भी पद मिलते हैं तथा कुछ निश्चित सम्प्रदाय भी रामानन्द को अपना आधार मान कर बन गये हैं। इनमें से रामानन्द जी के शिष्य रैदास (ई० १४७०) के नाम पर रैदासी सम्प्रदाय है। सेना (ई० १४७०) के नाम पर सेनापंथी सम्प्रदाय रेवा में है तथा मलूकदास (ई० १६३०) के नाम पर मलूकदासी सम्प्रदाय कड़ा मानिकपुर में है।

नरहरिदास जी रामानन्द जी की छठी पीढ़ी में माने जाते हैं। उनके शिष्य गोस्वामी तुलसीदास जी हैं, जिन्होंने अपनी भक्ति-साधना के भीतर अपनी पूर्व-परम्पराओं को राम के जीवन-स्रोत के ऐसे स्वाभाविक और पवित्र प्रवाह में प्रवाहित कर लिया है कि यह धारा कभी सूख नहीं सकती। जनभाषा के माध्यम से गोस्वामी जी ने रामभक्ति के बीज धरती पर बो दिये हैं और पृथ्वी उन बीजों की रक्षा स्वतः करती रहेगी।

रामानुज सम्प्रदाय में नारायण की उपासना में केवल देवत्व का समावेश होने के कारण लोक-हृदय में उसका स्वाभाविक स्थान बन कर अपनी शाश्वतिक सत्ता नहीं प्राप्त कर सकता था। प्रेममयी कृष्णोपासना भी अधिक रहस्यात्मकता के कारण आदर्शवादी मानव मन के लिए दुरूह और साधारण बुद्धि वालों के लिए कई बार असफल पथ-निर्देशिका सिद्ध हुई। पर मर्यादा पुरुषोत्तम राम का जीवन, पूर्ण जीवन परमोच्च भूमि पर रहते हुए भी, हर तरह के मानव-मन का सफल मार्गनिर्देशन कर सकता था। इस राम को घर-घर में, द्वार-द्वार पर तथा हृदय-हृदय में पहुँचा देने के लिए अपने जीवन के प्रत्येक क्षण की बलि दे कर तुलसी अमर हो गये और साथ ही साथ उन्होंने रामानुज और रामानन्द की

पवित्र भावनाओं को अपनी समग्र शक्ति लगा कर अमर बना दिया। उन्होंने अपनी रामायण के भीतर, अध्यात्म रामायण, योगवासिष्ठ, अवधूत रामायण, भुशुंडि रामायण, अगस्त्य-सुतीक्ष्ण-संवाद, श्रीभाष्य, गीता, कुमारसभव तथा हनुमन्नाटक इत्यादि भक्ति, योग, दार्शनिक चिन्तन और साहित्य के सब स्रोतों को एक में मिला कर मर्यादा पुरुषोत्तम के जीवन की गंगा को प्रवाहित किया है और इन सब पवित्र स्रोतों को जनता के हृदय में, उनके न जानते हुए भी, जागृत कर दिया है। साधारण जनता को इन स्रोतों के नाम भी नहीं मालूम हैं, पर गोस्वामी जी की अखंड साधना ने उन सबके पवित्र प्रभावों का वरदान तो मानव के हृदय को अवश्य ही दे दिया है। ऐसा लगता है कि भारत के भीतर विराट् का जो पवित्र चिन्तनमय और पवित्र अनुभूतिमय तेज अतीत में अन्य भाषाओं के माध्यम से व्यक्त हुआ था, उसी ने उत्तर भारत की तुलसी-युग की जन-भाषाओं के माध्यम से व्यक्त होने के लिए गोस्वामी जी को अपना वरेण्य दूत बना लिया।

अद्वैत और विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तों के अंतर को समझने के लिए शंकर, रामानुज तथा रामानन्द के सिद्धान्तों में जो भेद है उसे समझ लेना आवश्यक है। रामानन्द जी के 'वैष्णवमताब्जभास्कर' के अध्ययन से यह बात स्पष्ट लक्षित होती है कि सिद्धान्त की दृष्टि से स्वामी रामानन्द विशिष्टाद्वैती ही हैं। आचार्य रामानुज और उनकी उपासना-पद्धति में भेद केवल मन्त्र का ही है। रामानुज जी के श्रीवैष्णव सम्प्रदाय का 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मन्त्र द्वादशाक्षर मन्त्र कहा जाता है। इस मन्त्र के स्थान पर रामानन्द जी ने श्रीसम्प्रदाय के लिए 'ॐ रां रामायनमः' मन्त्र निश्चित कर दिया और इस मन्त्र को 'राम षडक्षर' मन्त्र कहते हैं। जैसा पहले बताया जा चुका है, श्रीवैष्णवों में रामोपासना बड़े प्राचीन काल से चली आ रही थी, पर उसका प्रचार इतना व्यापक नहीं था। स्वामी रामानन्द जी ने अपने युग में बड़े विस्तृत क्षेत्र पर उसका प्रचार किया।

स्वामी रामानन्द जी ने अपने चिन्तन के द्वारा तीन पदार्थों का विवेचन किया है। वे तीन तत्त्व हैं—(१) चित् (२) अचित् और (३) ईश्वर। विशिष्टाद्वैत चिन्तनधारा के अनुसार ही रामानन्द जी ने भी चित् और अचित् को ईश्वर का ही विशेषण माना है, विशेषण अपने विशेष्य से अलग नहीं रहता। लाल गाय का 'लाल' विशेषण उसके साथ ही लगा रहता है। उससे दूर नहीं रह सकता। मीठे फल का 'मीठा' विशेषण उसके साथ ही बना रहता है। यह धर्म उससे अलग नहीं रह सकता। इसी नियम के अनुसार रामानन्द जी ईश्वर के विशेषण चित् और अचित् को, चेतन आत्मा और जड प्रकृति को ईश्वर के भीतर उससे अभिन्न मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर का चैतन्य विशेषण वाला तत्त्व और जड विशेषण वाला तत्त्व एक ही है। रामानन्द जी के अनुसार ईश्वर जगत् का कारण भी है और कार्यरूप जगत् भी वही है। दोनों अवस्थाओं में, कारण-अवस्था और कार्य-अवस्था की दोनों स्थितियों में वह पूर्ण ही रहता है। रामानन्द जी के अनुसार यही चित्, अचित् और ईश्वर, तीन नित्य तत्त्व हैं।

स्वामी रामानन्द जी ने अपने 'वैष्णवमताब्जभास्कर' में रामोपासना के तीन मन्त्रों को रहस्यत्रय का नाम दे कर योजित किया है।

पहले मन्त्र का नाम श्री रामषडक्षर तारक मूलमन्त्र है। उसका स्वरूप है पूर्ण निर्दिष्ट 'ॐ रां रामाय नमः'—'श्री राम के लिए नमस्कार है।'

दूसरा मन्त्र 'रामद्वय मन्त्र' या 'पंचविंशत्यक्षर मन्त्र' कहलाता है। इस मन्त्र में 'राम' शब्द का उच्चारण दो बार होता है, इसीलिए इस मन्त्र को 'रामद्वय मन्त्र' कहते हैं। पच्चीस अक्षरों के कारण इस मन्त्र को 'पंचविंशत्यक्षर मन्त्र' कहते हैं। इस मन्त्र की योजना इस प्रकार है—"श्रीमद्रामचन्द्रचरणोशरणं प्रपद्ये, श्रीमते रामचन्द्राय नमः"—'श्री राम के चरणों की शरण में जाता हूँ, श्री रामचन्द्र के लिए नमस्कार।'

तीसरे मन्त्र को 'चरम मन्त्र' नाम दिया गया है। यह मन्त्र इस प्रकार है—"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्यंतद् व्रतं मम"—'मैं तुम्हारा हूँ, यह कह कर, जो एक बार भी मेरी शरण में आ जाता है, उसे मैं पाँच भौतिक जगत् के भीतर के सम्पूर्ण अस्तित्व से संभावित भय से मुक्त कर देता हूँ। यह मेरा व्रत है।' भगवान् राम की यह प्रतिज्ञा ही 'चरम मन्त्र' है ‡।

'वैष्णव-मताब्जभास्कर' के अनुसार, राम, सीता और लक्ष्मण की त्रिमूर्ति का ध्यान ही परम लक्ष्य है। स्वामी रामानन्द जी इस त्रिमर्ति को चित्, अचित् और ईश्वर की वाह्य अभिव्यक्ति मानते हैं। उनके अनुसार लक्ष्मण चित्-जीव हैं। सीता अचित्-प्रकृति हैं। राम को, स्वामी रामानन्द जी अव्यक्त ईश्वर की वाह्य अभिव्यक्तिं मानते हैं। "आगे रामु लपन वने पाछे, तापस वेष विराजत काछे। उभय वीच सिय सोहित कैसे, ब्रह्म जीव विच माया जैसे †। से रामानन्द जी के द्वारा प्रतिपादित इसी सत्य की ओर गोस्वामी जी ने संकेत किया है। "राम वाम दिसि जानकी लषन दाहिनी ओर, ध्यान सकल कल्यानमय सुरतरु तुलसी तोर।" $ में रामानन्द जी के सिद्धान्त के अनुसार ही गोस्वामी जी ने भी त्रिमूर्ति का ही ध्यान किया है। "सीता लषनु समेत प्रभु, सोहत तुलसीदास, हरषत सुर बरषत सुमन सगुन सुमंगल वास।", "पंचवटी वट विटप तर सीता लषन समेत, सोहत तुलसीदास प्रभु सकल सुमंगल देत" और "चित्रकूट सब दिन वसत प्रभु सिय-लषन-समेत, राम नाम जप जापकहिं तुलसी अभिमत देत।" * में भी त्रिमूर्ति के ही ध्यान की गोस्वामी जी की प्रवृत्ति स्पष्टतः दिखाई पड़ती है। 'वैष्णव मताब्जभास्कर' लक्ष्मण के विना सीताराम की मूर्तियों की, मन्दिरों में, स्थापना का पक्षपाती नहीं है §।

स्वामी रामानन्द जी भक्ति को ही वह परम पदार्थ मानते हैं जिससे मुक्ति की सिद्धि होती है। स्वामी जी के अनुसार परम अनुराग के साथ श्री रामचन्द्र का सतत स्मरण ही भक्ति है। भक्ति सात उपायों से उत्पन्न होती है, वे उपाय हैं—(१) विवेक (२) विमोक (३) अभ्यास (४) क्रिया (५) कल्याण (६) अनवसाद और (७) अनुद्धर्ष।

‡ डा० बलदेव उपाध्याय, भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ २६२–२६३। † रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा १२१ के वाद। $ दोहावली, दोहा १। * दोहावली, दोहा २ से ४ तक। § भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ २६३।

दुष्ट आहार और सात्त्विक आहार का ज्ञान ही विवेक है । कामजन्य वासना के प्रति अनासक्ति के भाव को विमोक कहते हैं । भगवान् रामचन्द्र का निरन्तर चिन्तन ही अभ्यास है । पंचमहायज्ञों के अनुष्ठान को क्रिया कहते हैं । सत्य, आर्जव, दान, दया इत्यादि ही कल्याण है । रामचन्द्र की प्राप्ति के लिए सदा उत्साह ही अनवसाद है । सांसारिक अभिलाषाओं की पूर्ति से उत्पन्न हर्ष को उद्धर्ष कहते हैं । इस उद्धर्ष का अभाव ही अनुद्धर्ष है । यमनियमादि अष्टांग योग के द्वारा भक्ति की प्राप्ति पर स्वामी रामानन्द जी का विश्वास है ‡ । गोस्वामी तुलसीदास के मानस में चित्रित शवरी, शरभंग इत्यादि संतों में योगाधारित भक्ति के ये लक्षण दिखाई पड़ते हैं । 'कहि कथा सकल विलोकि हरिमुख हृदय पदपंकज धरे । तजि जोग पावक देह, हरिपद लीन भइ जहं नहिं फिरे † ।' में शवरी के भीतर योग और भक्ति का गोस्वामी जी ने एकत्र दर्शन किया है, तथा भक्ति की मुक्ति में भी भगवान् के मुख की शोभा का ध्यान और हृदय में पदपंकज का प्रेम रहता है, इस बात की सूचना गोस्वामी जी ने दी है । आनन्दमयी यह मुक्ति भी शाश्वत है । इसकी सूचना गीता के 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम $' के अनुसार 'हरिपद लीन भइ, जहं नहिं फिरे' कह कर गोस्वामी जी ने दी है । मुक्ति की यही धारणा श्रीवैष्णव तथा श्रीसम्प्रदायों को मान्य है ।

शरभंग प्रकरण में रामानन्द जी के द्वारा प्रतिपादित, ध्यान की पद्धति के अनुसार ही भक्ति और योग का समन्वित रूप दिखाई पड़ता है—

"सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम । मम हिय बसहु निरन्तर सगुन रूप सियराम । अस कहि जोग अगिनि तनु जारा, रामकृपा बैकुंठ सिधारा * ।' में रामानन्द जी के द्वारा स्वीकृत और प्रतिपादित त्रिमूर्ति के भक्तिपूर्ण ध्यान के साथ योगाग्नि की सहायता से शरभंग शरीर छोड़ कर मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं । अतः यहाँ भी रामानन्दी ढंग का, हठ-योग और भक्ति का, समन्वय है । 'मानस' के शंकर भी सदा योगी हैं— 'हमरें जान सदा सिव जोगी § ।' उमा के ये शब्द इस बात की सिद्धि के लिए पर्याप्त हैं । सती ने जब सीता के वेश में राम की परीक्षा ली और शंकर के द्वारा जन्म भर के लिए परित्यक्त हुईं तब भी योगी शंकर की समाधि का वर्णन गोस्वामी जी ने किया है—"बैठे बट तर करि कमलासन । संकर सहज सरूप संभारा, लागि समाधि अखंड अपारा × ।" योगीश शंकर की समाधि भी साधारण नहीं है—"बीते संवत सहस सतासी । तजी समाधि संभु अविनासी + ।" सत्तासी हज़ार वर्षों

‡ डा० बलदेव उपाध्याय, भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ २६३–६४ । † रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ३६ के पहले । $ गीता, अध्याय ८, श्लोक २१ । * रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ८ और बाद की पंक्ति १ । § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ८९ के बाद । × रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ५८ के पहले । + रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ५६ के बाद ।

की समाधि में रहने वाले शिव 'रामभगत समरथ भगवाना' भी हैं‡। वे जितने बड़े सिद्ध योगी हैं उतने ही बड़े सिद्ध भक्त भी। सती ने भी 'अस कहि जोग अगिनि तनु जारा'† के अनुसार, योगाग्नि से सदा के दक्ष में अपना शरीर भस्म कर दिया था। इस योगसिद्धि के अतिरिक्त सती को भी भक्ति की सिद्धि प्राप्त है। विवाह के बाद जब उमा ने शिव से सगुण-निर्गुण समस्या उनके सामने रख कर रामकथा का रहस्य समझना चाहा तब गोस्वामी जी के शिव ने 'तुम्ह रघुवीर चरन अनुरागी, कीन्हिहु प्रस्न जगत हित लागी$।' के द्वारा उमा को भक्ति का प्रमाण-पत्र दिया है। इस तरह गोस्वामी जी की उमा को भी योग और भक्ति की सिद्धि प्राप्त है। अतः गोस्वामी जी के मानस के प्रारम्भ से अंत तक योग और भक्ति का समन्वय, रामानन्द जी की भक्ति-पद्धित के अनुसार ही दिखाई देता है।

स्वामी रामानन्द जी के 'वैष्णवमताव्जभास्कर' के अनुसार परम प्राप्य वस्तु भगवान् राम ही हैं। वे एक, चेतनों के भीतर चैतन्य शक्ति की तरह निवास करने वाले, संसार के पालन-कर्त्ता, स्वतन्त्र, वशी, समस्त दिव्य गुणों के सागर, उपनिषदों के द्वारा प्रतिपाद्य, सबको शरण देने वाले तथा प्रभु हैं। उनकी प्राप्ति के लिए रामानन्द जी गुरु को अनिवार्य सहायक मानते हैं। गुरु के बताये हुए मार्ग से साधना करके साधक को अपनी सिद्धि के रूप में, दिव्य अयोध्यापुरी में राम की प्राप्ति हो जाती है। वह उस दिव्यलोक से फिर नहीं लौटता। ये सब सिद्धान्त गोस्वामी जी के मानस में मिलते हैं।

अपने हिन्दी ग्रन्थ 'रामरक्षा' में स्वामी रामानन्द जी ने हठयोग निर्गुण भक्ति तथा सगुण भक्ति के सब तत्त्व एक साथ रख दिये हैं। कोई भी संत किसी सच्ची उपासना-पद्धति का विरोधी नहीं होता। इसीलिए स्वामी रामानन्द जी ने भी योग, सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति को एक साथ ही अपनी स्वीकृति दे कर सत्य को स्वीकार करने की अपनी उदारता का परिचय दिया है तथा हर तरह की प्रवृत्ति वाले साधकों का, उन्होंने, सच्चे गुरु की तरह, मार्गनिर्देशन किया है। समन्वय की यही पूर्व परम्परा गोस्वामी तुलसीदास ने भी स्वीकार की है। रामानन्द जी की इसी उदारता के कारण नाभादास जी ने उनकी प्रशस्ति में लिखा है—"श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जग तरन कियौ *"—'रघुनाथ की तरह ही रामानन्द जी ने भी सब पवित्र तत्त्वों को भक्ति में सम्मिलित करके भवसागर को पार करने के लिए एक दूसरा सेतु निर्मित कर दिया'।

इस तरह तुलसी-युग के पहले रामानन्द जी ने रामभक्ति के प्रचार के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया था।

कृष्णदास पयहारी रामानन्द जी के शिष्य अनंतानन्द जी के शिष्य थे। इन्होंने गलता (जयपुर रियासत) में रामानन्दी गद्दी स्थापित की थी। गलता की यह गद्दी दक्षिण

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ५६ के बाद। † रामचरितमानस, बालकांड दोहा ६४ के पहले। $ वही, दोहा ११२ के पहले। * डा० बलदेव उपाध्याय भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ २८७।

की तोताद्रि गद्दी के बराबर प्रसिद्ध हो गयी। इस गद्दी की प्रसिद्धि यहाँ तक बढ़ी कि लोग इसे उत्तर तोताद्रि कहने लगे।

नाभादास जी ने इसके विषय में कहा है : 'निर्वेद अवधि, कलि, कृष्णदास, अन परिहरि; पय पान कियो ‡" "वैराग्य की अंतिम सीमा पर पहुँचे हुए कृष्णदास कलियुग में अन्न खाना छोड़ कर केवल दूध पर रहने लगे।" कृष्णदास जी भी योगी और शक्तिसम्पन्न भक्त थे। इनके चौबीस शिष्यों में से अग्रदास और कील्हदास अधिक प्रसिद्ध हुए।

अग्रदास (सं· १६३२ के आसपास) मानस पूजा करने वाले सिद्ध भक्त थे। इन्होंने ध्यानमजरी, अष्टयाम, कुंडलियाँ और पदावली इत्यादि ग्रन्थों की सृष्टि की। नाभादास जी इनके शिष्य थे और इन्हीं की आज्ञा से नाभादास जी ने 'भक्तमाल' की रचना की। रामभक्ति को इनसे भी पर्याप्त बल मिला। कृष्णदास जी के बाद गलता की गद्दी का प्रबन्ध इन्होंने ही सम्हाला।

कील्हदास जी एक प्रसिद्ध योगी और भक्त थे। इसके पिता सुमेरदेव गुजरात के सूबेदार होते हुए भी योगी और भक्त थे। 'भक्तमाल' के अनुसार ये भीष्म पितामह की तरह इच्छा-मृत्यु थे। इन्होंने भक्ति में योगसाधना को प्रधानता दे कर रामानन्दी वष्णवों की तपसी शाखा को जन्म दिया। सांख्ययोग के ये प्रसिद्ध ज्ञाता थे और ब्रह्मरंध्र के मार्ग से इन्होंने प्राण-त्याग किया था। इनके विषय की इन जानकारियों के अतिरिक्त नाभादास जी ने लिखा है—"राम चरन चितवनि रहति निसि दिन तो लागी। सर्बभूत सिर नमित सूर भजनानंद भागी †।" राम के चरणों का अखंड चिन्तन और 'सर्वभूत सिर नमित' से गोस्वामी जी के 'सियाराममय सब जग जानी, करहुं प्रनाम जोरि जुग पानी' का स्मरण हो आता है $।

अपनी इसी सुदीर्घ पूर्व परम्परा का गोस्वामी जी ने मौलिक ढंग से उपयोग किया था।

शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त और आचार्य रामानुज के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म के लक्षणों में कुछ अंतर है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म एक, अखंड, अद्वितीय, स्वजातीय, विजातीय और स्वगत—इन त्रिविध भेदों से शून्य है। ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म',* 'नेह नानास्ति किंचन'§ इत्यादि श्रुतियों के आधार पर आचार्य शंकर एक ही अद्वैत तत्त्व को स्वीकार करते हैं।

रामानुज भी ब्रह्म को एक और अद्वितीय तो मानते हैं, पर उनके अनुसार ब्रह्म निरंश नहीं, सांश है। उसमें स्वजातीय और विजातीय भेद तो नहीं होते, पर स्वगत भेद अवश्य होता है। ब्रह्म के एक और अद्वितीय होने के कारण उसकी जाति में कोई दूसरा तो सम्भव

‡ भक्तमाल, छप्पय ३३। † भक्तमाल, छप्पय ३५ तथा भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ २७६ से २७९ तक। $ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७ के बाद। * त्रिपाद्विभूति महानारायण उपनिषद्, अध्याय १, कंडिका ३। § कठोपनिषद्, अध्याय २, वल्ली १, छन्द ११।

ही नहीं हो सकता कि उस स्वजातीय व्यक्ति से ब्रह्म का भेद बताया जा सके। जब वह एक और अद्वितीय है तब विजातीय भेद का भी प्रश्न नहीं उठता। हाँ, स्वगत भेद उसमें अवश्य रहता है, क्योंकि उसी के भीतर रहने वाले जीव और जगत् उससे भिन्न हैं। वे केवल उसके विशेषण हैं। जिस तरह लाल गाय में 'लाल रंग', गाय का विशेषण होने के कारण उसके भीतर है, पर वह स्वयं गाय नहीं है, गाय से भिन्न धर्म है, उसी तरह जीव (चित्) और जगत् (जड) ब्रह्म के ही विशेषण हैं, उसके अंश हैं, पर हैं उससे भिन्न ही। इस भेद के कारण ही जीव उपासक हो सकता है और ब्रह्म उपास्य। भेद में भक्ति और प्रेम की सम्भावना हो सकती है, अद्वैतता में ऐसा सम्भव नहीं।

आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म केवल साक्षी, उदासीन, निर्गुण, निर्विशेष और शुद्ध चैतन्य है।

आचार्य रामानुज ब्रह्म को निर्गुण और निर्विशेष नहीं मानते। उनके अनुसार ब्रह्म सगुण और सविशेष है। वे कहते हैं कि ज्ञान, आनन्द, दया इत्यादि विशेषताओं का मूल कोष निर्गुण कैसे हो सकता है। बिना आधार के ये सब गुण आखिर रहेंगे कहाँ? आचार्य रामानुज हेय और प्राकृतिक गुणों का सम्बन्ध ब्रह्म से नहीं मानते। उनके अनुसार सब उपादेय और अतिप्राकृतिक गुण ही ब्रह्म में होते हैं तथा चेतन और अचेतन जगत् ब्रह्म का विशेषण और शरीर है। इसीलिए गोस्वामी जी ने बालक राम के मुख में कागभुशुंडि को अनंत जगत् दिखाया है।

आचार्य शंकर के अनुसार जगत् मिथ्या और माया है। वे कहते हैं कि ब्रह्म की शक्ति माया, अनिर्वचनीय होते हुए भी तुच्छ है। यह दृष्टिकोण सगुण उपासना की सम्भावना को समाप्त कर देता है और यदि उपासना हो भी सकी तो जगत् के रूपरंग की ही होगी। ऐसी दशा में तुच्छ की उपासना करने वाला भी तुच्छ ही होगा और उसकी उपासना भी तुच्छ हो जाएगी। सगुण उपासना का कोई महत्त्व न रह जाएगा।

काफ़ी दिनों से चली आती हुई सगुण उपासना के मार्ग में 'तुच्छता' की इस बाधा को आचार्य रामानुज ने दूर कर दिया। उनका यही तर्क था कि ब्रह्म का शरीर जगत्, मिथ्या कैसे हो सकता है? परम महत्त्वमय का शरीर भी महत्त्वमय ही होता है, वह तुच्छ नहीं हो सकता। माया मिथ्या नहीं हो सकती। ब्रह्म का अंश होने के कारण वह सत्य ही है। जगत्, प्रकृति या माया की सत्यता की घोषणा करके आचार्य रामानुज ने सगुण उपासना को प्रत्येक अवस्था में गौरवशालिनी बना दिया। आचार्य रामानुज ने तर्क के आधार पर यह घोषित किया कि सगुण उपासना असत्य की नहीं, सत्य की ही होती है। गोस्वामी जी के 'जगत् प्रकास्य प्रकासक रामू' ‡ से ब्रह्म के द्वारा प्रकाशित जगत् की सत्यता ही घोषित की गयी है।

आचार्य शंकर के अनुसार जीव और ब्रह्म दोनों एक ही हैं। यह धारणा उन्होंने 'जीवो ब्रह्मैव नापरः'—जीव ब्रह्म ही है और कोई दूसरी वस्तु नहीं—इत्यादि श्रुति-

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ११७ के पहले।

वाक्यों के आधार पर बनायी थी । उन्होंने कहा था कि जीव शाश्वत, मुक्त और स्वप्रकाश है ।

आचार्य रामानुज ने यह सिद्ध किया कि जीव और ब्रह्म में एकत्व नहीं है। वह सदा मुक्त नहीं रहता । जीव ब्रह्म का अंशमात्र है । जिस तरह अग्नि से निकला हुआ अग्निकण पूर्ण अग्नि नहीं होता, अपितु उसका एक क्षुद्र अंश ही होता है, उसी तरह जीव भी अणु है और विभु तथा व्यापक ब्रह्म का एक क्षुद्र अंश ही है । जीव अल्पज्ञ तथा अल्प शक्तिवान् है तथा ब्रह्म सर्वज्ञ और सर्वशक्तिवान् । जीव अर्जुन से ब्रह्म श्रीकृष्ण ने भी यही कहा था—"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि । तव चार्जुन, तान्यहं वेद्मि सर्वाणि, न त्वं वेत्थ परंतप ‡ ।"—मैं अपने सब अवतारों को जानता हूँ, पर तुम नहीं जानते—कह कर श्री कृष्ण ने जीव की अल्पज्ञता और ब्रह्म की सर्वज्ञता की सूचना ही अर्जुन को दी थी । गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'ईश्वर अंश जीव अविनासी । चेतन अमल, सहज सुखरासी । सो माया बस भएउ गोसाईं, बंधेउ कीर मरकट की नाईं ।' † से जीव को माया से बद्ध अल्पज्ञ और ईश्वर का अंशमात्र माना है ।

आचार्य शंकर का यह मत है कि जगत् के भेद को देखने वाली, जीव की बुद्धि जब समाप्त हो जाती है, तब जीव और ब्रह्म में एकत्व का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यही जीवब्रह्मैक्य मुक्ति है ।

आचार्य रामानुज के अनुसार आनन्दानुभव मुक्ति है, एकत्व नहीं । उनके अनुसार जीव ब्रह्म से मिल कर एक तो हो ही नहीं सकता । मुक्ति की दशा में भी वह ब्रह्म से अलग रह कर ही आनन्द का अनुभव करता रहता है । उसे कोई क्लेश स्पर्श नहीं कर सकता ।

आचार्य शंकर ने माया, अविद्या और अज्ञान को भी एक ही के भिन्न-भिन्न नाम की तरह देखा है । तत्त्वतः उन सबको एक माना है ।

आचार्य रामानुज का मत इस सम्बन्ध में भिन्न है । वे कहते हैं कि माया भगवान् की शक्ति है और अज्ञान जीव का लक्षण है । माया भावमय अस्तित्व है और अज्ञान, ज्ञान का अभाव है । वह केवल शून्यता की सूचना देता है । पर माया अस्तित्व की सूचना देती है । माया का कभी नाश नहीं होता, पर अज्ञान का नाश भगवान् की कृपा से हो जाता है । गोस्वामी जी ने भी 'हरि माया अति दुस्तर § ।' कह कर माया को स्वीकार किया है ।

आचार्य शंकर के अनुसार अभेद-प्रतिपादक उपनिषद्-वाक्यों को निरन्तर सुनने और मनन करने से अभेदानुभूति हो जाती है । यही मुक्ति है ।

आचार्य रामानुज का मत इससे भिन्न है । वे भक्ति को ही मुक्ति का साधन मानते हैं । उनके अनुसार मुक्ति की प्राप्ति के लिए कोई दूसरा उपाय नहीं है । आचार्य शंकर

---

‡ गीता, अध्याय ४, श्लोक ५ । † रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ११६ के बाद ।
§ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ११८ ।

का अभेदवाद 'तत्वमसि' ‡—तुम वही हो—इत्यादि श्रुति-वाक्यों पर आधारित है। आचार्य रामानुज 'तत्वमसि' का पद विग्रह 'तत् त्वं असि'—वही तुम हो—की तरह न करके 'तस्य त्वं असि'—उसके तुम ही—की तरह करके श्रुतियों में भी स्वामि-सेवक भाव ही सिद्ध करते हैं। वे, श्रुतियों के 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यों को साधक को प्रोत्साहन देने मात्र के लिए मानते हैं।

मुक्ति के साधन और अभेदवाद के सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने विशिष्टाद्वैत दृष्टि-कोण ही स्वीकार किया है। उनके 'रामभजत सोइ मुक्ति गोसाईं, अन इच्छित आवइ बरिआई † । से भक्ति ही मुक्ति का साधन सिद्ध होती है। आचार्य शंकर के अभेदवाद की मुक्ति को स्वीकार न करके आचार्य रामानुज के 'सेवक-सेव्य भाव' की सिद्धि को ही गोस्वामी जी ने मुक्ति माना है। उनके 'सेवक-सेव्य भाव विनु भव न तरिय उरगारि' $ का यही लक्ष्य है।

आचार्य शंकर मानते हैं कि ज्ञान हो जाने पर शरीर में रहते हुए भी जीव वासनाओं से मुक्त हो जाता है और शरीर छूटते ही वह ब्रह्म में लीन हो जाता है।

आचार्य रामानुज के अनुसार शरीर के रहते हुए क्लेशों का नाश सम्भव नहीं है। शरीर के न रहने पर ही मनुष्य क्लेशमुक्त हो सकता है और इस भौतिक शरीर के वाद भी जीव को दिव्य शरीर मिल जाता है और उसी को ले कर भगवान् के निकट वह शाश्वतिक आनन्द का अनुभव करता है, उनसे एकत्व नहीं प्राप्त करता।

आचार्य शंकर के मत से, नित्य और अनित्य का ज्ञान प्राप्त कर लेने वाला ही ब्रह्म जिज्ञासा का अधिकारी होता है।

आचार्य रामानुज यह मानते हैं कि नित्य का ज्ञान ही तो ब्रह्मज्ञान है। यदि नित्य का ज्ञान हो गया तब तो ब्रह्म को जानने की इच्छा का प्रश्न ही नहीं उठता। वे कहते हैं कि कर्म और कर्मफल की अनित्यता को जान लेने पर व्यक्ति ब्रह्म को जानने की इच्छा की ओर बढ़ सकता है *।

अपनी साधना-पद्धति के अनुसार आचार्य रामानुज भगवान् और जीव के बीच में अनंत शेषशेषिभाव का सम्बन्ध मानते हैं। वे दास को शेष कहते हैं, क्योंकि वह पूर्ण भगवान् का एक अवशिष्ट अंशमात्र है। भगवान् शेषी, पूर्ण तथा स्वामी हैं। भक्त की दास्यभावना को आचार्य रामानुज शेषभूतता की भावना कहते हैं। इस भावना में पहुँचा हुआ साधक बड़ी दीनता से अपने को भगवान् का एक क्षुद्र अंश—शेष—मानता रहता है। शेष नियाम्य होता है। उस पर सम्पूर्ण नियन्त्रण नियामक शेषी का होता है। गोस्वामी जी के 'चाहै कीन्ह करावै सोई' तथा गीता के 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे अर्जुन तिष्ठति।

---

‡ छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय ६, खंड ८, कंडिका ७। † रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ११८ के बाद। $ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ११९। * डा० बलदेव उपाध्याय भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ २१२ से २१६ तक।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' ‡ का यही अभिप्राय है। भक्त के लिए भगवान् के दासों की उपासना भी आवश्यक और अनिवार्य है। भगवान् के दासों के प्रति इस पूज्य भाव की वृत्ति को आचार्य रामानुज शेषवृत्तिपरता कहते हैं। भगवान् की दासता तभी प्राप्त होती है, जब भक्त उसके दासों का दास हो जाता है। यह स्थिति पूर्ण निरभिमानता की अवस्था है†। गोस्वामी जी के 'जागवलिक मुनि परम विवेकी, भरद्वाज राखे पद टेकी। सादर चरन-सरोज पखारे, अति पुनीत आसन बैठारे। करि पूजा मुनि सुजस बखानी' $ में भरद्वाज की इसी शेषवृत्तिपरता की ओर संकेत है। भक्त भगवान् के दासों का दास स्वभाव से ही बन जाता है। अपने इसी स्वभाव के कारण भक्त भरद्वाज ने भक्त याज्ञवल्क्य की उपासना की है। गोस्वामी जी के 'मानस' में यह वातावरण प्रारम्भ से ले कर अंत तक है। गोस्वामी जी के अनुसार भी आदर्श का प्रेमी वही है, जो उसकी उपासना प्रत्येक माध्यम के भीतर करने को प्रस्तुत हो। ऐसी स्थिति उसे जब प्राप्त हो जाती है, तभी पूर्ण आदर्शमय भगवान् उसे प्राप्त होता है, इसके पहले नहीं।

आचार्य रामानुज की साधना-पद्धति के भीतर भगवान् ही जगत् के निर्माण की सामग्री तथा निर्माता दोनों माने जाते हैं। जगत् के उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों यही माने जाते हैं। आचार्य रामानुज के अनुसार भगवान् ही जगत् के प्रपंच के रूप में परिणत हो जाते हैं। यह सिद्धान्त ब्रह्मपरिणामवाद कहलाता है।

नर, पुरुष या ब्रह्म से उत्पन्न सांख्य के पच्चीस तत्त्व (पंचभूत, पंचतन्मात्रा, दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार, प्रकृति और जीव) नार कहलाते हैं। नर से उत्पन्न हुए तत्त्व तद्धित वृत्ति से नार ही कहे जा सकते हैं। इनमें अपना स्थान (अयन) बना कर निवास करने वाला परमात्मा नारायण कहलाता है। नित्य जीव, आचार्य रामानुज के अनुसार, प्रलय-काल में ब्रह्म में अव्यक्त रहता है और सृष्टिकाल में फिर उसी में से उत्पन्न हो जाता है। जीव का परम पुरुषार्थ, आचार्य रामानुज के अनुसार, यही है कि वह अपने स्वामी, नारायण के चरणों में अनुराग की भावना के साथ समर्पित हो जाए। दास्यभाव की भक्ति ही श्रीवैष्णव सम्प्रदाय की भक्ति है। भक्ति का सार प्रपत्ति या आत्मनिवेदन है। यही प्रेम ही भक्ति की आत्मा है और दूसरी साधनाएँ केवल बहिरंग मानी जाती हैं।

श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार प्रपत्ति की तीन अवस्थाएँ होती हैं। (१) एक अवस्था को अनन्य शेषत्व की अवस्था कहते हैं। इस अवस्था वाला भक्त अपने को केवल एक का ही दास समझता है (२) प्रपत्ति की दूसरी अवस्था अनन्य साधनत्व की अवस्था कहलाती है। इस अवस्था वाला भक्त केवल भगवान् को ही अपना हर तरह का सहायक मानता है, तथा भक्ति की सिद्धि के लिए भी उन्हीं को अपना सहायक मानता है। प्रपत्ति की तीसरी अवस्था है, अनन्य भोग्यत्व की अवस्था। इस स्थिति में पहुँचा हुआ भक्त यह अनुभव करता है कि उसका सब कुछ केवल भगवान् का ही उपभोग्य है, सब कुछ केवल उन्हीं के लिए है।

‡ गीता, अध्याय १८, श्लोक ६१। † डा० बलदेव उपाध्याय भागवत संप्रदाय, पृष्ठ २१६।
$ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ४५ के पहले।

आचार्य रामानुज के अनुसार प्रपत्ति के इन तीन प्रकारों में से यदि एक की भी सिद्धि हो जाए तो भगवान् की कृपा से भक्ति के पूर्ण फल के रूप में भगवान् की प्राप्ति हो जाती है, भक्ति में न्यूनता नहीं आने पाती। प्रपत्ति की ये तीनों अवस्थाएँ हमें गोस्वामी जी में तथा उनके 'मानस' में दिखाई पड़ती हैं। आचार्य रामानुज इस प्रपत्ति को भी दूर का ही साधन मानते हैं। उनके अनुसार प्रपत्ति की सिद्धि से भगवान् की कृपा प्राप्त होती है और भगवान् की कृपा से भगवान् स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। अतः भगवान् की कृपा ही उनकी प्राप्ति के लिए मुख्य कारण बनती है। इस कृपा की प्राप्ति के लिए साधक को गुरु के आश्रय में जाना पड़ता है और गुरु के बताये हुए पथ से चल कर वह सर्व की, पूर्ण की, अपने भगवान् की प्राप्ति कर लेता है‡।

‡ डा० बलदेव उपाध्याय, भागवत संम्प्रदाय, पृष्ठ २१८।

अध्याय २

रामभक्ति में विमल सन्तोष

आज तक जीवन और अध्यात्म से सम्बन्ध रखने वाला जितना साहित्य दुनिया के विद्वानों, साहित्यकारों और कवियों ने प्रस्तुत किया है, उसमें गोस्वामी जी के 'रामचरितमानस' का एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'नानापुराण निगमागमसम्मत ‡' भाव और विचारों को सम्पूर्ण जीवन के एक सूत्र में स्वाभाविकता से पिरो कर गोस्वामी जी ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम तथा रामायण के और सब आदर्श पात्रों का जीवन इतना सुन्दर बना कर प्रस्तुत किया है कि जीवन के शाश्वत सत्य की तरह वे सब पात्र अध्यात्म की जीवनमय झाँकी प्रस्तुत कर अनंतकाल तक संसार के मानव का जीवनदर्शन और अध्यात्मदर्शन के आदर्श पथ पर मार्गदर्शन करते रहेंगे। गोस्वामी जी ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम, भरत, लक्ष्मण, सीता, शत्रुघ्न, दशरथ, हनुमान् इत्यादि पात्रों को जीवन के ऐसे स्वाभाविक सौन्दर्य से विभूषित किया है कि उनका आकर्षण कभी कम नहीं हो सकता। जीवन और चिन्तन के जो आदर्श, उलझनों के अन्धकार में अनंतकाल तक मानव को प्रकाश देने की क्षमता रखते हैं, उन्हीं को गोस्वामी जी ने 'मानस' के पात्रों में जीवन की स्वाभाविक विकास-प्रक्रिया से विकसित किया है। 'नानापुराण निगमागम' में जो जीवन-सौन्दर्य और चिन्तन की गहराई और ऊँचाई बिखरी हुई पड़ी थी उसके समाहित रूप से तुलसी की सौन्दर्यभावना और चिन्तन-प्रणाली विकसित हुई थी। विकास के पथ पर अनंत सौन्दर्य की ओर बहुत दूर तक बढ़ा हुआ यह महामानव अपने से पीछे छूटे हुए लोगों को अपने साथ ले लेने के लिए करुणासिक्त और व्यथित था। अपनी इस व्यथा को दूर करने के लिए ही अनत सुन्दर, अनंत शक्तिवान् तथा अनंत शीलवान् मर्यादा पुरुषोत्तम राम के सर्वतोमुखी सौन्दर्य के सन्देश को उन्होंने अपनी शक्तिमती वाणी के प्रभाव से अगणित हृदयों तक पहुँचाया और स्वान्तः सुख का अनुभव किया।

व्यक्ति सीमित कभी नहीं होता। अनंत सिन्धु की सर्वाभिभाविनी अनंत शक्ति की परिस्थितियों के कारण कुछ काल के लिए अपने भीतर कुंठित रूप में धारण करने वाला बिन्दु, सिन्धु बन जाने के लिए छटपटाता रहता है। परमात्मा को, अनंत सौन्दर्य के बोध को अपने भीतर पा लेने के लिए कुंठित बोध वाला मानव व्यथित रहता है। सत्यतः तो वह अनंत के भीतर ही रहता है; पर क्षुद्र स्वार्थ की सीमाएँ उसे घेर-घेर

‡ रामचरितमानम, बालकांड का मंगलाचरण, श्लोक ७।

कर क्षुद्र बना देती हैं। अपने इसस्वार्थ को जगत् के महत्तर स्वार्थ से वह जितना अधिक सम्बद्ध करता जाता है उतना ही अधिक आगे वह अनंत प्रिय के पथ पर बढ़ता जाताहै। परदों के उठते-उठते उसकी जीवन-लीला की रंगभूमि विस्तृत होती जाती है। जब तक अपनी लीला के क्षेत्र को वह अनंत नहीं बना लेता, तब तक उसकी व्यथा शान्त नहीं होती, अनंत के वियोग की वेदना उसका साथ नहीं छोड़ती। मानव के महामानव रूप में परिणत होने का यही रहस्य है और उसकी प्रक्रिया भी यही है। इसीलिए महामानव का स्वान्तःसुख जगत् के सुख के साथ जुड़ा हुआ रहता है। वह सीमित व्यक्ति न हो कर विराट् बन जाता है। वह केवल आत्मा न रह कर महात्मा बन जाता है।

इसी प्रक्रिया के अनुसार प्रत्येक व्यक्तित्व में अंतर्निहित सीमित अनंत अपनी ही अनंतता को प्राप्त करने के लिए व्याकुल रहता है और उसे प्राप्त कर संत, महात्मा, कवि और कलाकार इत्यादि रूपों के द्वारा वह अपने स्वान्तःसुख को जगत् के सुख के रूप में परिणत कर लेता है। अन्तर्यामी सत्य, शिव और सौन्दर्य को बहिर्यामी बना कर सब पिछड़े हुए लोगों के हृदयों पर पड़े हुए स्वार्थजनित वासनाओं के आवरण को काटता हुआ, वह उन्हें भी महात्मा बनाता चलता है। यदि उसका स्वान्तःसुख सीमित सुख ही होता तो उसकी मूकता ही उसका स्वभाव रहती। वह सुख वाणी के ओज में मुखर न बनता। वह अनंत रहता है और अनंत तक पहुँच जाना चाहता है, इसीलिए उसे मुखर होना पड़ता है। अनंत सौन्दर्य की भावना का मौन व्याख्यान आचरण की स्थूलता में सीमित ही रह जाता है। इसीलिए सौन्दर्य-सिद्ध प्रत्येक संत, महात्मा, कवि तथा कलाकार उस सौन्दर्य को काल में स्थिर और देश में व्यापक बनाने के लिए, मूर्ति, चित्र तथा अन्य प्रकार की कलाकृतियों का सर्जन करता रहता है। इसीलिए उसे वाणी की आवश्यकता पड़ती है। 'रघुवीरगाथा' को 'अति मंजुल भाषानिबन्ध ‡' के माध्यम से विस्तार प्रदान करने का उसका लक्ष्य यही होता है। इस लक्ष्य की पूर्ति करके उसकी रसवती सरस्वती 'रसो वै सः' उस रसस्वरूप के अनंत मधुर विकास को अपने भीतर प्राप्त करके धन्य हो जाती है। अविकसित 'प्राकृतजन' † की गाथा गा कर उसे 'सिर धुनने' की नौबत नहीं आती। यही विराट् रूप तुलसी की भावसाधना और विचारसाधना का है। इसकी सिद्धि उन्हें जहाँ और जिस व्यक्ति में परिलक्षित होती है, वहीं उन्हें विमल सन्तोष का अनुभव होता है।

यद्यपि सगुण उपासना का इतिहास ऋग्वेद के साथ प्राचीन हो चुका है और निर्गुण-सगुण ब्रह्म की उपासना उसी प्राचीन युग से भारतवर्ष में होती आयी है, पर बीच में बौद्ध और जैन मतों के निरीश्वरवाद तथा कणाद के प्राचीन वैशेषिक दर्शन की ईश्वर के सम्बन्ध में चुप्पी, चार्वाक-दर्शन की घोर भौतिकता तथा आचार्य शंकर के अद्वैतवाद और मायावाद के देशव्यापी प्रभाव ने भक्ति की सगुण धारा को सरस्वती के अव्यक्त स्रोत में भेज दिया था। इस कुंठा की प्रतिक्रिया में दक्षिण भारत में आलवार संतों के

‡ रामचरितमानस, बालकांड का मंगलाचरण, श्लोक ७। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ११ के पहले।

भीतर सगुण भक्ति ने अपने उद्दाम तरंगों को पुनः तरंगित किया। उसी परम्परा में शंकर के अद्वैतवाद और मायावाद के प्रभाव को तथा सगुणभक्ति-विरोधी पूर्ववर्ती सब प्रभावों को समाप्त करने के लिए आचार्य रामानुज ने अपने विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। आचार्य रामानुज के अनुसार यह सिद्धान्त केवल उनका नहीं है। उन्होंने यह स्पष्टतः स्वीकार किया है कि उनके द्वारा प्राचीन आचार्यों के मत ही पुनः प्रचारित किये गये हैं। आचार्य रामानुज ने विशिष्टाद्वैत के अतीत परम्परा में बोधायन, टंक, द्रमिड, गुहदेव, कपर्दि, भारुच इत्यादि आचार्यों के नाम गिनाये हैं और उन्होंने यह सूचित किया है कि वेद और उपनिषद् के ज्ञान को जिस दृष्टिकोण से इन पूर्वाचार्यों ने समझा था उसी दृष्टिकोण को विशद रूप में संसार के सामने रखने का कार्य मैंने किया ‡।

रामानुज का विशिष्टाद्वैत मत केवल तीन पदार्थों का विश्लेषण, विवेचन और प्रतिपादन करता है। वे तीन पदार्थ हैं—चित्, अचित् और ईश्वर। चित् वह चैतन्य शक्ति है जो जीव के भीतर रह कर सुख-दुःख का अनुभव करती है। वही जीव का आन्तरिक भावमय रूप है। अपने इसी चित् को जब वह परमात्म-सौन्दर्य के ध्यान में मग्न कर देता है तब वह पूर्ण पुरुष हो जाता है। परमात्म-सौन्दर्य परमात्मा के रूप-सौन्दर्य और कर्म-सौन्दर्य का समाहित स्वरूप है। इसी में जब भक्त अपने चित् को लय कर देता है, तब भक्ति-सिद्धान्त के अनुसार वह पूर्ण भक्त हो जाता है। इसी अवस्था को समझाने के लिए गोस्वामी जी ने 'तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै' कहा है। मन का यही फिर पड़ना, चित् का परमात्म-सौन्दर्य में लीन हो जाना है। जगत् की स्वार्थमयी वासना से हट कर मन जब विश्व के स्वार्थ के साथ जुड़ जाता है, परमात्मा के विश्वरूप के सुख-दुःख के साथ सम्बद्ध हो जाता है, तब भक्त समझता है कि उसके दोषों को दूर करके परमात्मा ने उसे अपना लिया। जीव के दोषों से मुक्त होकर इसी स्थिति में वह परमात्म-स्वरूप मर्यादा पुरुषोत्तम हो जाता है। इसी स्थिति की प्राप्ति के लिए तुलसी का मन छटपटाता हुआ साधना के पथ पर तीव्रता से आगे बढ़ता हुआ दिखाई पड़ता है।

विशिष्टाद्वैत दर्शन का अचित् पदार्थ जीव के द्वारा अनुभूत जगत् है। इस जगत् के सुख-दुःख सब 'अचित्' (जड वस्तुओं) से सम्बन्ध रखते हैं। इस जड जगत् का अनुभव जीव करता रहता है। यह जड जगत् और चेतन जीव दोनों ईश्वर के द्वारा व्याप्त रहते हैं। अन्तर्यामी ईश्वर, जड तथा चेतन दोनों के भीतर निवास करता है और ये दोनों शाश्वत तथा सत्य हैं। इन दोनों को गोस्वामी जी ने भी सत्य और शाश्वत माना है, पर इनके पारस्परिक सम्बन्ध को मिथ्या माना है। जीव भेदरूप से जगत् को देखता हुआ उसके प्रति राग-द्वेष पैदा करता रहता है। 'सिया-राममय सब जग' † की अनुभूति यदि उसे हो जाए तो वह अपने जन्म के लक्ष्य को पूर्णतः प्राप्त कर लेता है। भेद के आधार पर टिकी

‡ डा० बलदेव उपाध्याय, भावगत सम्प्रदाय, पृष्ठ २०५। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७ के बाद।

हुई इसी वासनात्मिका ग्रन्थि को तुलसीदास जी 'मृषा' (असत्य) मानते हैं—"जड चेतनहिं ग्रन्थि परि गई, जदपि मृषा छूटत कठिनई ‡" ।

जड और चेतन को इस तरह शाश्वत और सत्य मान कर गोस्वामी जी ने 'सियाराम मय' मान लिया है । ऐसी अनुभूति जीव को जब प्राप्त हो जाती है तब उसका चित्, जगत् के साथ अपनी वासनात्मिका ग्रन्थि से मुक्त हो जाता है । जड और चेतन के 'सियाराममय' रूप का साक्षात्कार न करके जब तक वह उसके व्यापक प्रसार के भीतर शत्रु-मित्र, सुख-दुःख इत्यादि की कल्पनाएँ करता रहता है तब तक वासना की झूठी ग्रन्थि उसे जगत् के साथ झूठे सम्बन्ध में बाँध रखती है । इस तरह की कल्पना के समाप्त होते ही वह अद्वैत के अभेद को प्राप्त करके जगत् के भीतर 'सियाराम' को देख कर, उससे सच्चे सम्बन्ध की भावना से सम्बद्ध हो जाता है और मिथ्या ग्रन्थि टूट जाती है । 'सियाराम' की इसी अद्वैत भावना में मानव के मन को लीन करने के लिए विशिष्टाद्वैत मत प्रचारित किया गया । अपनी अनंतव्यापिनी शक्ति के कारण विष्णु अद्वैत हैं, पर अपने सगुण रूपात्मक अवतारों के रूप में विशिष्ट हो कर केवल निर्गुण नहीं रह जाते । उनकी यह सगुणता और निर्गुणता शाश्वत रूप से उनके साथ निवास करती है । रूप में व्यक्त हो कर सगुण रहते हुए भी शक्ति की अपनी अनंत व्यापकता के कारण एक ही समय में वे निर्गुण भी रहते हैं ।

इसी ईश्वर का ध्यान विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय करता है । यह सम्प्रदाय अनुभव करता है कि ईश्वर जगत् की सृष्टि का निमित्त बन कर भी उसके भीतर समाया हुआ रहता है । जगत् की सृष्टि करने के कारण वह उसका निमित्त कारण बन जाता है और उसमें व्याप्त रहने के कारण जगत् के निर्माण की सामग्री के अणु-अणु में उपादान का काम भी शक्तिरूप में वही करता है । 'सियाराममय सब जग' की भावना का यही मूल है । समग्र के ऊपर इस तरह अधिकार रख कर ईश्वर की क्रीड़ा निरन्तर जारी रहती है । यही क्रीड़ा उसे व्यक्त और अव्यक्त अवस्थाओं में पहुँचाती रहती है । शाश्वत आनन्द का मूल स्रोत, परमात्मा जगत् को इसी तरह व्यक्त और अव्यक्त दशाओं में परिवर्तित करता रहता है । यह सब वह अपने निरन्तर आनन्दस्वरूप से करता है, इसीलिए उसका सृष्टि-संहार कार्य, 'लीला' कहलाता है । अपनी अनंत शक्ति के द्वारा अनंत सृष्टि, स्थिति और संहार का कार्य करता हुआ परमात्मा यह अनंत लीला करता रहता है । अवतार के शरीर में आ कर सीमा के भीतर भी वह नर-लीला करता है, पर यह आदर्शप्रवण आनन्द को प्रवाहित करने वाली नर-लीला भी अनंत है, क्योंकि इस तरह कल्प-कल्प में बार-बार अवतीर्ण हो कर अनंत क्रम के प्रवाह के भीतर वह अपनी नरलीला भी करता रहता है । तुलसी का 'हरि अनंत हरि कथा अनंता †' । इसी बात का संकेत दे रहा है । कबीर 'प्रह्लाद उबार्यो अनेक बार' कह कर इसी अनंतता के भीतर होने वाली अनंत सगुण लीला की ओर

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ११६ के बाद । † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १३९ के बाद ।

सकेत करते हैं। दार्शनिक जब एक रूप की बात न कह कर अनंत रूपों के भीतर प्रविष्ट अन्तर्यामी की अनंत लीला की चर्चा करता है तब यह लीला सगुण-निर्गुण हो जाती है।

लय और सृष्टि की अवस्थाओं के साथ ईश्वर का सम्बन्ध समझाने के लिए विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय ब्रह्म की दो संज्ञाओं—कारणावस्थ ब्रह्म और कार्यावस्थ ब्रह्म—को स्वीकार करता है। इस अनंत अस्तित्व के भीतर अभाव नाम की कोई वस्तु नहीं है। लय की स्थिति अभाव की स्थिति नहीं, भाव की अव्यक्तता की स्थिति है। जगत् की सृष्टि के सब उपादान अपनी सूक्ष्म' अव्यक्तावस्था में ईश्वर के भीतर रहते हैं। जीव और जगत् अथवा अस्तित्व के चित् और अचित् तत्त्व अपनी सूक्ष्मावस्था को प्राप्त करके लयकाल में ईश्वर में लीन हो जाते हैं। अतः सृष्टि के सब कारणों को समेट कर स्थित रहने वाला ईश्वर सब कारणों का कारण माना जाता है और यही ईश्वर चित् तथा अचित् से विशिष्ट रह कर लय की अवस्था में कारण-ब्रह्म कहलाता है। इस मूल अव्यक्त कारण के भीतर से जब अस्तित्व व्यक्त हो कर जगत् के रूप में आ जाता है, तब मूल कारण के इस कार्यरूप को कार्य-ब्रह्म कहते हैं। विशिष्टाद्वैत मत यह मानता है कि लय की अवस्था में सब चित् और अचित् को अपने भीतर समेट कर ब्रह्म कारण-ब्रह्म हो जाता है तथा सृष्टि की अवस्था में अनंत अस्तित्व के भीतर अंतर्यामी की तरह बैठा हुआ वही कार्य ब्रह्म हो जाता है। सम्पूर्ण व्यक्त जगत् उसके शरीर के रूप में रहता है तथा उस अनंत शरीर में अनंत अंतर्यामी रूप से उस अनंत शरीर की अनंत चैतन्ययुक्त आत्मा बन कर वह बैठा रहता है। कबीर का 'तेरा साईं तुज्झमें' इसी स्थिति का संकेत कर रहा है। जिस तरह कारण ही कार्यरूप में परिवर्तित हो जाता है, उसी तरह लयकाल का कारण-ब्रह्म सृष्टिकाल के कार्य-ब्रह्म के रूप में परिवर्तित हो जाता है, विश्वरूप बन जाता है। विशिष्टाद्वैत मत इस बात को स्पष्टतः अनुभव करता है कि उपनिषदों के अद्वैत ब्रह्म का यही रूप है— 'एकमेवाद्वितीयम्' ‡। इसी कारण ब्रह्म की लयकालीन स्थिति को उपनिषद्-ग्रन्थों में प्रतिपादित करता है। यही अनंत शक्तिवान् ईश्वर जो भक्तों के लिए सगुण होता है, (१) पर (२) व्यूह (३) विभव (४) अंतर्यामी और (५) अर्चावतार की पांच अवस्थाओं में रहता है †।

ब्रह्म का पररूप उसका अति लौकिक रूप है, जिसकी जगत् के भीतर दिखाई पड़ने वाले शरीरों से तुलना नहीं की जा सकती। वह सर्वव्यापी, सर्व शक्तिवान् अनंत और अचिन्त्य, अनिर्वचनीय रूप है। 'मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय' §—गीता की इस उक्ति से भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने इसी अतिलौकिक परतम रूप की ओर अर्जुन से संकेत किया है। इस पर रूप से परतर दूसरा कोई रूप नहीं होता। यही रूप सम्पूर्ण विश्व पर, अनंत अस्तित्व पर अधिकार रखता है।

---

‡ छन्दोग्य उपनिषद्, अध्याय ६, खंड २, कंडिका १। † डा० बलदेव उपाध्याय, भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ २१०। § गीता, अध्याय ७, श्लोक ७।

ज्ञान तथा बल-प्रधान संकर्षण, ऐश्वर्य तथा वीर्य-प्रधान प्रद्युम्न, शक्ति तथा तेज प्रधान अनिरुद्ध तथा सब गुणों के केन्द्र वासुदेव को मिला कर व्यूहावतार चार प्रकार के माने जाते हैं। संकर्षण जगत् की सृष्टि और पांचरात्र सिद्धान्त का उपदेश करते हैं। प्रद्युम्न पांचरात्र क्रियाओं की शिक्षा देते हैं। अनिरुद्ध कर्म के परिणाम मोक्ष का रहस्य बताते हैं। वासुदेव इन सब कार्यों को एक साथ ही करते रहते हैं‡।

विभव उन अवतारों को कहते हैं जो संसार में व्यक्तिरूप में अवतीर्ण होते हैं। इनकी संख्या ३९ होती है। इनके मुख्य और गौण दो प्रकार होते हैं। मुख्य की उपासना से मुक्ति और गौण की उपासना से भुक्ति (भोग तथा ऐश्वर्य) की प्राप्ति होती है। पद्मनाभ, ध्रुव, त्रिविक्रम, कपिल, मधुसूदन आदि विभवातार हैं†।

पांचरात्र आगम भगवान् की शक्ति को उपासना की मूर्तियों में उतार लेने पर विश्वास करता है। उसके अनुसार विधिपूर्वक प्रतिष्ठित (स्थापित) मूर्ति में भगवान् की शक्ति अवतीर्ण हो कर निवास करती है। "मद्भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।" भागवत में भगवान् का नारद से यह कहना भी इसी बात की पुष्टि करता है। भगवान् को पुकार कर भक्त उसे जहाँ बैठने को कहता है वह उसके प्रेम के लिए वहीं रह कर उसकी भक्तिमयी उपासना को स्वीकार करता रहता है। सांत से अनंत इसी तरह कई रूपों में सम्बद्ध होता रहता है। इस तरह सब मूर्तियाँ अर्चावतार हैं। उनमें भगवान् अवतीर्ण हो जाता है$। इसी सिद्धान्त के आधार पर गोस्वामी जी के साहित्य में भी मूर्तियाँ उपासना के प्रकार के भीतर स्वीकार की गयी हैं। सीता के द्वारा विवाह के पहले गौरी-पूजन तथा राम के द्वारा रामेश्वर की स्थापना और पूजा इत्यादि बहुत से प्रकरण इस बात की पुष्टि करते हैं। तुलसी के राम ने अपने ईश्वर (रामेश्वर) शिव की मूर्ति सेतु पर स्थापित की थी।

यह जड-चेतन के भीतर शक्तिरूप में प्रविष्ट होने वाला परमात्मा का रूप है। यह हर जगह निवास करता है*। भीतर रह कर यही रूप जड-चेतन को नियन्त्रित और संचालित करता रहता है। यह विश्वास वैदिक काल से इसी रूप में चला आ रहा है। गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे अर्जुन तिष्ठति' § कह कर इसी अन्तर्यामी ईश्वर की सूचना देते हैं। गोस्वामी जी भी 'उर प्रेरक रघुवंश विभूषण' × तथा 'यदपि विरज व्यापकु अबिनासी, सबके हृदय निरंतर बासी' और 'जे जानहिं ते जानहुं स्वामी। सगुन अगुन उर-अन्तरजामी' + इत्यादि उक्तियों के द्वारा इसी मत का बहुशः समर्थन करते हैं।

इस सम्प्रदाय के अनुसार चेतन जीव देह, इन्द्रिय, मन, प्राण तथा बुद्धि से अलग स्वभाव रखने वाला, अजड, आनन्दरूप, शाश्वत, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव,

---

‡ डा० बलदेव उपाध्याय, भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ १२४। † भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ १२५। $ भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ १२५। * भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ १२५। § गीता, अध्याय १८, श्लोक ६१। × रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ११२ के बाद। + रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ११ के पहले।

निर्विकार तथा ज्ञान का आश्रय है। इतने गुण जीव के ईश्वर से मिलते हैं। एक गुण उसका अलग होता है। वह बद्ध तथा ईश्वर के अधीन होता है। इस अधीनत्व को विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त शेषत्व कहता है। इसीलिए वह जीव को शेष तथा ईश्वर को शेषी कहता है। 'शेष' (जीव) 'शेषी' (ईश्वर) का अंश है। जिस तरह अग्नि और चिनगारी का सम्बन्ध है उसी तरह का सम्बन्ध ईश्वर और जीव का है। 'ईश्वर अंश जीव अविनासी' ‡ कह कर गोस्वामी जी भी इसी मत का समर्थन करते हैं।

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार अचित् (जडता) के भीतर ज्ञान नहीं रहता और वह परिवर्तन की विभिन्न अवस्थाओं में पहुँचता रहता है। गोस्वामी जी के कागभुशुंडि के शब्द 'पुनि रघुवीरहिं भगति पियारी, माया खलु नर्तकी विचारी †', माया या जडता के इसी परिवर्तनशील रूप की ओर संकेत करते हैं। जिस तरह नर्तकी अपने रूप बदला करती है, उसी तरह माया या जडता भी। गोस्वामी जी ने इस माया को जड भी माना है। उनके भुशुंडि ने गरुड़ को बताया है—"माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ, नारिवर्ग जानहिं सब कोऊ $।", "ज्ञान, विराग, जोग विज्ञाना, ये सब पुरुष सुनहु हरि जाना *" और "अबला अबल सहज जड़ जाती §।" अतः नारी वर्ग की माया को गोस्वामी जी ने नैसर्गिक जडता के धर्म से युक्त अनुभव किया है। इस जडता में बराबर परिवर्तन सम्भव है, पर शाश्वत चैतन्य के अविरल स्वभाव में निवास करने वाली अविरल भक्ति निरन्तर समरस रहती है। उसमें परिवर्तन नहीं होता।

जिस व्यापक अचित् तत्त्व का विवेचन रामानुज के विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के सिद्धान्त-ग्रन्थों में हुआ है, उसके तीन भेद हैं—(१) शुद्ध सत्त्व, (२) मिश्र सत्त्व और (३) सत्त्वशून्य। सत्त्वशून्य अचित् तत्त्व 'काल' है। अतः काल जड तथा सत्त्व (अस्तित्व) शून्य होता है। प्राकृत सृष्टि की सामग्री मिश्र सत्त्व से उत्पन्न होती है। यह अस्तित्व मिश्र सत्त्व इसीलिए कहलाता है कि परमात्मा के इस सत्त्वांश के भीतर रजोगुण भी मिले रहते हैं। इनके साथ मिश्रित हो कर परमात्मा का सत्त्वगुण मिश्र सत्त्व कहलाता है और इसी से त्रिगुणात्मिका सृष्टि उत्पन्न होती है। इसी मिश्र सत्त्व को माया, अविद्या या प्रकृति कहते हैं। इसको भेद दृष्टि से जब तक जीव परमात्मा से अलग देखता रहता है, तब तक वह इससे वासनात्मक दृष्टि के सम्बन्ध से बँध कर सीमित रहता है और जब इसको अद्वैत दृष्टि से परमात्मा के अभिन्न विशेषण की तरह देख लेता है तब उसकी वासना उपासना को स्थान दे देती है। माया का स्थान तब भक्ति ले लेती है। इस अवस्था को प्राप्त करके जीव परमात्मा का रूप हो जाता है। सीमित, विराट् हो जाता है—अपने और अनंत के भीतर एकत्व को देख कर। गोस्वामी जी के वाल्मीकि का कथन 'जाने तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई' × इसी अवस्था का संकेत देता है।

---

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ११६ के बाद। † उत्तरकांड, दोहा ११५ के बाद। $ उत्तरकांड, दोहा ११५ के बाद। * उत्तरकांड, दोहा ११५ के पहले। § वही। × अयोध्याकांड, दोहा १२६ के पहले।

शुद्ध सत्त्व में रजोगुण और तमोगुण का सर्वथा अभाव होता है। इसीलिए उसे शुद्ध सत्त्व कहते हैं। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार, नित्य प्रवाहित होने वाला ज्ञान का आनन्द इसी शुद्ध सत्त्व के माध्यम से उत्पन्न होता है। शुद्ध सत्त्व का जब उदय होता है तब अज्ञान-जन्य रजोगुण और अज्ञानरूप तमोगुण नष्ट हो जाते हैं। इसी अवस्था में परमात्मा का अंतिम रहस्य 'अद्वैत' ज्ञात हो जाता है और साधक ज्ञान के अद्वैत तथा शाश्वत आनन्द में मग्न हो जाता है। यह शुद्ध सत्त्व अनंत है, क्योंकि अज्ञान की अवस्था में उत्पन्न हुए भेदज्ञान के भीतर की खंड कल्पनाओं का सीमा-विधान नष्ट हो कर एकत्व की अनंतता में विलीन हो जाता है। जो अकल (एकत्वरूप) को देख सकता है, वही व्यापक अनंत का दर्शन कर सकता है। 'व्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप' में गोस्वामी जी ने इसी तथ्य को अनावृत्त किया है‡।

शुद्ध सत्त्व के इसी अनंत तेजोरूप द्रव्य से नित्य तथा मुक्त पुरुषों का शरीर बनता है है तथा उनके सत्कर्मों के सत्परिणामों के उपभोग को सम्भव बनाने के लिए स्वर्ग इत्यादि शाश्वत लोकों की सृष्टि होती है। परमात्मा के व्यूहावतार इत्यादि के रूप भी इसी तत्त्व के बने हुए होते हैं। रामानुज के विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के अनुसार शरीर के आधार के विना आत्मा की स्थिति कदापि सम्भव नहीं होती। बद्ध आत्माएँ मिश्र सत्त्व से उत्पन्न हुए शरीर में तथा मुक्त पुरुषों की आत्माएँ शुद्ध सत्त्व से उत्पन्न शरीर में रहती हैं। इस तरह शुद्ध सत्त्व के पवित्र गुणों की उपासना हर अवस्था में, रामानुज के सिद्धान्त के अनुसार, निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। यही गोस्वामी जी की अविरल हरिभक्ति है, जो शुद्ध सात्त्विकता की ही उपासना राम के भीतर करती है। जिस तरह शुद्ध सत्त्व के तेजोरूप द्रव्य से मुक्तात्माओं के तेजोरूप शरीर बनते हैं, उसी तरह शुद्ध सत्त्व की पवित्रता से प्रेरित हो कर उनके सुन्दर कर्म भी स्वार्थ से ऊपर उठ कर विश्व की रक्षा करते हैं। इसी शुद्ध-सत्त्व से संभूत राम के शील की उपासना गोस्वामी जी ने की है, इसी शुद्ध सत्त्व से परमात्मा की शाश्वत शक्ति का ऐश्वर्य, उसके अनिरुद्ध, संकर्षण तथा प्रद्युम्न रूप में जगत् पर व्याप्त रहने वाले और अवतीर्ण होने वाले व्यूहावतारों के ऐश्वर्य, परमात्मा का परमपद—उसका परम स्थान, वह महाकाश जहाँ यह परमधाम स्थित रहता है तथा वैकुण्ठ और अयोध्या इत्यादि इसी शुद्ध सत्त्व के द्रव्य से निर्मित होते हैं।

तमिल भाषा को रामानुज के मत का अनुकूल माध्यम समझने वाला टेंकलइ मत इस शुद्ध सत्त्व को जड मानता है तथा संस्कृत को इस मत का पवित्र माध्यम मानने वाला वडकलै मत इसे चित् (चैतन्ययुक्त) मानता है। गोस्वामी जी वडकलै मत के समर्थक प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनके वाल्मीकि ने राम से कहा है—"चिदानन्दमय देह तुम्हारी, विगत विकार जान अधिकारी"। अतः उनके अनुसार परमात्मा का शरीर चिन्मय, चैतन्ययुक्त तथा आनन्दमय तत्त्व के इसी शुद्ध सत्त्व से बनता है। उनके अनुसार इस अचिन्त्य अवस्था को, जो मिश्र सत्त्व के भौतिक शरीर से बिलकुल अलग है, अधिकारी तथा

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २०५। † अयोध्याकांड, दोहा १२६ के पहले।

रहस्यज्ञ व्यक्ति ही अनुभव कर सकते हैं। इस तरह गोस्वामी जी शुद्ध सत्त्व को चैतन्ययुक्त मानते हैं, जड नहीं।

इस तरह अपनी पूर्व परम्पराओं से आवश्यक तथा अनुकूल सामग्री जुटा कर गोस्वामी जी ने 'मानस' की सृष्टि की है। इस सृष्टि के भीतर उन्होंने शक्ति, शील और सौन्दर्य की अनुपम और सात्त्विक झाँकी राम तथा रामायण के आदर्श पात्रों के अन्य माध्यम से प्रस्तुत की है। पूर्णमानव मर्यादा पुरुषोतम के पूर्ण विकास का प्रथम सोपान बालकांड है, जिसे गोस्वामी जी जीवन के भीतर का विमल सन्तोष कहते हैं। उनके अनुसार जीवन का प्रारम्भ ऐसे कार्यों से होना चाहिए, जिनसे विमल सन्तोष की अनुभूति हो सके। अपने इस विमल सन्तोष की योजना का विस्तार गोस्वामी जी ने बालकांड के मंगलश्लोकों से प्रारम्भ करके अंत तक एक अविरल प्रवाह में प्रवाहित रखा है।

अपने 'मानस' के प्रारम्भ में गोस्वामी जी ने वाणी और विनायक की प्रार्थना की है। सरस्वती और गणेश की इस प्रार्थना में गोस्वामी जी ने लोकमंगल-विधायक अपने आदर्श राजा राम के जीवन में विकसित होने वाले सब बीजों को एक साथ रख कर वाणी और विनायक की उपासना के साथ ही साथ राम की उपासना भी प्रारम्भ कर दी है। विनायक का नाम राम के लिए भी सार्थक है। विनायक का अर्थ विशिष्ट नेता होता है। वह विशिष्ट नेता आदर्श राजा ही है। इस सार्थकता के साथ विनायक शब्द राजा राम के आदर्श स्वरूप की भी व्यंजना करता है। 'यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ‡' के नियम के अनुसार श्रेष्ठ आचरण वाले लोकमंगल-विधायक राम अपने आदर्श शील के द्वारा लोक का आदर्श नेतृत्व करते हैं।

'मानस' के प्रथम मंगलश्लोक में वाणी और विनायक वर्ण, अर्थ, रस, छन्द और मंगल का विधान करने वाले अपने स्वभाव के कारण तुलसी के द्वारा पूजित हुए हैं। वाणी और विनायक दोनों वर्ण, अर्थ, रस, छन्द और मंगल के स्रष्टा माने जाते हैं। वाणी, सरस्वती या बुद्धि के द्वारा मंगल का विधान होता है। आचार्य मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश में काव्य का प्रयोजन बताते हुए लिखा है :—

काव्यं यशसे अर्थकृते, व्यवहार विदे, शिवेतरक्षतये।
सद्यः पर निर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेश युजे †।

काव्य या सरस्वती (वाणी) के द्वारा इन आचार्य ने यश, धन, शील, मंगल, मुक्ति और प्रभावशाली हृदयग्राही उपदेश की सिद्धि का दर्शन किया है। भाव-साधना के द्वारा वाणी परमभाव 'मुक्ति' तक मनुष्य के विकास को पहुँचा देती है। इसी विकास के पथ पर उसे यश, धन, शील और मंगल आप से आप प्राप्त हो जाते हैं। और वाणी ने जीवन के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के माध्यम से आकर्षक उपदेशों की व्यंजना करके दुनिया में असंख्य बार मनुष्य के शील में क्रान्ति उत्पन्न की है। उसका प्रमाण मानव इतिहास के असंख्य पृष्ठ

---

‡ गीता, अध्याय ३, श्लोक २१। † काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, कारिका २।

बराबर देते चले आये हैं। जिस मनुष्य के जीवन में शब्द, अर्थ भाव, 'रस' और संगीत के माधुर्य 'छन्द' की संगति नहीं रहती वह मंगल का दर्शन कभी नहीं कर सकता। अर्थसंगत शब्दों का प्रयोग करने वाला शीलवान् मनुष्य अपनी मधुर वाणी के द्वारा संसार भर के हृदय पर राज्य करता है। वह स्वयं मंगलमय होता है और अपने प्रभाव के कारण मंगल की निरन्तर सृष्टि करता रहता है। गोस्वामी जी के राम का स्वभाव इसी तरह का है। रामायण भर में अपने राम के भीतर इसी शील के पूर्ण विकास की झाँकी गोस्वामी जी ने प्रस्तुत की है। शिवपुत्र विनायक को भी शब्द, अर्थ, भाव, ध्वनि-माधुर्य और मंगल की सिद्धि सहज प्राप्त है। निसर्ग से ही उनका शील इस तरह का है, तभी वे विनायक हैं।

तुलसी के राजा राम के लिए वर्ण, अर्थ, रस, छन्द और मंगल शब्द एक तरह से और अधिक सार्थक हैं। एक आदर्श नायक 'राजा' श्रम, वित्त, शील, स्वातन्त्र्य, और मंगल के एक आदर्श सन्तुलन का विधान करता रहता है। श्रम, वित्त, शील, स्वातन्त्र्य के आदर्श सन्तुलन के पीछे चलने के लिए ही मंगल बना हुआ है। किसी भी समाज में मंगल का विधान बिना इस संतुलन के हो ही नहीं सकता है। इसीलिए गोस्वामी जी ने अपने आदर्श नायक राम के स्वभाव की व्यंजना, वाणी और विनायक की स्तुति के रूप में ही रामायण की सर्वप्रथम पंक्तियों में आरंभ कर दी है। समाज में वर्ण-विभाजन श्रम के ही यथोचित विभाजन के लिए हुआ है। बिना इस विभाजन के किसी भी समाज को वित्त की सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। बिना वित्त की सिद्धि के रस-सिद्धि 'शील का विकास' सम्भव नहीं है। दरिद्रता के भीतर कोई सद्‌गुण स्थिर ही नहीं रह सकता। यह साधारण मनुष्य का स्वभाव है कि सम्पन्नता में ही उसका शील सुरक्षित रहता है। असाधारण के शील का व्याकरण दूसरा होता है, पर यह असाधारणता स्वभावतः ही सर्वसाधारण का स्वभाव नहीं बन सकती। बिना शील के स्वातन्त्र्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती। चरित्रहीन स्वतन्त्र (अपने वश में) कैसे रह सकता है। वह तो दुर्बलताओं की परवशता में पड़ कर परतन्त्र ही रहता है। उसकी दुर्बलताएँ ही उस पर शासन करती रहती हैं और स्वार्थजन्य दुर्बलता के कारण मनुष्य सबसे दब कर हीनभावयुक्त दासता में ही जीवन बिताता रहता है। गोस्वामी जी के राम ने इस दृष्टि से भी वर्ण, अर्थ, रस और छन्द के विनियोग से अपनी प्रजा के भीतर मंगल का विधान किया था। श्रम, वित्त, शील और स्वातन्त्र्य की सिद्धि प्राप्त करके मंगलमय राजा राम के राज्य में प्रत्येक व्यक्ति मंगलमय हो गया था। रामचरितमानस भर में इसी आदर्श श्रमसाधना, आदर्श वित्तसाधना, आदर्शशील भावना तथा आदर्श स्वातन्त्र्यसाधना का विकास गोस्वामी जी ने प्रस्तुत किया है और अपनी इस योजना का पूर्वरूप बालकांड के इस प्रथम सोपान में सृष्टि करके उन्हें विमल सन्तोष का अनुभव हुआ है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चतुर्वर्ग की सिद्धि के विश्वमंगल-विधान की यह आदर्श भारतीय पद्धति तुलसी का आदर्श है। इस आदर्श का पवित्र संकल्प वाणी और विनायक की अपने द्वारा की हुई स्तुति में उन्होंने कर लिया है। विराट् विश्व की रक्षा की धर्म-भावना से परिचालित श्रमभावना ही तुलसी की आदर्श वर्णभावना, श्रमभावना तथा धर्मभावना है। इसी विश्वमंगल विधान के द्वारा प्रेरित विश्वरक्षिका

वित्तभावना गोस्वामी जी की आदर्श वित्त भावना है। विश्व भर के कर्मों को सौन्दर्य प्रदान करने वाली रसभावना या शील भावना ही तुलसी की कामभावना है तथा विश्व भर की स्वतन्त्रता की भावना ही तुलसी की मोक्ष-भावना है। इसी विराट् व्यापिनी जीवन योजना को संभव बना कर एक विश्वाद्वैत में प्रत्येक व्यक्ति को ढाल देने का संकल्प गोस्वामी जी ने इस प्रथम सोपान में किया है तथा इस संकल्प की आंशिक झाँकी को राम के बाल्यकाल में प्राप्त करके उन्होंने विमल सन्तोष का अनुभव किया है। राम चरित के मानस को उन्होंने इसीलिए कलिकलुप विध्वंसक माना है और उसके इस विशेषण को प्रत्येक सोपान के अंत की सूचना देने के समय उन्होंने 'कलिकलुपविध्वंसने रामचरितमानसे' कह कर दुहराया है। विश्वात्मैक्य के आधार पर स्थापित विश्मंगल, कलियुग (कलह, युग) के कलुपों को, संघर्ष के अभिशापों को शान्त करके विरोध-विश्रान्ति को संभव बनाता है।

विमल सन्तोष की सिद्धि प्रदान करने वाली अपनी विश्वमंगल विधान की भावना के आधार पर ही गोस्वामी जी ने इस सोपान के मंगलाचरण के दूसरे श्लोक में भवानी और शंकर की प्रार्थना की है। भवसागर के विराट् रूप भव (शिव या स्रष्टा) की पत्नी भवानी (जगदम्बा) की भावना तुलसी ने विश्व की विराट् रक्षा-भावना को दृष्टि में रख कर की है। शिव का भव रूप उनका स्रष्टा या रक्षक रूप है। उनका हर या रुद्र रूप प्रलयंकर स्वभाव वाला है। शिव के भव रूप की पत्नी भवानी जगद्रक्षक शिव की जगद्रक्षिका शक्ति है। इस भावना के साथ गोस्वामी जी ने मंगलमय या मंगल विधान करने वाले शंकर का ध्यान किया है। 'शं' मंगल और 'कर' करने वाले शिव का रूप ही शंकर स्वरूप है और वह स्वयं शिव या मंगलमय है। भवानी श्रद्धा का रूप है। उसके भीतर शंकर के लिए अटूट श्रद्धा है। श्रद्धा विचारजन्य वह भावना है जिसके भीतर श्रद्धेय के आदर्श कर्मों का निश्चय बराबर बना रहता है। इस निश्चय के साथ श्रद्धेय के प्रति पूज्य बुद्धि मिल कर श्रद्धा की सृष्टि करती है। श्रद्धा वह पवित्र भाव है जो श्रद्धेय से कुछ नहीं चाहता। वह केवल उसकी हृदय से उपासना करना चाहता है। भवानी जीवन की इसी ऊँचाई पर हैं। विश्वमंगलविधान के सद्गुण को शंकर में देख कर ही भवानी उन पर श्रद्धा करती हैं। उनकी श्रद्धा का कोई दूसरा आधार नहीं है। उनके प्रेम की परीक्षा लेने के लिए जब कामदहन के बाद सप्तऋषि आ कर कहते हैं—

कहा हमार न सुनेहु तब नारद के उपदेस।
अब भा झूठ तुम्हार पन जारेउ काम महेस।

तब तुलसी की उमा कहती हैं—

तुम्हरे जान काम अब जारा। अब लगि संभु रहे सविकारा।
हमरे जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी।‡

गोस्वामी जी की उमा, शंकर के इसी रूप को सामने रखती हैं। शंकर विश्वमंगल

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ८९ और उसके बाद।

विधाता हैं। अकाम और अभोगी रह कर, स्वार्थ की वासना से ऊपर उठ कर वे प्रत्येक कार्य सदा विश्वमंगल को ध्यान में रख कर करते हैं। इसीलिए वे शिव हैं। उमा की श्रद्धा शिव के मंगलमय रूप के लिए है, अपने किसी स्वार्थ के लिए नहीं। उनके शिव विश्वरूप भगवान् की सेवा में लीन हो कर योगस्थ हो गये हैं, इसीलिए वे शंकर हैं और उनके इसी रूप की उपासना उमा करती हैं।

सन्देह विभाजक धर्म है और विश्वास संयोजक धर्म। सन्देह संघर्ष और भेद को उत्पन्न करता है तथा विश्वास शान्ति और अभेद की सृष्टि करता है। शान्ति और अभेद की स्थिति ही योग की स्थिति है, जिसमें व्यक्ति अपने को विराट् के साथ जोड़ कर संघर्ष से विरत हो जाता है, शान्ति की प्राप्ति कर लेता है।

विश्व का मंगल-विधान वही साधक कर सकता है जिसके भीतर विश्वास के प्रकाश में शान्ति और अभेद की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। गोस्वामी जी ने शंकर के इसी विश्वासमय स्वरूप का दर्शन करके तथा उमा को श्रद्धास्वरूपिणी भावित करके विमल सन्तोष का अनुभव किया है। विश्वमंगल-विधायक शंकर के प्रति प्रत्येक व्यक्ति के भीतर उमा की श्रद्धा-भावना के समान ही भावना होनी चाहिए। विश्वमंगल-विधायक परमात्मा की सिद्धि भी मनुष्य इसी अभेद के विश्वास और स्वार्थ रहित श्रद्धा के द्वारा ही कर सकता है। स्वान्तःस्थ ईश्वर—विराट् आत्मा—का अभेददर्शन व्यक्ति को श्रद्धास्वरूपिणी उमा और विश्वासरूप शिव की भक्ति के द्वारा ही हो सकता है। उनकी इस भक्ति के द्वारा श्रद्धा और विश्वास के पवित्र भावों को प्राप्त करने के बाद ही निश्छल हृदय में अभेददर्शन उत्पन्न होता है।

श्रद्धा, विश्वास और बोध को ले कर ही जीवन पूर्ण होता है। श्रद्धा के भीतर निवास करने वाली वासनाहीन प्रवृत्ति, विश्वास के भीतर की अभेद भावना से मिल कर पूर्ण के बोध को उत्पन्न करती है। उमा-महेश्वर के ऐक्य के भीतर श्रद्धा और विश्वास एक ही स्थान में निवास करते हैं। इसीलिए इस सोपान के प्रार्थना-श्लोकों के तीसरे श्लोक में शंकर को बोधमय मान कर गोस्वामी जी ने उन्हें अपना गुरु मान लिया है। पूर्णसत्य (परमात्मा) को इसी बोध से देख कर साधक जीवन की पूर्णता प्राप्त करके पूर्ण और वन्दनीय हो जाता है। उसके जीवन की वक्रता 'दुर्बलता' मंगलमयी पूर्णता में परिणत हो जाती है। वक्र चन्द्र की वन्दनीयता शंकर के मस्तक पर पहुँच जाने से ही उत्पन्न होती है। इस संकेत के आधार से गोस्वामी जी एक और सत्य की ओर इंगित करते हुए दिखाई पड़ते हैं। चन्द्र मन का प्रतीक और उस पर प्रभाव डालने वाला भी माना गया है। 'चन्द्रमा मनसोजातः' ‡ विराट् के मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति की गवाही दे कर श्रुति (वेद) ने मन से चन्द्रमा के स्वाभाविक सम्बन्ध की सूचना दी है। शीतल मन, जब शंकर (विश्वमंगल विधान की भावना) और बोध (अभेद की अनासक्तिमय स्वार्थहीनता की स्थिति) को साथ ले कर वक्र (कठोर) होता है, तब उसकी वक्रता भी वन्दनीय हो जाती है। इस

‡ यजुर्वेद, अध्याय ३१, मन्त्र १२।

तरह विश्वमंगल विधान के लिए कुछ दुष्टों का, करुणापूर्ण स्वार्थरहित क्रोध से, शासन करना वन्दनीय स्वभाव है। इसीलिए तुलसी के राम का क्रोध पूज्य है। यह क्रोध बोधमय और शंकर होता है। इस बोधमय शंकर के रूप का नित्यदर्शन गोस्वामी जी प्राप्त करना चाहते हैं और शंकर के इसी रूप को वे अपना गुरु मानते हैं। उनके अनुसार लोकमंगल विधायक को विश्वमंगल विधान के अपने प्रयत्न में शीतल मन को एक ही साथ शीतल और कठोर दोनों रूपों में परिणत करना पड़ता है। एक ही समय वह साधुओं के लिए शीतल और दुष्टों के लिए वक्र होता है। ऐसा लोगमंगल विधान करने वाला, तुलसी का जीवन भी शिवमय हो गया है। भोगों से दूर रह कर, स्वार्थ से अनासक्त रह कर उन्होंने परमार्थमयी लोकमंगल विधान की भावना की सिद्धि की है और उसी का प्रचार किया है। उनके अनुसार द्वितीया के वक्र चन्द्र को शिव ने अपने मस्तक पर इसीलिए धारण कर लिया है कि उसके भीतर जगत् के लिए वर्धिष्णु प्रकाश का सन्देह रहता है। शील की शीतलता के भीतर से उत्पन्न हुए जगन्मंगल विधायक क्रोध की वक्रता को विश्वमंगल का साधक अपने मस्तिष्क का शृंगार समझता है। यह क्रोध उसके बोध का सौन्दर्य होता है। इसीलिए इस सात्त्विक क्रोध की वक्रता को वह अपने हृदय और मस्तिष्क में निरन्तर स्थान दे कर सुरक्षित रखता है। उसके बोध और भावना के भीतर जगन्मंगल विधायक क्रोध की सात्त्विक और शीतल वक्रता निरन्तर निवास करती है। तुलसी के 'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्। यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते'‡ का यही अभिप्राय है। ऐसे पावन क्रोध की वक्रता जगत् में सर्वत्र वन्दनीय होती है।

प्रायः भारत तथा विश्व भर के कवियों की यह प्रथा रही है कि अपने प्रारम्भिक शब्दों में वे प्रबन्ध-काव्यों के विस्तार में विकसित होने वाले आदर्शों का संकेत बीजरूप में रख लिया करते थे। इसी नियम के अनुसार मर्यादा पुरुषोत्तम के भीतर शील के जिस विकास को गोस्वामी जी ने 'मानस' में दिखाया है उसके बीज उन्होंने मंगलाचरण के अपने श्लोकों में रख लिया है। हमें शंकर का आश्रय पा कर वक्र चन्द्र की जगद्वन्द्यता के भीतर रामचन्द्र की जगद्वन्द्यता का स्पष्ट संकेत इस तीसरे श्लोक में अवश्य मिलता है। पूर्ण-शान्तस्वरूप राम तो जगद्वन्द्य हैं ही, पर उनका लोकमंगल-विधायक वक्ररूप भी जगद्वन्द्य है। सात्त्विक क्रोध के तेज की वक्रता को लोकमंगल के लिए अपने साथ रख कर वक्र रामचन्द्र भी सर्वत्र पूजित होते हैं। 'यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते' से निश्चित ही उपर्युक्त ध्वनि होती है।

इस तरह राजा राम का जो आदर्शरूप रामचरितमानस के सब सोपानों में आगे विकसित होने वाला है उसका बीज गोस्वामी जी ने वाणी, विनायक, भवानी और शंकर की प्रार्थना के भीतर सुरक्षित करके रख लिया है। धर्मभावना, अर्थभावना, कामभावना (आदर्श शील या रस की भावना, क्योंकि भारतीय रससिद्धान्त आदर्श शील को ही रस के भीतर स्वीकार करता है, अनुचित अनुभूति उसके अनुसार रसाभास हैं) और मोक्ष-

‡ रामचरितमानस, बालकांड, श्लोक ३।

भावना का सम्यक् निर्देशन करके लोक के भीतर मंगलविधान करने वाले राम आदर्श राजा हैं। अपने हृदय का पूर्ण श्रद्धा से श्रृंगार करके सीता लोकमंगल विधान के कार्य में परम-विश्वासमय राम की सहयोगिनी बनती है। वह उनके शंकररूप से (लोकमंगल विधायक रूप से) भवानी के समान, अपने जगद्रक्षक रूप का तादात्म्य स्थापित किये रहती है। भारतीय नारी के श्रद्धात्मक तथा स्वार्थरहित रूप के साथ सीता. राम की उपासना करती है। ये सब संकेत वाणी, विनायक, भवानी और शंकर की प्रार्थना के भीतर गोस्वामी जी ने आर्थी व्यंजना के रूप में गर्भित कर लिये हैं।

कवीश्वर वाल्मीकि और कपीश्वर हनुमान् की प्रार्थना करते हुए गोस्वामी जी ने कहा है :—

सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ।
वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ। ‡

इस प्रार्थना के द्वारा भी उन्होंने सीताराम के आदर्शों की गहराई की आर्थी व्यंजना की है। गोस्वामी जी के अनुसार जीवन की गहराई में उतरे हुए आदर्श पुरुष ही वन्दनीय नहीं होते अपितु वे लोग भी वन्दनीय हैं जो उस गहराई का उन आदर्श पुरुषों में दर्शन करके मुग्ध होते हैं। पुरुप और नारी के शील पर निखार चढ़ाने के लिए भारतीय धर्मसाधना में परमात्मा भी युगल रूप में संसार में उतारा गया है। गोस्वामी जी केवल राम के गुणों पर निछावर हो जाने वाले वाल्मीकि और हनुमान् की वन्दना नहीं करते। उनकी श्रद्धा इन दो महापुरुषों को इसलिए भी प्राप्त हो रही है कि सीता भी इनकी पूज्य हैं। सीता के आदर्श शील की वड़ी उच्च अनुभूति इनके हृदय में है। अपने आत्म-विलोपन से राम की शक्ति को अमोघता प्रदान करने वाली सीता भी इनकी पूज्य हैं। राम की लोकमगल विधान की योजना की पूर्ति के लिए अपने को मिटा कर सीता ने राम को मर्यादा पुरुषोत्तम बनाया है। रावण की अशोक वाटिका में जीवन की पवित्रता की साधना करती हुई सीता ने राम के गौरव को परिवर्धित किया है। धोवी के सन्देह पर निर्वासन स्वीकार करके भी उन्होंने पुरुषोत्तम राम के त्याग में अपूर्व ज्योति का संचार किया है, अपने पवित्र त्याग और पवित्र वलिदान से। विशुद्ध विज्ञान का यही लक्षण है। विशुद्ध विज्ञान की पवित्र समता को प्राप्त करके आदर्श पुरुप और नारी लोक के शील को पुरुषोत्तमता की मर्यादा की ओर आकृष्ट करने के लिए अपने जीवन को तप और त्याग के आदर्श सौन्दर्य की ज्योति से आलोकित करते हैं। सीता और राम यही करने के लिए जगत् में अवतीर्ण हुए थे। और उनके जीवन की इसी पवित्रता को देख कर वाल्मीकि और हनुमान् विशुद्ध विज्ञान के प्रकाश से विभूषित हो उठे थे। श्रद्धालु और श्रद्धेय के इसी निश्छल सम्वन्ध का दर्शन करके गोस्वामी जी को विमल सन्तोष का अनुभव हुआ था। गोस्वामी जी के विमल सन्तोष का आधार श्रद्धालु और श्रद्धेय के विमल शील की अनुभूति भी है। इसी शील की अनुभूति को प्राप्त करके वाल्मीकि

‡ रामचरितमानस, बालकांड का मंगलाचरण, श्लोक ४।

कवियों के ईश्वर हो गये तथा हनुमान् कपियों के । शील की उच्चतम अनुभूति की भावना करके तथा उससे मुग्ध हो कर वाल्मीकि कविश्रेष्ठ हो गये और हनुमान् कपिश्रेष्ठ ।

जो सन्तोष अपने वैयक्तिक स्वार्थ की सिद्धि से प्राप्त होता है वह वासना से कलुषित हो कर मलिन होता है । जिस सन्तोष में वैयक्तिक वासना की अनुभूति न हो कर विश्व के स्वार्थ की भावना निहित रहती है, वह विमल सन्तोष है । राम और सीता का जीवन विश्वमंगलविधायक जीवन है । इस विराट् जीवन के सौन्दर्य का अनुभव करके गोस्वामी जी को विमल सन्तोष का अनुभव हुआ है । राम और सीता के इसी जीवन को प्रत्येक नर-नारी के भीतर उत्पन्न करके लोकमंगल विधान के अपने कार्य द्वारा वे भी विमल सन्तोष का अनुभव कर लेना चाहते हैं और उनका यह दावा है कि बालकांड के भीतर चित्रित जीवन के सौन्दर्य से जो अपने जीवन को विभूषित कर लेगा उसे विमल सन्तोष की सिद्धि हो जाएगी ।

अशुद्ध विज्ञान केवल अपने स्वार्थ को देखता रहता है, पर विशुद्ध विज्ञान सम्पूर्ण जगत् के सुख को देखता है । राम और सीता के व्यक्तित्व के भीतर लोकमंगल-विधायक आदर्शों के पवित्र सौन्दर्य का दर्शन करने वाले कवीश्वर वाल्मीकि और कपीश्वर हनुमान् विशुद्ध विज्ञान स्वरूप हैं । इसीलिए इस विशुद्ध विज्ञान की वन्दना करके गोस्वामी जी ने विमल सन्तोष का अनुभव किया है ।

रामचरितमानस के इसी मंगलाचरण के प्रकरण में रामवल्लभा सीता के विराट् स्वरूप को अभिवादन करते हुए गोस्वामी जी ने कहा है :—

उद्‌भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ।‡

इस वन्दना में गोस्वामी जी ने अनंत राम की वल्लभा, अनंत शक्तिमती सीता का चित्र प्रस्तुत किया है । विराट् राम की अनंत शक्ति के रूप में सीता सृष्टि, स्थिति और संहार का कार्य किया करती हैं । राम की यह अनंत शक्ति, सीता, उद्भव, स्थिति और संहार के तीनों कार्यों के द्वारा क्लेशों का नाश ही करती रहती है । विराट् जगत् में व्याप्त उसके इन तीनों कार्यों से सबका श्रेय (मंगल) ही होता रहता है । अपने इन तीनों प्रकार के कार्यों को करती हुई वह सर्वश्रेयस्करी है । सृष्टि, स्थिति और संहार की प्रक्रियाओं के भीतर वह जीवों के सत्कर्मों और दुष्कर्मों के पुरस्कार और दण्ड दे कर उन्हें कर्मफल से मुक्त करती जाती है और बद्ध जीवों को भी प्रलय के समय सामूहिक दण्ड दे कर प्रलय की शांति में विश्राम के लिए भेज देती है । अपने सगुणरूप में भी सीता, आदर्शों का उद्‌भव करती है और उनकी रक्षा करके उन्हें स्थित रखती है तथा दुष्टों के संहार का कारण बनती है । राम और सीता का जीवन, लोक के भीतर व्याप्त उनके सब आदर्शों को समाहित और अग्रसर करता रहता है । आदर्शों की रक्षा

‡ रामचरितमानस, बालकांड का मंगलाचरण, श्लोक ५ ।

और पापों के संहार में सीता निरन्तर राम की सहयोगिनी बनी रहती हैं । रावण के विनाश में राम की सहायता करने के अपने कार्य के द्वारा सीता ने अपने जीवन भर के सुखों को तिलांजलि दे दी थी । सीता इसीलिए रामवल्लभा हैं, क्योंकि उन्होंने अपने समग्र अस्तित्व को उपादान बना कर राम के आदर्शों के निर्माण में अखंड योग दिया है । उनके इसी सम्पूर्ण आत्मबलि करने वाले व्यक्तित्व को गोस्वामी जी ने नमस्कार किया है । उनके इसी रूप को ध्यान में ला कर गोस्वामी जी को विमल सन्तोष का अनुभव हुआ है । वे नारी की इसी अनंत पवित्रता के उपासक हैं।

रामायण के मंगलाचरण में तुलसी ने अवतारी राम के भी विराट् स्वरूप को ही नमस्कार किया है । राम के नाम और रूप को स्वीकार करके अवतीर्ण होने वाले विराट् ब्रह्म को नमस्कार करके, निर्गुण और सगुण के समन्वित रूप का ध्यान करके, गोस्वामी जी ने विमल सन्तोष का अनुभव किया है । अपनी सगुणता के भीतर भी उनके राम अपने नरत्व के द्वारा नारायणत्व की उदारता को अपने विश्वजीवन के भीतर निरन्तर सुरक्षित रखते हैं । यह स्थिति भी तुलसी के विमल सन्तोष की आधारभूमि है । सीमा के भीतर रहने वाले मानव को वे असीम आदर्शों के असीम रूप में देखना चाहते थे । अनंत नारायण, राम के मानव रूप के भीतर असीम आदर्शों को ले कर अवतीर्ण हुआ था, इसीलिए गोस्वामी जी ने राम की उपासना की । अपने विराट् राम की प्रार्थना करते हुए उन्होंने कहा है :—

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुराः
यत्सत्वादमृषेव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः
यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्दे ऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् । ‡

बालकांड के मंगलाचरण का यह श्लोक अवतारी राम के उपर्युक्त विराट् रूप का प्रतिपादन करता है । जिस विराट् की माया ब्रह्म और शिव की भी सृष्टि कर उनका नियन्त्रण करती रहती है, जिसका अस्तित्व समस्त जगत् में व्याप्त है, पर अज्ञानी जीव उसे न पहचान कर जगत् को ही देखता रहता है, ठीक उसी तरह जिस तरह रस्सी को न पहचान कर अन्धकार में देखने वाला, भ्रम से उसे सर्प समझ लेता है, जिसके चरणों का सहारा संसार-सागर को पार करने वाले के लिए एकमात्र नौका का काम करता है, अशेष कारणों के भी कारण उसी रामरूपी नारायण की उपासना गोस्वामी जी करते हैं।

उनके राम का सगुण रूप भी अपनी इन सब शक्तियों के साथ अवतीर्ण हुआ है । तुलसी के राम के सगुण रूप की उपासना भी ब्रह्मा, शिव तथा वेद इत्यादि देवशक्तियाँ करती हैं और उसकी अनंत शक्ति का अनुभव करके आश्चर्यचकित रहती हैं । उसके मायामय रूप को देख कर भ्रम के कारण रावण इत्यादि उसे मनुष्य ही समझते रहते हैं । दशरथ, कौसल्या, वाल्मीकि, भरत, लक्ष्मण, सुग्रीव, हनुमान् तथा विभीषण इत्यादि

‡ रामचरितमानस, बालकांड का मंगलाचरण, श्लोक ६ ।

उसके चरणों की नौका का सहारा ले कर स्वार्थमय संसार-सागर को पार करके विराट् शील के मुक्तिलोक को प्राप्त कर लेते हैं। विराट् के इसी मर्यादा पुरुषोत्तम रूप की वन्दना करके गोस्वामी जी को विमल सन्तोष का अनुभव हुआ है।

विमल सन्तोष की यह व्याप्ति गोस्वामी जी को एक लम्बी परम्परा के भीतर मिलने वाले राम के रूप से प्राप्त हुई है।

नानापुराण निगम और शास्त्रों में शील का जो आदर्श रूप गोस्वामी जी ने प्राप्त किया, भारतीय भावधारा और विचारधारा के प्रवाह में सत्वगुण की धारा के गम्भीर प्रवाह के साथ वहने वाली त्रिगुण की जिस पवित्र त्रिपथगा का दर्शन उन्हें हुआ, इस लम्बी परम्परा के भीतर राम के रूप की जो झाँकियाँ उन्हें दिखाई पड़ीं तथा वाल्मीकि की रामायण में राम के कर्मसौन्दर्य और रूपसौन्दर्य की जिस पराकोटि का दर्शन उन्होंने किया, उन सबकी समाहित साधना से उन्होंने अपने राम के व्यक्तित्व के भीतर शक्ति, शील और सौन्दर्य के व्यापक विकास का विधान करके एक अनुपम मर्यादा पुरुषोत्तम की सृष्टि की। लोकजीवन के भीतर भी आदर्श का सौन्दर्य गोस्वामी जी को जहाँ-जहाँ दिखाई पड़ा वहाँ-वहाँ से उसका संकलन और संचयन करके उससे भी उन्होंने अपने मर्यादापुरुषोत्तम के व्यक्तित्व की श्रीवृद्धि की है। उनके 'क्वचिदन्यतोऽपि' ‡ का यह भी अर्थ हो सकता है। विश्वमानव की विराट् व्याप्ति के भीतर राम और सीता के व्यक्तित्व का सौन्दर्य-विधान करने के उपयुक्त शील और सौन्दर्य की सामग्री गोस्वामी जी को जहाँ कहीं भी मिली वहाँ से उन्होंने उसका संग्रह अवश्य किया। गोस्वामी जी के जीवन की कुछ घटनाएँ ऐसी हैं जो इस वात की साक्षी देती हैं कि तुलसी के साधक ने राम और सीता को खोजते हुए कई पुरुषों और स्त्रियों के दर्शन पा कर उनके शील के माधुर्य के आलोक से आलोकित हो अपने को धन्य माना था। आदर्श के दर्शन की अपनी इस प्रवृत्ति के कारण भी गोस्वामी जी ने 'सियाराममय सब जग' † की कामना और भावना की है। वे राम और सीता के शील को प्रत्येक पुरुष और स्त्री में देख लेना चाहते थे। इस कार्य के लिए प्रत्येक स्त्री-पुरुष में उनको शील की जितनी आवश्यक वातें देखने की इच्छा थी, उन सबको अपनी पूर्व-परम्पराओं तथा लोक के भीतर दिखाई पड़ने वाले उच्च शील के भीतर से उन्होंने चुन-चुन कर एकत्रित किया और शील तथा सौन्दर्य के इस कोष से उन्होंने अपने सीता और राम का शृंगार कर दिया।

कला के लक्ष्य को कलाकार तक ही सीमित कर लेने की प्रवृत्ति एक समय चल पड़ी थी और यह माना जाने लगा था कि अपने आनन्द के लिए ही कलाकार कला को अभिव्यक्त करता है। इस सिद्धान्त को इसकी पूरी व्याप्ति के साथ समझा जाए तब तो कोई हानि नहीं, पर केवल अक्षरार्थ तक ही अपने चिन्तन को सीमित कर लेने वालों ने कला और साहित्य की व्याप्ति को ही खंडित कर डाला। साहित्य के 'सहित' अंश के उस

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड का मंगलाचरण, श्लोक ७। † रामचरित मानस, बालकांड, दोहा ७ के बाद।

अर्थ को भी उन्होंने ध्यान में न रखा जो साहित्य को विश्व भर से सम्बद्ध कर देता है तथा वे साहित्य के उस अर्थ को भी भूल गये जो सम्पूर्ण विश्व की हितभावना को अपने साथ निरन्तर आबद्ध किये रहता है।

भारतीय दृष्टि, कवि और कलाकार उसी को मानती है जिसका हृदय नारायण का विश्वव्यापी हृदय हो जाए, तथा कला और साहित्य को वह पूर्ण जीवित तभी तक मानती है जब तक वह प्राकृत जन को अतिप्राकृत अवस्था तक पहुँचाने के लिए मर्यादा पुरुषोत्तम के शील के आलोक को विश्व भर में फैलाने का प्रयास करती रहती है। कवि की अन्तर्वेदना लोकजीवन के भीतर शील का ह्रास देख कर उसके मर्म को पीडित करने लगती है, तब वह विश्व-जीवन के भीतर सीताराम को उत्पन्न करके स्वान्तःसुख का अनुभव करता है। गोस्वामी जी का स्वान्तःसुख यही विश्वसुख है। महात्मा विश्वात्मा को सुखी बनाने का प्रयास करता रहता है और उसी प्रयास में उसे विमल सन्तोष की अनुभूति होती रहती है।

संस्कृत की दीर्घकाल-व्यापिनी परम्परा जब लोकजीवन से विच्छिन्न हो गयी तब रामकथा भी स्वाभाविक रूप से लोकजीवन के भीतर उस सरिता की तरह नहीं प्रवाहित हो रही थी, जिसमें जो जब चाहे तभी आदर्श का जल पी कर अपने संतप्त हृदय को शीतल बना सके। गोस्वामी जी का हृदय इस अवस्था को देख कर भी पीडित हुआ था। कुंठा की इस स्थिति को समाप्त करने के लिए भी उन्होंने 'रघुनाथ गाथा' को 'अतिमंजुल भाषा निबन्ध'‡ का रूप दिया और रामकथा की सूखी हुई सरिता द्वार-द्वार पर प्रवाहित होने लगी। इसीलिए गोस्वामी जी ने यह संकल्प किया था—"भाषाबन्ध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई†" राम के शील को भाषा के द्वारा सर्वसुलभ बना कर ही गोस्वामी जी ने विमल सन्तोष का अनुभव किया। अपनी इसी सार्थक प्रवृत्ति की सूचना गोस्वामी जी ने दोहावली में 'का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए साँच, काम जु आवै कामरी, का लै करै कुमाच§।' से दी है। वे राम के शील के लिए सच्चे प्रेम का व्यापक प्रचार करना चाहते थे। उन्होंने यह अनुभव किया कि इस प्रेम की व्यापकता के प्रचार के लिए एक युग में संस्कृत उपयुक्त माध्यम थी। उनके युग में स्थिति बदल गयी थी। संस्कृत समझने वाले कम रह गये थे। इसीलिए प्रेम के प्रचार के लिए उन्हें जनवाणी अवधी अधिक उपयुक्त जान पड़ी। भाषा और संस्कृत में उनके संत हृदय को कोई अन्तर नहीं प्रतीत हुआ। संस्कृत को अपेक्षाकृत अधिक सम्मान ही उन्होंने दिया, उसे कुमाच 'रेशमी वस्त्र' कह कर। पर दुर्दिन में रेशमी वस्त्र की अपेक्षा कम्बल ही अधिक उपयोगी होता है। वर्षा से वही रक्षा कर सकता है। भारत के उस दुर्दिन में अवधी और ब्रजभाषा की कामरी से ही राम-प्रेम लोगों के हृदय में रक्षित रह सकता था। संस्कृत का रेशमी वस्त्र महँगा हो गया था। उसके माध्यम से रामकथा का रसास्वाद लेना अर्थसाध्य था। इसीलिए युगवाणी अवधी और ब्रजभाषा का चुनाव गोस्वामी जी ने राम-प्रेम का प्रचार

‡ रामचरितमानस, बालकांड का मंगलाचरण, श्लोक ७। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३० के बाद। § तुलसी दोहावली, दोहा ५७२।

करने के लिए किया। संस्कृत के ह्रास से राम-प्रेम का प्रचार जिस सीमित अवस्था में पड़ा हुआ था उसे देख कर गोस्वामी जी सन्तप्त हो रहे थे। अपने इस ताप को स्वान्तःसुख और विमल सन्तोष के रूप में परिवर्तित कर लेने के लिए, उन्होंने जनवाणियों का सहारा लिया। इस भाषा-चुनाव के पीछे राम-प्रेम का प्रचार करने की उनके हृदय की व्याकुलता ही छिपी है। अपनी इस प्रवृत्ति के द्वारा सीताराम को हज़ारों स्त्री-पुरुषों के हृदय तक पहुँचा कर उन्होंने स्वान्त.सुख और विमल सन्तोष का अनुभव किया। रामप्रेम की सरिता जब जनवाणी के प्रवाह में प्रवाहित होने लगी तब लोकवाणी भी उन्हें 'अति मंजुल' अनुभव होने लगी।

तुलसी की भक्ति का स्वरूप स्वार्थ की वासना के अभाव से बनता है और इसमें विश्वहित-साधना ही तुलसी के अनुसार परम मंगलमय 'सुभ गुन' है और उनके अनुसार बुद्धिमान् मनुष्य वही है जो मार्ग की बाधाओं को लाँघता हुआ विश्वहितसाधना तक पहुँचने का प्रयत्न करता रहे। ऐसा मनुष्य अपने क्रोध इत्यादि की कठोर वृत्तियों को भी मंगल 'शिव' का अनुगामी बना सकता है। उन्होंने गणेश की वन्दना जब भाषा में की है तब उन्हें इन्हीं गुणों से देखा है। वे 'बुद्धिरासि' तथा 'सुभ गुन सदन' हैं, क्योंकि उन्होंने सब उग्र स्वभाव वाले गुणों को, उचित मार्गदर्शन के द्वारा, शिव का अनुचर बना दिया है। विश्वमंगल-विधान के कार्य में अपने पिता शिव की सहायता गणेश ने सब उग्र स्वभाव वाली शक्तियों को मंगलोन्मुखी बना कर की। उन सब को शिव का गण बना दिया। इसीलिए वे, गणेश 'गणों पर शासन करने वाले' या गणनायक 'गणों के नेता' कहलाये ‡। अपने मर्यादा-पुरुषोतम के भीतर भी गोस्वामी जी ने इसी मंगलमयी शिव प्रवृत्ति का दर्शन किया है। उनके राम भी राक्षसी प्रवृत्तियों का दमन कर अपने शील के प्रभाव से उन्हें दैवी प्रकृति की ओर मोड़ देने में पूर्ण सफल हुए हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम के स्वभाव में भी हृदय की सब कठोर वृत्तियाँ सत्त्व से परिचालित हो कर सात्त्विक और कोमल हो गयी हैं। राम में, शिव में, गणनायक में हमें स्वार्थ की वासना के दर्शन ही नहीं होते। गोस्वामी जी के 'गननायक' 'दयाल' और 'सकल-कलि-मल-दहन' हैं †। कलि के मल का स्वभाव ही स्वार्थजन्य लोभ है। उस स्वार्थजन्य लोभ को मंगलकरण गणेश भस्म कर देते हैं।

गोस्वामी जी ने राम के मूलाधिदेवस्वरूप नारायण की वन्दना करने के समय भी उन्हें 'सदा छीरसागर-सयन' कहा है। छीरसागर अनंत धवलिमा का प्रतीक भी है। नारायण का स्वरूप अनंत पवित्रता की अनंत सात्त्विकता का उज्ज्वल स्वरूप है। विश्व-पालक नारायण अनंत सात्त्विकता का केन्द्र है। इसीलिए गोस्वामी जी ने उसके 'सदा-छीर-सागर-सयन' रूप का ध्यान किया है। विश्वमंगलविधान करने वाली शक्ति स्वार्थ से अस्पृष्ट रहती है। गोस्वामी जी का ध्यान इसी प्रकार के अनासक्ति योग की तरफ़ निरन्तर उन्मुख रहता है, इसीलिए नारायण के उस रूप का उन्होंने ध्यान किया है जो सदा सात्त्विकता के अनासक्ति योग का परमोच्च शिखर है। इसी अनासक्ति की पराकोटि

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, सोरठा १। † रामचरितमानस, बालकांड, सोरठा २।

को अपने हृदय में सदा के लिए बिठा लेने को ही गोस्वामी जी ने कहा है—"करउ सो मम उर धाम सदा छीर-सागर-सयन ‡।" इस प्रकार नारायण में भी स्वार्थ की वासना के अभाव की ही वन्दना गोस्वामी जी ने की है।

नर के भी नारायणरूप के द्वारा प्रस्तुत होने वाला यह विश्वमंगल विधान, साधक की करुणा और विश्वप्रेम तथा अपने स्वार्थों के प्रति अनासक्ति से होता है। इसीलिए विश्व-शक्तियों से गोस्वामी जी ने अपने लिए उनका अनुग्रह, उनकी कृपा, दया और उनका 'नेह' ही माँगा है तथा उनके स्वरूप के भीतर इन अपेक्षित गुणों की अनंतता का उन्होंने दर्शन किया है। वे 'बुद्धिरासि', 'गननायक' से भी 'करउ अनुग्रह' ही कहते हैं, क्योंकि उनकी कृपा से मूक भी वाचाल हो जाता है तथा पंगु भी 'गहन गिरिवर' पर चढ़ जाता है। उनका यह आदर्श 'गननायक', 'दयाल' है †। उनके शिव भी 'करुना अयन' विश्ववेदना के निवास स्थल तथा 'मयन मर्दन' मदन, काम या आसक्तिजन्य इच्छा को मर्दित कर देने वाले या अपनी स्वार्थमयी वासनाओं के प्रति परम विरागी हैं। उन्हें 'दीन पर नेह' रहता है, इसीलिए उनसे भी गोस्वामी जी 'करउ कृपा' ही कहते हैं§। क्योंकि उनकी कृपा साधक को उन्हीं के समान दयालु बना देती है।

गोस्वामी जी के द्वारा अपने गुरु नरहरिदास में भी करुणा और अनासक्ति का ही दर्शन किया गया है। उनमें भी गोस्वामी जी ने अनासक्त और कृपामय लोकमंगल साधक का ही रूप देखा है। नर के रूप में रहते हुए भी वे 'नररूपहरि' हैं। उनके नर का रूप विकसित हो कर नारायणत्व की अनंत उदारता को प्राप्त कर चुका है। इसीलिए तो उन्होंने आश्रयहीन बालक रामबोला को महामहिम तुलसीदास के रूप में परिवर्तित कर दिया। अपने स्वार्थों के छोटे संसार में घिरे हुए व्यक्ति के हृदय में सीमित करुणा अपने विशेष लोगों के लिए होता है, पर गोस्वामी जी के गुरु नरहरिदास नर से नारायण हो कर 'कृपासिन्धु' हो गये हैं। विश्वमंगल विधायक को अपने भीतर अनंतगामिनी कृपा की सिद्धि करके कृपासिन्धु हो जाना पड़ता है, अन्यथा सीमित कृपा से वह विश्वमंगल विधान कैसे कर सकेगा। इस नारायणस्वरूप नर के भीतर क्रियाशक्ति से सम्बद्ध हो कर वाणी सर्वथा सत्यानुगामिनी और अमोघ हो जाती है। कहनी और करनी की यह एकाकारता विश्वमंगल विधायक साधक के शब्दों को अमोघशक्ति-सम्पन्न मंत्र के रूप से परिणत कर देती है। इसीलिए गोस्वामी जी के गुरु विश्वमंगल नरहरिदास के 'वचन' 'महामोह-तम पुंज' के लिए 'रवि कर निकर' के समान हैं। उनकी वाणी की अमोघ शक्ति सूर्य की किरणों के समूह 'रवि कर निकर' के समान है, जिसके सामने अपार अज्ञान के भी अंधकार की राशि (महामोह तम पुंज) विलीन हो जाती है *। नारायण के इसी नर रूप को देख कर गोस्वामी जी को विमल सन्तोष का अनुभव होता है। उनके राम भी नारायण के वही

‡ रामचरितमानस, बालकांड, सोरठा ३। † रामचरितमानस, बालकांड, सोरठा १-२।
§ रामचरितमानस, बालकांड, सोरठा ३-४। * रामचरितमानस, बालकांड, सोरठा ५।

नर रूप हैं, जिनके भीतर विश्वमंगलविधान की भावना प्रत्येक क्षण में निवास करती है। जिसने अपने नारायण रूप की अनंतता को विश्वमंगलविधान के लिए नररूप में सीमित कर लेने में भी संकोच का अनुभव नहीं किया है। अपने गुरु के भीतर भी राम के इसी आदर्श का गोस्वामी जी ने दर्शन किया है और उस गुरु के चरणों में नतमस्तक हो कर वे स्वयं महान् हो गये हैं, आदर्श के प्रति अपने इस स्नेह के कारण।

गोस्वामी जी के अनुसार स्वार्थहीन अनासक्ति की उत्पत्ति प्रणति या दीनता से होती है। प्रणति, विनय या दीनता भक्त के भीतर निरभिमानता की जननी बनती है। निरभिमानता के भीतर से स्वार्थहीनता की अनासक्ति उत्पन्न होती है। जब तक अपने व्यक्तित्व का, अहं का ज्ञान मनुष्य के भीतर रहता है तब तक इस अहं के साथ 'मम' की चेतना भी बनी रहती है। यह सीमित 'मम' उसके भीतर 'स्व' की आवश्यकता (ममता या स्वार्थ) को उत्पन्न करके उसके व्यक्तित्व को सीमित करता रहता है। ऐसी स्थिति में यह विश्वमंगल विधायक महामानव नहीं बन सकता। अतः इसी महामानवत्व की साधना के लिए भक्ति-साधक को परम विनम्र होना पड़ता है। गुरु के चरणों पर जितना अधिक झुकना सम्भव होता है, वह उतना अधिक झुक कर ही सन्तुष्ट होता है। गुरु के चरणों में सबसे अधिक झुकने की अवस्था वही है जिसमें चरणों की धूल का दर्शन करके भक्त अपने सब अभिमान को विसर्जित कर दे। इसी दीनता और प्रणति की अवस्था को प्राप्त करके गोस्वामी जी ने 'बंदउं गुरु-पद-पदुम-परागा' कहा है। उन्होंने गुरु के चरणकमलों के पराग की वन्दना की है। प्रणति की अंतिम अवस्था उन्हें प्राप्त हो गयी है। इस निरभिमानता के दैन्य के भीतर उन्हें जहाँ-जहाँ राम की पवित्रता और उनके गौरव का कुछ भी लेश रहता है. दिखाई पड़ जाता है। अभिमानी मनुष्य केवल अपने गुणों को देखता है और दूसरों के केवल दोषों को। निरभिमानी इसके विपरीत अपने केवल दोषों को देखता है और दूसरों के गुणों को ही। उसे यह सुरुचि, सुन्दर शील और कोमल अनुराग 'सुरुचि, सुवास, सरस अनुरागा' गुरु के चरणकमलों के पराग से ही प्राप्त होता है, क्योंकि कमल के पराग में सुरुचि 'सुन्दर रूप', सुवास 'सुन्दर गंध' तथा सरस अनुराग 'कोमल लाली' रहती है। इस तरह प्रणति की निरभिमानतापूर्ण गुरुभक्ति के भीतर साधक को शील की इस ऊँचाई की सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

गोस्वामी जी के अनुसार यह निरभिमानता उस अमृत की जड़ी के सुन्दर चूर्ण के समान है, जिससे भवरोग का सम्पूर्ण परिवार नष्ट हो जाता है—'अमिअ मूरिमय चूरन चारू, समन सकल-भव-रुज-परिवारू ‡'। निरभिमानता प्रदान करने वाली गुरु के चरण-कमलों की धूल स्वार्थ की वासना से उत्पन्न, स्वभाव के सब दोषों को नष्ट कर देती है।

गोस्वामी जी इसी विश्वमंगलविधायिनी स्वार्थहीन निरभिमानता को शिव का स्वरूप मानते हैं।

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १ के पहले।

विश्वमंगल का विधान करने वाले सुकृत रूपी शिव के शरीर पर यही उज्ज्वल भस्म लगा रहता है। इससे कोमल और मंगलमय आनन्द की सृष्टि होती है—'सुकृत-संभु-तन बिमल विभूती। मंजुल-मंगल-मोद-प्रसूती' ‡। निरभिमानता के आलोक में कर्त्तव्य-बुद्धि के द्वारा जिस सुकृतमय शील का विकास व्यक्ति के भीतर होता है, वही मंगलविधायक 'संभु' है और आदर्श शील का यह शिव निरभिमानता प्रदान करने वाली, गुरु के चरणकमलों की धूल को अपने शरीर का शृंगार बना लेता है। निरभिमानता शील का शृंगार है और जिस व्यक्ति के शील में निरभिमानता रहती है वही विश्ववेदना और विश्वप्रेम के आलोक में कोमल और मंगलमय आनन्द की सृष्टि कर सकता है। स्वार्थजन्य प्रवृत्तियाँ शिव नहीं बनतीं। उनसे संघर्ष और अमंगल की सृष्टि होती है। वैयक्तिक स्वार्थ की प्रेरणा से मनुष्य केवल सीमित 'शिव' मंगल की सृष्टि कर सकता है। इस मंगल से उत्पन्न आनन्द कुछ लोगों के लिए ही कोमल होता है तथा औरों के लिए कठोर हो जाता है। स्वार्थपर बुद्धि दूसरों के मंगल और आनन्द का संहार करके अपने कुछ लोगों के मंगल और आनन्द की ही सृष्टि कर सकती है। दूसरों के आनन्द के संहार की कठोरता के भीतर से उत्पन्न यह सीमित आनन्द भी कठोर ही होता है, मंजुल नहीं हो सकता। पर वैयक्तिक स्वार्थ के ऊपर उठा हुआ साधक विराट और अनंत 'शिव' मंगल की सृष्टि करता रहता है और विश्ववेदना तथा विश्वप्रेम की अनुभूति के मूल से उत्पन्न यह अनंत मंगल-विश्वमंगल-गोस्वामी जी के अनुसार 'मंजुल' कोमल होता है। इसीलिए गोस्वामी जी के शिव का स्वभाव परम मंगलमय तथा कोमल है। स्वार्थ के ऊपर उठ कर इन शिव ने अनंत विराट् के साथ अपने को शाश्वत काल के लिए जोड़ लिया है। इसीलिए गोस्वामी जी की उमा कहती हैं—"हमरे जान सदा शिव जोगी †"। यह शिव निरन्तर विश्वमंगल का विधान करता हुआ कोमल आनन्द की सृष्टि करता रहता है।

गोस्वामी जी के अनुसार स्वार्थहीन निरभिमानता सब आदर्श गुणों की जननी है। राम के आदर्श चरित्र के शिल्पी गोस्वामी जी के साधक हृदय की दृष्टि में आदर्श गुणों के आकर्षक चित्र अनवरत प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। 'गुरु-पद-पदुम-पराग' के भीतर से सब आदर्श गुणों की सृष्टि को वे सम्भव मानते हैं। 'जन-मन-मंजु-मुकुर-मल-हरनी, किये तिलकु गुन-गन बस करनी $।' जिस तरह दर्पण कोमल पराग से रगड़ देने के बाद निर्मल हो कर चमक उठता है, उसी तरह गुरु के चरणकमलों के पराग से मनुष्य के मन पर से स्वार्थजन्य वासनाओं की मलिनता नष्ट हो जाती है। शिष्य नतमस्तक हो कर गुरु के चरणों की धूल का तिलक जब अपने मस्तक पर लगा लेता है, तब उसकी निरभिमानता सब आदर्श गुणों के समूहों को अपने वश में कर लेती है। इस तरह स्वार्थ को सब पापों और बुराइयों की जड़ और निरभिमानता को सब आदर्श गुणों का उद्गम स्थान गोस्वामी जी ने माना है।

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १ के पहले। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ८९ के बाद। $ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १ के पहले।

स्वार्थहीन निरभिमानता ही विश्व को अपने भीतर बिठा लेने वाली दिव्य दृष्टि है। अभिमान को खो कर जिन लोगों की आँखें नत हो कर गुरु क पदनखों का दर्शन करती रहती हैं और उन नखों की ज्योति का स्मरण, जिनके हृदय बराबर करते रहते हैं, उन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है—'श्रीगुरुपदनख-मनिगन-जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती' ‡। गोस्वामी जी की यह दिव्य दृष्टि कोई ऐसी दृष्टि नहीं है, जिसका सम्बन्ध किसी आश्चर्यजनक वस्तु से हो और जो जीवन से कोई सम्बन्ध ही न रखती हो। गुरु के भीतर शील की जो गरिमा होती है उसी के सम्मुख आदर्श शिष्य नतमस्तक होता है। गुरु के पद-नखों को अपनी आँखों में बिठा लेने से ज्ञान की मणि (ज्योति) शिष्य को प्राप्त हो जाती है। यह ज्योति कलुप-विहीन तथा निर्मल होती है। साधारण दीपक की ज्योति के साथ अंजन की कालिमा भी लगी रहती है, पर मणि की ज्योति कज्जल की कालिमा से अस्पृष्ट रहती है। इसी अकलुप निर्मल ज्ञानज्योति की प्राप्ति निरहंकार प्रणति में होती है, इसीलिए गोस्वामी जी ने गुरु के नखों की ज्योति को 'मनि-गनजोती' कहा है। गुरु की कृपा से उसकी निरभिमानता शिष्य को भी प्राप्त हो जाती है, तभी वह हृदय की भीतरी दिव्य दृष्टि प्राप्त कर लेता है। अज्ञान के कारण जब मनुष्य स्वार्थबद्ध रहता है तब उसकी दृष्टि साधारण लौकिक या व्यावहारिक दृष्टि रहती है। उस दृष्टि में संकीर्णता रहती है। पर ज्ञान के प्रकाश में जो हृदय की भीतरी दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है, वह अलौकिक, स्वर्गीय और उदार होती है। उसमें स्वार्थ की संकीर्णता के स्थान में विश्वप्रेम, विश्ववेदना तथा विश्वमंगल विधान की परमार्थमय आध्यात्मिक चेतना उत्पन्न हो जाती है। वह दृष्टि केवल अपने को न देख कर सम्पूर्ण जगत् को देखने लगती है। उसमें 'स्व' के स्थान में 'सर्व' बैठ जाता है। वह स्वार्थ के ऊपर उठ कर सर्वार्थ को देखने लगती है। इस दृष्टि को प्राप्त करके मनुष्य के जन्म लेने का लक्ष्य पूर्ण हो जाता है। उसके भीतर पूर्ण मानवता, राम या स्वर्गीय जीवन उत्पन्न हो जाता है। स्वार्थमुक्त इस अनासक्ति को गोस्वामी जी परम प्रकाश मानते हैं। इस परम प्रकाश के सम्मुख मोह का अंधकार नष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति को गोस्वामी जी मानव के विकास की परम-भाग्यमयी स्थिति मानते हैं। 'दलन मोहतम सो सुप्रकासू, बड़े भाग उर आवइ जासू' †। से वे इसी सत्य को प्रत्येक मानव तक पहुँचा कर उसे पूर्ण विकसित देखना चाहते हैं। उनके विमल सन्तोप का यही स्वरूप है।

विश्वमंगल का दर्शन करने वाली दिव्यदृष्टि को गोस्वामी जी मानव के द्वारा प्राप्य सर्वोत्तम वरदान समझते हैं। गोस्वामी जी यह मानते हैं कि बड़े भाग्य से जिसे यह उदार दिव्यदृष्टि प्राप्त हो जाती है उसके हृदय के भीतर अकलुष नेत्र खुल जाते हैं और जगत् की

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १ के पहले। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १ के पहले।

भेदज्ञानजनित स्वार्थमयी दृष्टि से उत्पन्न अज्ञान की रात्रि में मिलने वाले दुःख और दोष मिट जाते हैं। वह स्वार्थ के सीमित आनन्द को लाँघ कर सर्वार्थ के परमानन्द में खो जाता है। उनके उघरहिं विमल विलोचन वे ही के, मिटहिं दोष दुख भव रजनी के' का अभिप्राय यही है। स्वार्थ का दर्शन करने वाले नेत्र वासना से मलिन होते हैं तथा सर्वार्थ के दर्शन को प्राप्त कर लेने पर वे ही नेत्र ज्ञान की विमलता प्राप्त करके विमल हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य के शील में दोष लेशमात्र भी अवशिष्ट नहीं रह जाता। उसकी इसी विमल विलोचनत्व की अकलुष स्थिति को देख कर गोस्वामी जी को विमल सन्तोष होता है और उनके अनुसार, जिसके विलोचन इस तरह स्वार्थ की वासना से मुक्त हो कर विमल हो जाते हैं उसे भी सर्वार्थदर्शन की इस स्थिति में विमल सन्तोष का अनुभव होता है। गोस्वामी जी के अनुसार स्वार्थ असन्तोष को रक्षित रखता है और सर्वार्थ असन्तोष को समाप्त करके अनंत सन्तोष या वासना से विरहित विमल सन्तोष को जन्म देता है।

गोस्वामी जी के अनुसार विश्वप्रेम को देख लेने वाली यही दिव्य दृष्टि विश्वप्रेमी मर्यादा पुरुषोत्तम राम के मणि के समान उज्ज्वल चरितों को देख सकती है। पवित्रता का दर्शन पवित्र ही कर सकता है। उसकी कल्पना तक करने की शक्ति अपवित्र हृदय में नहीं होती। दिव्य दृष्टि की पवित्रता जिस हृदय को प्राप्त हो जाती है वह राम के पवित्र शील को मानवता के भीतर से खोज-खोज कर देख लेता है। नाना पुराण, निगम, आगम तथा लोक के भीतर मिलने वाले राम के सब आदर्श उसे चारों तरफ़ बिखरे हुए दिखाई पड़ने लगते हैं। राम का स्पष्ट संकेत देने वाले पुराण, निगम और आगम राम के शील के ज्ञात कोष हैं तथा दूसरे आदर्श पात्रों और व्यक्तियों के शील के भीतर राम की ही मर्यादा पुरुषोत्तमता का विकास चित्रित करने वाले पुराण इत्यादि उनके आदर्शों की गुप्त खान हैं। इसी तरह लोक के भीतर मनुष्यों के शील में भी छिपे हुए राम को खोजने का प्रयत्न गोस्वामी जी ने गुरु से प्राप्त दिव्य दृष्टि द्वारा किया है। विश्वप्रेम से आप्लावित गोस्वामी जी की यह दिव्य दृष्टि लोकजीवन के भीतर विकसित होने वाले, मर्यादा पुरुषोत्तम राम के शील को देख कर उन्हें आत्मविभोर करती है। मर्यादा पुरुषोत्तम के आदर्श चरित्र को देखने वाली इसी दिव्य दृष्टि ने गोस्वामी जी के हृदय में 'रामचरित मानस' की अनुभूति उत्पन्न की है। आदर्श साहित्यकार और स्रष्टा के रूप में उनकी इस स्थिति का संकेत उपर्युक्त उद्धरणों तथा उनकी 'सूझहिं रामचरित मनि मानिक, गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक' ‡। पंक्ति से मिलता है।

गोस्वामी जी गौरवमय गुरु को ही विश्वमंगल विधान की दिव्य दृष्टि का प्रदाता मानते हैं। वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि सिद्धांजन को आँख में लगा लेने से साधकों, सिद्धों और सत्पुरुषों को पर्वतों, वनों और पृथ्वी के गर्भ में छिपी हुई अपार धनराशि दिखाई पड़ती है। इसी तरह निरभिमानता और अनासक्ति को उत्पन्न करने वाली गुरु के चरणों की धूल का अंजन जिसने अपने नेत्रों में लगा लिया उसके 'दृगदोष' दूर हो जाते

‡ रामचरित मानस, बालकांड, दोहा १ के पहले।

हैं। तब निरभिमानता की स्थिति में उसे पृथ्वी के ही आदर्शों से सम्बद्ध मनुष्यों के शील के भीतर गुणों के रत्नों की निधि दिखाई पड़ने लगती है। वह दोपदर्शन के अभिमानी स्वभाव के ऊपर उठ कर गुणदर्शन के निरभिमान-युक्त स्वभाव को प्राप्त कर लेता है। विवेक के इसी 'विमल विलोचन' से उसे राम के भी लोकादर्शों के अपार रत्न दिखाई पड़ते रहते हैं और वह जगत् को अपनी स्वार्थवद्ध दृष्टि से न देखने के कारण उसकी वासनाओं से मुक्त हो जाता है। स्वार्थदर्शन नेत्रों के लिए विप का काम करता रहता है। यह आत्मा की विभुता को मार कर उसे जीव के स्वार्थमय संकीर्ण रूप में आवद्ध कर लेता है। पर निरभिमानता का सर्वार्थदर्शन आँखों के लिए अमृत का काम करता है। इससे मनुष्य की आत्मा अपनी विभुता को प्राप्त कर अमर हो जाती है। वासना का आकर्पण ही जीव को वार-वार जगत् में खींच लाता है। मृत्यु के वन्धन से वह नहीं छूटता। जन्म-सापेक्ष मृत्यु उसे वार-वार अपनी गोद में ले कर एक वासनात्मक जीवन से दूसरे वासनात्मक जीवन तक पहुँचाती रहती है। पर जब वासनाओं से जीव का मन अनासक्त हो जाता है, तब मृत्यु उसे नहीं पाती। उसके लिए वासनात्मक जीवन समाप्त हो जाता है। वह फिर जन्म-मरण के चक्र में नहीं आता। जन्म-मरण का चक्र भोग के लिए ही चलता रहता है। वासना के अभाव में भोग का अभाव हो जाता है और जन्म-मरण का चक्र भी समाप्त हो जाता है।

इस स्थिति में भी भक्त अपने लिए एक दूसरी मनोदशा का वरदान चाहता है। वह वरदान है—वासना से मुक्त हृदय से भगवान् के आदर्श शील और सौन्दर्य का दर्शन करने वाली मनोदशा का वरदान। यही वरदान वह भगवान् से माँगता है। इसी पवित्र हृदय को प्राप्त करके विवेक के विमल नेत्रों से गोस्वामी जी ने 'रामचरित' का साक्षात्कार किया है और इसी कारण उन्होंने रामचरित को 'भवमोचन' माना है। "जथा सुअंजन आंजि दृग, साधक, सिद्ध, सुजान, कौतुक देखहिं सैल, बन, भूतल भूरि निधान। गुरु-पद-रज-मृदु-मंजुल-अंजन, नयन अमिअ दृग-दोष-विभंजन। तेहि करि विमल-विवेक-विलोचन; वरनउं राम चरित भव-मोचन' ‡ से उपर्युक्त सिद्धान्तों की ओर ही गोस्वामी जी ने संकेत किया है। विवेक से विमल हुए नेत्र ही, गोस्वामी जी के अनुसार, निरभिमानता के सर्वार्थ-दर्शन से प्राप्त विमल सन्तोष के पास मनुष्य को पहुँचा सकते हैं। वैयक्तिक जीवन की वासनाओं का उपभोग कलुषित सन्तोष की ओर ले जाता है और विश्वजीवन के सुख की अनुभूति से प्राप्त सन्तोष वासनारहित होने के कारण विमल हो जाता है।

अनासक्तिमय ब्राह्मणशील से भी विश्वमंगल विधान की प्रक्रिया का दर्शन गोस्वामी जी ने किया है। ईश्वर और गुरु की वन्दना के वाद मंगलाचरण की वन्दना के इस प्रकरण में गोस्वामी जी ने सबसे पहले ब्राह्मण की वन्दना एक ही पंक्ति में की है। पर उस एक ही पंक्ति में अपने विश्वमंगल विधान की सम्पूर्ण योजना का बीज उन्होंने ब्राह्मण के शील के

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १ और उसके वाद।

भीतर रख दिया है। ब्राह्मण का शील 'मोह-जनित' सब 'संशयों' को हर लेता है। मोह का अज्ञान ही स्वार्थ और सन्देह को उत्पन्न करता है। स्वार्थ और सन्देह से अविश्वास उत्पन्न होता है। अविश्वास से स्वार्थों के संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। इस स्वार्थमय संघर्ष की मन:स्थिति में मनुष्य विश्वमंगल विधायक स्वभाव से दूर जा पड़ता है। आत्मा की संकीर्णता की इसी सम्भावना को ब्राह्मण का शील समाप्त कर देता है। इसीलिए ब्राह्मण-शील की वन्दना सबसे पहले करते हुए गोस्वामी जी ने कहा है—"बंदहुँ प्रथम मही-सुर-चरना, मोह-जनित-संसय सब हरना ‡"।

गोस्वामी जी ने अपनी इस मान्यता का अनवरत प्रचार किया है कि विश्वमंगल विधायिनी दृष्टि में गुणों के प्रति पूज्य भाव और दोषों के प्रति क्षमा भाव रहता है। इसी ब्राह्मण शील के प्रकाश में गोस्वामी जी सम्पूर्ण मानव समाज को दो ही भागों में विभक्त करते हैं। वे दो बड़े-बड़े भाग 'सुजन समाज' और 'खलगन' के हैं। इसीलिए सबसे आवश्यक ब्राह्मण के शील की वन्दना करने के बाद तुरन्त ही गोस्वामी जी 'सुजन समाज' की वन्दना करते हुए कहते हैं—"सुजन समाज सकल-गुन-खानी, करउं प्रनाम सप्रेम सुबानी" †। सज्जनों की वन्दना में भी विश्वमंगल विधायक गुणों की खान की ओर ही गोस्वामी जी की दृष्टि है। उनके अनुसार सज्जन विश्वमंगल विधायक सब गुणों की खान होते हैं। इसीलिए वे वन्दनीय हैं। इन्हीं सज्जनों के उज्ज्वल शील को गोस्वामी जी ने 'साधु चरित' कहा है। इस साधु चरित की तुलना वे कपास से करते हैं। कपास का फल नीरस, विशद और गुणमय 'सूत्रमय' होता है। कपास स्वयं कष्ट उठाता है। आघात सह कर वह सूत और कपड़े के रूप में परिणत हो जाता है और दूसरों की लज्जा ढक कर उनका शृंगार भी करता है, जिससे वे यशस्वी और वन्दनीय होते हैं। मूर्ख भी सुन्दर वस्त्र पहन कर एक बार वन्दनीय और यशस्वी आभासित होने लगता है। संत का शील भी इसी तरह का है। वह उत्पीडित हो कर भी पीडा पहुँचाने वाले को कष्ट नहीं पहुँचाता, प्रत्युत उसके दोषों को छिपाता ही रहता है। यहीं तक नहीं, अपने प्रभाव से उन्हें वन्दनीय और यशस्वी बना देता है। संत अपने स्वार्थमय उपभोगों के प्रति नीरस रहता है, उनमें आसक्त नहीं होता; पर अपनी इस अनासक्ति से वह ऐसे शील की साधना करता रहता है जिससे विश्वमंगल विधान होता है। उसकी यह नीरसता वासना से ऊपर उठ कर त्याग की करुणामयी धवलता से उज्ज्वल होती है। संत का स्वभाव यदि दूसरों के प्रति भी कठोर और नीरस दिखाई पड़ता है तो उसकी इस नीरसता और कठोरता का परिणाम उन व्यक्तियों के भीतर मानवोचित आदर्श गुणों के विकास के रूप में ही प्रकट होता है। अपने जीवन को तपा कर संत लोकमंगल विधान के लिए ज्ञान और शील की सामग्री संचित करता रहता है। इसी तरह उसके विमल सन्तोष की सिद्धि होती रहती है §।

अपने चारों तरफ आनन्द और मंगल का विस्तार करने वाले संत समाज के भीतर गोस्वामी जी ने त्रिवेणी की अलौकिक पवित्रता का दर्शन किया है। उन्होंने संत समाज

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १ के बाद। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १ के बाद। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १ के बाद।

को जंगम तीर्थराज कहा है। इस त्रिवेणी में भी गंगा, यमुना और सरस्वती की तीन धाराएँ आपस में मिल कर त्रिवेणी का संगम बना लेती हैं।

राम की पवित्र निश्छल सगुण भक्ति इस जंगम तीर्थराज में रहने वाली गंगा की धारा है। गंगा की धारा अपनी पवित्र धवलता के लिए प्रसिद्ध है। भक्त के हृदय में रामभक्ति की धारा भी अनासक्तिमय निश्छल प्रेम की पावनता और उज्ज्वलता से आलोकित रहती है। भक्त के रामप्रेम में कोई कलुष नहीं रहता। वह स्वार्थ की वासना के कालुष्य से अस्पृष्ट रहता है। संत-समाज के भीतर प्रवाहित होने वाली राम की प्रेमभक्ति की धारा के तल में लोकमंगल विधान की पवित्र भावना ही वर्तमान रहती है‡।

भक्ति मुख्यतः प्रेम पर आधारित रहने के कारण हृदय-धर्म है। विद्या बुद्धि-प्रसूत है। यहाँ सरस्वती भी बुद्धि-देवता है। विचार, बुद्धि का धर्म है। निर्गुण उपासना के भीतर ब्रह्मचिन्तन की धारा बुद्धि की भूमि पर ही प्रवाहित होती रहती है, इसीलिए वह बुद्धि-धर्मिणी है। निर्गुण उपासना बुद्धिप्रधान होने के कारण संत-समाज के जगम तीर्थराज में सरस्वती की धारा के समान प्रवाहित होती रहती है। विशिष्टाद्वैत की उपासना-पद्धति 'चिद्चिद्विशिष्ट ब्रह्म'† की उपासना का प्रचार करती रहती है। केवल अद्वैत तत्त्व निर्गुण होता है और द्वैत भाव सगुण। पर रामानुज का विशिष्टाद्वैत-ब्रह्म, चित् (आत्मा) और अचित् (माया या प्रकृति) दोनों का समाहित रूप है। इसीलिए विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय में उसकी उपासना भी हृदय के प्रेम, और बुद्धि के ज्ञान, दोनों की समाहित धारा के जल के अभिषेक से की जाती है। इसीलिए गोस्वामी जी ने अपने संत-समाज के चलते-फिरते प्रयाग में रामभक्ति की पवित्र हृदय धारा की गंगा और ब्रह्मचिन्तन की पवित्र बुद्धिधारा की सरस्वती का दर्शन किया है§।

गंगा और सरस्वती की धाराओं के बाद यमुना की धारा की चर्चा भी गोस्वामी जी ने बड़ी सार्थक उपमा के रूप में की है। यमुना 'रविनन्दिनी' है। सूर्य भी बुद्धि का देवता है। वह बुद्धि को प्रेरणा देता है। 'भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्'—गायत्री मन्त्र के इस खंड में बुद्धि को सन्मार्ग पर ले जाने के लिए सूर्य से प्रार्थना की गयी है। सूर्यपुत्री यमुना में शीतलता, श्यामता और पवित्रता के तीन गुण हैं। गोस्वामी जी ने 'विधि-निषेध-मय कलि-मल-हरनी करम-कथा' को सूर्यपुत्री यमुना माना है। ज्ञान के सूत्र से प्रसूत विधि-निषेध-मय कर्मों की कथा, उन कर्मों के विवेचन की पवित्र धारा ही यमुना की धारा है। विधि, सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त होने के लिए शास्त्रीय आदेश को कहते हैं। यह आदेश मंगलविधायक होने के कारण जीवन में शान्ति, सन्तोष और शीतलता की सृष्टि करता है। यही 'करमकथा' की यमुना धारा की पवित्र शीतलता है। निषेध के द्वारा शास्त्र अकर्तव्यों की ओर से निवृत्त होने का आदेश देता है। पाप और दुष्कर्म मलिन तथा

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १ के बाद। † आर० वेंकटेश्वर, आनन्द मुद्रालय मद्रास द्वारा प्रकाशित श्रीभाष्य, पृष्ठ १०४-१०५। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १ के बाद।

श्याम होते हैं। पर इनकी ओर जाने से रोकने वाला शास्त्रीय निषेध पाप और दुष्कर्म की की श्यामता को भी ज्ञान के आलोक में ला कर निवृत्ति-बुद्धि के द्वारा उनकी भी चेतना को मनुष्य के भीतर पवित्र बना लेता है। आचरण पवित्र होना चाहिए। शास्त्रीय विधिवाक्य और आचरण दूषित नहीं होना चाहिए—शास्त्रीय निषेधवाक्य दोनों पवित्र हैं। कलिमल हरण के द्वारा विश्वमंगल विधान के पवित्र दृष्टिकोण के कारण 'विधि-निषेध-मय, कलिमल-हरनी करमकथा' की यमुना-धारा में विधि की शीतलता और निषेध के भीतर आये हुए पापों की श्यामलता की चर्चा है। ये दोनों, ज्ञान के आलोक में विश्वमंगल विधान के कार्य में उपयोगी हो कर पवित्र हो गयी हैं। इस तरह सूर्यपुत्री यमुना की पवित्र शीतलता और पवित्र श्यामता के गुणों को गोस्वामी जी ने 'विधि-निषेध-मय, कलिमल-हरनी करम कथा' ‡ की यमुना धारा में पूरी तरह से उतार लिया है।

रामभक्ति की गंगा, ब्रह्मचिन्तन की सरस्वती और कर्तव्याकर्तव्य के विवेचन की यमुना, इन तीनों का संगम हरि (राम या विष्णु) और हर (शिव) के जीवन पथ पर ही गोस्वामी जी ने किया है। परममंगलमय शिव और मर्यादा पुरुषोत्तम राम की कथाओं के द्वारा उनका संत-समाज, भक्ति, ज्ञान और शील की गंगा, सरस्वती और यमुना की धाराओं का समन्वय, उनका संगम, किया करता है। इसीलिए इस विराट् समन्वय के भीतर उनके रामपरम शिवभक्त, उनके शिवपरम रामभक्त, दोनों ब्रह्मस्वरूप और ज्ञानी तथा दोनों शील की परमोच्च भूमि पर स्थित हैं। इन्हीं दोनों आदर्श विभूतियों की जीवनगाथाओं को अपना आधार बना कर गोस्वामी जी ने भक्ति, ज्ञान और शील के त्रिवेणी-संगम का निर्माण किया है। गोस्वामी जी की उपासना-पद्धति के भीतर गंगा, सरस्वती और यमुना के जल की संगमजनित पवित्र एकता की तरह भक्ति, ज्ञान और शील नाम से अलग-अलग रहते हुए भी एक हो गये हैं। उनकी भक्ति—ज्ञान और शील का समाहित रूप है, उनका ज्ञान—भक्ति और शील का संगम है तथा उनके द्वारा प्रचारित शील, भक्ति और ज्ञान का ही ऐक्यप्राप्त विवर्त है। 'हरिहरकथा विराजति बेनी' † के द्वारा, भक्ति, ज्ञान और शील की इसी त्रिवेणी की ओर गोस्वामी जी ने संकेत किया है।

'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः' § गीता के इस नियम के अनुसार अपने धर्म या कर्तव्य पर अविचल विश्वास ही संत समाज के जंगम तीर्थराज का अक्षयवट है। जिस तरह तीर्थराज प्रयाग के अक्षयवट का नाश नहीं होता, वह अविचल और अक्षय रहता है, उसी तरह संतों का समाज अपने कर्तव्य धर्मों के प्रति अविचल विश्वास की प्रतिष्ठा किये रहता है और इसी अविचल विश्वास का प्रचार करता है। इसी अविचल विश्वास से धर्म और कर्तव्य के रूप में सच्चिदानन्द की प्राप्ति होती है। पूर्ण धर्म ही पूर्ण अस्तित्व (सत्), पूर्ण चैतन्य (चित्) और पूर्ण आनन्द की प्राप्ति को संभव बनाता है। यही नारायणत्व की प्राप्ति है। इसी कर्मठ मार्ग से राम प्राप्त होता है। राम तक ले जाने वाला

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १ के बाद। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १ के बाद। § गीता, अध्याय १८, श्लोक ४७।

पथ आलस्य से नहीं, अपितु कर्मनिष्ठा से बनता है। जिसमें नारायणत्व की प्राप्ति कराने वाला यह कर्तव्य-ज्ञान नहीं रहता, वह संसार में दिखाई पड़ते हुए भी अनस्तित्वमय, अवस्तु और नगण्य होता है, उसमें चैतन्य की स्थिति का आभासमात्र रहता है अन्यथा अवस्तु वह जड ही रहता है तथा वह आनन्दित प्रतीत होते हुए भी दुःखी ही रहता है। सच्चिदानन्द की उपलब्धि वह नहीं कर सकता। इस तरह भगवान् के धर्म और कर्तव्यमय रूप का प्रचार ही गोस्वामी जी का संत समाज करता रहता है। 'वट-विश्वास अचल निज धर्मा' से गोस्वामी जी इसी तथ्य की ओर संकेत कर रहे हैं‡।

भक्ति, ज्ञान, शील और धर्म के प्रति अविचल विश्वास की संश्लिष्ट और समाहित परिणति गोस्वामी जी ने 'सुकर्म' में देखी है। संतों के समाज के सुकर्म की पवित्रता ही तीर्थराज की सर्वतोमुखी संचित पवित्रता है। यह सुकर्म विश्वमंगल विधायक सुकर्म है। यह वही पूर्ण कर्म है जिससे अपने किसी विशेष व्यक्ति की ही नहीं, विश्व भर की रक्षा होती रहती है। इन्हीं सत्कर्तव्यों का प्रचार संत समाज करता रहता है। संत समाज के इस तीर्थराज के सम्पर्क में आ जाने पर व्यक्ति को पूर्ण अर्थ, पूर्ण काम और पूर्ण मोक्ष की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। उसके कर्म, सर्व की रक्षा करने लगते हैं, पूर्ण के रक्षाविधान में जुड़ जाते हैं, उसकी सम्पत्ति पूर्ण को सम्पन्न बनाने लगती है, उसका काम, उसकी इच्छाएँ सम्पूर्ण के सुख की बात सोचने लगती हैं, तथा अपने वैयक्तिक स्वार्थ से वह पूर्णतः मुक्त हो कर पूर्ण पुरुष बन जाता है। गोस्वामी जी के 'तीरथराज समाज सुकर्मा'† से यही सत्य अभिव्यक्त होता है।

इसी पूर्ण और अनंत विकास को प्राप्त कर लेने वाले मानव को अपने ध्यान में ला कर गोस्वामी जी ने कहा है—

विधि-हरि-हर-कवि-कोविद-बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी।
सो मो सन कहि जात न कैसे। साक बनिक मनि-गुन-गन जैसे।

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कवि और विद्वान् के शब्दों में भी पूर्ण और अनंत नहीं बँध सकता। साधु का शील अनंत और पूर्ण शील हो जाता है। इसीलिए वाणी की सीमित शक्ति को वह लाँघ जाता है। भक्त, संत और साधु का शील देश और काल की सीमा को लाँघ कर अनंत हो जाता है। वह उसके जीवन-काल में भी 'जगत हित' करता हुआ अनंत रहता है तथा एक जीवन की सीमाओं के बाद भी अनंतकाल तक इतिहास के अनंत पृष्ठों का सुशोभित करता हुआ अनंतकाल तक मानव के शील का श्रृंगार करता रहता है। उसका नाम सुन कर मनुष्य शीलवान् बनते हैं। अनंत स्वयं यदि सीमा में आ कर अपने नामों का प्रभाव बताना चाहे तो उसकी भी वाणी सीमित हो जाएगी और अपने नाम के प्रभाव को वह पूर्णतः न बता सकेगा। गोस्वामी जी के 'राम न सकहिं नामगुन गाई'§ का यही अभिप्राय है। इसी तरह के संत की वन्दना करते हुए गोस्वामी जी ने कहा है :

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १ के बाद। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १ के बाद। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २६ के पहले।

वन्दउं सन्त समान चित हित अनहित नहिं कोउ।
अंजलि गत सुभ-सुमन जिमि, सम सुगंध कर दोउ।
संत सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहु।
बालविनय सुनि करि कृपा राम-चरन-रति देहु‡।

संत की इसी पूर्णता को गोस्वामी जी राम-चरन-रति का परिणाम मानते हैं। राम के शील में समचित्तता, शत्रुमित्रभाव का अभाव, सरलचित्तता तथा जगतहित की कामना और स्वाभाविक स्नेह एक साथ अपनी पूर्णता पर पहुंचे हुए दिखाई देते हैं। राम के इन आदर्शों के लिए अपने हृदय में जो व्यक्ति स्नेह की सिद्धि कर लेगा, वह संत हो जाएगा। संत के इसी शील विकास की वन्दना करके गोस्वामी जी पूर्ण शील की भावना के द्वारा 'राम-चरन-रति' में मग्न हो जाते हैं। संतसमाज की त्रिवेणी में संतों का यह स्वभाव 'करम-कथा' की यमुना की शीतलता और पवित्रता है। इसमें संतोष और शीतलता प्रदान करने वाला राम का शील है। 'करम-कथा' का यह पवित्र विधि-भाग है। यह स्वयं प्रकाशित सत्पथ है।

जिस तरह सच्चे भाव से गोस्वामी जी ने संतों की वन्दना की है, उसी तरह दुष्टों की वन्दना भी वे सच्चे और निश्छल हृदय से करते हैं। 'बहुरि बन्दि खलगन सतिभायें'† से वे अपनी इसी स्थिति को स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार किसी भी साधक के लिए साधना के पथ पर अग्रसर होने के लिए संत और असंत दोनों का ध्यान आवश्यक है। संतों के ध्यान के द्वारा वह राम के पथ पर चलने के लिए प्रकाश पाता है और असंतों के निरन्तर ध्यान से वह असंत स्वभाव से बचता रहता है। इसीलिए गोस्वामी जी उपयोगी असंत को भी अपना पथ प्रदर्शक मान कर उससे भी स्नेह ही करते हैं। निश्छल सहानुभूति वे, खल के लिए भी, अपने हृदय में रखते हैं। जिस तरह वे संतों के भक्त हैं उसी तरह दुष्टों के भी। हरिजन तथा खलजन के लिए गोस्वामी जी का निश्छल हृदय अपने भीतर सहानुभूति का भाव ही धारण करता है। उनके भीतर हरि, संत तथा खल के लिए समान प्रेम है, क्योंकि शीलविकास के लिए ये तीनों समान उपयोगी होते हैं। गोस्वामी जी ने 'संग्रह त्याग न बिनु पहचाने'§ कह कर अपना यह दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है। यही कारण है कि अपना निश्छल प्रेम ले कर गोस्वामी जी खलों के भी जन बन जाते हैं और निश्छल प्रेम से उनकी वन्दना करते हैं। 'जानि पानिजुग जोरि जनु बिनती करइ सप्रीति'* में उन्होंने इस सरल भाव के द्वारा खलों की वन्दना की है। खल स्वभाव का यही पवित्र चिन्तन 'करमकथा' का निषेध भाग है और यही 'करमकथा' की 'रविनन्दिनी' की पवित्र श्यामता है। गोस्वामी जी खलों से प्रेम करते हैं, पर उनकी दुष्टता का वर्णन वे इसीलिए करते हैं कि लोग उस स्वभाव से अपने को अलग रखें।

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३ के बाद। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ५ के बाद। * रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ४।

गोस्वामी जी ब्रह्मा की सृष्टि के भीतर केवल मनुष्यों के ही गुण-अवगुण का विवेचन नहीं करते। एक पवित्र साधक की सरलचितता के द्वारा वे इस सम्पूर्ण सृष्टि के भीतर गुण-दोष का विभाजन कर लेते हैं। दुख और सुख, पाप और पुण्य, दिन और रात, साधु और असाधु, सुजाति और कुजाति, दानव और देव, उच्च और नीच, अमृत और विष, माया और ब्रह्म, जीव और ईश्वर, लक्ष्मी और दरिद्र, रंक और राजा, काशी और मगहर, गंगा और कर्मनासा, मरु और मालव, ब्राह्मण और चाण्डाल, स्वर्ग और नरक, अनुराग और विराग इत्यादि 'गुन-दोष-विभाग' को गोस्वामी जी वेदों के लिए भी अगम मानते हैं। 'निगम अगम गुन-दोष विभागा' ‡ इस अनंत द्वंद्वात्मक जगत् के भीतर से संग्रह और त्याग की पद्धति बतलाते हुए गोस्वामी जी ने चिन्तन, ज्ञान, विवेक और सहानुभूति की एक उदार नीति की स्थापना की है। उन्होंने कहा है—

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार। †

ब्रह्मा के इस गुण-दोषमय जगत् में से गुणरूपी पय को संतरूपी हंस ले लेता है और दोषमय जल को निकाल देता है। संत के स्वभाव में चिन्तन, ज्ञान और विवेकयुक्त सहानुभूति रहती है। शील की शक्ति की इसी सामग्री को ले कर संत जगत् के साथ अपना सम्बन्ध बनाये रखता है। असंत स्वभाव से दूर रहने के लिए वह चिन्तन, ज्ञान और विवेक का उपयोग करता रहता है तथा असंतों के प्रति स्नेह भी अपनी सहानुभूति के द्वारा बनाये रखता है। उनसे घृणा नहीं करता। संग्रह और त्याग के इसी सहानुभूति-पूर्ण नियमन की चर्चा के बाद गोस्वामी जी ने इस पद्धति का उपसंहार करते हुए 'अस विवेक जब देइ विधाता, तब तजि दोष गुनहिं मनु राता' § कहा है।

अद्वैत का चिन्तन करने वाला साधक किसी से द्वेष नहीं करता। वह तो सम्पूर्ण विश्व को एक विराट् नियम के अधीन चलता हुआ देखता है और इसी लिए पापी से भी द्वेष नहीं करता। वह इस बात पर विश्वास करता है कि शील की अनंत शक्ति काल के स्वभाव और कर्मों की प्रबल शक्ति को भी भस्म कर सकती है। संत के पास यह शक्ति होती है। दुर्बल असंत, कालस्वभाव, युग के धर्म और कर्मों की प्रचंड शक्ति से विवश हो जाता है। 'काल सुभाउ करम बरिआई, भलेउ प्रकृति बस चुकई भलाई' से गोस्वामी जी ने इसी तथ्य को प्रकट किया है *। वे इस बात पर बल देते हैं कि संत अपनी अनंत शक्ति का उपयोग करके दुर्बल असंत को सुधार कर अपने हृदय से लगा ले। 'सो सुधारि हरि जन जिमि लेहीं, दलि दुख दोषु बिमल जसु देहीं' § से गोस्वामी जी का यही सिद्धान्त प्रचारित होता है। उन्होंने इस बात को पूरा-पूरा अनुभव कर लिया है कि 'कुजोग' और 'सुजोग', 'कुसंग' और 'सुसंग' से ही दोष और गुण, हानि और लाभ उत्पन्न होते हैं। 'हानि कुसंग

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ६ के पहले। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ६। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ६ के बाद। * रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ६ के बाद। § वही।

सुसंगति लाहू ‡' के सिद्धान्त को उन्होंने हृदय से अनुभव कर लिया है। राम के शील का सुयोग प्राप्त होने पर संत विकसित होता है और कुसंग का कुयोग मिलने पर खल स्वभाव का विकास होता है। इसीलिए जीव और जगत् के भीतर बैठे हुए प्रेरक राम की वन्दना करते हुए गोस्वामी जी ने खल के भीतर भी उसी का दर्शन किया है। 'जड़ चेतन जग जीव जस सकल राममय जानि, बंदउं सबके पद-कमल सदा जोरि जुग पानि †। राममय जगत् को देखने वाले अभेददर्शी संत के हृदय में खल के लिए अनंत सहानुभूति रहती है। उसमें राम का दर्शन करते हुए उसके भीतर सोये हुए राम को जगाने का वह सतत प्रयास करता रहता है। असाधु के भीतर भी राम के शील को जगाने की क्षमता उसे कभी प्राप्त न होती यदि वह 'आ कर चारि लाख चौरासी, जाति जीव नभ-जल-थल-वासी। सीय-राम-मय सब जग जानी, करउं प्रनाम जोरि जुग पानी $।' कह सकने की निरभिमानतापूर्ण अभेद दृष्टि की सिद्धि अपने भीतर न कर सका होता। इस अभेददर्शन के कारण ही गोस्वामी जी का संत स्वभाव खलों के लिए भी इतना सहानुभूतिपूर्ण है, उन्हें भी सुधारना चाहता है और सीताराम के शील और उनके अस्तित्व का दर्शन विश्व भर के व्यक्तित्व के भीतर कर लेने का इच्छुक है। खल के भीतर भी पूर्ण राम का विकास कर लेने की सात्त्विक वासना के कारण ही उनके भीतर खलों के लिए अनंत सहानुभूति है। संत स्वभाव की इसी उदारतापूर्ण सहानुभूति को देख कर गोस्वामी जी को संतधर्म के आधार पर भी विमल सन्तोष का अनुभव होता है।

गोस्वामी जी एक प्रकार के अपरिवर्तनीय खल स्वभाव को भी सत्य मानते हैं। वे मानते हैं कि उनका अभंग मलिन स्वभाव नहीं मिटता। 'मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू *' से वे इसी सत्य की घोषणा करते हैं। इसी अभंग मलिन स्वभाव वाले खलशील रावण से जगत् की रक्षा करने के लिए मर्यादा पुरुषोत्तम को विश्ववेदनाजनित अपने सात्त्विक क्रोध का उपयोग करके राक्षसी प्रवृत्तियों का नाश भी करना पड़ता है। ऐसे मंगलमय नाश की कल्पनामात्र से गोस्वामी जी को विमल सन्तोष का अनुभव होता है।

विधिनिषेध का सम्यक् संचालन करने वाले अनंत शक्तिवान् राम की इस अनंत नियंत्रण शक्ति का अनुभव करके गोस्वामी जी कहते हैं—"करन चहउं रघुपति गुन गाहा, लघु मति मोरि चरित अवगाहा"। वे अनुभव करते हैं कि अनंत गंभीरता की थाह छोटी-सी बुद्धि को कैसे लग सकती है। 'रामचरितमानस' की अपनी विराट् साहित्य साधना को राम की अनंतता के सम्मुख वे 'बाल वचन' ही मानते हैं×। संतों के 'रामपदनेह' पर विश्वास करके उन्हें यह साहस हो जाता है कि इस बाल प्रयास में भी 'रामपदनेह' है और इससे सज्जन सुखी होंगे। जिनके भीतर 'हरि-हर-पद-रति' होगी उनके लिए 'रघुबर' की कथा अवश्य 'मधुर' होगी। गोस्वामी जी इस बात को बड़ी नम्रता से कह देते हैं कि कोई

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७ के पूर्व। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७। $ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७ के बाद। * रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ६ के बाद। × रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ८ के पहले।

कलात्मक सौन्दर्य न होते हुए भी मेरी 'भनिति' में 'एक विस्वविदित गुन' है। वह गुण है राम की अनंत शक्ति, उनके शील और सौन्दर्य का वर्णन करने का वाल प्रयास। सुमतिवान् और विमल विवेक वाले ऐसा विचार करके इस 'भनिति' को अवश्य सुनेंगे ‡। विमल विवेक के द्वारा सुमति को प्राप्त करके जो व्यक्ति राम के शील की कथा को सुनता है उसे विमल सन्तोष का अनुभव होता है। ऐसे संत के शील को देख कर तुलसी ने भी विमल सन्तोष का अनुभव किया है। पुराणों और श्रुतियों के द्वारा प्रचारित सात्त्विक शील और सात्त्विक शक्ति के अनंत भण्डार राम का उदार नाम रामचरितमानस में है। इस नाम में अनंत पावनता है। यह नाम मंगल के साधक और अमंगल के विनाशक राम का है, इसीलिए यह स्वयं मंगलभवन और अमंगलहारी है। इस नाम का उमासहित निरन्तर स्मरण करने वाले शिव ने भी त्रिपुर इत्यादि के रूप में संसार के अमंगलों का विनाश कर अमंगलहारी और मंगलभवन होने की प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है। राम की इसी अनंत शक्ति और शील के द्वारा विश्वमंगल-विधान और विश्वअमंगल-नाश को अनुभव करके गोस्वामी जी ने विमल सन्तोष का अनुभव किया है। यह शील उन्हें जिन-जिन शक्ति-केन्द्रों में दिखाई पड़ता है उन सब का साक्षात्कार करके गोस्वामी जी विमल सन्तोष का अनुभव करते हैं। राम के इसी उदार नाम के वल का उन्हें विश्वास है और वे समझते हैं कि उनकी कृति 'रामचरितमानस' संत समाज में सम्मान प्राप्त करके अपने प्रचार के द्वारा विश्वमंगल विधायिका वन जाएगी †।

विश्ववेदना के लोकमंगल विधायक अभेदवादी आदर्शों की ओर निरन्तर दृष्टि रखने वाले गोस्वामी जी को साहित्य केवल कलात्मक अंश के आदर्श को प्राप्त करके अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकता। कला-सिद्ध कवि की वह वाणी जिसमें कला का सौन्दर्य अपनी सीमा पर पहुँच गया हो, गोस्वामी जी की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं रखता, यदि उसमें राम का नाम न हो। राम के शील के द्वारा प्रस्तुत जीवन की झाँकी यदि उसमें न दिखाई पड़ें, तो तुलसी उस साहित्य में कोई आकर्षण नहीं पाते। उनके अनुसार वह कविता उस चन्द्रमुखी नारी की तरह है, जिसका शृंगार तो नखशिख तक पूरा किया गया हो, पर उसे नग्न ही रखा गया हो। पूर्ण सुसज्जित हो कर भी ऐसी स्त्री परिष्कृत रुचि वाले दर्शक के भीतर जुगुप्सा का भाव ही उत्पन्न करेगी। इसी प्रकार की जुगुप्सा का अनुभव गोस्वामी जी ऐसी कविता को देख कर करते हैं, जिसमें कला की तो पूर्ण सज्जा हो, पर राम के शील के विश्वमंगल विधायक आदर्शों के लिए कोई स्थान न हो $।

इसके ठीक विपरीत, अल्पकलात्मक सामग्री को साथ ले कर एक अनुभवहीन कवि भी राम के नाम की मुद्रा से अपनी कविता को अंकित करके संतों से आदर और सम्मान प्राप्त कर लेता है। राम के आदर्श शील का अंकन जिस कविता में रहता है, संत उसे ही सम्मान देते हैं। संतों का ध्यान कवि की कला पर नहीं, उसकी लोकमंगल विधायिनी आकांक्षा पर रहता है। राम के शील का प्रचार करने वाला साधक कलात्मक सिद्धि

---

‡ रामचरितमानस, वालकांड, दोहा ९ और उसके पहले की पंक्तियाँ। † रामचरितमानस, वालकांड, दोहा ९ के वाद। $ रामचरितमानस, वालकांड, दोहा ९ के वाद।

से दूर रह कर भी लोकादर्शों का सिद्ध तो रहता ही है। गोस्वामी जी आदर्श जीवन का व्यापक प्रचार करने वाले ऐसे ही कवियों को सम्मान देते हैं। कला की निरर्थक कारीगरी को ये कविता नहीं मानते। जीवन का शृंगार करने की पीडा, जिस कवि के हृदय में विकृत जीवन को देख कर होती है, गोस्वामी जी उसी को सच्चा कवि मानते हैं ‡।

स्वयं रस-सिद्ध कवि होते हुए भी वड़ी नम्रता से गोस्वामी जी ने अपने को नीरस कवि स्वीकार कर लिया है। उन्होंने जीवन की सब स्वार्थमयी वासनात्मक अनुभूतियों को राम की लोकमंगल विधायिनी अनुभूतियों में लीन कर दिया है। अनुभूतियों की यह राम-मय एकाकारता हृदय की वह सरस मुक्ति की अवस्था है, जिसमें 'सियाराममय सब जग' की अनुभूति प्राप्त हो जाती है। इस अनुभूति के भीतर हृदय के सब धर्म लोकमंगलविधान के साथ जुड़ जाते हैं। कविता को भोग और मनोरंजन की दृष्टि से जो लोग सरस मानते हैं, उनके मापदण्ड से गोस्वामी जी कविता का मूल्यांकन नहीं करते, उन्हें जिस कविता में 'राम-प्रताप प्रगट' † नहीं दिखाई पड़ता, उसकी वासनात्मक तथा स्वार्थमय सब अनुभूतियों को गोस्वामी जी अनुपयोगी समझते हैं। उन्हें इसी वात का पूरा भरोसा है कि उनकी कविता में 'राम-प्रताप प्रगट' है। यही उनका सहारा है। राम के गौरव को अपनी कविता में पा कर वे उसे गौरवशालिनी मानते हैं। गोस्वामी जी यह मानते हैं कि 'भदेस भनिति' में भी 'भलि बरनी रामकथा' वस्तु 'जगमंगल करनी' $ होती है। अतः गोस्वामी जी की दृष्टि कविता के कलापक्ष की ओर मुख्यतः उन्मुख न रह कर उसके जगमंगलकारी पक्ष की ओर ही झुकी रहती है। गोस्वामी जी इस सिद्धान्त को प्रचारित करते हैं कि जिस तरह वक्रगति से प्रवाहित होने वाली पवित्र जल की नदी सबको पवित्र बनाती चलती है, उसी तरह 'मंगल करनी कलिमल हरनी रघुनाथ कथा' को ले कर टेढ़ी-मेढ़ी चाल से बहने वाली भोंडी कविता की नदी भी राम के सुयश के कारण विश्व को पवित्र करके जगद्वन्द्य हो जाती है * साहित्य के इसी आदर्श को अपने सामने रख कर गोस्वामी जी ने विमल सन्तोष का अनुभव किया है। जो साहित्य इस आदर्श से गिर जाता है, उसे देख कर वे पीडित होते हैं।

निर्माण का कार्य बुद्धि से होता है। सरस्वती बुद्धि-देवता है। इसीलिए स्रष्टा ब्रह्मा उसी की बुद्धिशक्ति से सृजन का कार्य करता है। उसी की बुद्धिशक्ति को पा कर वह वेदों का ज्ञाता है। वह इसी बुद्धिशक्ति का कोष अपने पास रखने के कारण ज्ञान का भण्डार माना जाता है। सरस्वती का निवास इसी स्रष्टा के भवन में है। गोस्वामी जी के अनुसार लोकमंगल विधायिनी आदर्शशीलस्वरूपा भक्ति की व्यंजना करने वाला साहित्य ही सच्चा साहित्य है। इस भक्ति के आधार पर आदर्श समाज का निर्माण करने के लिए जब कवि, बुद्धि की देवी सरस्वती का ध्यान करता है, तब वह ब्रह्मा के भवन को छोड़ कर दौड़ कर आती है। उसकी यह थकावट करोड़ों उपायों से भी नहीं जा सकती,

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ९ के बाद। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ९ के बाद। $ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ९ के बाद। * रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १० के पहले।

रामचरित के सरोवर में विना स्नान कराये वह स्वस्थ नहीं होती। इसी स्थिति का अपने हृदय में अनुभव करके कवि और वुद्धिमान् लोग 'कलिमल हारी हरिजस' गाते हैं। जिस वाणी से विश्वमंगल विधायक 'हरिजस' का प्रचार नहीं होता, वह व्यर्थ नष्ट हो जाती है। यही गोस्वामी जी का वाणी की सिद्धि का सिद्धान्त है ‡।

गोस्वामी जी के अनुसार 'प्राकृत जन' का 'गुनगान' करने के कवि के प्रयास को देख कर सरस्वती अपना सिर पीट कर पछताने लगती है। गोस्वामी जी का यह 'प्राकृतजन' शब्द किसी भी प्रकार के प्रजातांत्रिक युग में सार्थक हो सकता है। गोस्वामी जी के अनुसार प्राकृत जन वही होता है जो 'कंचन', 'कोह' और 'काम' का 'किंकर' हो। सोना, सुन्दरी और क्रोध का किंकर संसार में कोई वड़ा काम नहीं कर सकता। विश्वमंगल विधान के लिए जो आत्मवलि राम ने दी, वैसी आत्मवलि देने की क्षमता स्वार्थजन्य वासनाओं के दास के हृदय को कभी नहीं प्राप्त हो सकती। ऐसा प्राकृत जन वही है जो प्राकृतिक वासनाओं से स्वार्थवुद्धि को ले कर बंधा रहता है. प्राकृतिक आकर्षण से उत्पन्न वासनाओं के ऊपर अपने को उठा कर जो स्वार्थमुक्त हो सकता है, वही राम के आदर्श पथ पर चल सकता है। गोस्वामी जी के अनुसार स्वार्थवद्ध ऐसा प्राकृत जन एक साधुवेश-धारी वंचक मनुष्य भी है, एक विलासी राजा भी है तथा लोभासक्त अकिंचन दरिद्र आदमी भी। ये तीनों प्रकार के लोग राम के पथ से दूर हैं। विश्ववेदना जो वलिदान चाहती है वह उनमें नहीं है। गोस्वामी जी के अनुसार रावण के समान भक्त और पंडित पूज्य नहीं हैं। भक्ति और शास्त्रज्ञान तो उन ऋषियों के सराहनीय थे, जिन्होंने राक्षसों को शरीर दे दिये, पर अहिंसक ब्राह्मण स्वभाव को नहीं छोड़ा। स्वार्थों की वलि दे देने वाले जनक और दशरथ भी राम के पथ पर थे। राम के प्रेम में डूव कर अपने स्वार्थों को भूल जाने वाले भरत, लक्ष्मण, जटायु, हनुमान्, गुह, निषाद और शवरी पूज्य हैं, पर त्रिलोक विजेता राजा रावण नहीं। अतः राम के पथ पर चलने वाला कोई भी व्यक्ति प्रकृतिमुक्त हो कर पूर्णपुरुष आदर्श मानव हो सकता है। इसी अप्राकृत या अतिप्राकृत मानव की उपासना गोस्वामी जी ने मर्यादा पुरुषोत्तम तथा मानस के और आदर्श पात्रों में की है। यही शील उनके विमल सन्तोष का मूल दर्शन है। इसीलिए राजा राम को छोड़ गोस्वामी जी ने किसी दूसरे राजा का 'गुनगान' नहीं किया। यदि यह राजा राम उन्हें गुह, निषाद और शवरी के हृदयों में भी दिखाई पड़ा तो उन्होंने उनका भी 'गुनगान' मुक्तकंठ से किया है। इस तरह गोस्वामी जी दुनिया के सव राजाओं, रंकों और साधुवेशधारी वंचक मनुष्यों को राजा राम के आत्म-वलिदानमय जीवन की ऊँचाई पर प्रतिष्ठित करके उन सवकी उपासना करना चाहते थे। 'सव जग' के भीतर 'सियाराम' की सम्भावना का दर्शन करके उसी सियाराम के स्वर्गीय जीवन को वे पृथ्वी पर उतार लेना चाहते थे †।

---

‡ रामचरितमानस, वालकांड, दोहा १० के वाद। † रामचरितमानस, वालकांड, दोहा ११ के पहले।

गोस्वामी जी के अनुसार वही कवि आदर्श कविता का जन्मदाता हो सकता है, जिसका हृदय समुद्र के समान गम्भीर, विस्तृत और उदार हो। सम्पूर्ण लोकजीवन के सुख-दुख के योग की सिद्धि, जो हृदय नहीं प्राप्त कर सकता, वह विश्वमंगल विधान करने वाली कविता को जन्म नहीं दे सकता। अनुभूति के साथ अनंतव्यापी हृदय की, कवि के लिए प्रथम आवश्यकता है। उज्ज्वल विचार शक्ति से सम्पन्न मति की सीपी भी उसके हृदय-सिन्धु के लिए आवश्यक है। विना पवित्र चिन्तन के हृदय की अनत-व्यापिनी शक्ति सम्भव ही नहीं है। अनंत को अपने पवित्र चिन्तन में लाए विना कोई भी साधक उसे अपनी अनुभूति से नहीं जोड़ सकता। अनंत अनुभूति और अनंत चिन्तन दोनों परस्पर सापेक्ष्य अन्योन्याश्रित हृदय और वुद्धिधर्म हैं। जव साधक इन दो प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न वन जाता है तव वुद्धि की देवी सरस्वती स्वाती वन कर श्रेष्ठ विचारों की वर्षा ऐसे कवि की मति पर करती है। इस तरह पवित्र अनंतव्यापिनी अनुभूति और उज्ज्वल तथा सर्वव्यापी विचारों के आदर्श सन्तुलन को ले कर कविता के धवल और कान्तिमान मोती कवि की मति-सीपी में वन जाते हैं। कविता के इन धवल मोतियों को विश्वमंगल विधान के उपायों से छेद कर इस सम्पूर्ण मंगलविधान में व्याप्त रहने वाले 'रामचरित' के सुन्दर सूत्र में कवि पिरो लेता है। इस साधना से सिद्ध किये हुए कविता-मुक्ता के हार को जो सज्जन अपने विमल हृदय पर धारण कर लेते हैं उन्हें विश्ववेदना और विश्वप्रेम का राममय जीवन प्राप्त हो जाता है। विश्ववेदना और विश्वप्रेम को उत्पन्न करने वाली इस कविता को गोस्वामी जी श्रेष्ठ कविता मानते हैं, जो विश्वव्यापिनी पवित्र अनुभूति और विश्वमंगल विधान के पवित्र विचारों के आदर्श अनुपात की एकाकार परिणति से कवि की विश्वव्यापिनी सत्ता के भीतर प्रस्फुरित और प्रस्फुटित होती है‡। इस आदर्श पर खरी उतरने वाली कविता को देख कर ही गोस्वामी जी को विमल सन्तोष होता है। इस तरह राम के जीवन और अपने काव्य की भूमिका के इस कांड में कवि के सम्पूर्ण दायित्व के आदर्श रूपों और जीवन के समग्र आदर्श तत्त्वों का ध्यान करके गोस्वामी जी ने विश्वमंगल से सम्वद्ध विमल सन्तोष का अनभव किया है।

अपनी नम्रता के कारण और अनंत राम के अनंतशील की व्यापकता का अनुभव करके गोस्वामी जी ने अपनी सफ़ाई देते हुए कह दिया है कि 'मति अनुरूप राम गुन गावउँ'†। गोस्वामी जी इस वात को स्पष्ट घोषित कर देना चाहते हैं कि राम के शील का साक्षात्कार जो मनुष्य जहाँ तक अपनी शक्ति के अनुसार कर सकता है वहीं तक वह उसकी अभिव्यक्ति भी कर सकता है। राम के शील के भीतर स्वार्थों के प्रति अनंत अनासक्ति को देख कर, तुलसी का महात्मा हृदय तुलनात्मक दृष्टि से अपने को 'निरत संसारा' संसार से आसक्त ही अनुभव करता है$। 'रघुपति के अपार चरित'* के सामने अपनी

‡ रामचरितमानस, वालकांड, दोहा ११ और उसके पहले। † रामचरितमानस, वालकांड, दोहा १२ के पहले। $ रामचरितमानस, वालकांड, दोहा १२ के पहले। * रामचरितमानस, वालकांड, दोहा १२ के पहले।

निरभिमानता के कारण तुलसी का संत अपने को बिलकुल क्षुद्र अनुभव करता है। वह कहता है—"राम की शक्ति की असीमता को समझ कर, मेरा मन उसका वर्णन करने के पहले बड़े भय और संकोच में पड़ गया है‡"। अनंत की भावना करने के पहले सत की सीमित बुद्धि इसी कठिनाई का अनुभव करती है। गीता के 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' का यही अभिप्राय है†। 'बुद्धेः परं बुद्ध्वा' कह कर गीता इसी सत्य की ओर इंगित करती है$।

बुद्धि की देवी सरस्वती, शेष, महेश, ब्रह्मा, वेद, शास्त्र और पुराण जिसके गुणों का गान, उसे अनंत बता कर ही करते हैं, उस अनंत को, सीमा के भीतर के रूप रंगों को आधार बना कर सोचने वाली बुद्धि कैसे प्राप्त कर सकती है*।

इस अनंतता की अकल्पनीय व्यापकता को जानते हुए भी उसकी प्रभुता का वर्णन किये बिना किसी से रहा नहीं जाता। परम आकर्षणमय के सौन्दर्य का वर्णन करने से कोई अपने को रोक नहीं सकता, चाहे वह वर्णन अपूर्ण और आंशिक ही क्यों न हो। सीमित मानव अनंत बन जाने की अपनी साध को ले कर उस अनंत के वर्णन के द्वारा उसे अपने हृदय और मन में बाँध लेने का प्रयत्न करता रहता है। यह उसका शाश्वत स्वभाव है। इसीलिए भजन की यह पद्धति किसी के लिए वर्ज्य नहीं है। अपूर्ण प्रयत्न करता हुआ ही साधक पूर्ण को प्राप्त करता है। यह स्वाभाविक अपूर्ण प्रयत्न उसका सहज और विहित प्रयत्न है§।

एक स्वार्थी जीव की सब इच्छाओं से दूर रहने वाला, अरूप, अनाम, अज, सच्चिदानंद, परधाम, व्यापक विश्वरूप, भगवान् ही देह धारण करके नानाचरित करते हैं। यह तुलसी का, भक्तिसम्प्रदाय-सम्मत मत है। तुलसी के द्वारा विश्वरूप भगवान् का 'परधाम' विशेषण गीता के 'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय'× 'अर्जुन! मेरे बाद कुछ नहीं है' के अनुसार ही प्रयुक्त हुआ होगा। लोकमंगल विधान में आसक्त भक्तों के आग्रह से ही भगवान् दया करके उन प्रणतों को प्राप्त होता है। 'निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति। एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ' का यही अभिप्राय है। ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करके विश्वमंगल विधान की भावना से जब भक्त भगवान् को पुकारता है तभी वह प्रकट होता है+।

यह अनंत जब 'रघुराज' हो कर अवतीर्ण होता है, तब भक्त के लिए उसके भीतर बड़ी ममता होती है। अपने जन के लिए अपार स्नेह को ले कर वह अवतीर्ण होता है। एक बार करुणापूर्ण नेत्रों से भक्त को देख कर फिर उस पर वह कभी क्रोध करता ही नहीं। वह बिगड़ी हुई बातों को बनाने वाला तथा दीन का रक्षक होता है। वह अपनी सर्वशक्तिमता के साथ शील की अपार सरलता को भी लेता आता है। बुद्धिमान् लोग

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १२ के पहले। † गीता, अध्याय ३, श्लोक २। $ गीता, अध्याय ३, श्लोक ४३। * रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १२। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १२ के बाद। × गीता, अध्याय ७, श्लोक ७। + गीता, अध्याय २, श्लोक ७१–७२।

उसके इसी शील के कारण उसका यशोगान करते हुए नहीं थकते। इसी यशोगान के द्वारा आदर्श अनुभूतियों तथा चिन्तनों से वे अपनी वाणी को 'सुफल' बनाते रहते हैं ‡। अवतार का यही रूप गोस्वामी जी को आकृष्ट करता है। इसी रूप के साथ जो आदर्श जुड़े हुए हैं उनकी कल्पना, इस बालकांड में करके गोस्वामी जी को विमल सन्तोष का अनुभव हुआ है।

अपनी पूर्व परम्पराओं, समकालीन रामसाहित्य की साधनाओं तथा भविष्य के सम्भावित राम-साहित्य के साधकों के प्रति तुलसी की विमल सन्तोषपूर्ण अपार भक्ति है। 'सियाराममय सब जग' की भावना से चराचर की वन्दना में अपनी रामभक्ति को प्रतिबिंबित करते हुए गोस्वामी जी ने अपने साधक हृदय की पवित्रता की बड़ी मनोरम झाँकी प्रस्तुत की है। अपनी निश्छल निरभिमानता के भीतर वे उन सब साधकों के प्रति आभारी हैं, जिनके पवित्र श्रम से राम के आदर्श रूप पर कान्ति की आभा चढ़ायी गयी है। वे बड़ी नम्रता से इस बात को स्वीकार करते हैं कि अतीत के मुनियों के 'हरिकीरति' गान से उपासना का मेरा पथ 'सुगम' हो गया है तथा इस दुर्गम पथ पर चलने के लिए मुझे बल मिल गया है। राम के सर्वतोमुख सौन्दर्य के वर्णन की अपनी सफलता का पूरा श्रेय गोस्वामी जी नें अतीत के अपने अग्रज साधकों को ही दिया है †। व्यास इत्यादि श्रेष्ठ कवियों की वन्दना करके गोस्वामी जी ने उन साधकों से साहित्यमयी अपनी उपासना के पथ पर अग्रसर होने की क्षमता का वर माँगा है। कलियुग के उन सब कवियों को गोस्वामी जी ने प्रणाम किया है, जिन्होंने 'रघुपति-गुन-ग्राम' का वर्णन किया है।

संस्कृत की विद्वत्-सम्मत परम्परा को तोड़ने वाले प्राकृत कवियों को 'सयाना' मान कर उन्हें गोस्वामी जी ने अपना निश्छल प्रणाम अर्पित किया है। जो हो गये, जो हैं और जो कवि, राम का यशोगान करने के लिए उनके बाद पैदा होने वाले हैं, उन सबकी अनंत व्याप्ति को गोस्वामी जी ने नमस्कार किया है। वे उनसे 'साधुसमाज' में अपनी 'भनिति' के लिए 'सनमान' का वरदान चाहते थे। गोस्वामी जी के सामने यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि जिस कृति को 'साधुसमाज' और 'बुधसमाज' का सम्मान प्राप्त हो गया, उसका अनुसरण दूसरे लोग अवश्य करेंगे। अपनी कृति के इस सम्मान को गोस्वामी जी अपने लिए नहीं चाहते, अपितु उसी कृति के लिए और विश्व के लिए चाहते हैं, क्योंकि उनका यह सिद्धान्त है कि 'कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुर-सरि-सम सब कहं हित होई $। वे मनुष्य की कीर्ति, वाणी और ऐश्वर्य को सबके हित की ओर मोड़ कर गंगा के समान पावन और लोकमंगल विधायक बना देना चाहते हैं। इसी पूर्णमानव के अवतरण मंगल की साधना ही तो उन्होंने की है। वे ऐसे पूर्ण मानव को अवतरित करना चाहते थे, जो अपनी समग्रता को विश्व भर की बना कर सर्वथा विश्व

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १२ के बाद। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७ के बाद। $ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १३ के पहले और बाद।

का हो जाए। अपनी वाणी को पूर्णमानव राम के इसी विमल यश की अनुगामिनी बना देने के लिए, रामसाहित्य के सब साधकों से, गोस्वामी जी अपेक्षित शक्ति का वरदान माँगते हुए कहते हैं—"करहु अनुग्रह अस जिय जानी, विमल जसहिं अनुहरइ सुबानी" ‡। इसी 'विमल जस' का साक्षात्कार अपनी अन्तर्दृष्टि से करके गोस्वामी जी ने विमल सन्तोष का अनुभव किया है और उनका यह सिद्धान्त है कि जिस मनुष्य में विमल यश की ओर बढ़ने की क्षमता नहीं है उसे विमल सन्तोष की प्राप्ति नहीं होती। विश्वमंगल विधान में अपने को खो देना ही तुलसी का 'विमल जस' है।

गोस्वामी जी इस बात को अनुभव करते हैं कि मनुष्य के शील की सरलता सबके लिए सरलता से बोधगम्य होती है। इसी तरह कविता को भी सरल बना कर आदर्श शील की इस वाहिनी को वे अनायास ही सबके हृदय में प्रवाहित कर देना चाहते हैं। वे इस बात को स्पष्टतः अनुभव कर चुके हैं कि सरल शील और 'विमलकीरति' के साथ-साथ 'सरल कवित' भी शत्रुमित्र सबको समान रूप से प्रभावित करता है। अपना नैसर्गिक वैर त्याग कर शत्रु भी सरल कविता को सुनता और सम्मान देता है। पर गोस्वामी जी इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि 'विमल मति' के बिना सरल शील और सरल कविता दोनों सम्भव नहीं हैं। 'हरिजस' के भीतर रहने वाले सरल शील का सरल कविता में वर्णन करने के लिए सब कवियों और साधकों से वे इसी 'विमल मति' का वरदान चाहते हैं †। 'विमल जस' और सरल शील के मूल में अधिष्ठित रह कर यह 'विमल मति' विमल सन्तोष का विधान करती रहती है।

गोस्वामी जी के अनुसार कवि वही हो सकता है, जिसका शील से नैसर्गिक सम्बन्ध हो। 'कवि कोबिद रघुबरचरित-मानस-मंजु-मराल' कह कर उन्होंने इसी सत्य को व्यक्त किया है कि शील का लोकव्यापी निर्माण वह कवि नहीं कर सकता, जिसने राम के शील की सिद्धि अपने जीवनक्रम में न प्राप्त कर ली हो। विमल मति के धवल शील से युक्त हो कर कवि और कोविद रघुवर-चरित के मानस के सुन्दर हंस की तरह हो जाते हैं। इसी पवित्र शील को प्राप्त करके गोस्वामी जी 'रघुवर-चरित-मानस' में मराल की तरह क्रीड़ा करना चाहते हैं। अपनी इसी सुरुचि की पूर्ति का वरदान उन्होंने कवियों और कोविदों से माँगा है। आदिकवि वाल्मीकि की वन्दना भी गोस्वामी जी ने इसीलिए की है कि उन्होंने अपने तपःपूत हृदय के भीतर अपनी स्वाभाविक पवित्रता की शक्ति के द्वारा राम के शील की विराट् भावना की है। चारों वेदों की वन्दना भी गोस्वामी जी का आदर्शप्रिय हृदय इसीलिए करता है कि उन्हें 'रघुवर' के 'बिसद जस' का वर्णन करने में स्वप्न में भी थकावट का अनुभव नहीं होता। वे ब्रह्मा को भी नमस्कार करते हैं, तो उन्हें राम के उसी सहानुभूतिपूर्ण स्नेह का ध्यान हो आता है, जो खल और साधु के लिए समान होता है और दोनों के आत्मोत्थान को निरंतर अपनी दृष्टि में रखता है। ब्रह्मा भी समानचित रह कर

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १४ के पहले। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १४।

पक्षपातरहित दृष्टि से संत और खल की सृष्टि करता रहता है। देवता, ब्राह्मण, विद्वान् और ग्रहों के भीतर बैठ कर विश्व का नियंत्रण और परिष्कार करने वाली ब्रह्मा की शक्ति का दर्शन करके अपने को शील के इसी मार्ग पर ले जाने की उन सबसे गोस्वामी जी ने प्रणतिपूर्ण कामना की है।

कवि के इसी शील का विकास अपने भीतर प्राप्त कर लेने के लिए, 'पुनीत' और 'मनोहर चरित' वाली सरस्वती और गंगा को भी गोस्वामी जी ने प्रणाम किया है। जीव के साथ सम्बद्ध पापों और अविवेकों को नष्ट करके रामचरित वर्णन के लिए पुनीत हो जाने को ही उन्होंने गंगा और सरस्वती की वन्दना की है। राम का दीनबन्धु और दानी स्वभाव अपने व्यक्तित्व के भीतर प्राप्त कर लेने के लिए तुलसी ने दीनबन्धु और दानी महेस-भवानी की वन्दना की है। शंकर के भीतर राम के सेवक, स्वामी और सखा व्यक्तित्वों का दर्शन करके गोस्वामी जी ने अपनी अभेददर्शिनी दृष्टि का बड़ा कोमल परिचय दिया है और अपने अकारण-हित-शिव से अपने द्वारा सृष्ट रामकथा को विश्व के आनन्द और मंगल का उद्भव केन्द्र बना देने की प्रार्थना की है।

शील के उच्च शिखर पर अधिष्ठित हो जाने के बाद भी अपनी नम्रता के कारण कवि के उच्चतम शील की सिद्धि ही गोस्वामी जी ने अनंत जगत् के अनंत रूपों और नामों में व्याप्त राम से माँगी है। उन्हें पूरा विश्वास है कि शिव की कृपा से उनकी वाणी उसी तरह आलोक-प्रकाशित हो जाएगी, जिस तरह कई चन्द्र की समाहित ज्योत्सना से रात्रि की कान्ति का विस्तार सम्भव हो सकता है। गोस्वामी जी ने बड़े विश्वास से कहा है कि जो लोग सचेत हो कर इस कथा को स्नेह के साथ कहेंगे, सुनेंगे और समझेंगे, उनके भीतर राम के चरणों का अनुराग उत्पन्न हो जाएगा और कलि के कलुषों से मुक्त हो कर उनका जीवन राम के शील की अनंत कान्ति से आलोकित हो उठेगा। वे स्वयं मंगलमय और पवित्र हो जाएँगे।

इतना कह लेने के बाद गोस्वामी जी कवि के इस सात्विक शील के प्रभाव को सत्य करने के लिए 'हरगौरी' से पुनः प्रार्थना करते हैं। अपनी 'भाषाभनिति' के प्रभाव को संस्कृत वाणी के समकक्ष बना देने की कृपा वे 'हरगौरी' शिव-पार्वती से माँगते हैं। देववाणी का गौरव जनवाणीको प्रदान करने वाली शक्ति कवि के आदर्श शील में ही रहती है, जो अपनी पवित्रता से अनंत की शक्ति को अपने भीतर आकर्षित करके क्षुद्र को भी महान् बना सकता है।

राम के आदर्शों का विकास गोस्वामी जी के हृदय में उनके अवधप्रेम के रूप में भी हुआ। पवित्र शील के केन्द्र के चरणों का स्पर्श अयोध्या ने भी किया है, इसीलिए तुलसी उसकी भी उपासना करते हैं। सरजू ने उन्हीं चरणों का स्पर्श किया है, इसीलिए वह भी पवित्र है और उसमें भी कलि-कलुषों को नष्ट करने की शक्ति है। इसी कारण तुलसी उसकी भी उपासना करते हैं। अयोध्या के नर-नारियों की वन्दना करने से तो तुलसी रुक ही नहीं सकते, क्योंकि उनमें राम-प्रेम का अनंत विकास हो गया था और राम भी उन्हें अपने हृदय में ही रखा करते थे। संसार में, अनंत शील के आलोक-केन्द्र को उतार

लेने के लिए जो कौसल्या माध्यम बनीं, उनकी कीर्ति को तुलसी जगत् भर में प्रचारित कर देना चाहते हैं। दशरथ के साथ सब रानियों को 'सुकृत' और 'सुमंगल' की मूर्ति मान कर 'मन बानी' से गोस्वामी जी उन्हें प्रणाम करते हैं। राम के माता-पिता को गौरव के उच्चतम शिखर पर अधिष्ठित करके गोस्वामी जी ने उन्हें प्रणाम किया है।

इस तरह शील की नैसर्गिक भावना को अपने भीतर प्रतिष्ठित करके गोस्वामी जी ने अपने सिद्धान्त के अनुसार विश्वमंगल विधायक आदर्श कवियों के पथ का अनुसरण मात्र किया है।

शील की यही उपासना गोस्वामी जी के दशरथ में है। गोस्वामी जी के दशरथ अनंत शीलवान् के पिता और भक्त दोनों हैं। वात्सल्य भक्ति का आदर्श रूप उनके भीतर स्थान पा कर जगत् में अवतीर्ण हुआ था। सामान्य पिता के वात्सल्य को अपने हृदय में स्थान दे कर वे राम से प्रेम तो करते ही थे, पर उनके राम-प्रेम का मूल उनके आदर्शप्रेम के साथ भी रहता है। आदर्शों के प्रति इस प्रेम के कारण श्रद्धा और प्रेम के योग से, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सिद्धान्त के अनुसार दशरथ में भक्ति की उत्पत्ति मानी जा सकती है। अपने 'अवध भुआल' की वन्दना करते हुए उनमें गोस्वामी जी ने 'रामपद' के लिए 'सत्यप्रेम' भी देखा है। यह सत्यप्रेम जब किसी के चरणों के लिए हो जाता है तब उसे दास्यभक्ति का रूप मिल जाता है। दशरथ की यह भक्ति वात्सल्य और दास्य का समाहित रूप थी। वात्सल्य के भीतर होने वाले वियोग को दशरथ सह सकते थे। बालक राम से जब उनका अधिक सम्बन्ध वात्सल्यभाव से ही था, तब विश्वामित्र के साथ राम को भेज देने के बाद उस वियोग को वे सह सके थे। पर शील का विकास हो जाने पर राम के प्रति वात्सल्य के भीतर दशरथ को 'दीनदयाल' राम के आदर्शों के प्रति भी प्रेम प्राप्त हो चुका था। विश्वामित्र की याचना ने केवल उनके वात्सल्य पर आघात किया था। उस आघात को वे सह सके थे। पर 'दीनदयाल' मर्यादा पुरुषोत्तम के विश्वमंगल विधायक शील की भावना में सिद्धि प्राप्त कर लेने वाला दशरथ का साधक किसी के भीतर शील के विघात को नहीं सह सकता था, शील का यह विघात जब उनकी अपनी ही पत्नी कैकेयी में उन्हें दिखाई पड़ा तब वे व्याकुल हो गये। कैकेयी ने उनके वात्सल्य और भक्ति दोनों को विताड़ित किया, राम के विश्वमंगल विधायक शील का विरोध करके, वात्सल्य पर विश्वामित्र द्वारा दिये गये पवित्र धक्के को तो वे सह सके, क्योंकि उस समय राम लोक-मंगल विधान करने के लिए गये थे। उस कार्य से उनके शील का विकास हो रहा था। पर कैकेयी के नष्ट शील के द्वारा जब उनके वात्सल्य और भक्ति दोनों पर एक साथ ही क्रूर धक्का पड़ा तब वे शील के इस ह्रास को न देख सके। यहाँ उनकी भक्ति और वात्सल्य को एक साथ धक्का लगा। इन दोनों धक्कों को वे एक साथ न सह सके। वात्सल्य के धक्के को वे सह सकते थे, भक्ति के ह्रास को नहीं। कैकेयी के भीतर आदर्श के ह्रास को देख कर, राम के प्रति विद्रोह को देख कर वे अपने प्राणों से भी अनासक्त हो गये। उन्हें भी उन्होंने छोड़ दिया। आदर्श राम के बिना वे जीवित नहीं रह सकते थे। इससे

भी बढ़ कर वे इस आदर्श महामानव के लिए किसी के भीतर विरोध तो देख ही नहीं सकते थे ‡।

इसीलिए गोस्वामी जी ने 'दीनदयाल' शब्द भी राम के लिए बड़ी सतर्कता से दशरथ की इस वन्दना के भीतर रखा है। तुलसीदास जी के अनुसार दशरथ, पुत्र का वियोग तो सह लेते, पर दीनदयाल राम के प्रति कैकेयी की दुर्भावना उन्हें असह्य हो गयी। कैकेयी के द्वारा राम का यह दुर्भावनापूर्ण निर्वासन दशरथ नहीं सह सकते थे। दशरथ के इसी भक्तिपूर्ण हृदय को देख कर गोस्वामी जी को विमल सन्तोष का अनुभव हुआ है। ऐसे दशरथ का दर्शन करके उन्हें स्वान्तःसुख प्राप्त हुआ है और पुत्र के भीतर आदर्श का विकास देखने की इसी प्रकार की वासना रखने वाले दशरथ, लोकजीवन के भीतर पैदा करके वे अपने इस आनन्द को लोकहृदय के भीतर भी देखना चाहते थे। रामायण की हर पंक्ति इसी लोकादर्श के निर्माण की ओर उन्मुख है।

राम के इसी लोकादर्श के प्रति प्रेम-भक्ति को रामायण के सब आदर्श पात्रों के भीतर संचरित होते हुए गोस्वामी जी ने देखा है। वे उन पात्रों की इसीलिए वन्दना करते हैं कि उनके भीतर राम के आदर्शों के लिए प्रेमभक्ति पैदा हो गयी है। विदेह की और उनके सब परिजनों की वन्दना तुलसी ने इसलिए की है कि राम के चरणों के लिए मिथिला के राजा और प्रजा सबके भीतर गूढ स्नेह है। जिन विदेह ने योग को भोग के भीतर छिपा रखा था, जिनको राज्यकार्य में व्यस्त देख कर, परिवार में बँधा देख कर योगी समझना कठिन था, उन्हीं का योग राम को देखते ही प्रकट हो गया†। अपने हृदय के भीतर अनंत के प्रति जिस प्रेम को उन्होंने छिपा रखा था, वह राम को देख कर हृदय की सीमा लाँघ गया। निर्गुण के सगुण रूप पर उन्होंने अपने उस प्रेम को निछावर कर दिया, जिसे संसार की आँखों से उन्होंने बचा रखा था। लोकमर्यादा की भावना के ऊपर उठ कर जिसे अद्वैत की चेतना के प्रति आनन्दमय झुकाव उनके भीतर था। अपने उस आनन्द को लोकमर्यादा का आदर्श स्थापित करने वाले निर्गुण ब्रह्म के सगुण रूप के चरणों में उन्होंने अर्पित कर दिया। निर्गुण उपासना से वे सगुण उपासना की ओर चले आये। अद्वैत शक्ति के विराट् महत्त्व का चिन्तन करने वाला साधक लोकादर्श का पुजारी बन गया। तुलसी के विमल सन्तोष के भीतर हृदय के इसी धर्म का विकास किया गया है। समाज और परिवार के भीतर, व्यक्ति और विश्व के भीतर हृदय के जिस कोमल सूत्र के सम्बन्ध की सम्भावना निश्चित रूप से रहती है, उसको उत्पन्न करके तुलसी ने विमल सन्तोष का अनुभव किया है। अद्वैत दार्शनिक चिन्तन के भीतर लोकमर्यादा के विकास की सम्भावना नहीं रहती। साधना की विशिष्टाद्वैती चेतना के भीतर जगत् के सत्य हो जाने पर, ब्रह्म का स्वरूप बन जाने पर भी अपने रूप की चेतना को सम्हाले रहने के कारण लोकादर्शों का विकास संभव हो सकता है। जीवन के सम्बन्धों की पवित्रता में परमात्मा का दर्शन

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ६६। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १६ के बाद।

करने वाले तुलसी के समान साधकों ने जगज्जीवन के विकास को एक स्वाभाविक मार्ग दिया है, जिस पर चलने वाले साधक को रूप की पवित्र चेतना अरूप की ओर बड़े स्वाभाविक ढंग से ले जाती है। 'सियाराम' के आदर्शों के एक रंग से सब को रंग कर सगुण अद्वैत (विशिष्टाद्वैत) की लोकजीवन के भीतर स्थापना करने का सफल प्रयत्न गोस्वामी जी ने किया था। इसीलिए उनके जनक को जो आनन्द अद्वैत के चिन्तन में मिल रहा था, वही राम के पवित्र लोकादर्श के पवित्र सौन्दर्य के भीतर प्राप्त हो गया। लोकादर्श की स्थापना के भीतर से पैदा होने वाला विमल सन्तोष ही धीरे-धीरे व्यक्ति को अविरल हरिभक्ति की ओर ले जाता है। यह अविरल हरिभक्ति ही तुलसी के अनुसार जीवन का पूर्ण विकास है। इस अंतिम विकास की ओर गोस्वामी जी ने बालकांड की इस भूमिका में यत्र-तत्र संकेत किया है। उदाहरण के लिए उनकी भरत की वन्दना का विवेचन किया जा सकता है।

भरत की वन्दना करते हुए तुलसीदास जी ने कहा है—"प्रनवउं प्रथम भरत के चरना। जासु नेम व्रत जाइ न बरना। राम-चरन-पंकज मन जासू, लुबुध मधुप इव तजइ न पासू ‡।" राम के आदर्शों से प्रभावित हो कर भरत के मन का भ्रमर राम के चरणकमल में ऐसा लीन हो गया है कि उसे छोड़ता ही नहीं। राम के आदर्शों को अपने सम्मुख रख कर उनके सौन्दर्य के आनन्द में निरन्तर मग्न रहना ही अविरल हरिभक्ति है। ऐसे भक्तों का ध्यान करके तुलसी को विमल सन्तोष का अनुभव होता है। ऐसे ही आदर्शों का बीज रामायण की भूमिका में रख कर उन्होंने पाठकों के हृदय में उसके सौन्दर्य के चिन्तन की ओर उन्मुख किया है। यदि इन आदर्शों के प्रति झुकाव व्यक्ति में पैदा हो जाए तो उसे विमल सन्तोष का अनुभव होने लगेगा।

ऊपर-ऊपर से देखने वालों को लक्ष्मण उग्र स्वभाव के मालूम पड़ते हैं। पर लक्ष्मण की उग्रता भी पूज्य है। इस उग्रता की प्रेरणा, किसी व्यक्ति के भीतर राम के आदर्श के प्रति विद्रोह, विरोध या कमी देख कर ही, लक्ष्मण के हृदय में पैदा होती है और राम के आदर्शों के विकसित होने में योग देती है। राक्षसी प्रवृत्तियों के दमन के लिए जो उग्रता राम के स्वभाव में पैदा होती है उसी तरह की उग्रता लक्ष्मण के भीतर भी पैदा होती है. जब वे किसी भी मनुष्य के शील के भीतर राम के आदर्शों के प्रति किसी भी प्रकार की शिथिलता देखते हैं। रामायण भर में लक्ष्मण के शील को पहचानने के लिए इस अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है। अपने स्वभाव से लक्ष्मण शीतल हैं। वन्दना तथा नामकरण इत्यादि के प्रकरणों में लक्ष्मण के इस स्वभाव की ओर गोस्वामी जी ने लक्ष्य किया है—"बन्दउं लछिमन पद-जलजाता, सीतल-सुभग-भगत-सुखदाता †"। "लच्छन धाम रामप्रिय सकल जगत् आधार। गुरु वसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार §"। शुभ लक्षणों के संग्रह को अपने भीतर स्वाभाविक ढंग से जन्म से ही पाने वाला व्यक्ति

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १६ के बाद। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १६ के बाद। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १९७।

व्यर्थ की उग्रता कैसे धारण कर सकता है। सार्थक उग्रता तो तुलसी के लिए विमल सन्तोष-दायिनी ही है। इस तरह की उग्रता की तुलसी उपासना करते हैं, जो जगत् की रक्षा करे। लक्ष्मण भगत सुखदाता हैं। वे विनम्र लोगों के लिए सुख का विधान तथा उद्दंड आतताथियों के लिए दण्ड की व्यवस्था करते रहते हैं। रामायण भर में उनका यही स्वभाव चित्रित किया गया है। "रघुपति कीरति विमल पताका, दण्ड समान भयेउ जस जाका। सेष सहस्रसीस जगकारन, जो अवतरेउ भूमि-भय-टारन ‡"। राम की कीर्ति की उज्ज्वल पताका के लिए लक्ष्मण का यश दण्ड की तरह था। पृथ्वी के भय को दूर करने के लिए ही ये पैदा हुए थे। राम के आदर्शों की उज्ज्वल पताका को लक्ष्मण के शुभ कार्यों ने जीवन भर सहारा दिया। मेघनाद के भय से जगत् की रक्षा के लिए लक्ष्मण ने अपने जीवन के चौदह वर्षों में कठोर साधना की थी। लक्ष्मण के इसी कृपामय त्याग के कारण गोस्वामी जी ने उन्हें 'कृपासिन्धु सौमित्र गुनाकर' कहा है †। लक्ष्मण के इसी सर्वतोमुखी पवित्र शील का साक्षात्कार करके उनके भीतर कृपासिन्धु तथा गुणों का आकर देख कर तुलसी को विमल सन्तोष प्राप्त होता है और इसी पद्धति से उत्पन्न हुए विमल सन्तोष को वे संसार भर को बाँट देना चाहते हैं।

शत्रुघ्न में भी इसी शक्ति और शील का दर्शन करके उनके सामने गोस्वामी जी प्रणत हो गये हैं—"रिपुसूदन-पदकमल नमामी, सूर सुशील भरत अनुगामी §"। जगत् के बीच में खलता की दावाग्नि के लिए ज्ञान-घन का काम करने वाले पवनकुमार की वन्दना भी इसीलिए गोस्वामी जी ने की है कि उनके हृदय में राम की लोक-रक्षिका शक्ति का निरन्तर ध्यान रहता है। 'प्रनवउं पवन कुमार खलवन पावक ग्यान घन। जासु हृदय आगार, वसहिं राम सर-चाप-धर *"।

विमल सन्तोष सम्पादन के मार्ग पर तुलसी के पग क्रमशः इसी तरह आगे बढ़ते जाते हैं। संसार की स्वार्थमय चेतना के ऊपर मनुष्य को ले जाने वाली, पवित्र ज्ञान की आँखें ही होती हैं। ये ही ज्ञान की आँखें व्यक्ति के जीवन में विमल सन्तोष की स्थिति उत्पन्न कर सकती हैं। इन्हीं ज्ञान की आँखों से व्यक्ति को 'सियाराममय सब जग' की अनुभूति हो सकती है और इसी अनुभूति के बाद राम का भवमोचन चरित व्यक्ति के भीतर पैदा हो सकता है। एकत्व को देख लेने के कारण ऐसे व्यक्ति का स्वार्थ नष्ट हो जाता है और वह मर्यादा पुरुषोत्तम की तरह महामानव हो कर विमल सन्तोष में मग्न हो जाता है।

स्वार्थमय जगत् को देखने वाली आँखों के वासनाजन्य दोषों को दूर करके, उन्हें अमृतमय अभेददर्शन के पास पहुँचा देने की क्षमता गुरु के चरणों की धूल के अंजन में गोस्वामी जी ने देखी है। गुरुभक्ति अभिमान को दूर कर व्यक्ति में एक ऐसी विनम्रता का प्रकाश भर देती है, जिसके सामने स्वार्थपूर्ण सब कर्म जल जाते हैं—"गुरु-पद-रज-मृदु

‡ रामचरितमानस, वालकांड, दोहा १६ के बाद। † रामचरितमानस, वालकांड, दोहा १६ के बाद। § रामचरितमानस, वालकांड, दोहा १७ के पहले। * रामचरितमानस, वालकांड, दोहा १७।

मंजुल अंजन। नयन अमिय दृग दोष विभंजन । तेहि करि विमल विवेक विलोचन, वरनउं रामचरित भवमोचन ‡" ।

इस प्रकार की गुरुभक्ति विमल सन्तोष की जननी के रूप में तुलसी को दिखाई पड़ती है । इस विमल सन्तोष से विमल यश की उत्पत्ति होती है । इस विमल सन्तोष का मूल्य भी वे ही अंकित कर सकते हैं, जिनके भीतर हरिभक्ति के कारण विमल सन्तोष पैदा हो जाता है । अपूर्ण व्यक्ति के भीतर से दोषों को निर्मूलित करके हरि के जन जो स्वयं महामानव होते हैं, महामानव को पैदा कर लेते हैं और विकसित महामानव को विमल सन्तोष और विमल यश प्रदान करते हैं—"काल सुभाव काम-बरिआई । भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई । सो सुधारि हरिजन जिमि लेहीं । दलि दुख दोष विमल जस देहीं † ।"

चिन्तन के क्षेत्र में गोस्वामी जी के अनुसार विशिष्टाद्वैत की चिन्तन-धारा ही विमल सन्तोष सम्पादन कर सकती है । इस धारा के भीतर गोस्वामी जी ने सब धाराओं का समन्वय करके चारों तरफ़ भटकते हुए मन को विमल सन्तोष की ओर बढ़ने का मार्ग बताया है । जो अद्वैत ब्रह्म एक, अनीह, अरूप, अनाम, अज, सच्चिदानन्द, परधाम, व्यापक, विश्वरूप भगवान है, वही देह धारण करके अनेक प्रकार की लीलाएँ करता है और वह भी केवल भक्तों के हित के लिए । वह परमकृपालु है और प्रणतों के लिए अपने हृदय में अनुराग रखता है । वह जन के लिए ममता और अतिशय स्नेह रखता है । वह एक बार करुणा करके फिर कभी क्रोध नहीं करता—"गई बहोर, गरीब नेवाजू । सरल सबल साहिब रघुराजू । बुध बरनहिं हरिजन अस जानी । करहिं पुनीत सफल निज बानी $ ।" तुलसी का रघुराज बिगड़ी हुई बात को सुधारने वाला, गरीबों का रक्षक तथा सरल और सबल स्वामी है । उनके अनुसार रघुराज के इन्हीं गुणों को जान कर उनके यश का वर्णन करते हैं और अपनी वाणी को पुनीत तथा सफल बना लेते हैं ।

ब्रह्म जब चिदचिद्‌विशिष्ट होता है, तभी उसका अवतार संभव होता है । चित् (चेतन) आत्मा और अचित् (अचेतन) शरीर के योग से ही जीव की सृष्टि संभव होती है । साधारण मनुष्य के भीतर अचेतन शरीर से सम्बद्ध वासनाओं के कारण आत्मशक्ति का प्रकाश धूमिल पड़ जाता है । अवतारों के भीतर शारीरिक वासनाओं के ऊपर उठे रहने की अनासक्तिमय शक्ति होती है । इसी अनासक्ति के कारण अवतारों में परमात्मा का पूर्ण प्रकाश माया की अज्ञानजन्य वासना से तिरोहित नहीं होता । शंकराचार्य का मायावाद प्रकृति की बहुलता को, माया के सम्पूर्ण विकास को, जगत् के भेददर्शन को, उसकी भेदात्मिका स्थिति को मानवकल्पित और इसीलिए भ्रान्त एवं असत्य मानता है । इस सिद्धान्त की दृष्टि से सगुण उपासना हेय ही समझी जा सकती है । अवतार का रूप जब माया या भ्रम ही है, तब भ्रम या असत्य की उपासना कैसे की जा सकती है । सगुण उपासना के विरुद्ध खड़ी होने वाली इस सिद्धान्त-धारा को व्यर्थ सिद्ध करने के लिए

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १ के बाद । † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ६ के बाद । $ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १२ के बाद ।

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य रामानुज ने निर्गुण ब्रह्म को मायाविशिष्ट मान लिया। उन्होंने जगत् के सम्पूर्ण भेदमय विकास को, जड़ता की सम्पूर्ण रंगीनी को, माया की समग्र सृष्टि को विराट् अनंत ब्रह्म के शरीर का ही अंग मान कर सत्य मान लिया। उसके ऊपर से असत्य होने के दोष का उन्होंने निराकरण कर दिया। ऐसी अवस्था में माया भ्रान्ति न हो कर सत्य हो गयी। उनके अनुसार जगत् की वासनामय दृष्टि जब माया को देखती रहती है तभी तक दोष रहता है। दोष मनुष्य की दृष्टि में है, माया में नहीं। उपासना की भक्ति-प्रवण दृष्टि से परमात्मा के प्रेम से स्निग्ध हुई आँखें जब अवतार के रूप को देखती हैं, तब उस रूप में उन्हें परमात्मा ही दिखाई देता है, वासना नहीं। यह दृष्टि वासना का उन्मूलन कर देती है। इस प्रकार सगुणोपासना के क्षेत्र के भीतर रूप की उपासना भी सत्य की उपासना हो जाती है, भ्रान्ति या असत्य की नहीं।

आचार्य रामानुज के इसी सिद्धान्त के अनुसार गोस्वामी जी ने एक, अनीह, अरूप, अनाम, अज, सच्चिदानन्द, परधाम, व्यापक तथा विश्वरूप भगवान को शरीरी हो कर लोकादर्श का प्रचार करने वाला कहा है। निरभिमान भक्तों के मार्ग से बाधाओं को दूर करने के लिए ही वह पैदा होता है। ये बाधाएँ शील के ह्रास के रूप में राक्षसी प्रवृत्तियों में विकसित हो कर आदर्शप्रिय भक्तों के इस परमात्मप्रेम को धक्का देती रहती हैं। परमात्मा के भीतर अपने इन जनों के लिए बहुत ही ममता रहती है। उसका यह स्नेह इतना अपार रहता है कि वह सदा करुणा ही करता है, क्रोध कभी नहीं करता। रघुराज, भ्रष्ट को सत्पथ पर लाने वाला, आपत्तियों को सम्पत्ति के रूप में बदल देने वाला, दीन का रक्षक, सरल स्वभाव, अपार शक्तिवान् तथा सर्वेश है। बुद्धिमान लोग ज्ञान के इसी दृष्टिकोण से उसका यशोगान करते हैं और अपनी वाणी को पवित्र तथा सफल बना लेते हैं। यही दृष्टिकोण उलझनों को दूर करके चिन्तनशील व्यक्ति को विमल सन्तोष प्रदान करता है। ब्रह्म और जगत् की एकता का यही सिद्धान्त, रूप और अरूप की अभिन्नता का दर्शन करने वाली यही दृष्टि तुलसी को विमल सन्तोष प्रदान करती है और रामायण भर में यही दृष्टि विकसित होती हुई चली गयी है।

चिन्तन के क्षेत्र में ही नहीं, उपासना के क्षेत्र में बहुदेवों के भीतर भी तुलसी की यही 'सियाराममय सब जग' की अनुभूति काम कर रही है। तब देवताओं में राम का दर्शन करते हुए तुलसी ने अपने साहित्य के भीतर उन सबकी उपासना को रामोपासना की ओर उन्मुख करके विमल सन्तोष का अनुभव किया है। राम के उसी आदर्श की अनुभूति प्राप्त करने की क्षमता उन्होंने सब देवी-देवताओं से सियाराममय सम्पूर्ण जडचेतन जगत् से माँगी है।

प्रायः सब भारतीय वैदिक धार्मिक चेतनाएँ मुख्यतः दो धाराओं में प्रवाहित होती हैं। एक वैष्णव भक्ति धारा और दूसरी शैव भक्ति धारा है। बाकी सब धाराएँ इन्हीं के भीतर विलीन कर दी जा सकती हैं। शाक्त, गाणपत्य इत्यादि सब धाराएँ इन्हीं में से एक या दूसरी से सम्बद्ध हैं। बीच-बीच में स्वार्थी मनुष्य इन सम्प्रदायों को अलग-अलग

युद्धक्षेत्र बना कर संघर्ष में प्रवृत्त हुआ है और महात्मा लोगों ने बार-बार उनमें समन्वय पैदा करने के प्रयत्न किये हैं। उन्होंने इन सब सम्प्रदायों को एकत्व में परिणत करने के सफल प्रयास किये हैं। अपने युग की इन्हीं संघर्षशील प्रवृत्तियों को शान्त करने के लिए तुलसी ने अपने साहित्य के भीतर वैष्णव और शैव मतों का समन्वय करने की एक विराट् योजना बनायी है। छिन्न-भिन्न होने वाले मानव समाज की एकता की रक्षा के लिए तुलसी का यह प्रयत्न उनके साहित्य-पथ के पग-पग पर दिखाई पड़ता है। अपने इस कार्य को तुलसी कभी नहीं भूले हैं। गीतावली, कवितावली, कृष्णगीतावली, विनयपत्रिका, तथा रामचरितमानस इन सब में तुलसी की यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है और मानस तथा विनय पत्रिका में यह बहुत अधिक व्यापक रूप में दिखाई पड़ती है। विशेषतः मानस में तो यह प्रवृत्ति आद्योपान्त अविच्छिन्न प्रवाहित हुई है। यहाँ तक कि रामचरित के इस संग्रह का नाम भी गोस्वामी जी ने शंकर के कैलास क्षेत्र के मानसरोवर के आधार पर ही मानस रखा है। उन्होंने रामचरित को शंकर के मानस में उनके हृदय में तथा उनके प्रिय सरोवर मानस के ही रूपक में संगृहीत किया है और रामचरित का प्रथम आचार्य वे शिव को ही मानते हैं—"संभु कीन्ह यह चरित सोहावा ‡।" यह समन्वय भावना भी गोस्वामी जी के विमल सन्तोष सम्पादन की योजना का एक अंग है।

साहित्यिक साधना के क्षेत्र में भी विमल सन्तोष की अनुभूति गोस्वामी जी को प्राप्त हुई है। जो साहित्यिक साधना विमल वाणी के द्वारा मनुष्य के हृदय को उज्ज्वल बनाना चाहती है, वही तुलसी के अनुसार उचित साधना है। तुलसी को अपनी वाणी की साधना पर विश्वास है। वे यह समझते हैं कि राम के आदर्शों की ओर झुकने के लिए जिनके भीतर प्रवृत्ति है, उन्हें मानस को पढ़ कर सुख होगा, पर जिनके भीतर राम के पवित्र जीवन के लिए स्थान ही नहीं है, वे मेरे इस प्रयास का केवल उपहासमात्र करेंगे। राम से विमुख लोगों के लिए भी कवि के भीतर दया है। वह कहता है कि कविता का रस और राम का स्नेह जिनके भीतर स्थान नहीं पाता, उनके लिए मेरी कविता सुखद हास्य रस हो कर उपयोगी ही सिद्ध होगी—"भाग छोट अभिलाषु बड करउं एक विस्वास। पैहहिं सुख सुनि सुजन सब खल करिहहिं उपहास †..."हरिहर पद रति, मति न कुतरकी। तिन्ह कहँ मधुर कथा रघुवर की। प्रभु पद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहिं कथा सुनि लागिहि फीकी $।"

राम के आदर्शों का प्रचार जो वाणी करती है वह सफल हो जाती है—"बुध बरनहिं हरिजस अस जानी। करहिं पुनीत सुफल निज बानी *।"

अपने पूर्वज कवियों को नमस्कार करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं—"आप तो यही समझ कर हम पर कृपा कीजिए कि राम का विमल यश हमारी वाणी को सुवाणी

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २९ के बाद। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ८। $ रामरितमानस, बालकांड, दोहा ८ के बाद। * रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १२ के बाद।

वना देगा ‡।" भाषा की सरलता को भी विमल सन्तोष का कारण गोस्वामी जी ने माना है—"सरल कविता कीरति विमल, सोई आदरहिं सुजान। सहज वयर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं वखान। सो न होइ विनु विमल मति मोहि मतिवल अति थोर †।" विमल कीर्ति का प्रचार करने वाली सरल कविता ही सज्जनों से सम्मान प्राप्त करती है। उसमें इतनी शक्ति होती है कि शत्रु भी उसकी प्रशंसा करता है। पर कवि के भीतर वह प्रभाव विमल मति के कारण ही सम्भव होता है। तुलसी का कवि अपनी नम्रता के कारण कहता है कि मुझमें तो मति का वल वहुत ही कम है।

इस विमल मति की प्राप्ति के लिए वह पावन बुद्धिवाली सीता की वन्दना करता है—"जनक सुता जग जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की। ताके जुग पद कमल मनावौं। जासु कृपा निर्मल मति पावौं $।" निर्मल मति वाली जगदम्बा जानकी का ध्यान कवि के भीतर निर्मल मति की सृष्टि करने में सक्षम है। इसीलिए सीता के आदर्श का चिन्तन वह कर लेता है।

अनासक्तिपूर्ण अहैतुकी भक्ति को तुलसीदास जी ने सर्वोत्तम स्थान दिया है। इस प्रकार की भक्ति से विमल सन्तोष की सृष्टि होती है—"वन्दउँ पद सरोज सव केरे। जे विनु काम राम के चेरे।" निष्काम हो कर राम के चरित-चिन्तन में खो जाना ही तुलसी की दृष्टि में विमल सन्तोष का स्रोत है। इसीलिए रामकथा और रामचरित को ही उन्होंने अपनी भक्ति-पद्धति में प्रमुख स्थान दिया है, क्योंकि इन्हीं के चिन्तन के द्वारा व्यक्ति जीवन की ऊँचाई की परमावस्था प्राप्त कर सकता है। राम की पवित्र कथा से बुद्धिमान् मनुष्यों के मन को शान्ति प्राप्त होती है। समग्र समस्याओं का एक साथ हल प्रस्तुत करने वाली यह कथा सव लोगों के मन को सन्तुष्ट कर सुखी वना देती है, कलि के प्रभाव से उत्पन्न हुए मनुष्य के हृदय के सब कलुषों को यह कथा समूल उन्मूलित कर देती है—"वुध बिस्राम सकल जन-रंजनि। रामकथा कलि कलुष विभंजनि *।"

भक्ति साधना के चिन्तनपक्ष और व्यवहारपक्ष, दोनों दृष्टियों से, रामकथा का विश्लेषण कर लेने पर ही तुलसी को विमल सन्तोष का अनुभव हुआ है। पवित्र चिन्तन और पवित्र व्यवहार विश्व भर में विकसित होने वाली भक्ति साधना का मूल रहस्य है। व्यवहार और विचार की यही पवित्रता, मन, वाणी और कर्म की त्रिविध पवित्रता का रूप भक्ति साधना के भीतर रहता है। भक्ति के इसी मूलाधार पर संसार के सब संतों और भक्तों ने मानव समाज के लोकादर्श को ऊँचाई की ओर मोड़ कर अपूर्ण नर को पूर्ण नारायण वनाने के प्रयत्न किये हैं। आदर्श समाज निर्माण का यह कार्य तुलसीदास जी ने भी इसी योजना को अपना आधार वना कर किया है। उनके राम में व्यवहार और विचार की यही पवित्रता मानस भर में दिखाई पड़ती है। एक ओर तो वे अपने आदर्श व्यवहार

---

‡ रामचरितमानस, वालकांड, दोहा १४ के पहले। † रामचरितमानस, वालकांड, दोहा १४। $ रामचरितमास, वालकांड, दोहा १८ के पहले। * रामचरितमानस, वालकांड, दोहा ३० के वाद।

से संसार को मर्यादा का पथ दिखाते हैं और दूसरी ओर अपने आदर्श विचारों के उपदेश से पवित्र विचार लोगों के भीतर पैदा करते हैं। सीता के प्रथम दर्शन के बाद वे लक्ष्मण के सामने अपने आदर्श व्यवहार को रखते हुए कहते हैं—"मोहि अतिशय प्रतीति मन केरी, जेहि सपनेहुँ पर नारि न हेरी ‡।" उत्तरकांड में भरत के पूछने पर वे संतों के स्वभाव के सम्बन्ध में अपना उच्च चिन्तन उनके सामने रखते हुए कहते हैं—"संतों और असंतों का व्यवहार कुठार और चन्दन के समान होता है। कुठार चन्दन को काटता है और चन्दन अपनी सुगन्ध से उसे सुवासित कर देता है। अपने इस कोमल स्वभाव के कारण चन्दन लोकप्रिय हो कर देवताओं के मस्तक पर चढ़ता है और कुठार का काटने वाला मुख आग में जलाया जा कर पीटा जाता है। उसके लिए इस तरह के दंड का विधान होता है। संत विषयों से आसक्त नहीं होते। वे शील और गुण के आकर होते हैं। दूसरों के दुख को देख कर वे दुखी होते हैं और दूसरों के सुख से सुखी। वे समदर्शी, अजातशत्रु, निरभिमान, विरागी, लोभ, क्रोध, हर्ष और भय के ऊपर उठे हुए रहते हैं। वे कोमल चित्त, दीनों के रक्षक, तथा मन, वाणी और कर्म से मेरी भक्ति में लीन रहते हैं। माया के प्रलोभन उन्हें आकृष्ट नहीं कर सकते †।"

इसी तरह आदर्श विचार और आदर्श व्यवहार के सन्तुलन से गोस्वामी जी ने मर्यादा पुरुषोत्तम के भीतर के पूर्ण पुरुष को अभिव्यक्त करके संसार के सम्मुख इसलिए रख दिया है कि उसका अनुसरण करके पूर्णता की ओर मानव अग्रसर होता हुआ चला जाए।

राम के इसी सन्तुलित विचार और व्यवहार की आदर्श पूर्णता को अपनी दृष्टि में रख कर तुलसी ने रामकथा और रामचरित के माहात्म्य का विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

राम की कथा कलिरूपी सर्प के लिए भरणी नक्षत्र के समान है। जिस तरह भरणी नक्षत्र की जल-वर्षा से सर्प मरते हैं उसी तरह राम की कथा मर्यादा पुरुषोत्तम के आदर्श का प्रचार करके कलि के दोषों को नष्ट कर देती है। राम की कथा पर ज्ञान की आँखों से चिन्तन करने वाला विवेक के प्रकाश को, अभेद दर्शन को, प्राप्त कर लेता है। मर्यादा पुरुषोत्तम के जीवन का आदर्श विश्व की रक्षा था। उनके आदर्शों के प्रचार से विश्वमानव विश्वरक्षा के लिए सन्नद्ध हो जाता है। इसीलिए रामकथा विश्व का भार धारण करने में अचला पृथ्वी की तरह सक्षम है। यह कथा शरीरी मनुष्य को जीवन के भीतर रहते हुए भी स्वार्थों के ऊपर उठा कर उनसे मुक्ति दे देती है। यह रामकथा सद्गुणों की जननी है। इस कथा के आदर्शों को अपने जीवन में उतार लेने वाला मनुष्य रघुवर-भक्ति की अंतिम सीमा पर, राम के आदर्शों की पूर्णावस्था पर पहुँच जाता है।

राम की यह कथा उनके चरित्रों से तदाकार हो कर ही प्रवाहित होती है। राम के चरित सुन्दर चिन्तामणि के समान हैं। चिन्तामणि सब कामनाओं की पूर्ति करती है और राम के पथ का अनुसरण करने वाला सब कामनाओं को अनायास ही अपने आदर्श जीवन के

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३० के बाद। † रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ३७ के पहले और बाद।

भीतर प्राप्त कर लेता है। राम के चरित्र संतों की सुमतिरूपिणी नारी के लिए शोभन शृंगार हैं। उन्हें अपने भीतर स्थान दे कर संतों की मति मनोहर आकर्षण प्राप्त कर लेती है। राम के गुणग्राम लोकमंगल विधान के कारण बनते हैं। राम के चरित इतने महान् हैं कि उनके भीतर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सब स्थान पा जाते हैं। इसीलिए साधक का चतुर्वर्ग उन्हीं के चिन्तन और व्यवहरण से सिद्ध हो जाता है। राम के जीवन में ज्ञान, वैराग्य और योग सब एक साथ दिखाई पड़ते हैं। इसीलिए उनके चरित्र इन सबकी शिक्षा देने वाले सद्‌गुण हैं। संसार के भयानक संताप को शान्त करने के लिए राम के चरित्र धन्वन्तरि के समान हैं। संसार का ताप राम को व्याप्त नहीं कर सकता था। अपनी इसी क्षमता के कारण उनके चरित्र, साधक के मन पर संसार के ताप का स्पर्श तक नहीं होने देते।

राम के चरित्र सीताराम के प्रेम के माता-पिता हैं। राम ने अपने स्वार्थों की बलि के आधार पर जिस लोकादर्श की स्थापना की उसी से तो जनसमाज के भीतर सीताराम के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। यह प्रेम प्रिय के आदर्शों में प्रेमी को तन्मय कर देता है। इन आदर्शों के प्रकाश में अपने भीतर प्रेम का मधुर दर्शन करके प्रेमी, प्रिय के आदर्शों के साँचे में ढल कर अपने और प्रिय के बीच अद्वैत की सृष्टि कर लेता है। आदर्शों के विशेषणों के आधार पर अद्वैत भूमि पर पहुँच जाना ही विशिष्टाद्वैती चिन्तनधारा का जीवनदर्शन है। इसी जीवनदर्शन के आधार पर भक्त और भगवान् में, सीता और राम में अद्वैत स्थापित होता है। पवित्र लोकादर्शों के व्यापक प्रकाश को जगत् के बीच सृष्ट कर महामानवों की सृष्टि करने के लिए जब पुरुषोत्तम अवतीर्ण होता है तब उसके चरित्रों की मधुर भावना करके कवि का हृदय प्रफुल्लित हो उठता है और वह कहता है—ये चरित्र सीताराम के प्रेम के मातापिता तथा 'सकल-व्रत-धरम-नेम के' ‡ बीज हैं। भगवान् के भीतर आदर्शों के ये बीज प्रस्फुटित हो कर समाज के भीतर लोकादर्श के विराट् वटवृक्ष का चिरजीवी रूप धारण कर लेते हैं। इन्हीं आदर्शों का प्रकाश युग-युग में फैला कर आदर्शवादी कवि और युगपुरुष विमल सन्तोष का अनुभव करते हैं। तुलसी और गाँधी ने इसी विमल सन्तोष का अनुभव किया था, सियाराम के आदर्शों को सम्पूर्ण विश्व के भीतर प्रचारित करने का प्रयत्न करके।

जब इन आदर्शों का प्रचार हो जाता है, तब लोगों के पाप, संताप और शोक शान्त हो जाते हैं—'समन पाप-संताप-सोक के † ।' ये आदर्श लोभ के अपार महासागर के लिए अगस्त्य का काम करते हैं—'कुंभज लोभ-उदधि अपार के' § । राम के भक्त के भीतर कलि के कलुष जब काम-क्रोध के हाथी के रूप में मदान्ध हो कर उत्पन्न हो जाते हैं, तब इन आदर्शों का ध्यान सिंह शावक बन कर उन्हें समाप्त कर देता है। इन चरित्रों का सत्कार अपने हृदय और जीवन में साधक शिव इस प्रकार करते हैं, जिस प्रकार पूज्य और प्रियतम अतिथि का सत्कार हुआ करता है। ये चरित्र दारिद्रय की दावाग्नि को शान्त करने वाले घन की तरह आ कर मनुष्य के ऊपर उसके मनोरथों की वर्षा करके अभाव में जलते हुए उसके हृदय को शान्त और शीतल बना जाते हैं। राम के आदर्शों में ढल जाने वाले महा-

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३१ के बाद। † वही वही।

मानव के भीतर अभाव से उत्पन्न होने वाली दीनता कहाँ सम्भव है। इसीलिए गोस्वामी जी ने राम के उन चरित्रों को 'अतिथि पूज्य-प्रियतम पुरारि के, कामद घन दारिद दवारि के' ‡ कहा है।

विषयरूपी सर्प के लिए राम के त्यागप्रधान चरित्र मन्त्र और महामणि का काम करते हैं। मनुष्य के ललाट में लिखे हुए दुर्भाग्य की कठोर और वक्रलिपि इन आदर्शों के प्रकाश के तेज से पिघल कर कोमल और सुन्दर अक्षरों के साँचे में ढल जाती है। दुर्भाग्य सौभाग्य के रूप में परिणत हो जाता है। राम के आदर्श के दर्पण के सम्मुख आ कर जब अपने स्वरूप के भीतर की मलिनताओं को साधक देख लेता है, तब वह उन्हें तुरन्त मिटा कर स्वच्छ हो जाता है। उसके लिए वासना और दुर्भाग्य, सौभाग्य और उपासना के रूप में बदल जाते हैं। वह विश्वप्रिय हो जाता है। रामचरित्र के इन्हीं प्रभावों की सम्भावना से मुग्ध हो कर तुलसी का कवि-हृदय बोल उठा है—'मन्त्र महामनि विषय व्याल के, मेटत कठिन कुअंक भाल के' †।

जिस तरह सूर्य का प्रकाश अन्धकार को अनायास ही दूर कर देता है, उसी तरह राम के आदर्शों का तेज अज्ञान के अंधकार का विरोधी है। वह अपने साधक की रक्षा और संवृद्धि इस तरह किया करता है, जिस तरह बादल धान की रक्षा और संवृद्धि जल से किया करते हैं। कल्पतरु की तरह राम के आदर्श सब इच्छाओं की पूर्ति कर देते हैं। पूर्णकाम राम के आदर्शों के रंग में डूब जाने वाले के भीतर इच्छाएँ रह ही नहीं जातीं। उसके हृदय का इतना विकास हो जाता है कि राम की तरह वह दूसरों की इच्छाएँ पूर्ण करने में ही अपने जीवन के स्वभाव को बदल लेता है। वह स्वतः पूर्णकाम हो जाता है। तुलसी के अनुसार राम के ये आदर्श, भक्त को सुखी बनाने में उतने ही समर्थ रहते हैं जितने समर्थ भक्त को सुखी और ऐश्वर्यसम्पन्न बनाने में विष्णु और शिव हो सकते हैं—'अभिमत दानि देव तरुवर से, सेवत सुलभ सुखद हरिहर से' $। विश्व-रक्षण और मंगलविधान क्रम से विष्णु और शिव के कार्य हैं। राम का शील भक्त में अवतीर्ण हो कर उसकी रक्षा और उसके मंगल का विधान स्वयं कर लेता है। जिस प्रकार विष्णु और शिव उपासना से सुलभ हो जाते हैं, उसी प्रकार राम के आदर्श भी सुलभ होते हैं। अनुभव-गम्य होने के कारण वे दुरूह और दुर्लभ नहीं हैं।

ये पवित्र और उज्ज्वल आदर्श, शीतल हृदय के उज्ज्वल और शान्तिमय शरदाकाश में नक्षत्रों की तरह चमकते रहते हैं। राम का भक्त इन आदर्शों को अपना जीवन, अपना सब कुछ समझता है। बिना पवित्रता और शान्ति की साधना किये हृदय के आकाश में राम के आदर्शों का आलोक नहीं प्राप्त हो सकता। इन्हीं आदर्शों की उपासना तुलसी की भक्ति-साधना का मूल है। तुलसी के राम, जीवन की पवित्रता की साधना में लीन रहते हैं। स्वार्थों से ऊपर उठ कर वे अकारण जगहित में लगे रहते हैं। उनकी इस प्रवृत्ति को सम्भव बनाने के लिए स्वार्थ कारण बन कर नहीं आता। इसी अकारण जगहित को देख कर गोस्वामी जी को विमल सन्तोष का अनुभव होता है। गंगा की लहरों के समान पवित्र

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३१ के बाद। † वही। $ वही।

और शीतल, राम के ये आदर्श, सेवक के मनमानस को हंस के समान अपनी धवलता से उज्ज्वल बना देते हैं। उसे विमल सन्तोष की प्राप्ति हो जाती है। स्वार्थ की सिद्धि से साधारण सन्तोष होता है, पर लोकमंगल विधान कर लेने से विमल सन्तोष की सिद्धि हो जाती है। तुलसी को पवित्र भावना के भीतर अनंत राम के चरित का महत्त्व, अनंत हो गया है। उनके अनुसार जिस तरह प्रचंड आग लकड़ी को भस्म कर देती है, उसी तरह राम का गुण-ग्राम कलि के कुपथ, कुतर्क, कुचाल, कपट, दंभ और पाखंड को जला कर भस्म कर देता है। पूर्ण चन्द्र की किरणों की तरह रामचरित साधारणतः सबको सुखद होता है, कुमुद और चकोर के समान सज्जनों के मन को उससे विशेष महत्त्वपूर्ण लाभ होता है। सज्जन तो राम बन कर ही विमल सन्तोष का अनुभव करता है। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म सगुण हो कर यदि लोक जीवन के भीतर अवतरित न होता तो समाज का इस तरह का आदर्श और स्वाभाविक विकास असम्भव था‡:

'सकल सुकृत फल भूरि भोग से। जगहित निरुपधि साधु लोग से।
सेवक-मन-मानस-मराल से। पावन गंग-तरंग-माल से।'

राम के द्वारा किया हुआ निरुपधि (अहैतुक) जग-हित ही विमल सन्तोष का सम्पादन कर सकता है। भक्त के मानस में राम के उज्ज्वल आदर्श का हंस विमल सन्तोष की सृष्टि करता है।

कुपथ कुतरक कुचालि कलि कपट दंभ पाखंड।
दहन राम-गुन-ग्राम जिमि ईंधन अनल प्रचंड।
रामचरित राकेस-कर-सरिस सुखद सब काहु।
सज्जन-कुमुद-चकोर-चित हित बिसेषि बड़ लाहु†।

कुमार्ग, कुतर्क, कुचाल, कलि, कपट, दंभ और पाखंड को राम का आदर्श शील भस्म कर देता है। चन्द्रमा की चन्द्रिका की तरह राम का शील सबको विमल सन्तोष प्रदान करता है। चकोर के चित्त की तरह सज्जनों के चित्त के लिए राम के आदर्श शील से बढ़-कर कोई दूसरा लाभ नहीं होता। यही लाभ तुलसी की भक्ति है।

विश्वास, सम्मान और प्रेम के आधार से जो भक्ति पैदा होती है, वही विमल सन्तोष को पैदा करती है:

नाना भाँति राम अवतारा, रामायन सत कोटि अपारा।
कलप भेद हरि चरित सोहाए, भाँति अनेक मुनीसन्ह गाये।
करिय न संसय अस उर जानी, सुनिय कथा सादर रति मानी$।

ये विश्वास, सम्मान और प्रेम विमल विचार से पैदा होते हैं। ऊपर के 'करिय न संसय', 'सादर' और 'रति' तथा निम्नांकित 'विमल विचार' शब्दों से गोस्वामी जी ने इसी सत्य को प्रस्तुत किया है।

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३१ के पहले और बाद की चौपाइयाँ। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३२। $ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३ के पहले।

राम अनंत-अनंत गुन अमित कथा विस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहिं जिनके विमल विचार‡।

जीवन के भीतर राम के विशद् गुणों की उपासना ही रामभक्ति है। इसी पद्धति से विमल सन्तोष सम्पादन होता है:

सादर सिवहि नाइ अब माथा, बरनउं बिसद राम-गुन-गाथा†।

यही 'बिसद राम-गुन-गाथा' जब व्यक्ति के जीवन का अंग बन जाती है, तब वह रामभक्त होता है:

तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परि है।

जगत् के द्वन्द्वात्मक स्वार्थों से निवृत्त हो कर मन जब राम के आदर्शों की तरफ़ प्रवृत्त होता है तब तुलसी के अनुसार राम उस मन में बैठ कर साधक को अपना लेते हैं। आखिर राम अपने आदर्शों को छोड़ और हैं ही क्या! इन्हीं आदर्शों को प्राप्त करके साधक को विमल सन्तोष होता है।

ये आदर्श शरीर के माध्यम से ही साकार होते हैं। इसीलिए आदर्शों को वहन करने वाले राम के सुन्दर शरीर की भी उपासना भक्त लोग करते हैं। इस शरीर से सम्बन्ध रखने वाले नदी-पर्वत, ग्राम-नगर, वन-उद्यान, सर-सरोवर, नर-नारी सब भक्त को प्रिय लगते हैं। इन सबके, राम से सम्बद्ध हो कर, पवित्र और प्रिय हो जाने का यही रहस्य है, अयोध्या और सरयू, चित्रकूट और रामगिरि की पवित्रता का यही रहस्य है।

मज्जहिं सज्जन वृन्द बहु पावन सरजू नीर।
जपहिं राम धरि ध्यान उर सुंदर स्याम सरीर§।

ये पंक्तियाँ इसी बात की गवाही देती हैं। जीवन के भीतर इसी सर्वव्यापी सौन्दर्य का साक्षात्कार करके विमल सन्तोष का अनुभव होता है। जीवन के असीम सौन्दर्य के केन्द्र राम से सम्बद्ध हो कर सरयू का महत्त्व इतना बढ़ जाता है कि 'विमल मति सारदा' भी उसे नहीं कह सकती—'नदी पुनीत अमित महिमा अति, कहि न सकइ सारदा बिमल मति*।' जगत् को पवित्र करने वाला शील जिस भूमि पर अंकुरित हुआ उसमें स्वभावगत जगत्पावनत्व होना ही चाहिए। इसीलिए तुलसी का कवि अयोध्या के लिए कह उठता है—"राम धामदा पुरी सुहावनि, लोक समस्त विदित जगपावनि§"। जिस पृथ्वी की धूल में राम के शील का विकास करने की शक्ति है, वह प्रत्येक मनुष्य को शील के उस विकास तक पहुँचा सकती है, यह 'राम धामदा' राम का धाम देने वाली हो सकती है। अयोध्या की भूमि पर जो अपना शरीर छोड़ता है, वह संसार में लौट कर नहीं आता। राम के शील का वायुमंडल वासनाओं के ऊपर है। वह वातावरण अयोध्या में है। उसमें यदि मनुष्य जीवन बिता सके तो जन्म देने वाली वासना उसे फिर अपने जाल में बाँध कर

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३३। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३३ के बाद। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३४। * रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३४ के बाद। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३४ के बाद।

जगत् के भीतर नहीं ला सकती—"चारि खानि जग जीव अपारा, अवध तजे तन, नहिं संसारा ‡।" मनुष्य ही क्या स्वेदज अंडज और उद्भिज प्रकार के प्राणी भी अयोध्या में रह कर मुक्त हो जाते हैं। सर्वव्यापी राम के गौरव की यही अनुभूति तुलसी के कवि को विमल सन्तोप देती है। वह पूरे विश्वास से कहता है—"सब विधि पुरी मनोहर जानी, सकल सिद्धिप्रद मंगल खानी। विमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा †।" राम के जीवन में काम, मद और दंभ नहीं हैं। उस जीवन की 'विमल कथा' को सुनने वाले व्यक्ति में वे कैसे रह सकेंगे।

मनुष्य के हृदय को विमल सन्तोप देने वाले, उसकी इंद्रियों को पवित्र तृप्ति देने वाले, मानव-शील के उच्चतम उदाहरण ही होते हैं, इसीलिए भक्त कवियों ने विचार-प्रधान उपदेशों को छोड़ कर भावप्रधान चरित्र को ही अपनाया—"राम चरित-मानस एहि नामा, सुनत स्रवन पाइय विस्रामा $।"

अस मानस मानस चख चाही, भइ कवि बुद्धि विमल अवगाही।
भयउ हृदय आनन्द उछाहू, उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू *।

चरित के सौन्दर्य को हृदय ही अनुभव करता है। इसीलिए रामचरित मानस को अनुभव करने के लिए हृदय की आँखों की आवश्यकता है। इस मानस में हृदय के आह्लाद को साथ ले कर डुबकी लगाने से बुद्धि विमल हो जाती है और हृदय में राम के प्रेम का प्रवाह आनन्द और उत्साह को ले कर उमड़ पड़ता है।

गोस्वामी जी यह मानते हैं कि शंकर की कृपा से उन्हें सुमति प्राप्त हुई। यह ज्ञान प्रेम के प्रकाश को ले कर हृदय में आनन्दात्मक रूप से उल्लसित होता है। हृदय में सुमति के प्रकाश में राम के आदर्श आलोकित होते हैं। वही आदर्श विमल सन्तोप प्रदान करते हैं—"संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी, राम-चरित-मानस कवि तुलसी §।" गम्भीर हृदय के भीतर जीवन की गहराई का अनुभव करके शान्त और पवित्र हृदय के भीतर सुमति पैदा होती है। वही राम के चरित्रों के सरोवर का आधार बनती है। 'सुमति भूमि, थल हृदय अगाधू' × संसार को पवित्र बनाने वाले आदर्शों के लिए जिस हृदय में अगाध गहराई पैदा हो जाती है उसी में सुमति पैदा होती है और वही सुमति राम-चरित के आदर्शों का अनुभव करके विमल सन्तोप से तृप्त हो जाती है। इस सुमति के आधार पर रामचरित का सरोवर बनता है। वेद और पुराणों के भीतर वर्णित राम के आदर्शों का विस्तार समुद्र है। साधु पुरुष मेघ बन कर उन आदर्शों को अपने हृदय की ऊँचाई पर ले जाते हैं—"वेद पुरान उदधि, घन साधू +।" महात्मा पुरुष इन आदर्शों की वर्षा राम के सुयशरूपी पवित्र जल के रूप में करते हैं—"बरसहिं राम सुजस वर वारी ⁕।" इसी आदर्श की वृष्टि में एक ऐसा माधुर्य और आकर्षण होता है जिसकी ओर जनमन के आकृष्ट हो जाने से लोकमंगल विधान होता है।

---

‡ रामचरितमानस, वालकांड, दोहा ३४ के बाद। † वही। $ वही। * रामचरितमानस, वालकांड, दोहा ३९ के पहले। § रामचरितमानस, वालकांड, दोहा ३५ के बाद। × वही। + वही। ⁕ वही।

विश्व में चारों तरफ़ माधुर्य, सौदन्र्य और मंगल के दर्शन होने लगते हैं। कटुता, अभद्रता और अमंगल का लोप हो जाता है—"मधुर मनोहर मंगलकारी ‡।"

इतनी बातें तभी सम्भव हो सकती हैं जब सगुण लीला का पवित्र आदर्श मनुष्य के सामने हो। इस आदर्श के सम्मुख आ जाने पर मनुष्य के मन के भीतर स्वार्थ और वासना का मैल धुल जाता है। राम-चरित-मानस का यह स्वच्छ जल सगुण लीला की पवित्रता के रूप में मन के पापों को धो देता है। यहाँ मन विमल सन्तोष का अनुभव करता है—"लीला सगुन जो कहहिं बखानी, सोइ स्वच्छता, करइ मल हानी † ।"

यहाँ तक आ कर मनुष्य के भीतर प्रेमभक्ति पैदा हो जाती है। उन आदर्शों के केन्द्र के प्रति वह अपने भीतर प्रेम का अनुभव करने लगता है। उनकी अनुभूति उसके हृदय को माधुर्य और शीतलता से भर देती है। स्वार्थ के भीतर मिलने वाला ताप शान्त हो जाता है। यही अवस्था राम-चरित-मानस के जल की मधुरता और शीतलता है—"प्रेम भगति जो बरनि न जाई, सोइ मधुरता सुसीतलताई $ ।"

इस माधुर्य और शीतलता से भरे हुए राम-प्रेम से राम के जन के भीतर सुकृत की वृद्धि होती है। रामप्रेम के भीतर वह जिस भक्ति के आनन्द के प्रवाह में मग्न हो जाता है, उसी प्रेमभक्ति के माधुर्य से सिंचे हुए हृदय के भीतर वह सम्पूर्ण जगत् को स्थान दे देता है। उदार प्रेम से भरा हुआ यही हृदय 'सियाराममय सब जग' * की अनुभूति प्राप्त कर सकता है। इसी हृदय के प्रेमप्रकाश के भीतर उसके दुष्कृत नष्ट हो जाते हैं। राम के आदर्शों को प्रेम करने वाला राम बनने लगता है। रामचरितमानस के भीतर रहने वाला, प्रेमभक्ति के कारण मधुर और शीतल आदर्श का जल सुकृतरूपी धान के लिए हितकर होता है। राम के भक्त इस आदर्श के जल को अपना जीवन बना लेते हैं। जिस तरह जल प्राणी का जीवन होता है, उसी तरह राम के आदर्श रामभक्त के जीवन की भूमि बन जाते हैं। उन आदर्शों के बिना वह जीवित नहीं रह सकता। सीताराम को दुःखी जन ही प्रिय होते हैं। उनका भक्त भी दुःखी व्यक्तियों को अपने प्रेममय हृदय में रख कर विमल सन्तोष का अनुभव करता है—'बन्दउं सीतारामपद जिन्हहिं परम-प्रिय खिन्न §।' राम के आदर्श का यही जल भक्त के सुकृतरूपी धान को शक्ति देता हुआ उसके जीवन को भी शक्ति देता है। बिना इन आदर्शों के, बिना सुकृत के मानो भक्त का जीवन ही संकट में पड़ कर समाप्त हो जाना चाहता है—'सो जल सुकृत सालि हित होई, रामभगत जन जीवन सोई ×।'

आदर्शों का यह आकर्षक जल कानों के मार्ग से प्रवाहित हो कर. बुद्धि की भूमि पर इकट्ठा होता है वहाँ से पवित्र हृदय की ओर प्रवाहित हो कर स्थिर हो जाता है। हृदय की भावना के साथ इसका सम्बन्ध जितना अधिक प्राचीन होता जाएगा उतना ही

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३५ के बाद। † वही। $ वही। * रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७ के बाद। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १८। × रामचरित मानस, बालकांड, दोहा ३६ के पहले।

अधिक सुखद, मधुर और शीतल यह होगा। सत्य के सम्बन्ध की हृदय की भावना जितनी प्राचीन होती जाती है, सत्य का सौन्दर्य उतना ही अधिक निखरता जाता है। जीवन की अच्छाई का सम्बन्ध जिस व्यक्ति या जिस राष्ट्र से जितना ही देश और काल के साथ व्यापक होगा, वह व्यक्ति और राष्ट्र उतना ही महिमाशाली हो कर स्वयं विमल सन्तोष का अनुभव करेगा और अपने चारों ओर भी उसी की प्रकाश-किरणें प्रसारित करता रहेगा। तुलसी के रामचरितमानस में आदर्शों का यही जल इकट्ठा किया गया है। इसी से व्यक्ति और राष्ट्र का शृंगार सम्भव है। तुलसी की योजना भी रामचरितमानस के रूप में इसी लक्ष्य को ले कर आगे बढ़ी है—"मेधा महिगत सो जल पावन, सकिलि स्रवन मग चलेउ सुहावन। भरेउ सुमानस सुथल थिराना, सुखद सीत रुचि चारु चिराना ‡।"

व्यक्ति और राष्ट्रों के भीतर इन्हीं आदर्शों का प्रचार करके गोस्वामी जी विमल सन्तोष को पृथ्वी पर व्यापक बना देना चाहते थे :

जस मानस जेहि विधि भयउ जग प्रचार जेहि हेतु।
अब सोइ कहउं प्रसंग सब सुमिरि उमा बृपकेतु। †

भारतवर्ष में जीवन दार्शनिक ऊँचाई की अद्वैत भूमि पर जाने के लिए था और दार्शनिक ऊँचाई का चिन्तन जीवन के स्वरूप को अभेदानुभूति के सौन्दर्य से सजाने को था। जीवन और दर्शन अलग-अलग नहीं थे। इसीलिए भारतीय दर्शन समाज की उच्च विकसित अवस्था का बौद्धिक विवेचन करता था तो जीवन अपनी आदर्श अभेद की ऊँचाई से दर्शन को हृदय के मार्ग से साकार करता था। यहाँ अर्थ और काम, धर्म के पूरक थे और इनका त्रिवर्ग मुक्ति की साधना करके जीवन के चतुर्वर्ग पुरुषार्थ को सार्थक बनाता था। इनकी साधना के स्थल जीवन के चार आश्रम—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास—थे। स्वार्थ को छोड़ कर विश्वार्थ में निमग्न हो जाना ही भारतीय जीवन का लक्ष्य था।

भारतीय दर्शन इसी विराट् जीवन की बौद्धिक आलोचना है। यह बौद्धिक आलोचना निर्गुण होती है और इसके द्वारा शील निर्माण कर, जीवन निर्गुण दर्शन की सगुणता को सिद्ध करता था। भारतीय दर्शन इसी सगुण-निर्गुण के बीच में यात्रा करता हुआ विमल सन्तोष का अनुभव करता था। हृदय और मस्तिष्क के इसी सन्तुलन को गोस्वामी जी ने विमल सन्तोष का सम्पादक माना है। उनके अनुसार सगुण रूप तो एक निश्चित सीमा के भीतर ही कार्य कर सकता है, पर नाम में उस रूप की भावना को अनंत जगत् के भीतर व्यापक बना देने की क्षमता है—"देखिअहि रूप नाम आधीना, रूपग्यान नहिं नाम बिहीना $।" अनंत के भीतर रहने वाला नाम, रूप की भावना को भी अनंत बना देता है—"नाम रूप दुइ ईस उपाधी, अकथ अनादि सुसामुझि साधी *।" नाम और

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३६ के पहले की चौपाइयां। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३५। $ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २० के बाद। * रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २० के बाद।

रूप दोनों परम मित्र हैं और एक साथ ही रहते हैं। परमात्मा इन दोनों का स्वामी है। ये दोनों उसी का अनुगमन करते रहते हैं—"समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी ‡।"

राम के रूप और उनके नाम से अधिक महत्त्व गोस्वामी जी ने राम को ही दिया है। इसीलिए उनके नाम और रूप को उनका अनुगामी उन्होंने माना है। भक्त जब परमात्मा को नाम और रूप से ऊपर मान लेता है तो बौद्धिक दर्शन के क्षेत्र से भी उसे विमल सन्तोष का अनुभव होता है—नाम और रूप की समस्या की उलझन का हल पा कर। परन्तु विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त को हृदय से सत्य अनुभव करने वाला तुलसी का साधक ब्रह्म को माया का साथी मानता है। इसीलिए वह नाम और रूप को भी सत्य मान कर उनमें तारतम्य नहीं देखना चाहता। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के भीतर माया सत्य भी है और ब्रह्म का रूप है। इसी लिए यह दर्शन उसके विकास (नाम और रूप) को ब्रह्म राम का अंग मान कर छोटा-बड़ा नहीं कहना चाहता—"को बड़ छोट कहत अपराधू, सुनि गुन भेद समुझिहहिं साधू †।" वह उन्हें बड़ा छोटा न कह कर केवल उनके गुणभेद को समझा देना चाहता है।

गोस्वामी जी के अनुसार विमल सन्तोष, नाम और रूप के तारतम्य के निश्चय में नहीं, उनके कार्यों को जान कर उनके भीतर परमात्मा की इच्छा के वशवर्तित्व के दर्शन करने में ही है। इसीलिए उन्होंने उन दोनों को प्रभु की इच्छा का अनुगामी मान कर सम्यक् ज्ञान के द्वारा विमल सन्तोष प्राप्त कर लिया है। उनके अनुसार सगुणता और निर्गुणता दोनों परमात्मा की अवस्थाएँ हैं और दोनों में उसी की इच्छा चरितार्थ होती रहती है। इसीलिए सगुणता के भीतर रह कर कार्य करने वाला 'रूप' और निर्गुणता की अनंतता में प्रविष्ट हो जाने वाला 'नाम' दोनों उसी की इच्छा के अनुसार काम करते रहते हैं। इसी कारण सीमा और असीम दोनों के कार्यों में प्रभु की इच्छा का ही दर्शन करके तुलसी को विमल सन्तोष की प्राप्ति हो जाती है। उन्हें किसी में उलझन की अशान्ति का अनुभव ही नहीं होता। उन्हें नाम और रूप के भीतर 'अकथ' की ही कहानी दिखाई पड़ती है। जिसे वाणी और बुद्धि नहीं प्राप्त कर सकती उसी की कथा 'नाम' 'रूप' के कार्यों में दिखाई पड़ती है और उस वर्णनातीत के हाथों का उनमें दर्शन करके तुलसी का साधक सुख और सन्तोष का ही अनुभव करता है। यह सन्तोष उलझन की भ्रान्ति और सन्देह के अज्ञानमय अन्धकार से मुक्त होने के कारण और विराट् की एक ही इच्छा का चारों तरफ़ दर्शन कर लेने के कारण विमल है, ज्ञान के प्रकाश से आलोकित है— "नाम-रूप-गति अकथ कहानी, समुझत सुखद न परत बखानी $।" ऐसी स्थिति में अगुन और सगुन का सुन्दर सम्बन्ध स्थापित करने वाले चतुर दुभाषिये 'नाम' को तुलसीदास जी ने उपासना के भीतर सम्मानित स्थान दिया है—"अगुन-सगुन बिच नाम सुसाखी, उभय प्रबोधक चतुर

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २० के बाद। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २० के बाद। $ वही।

दुभाखी ‡ ।" सीमित सगुण की अनंतता का ज्ञान नाम ही कराता है, क्योंकि सगुण राम एक ही स्थान पर काम करते हैं, पर उनका नाम अनंत विश्व में कार्यक्षम दिखाई पड़ता है। इसी से ज्ञात होता है कि सीमा के भीतर रहने वाला सगुण राम असीम भी है। इसी नाम के मणिदीप को जीभ के द्वार पर रख कर तुलसीदास जी बाहर-भीतर दोनों को आलोकित करने का परामर्श देते हैं—

रामनाममनिदीप धरु जीहदेहरीद्वार ।
तुलसी भीतर बाहरउ जौ चाहसि उंजियार † ।

यह भीतर और बाहर का प्रकाश वही शक्ति है जो हृदय को और बौद्धिक चिन्तन को अनंत की विराट् शक्ति का अनुभव और ज्ञान संघटित करने की क्षमता देती है और बाहरी आँखों को भी हृदय और मन की वही पवित्रता देती है, जिससे बाहर के भी सम्पूर्ण जगत् में उस एक राम का दर्शन हो सके। इसी बात को बताने के लिए तुलसीदास जी ने आगे लिखा है—

नाम जीह जपि जागहिं जोगी, बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी ।
ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा, अकथ अनामय नाम न रूपा $ ।

एकत्व के दर्शन की समग्र निधि से गर्भित नाम मन को प्रपंच की भेदानुभूति से हटा ले जाता है और अज्ञान-निशा की निद्रा में पड़े हुए मन का भेदज्ञान मिट जाता है। ऐसा योगी एकत्व के योग को प्राप्त करके अभेदानुभूति की जागृत अवस्था में पहुँच जाता है। यही स्थिति परमानन्द की अवस्था है जो जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। इसमें स्वार्थ की वासना का लोप होने पर एकत्व का प्रकाश जीव को ब्रह्मस्वरूप बना देता है। उपासना के क्षेत्र में ज्ञान के लिए नाम का सहारा लेना, एकत्व के प्रतीक में निमग्न हो जाना ही विमल सन्तोष का कारण बनता है—"ज्ञानी प्रभुहिं विसेषि पियारा।" "सकल कामनाहीन जे रामभगति रस लीन। नाम सुप्रेमपियूष ह्रद तिनहुं किये मन मीन * ।"

तुलसीदास जी की उपासना-पद्धति के भीतर नाम की महिमा अपार मानी गयी है। पर इस नाम को साधारण अक्षर वाला ध्वन्यात्मक नाम ही नहीं मानना चाहिए। इस नाम में अक्षरों की ध्वनि तो सीमित और निश्चित ही है, पर इस ध्वनि के साथ हृदय के अनंत प्रेम का अमृत प्रवाहित होता है। यह नाम साधारण मनुष्य के द्वारा उच्चरित 'राम' शब्द नहीं है। यह तो वह 'राम' शब्द है जिसे सिद्ध भक्त प्रेम के अमृत सरोवर के माधुर्य में अपनी आत्मा को तदाकार करके अपने हृदय के भीतर के उस प्रेमामृत से सींच कर बाहर अभिव्यक्त करता है। प्रेम की समाधि के भीतर से निकली हुई इस नाम की ध्वनि में राम की भावना सजीव हो कर व्यक्त होती है। इन ध्वनियों के साथ राम के जीवन का सम्पूर्ण माधुर्य भक्त के प्रेम के माधुर्य में समा कर व्यक्त होता है। जब भक्त को अपने जीवन के स्वार्थों की कामना छोड़ देती है, तब भगवान् के आदर्शों के

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २० के बाद। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २१ से २२ तक। $ वही। * वही।

अमृतमय ह्रद में वह निमग्न हो जाता है। ऐसी स्थिति में पहुँचे हुए भक्त को भगवान् का नाम प्रेम का स्वरूप, एकत्व का प्रतीक तथा 'सुप्रेम-पियूष-ह्रद' हो जाता है।

इसी अवस्था में पहुँच कर गोस्वामी जी ने कहा है—

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म स्वरूपा, अकथ अगाध अनादि अनूपा।
मोरे मत बड़ नाम दुहूं ते, किय जेहि जुग निज बस निज बूते ‡।

प्रेम के अनिर्वचनीय अगाध और अनंत आनन्द में डूबे हुए भक्त-हृदय को निर्गुण और सगुण, ब्रह्म के दोनों स्वरूप, अकथ, अगाध, अनंत और अनुपम मालूम पड़ने लगते हैं। ये अनिर्वचनीय आनन्द के आकर्षण से भरे हुए दोनों रूप—दशरथ-पुत्र के रूप में तथा 'सियाराममय सब जग' † के रूप में—भक्त को 'अकथ, अगाध, अनादि अनूपा' अनुभूत होने लगते हैं। जब इन रूपों के आकर्षण के आनन्द में डूब कर भक्त इन्हें नाम दे देता है, तब वह नाम भी परम शक्ति-सम्पन्न हो जाता है। ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूप इस नाम के वशवर्ती हो जाते हैं। इस स्थिति में पैदा हुआ नाम तुलसी और कबीर के हृदय में एक ही प्रकार के ओज से आप्लावित होता है। निर्गुण और सगुण के भीतर शक्ति, शील और सौन्दर्य की जो अनंत भूमियाँ रहती हैं, सब इस नाम के भीतर समा जाती हैं और यह नाम प्रेम की अपार शक्ति से आलोकित हो कर प्रेम-रस के अपार आनन्द से सशक्त हो कर अनंत शक्तिवान् हो जाता है।

अपने हृदय के भीतर प्रेम की इस ऊँचाई को साधक जब प्रत्यक्ष कर लेता है तब वह बड़े निश्चयगर्भित संकल्प से कह उठता है—

प्रौढि सुजन जनि जानहिं जन की, कहउं प्रतीति प्रीति रुचि मन की $।

वह स्पष्ट शब्दों में कहने लगता है कि प्रेम के अगाध समुद्र में डूब कर मेरे मन की उत्सुकता ने जब उस समुद्र की थाह लगा ली, तभी मुझे विश्वास हो गया कि 'नाम' निर्गुण तथा सगुण ब्रह्म दोनों से बड़ा है, क्योंकि ब्रह्म के दोनों स्वरूपों की शक्तियों का साक्षात्कार कर लेने पर जो अपार आनन्द अनुभव होता है वह इसी नाम के माध्यम से व्यक्त होता है। इसीलिए ब्रह्म के दोनों स्वरूप इस नाम के वशवर्ती हो जाते हैं। गोस्वामी जी ने इस स्थिति की अनुभूति प्राप्त कर लेने के बाद ही कहा है कि केवल अलंकार के लिए नहीं, बल्कि अपने भीतर के अनुभव के आधार पर मैं कहता हूँ कि नाम, ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण स्वरूपों से अधिक महत्त्वशाली है। इस कथन को समझाने के लिए उन्होंने एक बड़ा सुन्दर उदाहरण दिया है—'लकड़ी के भीतर रहने वाली आग दिखाई नहीं पड़ती। वह निर्गुण है। अपने जलते हुए स्वरूप में व्यक्त हो कर वह सगुण हो जाती है। पर दोनों अवस्थाओं में आग का महत्त्व समान रहता है। आग के इन दोनों रूपों की तरह ब्रह्म के स्वरूपों का रहस्य भी समझा जा सकता है। जिस तरह आग के दोनों रूपों की शक्तियाँ अचिन्त्य हैं पर नाम से आग की सच्ची धारणा मनुष्य के भीतर बन जाती है, उसी तरह ब्रह्म के दोनों अचिन्त्य

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २२ के बाद। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७ के बाद। $ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २२ के बाद।

स्वरूपों की धारणा नाम के द्वारा सुगम हो जाती है। इसीलिए मैं राम ब्रह्म की अपेक्षा उनके नाम को ही अधिक महत्त्व देता हूँ।'

एक दारुगत, देखिय एकू, पावक सम जुग ब्रह्म विवेकू।
उभय अगम, जुग सुगम नाम तें, कहउं नाम बड ब्रह्म राम तें ‡।

ब्रह्म, सम्पूर्ण अस्तित्व, सम्पूर्ण चैतन्य और सम्पूर्ण आनन्द की राशि होने के कारण एक, व्यापक तथा अविनाशी है। ऐसे परमात्मा को अपने भीतर रख कर भी न जानने वाला जीव दुःखी रहता है †। नाम का पूरा विवेचन हो जाने पर, प्रेम के आनन्द का नाम के साथ पूरा सम्बन्ध हो जाने पर उस अनन्त का ज्ञान हो जाता है। जीव उसे देख कर उसी का स्वरूप बन जाता है। इन्हीं कारणों को ध्यान में रख कर तुलसीदास जी कहते हैं:

निरगुन तें एहि भांति बड नाम प्रभाउ अपार।
कहउं नाम बड राम तें निज-विचार-अनुसार §।

चिन्तन की गहराई में से नाम और ब्रह्म के सम्बन्ध का साक्षात्कार करके नाम की शक्ति की क्षुद्रता का भ्रम दूर हो जाता है और तुलसी के कवि को इस समस्या को हल कर लेने के बाद विमल सन्तोष का अनुभव होता है। इस विमल सन्तोष में ब्रह्मानुभूति का रहस्य इसी प्रकार बैठ गया है। विराट् के निर्गुण-सगुण रहस्य को जान कर जीवन को उसका अंग बना देने में ही विमल सन्तोष की प्राप्ति होती है। अपने क्षुद्र स्वार्थ के भीतर बँधा हुआ जीवन मलिन सन्तोष का ही अनुभव करता है। उसका सन्तोष इन्द्रियों की आसक्तिमय वासना से मलिन रहता है। उसमें अकल्मष ब्रह्मभाव नहीं पैदा हुआ रहता।

विमल सन्तोष की इसी भूमि पर आ कर तुलसी अपने भीतर कबीर को भी अन्तर्भावित कर लेते हैं। साधना की इस भूमि पर पहुँच कर तुलसी और कबीर में कोई अन्तर नहीं रह जाता। दोनों की उपासना इस भूमि पर आ कर निर्गुण हो जाती है—

नाम जीह जपि जागहिं जोगी, विरति विरंचि-प्रपंच वियोगी।
ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा, अकथ अनामय नाम न रूपा *।

राम का यह नाम निश्छल प्रेम के अमृत का सरोवर है। यह निश्छल प्रेम, विरंचि के प्रपंच के ऊपर की अवस्था है। इसी में प्रपंच शान्त हो कर 'सियाराममय सब जग' § की अनुभूति होती है। प्रेम की इसी अहैतुकी अवस्था में पहुँच कर योगी अज्ञान की निद्रा को छोड़ देता है। उसे ज्ञान का प्रकाश मिल जाता है। इस प्रकाश को प्राप्त करके वह जाग पड़ता है। समाधि के ब्रह्मानन्द का आस्वाद उसे यहीं अनुभूत होता है। वह इस प्रपंच के भीतर अपरिवर्तनीय, अविनश्वर, अकथ तथा अनामय की अनुपम ज्योति को इस सम्पूर्ण अस्तित्व के भीतर देख कर आनन्दमग्न हो जाता है। तब उसके लिए रूप और रंग के भेद मिट जाते हैं।

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २२ के बाद। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २२ के बाद। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २३। * रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २१ के बाद। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७ के बाद।

यही ब्रह्म सुख है । सीमित रूप और रंग के भीतर से, जो सुख उसकी भेद-बहुल जगत् को देखने वाली आँखों को मिलता था, वह इस भेद के भीतर अनंत और अभेद को देख कर अनंत और विराट् हो जाता है । भारतीय वेदान्त का ब्रह्मसुख यही है । इसीलिए सीमा के भीतर की किसी भी वस्तु से मिलने वाले सुख से इसकी तुलना नहीं की जा सकती । यह विराट् सुख अनुपम होता है । नाम के आधार से योगी इसी सुख को देखता है, क्योंकि इस नाम के साथ नामी के विराट् आदर्शों का सम्बन्ध है और इन आदर्शों में विराट् जगत् का मंगल निहित है ।

इस दृष्टि से तुलसी, योगी की सिद्धि के भीतर, उसके परिणामस्वरूप अनुभूत होने वाले ब्रह्मसुख को, एक अनंत जीवन के भीतर रहने वाले शील के अनंत और मंगलमय आदर्श के साक्षात्कार से मिलने वाले सुख का स्वरूप ही मानते हैं । इसी प्रकार का, विराट् आनंद से सम्बद्ध योगी ही सार्वभौम समाज का एक आदर्श घटक हो सकता है । राजा राम भी अपने आदर्श शील के कारण सार्वभौम जागतिक समाज के एक आदर्श घटक हैं, इसीलिए मर्यादा पुरुषोत्तम की ओर तुलसी आकृष्ट हुए हैं । मनुष्य के भावात्मक विकास तथा विचारात्मक विकास की दोनों दृष्टियों का समन्वय तुलसी के विमल सन्तोष के भीतर हुआ है । योगी का दार्शनिक चिन्तन और जीवन का आदर्शस्वरूप दोनों एक ही सत्य के दो पहलू हैं । ये दोनों सगुण-निर्गुण पक्ष तुलसी के मानसदर्शन के विमल सन्तोष का कारण तभी बनते हैं जब बुद्धि और हृदय अपने को एक साथ एक सूत्र के द्वारा ही चरितार्थ करते रहते हैं । जिस जीवन में कहनी और करनी दोनों एक हो जाती हैं, चिन्तन और क्रिया में जिस जीवन के भीतर द्वैत नहीं रह जाता वही तुलसी को विमल सन्तोष देता है । राम के शील के भीतर जीवन और दर्शन का, चिन्तन और क्रिया का यही योग दिखाई पड़ता है । भारतीय दर्शन की सब धाराएँ इसी तरह जीवन के स्वरूप का श्रृंगार करने के लिए ही पैदा हुईं और उन्होंने जीवन को स्वार्थ के बन्धन से मुक्ति दिला कर अधिक और अपरिसीम उदार बना कर अपने इस लक्ष्य को पूरा किया है ।

अपरिसीम उदारता की इस स्थिति में अभेदद्रष्टा ज्ञानी ही पहुँच सकता है । गीता की दृष्टि ने जिन चार प्रकार के साधकों के तारतम्य का विवेचन किया है, उससे तुलसी सर्वथा सहमत हैं । आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी भक्तों में चौथे को वे भी अधिक महत्त्व देते हैं ।

राम भगत जग चारि प्रकारा, सुकृती चारिउ अनघ उदारा ।
चहूं चतुर कहं नाम अधारा, ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पियारा ‡ ।

यही ज्ञानी भक्त आदर्श की उपासना स्वार्थ के लिए नहीं केवल आदर्श के लिए करता है । अपनी सब भावनाओं को वह परमात्मा को ही समर्पित करता है । उसके हृदय के सब धर्म अनंत के साथ जुड़े रहते हैं । अनंत जगत् के भीतर वह मंगल विधान करना चाहता है । यह सब कार्य 'नाम' के साथ जुड़े हुए आदर्शों की साधना करके ही वह करता है । इसीलिए इस व्यापक 'नाम' को तुलसी व्याप्य सगुण राम से अधिक महत्त्व देते हैं ।

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २२ के पहले ।

तुलसीदास जी ने नाम को राम से भी अधिक महत्त्वशाली सिद्ध करने की अपनी तैयारी की भूमिका में ही कह दिया है कि इस कार्य की सिद्धि में केवल शब्द और अर्थ की कारीगरी के द्वारा नहीं करूँगा। मैंने इस बात को प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है। यह मेरे विश्वास, प्रेम और स्वभाव का अंग बन गयी है—'कहउं प्रतीति प्रीति रुचि मन की ‡।' इसमें कुछ सन्देह नहीं कि नाम का माहात्म्य अनंत है। नामी के आदर्श कार्य एक सीमा के भीतर ही होते रहते हैं पर उसके लक्ष्य में अनंत समाया रहता है। वह वही कार्य अनंत जगत् की रक्षा करने की प्रवृत्ति और उदारता रखने वाले हृदय से करता है—सीमा में रहते हुए भी। यदि सम्भव हो सकता तो वह अनंत जगत् के भीतर अपने रक्षाकार्य का विस्तार कर सकता। पर यह विस्तार आपसे आप हो जाता है। उसके आशय की पवित्रता, नाम पर बैठ कर अनंतव्यापिनी हो जाती है। सगुण ब्रह्म की पवित्र विभूति नाम को अमोघ बना देती है। राम यदि एक जगह काम करता है, तो उसका नाम उसके आदर्शों को अनंत विश्व में व्याप्त कर देता है। उसके नाम का स्मरण करके लोग उस नाम के साथ जुड़े हुए आदर्शों को प्राप्त कर लेते हैं। राम (धर्म या आदर्श) उनके भीतर उत्पन्न हो कर उनके जीवन को रक्षित और मंगलमय बना देता है। 'धर्मो रक्ष्यति रक्षितः' रक्षित रखे जाने पर, पालित होने पर, धर्म रक्षा करने वाले की स्वयं रक्षा कर लेता है—'सत्यमेव जयते'। सत्य ही विजयी होता है। सदाचार के रूप में सत्य, व्यक्ति के भीतर प्रतिफलित होता है और उसकी आत्मा उदार, महनीय और रक्षित हो जाती है। नाम के आधार पर इसी विराट् जीवन-दर्शन की परिणति का सन्देश गोस्वामी तुलसीदास जी ने दिया है।

राम भगत हित नर तनु धारी, सहि संकट किय साधु सुखारी।
नाम सप्रेम जपत अनयासा, भगत होहिं मुद-मंगल बासा †।

राम को तो साधुओं को सुखी बनाने के लिए मानव का रूप धारण करना पड़ा, अनेक संकटों में अपने को डालना पड़ा, पर भक्त प्रेम में डूब कर त्याग और बलिदान के पवित्र प्रतीक 'नाम' का स्मरण करके आनन्द और मंगल का निवास बन जाता है। आदर्शों से प्रकाशित यह नाम कोटि खलों को सुधारता रहता है—'राम एक तापस तिय तारी, नाम कोटि खल कुमति सुधारी $।' समाज के भीतर आदर्शों की धारा बहा देने का संकल्प ही भक्ति की भूमिका में दृढ बन जाता है। तुलसी की भक्ति का सरोवर, रामचरित मानस का प्रारम्भिक सोपान, इन्हीं आदर्श संकल्पों से सजल, शीतल तथा कोमल हो उठा है। खलों की कुमति को सुधारने वाले राम के नाम को अपना साथी बना कर एक पवित्र सामाजिक क्रांति को गोस्वामी जी सम्भव बना सके। वेदान्ती की जीवन्मुक्ति का यह सामाजिक पहलू तुलसीदास जी ने रामचरितमानस के इन सोपानों के द्वारा साकार करके दिखा दिया है। मानस के ये सात सोपान जीवन की उत्तरोत्तर विकासोन्मुखी

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २२ के बाद। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २६ के बाद। $ वही।

प्रवृत्तियों और अवस्थाओं का ही चित्रण करते हैं। उस विकास की पूरी योजना बालकांड के विमल सन्तोष सम्पादन सोपान में बन गयी है। इस योजना की सिद्धि में नाम की आवश्यकता और उसका गौरव सर्वोपरि है। उसका सहारा ले कर उपासना अनंतमुखी तथा अनंतस्रोतप्रवाहिनी बन जाती है।

रिपि हित राम सुकेतु सुता की, सहित-सेन-सुत कीन्ह बिवाकी।
सहित दोष-दुख दास दुरासा, दलइ नाम जिमि रवि निसि नासा ‡।

विश्वामित्र की रक्षा तथा उनके यज्ञ के लिए आवश्यक शान्तिमय वातावरण को सम्भव बनाने के लिए राम ने ताड़का को उसके पुत्र तथा सेना के साथ समाप्त किया, पर नाम तो दास के दोष, दुःख और दुराशाओं को इस तरह समाप्त कर देता है जैसे सूर्य रात्रि के अन्धकार को। यहाँ भी दास के भीतर के दोष की ओर ध्यान रख कर तुलसीदास जी ने अपनी भक्ति के आदर्श समाज-निर्माण के पक्ष को ओझल नहीं होने दिया है।

'भंजेउ राम आपु भव-चापू, भव-भय-भंजन नाम प्रतापू †।' के द्वारा भी तुलसीदास जी ने एक बड़े महत्त्वपूर्ण सामाजिक आदर्श की सिद्धि की ओर इशारा किया है। शंकर का धनुष भी एक भक्त के सामने आये हुए संकट को दूर करने के लिए ही तोड़ा गया था। वह कार्य पतिभक्ता सीता की समस्या को हल करने के लिए किया गया था। अनंत शील को अपने हृदय में छिपा कर सीता ने अपने को राम के समान पति के योग्य बनाया था। राम को 'सुजान सिरोमनि', 'करुनामय', 'उरअंतर जामी', 'दीनबन्धु', 'सील-सनेह-निधान', समझ कर ही तुलसी की सीता ने अपने भीतर राम के लिए भक्ति को संचित कर रखा था $। सीता के इस शील का परिचय राम को भी पूरा था। तुलसी के राम के भीतर से सीता के शील के परिचय की स्वीकृति रामायण भर में बिखरी पड़ी है—'सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुशीला *।' 'हा गुनखानि जानकी सीता, रूप-सील-व्रत-नेमु पुनीता §।' इत्यादि वाक्य इस बात के साक्षी हैं। तुलसी के राम ने सीता के लिए यह मत तो जीवन में प्रवेश करने के बाद बनाया था। उसके पहले ही मनु-सतरूपा की तपस्या को सार्थक करने के लिए 'बिस्वबास भगवान्' जब 'प्रगट' हुए तो उनकी आदि शक्ति को भी उनके साथ तुलसी ने प्रकट किया है—'बाम भाग सोभति अनुकूला, आदिसक्ति छबिनिधि जगमूला। जासु अंस उपजहिं गुन खानी, अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी। भृकुटि बिलास जासु जग होई, राम बाम दिसि सीता सोई ×।' वहाँ राम ने मनु-सतरूपा से कहा है—'आदिसक्ति जेहि जग उपजाया, सोउ अवतरिहि मोरि यह माया +।' सीता विराट् की पवित्रता का नारीरूप थी। लोकजीवन के भीतर मानवी सीता में विश्वमानव राम के सम्पूर्ण आदर्श प्रतिफलित हुए थे।

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २३ के बाद। † वही। $ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ६६। * रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा २३ के बाद। § रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा २९ के बाद। × रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १४८ के पहले। +. रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १५१ के बाद।

इस मानवी सीता को अपने पति राम का पूर्वज्ञान था। उन्हें वह हृदय से प्राप्त कर चुकी थी। पर जीवन में इस बात के सम्भव होने में जनक की प्रतिज्ञा का धनुष बाधक था। न जाने कौन इस धनुष को तोड़ दे। यही विचार सीता के भय का कारण था। सीता के भीतर का आदर्शभक्त अपने राम को ही पाना चाहता था। वासना से अनासक्त इस पावन प्रेम को राम जानते थे। भक्त के इस संकट को उन्होंने स्वयं धनुष तोड़ कर दूर किया। विश्वरक्षा के इन आदर्शों से प्रकाशवान् नाम का प्रभाव विश्वभर में भक्तों के भय को दूर करता रहता है। अपने शील के सौन्दर्य से राम ने दण्डक वन को सुन्दर और पवित्र बनाया था, पर उनके नाम ी पवित्रता ने अनंत भक्तों के मन को पवित्र किया—"दण्डक वन प्रभु कीन्ह सोहावन, जनमन अमित नाम किय पावन ‡।" पवित्र आदर्शों के केन्द्र राम ने राक्षसों की सेना का संहार कर शील का प्रचार किया, पर उनका नाम कलियुग के किसी कलुष को जीवित नहीं रहने देता—"निसिचर निकर दले रघुनन्दन, नाम सकल कलि-कलुष निकन्दन †।"

सीमित क्षेत्र के भीतर कार्य करने वाले मर्यादा पुरुषोत्तम ने शवरी, जटायु इत्यादि इने-गिने भक्तों को ही सद्गति दी, पर उनके आदर्शों को साथ ले कर, उनका व्यापक नाम अनंत दुष्टों के हृदय को परिवर्तित कर सका—"सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्ह रघुनाथ। नाम उधारे अमित खल वेद-विदित गुनगाथ $।"

शरणागत रक्षक राम ने तो केवल सुग्रीव और विभीषण को शरण दी, पर उनके इस स्वभाव की शक्ति से अनुप्राणित उनके नाम ने अनेक दीनों की रक्षा की।

एक उदार और कमंठ वीर की तरह राम ने वानर तथा भालुओं की सेना सज्जित की तथा समुद्र पर पुल बनाने में भी उन्हें पर्याप्त श्रम करना पड़ा, पर उनके नाम में इतनी शक्ति है कि उसका उच्चारण करते रहने से संसार-सागर ही सूख जाता है। नाम का उच्चारण करने वाले साधक के भीतर जब राम के आदर्श जागृत हो जाएँगे, तब उसके लिए स्वार्थी जगत् का समुद्र कहाँ बच सकता है। करुणा सागर के आदर्शों के सामने स्वार्थ का समुद्र नहीं टिक सकता। परमात्मा की निजी शक्ति (करुणा) को प्राप्त करके जीव इतना सबल हो जाता है कि दुर्बल स्वार्थ का पारावार उसके सामने सूख जाता है—"राम भालु-कपि-कटक बटोरा, सेतु हेतु स्रम कीन्ह न थोरा। नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं, करहु बिचार सुजन मन माहीं *।"

इतना आयोजन करने के वाद रावण को उसके परिवार के राक्षसों के साथ मारने में राम को सफलता मिली। इस सफलता के बाद ही वे सीता को ले कर अयोध्या लौट सके। पर उनके नाम में इतनी शक्ति है कि भक्त प्रेममग्न हो कर जब उस नाम का स्मरण करता है, तब विना श्रम वह मोह की सेना को (अज्ञान के असंख्य परिणामों को) जीत लेता है। प्रेम की धारा में हृदय को लीन करके अपने वैयक्तिक जीवन के सुख-दुख

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २३ के बाद। † वही। $ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २४। * रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २४ के बाद। § वही।

का विसर्जन कर देने वाले के सामने से अज्ञान की सेना तिरोहित हो जाती है। अज्ञान के किसी परिणाम का लेश भी उसके भीतर नहीं रह जाता। स्नेह में डूबे हुए ऐसे व्यक्ति को ब्रह्मानन्द का पवित्र आनन्द अपने में आत्मसात् कर लेता है। फिर उसके भीतर दुःख की एक क्षीण रेखा भी अवशिष्ट नहीं रह जाती‡।

सगुण ब्रह्म, राम से गोस्वामी जी ने नाम को अधिक महत्त्व दिया है। वह 'वर-दायकों' का भी 'वर-दानि' है। वरदान देने वालों को भी वरदान देने की उसमें शक्ति है। राम के अनंत आदर्श चरितों में से इस नाम को ही श्रेष्ठ मान कर शंकर ने चुन लिया। वे इसी नाम के मन्त्र का उपदेश सबको करते रहते हैं, क्योंकि वे अनंत चरित्र अपनी समग्र पवित्रता की शक्ति को ले कर इस नाम के भीतर ही बैठे हुए हैं। इस नाम के आधार से अखिल आदर्शों की शृंखला ध्यान के सामने चित्रित हो उठती है—"ब्रह्म राम तें नाम बड, वर-दायक वर-दानि। रामचरित सतकोटि महं लिय महेस जिय जानि†।"

तुलसी का कवि इस बात को अनुभव करता है कि सीमा के भीतर रहने वाली उसकी बुद्धि राम के अनंत शील का वर्णन नहीं कर सकती, इसीलिए उस अनंत शील के केन्द्र (नाम) की बड़ाई की इयत्ता को भी वह निश्चित नहीं कर सकती। सीमा के भीतर रहने वाले सगुण राम भी अपने नाम के असीम गुणों का वर्णन नहीं कर सकते। यह बात बिलकुल स्वाभाविक है। पवित्र शील वाला व्यक्ति अपने चारों ओर शील की पवित्रता को इतना फैला देता है, इतना प्रसारित कर देता है कि उसे भी उस प्रसार की सीमा का ज्ञान नहीं रह जाता। इसीलिए नाम के सहारे अपने प्रसारित आदर्शों की सीमा राम भी नहीं जान सकते। 'कहउं कहां लगि नाम बड़ाई, राम न सकहिं नाम गुन गाई$।' से गोस्वामी जी ने इसी सत्य को प्रस्तुत किया है। नाम के साथ जुड़ी हुई गुन-गाथा के सिद्धान्त को मान कर ही गोस्वामी जी नाम के स्मरण के बाद गुनगाथा की शृंखला के विस्तार का चित्रण सम्भव मानते हैं। नाम के आधार से ही राम की गुन-गाथा उन्हें स्मृत होती जाती है—'सुमिरि सो नाम, राम-गुन-गाथा, करउं नाइ रघुनाथहिं माथा*।' से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

सगुण-निर्गुण के ऊपर इस नाम की स्थापना कर तुलसी ने 'राम' शब्द को वही सार्थकता दे दी है जो सार्थकता संत कवियों ने इसे दी थी। यह नाम सर्वशक्तिमान् है। सगुण राम के इस निर्गुण सर्वव्यापी नाम के साथ आदर्शों के प्रसार का स्वाभाविक सिद्धान्त स्वीकार कर लेने के बाद तुलसी ने जीवन को दार्शनिक ऊँचाई पर रहने के योग्य बना दिया है और दर्शन की ऊँचाई को जीवन का सत्य बना दिया है। संतों की उपदेशात्मिका प्रचार-पद्धति में परिवर्धन, परिवर्तन करके राम के जीवन के आदर्शपूर्ण स्वरूप को तुलसी ने अपने धर्म-प्रचार का साधन बनाया। इसी पद्धति का अवलम्बन करके उन्हें विमल सन्तोष का अनुभव हुआ।

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २४ के बाद † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २५। $ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २६ के पहले। * रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २७ के बाद।

केवल उपदेशात्मक वाक्यों से हृदय सन्तुष्ट नहीं होता। आदर्शों को जीवन के सौन्दर्य के भीतर साकार होते देख कर ही हृदय को सन्तोष होता है। राम के जीवन का साक्षात्कार करके और उसी जीवन-चित्र को लोगों के हृदयों पर अंकित करके तुलसी ने स्वयं भी विमल सन्तोष का अनुभव किया है और संसार के हृदय को भी उसी आनन्द के अनुभव में मग्न कर दिया है। तुलसी के राजा राम की कृपा-भावना को कृपा करने से कभी सन्तोष ही नहीं होता। 'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती ‡' से गोस्वामी जी ने इसी सत्य को व्यक्त किया है। राम कितनी भी कृपा करें, उन्हें ऐसा ही अनुभव होता रहता है कि मैंने बहुत कम कृपा की। तुलसी के राम, भक्त के दोषों को नहीं देखते, अपनी दीनबन्धुता का ध्यान रख कर वे उद्धार ही करते जाते हैं। भारतीय दर्शन का यह आशावाद जीवन को बड़ा ही स्वस्थ सहारा देता है। भारतीय दर्शन पतित स्वभाव वाले व्यक्ति को भी सुधार और सद्गति की आशा का सन्देश देता है। इसी के आधार पर तुलसी के राम उसी को अपनाते हैं जो पिछड़ा हुआ है। जो भला है उसमें सुधार अपेक्षित नहीं होता। यह सुधार तो पतितों के लिए है। राम इसीलिए पतितपावन हैं। 'राम सुस्वामि कुसेवक मोसो, निज दिसि देखि दयानिधि पोसो † ' में यही सत्य निहित है।

'धनी-निर्धन, ग्रामीण-नागरिक, पंडित-मूढ, मलिनमति और प्रतिभाशाली, सुकवि और कुकवि सब पुरुष-स्त्री राजा की प्रशंसा अपनी बुद्धि के अनुसार करते हैं। राजा, भला, सज्जन तथा सुशील होता है। वह ईश्वर के अंश से पैदा होता है। उसका स्वभाव परम कृपालु होता है। वह सबकी भाषा, भक्ति, नम्रता और योग्यता के अनुसार सम्मान देता है। यह तो 'प्राकृत-महिपाल' (साधारण राजा) का स्वभाव है। जीवों के शिरोमणि कोसलराज राम केवल स्नेह से ही वश में हो जाते हैं $।'

प्रारब्धवाद के अनुसार गोस्वामी जी 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' * का अनुमोदन करते हुए यह स्वीकार करते हैं कि योगी और चरित्रवान् के भीतर ईश्वरत्व का अंश उत्पन्न हो जाता है और उन्हीं अंशों को ले कर जीव राजा के शरीर में आता है। उसमें साधारण मनुष्यों से अधिक गुण होते हैं, पर राम विकास की अन्तिम सीमा हैं। मानवशील का अन्तिम विकास ही परमात्मा है। उसका अवतार मनुष्यों की साधारण योग्यताओं पर ध्यान नहीं देता। वह आदर्श के प्रति स्नेह रखने वाले मनुष्यों के प्रति ही आकृष्ट होता है। इसी आदर्शप्रियता का राम में दर्शन करके तुलसीदास जी उनके निर्गुण रूप पर ही अपने को निछावर नहीं कर देते; एक सच्चे विशिष्टाद्वैती साधक की तरह निर्गुण की सर्वव्यापकता पर ध्यान रखते हुए भी सगुण की उत्तम पुरुषता पर से ध्यान वे इसलिए नहीं हटाते कि उन्हें उत्तम पुरुषों के समाज को देख लेने की भूख है। इसकी गवाही मानस के प्रत्येक सोपान से मिलती है। प्रारम्भ के इस विमल सन्तोष सम्पादन सोपान में तो इसकी भूमिका ही है। इस सोपान में एक आदर्श समाज का निर्माण करने

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २७ के बाद। † वही। $ वही। * गीता, अध्याय ६, श्लोक ४१।

का पवित्र संकल्प तुलसी का साधक करता है—"वरनउं रघुवर विसद जसु सुनि कलिकलुष नसाइ ‡।" 'कलिकलुष' का नाश 'रघुवर' के 'विसद जस' से होता है। इसका अर्थ केवल यही है कि मर्यादा पुरुषोत्तम के आदर्शों का प्रचार कर देने से आदर्श समाज का निर्माण हो जाता है। इस कार्य को पूरा करने के लिए सगुण ब्रह्म के आदर्शों को और इन आदर्शों के प्रतीक उसके व्यापक नाम को तुलसी ने अपना अस्त्र वनाया है। मानस भर में इसी नाम और नामी का प्रकाश जीवन के विकासपथ को आलोकित करता हुआ दिखाई पड़ता है। इस सफलता के विश्वास को स्पष्ट अनुभव करके और वालकांड में इस विश्वास को अंशतः चरितार्थ करके भी तुलसी ने विमल सन्तोष का अनुभव किया है। लेकिन जीवन का जो अंश, और दर्शन की जो धारा इस कांड में प्रतिपादित हुई है वह अपने में स्वतः पूर्ण हो कर आगे के दूसरे विकास की ओर अग्रसर हो गयी है। यह सन्तोष तुलसी न जगज्जीवन के हर क्षेत्र में त्याग और तपस्या का आलोक फैला कर अनुभव किया है। विश्वमंगल की साधना करने के लिए जिस व्यक्तित्व के भीतर आत्मवलि का स्थान गोस्वामी जी को दिखाई पड़ा, उसे राम की तरह पूज्य उन्होंने मान लिया, और अपने हृदय की इसी प्रकार की स्वीकृति के भीतर उन्हें विमल सन्तोष का अनुभव हुआ है। यह विमल सन्तोष विश्वमंगल विधान के लिए राम के भीतर बैठे हुए आत्मोत्सर्ग से जुड़ा हुआ है। राम-साहित्य के प्रसिद्ध साधक भवभूति ने भी अपने राम के भीतर इसी बीज-भाव के आधार पर उत्तर-रामचरित नाटक की कथावस्तु का विकास किया है। उनके राम कहते हैं—"दुःख सवेदनायैव रामे चैतन्यमाहितं †।"—'दुःख का अनुभव करने के लिए ही राम के शरीर में चेतना रखी गयी है।' उन्होंने यह भी कहा है—"स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि। आराधनाय लोकानां मुंचतो नास्ति मे व्यथा" §—विश्व के मंगल के लिए स्नेह, दया, सौख्य और जानकी तक को छोड़ने में मुझे पीड़ा न होगी।' अपनी इस प्रतिज्ञा की पूर्ति राम ने अक्षरशः की। धोवी के सन्तोष के लिए, अपने भीतर प्रतिष्ठित पुरुष के उच्चतम शील की गवाही के लिए, सीता के स्वभाव में स्थान पाये हुए नारी के उच्चतम शील की साक्षी देने के लिए, लोक के वीच में विकसित होने वाले पुरुष के शील के विकास की रक्षा के लिए तथा नारी के भावी शीलविकास के मार्ग से बाधा हटा देने के लिए राम ने सीता को निर्वासित कर दिया। यह घटना राम और सीता के जीवन के वलिदान की उच्चतम घटना है। लोक-जीवन को आदर्श की ओर बढ़ाने के लिए राम ने सीता को छोड़ दिया और अपने एक ही कार्य से उन्होंने अपने स्नेह, दया और सौख्य की लोकाराधन की यज्ञ-वेदी पर वलि दे दी।

अवतारी राम का यही शील था जिस पर तुलसी ने अपने जीवन को निछावर कर दिया। इसी शील का प्रचार करके 'सव जग' के भीतर तुलसी 'सियाराम' की सगुण झाँकी देखना चाहते थे। उनकी यही इच्छा रामचरित मानस में चरितार्थ हुई है। इसी

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २९। † भवभूति लिखित उत्तररामचरित नाटक, अंक १, श्लोक ४७। § भवभूति लिखित उत्तररामचरित नाटक, अंक १, श्लोक १२।

इच्छा ने मानस को जन्म दिया। लोकमंगल के लिए आत्मोत्सर्ग की सहज प्रकृति, तुलसी ने अपने सब आदर्श पात्रों में विकसित की है। 'नाम प्रसाद संभु अबिनासी, साज अमंगल मंगल रासी' ‡ में भी यही संकेत है। नाम के आधार से राम के आदर्शों को प्राप्त करके अविनाशी शिव त्याग के द्वारा स्वयं तो अमंगल रूप में रहते हैं, पर निरन्तर विश्वमंगल के कार्य में व्यस्त रहते हैं। विश्व की रक्षा के लिए गरल पान करना सगुण शिव के जीवन की एक महानतम घटना है। सरल जीवन के भीतर उच्च विचार की अन्तिम सीमा शिव ने अपने जीवन के भीतर से प्रकाशित की है। जीवन के भीतर के यही दृश्य विमल सन्तोष की अनुभूति तुलसी को प्रदान करते हैं। इस भूमि पर जो व्यक्ति अपने जीवन के आदर्शों को पहुँचा सकेगा, वही विमल सन्तोष का अनुभव कर सकेगा। जिन मनु सतरूपा की चर्चा तुलसी ने की है, उन्होंने भी तो निर्गुण पवित्रता को, लोकमंगल के लिए, आदर्श स्थापित करने के लिए राम के रूप में सगुण बना लिया और उसी कार्य लिए स्वयं दशरथ और कौसल्या हो कर सगुण बनाया। उन्होंने मुक्ति नहीं माँगी, आदर्श का प्रचार करने वाली भक्ति को माँग कर ही उन्हें विमल सन्तोष का अनुभव हुआ; ठीक उसी तरह जिस तरह एक सोपान अपने में पूर्ण हो कर दूसरे से सम्बद्ध हो जाता है। आदर्श का प्रचार करने वाली भक्ति मनुष्य का अनंत विकास करके उसे मुक्ति ही प्रदान करती है, अपने में पूर्ण हो कर मुक्ति बन जाती है। जीवन और दर्शन के इस प्रथम सोपान को पूर्णता दे कर गोस्वामी जी ने विमल सन्तोष का अनुभव किया है।

इस विमल सन्तोष का विकास गोस्वामी जी ने दाम्पत्य जीवन के प्रेम के भीतर भी देखा है। भारतीय दाम्पत्य जीवन के भीतर का प्रेम, वासना-तृप्ति के घोर स्वार्थ के ऊपर उठ कर त्याग और माधुर्य के आलोक से सदा आलोकित रहा है। कुछ मनीषी कवियों ने इस प्रेम का विकास जीवन के भीतर दिखाई पड़ने वाले रूपसौन्दर्य के बोध से प्रारम्भ करके त्यागमय शील के सौन्दर्य-बोध तक पहुँचाया है। यहाँ पहुँच कर दो प्रेमियों के भीतर एकात्मता का अद्वैत स्थापित हो जाता है। कालिदास की उमा रूपसौन्दर्य के इसी बोध को ले कर शिव की उपासना करने जाती है और अनासक्त शिव के द्वारा काम-दहन के दृश्य को देख कर समझ जाती है कि वासना से अनासक्त शिव रूपसौन्दर्य की अनुभूति से आकृष्ट नहीं होता। परम शिव तो परम मंगलकारी उस त्याग से आकृष्ट होता है, जो तपस्या की कठोर अग्नि से तप कर जगत् की रक्षा के लिए तारकासुर का वध करने वाले प्रताप की सृष्टि कर सकता है। जगत् की रक्षा व्यक्ति के भोग में नहीं, उसके त्याग में निहित है। व्यक्ति भी अपनी चेतना के भीतर जगत की रक्षा का आदर्श स्थापित करके जब सृष्टिकार्य में प्रवृत्त होता है तब एक पुत्र का पिता ही नहीं, जगत्पिता होता है। इसी चेतना को हृदय में स्थान दे कर नारी भी माता बनने पर केवल अपनी सन्तान की ही धात्री नहीं बनती, जगद्धात्री जगदम्बा बन जाती है। कालिदास की उमा माता बनने की सीमित मोहजन्य वासना से छू जाती हैं। इसी वासना की दृष्टि से महान्

‡ रामचरित मानस, बालकांड, दोहा २५ के बाद।

शिव उन्हें साधारण पिता की कामवासना की छुद्र सीमा के भीतर ही वन्द दिखाई पड़ते हैं। लेकिन निष्काम शिव की परमसाधना का दर्शन जब उन्हें हो जाता है, तब वह समझ जाती हैं कि स्वार्थ के भीतर की वासना से ऊपर उठ जाने के कारण शिव इस तरह के प्रतापी सन्तान के पिता होने के योग्य हैं, जो जगत् की रक्षा कर सकेगा। ऐसे जगत्पिता के सम्मुख अपने को हीन समझ कर उमा ने श्रृंगार को त्याग दिया और तपस्या के द्वारा वासना का अतिक्रम करके अपने जगन्मातृत्व की साधना करने चली गयीं। उनको शिव के आदर्श के सम्मुख यह स्पष्टतः परिलक्षित हो गया कि आत्मवलि से ही जगत् की रक्षा की जा सकती है, अपने स्वार्थी भोग से नहीं। इस साधना के यज्ञ के फलस्वरूप जगदम्बा का स्थान पा कर उमा ने जगत्पिता शिव को प्राप्त कर तारकासुर के आतंक से विश्व की रक्षा की।

कविकुलगुरु कालिदास की दाम्पत्य प्रेम के चित्रण की यह योजना महान् है। अपनी रूपराशि को प्रिय के चरणों में अर्पित कर उमा शिव से एकाकार परिणति का सम्बन्ध चाहती थीं। पर रूपसौन्दर्य के वोध की, उमा की इस भावना से साथ कविकुल-गुरु अपनी चेतना को नहीं बाँधते। तटस्थ रह कर वे उमा का चित्रण कर देते हैं। उनकी इस भावना का वे समर्थन नहीं करते। अनासक्त शिव का संयम वासना के प्रलोभन (काम) को जब भस्म कर देता है, तब उमा को सम्यग्वोध हो जाता है। यहाँ महाकवि उमा का साथ देता है। वह कहता है—"निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती ‡"—'पार्वती ने हृदय से अपने रूप की निन्दा की'। इसके वाद वह सौन्दर्य की संक्षिप्त, पर सारगर्भित व्याख्या करते हुए कहता है—"प्रियेषु सौभाग्यफलाहि चारुता †"—'प्रिय व्यक्ति की प्राप्ति के सौभाग्य का परिणाम जो सौन्दर्य दे सकता है, वही चारुता है'। जो सौन्दर्य प्रिय के प्रेम को नहीं जीत सकता वह किस काम का। इस भावना को अपने भीतर विकसित करके उमा ने समझ लिया कि जगद्रक्षक शिव जगद्रक्षिका से ही आकृष्ट होता है, रूपसौन्दर्य की भेंट वह अपने चरणों पर नहीं चाहता है। वह तो शीलसौन्दर्य की भिक्षा अपने हृदय के लिए चाहता है। जगत् की रक्षा के लिए वह अन्नपूर्णा से अन्न की भिक्षा माँग सकता है, पर सौन्दर्य पर ध्यान रखने वाली उमा के रूप को अपनी पूजा के पुष्प की भेंट की तरह भी नहीं स्वीकार कर सकता। सौन्दर्य की इसी विराट् भावना को अपने भीतर प्रज्ज्वलित करके जगत्पिता को पाने के लिए उमा जगन्माता, अन्नपूर्णा (जगत् की रक्षा की भावना) वन गयीं।

लेकिन विशुद्ध सन्तोष के पवित्र प्रकाश से निरन्तर आलोकित तुलसी का साधक अपनी उमा के भीतर के इस मोह को नहीं सह सकता। उमा की इस पराजय को गोस्वामी जी ने स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने अपनी उमा को प्रारम्भ से अंत तक पवित्रता के आलोक से प्रकाशित देखा है। त्यागप्रधान तपोमय प्रेम की पवित्र झाँकी उन्होंने अपनी उमा के द्वारा प्रस्तुत की है। उनका विश्वास है कि विराट् शील अपने प्रारम्भ में भी

‡ कुमारसंभव, सर्ग ५, श्लोक १। † वही।

विराट् ही होता है। अपने इस विश्वास पर गोस्वामी जी ने बहुत अधिक ध्यान रखा है। उन्होंने कहा है—'हिमालय के घर में उमा जब से अवतीर्ण हुईं तभी से वहाँ सब सिद्धियाँ और सम्पत्तियाँ छा गयीं। हिमालय पर चारों तरफ़ मुनियों ने अपने पवित्र आश्रम बना लिये। विभिन्न प्रकार के नये वृक्ष उत्पन्न हो कर फूल-फल से सदा लदे रहते थे। बहुत प्रकार की मणियों की खानें उस सुन्दर शैल पर प्रकट हो गयीं। नदियों में पवित्र जल बहने लगा। पक्षी, मृग तथा मधुप सब सुखी रहने लगे। सब जीवों ने अपना नैसर्गिक वैर त्याग दिया। उस पर्वत से सब प्रेम करने लगे। गिरिजा के जन्म से हिमालय का घर इस तरह शोभित हो गया जिस तरह राम की भक्ति को पा कर मनुष्य की शोभा बढ़ जाती है। उस पर्वत के घर में नित्य नये उत्सव और मंगल होने लगे। ब्रह्मा इत्यादि देवता उसका यश गाने लगे ‡।'

उमा के जन्म के इस प्रभाव का 'कुमारसंभव' में वर्णन करते हुए कालिदास ने कहा है—'उमा के जन्म के दिन दिशाएँ प्रसन्न हो गयीं, विना धूल के वायु बहने लगी। शंखध्वनि के बाद पुष्पवृष्टि हुई। सब शरीरी स्थावर जंगमों के लिए उमा का जन्मदिन सुख का दिन हो गया...जिस तरह महती प्रभा वाली शिखा से दीपक पवित्र और विभूषित होता है, जिस तरह स्वर्ग के मार्ग त्रिपथगा की धाराओं से पवित्र और विभूषित होते हैं, जिस तरह संस्कारवती वाणी से बुद्धिमान् मनुष्य पवित्र और सुन्दर मालूम पड़ता है, उसी तरह हिमालय भी उमा के द्वारा पूत और विभूषित हो गया †।' इसके बाद इक्कीस श्लोकों में महाकवि ने उमा के केवल उस सौन्दर्य का वर्णन किया है, जो शिव के संयम से पराजित हो गया। उमा की पवित्रता पर महाकवि का ध्यान अवश्य है, पर वह संक्षिप्त ही रह जाता है। नारद के यह वताने पर कि उमा के पति शिव होंगे, पर्वत ने उसके लिए वर खोजने के सब प्रयत्न बन्द कर दिये। किसी दूसरे वर की अभिलाषा ही उनके भीतर न रह गयी। इस स्थिति को समझाने के लिए कवि जो कुछ कहता है उससे उमा की पवित्रता की व्यंजना हो जाती है। वे कहते हैं, 'मंत्र से पूत आहुति को स्वीकार करने की योग्यता अग्नि के ही तेज़ में रहती है। सुवर्ण इत्यादि दूसरे तेजस्वी पदार्थों में यह योग्यता नहीं होती $।' पार्वती के भीतर मंत्रपूत आहुति की पवित्रता का दर्शन महाकवि ने अपने इन शब्दों में किया है। पर इस पवित्रता का बहुत अधिक भव्य रूप गोस्वामी जी ने अपनी उमा में देखा है। कन्या को नारद के सामने ला कर पर्वतराज हिमालय ने अपनी सुता के गुण-दोष पूछे। तुलसी के नारद ने कहा है—'आपकी पुत्री सब गुणों की खान है। इसके भीतर नैसर्गिक जन्मजात सुशीलता है। यह बड़ी ज्ञानवती है। इसके नाम उमा, अंबिका तथा भवानी हैं। यह कुमारी सब शुभ लक्षणों से युक्त है। इसे प्रिय का प्रेम निरन्तर मिलेगा। इसका सौभाग्य सदा अविचल रहेगा। माता-पिता इसके कारण यशस्वी होंगे। यह सम्पूर्ण जगत् में पूज्य होगी। इसकी उपासना करने से कोई वस्तु

‡ रामचरितमानस, वालकांड, दोहा ६५ के पहले और बाद। † कुमारसंभव, सर्ग १, श्लोक २३ से २८। $ कुमारसंभव, सर्ग १, श्लोक ५१।

दुर्लभ न रह जाएगी। इसके शील और नाम का स्मरण करके संसार की सब स्त्रियाँ तलवार की धार के समान कठिन पातिव्रत के पथ पर अग्रसर होती चली जाएँगी ‡।'

समाज के भीतर विमल सन्तोष के लिए हृदय की पवित्रता और तपोमय जीवन की जो अनिवार्य आवश्यकता होती है उसका बड़ा भव्य रूप तुलसी ने देखा है। इसीलिए उनके नारद ने उमा के भीतर जन्मजात शील का एक परम विराट् रूप देखा। दक्ष के यज्ञ में अपना आत्म-विसर्जन कर देने वाली सती के पूर्ण शील का विकसित रूप गोस्वामी जी ने अपनी उमा में वाल्यावस्था के प्रारम्भ से ही देखा है। पर कालिदास ने शील के क्रमिक विकास पर आस्था रख कर अपनी उमा के भीतर इस शील को धीरे-धीरे विकसित किया है। सती के भस्म हो जाने के बाद हिमाचल के ही प्रदेश में तपोमय संयत जीवन व्यतीत करने वाले शिव की सेवा करने के लिए कालिदास के हिमालय ने अपनी कन्या को उसकी सखियों के साथ भेज दिया। पर्वत ने यही समझा कि वशी शिव की समाधि में उमा के कारण कोई बाधा न होगी। उमा ने बड़ी योग्यता से शिव की अनासक्तिमय सेवा की। पर समाधि से जागे हुए शिव ने काम के बाणों से विद्ध होने पर अपने भीतर जब वासना का अनुभव किया तब पार्वती के भीतर भी वासना जागृत हुई। यहाँ कालिदास ने यही सिद्ध किया है कि जगद्व्यापी काम धैर्यवान् शिव को भी क्षुब्ध कर सकता है और उमा को क्षुब्ध करना भी स्वाभाविक ही है। शिव वासना को भस्म कर देते हैं, तब उनकी भावी योग्य अर्धांगिनी भी वासना के मोह से जाग कर तपोमय जीवन की ओर मुड़ जाती है, अपने को शिव के योग्य पात्र बनाने के लिए।

मर्यादा की परमोच्च सीमा का साधक तुलसी, पुरुष शिव के साथ वासना के संघर्ष और उस पर शिव की विजय का चित्र तो अंकित करता है, पर अपनी नारी की पवित्रता के भीतर इस संघर्ष को वह पैदा ही नहीं होने देता। उसकी उमा 'सहज सुशील सयानी †' है, जन्मजात आदर्श नारी है। इसीलिए नारीत्व की चेतना के विकास के साथ ही सुशीलता और विवेक की पराकाष्ठा गोस्वामी जी ने उसमें देखी है। यही देख कर उन्होंने विमल सन्तोष का अनुभव किया है। वे मानते हैं कि मानव एक ही जन्म नहीं, अनंत जन्मों का विकास है। इसीलिए सती का पूर्ण विकास उनकी उमा ने प्राप्त किया है। उसे पुनः नये सिरे से विकसित नहीं होना पड़ा है। कालिदास इस सिद्धान्त को मानते हुए भी साधारण कोटि के मनुष्य के शील से किंचित् भ्रान्त हो कर उमा के भीतर पवित्रता का अनुभव प्रारम्भ से ही कर लेने पर भी उसमें विकास को चित्रित करते हैं। पर विमल सन्तोष को दृष्टि में रखते हुए तुलसी इस विमलता के भीतर आरम्भ से अंत तक नारी के भीतर पवित्रता की शुभ्र ज्योत्स्ना का दर्शन करते हैं। पुरुष के भीतर भी विवेक के इसी पावन तेज को तुलसी ने देखा है। शिव का 'कामदहन' और राम का 'जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी §' रूप इसी सत्य के परिचायक हैं। दाम्पत्य जीवन के भीतर इसी पवित्रता की

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ६६ के बाद। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ६६ के बाद। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २३१ के पहले।

तपोमय झाँकी को देख कर, आत्मा के विराट् सौन्दर्य का दर्शन करके तुलसी को विमल सन्तोष का अनुभव हुआ है।

उन्होंने पुरुष शिव पर काम का आक्रमण तो सह लिया है, शंकर के द्वारा उसके समूल नाश का चित्र अंकित करके, पर अपनी उमा के भीतर वासना का उद्गम वे किसी प्रकार नहीं सह सकते थे। शिव पर भी अपने वाण चलाने में मदन भयभीत होता है। उसकी सब शक्ति क्षीण हो जाती है। जगत् के ऊपर से उसका प्रभाव-विस्तार समाप्त हो जाता है। पुरुष शिव पर भी गोस्वामी जी ने सहज-संयम का यह रंग कितनी स्वाभाविकता से चढ़ाया है—"सिवहिं विलोकि ससंकेउ मारू, भयउ जथाथति सब संसारू। रुद्रहि देखि मदन भय माना, दुराधर्ष दुर्गम भगवाना ‡।" कालिदास ने भी शिव के भीतर की इस दुर्धर्पता पर ध्यान रखा है। समाधिमग्न शिव को देख भय के मारे कालिदास का काम मूर्छित हो कर अपनी चेतना को खो बैठता है। उसके धनुष-वाण हाथ से छूट कर गिर जाते हैं, पर उसको पता नहीं चलता †। इसी बीच में कालिदास की उमा शिव की सेवा के लिए शृंगार से सज्जित शरीर से चली आती हैं। इस घटना के बाद काम की मूर्छा समाप्त हो जाती है और उमा की उपस्थिति से उसे बल मिलता है। शंकर की समाधि खुलने पर नन्दी ने उमा के आने की सूचना दी और तपस्वी शिव ने प्रवेश की आज्ञा दे दी। उमा ने पुष्पांजलि दे कर प्रणाम किया। शिव ने उसे अविचल शीलवाला पति पाने का आशीर्वाद दिया। उमा ने मन्दाकिनी में होने वाले कमलों के बीज की माला शिव को देने के लिए हाथ वढ़ाये। शिव ने उस पर अनुग्रह करने के लिए माला स्वीकार करने की ज्योंही प्रवृत्ति दिखायी, काम ने अपने धनुष पर संमोहन वाण रख लिया। कला के औचित्य के पारखी महाकवि कालिदास ने लोकोत्तर चरित भगवान् शिव पर वाण छोड़ने के दृश्य का वर्णन नहीं किया है। वाण के प्रभाव से उमा और शिव दोनों प्रभावित हुए और शिव ने काम को भस्म कर डाला $।

परमात्मध्यान में मग्न साधक की समाधि वासना के प्रभाव से भंग नहीं हो सकती। इस सत्य की महाकवि कालिदास ने रक्षा की है—समाधि से बाहर आये हुए शिव पर वासना का प्रभाव जागृत करके। पर गोस्वामी जी ने अनंत की अनंतता के साथ काम की अनंतता का सिद्धान्त स्वीकार किया है। उन्होंने अनंत के ध्यान में मग्न शिव पर अनंत शक्तिवान् काम से आक्रमण करवा दिया है और कालिदास की कलात्मक दृष्टि को उन्होंने स्वीकार नहीं किया है। वे इस बात पर ज़ोर देना चाहते हैं कि अन्धा काम इतना अविवेकी होता है कि परम पूज्य शिव पर भी पूरी शक्ति से वाण चला कर उनके मर्म को विद्ध कर सकता है। उसका प्रभाव अनंत के ध्यान में मग्न साधक पर भी पड़ सकता है। लोकोत्तर चरित्र या पवित्र चरित्र वाले व्यक्ति के प्राणों का अंत करने वाले आघात का वर्णन भारतीय साहित्य की मर्यादा के अनुसार वर्ण्य नहीं है। यहाँ पर वैसी

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ८५ के बाद। † कुमारसंभव, सर्ग ३, श्लोक ५१।
$ कुमारसंभव सर्ग ३, श्लोक ५१ से ७२ तक।

स्थिति नहीं थी; इसीलिए गोस्वामी जी ने काम की उद्दंडता का प्रदर्शन करने के लिए उसके बाण चलाने की पूरी विधि का वर्णन कर दिया है—"देखि रसाल विटपवर साखा, तेहि पर चढ़ेउ मदन मन माखा। सुमन चाप निज सर संधाने, अति रिस ताकि स्रवन लगि ताने। छांड़ेउ विषम बान उर लागे, छूटि समाधि संभु तब जागे ‡।" इसके बाद तुलसी के शिव काम को भस्म कर देते हैं। समाधि के भंग होने की सम्भावना को स्वीकार कर गोस्वामी जी ने एक ओर तो समाधि के दार्शनिक महत्त्व को कम कर दिया है, पर दूसरी ओर अपने इस कार्य से उन्होंने एक बहुत बड़े महत्त्व को प्रतिपादित किया है। इस घटना से उन्होंने यह सिद्ध किया है कि समाधि को भंग करने की शक्ति रखने वाले काम को भी वशी पुरुष भस्म कर सकता है। तपोमय जीवन की ऊँचाई पर पहुँच कर सम्पूर्ण विश्व को अपने हृदय में स्थान देने की शक्ति पुरुष में रहती है, स्वार्थ की वासना उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकती। इसी शक्ति का संदेश गोस्वामी जी ने इस घटना से दे कर स्वान्तः सुख का, विमल सन्तोष का अनुभव किया है।

पर कामदहन के इस चित्र में गोस्वामी जी उमा को नहीं लाये। उन्होंने उमा का प्रयोग करना उचित नहीं समझा। कालिदास ने यह सिद्ध करना चाहा है कि वासना-विद्ध नारी को सम्मुख देख कर भी वासनाविद्ध पुरुष अपनी शक्ति से वासना को भस्म कर उदार और गौरवमय जीवन की ओर बढ़ सकता है। पर 'कामी स्वतां पश्यति' †—कालि-दास के ही अन्यत्र प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार तुलसी इस बात को मानते हैं कि वासना तो पुरुष के भीतर पैदा हो कर चारों तरफ़ उसे नारी में वासना का ही दर्शन कराती है और कामी पुरुष परस्त्री में अपने लिए प्रेम की कल्पना करता रहता है। पर पुरुष इस वासना को भी अपने धैर्य से पराजित कर सकता है। एक तरफ़ अपने शिव को वासना के इस संघर्ष को क्षणमात्र में भस्म करते हुए दिखा कर भी नारी के शील की पराकाष्ठा उमा को उन्होंने वासना से अस्पृष्ट ही दिखाया है।

उमा के असीम गुणों को बता कर, उसके भीतर पाये जाने वाले जो केवल दो-चार दोष थे, उनको तुलसी के नारद बताने लगे। उन्होंने कहा—'इसके हाथ में ऐसी रेखा पड़ी हुई है कि इसे अगुण, अमान, मातृ-पितृहीन, उदासीन, अविवेकी, योगी, जटिल, अकाम मन वाला, नग्न तथा अमंगल वेश वाला पति मिलेगा। इतना सुनते ही पर्वत और मैना दुखी हुए पर उमा हर्षित हुईं। उनका शरीर पुलकित हो गया। आँखों में प्रेमाश्रु भर आये। उन्होंने समझ लिया कि शिव मुझे पति की तरह मिल जाएँगे §।'

यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि उमा के भीतर प्रेम का जो प्रथम उद्गम गोस्वामी जी ने दिखाया है वह वासनात्मक नहीं, श्रद्धात्मक है। उन्होंने कहा है—"उपजेउ शिवपद कमल सनेहू *।" श्रद्धात्मक प्रेम (भक्ति) को व्यक्त करने के लिए गोस्वामी जी चरणों के प्रति स्नेह की ही चर्चा करते हैं। 'बंदउं अवध भुआल सत्यप्रेम जेहि रामपद §'

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ८६ के बाद। † कालिदास लिखित अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक, अंक २, श्लोक २। रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ६७ के पहले और बाद। * रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ६७ के बाद। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १६।

इत्यादि स्थलों से इस बात की पुष्टि हो जाती है। शिव-पदकमल के लिए उमा के भीतर स्नेह का प्रथम उद्गम दिखा कर गोस्वामी जी ने अपनी उमा को वासना से अस्पृष्ट रखते हुए शिव के लोकमंगल विधायक रूप के प्रति आकृष्ट दिखाया है। वह आकर्षण बड़ा तीव्र है। उस वियोग के भीतर की पवित्र तीव्रता का बड़ा मार्मिक चित्र तुलसी ने दो-चार शब्दों में ही व्यक्त कर दिया है। 'मिलन कठिन, मन भा संदेहू‡' से मिलन की उत्सुकता और शिव के समान पति को प्राप्त करने के लिए बड़ी कठिन साधना की अपेक्षा की ओर भी उमा का ध्यान गया। इसके अतिरिक्त 'शिव संकल्प कीन्ह मन माहीं, एहि तन सती भेंट अब नाहीं†।' का भी ध्यान पूर्वजन्म से आज तक उमा के भीतर बना हुआ था। दृढ़प्रतिज्ञ शिव अपने आदर्श संकल्प को कैसे छोड़ सकते हैं। सबसे बड़ी यही कठिनाई उमा के सामने है।

हिमालय की चिन्ता को मिटाने के लिए नारद कह देते हैं—वर की ये अवस्थाएँ शिव में भी दिखाई पड़ती हैं—"जद्यपि वर अनेक जग माहीं, एहि कहं सिव तजि दूसर नाहीं। जौं तपु करइ कुमारि तुम्हारी, भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी $"। कथावस्तु को इस तरह संचालित करके, कालिदास के कामदहन के चित्र में से गोस्वामी जी अपनी उमा को अलग रख लेते हैं और उनके भीतर आदर्श पति की प्राप्ति के लिए प्रारम्भ से ही तपस्या के संकल्प को पैदा कर लेते हैं। पर्वतराज हिमालय अपनी पत्नी से कहते हैं—"अब जौ तुमहि सुता पर नेहू, तौ अस जाइ सिखावन देहू। करइ सो तपु जेहि मिलहिं महेसू, आन उपाय न मिटहिं कलेसू *।" पर मैना के हृदय में इतनी दृढ़ता नहीं थी कि अपनी कोमलांगी पुत्री को तप करने की राय दे—"बारहिं बार लेति उर लाई, गदगद कंठ न कछु कहि जाई §।" पर तुलसी की उमा तो जगन्माता, सर्वज्ञ और भवानी है—"जगतमातु सरबग्य भवानी, मातु सुखद बोली मृदु बानी ×।" अपनी माता को सान्त्वना देने के लिए उमा ने कहा—"मैं आपसे अपना एक स्वप्न बताती हूँ। सुन्दर, गौर वर्ण वाले एक श्रेष्ठ ब्राह्मण ने स्वप्न में मुझे यह उपदेश दिया है कि नारद के वाक्य सत्य हैं। मुझे जा कर तपस्या करनी चाहिए। उन्होंने यह भी कहा है कि तपस्या का प्रस्ताव तुम्हारे माता-पिता को भी उचित प्रतीत हुआ है। तप से सुखों की सृष्टि और दुःखों का विनाश होता है। तप के बल से ही ब्रह्मा सृष्टि करते हैं, विष्णु पालन करते हैं तथा शिव संहार करते हैं। तप के बल से ही शेष पृथ्वी का भार अपने ऊपर धारण करते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि तप के आधार पर ही टिकी हुई है। मन से इस सत्य का अनुभव करके तुम तप करने चली जाओ +।"

माता-पिता को समझा कर तुलसी की उमा तपस्या करने चली जाती है—"मातु-पितहिं बहुविधि समुझाई, चली उमा तप हित हरषाई *।" इस तपस्या के पथ पर चलने

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ६७ के बाद। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ५६ के बाद। $ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ६९ के बाद। * रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७१ के बाद। § वही। × वही। + रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७२ और उसके बाद। * वही।

में उमा को विमल सन्तोष का अनुभव होता है। बड़ी प्रसन्नता से वह तपस्या के लिए चली जाती हैं। लोकमंगल की साधना में निमग्न शिव के लिए श्रद्धात्मक प्रेम को अपने भीतर स्थान दे कर उमा उनके चरणों के ध्यान के सहारे अपने सब कष्ट को भूल कर जगन्माता होने का परिचय देती हैं।

उर धरि उमा प्रान-पति-चरना, जाइ बिपिन लागी तप करना।
अति सुकुमार न तनु तप जोगू, पतिपद सुमिरि तजेउ सब भोगू ‡।

लोकमंगल के लिए विष पान कर लेने वाले शिव की अर्धांगिनी अपने को सिद्ध करने के लिए उमा ने कठोर तपस्या की। उनकी तपस्या जितनी आगे बढ़ी, उन्हें उतना ही अधिक विमल सन्तोष का अनुभव हुआ। उन्होंने अपने को शिव के लिए उतना ही अधिक योग्य पात्र समझा और पति के चरणों के लिए उनका अनुराग बढ़ता गया।

नित नव चरन उपज अनुरागा, बिसरी देह तपहि मन लागा †।

अपने शरीर को भूल कर जो कष्ट को वरण कर लेता है, वही लोकमंगल विधान कर सकता है। सूखे हुए वेल के पत्ते पृथ्वी पर से उठा कर तीन हज़ार वर्ष तक उसी भोजन के सहारे उमा ने तपस्या की। अंत में उन पत्तों को भी त्याग दिया, और अपर्णा की उपाधि उन्होंने अपने लिए प्राप्त कर ली। यही उमा के जीवन की पवित्रता और भारतीय दाम्पत्य प्रेम का आदर्श है। तपोमय जीवन से अपने को स्वार्थ के ऊपर उठा कर परार्थ और परमार्थ में लीन कर देने की साधना भारतीय दाम्पत्य प्रेम का आदर्श है। ऐसे योग्य दम्पति स्वयं भी लोकत्राण करते हैं और अपनी सन्तति भी, वे इसी लोकरक्षा और लोक-रंजन के कार्य को अपने वाद अविच्छिन्न रखने के लिए, उत्पन्न करते हैं। इसी दाम्पत्य जीवन के सौन्दर्य का साक्षात्कार करके तुलसी को विमल सन्तोष का अनुभव हुआ है और इन समस्त मार्गों से विमल सन्तोष के सिद्धान्त की लौकिक झाँकी उन्होंने बालकांड के प्रथम सोपान में दिखायी है।

शैलजा की इस पवित्र और कठोर साधना से तुलसी के अनादि-अनंत राम द्रवित हो जाते हैं। विराट् पवित्र साधना परम पवित्र विराट् को द्रवित कर देती है। उन्होंने शिव के पास आ कर—'अति पुनीत गिरजा कै करनी, बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी। अब विनती मम सुनहु सिव जो मो पर निज नेहु। जाइ बिवाहहु सैलजहि यह मोहि माँगे देहु $।'—शिव से वरदान माँगा और वह यही कि वे उमा को स्वीकार कर लें। राम ने उनसे कहा कि तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी हो गयी। तुम्हारा यह मिलन सती के उस शरीर से नहीं, दूसरे शरीर से होगा। आदर्श के उपासक शिव ने आदर्श से किंचित् गिर जाने के कारण सती को त्याग दिया था। वह सती और अधिक विकसित हो कर उमा हुई है। इसी लिए शिव ने अपने आराध्य राम के कहने पर उसे स्वीकार करने की स्वीकृति दे दी। तुलसी के शिव ने सप्तऋषियों को उमा की परीक्षा लेने को

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७३ के बाद। † वही। $ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७६ और उसके पहले।

भेजा। उन्होंने उमा को कई तरह से डिगाने के प्रयत्न किये, पर तपस्विनी उमा को अपने सत्य प्रेम पर इतना पवित्र अभिमानपूर्ण विश्वास था कि उन्होंने कोरा जवाब दिया—"जनम कोटि लगि रगरि हमारी, बरउं संभु न तु रहउं कुआंरी। तजउं न नारद कर उपदेसू, आपु कहहिं सतवार महेसू‡।"—स्वयं शिव भी सौ बार कहें तब भी उमा अपना पवित्र प्रण न छोड़ेगी। वह करोड़ों जन्म तपस्या करेगी और यदि शंभु को वरण न कर सकेगी तो कुमारी रह जाएगी। यह है पवित्रता का अनंत तेज, जिसका साक्षात्कार करके तुलसी को विमल सन्तोष का अनुभव हुआ है।

इसी बीच में तुलसी की वस्तुयोजना में शिव काम को भस्म कर देते हैं, पर देवताओं की प्रार्थना स्वीकार करके उमा से विवाह कर लेना स्वीकार कर लेते हैं। अपने आराध्य राम के अनुरोध पर यह स्वीकृति तो शिव ने पहले भी दे दी थी। ब्रह्मा ने इस स्वीकृति का सन्देश सप्त ऋषियों के द्वारा हिमालय के पास भेजा। सप्त ऋषियों ने पहले उमा को सन्देश सुनाया—

कहा हमार न सुनेहु तब नारद के उपदेस।
अब भा झूठ तुम्हार पन जारेउ काम महेस†।

महेश वासना से कहाँ आसक्त हो सकता है, पर सप्त ऋषियों ने जगन्माता से कुछ अच्छी बातें सुनने के लिए उन्हें छेड़ा था। तुलसी की उमा ने उत्तर दिया—"आप लोगों ने उचित ही कहा। आपने समझा है कि शिव ने काम को अब भस्म किया, वे अब तक विकारवान् ही रहे। लेकिन हमने तो यही समझा था कि शिव सदा के योगी, अज, विशुद्ध-अकाम और अभोगी हैं। अपनी इसी धारणा को ले कर प्रेम के साथ मन, वाणी और कर्म से यदि हमने शिव की सेवा की है, तो कृपानिधि परमेश्वर शिव हमारे प्रण को अवश्य सत्य करेंगे$।"

दाम्पत्य प्रेम के भीतर की इसी पवित्र अनासक्ति की उपासना गोस्वामी जी ने की थी। इसी पवित्रता का अपने हृदय से साक्षात्कार करके उन्हें विमल सन्तोष का अनुभव हुआ था। साहित्य साधना के क्षेत्र में गोस्वामी जी ने महाकवि कालिदास की उमा में यही कमी देखी। उन्होंने अपनी उमा को काम के प्रभाव से प्रभावित दिखा दिया है। तुलसी को कालिदास की उस कला की भावना से सन्तोष नहीं हुआ। पूर्व जन्म में सती के भीतर दक्ष के यज्ञ की घटना तक जिस शील का विकास हुआ था, गोस्वामी जी ने अपनी उमा को उसके आगे बढ़ा कर अपनी अनेक जन्मव्यापिनी दृष्टि का परिचय दिया है। कालिदास की उमा से अपनी उमा को पवित्रता के मार्ग पर अधिक जागरूक चित्रित करके तुलसी ने विमल सन्तोष का अनुभव किया है। विमल प्रेम का दर्शन ही तुलसी को विमल सन्तोष प्रदान करता है। इस विमल प्रेम का प्रचार करके तुलसी ने एक विमल सन्तोषमय समाज का दर्शन करना चाहा है।

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ८१ के पहले। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ८९। $ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ८९ के बाद।

भवानी के इसी विराट् शील की पवित्रता का साक्षात्कार करके गोस्वामी जी की सीता ने भी उन्हें 'जगद्रक्षिका के रूप में, मंगलकरण गज-वदन, तथा सुर-त्राता षडानन की जननी के रूप में देख कर नमस्कार किया है। तुलसी की जगदम्बा सीता को भवानी का जगन्मातृत्व ही दिखाई पड़ा है। सीता ने भवानी के आदिमध्यअवसानहीन अनंत रूप को देखा है—उनके उस प्रभाव को जिसकी सीमा वेद को भी ज्ञात नहीं। संसार की उत्पत्ति, रक्षा तथा विनाश का संचालन करने वाली उस स्वतन्त्र शक्ति की तरह सीता ने भवानी को देखा है जो सम्पूर्ण विश्व को अपने संकेत से संचालित करती रहती है‡।' नारी के इस अनंत पवित्रता के रूप को गोस्वामी जी ने काम के वशवर्तित्व से प्रभावित दिखाने की महाकवि की प्रवृत्ति को स्वीकार नहीं किया है। उनकी सीता भवानी से कहती हैं—

पति देवता सुतीय महुं मातु प्रथम तव रेख।
महिमा अमित न सकहिं कहि सहस सारदा सेख†।

पति को अपना देवता मानने वाली आदर्श नारियों में तुलसी की सीता ने भवानी को प्रथम माना है। गोस्वामी जी की सीता ने भवानी में पवित्रता की उस अमित महिमा का दर्शन किया है जिसका वर्णन सहस्रों शारदा और शेष नहीं कर सकते। वीर ही वीर के गौरव को पहचान सकता है। सती स्त्री ही सती का मूल्यांकन कर सकती है। पति को देवता मानने वाली, पवित्रता की अनंतता में निवास करने वाली तुलसी की सीता भवानी का ठीक मूल्य अंकित करती हैं।

गोस्वामी जी ने इस विमल सन्तोष सम्पादन के सोपान में अपनी सीता के भीतर भी दाम्पत्य के इसी पावन रूप का विकास आरम्भ किया है। जनकपुर की पुष्प-वाटिका में सीता को राम के आने का समाचार सखियों से मिल जाता है।

एक कहइ नृपसुत तेइ आली, सुने जे मुनि संग आये काली।
जिन्ह निज रूप मोहिनी डारी। कीन्हे स्ववस नगर नर नारी।
वरनत छवि जहंतहं सव लोगू। अवसि देखियहि देखन जोगू§।

प्रिय की चर्चा करने वाले ये शब्द सीता को बड़े सुन्दर मालूम पड़े। उनकी आँखें प्रिय के दर्शन के लिए व्याकुल हो गयीं—"तासु वचन अति सियहि सुहाने, दरस लागि लोचन अकुलाने। चली अग्र करि प्रिय सखि सोई, प्रीति पुरातन लखइ न कोई*।" यहाँ भी पुरातन प्रेम है, जिसे कोई नहीं जान सक रहा है—"सुमिरि सीय नारद वचन उपजी प्रीति पुनीत। चकित विलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत§।" सीता के भीतर प्रारम्भ में ही यह प्रीति वासनाओं से अस्पृष्ट है और पुनीत है। असीम पवित्रता सीता के भीतर व्याकुल हो उठती है, असीम पवित्र राम से मिल जाने के लिए। भवानी के वरदान के भीतर भी सीता के शील से सम्बद्ध स्नेह को गोस्वामी जी नहीं भूलते—"मन

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २३५ और उसके पहले। † वही। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २२८ के बाद। * वही। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २२९।

जाहि राचेउ मिलिहि सो वरु सहज सुन्दर सांवरो। करुना निधानु सुजानु सीलु सनेहु जानत रावरो ‡।" करुणानिधान मर्यादा पुरुषोत्तम तुम्हारे शीलमय स्नेह को जानते हैं। यह भवानी की विश्वस्त गवाही सीता के शील के लिए गोस्वामी जी ने दी है।

स्वयंवर के स्थान में अपनी-अपनी भावना के अनुसार सब लोगों ने राम को अलग-अलग रूपों में देखा। लेकिन सीता के स्नेह के लिए गोस्वामी जी कहते हैं—"रामहिं चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहिं कथनीया। उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहइ कवि कोऊ †।" मर्यादा की सीमा का भगवान् राम में दर्शन करके जिस अनंत माधुर्य का अनुभव सीता ने किया, वह अनिर्वचनीय है। अनंत सदा अनिर्वचनीय ही रहता है। वह अनंत पवित्रता का प्रकाश प्राप्त कर लेने वाले हृदय में अनुभूत हो सकता है। शब्द उसे व्यक्त नहीं कर सकते। सीता की अनंत पवित्रता उस अनंत मधुरता का अनुभव करती है पर उसके शब्द उसे व्यक्त नहीं कर सकते। इसीलिए कोई कवि इस कार्य में सफल नहीं हो सकता।

राम के इस शील की पवित्रता के सामने विज्ञ राजा लोगों ने प्रतिस्पर्धा की भावना छोड़ दी, पर अन्धकार में मस्त रहने वाला उल्लू सूर्य को कभी नहीं सह सकता। मूर्ख राजाओं की यही दशा थी। राम की पवित्रता को देखने के लिए उनके हृदयों को आँखें ही नहीं मिली थीं। इसी आदर्श के लिए अपने को योग्य पात्र सिद्ध करने के लिए व्यावहारिक जगत् के भीतर अपनी सगुणता में अवतीर्ण होने वाली सीता ने आत्मबलि दे दी।

राम के मानव-रूप के साथ तुलसी ने अपनी सीता को मानवी के ही आदर्शों से विभूषित करके उसके शील के विकास को चित्रित किया है। धनुष टूटने के पहले वह साधारण स्त्री की तरह व्याकुल हो जाती हैं, इस दुविधा से कि कोमल वय के राम कठोर धनुष को कैसे तोड़ेंगे। लेकिन अपनी इस दुर्बलता से ऊपर उठ कर वह अपनी पवित्रता की शक्ति से सम्हल जाती हैं—सकुची व्याकुलता बड़ि जानी, धरि धीरज प्रतीति उर आनी $। अपनी व्याकुलता का अनुभव करके उसे अपनी दुर्बलता पर संकोच हो जाता है। अपने हृदय में विश्वास को जागृत करके वह धैर्य का सहारा लेती हैं और कहती हैं—"यदि मन, वाणी और कर्म से हमारा प्रण सत्य होगा, यदि रघुपति के पद-सरोज में हमारा मन अनुरक्त होगा, तो अन्तर्यामी भगवान् हमारी भावना की सत्यता को समझ कर मुझे रघुपति की दासी बना देंगे *।" यहाँ रघुपति शब्द सार्थक है। आदर्श शील वाले रघुवंश के राजाओं में राम आदर्श की अनंतता के रूप थे। इसी आदर्श के अनंत रूप की दासी सीता हो जाना चाहती हैं। यहाँ दाम्पत्य के भीतर वही तपस्या और त्याग के मार्ग की व्यंजना है जो रघुपति और जानकी के दाम्पत्य ने लोक के सामने निर्मित किया था। इसीलिए सीता

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २३६ के पहले। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २४२ के पहले। $ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २५८ के बाद। * वही।

के भीतर राम के लिए वासनात्मक प्रेम न हो कर श्रद्धात्मक ही है। वह भक्ति का रूप पाया हुआ पुनीत प्रेम है, जो पद-सरोज के चारों तरफ़ दास्यभावना से मँडराता रहता है। राम के उस अनंत आदर्श पर अपने को निछावर करके सीता उनकी दासी बन गयीं। उन्होंने लोकमंगल विधान की वही यज्ञाग्नि अपने भीतर प्रज्ज्वलित कर ली, जो उनके राम के भीतर जल रही थी। सीता के भीतर की स्नेह-भरी इसी पवित्र ज्वाला ने धनुष टूटने के पहले के क्षणों में उनके वियोग को इतना प्रखर बना दिया था कि प्रत्येक क्षण कल्प के समान बीत रहा था।

चितई सीय कृपा यतन जानी विकल विसेखि।
देखी विपुल विकल वैदेही, निमिष विहात कल्प सम तेही ‡।

राम के रूप के लिए जो आकर्षण सीता के भीतर गोस्वामी जी ने दिखाया है उसका सम्बन्ध सीता की उसी भावना से है जो राम के शील के सौन्दर्य का साक्षात्कार करती थी। परम सुन्दर राम में आदर्श की अनंत सुन्दरता ने सीता के लिए उनके रूप को भी अनंत सौन्दर्ययुक्त बना दिया था। सीता की एक ही पवित्र भावना राम के रूपसौन्दर्य और कर्मसौन्दर्य दोनों की समाहित उपासना कर रही थी। आदर्श भारतीय दाम्पत्य जीवन के भीतर की इसी पवित्रता की उपासना के प्रचार में तुलसी ने विमल सन्तोष के प्रचार की योजना प्रस्तुत की है। उनके विमल सन्तोष की श्रृंखला की यह भी एक कड़ी है।

गोस्वामी जी के अनुसार मानव चरित्र का विकास देवत्व का भी अतिक्रमण कर सकता है।

सन्तुलित व्यवहार के जीवन-दर्शन के भीतर भी गोस्वामी जी ने विमल सन्तोष का अनुभव किया है और इस मार्ग से विमल सन्तोष तक पहुँचने की पद्धति का भी विवेचन उन्होंने मानस के भीतर किया है। शूद्र के सेवा-धर्म के व्यवहार से अनंत आदर्श की प्राप्ति, वैश्य के अर्थार्जन के पवित्र और विश्वोन्मुख आदर्श व्यवहार से नारायणत्व की प्राप्ति तथा ब्राह्मण और क्षत्रिय धर्मों के व्यवहारों की विश्वव्यापिनी परिणति से ब्रह्मभाव की पूर्ण अभिव्यक्ति का सिद्धान्त गोस्वामी जी मानते हैं। इस सोपान में विमल सन्तोष को दृष्टि में रख कर, लोकजीवन के भीतर इस आदर्श सन्तुलन के द्वारा पूर्ण जीवन के विकास की ओर, उन्होंने ध्यान रखा है। जीव का पूर्ण विकास अविरल हरिभक्ति में होता है। यह अविरल हरिभक्ति अन्तिम सोपान में विवेचित हुई है। इसीलिए गोस्वामी जी ने 'सप्त प्रबंध सुभग सोपाना, ज्ञान-नयन निरखत मन माना †।' कह कर जीवन के विकास के इन सोपानों को केवल बाहरी आँखों से देख कर ही जीवन के सौन्दर्य को देख कर प्रसन्न होने को नहीं कहा है। जीवन के विकास की इन सीढ़ियों को उन्होंने ज्ञान की आँखों से देखने को कहा है। मानस की सगुण कथा आत्मा के विकास का क्रमिक इतिहास है। जीवन के इस सगुण विकास के साथ आत्मा का सौन्दर्य विकसित होता रहता है। इस विकास में

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २६० और उसके बाद। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३६ के बाद।

स्वार्थ की ग्रन्थियाँ छिन्न हो जाती हैं और मनुष्य अपने पूर्ण स्वरूप को अविरल हरिभक्ति में देख लेता है। मनुष्य अपने कर्तव्यों का सम्बन्ध विश्वभर से स्थापित करके अपना यह पूर्ण स्वरूप प्राप्त कर सकता है। यह स्वभाव यदि मनुष्य में अविरल हो जाए तो वह अविरल हरिभक्त हो जाता है। सब जातियाँ अपने-अपने कर्मों से परहित में जुट जाएँ तो वे धर्म की पूर्णता (परमात्मा के स्वभाव) को प्राप्त कर लें। 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई, पर पीड़ा सम नहिं अधमाई‡।' से गोस्वामी जी ने इसी सत्य पर प्रकाश डाला है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इसी परहित के लिए पैदा किये जाते हैं। ब्राह्मण विश्व में विमल सन्तोष के प्रचार के लिए, विश्व की वुद्धि का विकास करने के लिए पैदा होता है। क्षत्रिय का कर्तव्य है कि विश्व शान्ति के द्वारा विश्व के भीतर विमल सन्तोष का अनुभव करे और दूसरों को भी विमल सन्तोष की अनुभूति तक पहुँचाए।

वैश्य का धर्म, अर्थ को विश्व भर के लिए सुलभ करके विमल सन्तोष का विस्तार करना तथा शूद्र का धर्म है विश्व की सेवा करके जगत् के भीतर परमात्मा के सन्तोषमय रूप का विकास कर स्वयं उसी का रूप अपने भीतर अवतरित करते जाना।

इस अवस्था में जब दोष पैदा होने लगता है, तभी परमात्मा की विशेष शक्ति सत् और चित् के भीतर आनन्द को ले कर दोषों को दूर कर देती है, और आनन्द का विस्तार कर जाती है। यह शक्ति जीवन के भीतर असन्तुलन को सुधार कर सन्तुलन पैदा कर जाती है। यही रामराज्य का परिणाम होता है। रामराज्य की यही भूमिका मानस के इस कांड में आरम्भ हो जाती है।

सन्तुलित वुद्धि का जब तक व्यापक विस्तार नहीं होता तब तक व्यापक शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती और बिना शान्ति के विस्तार के, अर्थसंग्रह तथा सेवा के कार्य भी निर्माणात्मक परिणति की ओर व्यापक ढंग से अग्रसर नहीं हो सकते। ब्राह्मण धर्म का व्यापक विस्तार वुद्धि के सन्तुलन का विस्तार है और इसके साथ क्षात्र धर्म विकसित होता है, विश्वव्यापिनी शान्ति का प्रसार करके। स्वार्थों से ऊपर उठ कर आत्मवलि के प्रयोग से ब्राह्मण इस बुद्धि के सन्तुलन की वृद्धि का जगत् के वीच में विस्तार करता रहता है। विश्व के वीच से पीड़ा को निर्वासित करने का कार्य क्षत्रिय करता रहता है। अपने सुखों की वलि दे कर वह जगत् को अनुचित प्रकार से पीड़ित होने से वचाता रहता है। उत्पीड़न का विनाश क्षात्र धर्म का परिणाम होता है और अज्ञान का विनाश ब्राह्मण धर्म का। ये दोनों धर्म वैश्य और शूद्र धर्म के आधार होते हैं। इनकी स्थापना के वाद अर्थ और सेवा कार्य स्वतः होते रहते हैं। इसीलिए मानस में ब्राह्म और क्षात्र वृत्तियों का व्यापक विस्तार और प्रसार दिखाया गया है। ऋषि सभ्यता और क्षत्रिय सभ्यता दोनों के विकास का इतिहास मानस के सब सोपानों में विस्तार से वर्णित है। परशुराम और राम के ब्राह्मण तथा क्षत्रिय व्यक्तित्व के भीतर अवतार के इसी सन्तुलन-स्थापन कार्य का चित्र अंकित किया गया है। क्षत्रिय की शक्ति सत्त्वगुण के प्रकाश में रक्षा का कार्य करने के

‡ रामचरितमानस, वालकांड, दोहा ४० के वाद।

लिए है। वह रक्षा के कार्य के लिए ही अपना उत्सर्ग करती रहती है। क्षत्रिय के भीतर शक्ति का यह आदर्श रूप जब तमोगुणी स्वार्थ से विकृत हो कर स्वार्थी विनाश की ओर अग्रसर हो जाता है, तब विश्वात्मा पीड़ित होती है। जगत् के भीतर शील के इस पतन को रोकने के लिए परमात्मा अवतार लेता है। परशुराम के ब्राह्मण शरीर में परमात्मा का अवतार इसीलिए हुआ था। उस युग में क्षत्रिय रक्षा-कार्य से हट कर अपनी शक्ति का उपयोग संहार कार्य के द्वारा स्वार्थसिद्धि के लिए कर रहा था। उस युग में ब्राह्मण भी त्याग वृत्ति से हट कर संग्रहवृत्ति की ओर अधिक झुका हुआ था। आदर्श से गिरा हुआ क्षत्रिय, अर्थ और सेवा को भी ठीक तरह से संचालित न कर सकने के कारण निर्धन हो गया था। ऐसी ही अवस्था में हयहय वंशी क्षत्रियों ने अपने पुरोहित ब्राह्मणों पर ही धन के लिए आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया और गर्भस्थ बालकों तक को मार डाला। ब्राह्मणों का व्यापक संहार यहाँ तक बढ़ा कि दो भुजाओं के द्वारा ही न हो कर वह संहार सहस्रार्जुन की हज़ार भुजाओं से होने लगा। इसी युग में क्षत्रिय-शक्ति को ठीक मार्ग पर ले जाने के लिए जमदग्निपुत्र परशुराम का अवतार हुआ। ब्राह्मण के शरीर में रक्षक क्षात्र धर्म अवतरित हो कर क्षत्रियों को यह शिक्षा देने लगा कि क्षात्रधर्म यदि स्वार्थी हो जाएगा तो उसका विनाश निस्पृह, अक्षात्र स्वभाव वाला ब्राह्मण भी कर सकता है। क्षत्रियों ने स्वार्थ के कारण जो दुर्दशा ब्राह्मणों की की थी, क्षत्रियों की वही दुर्दशा परशुराम ने निःस्वार्थ हो कर रक्षा कार्य का संपादन करते हुए की।

बाल ब्रह्मचारी अति कोही, बिस्व बिदित छत्रिय-कुल-द्रोही ‡।

जन्म भर ब्रह्मचर्य धारण कर निःस्वार्थ भाव से परशुराम ने उन क्षत्रियों का दमन किया जो रक्षा-कार्य को छोड़ कर अपने स्वार्थ की भूख मिटाने के लिए भक्षक बन गये थे।

परशुराम के इस कार्य से जब क्षत्रिय जाति दशरथ के समय तक अपने ठीक मार्ग पर चली आयी और मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में अनंत विनय और अनंत त्याग के साथ अनंत शक्ति क्षत्रिय जाति के भीतर अवतीर्ण हो गयी तब उस शक्ति के सामने परशुराम श्रद्धावनत हो गये। रक्षा के लिए जो संहार-कार्य उन्होंने प्रारंभ किया था, उससे विरत हो कर ब्राह्मण के तपोमय ज़ीवन की ओर उन्होंने प्रस्थान किया। क्षात्र धर्म के सौन्दर्य की पूर्णता को चित्रित करने के लिए परशुराम और राम के इस मिलन के भव्य चित्र को तुलसी ने भूमिका की तरह प्रस्तुत किया है। क्षात्रधर्म का उनका आयोजित चित्र राम-राज्य के चित्र की पूर्णता में, अंतिम सोपान में अपने पूर्ण रूप को प्राप्त कर लेता है। जीवन दर्शन के भीतर ब्राह्मण धर्म और क्षात्र धर्म के बीच के इस सन्तुलन में राम की परमात्म ज्योति के सौन्दर्य का दर्शन करके तुलसी ने विमल सन्तोष का अनुभव किया है और भारतीय जनता के सामने उन्होंने यही आदर्श प्रस्तुत किया है कि विश्व में बुद्धि, शान्ति, अर्थ और सेवा के कार्य को स्वार्थ से ऊपर उठ कर करने वाले लोगों का हृदय विश्व हृदय हो जाता है। ऐसे लोगों का रावण के रूप में विकास कदापि नहीं हो सकता। वे राम के

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २७२ के पहले।

ही रूप में विकसित होंगे। वे नर के सीमित क्षेत्र से विकसित हो कर नारायण की उदारता के अनंत क्षेत्र में पहुँच जाएँगे। तुलसी के विमल सन्तोष की यह योजना कितनी विराट् और सर्वतोमुखी है।

अपनी इस विराट् योजना के भीतर परमोच्च आदर्श का उपयोग करके तुलसी ने मानव के चरित्र के विकास के द्वारा देव-चरित्र की सीमा को भी वहुत अधिक अतिक्रान्त करवा दिया है। उनका मानव, देव-चरित्र से भी ऊपर उठ कर नारायण हो गया है और फिर भी मर्यादा पुरुषोत्तम के अलौकिक प्रतीत होते हुए रूप में रह कर भी लौकिक मानव रह सका है। स्वर्गीय जीवन को भूमि पर उतार लेने की तुलसी की यही प्रक्रिया है। लोकादर्श की अनंत भूमि पर अपनी साधना और अपने चिन्तन को पहुँचा कर उन्होंने यह कार्य किया है। राम के भीतर निहित इसी अनंत शक्ति, शील और सौन्दर्य को समाज के सामने अभिव्यक्त करके तुलसी ने विमल सन्तोष का अनुभव किया है। गोस्वामी जी का यह सिद्धांत है कि जीव जव तक अपनी असीमता को, आत्मा की अनंतता को, नहीं देख लेता, तभी तक भय और पीड़ा के शूल उसे कष्ट देते रहते हैं। अज्ञान, मनुष्य की इस अनन्तर्दाशिका दृष्टि को वन्द किये रहता है। इसी अज्ञान के कारण धनुष के सामने राम को देख कर अज्ञानी मानव सन्देह से भयभीत हुआ—आत्मा की अनंत शक्ति को न जान सकने के कारण इस घटना के वाद धनुष से भी वड़ी शक्ति परशुराम को सामने देख कर, आत्मा की शक्ति का उसका ज्ञान, और अधिक सीमित हो गया। उसे फिर भयभीत होना पड़ा। पर उस आत्मा की अनन्त शोभा, उसके अपरिमित शील और असीम शक्ति को राम में अनुभव करके जव परशुराम का हृदय, वन्धन तोड़ कर प्रेम के प्रवाह में वह गया तव मानव के सामने से अज्ञान दूर हो गया। उसे ज्ञान की अनन्तव्यापिनी दृष्टि अनन्त के यथार्थ ज्ञान के वाद प्राप्त हो गयी। 'देवन्ह दीन्हीं दुंदुभी प्रभु पर वरषहिं फूल। हरषे पुर-नर-नारि सव मिटा मोहमय सूल।' से गोस्वामी जी ने इसी उपर्युक्त दार्शनिक सत्य का प्रतिपादन किया है ‡।

मानव के भीतर के इसी शील विकास को मर्यादा पुरुषोत्तम के व्यक्तित्व से अलग रख कर, सीता के प्रभाव में जनकपुर के नरनारियों के भीतर से भी गोस्वामी जी ने क्षणिक आलोक के प्रकाश में रखा है। अनंत शील के आदि केन्द्र राम उनके लक्ष्य हैं। इसलिए जनकपुर के नरनारियों के उस शील का विराट् प्रदर्शन उन्होंने नहीं किया है। समयाभाव और विस्तार की निरुद्देश्यता के कारण ही केवल संक्षिप्त इंगित दे कर वे आगे वढ़ गये हैं। जनकपुर की शोभा का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी ने लिखा है—"जो संपदा नीच गृह सोहा, सो विलोकि सुरनायकु मोहा। वसइ नगर जेहि लच्छि करि, कपट नारि वर वेपु। तेहि पुर कै सोभा कहत सकुचहिं सारद सेपु †।" अनंत शक्ति, शील और सौन्दर्य का केन्द्र जव पृथ्वी पर उतर आता है तव उसका रूप ही वदल देता है।

---

‡ रामचरितमानस, वालकांड, दोहा २८५। † रामचरितमानस, वालकांड, दोहा २८९ और उसके पहले।

सीता और राम के विवाह को देखने देवता भी उतर आते हैं। मनुष्यों के शील को जनकपुर में देख कर देवता मन्द पड़ जाते हैं। इस स्थिति की ओर इशारा गोस्वामी जी की पंक्तियों से मिल जाता है—"नगर नारि-नर रूप निधाना, सुघर सुधरम सुसील सुजाना। तिन्हहिं देखि सब सुर-सुर-नारी, भये नखतु जनु बिधु उजियारी ‡।" यही स्थान है जहाँ मानव के आदर्श गोस्वामी जी की दृष्टि में देवत्व का अतिक्रमण करके भी पुरुषोत्तमता के प्रकाश में मानवता के भव्य रूप दिखाई पड़ते हैं। जहाँ अनंत शक्ति, शील और सौन्दर्य की एक नर-झाँकी अपने नारीरूप के अनंत शील, सौन्दर्य और परिणय के सूत्र में बँध जाने को प्रस्तुत हो, उस स्थान के मानव की दशा और हो ही क्या सकती है। इसी बात को लक्ष्य में रख कर हतप्रभ आश्चर्यचकित देवताओं की हैरानी दूर करने के लिए शंकर ने ब्रह्मा इत्यादि देवताओं को समझाया—"सिव समुझाये देव सब जनि अचरज भुलाहु। हृदय विचारहु धीर धरि सिय-रघुवीर-बिआहु †।" सीता और राम के विवाह के रहस्य को धैर्य से समझने के लिए देवताओं को शिव के आगाह करने का यही रहस्य है। अनंत स्वर्गीय शील जब पृथ्वी की पवित्रता से परिणीत हो जाता है, तब पृथ्वी का रूप ही बदल जाता है। भूतनया जानकी शक्ति, शील और सौन्दर्य की अनंतता हैं। उनके शील और सौन्दर्य की अनंतता का विस्तृत वर्णन तो इस विमल सन्तोष सोपान में हुआ ही है, पर उनकी अनंत शक्ति की ओर भी गोस्वामी जी लोगों का ध्यान बराबर आकृष्ट करते गये हैं, अपनी 'कहियत भिन्न न भिन्न' § इत्यादि उक्तियों के द्वारा। विवाह के प्रकरण में भी सीता की अनंत शक्ति का इशारा देना गोस्वामी जी नहीं भूले हैं—"जानी सिय बरात पुर आई, कछु निज महिमा प्रगटि जनाई। हृदय सुमिरि सब सिद्धि बोलाई, भूप पहुनई करन पठाई *।

सीताराम का विवाह स्वर्गीय आदर्शों का पृथ्वी से परिणय है। इस परिणय से पृथ्वी के ऊपर आदर्शों का अनंत समुद्र उमड़ पड़ता है। 'हृदय विचारहु धीर धरि सिय रघुवीर बिआहु' § से तुलसी के शिव ने देवताओं के सम्मुख इसी रहस्य का संक्षिप्त प्रकाश दिखाया है। इसी रहस्य का प्रचार करके गोस्वामी जी ने विमल सन्तोष का प्रचार किया है। दाम्पत्य के भीतर अनंत पवित्रता, मनुष्य के शील के भीतर अनंत सौन्दर्य की भावना भी तुलसी के विमल सन्तोष का कारण बनती है। इस पवित्रता के सामने देवता भी अपने को मंद अनुभव करने लगते हैं।

विशुद्ध दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में भी गोस्वामी जी ने प्रायः सब दार्शनिक विचारधाराओं का समन्वय करके विमल सन्तोष का अनुभव किया है। जैनदर्शन के अनेकान्तवाद की तरह गोस्वामी जी ने दार्शनिक चिन्तन के अनेक निष्कर्षों को अपने ढंग से ठीक समझ कर स्वीकार कर लिया है। स्वभावतः विशिष्टाद्वैती होने पर भी उन्होंने

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३१४ और उसके पहले। † वही। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १८। * रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३०६ के पहले। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३१४।

अपने दर्शन के भीतर अद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत इत्यादि सब दार्शनिक सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया है।

सीता और राम के अभेद को समझाने के लिए जब गोस्वामी जी कहते हैं—

गिरा अरथ जलवीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दऊँ सीताराम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ‡।

तब वे भेदाभेद सिद्धान्त के समीप पहुँच जाते हैं। वाणी और अर्थ, जल और लहर जिस तरह एक रहते हुए भी अलग-अलग शब्दों से वाच्य होते हैं, उसी तरह सीता राम भी एक ही तत्त्व के दो रूपान्तर हैं। वे दो शब्दों में सम्बोधित हो कर भी एक ही हैं। केवल कहने में दो प्रतीत होते हैं, दो हैं नहीं। भेदाभेद का सिद्धान्त भी भेद में अभेद इसी प्रकार मानता है।

सीताराम के इसी अभेद को ले कर जब गोस्वामी जी 'सियाराममय सब जग जानी, करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी' † कहते हैं, तब वे ईशावास्योपनिषद् के 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्' $ के अद्वैत सिद्धान्त के समीप पहुँचे हुए-से प्रतीत होते हैं।

राम अनंत अनंत गुन अमित कथा विस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहिं जिनके विमल विचार* ॥

में अनंत राम की कथा का अनंत विस्तार देखते हुए 'कलप-कलप प्रति प्रभु अवतरहीं' § के अपने सिद्धान्त के साथ और गीता के 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन' × के अनुसार भी सगुण ब्रह्म के अनंत अवतारों को देखते हुए तुलसी विशिष्टाद्वैती हो जाते हैं। वैसे तो विशिष्ट अद्वैत अवतारी राम के मर्यादा पुरुषोत्तमत्व का विवेचन करने के लिए ही पूरा मानस निर्मित हुआ है।

अद्वैती दृष्टिकोण रखने वाले को यह भ्रम बराबर बना रहता है कि असीम कैसे सीमा में आ सकता है। तुलसी की सती ऐसे ही अद्वैतियों का प्रतिनिधित्व करके सन्देह में पड़ कर कहती हैं—

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होई नर जाहि न जानत वेद + ॥

सर्वज्ञ शिव सती के इस सन्देह को जान कर कहते हैं—

सुनहु सती तव नारि सुभाऊ, संसय अस न धरिय उर काऊ।
जासु कथा कुंभज ऋषि गाई, भगति जासु मैं मुनिहिं सुनाई।
सोइ मम इष्ट देव रघुबीरा, सेवत जाहि सदा मुनि धीरा।
मुनि धीर जोगी सिद्धि संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं।

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १८। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७ के बाद। $ ईशोपनिषद्, श्लोक १। * रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३३। § रामचरितमानस, बालकांड., दोहा १३९ के बाद। × गीता, अध्याय ४, श्लोक ५। + रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ५० और उसके बाद।

सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी ।
अवतरेउ अपने भगत हित, निज तंत्र नित, रघु-कुल-मनी ‡ ।

यही विशिष्टाद्वैती सिद्धान्त के भीतर अवतार का रूप है। अनंत सर्वशक्तिमान् अपनी सम्पूर्ण शक्तियों के साथ सीमा में रह कर भी स्वतंत्र और असीम रह सकता है। परीक्षा लेने के समय सती को राम की यही असीमता दिखाई पड़ी। रामायण में सीमा के भीतर असीम की असीमता कई बार दिखायी गयी है।

इसी तरह योग, ज्ञान, वैराग्य सब तुलसी के भक्ति सम्प्रदाय के भीतर स्थान पा गये हैं। उनके 'जोग, ज्ञान बैराग्य निधि' † शिव राम के भक्त हैं। उमा को राम का रहस्य बताने के लिए भक्त शिव कहते हैं—"जिसको बिना जाने झूठ भी उसी प्रकार सत्य मालूम पड़ता है, जिस प्रकार बिना पहचाने रस्सी सर्प के समान दिखाई पड़ती है, जिसको जान लेने के बाद जगत् उसी तरह खो जाता है, जिस तरह स्वप्न का भ्रम जाग जाने पर। मैं उसी बालरूप राम को नमस्कार करता हूँ जिसके नाम का स्मरण करने से सब सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं।"§ योग की सिद्धियाँ और ज्ञान मार्ग के भ्रमनाश की प्रक्रिया को तुलसी ने यहाँ स्थान दे दिया है।

सगुण-निर्गुण के द्वन्द्व को सुलझा कर तुलसी ने सन्देह नाश के भीतर से अपने विशिष्टाद्वैती सिद्धान्त की पद्धति के अनुसार विमल सन्तोष का अनुभव कराया है। पार्वती को निर्गुण-सगुण का रहस्य समझाते हुए गोस्वामी जी के शंकर कहते हैं—"सगुण और निर्गुण में कोई भेद नहीं है। जो ब्रह्म निर्गुण, अरूप, अलख और अज है, वही भक्त के प्रेम के वश में हो कर सगुण हो जाता है। जिस तरह जल, कुहरा और बर्फ में तात्त्विक भेद नहीं रहता, एक ही जल, कुहरा और बर्फ़ के रूप में परिवर्तित हो जाता है, उसी तरह निर्गुण ही सगुण हो जाता है। उन दोनों में तात्त्विक भेद नहीं है। जिस राम का नाम भ्रम के अन्धकार के लिए सूर्य का काम करता है, वही राम अज्ञान से कैसे बद्ध हो सकता है। राम सच्चिदानन्द सूर्य हैं, उनके भीतर अज्ञान की राशि का अन्धकार अणुमात्र भी नहीं रह सकता। भगवान् के स्वभाव के भीतर ज्ञान की नैसर्गिक स्थिति है; इसीलिए राम के भीतर विज्ञान का अभाव नहीं रहता। हर्ष-विषाद, ज्ञान-अज्ञान, अहंता और अभिमान, जीव के धर्म हैं। समग्र संसार जानता है कि राम परमानन्द परेश, पुरातन और व्यापक ब्रह्म हैं। सम्पूर्ण विश्व का स्वामी, ज्ञान का अनंत सागर, प्रसिद्ध पुरुष ही रघुकुल-मणि के रूप में अवतीर्ण हुआ है। वही हमारे स्वामी हैं। अज्ञानी लोग अपने ही अज्ञान का आरोप परमात्मा पर कर लेते हैं। जिस तरह आकाश पर छाये हुए मेघ को देख कर मूर्खतावश लोग समझ लेते हैं कि सूर्य बन्द कर दिया गया, उसी तरह अज्ञान से निर्लिप्त ब्रह्म के साथ नासमझ लोग अज्ञान का सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, जो लोग आँख पर उँगली रख कर चन्द्रमा को देखते हैं, उन्हें एक चन्द्र भी दो की तरह दिखाई पड़ता है। राम के

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ५० और उसके बाद। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १०७। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १११ के बाद।

साथ अज्ञान का सम्बन्ध उसी प्रकार असत्य है जिस प्रकार आकाश के साथ धूल, धूप और तम का। विषय, इन्द्रियाँ, देवता और जीव सब एक से एक सचेत दिखाई पड़ते हैं। जो इन सबको शक्ति देता है, वही अनादि राम अवधपति भी है। संसार प्रकाश्य है, राम उसका प्रकाशक। वह माया का स्वामी, ज्ञान तथा गुण का निवास स्थान है। जिसकी सत्यता को प्राप्त करके, जिसकी चेतनता से चैतन्य हो कर, जड माया भी अज्ञान के कारण सत्य प्रतीत होती है, सीप चाँदी के समान दिखाई पड़ती है, सूर्य की किरणें जल की तरह मालूम पड़ती हैं, और यह भ्रम कोई दूर नहीं कर सका है, वह राम की ही शक्ति है। इस तरह सम्पूर्ण जगत् हरि के आश्रय में रहता है। यद्यपि यह जगत् असत्य है, फिर भी अज्ञानी इसकी असत्यता को न समझने के कारण दुखी होता है। यदि स्वप्न में किसी का सिर काटा जाए तो उसका दुःख तब तक दूर नहीं होता जब तक निद्रा का अज्ञान जागरण के प्रबोध में परिवर्तित न हो जाए। उसी तरह अज्ञानजन्य दुःख ज्ञान के प्रकाश में ही दूर होता है। यह ज्ञान का प्रकाश जिस राम से मिलता है, वही अयोध्या का राजा भी है। जिसका आदि अन्त कोई नहीं पाता, अपनी बुद्धि की सीमा के अनुसार ही वेद जिसको समझाने का प्रयत्न करते हैं, जो बिना पैरों के चलता है, बिना कानों के सुनता है, बिना हाथ के सब कार्य करता है, बिना मुख के सब रसों का अनुभव करता है, बिना वाणी के बड़ा योग्य वक्ता है, बिना शरीर के स्पर्श का अनुभव करता है, बिना आँखों के देखता है, बिना प्राण के अशेष सुगन्धों को सूँघता है, जिसकी हर तरह से अलौकिक प्रवृत्तियाँ हैं, जिसकी महिमा का वर्णन नहीं हो सकता। जिसकी इस तरह की प्रशंसा वेद और बुद्धिमान् लोग करते हैं, मुनि लोग जिसका ध्यान करते हैं, वही भगवान् भक्त के लिए कोसलपति हो गया है‡।"

सान्त होकर भी अनंत, अनंत ही रहता है, यही बात तुलसी के शिव ने उमा को समझायी है। यही समझ कर सब उलझनों से दूर हो कर तुलसी ने विमल सन्तोष का अनुभव किया है।

बालकांड के इस विमल सन्तोष के प्रकरण में गोस्वामी जी ने इस सत्य की स्थापना की है कि पृथ्वी के ऊपर स्वर्गीय जीवन को उतारने का काम भक्त अपनी तपस्या के द्वारा करता है। लोकमंगल की भावना उसके भीतर होती है। अपनी इस भावना को साकार करने के लिए वह स्वर्ग को पृथ्वी पर उतार लेता है। अवतार का यही रहस्य है। स्वायंभुव मनु और सतरूपा की तपस्या और उसके परिणामस्वरूप राम का अवतार, इसी सत्य का प्रतिपादन करते हैं। स्वर्गीय आदर्श को पृथ्वी पर भक्त उतार लेता है। इस आदर्श को वह संसार के मानव के सामने चारों तरफ बिछा देता है। मानव इस आदर्श का साक्षात्कार और अनुवर्तन करके अपने जीवन को धन्य बना लेता है। जगत् के आकर्षण से हट कर परमात्म-साधना की तपस्या इसी नैसर्गिक और पवित्र भावना से भक्त करता है। शीलवान् व्यक्ति में ही इस परमशील की ओर जाने की प्रवृत्ति होती है। यह

‡ रामचरित मानस, बालकांड, दोहा ११५ से ११८ तक।

सब विकास के नियम के अनुसार ही होता है। स्वायंभुव मनु और सतरूपा आदर्श दम्पति थे—"स्वायंभू मनु अरु सतरूपा, जिन्ह ते भइ नरसृष्टि अनूपा। दम्पति धरम, आचरन नीका। अजहुं गावश्रुति जिन्ह के लीका‡।" इन मनु के पुत्र राजा उत्तानपाद थे। उत्तानपाद के पुत्र हरिभक्त ध्रुव हुए। मनु के छोटे पुत्र प्रियव्रत हुए। वेद और पुराणों में ये प्रशंसित हैं। इन्हीं मनु की कन्या देवहूति कर्दम ऋषि की पत्नी तथा सांख्य-शास्त्र के प्रणेता भगवान् कपिल की माता हुईं। इन मनु ने नीति की मर्यादा का पालन करते हुए बहुत काल तक राज्य किया। पर जीवन के इन आदर्शों से मनु को तृप्ति न मिली। इतने विख्यात वंश-परम्परा के जन्मदाता बन कर भी मनु सन्तुष्ट न हुए। गृहस्थ धर्म पालन करते हुए चौथापन आ गया। वृद्धावस्था में भी विषयों के प्रति अपने भीतर विराग न देख कर शीलवान् मनु को कष्ट हुआ—"हृदय बहुत दुख लाग जन्म गयउ हरि भगति विनु"†। शील की पर्याप्त उच्च भूमि पर भी मनु को सन्तोष न हुआ। स्वार्थ की वासना से ऊपर उठ कर वे विराट् जीवन की ओर जाना चाहते थे। हरि भक्ति यही तो है। एक प्रकार के उच्च शील का जगत् में प्रचार करके जब मनु को सन्तोष न हुआ तो परमोच्च स्वर्गीय शील को पृथ्वी पर उतार लाने के प्रयत्न में मनु ने पत्नी के साथ स्वार्थ का विसर्जन करके तपस्या के लिए प्रस्थान किया। मनु और सतरूपा ज्ञान और भक्ति के समाहित शक्ति के प्रतिनिधि बन कर (ज्ञान भगति जनु धरे सरीरा)$ परम पावन आदर्श को पृथ्वी पर उतार लाने के लिए तपस्या में लीन हो गये। कठोर तपस्या के भीतर उन्होंने अपने हृदय में परम पावन की नरझाँकी देखने की सतत प्रवाहिणी अभिलाषा पाल रखी थी। उन्होंने अपने भीतर यह अटल विश्वास उत्पन्न कर लिया था कि 'अनादि, अनन्त, अगुन-अखंड परमात्मा, जिसका चिन्तन परमार्थवादी करते हैं, वेद जिसे नेति नेति कहते हैं, जो चिदानन्द, निर्गुण और अनुपम है, जिसके अंश से अगणित ब्रह्मा, विष्णु और शिव उत्पन्न होते हैं, ऐसा परमात्मा भी सेवक के वश में रहता है। भक्त के लिए लीला-शरीर धारण कर लेता है। वह हमें अवश्य प्राप्त होगा*।

उनकी अखंड तपस्या को देख कर ब्रह्मा, विष्णु और शिव मनोवांछित वरदान का प्रलोभन देने आये। पर स्वार्थ से ऊपर उठे हुए ये दम्पति सांसारिक आवश्यकताओं के प्रलोभनों से ऊपर उठ गये थे। उन्हें तो परम पवित्र का साक्षात्कार कर लेने की धुन लग गयी थी। उन्होंने परम पावन की नरझाँकी का दर्शन किया और विश्व के मंगल के लिए अपने पुत्र राम के रूप में उन्होंने संसार में आने के लिए, उसे अपने प्रेम से बाध्य किया। मनु ने तो परम विराट् के सामने यही प्रश्न रखा—"चाहउं तुम्हहिं समान सुत, प्रभु सन कवन दुराउ§।" पर सतरूपा के शब्दों में गोस्वामी जी ने अपनी भक्ति के सिद्धान्त का निचोड़ रख दिया है—

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १४२ के पहले और बाद। † वही। $ वही।
* रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १४३ के बाद § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १४९ से १५० तक।

जे निज भगत नाथ तव अहहीं, जो सुख पावहिं जो गति लहहीं।
सोइ सुख, सोइ गति, सोइ भगति, सोइ निज चरन सुनेहु।
सोइ बिबेकु, सोइ रहनि प्रभु हमहिं कृपा करि देहु‡।

सतरूपा ने पूरे विवेचन के साथ परमोच्च आदर्श को प्राप्त कर लेने वाले भक्त के आनन्द, उसकी गति, उसकी भक्ति, उसके भीतर रहने वाले उपास्य के चरणों का स्नेह, उसका विवेक और उसके जीवन की मर्यादाएँ (उसकी रहनी) सब कुछ माँग लिया। विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के अनुसार निर्गुण-सगुण ब्रह्म के सगुण होने की यही प्रक्रिया है। उसके सगुण होने का प्रयोजन लोक के भीतर परमोच्च शील का प्रचार है। इस सम्प्रदाय के अनुसार प्रेम-भक्ति के कारण व्यापक, निर्गुण, विगत विनोद, निरंजन ब्रह्म कौसल्या की गोद में आ जाता है†। आनन्द की राशि, मोह से अस्पृष्ट, ज्ञान, वाणी तथा इन्द्रियों के लिए अगम्य ब्रह्म ही दशरथ-कौसल्या के लिए, प्रेम के वश में हो कर पावन बाललीला करता है$। इतना होने पर भी इस लीला-विग्रह में वह अनन्त शक्ति ले कर छिपा रहता है और कभी-कभी अपना इंगित देने के लिए माता तथा और लोगों को अपना वह अखंड अद्भुत रूप दिखा देता है, जिसके रोम-रोम में कोटि-कोटि ब्रह्मांड लगे रहते हैं*। गोस्वामी जी इस सिद्धान्त पर पूरा विश्वास करते हैं कि अनन्त नाम और रूप वाला, व्यापक, अकल, अनीह, अज और निर्गुण ब्रह्म भक्त के लिए नाना प्रकार के अनुपम कार्य करता है। गोस्वामी जी का यह विश्वास है कि परमात्मा भक्त की तपस्या से जब अनुकूल हो जाता है तभी स्वर्गीय जीवन को ले कर वह अवतीर्ण हो जाता है। जीवन की पवित्रता की जिस अनन्तता का ध्यान योगी तक नहीं कर पाते, वही अनन्त पवित्रता अवतार के साथ पृथ्वी पर उतर कर जगत् के जीवों के लिए सुलभ हो जाती है। इसीलिए अवतारी राम के शील को देख कर तुलसी के वेदान्ती जनक मुग्ध हो गये। विवाह के बाद अपने जामाता राम को विदाई देते हुए उन्होंने कहा है—"मैं आपकी प्रशंसा किस तरह करूँ। मुनियों तथा महेश के मन-मानस में आप हंस की तरह क्रीड़ा करते हैं। क्रोध, मोह और ममता को त्याग कर योगी आप ही के लिए योग करते हैं—परम शील तक पहुँचने के लिए स्वार्थी, क्रोध, मोह तथा ममता अनिवार्यतः त्याज्य हैं। आप चिदानन्द, निर्गुण, गुणराशि, अविनाशी, अलख, व्यापक ब्रह्म हैं। मन को साथ ले कर आपको खोजती हुई वाणी भी असफल रहती है, आपकी अनन्तता का वर्णन नहीं कर सकती। दुनिया के तार्किक आपकी इयत्ता का अनुमान नहीं कर सकते। आप तीनों कालों में एकरस रहते हैं। वेद, नेति शब्द से ही आपकी महिमा का वर्णन करते हैं। उसी अनन्त सुख के केन्द्र आप मेरी आँखों के सम्मुख खड़े हैं। आप जब अनुकूल हो जाते हैं तब जग के लिए सब सुलभ हो जाता है§।" स्वर्गीय जीवन के सौन्दर्य को मर्यादा पुरुषोत्तम के भीतर देख कर

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १४९ से ५० तक। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १९८ और १९९। $ वही। * रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २०१। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १४१ और उसके पहले।

विदेह जनक के इन शब्दों में इस ईश्वरीय जीवन के जगत् में उतर आने के सब सिद्धान्त निहित हैं। इस सौन्दर्य का प्रभाव तुलसी पर इतना अधिक है कि उसकी अभिव्यक्ति करते हुए तुलसी को पुनरुक्ति का भान तक नहीं होता‡। लोकादर्श और चिन्तन की इतनी बड़ी ऊँचाई की प्रस्तावना प्रस्तुत करके गोस्वामी जी ने विमल सन्तोष का अनुभव किया है और इस विमल सन्तोष की सिद्धि करने का अपना पथ विश्व के सम्मुख उन्होंने रखा है। विश्वमंगल विधायक आदर्शों के दर्शन से तुलसी का यह विमल सन्तोष उत्पन्न हो कर हृदय को आसक्तियों से मुक्त कर देता है। हृदय की यही मुक्ति, दार्शनिक की मुक्ति के सिद्धान्तों से प्रसूत मुक्ति से साम्य रखती है।

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २०५।

अध्याय ३

विमल विज्ञान-वैराग्य का सिद्धान्त

क्रिया और चिन्तन के पग-पग पर गोस्वामी जी विमल विज्ञान और विमल वैराग्य को आवश्यक मानते हैं। अयोध्याकांड उनके मानस का द्वितीय सोपान है। उनके अनुसार इस सोपान पर चित्रित जीवन और दर्शन के मनन से विमल विज्ञान और विमल वैराग्य की प्राप्ति हो जाती है।

अयोध्याकांड के इस विमल-विज्ञान-वैराग्य-सम्पादन सोपान में जीवन के आदर्शों और विशुद्ध चिन्तन की पद्धतियों के द्वारा भी गोस्वामी जी ने विमल विज्ञान और वैराग्य का चित्र प्रस्तुत कर, इन दोनों का विवेचन किया है। इस सोपान के मंगलाचरण में शिव और राम की स्तुति करते हुए ही इस विमल विज्ञान-वैराग्य की स्थिति का जीवन के आदर्शों के रूप में तुलसी ने दर्शन करा दिया है। विमल विज्ञान अभेदज्ञान है और यह वैराग्य—स्वार्थ से अनासक्ति—के साथ ही रहता है। इसीलिए गोस्वामी जी ने इन दोनों को साथ ही रखा है। इसी अभेददर्शन की अद्वैत भूमि पर पहुँच कर ब्रह्म को उपनिषदों ने 'विज्ञानं ब्रह्म' ‡ तथा 'आनन्दो ब्रह्म' † कहा है। इसी अभेद दर्शन के कारण इस कांड की मंगल-योजना में गोस्वामी जी ने शिव के चन्द्रमा और गरल तथा सर्पों का ध्यान दिला कर उनके भीतर विरोधों में अभेदज्ञान का दर्शन कराया है। सब कुछ देने वाले, सुरश्रेष्ठ, सर्वाधिप शिव के शशिसन्निभ शरीर पर भस्म का शृंगार भी इसी अभेददर्शन तथा सौन्दर्य और सौन्दर्य के प्रति अनासक्तिमय वैराग्य का सूचक है। तुलसी ने इस कांड के प्रारम्भ में अपने राम की स्तुति करते हुए उनमें वनवास और अभिषेक के लिए अभेदमय विज्ञान-दृष्टि का दर्शन किया है तथा उनकी मुखश्री में दोनों अवस्थाओं में समरसता को देख कर विमल वैराग्य का दर्शन किया है। तुलसी के अनुसार और सर्वसम्मत सिद्धान्त के अनुसार हृदय की सब भावनाएं सत्त्वप्रधान या रजःप्रधान या तमःप्रधान हो सकती हैं। सत्त्वप्रधान भावना ही विमल (रजस् और तमस् के मल से मुक्त) मानी जाती है। यही 'मंजुल-मंगलप्रदा' $ होती है। लोक के भीतर कोमलता और मंगल इसी प्रकार की भावना के द्वारा उत्पन्न होते हैं। तामसी वैराग्य, स्वार्थजन्य क्रोध, ईर्ष्या तथा घृणा इत्यादि उद्वेजक भावों से पैदा होता है। यह वैराग्य कठोरता और अमंगल की सृष्टि करता है। पर राम के भीतर का

‡ तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली, अनुवाक ५, मंत्र १०। † तैत्तिरीय उपनिषद्, भृगुवल्ली, अनुवाक ६, मंत्र ६। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, मंगलाचरण-श्लोक २।

वैराग्य विज्ञान के सौम्य अभेदज्ञान की सात्त्विकता के भीतर से पैदा हुआ है। वह सृजन करने वाली अनासक्तिमय अभेद की दृष्टि से पैदा हुआ है, जिसमें न तो अभिषेक के लिए स्वार्थी सुख के प्रति लोभ है न वनवास का दुःख और उसके कारण (कैकेयी) के प्रति क्षोभ। इसी पवित्र अनासक्ति की चेतना विराट् मानव के अनंतव्यापी हृदय के भीतर उत्पन्न हो कर स्वर्गीय जीवन की सृष्टि कर पुरुषोत्तम-दर्शन की नरझाँकी प्रस्तु‍ा करती है।

अयोध्या कांड में इसी विमल विज्ञान और विमल वैराग्य को क्रिया और चिन्तन के पथों के द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है।

इस विमल विज्ञान और विमल वैराग्य से उत्पन्न अनासक्ति को गोस्वामी जी ने अयोध्याकांड में, अपने प्रत्येक आदर्श पात्र के भीतर चित्रित किया है।

जिस राज्य के लोभ से प्रेरित हो कर पिता पुत्र का और पुत्र पिता का शत्रु होता हुआ देखा गया है उसी राज्य को इस कांड में दशरथ अपने मंगलमय पुत्र राम को दे देना चाहते हैं। उनके भीतर सात्त्विक प्रेम ने लोभ के प्रति वैराग्य पैदा किया है। राज्य, राम को दे कर दशरथ अपने जीवन और जन्म को सफ़ल कर लेना चाहते हैं‡। अपने अभेद-दर्शी पुत्र को राज्य देने की भावना से दशरथ का शरीर प्रेम-पुलकित हो जाता है। उनका मन आनन्दविभोर हो जाता है। यहाँ दशरथ के भीतर का वैराग्य अभेद विज्ञान के भीतर पैदा हुए उस प्रेम के कारण हुआ है जिसका आधार राम का आदर्श स्वभाव है। प्रत्येक व्यक्ति को विमल विज्ञान और विमल वैराग्य की दीक्षा देने के लिए ही भारतीय सभ्यता के भीतर जीवन का विभाजन आश्रमों में कर दिया गया था। पचास वर्ष के बाद आदर्श भारतीय, जीवन से अवकाश प्राप्त करके सब अधिकारों के लोभ का विसर्जन कर देता था और शील के इस विकास को ले कर वृहत्तर शील के विकास के लिए वनों में चला जाता था। विमल विज्ञानमय विमल वैराग्य की इसी चेतना का विवेचन गोस्वामी जी ने इस कांड में किया है।

आदर्श पुत्र के प्रति निश्छल सहज स्नेह की पवित्रता का दर्शन करके तुलसी के वसिष्ठ दशरथ से बोल उठते हैं—'आपके नाम और यश सब कामनाओं की पूर्ति कर सकते हैं। आपके मन में उत्पन्न हुई पवित्र इच्छा बिना फल तक पहुँचे रह ही नहीं सकती†।'

दशरथ के भीतर का यह विमल वैराग्य राम के भीतर के अनंत शील का विमल विज्ञान प्राप्त करके उनके भीतर एक अनुपम उत्सर्ग को जन्म देता है। उनके वैराग्य की पवित्रता यहाँ तक बढ़ जाती है कि वे उस आनन्द के सम्मुख जीवन के सब स्वार्थी आनन्दों को तुच्छ समझते हैं। वे शरीर तक को छोड़ सकते हैं। पर राम के अभिषेक को अपनी आँखों से देखने का आनन्द नहीं छोड़ सकते। उस शील-केन्द्र राम को सिंहासनासीन करा के, दशरथ अनंतशील की उपासना कर लेना चाहते हैं—'पुनि न सोचु तनु रहउ कि

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २ के पहले। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३।

जाऊ ‡"। अनंत शील की उपासना की झाँकी यदि वे देख लेते तो शरीर छोड़ने में भी उन्हें सन्तोष होता। यदि ऐसा न हो सका तो पीछे काल के आ जाने पर पछताना पड़ेगा— 'जेहि न होइ पाछें पछिताऊ †।'

विमल विज्ञान और वैराग्य से उत्पन्न हुए दशरथ के ये शब्द वसिष्ठ को मंगल और मोद के मूल के समान दिखाई पड़े $। आदर्श के उपासक वसिष्ठ को ये शब्द बड़े भले मालूम हुए। उन्होंने विमल विज्ञान और वैराग्यपूर्ण उत्तर दिया—'जिस आदर्श के विरुद्ध रहने पर पछताना पड़ता है, जिसे बिना ध्यान में रखे मन का ताप दूर नहीं होता, वही, पावन प्रेम के पीछे चलने वाला आदर्श, आपका पुत्र हो कर पैदा हुआ है। जिस दिन आप उसकी उपासना अभिषेक के द्वारा कर लेंगे वही दिन मंगलमय हो जाएगा। उसकी उपासना के लिए शुभ मुहूर्त की आवश्यकता नहीं *।'

दशरथ की इस शासन-व्यवस्था के भीतर भी शक्ति के पवित्र त्याग के तत्त्व हैं। उन्होंने अपनी शक्ति को गुरु और राज्य सभा में विभक्त करके उसके प्रति अपने पवित्र वैराग्य का उदाहरण प्रस्तुत किया है। यह पवित्र वैराग्य भी पवित्र विज्ञान के अभेददर्शन के भीतर से ही उत्पन्न हुआ है। इसीलिए बिना गुरु और सभा से पूछे राजा कोई काम नहीं करते। पवित्र गुरु के भीतर और पवित्र आचरण वाले सभासदों के भीतर उन्हें विमल विज्ञान और विमल वैराग्य की प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं।

अपने सुखों का सात्त्विक त्याग व्यक्ति के हृदय को इतना उदार बना देता है कि वह दूसरों के लिए सुख के साधनों की सृष्टि करने के कार्य में निरन्तर जुटा रहता है। विमल वैराग्य का यही लक्षण है। प्रेम की सात्त्विकता का मूल भी यही है। प्रेमी प्रिय के सुख के लिए अपने सुखों के प्रति निरपेक्ष हो जाता है। राम और सीता के भीतर अपने छोटों के प्रति इसी प्रकार का स्वार्थ-त्याग से पोषित प्रेम था। अभिषेक की तैयारी एक तरफ़ हो रही थी। यह अभिषेक होने वाला नहीं था। पर इस अभिषेक और वनवास के द्वन्द्वों की सहिष्णुता के कारण राम और सीता के विमल विज्ञान और विमल वैराग्य अपनी सीमा को छूने जा रहे थे। अपनी इस सहिष्णुता को जगत् के सम्मुख रख कर राम और सीता महान् होने जा रहे थे। पर मर्यादा पुरुषोत्तम और जगदम्बा को, मानव चेतना के स्तर पर रहने के कारण अभी न तो इस अभिषेक का ही ज्ञान था न वनवास का ही। द्वन्द्व-सहिष्णुता की विराट् विभूति को उन्होंने जगत् के सम्मुख आदर्श के उदाहरण के रूप में रखा और विश्व ने उनके शील की परम विराट्ता का अनुभव कर लिया। उनके इसी भावी गौरव की सूचना देने के लिए उनके मंगलमय अंग अभिषेक और वनवास का समाचार पाने के पहले ही फड़कने लगे थे §। इस मंगलसूचक संकेत में राम और सीता को अपने स्वार्थ के भीतर स्थान पाने वाला कोई गौरव नहीं दिखाई पड़ा। उन्होंने इसके विपरीत, अपने स्वार्थों की कल्पना से अस्पृष्ट रह कर भरत के आगमन की शुभ सूचना हीं

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३ के बाद। † वही। $ वही। * रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा ४। § रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा ६ के बाद।

इसे समझा। उनके स्वभाव में अपने गौरव की कल्पना, विमल वैराग्य और विज्ञान के कारण, स्थान ही न पा सकी थी। उन्होंने सोचा—'भरत सरिस प्रिय को जग माहीं, इहइ सगुन फलु दूसर नाहीं ‡।' गोस्वामी जी ने इस उत्सर्गमय प्रेम की ओर इशारा देने के लिए कहा है—"रामहिं बन्धु सोच दिनराती, अंडन्हिं कमठहृदय जेहि भाँती †।" जिस तरह अंडों के प्रेम के लिए कमठ अपने सब सुखों की इच्छा ही मिटा देता है, वैसे ही राम के भीतर भाई के लिए दिनरात चिन्ता है।

राम के भीतर का यह विमल वैराग्य अपनी सीमा को लाँघ जाता है, जब वसिष्ठ आ कर उन्हें अभिषेक का संदेश देते हैं। उनके चले जाने के बाद राम सोचते हैं—'हम सब भाइयों का जन्म एक साथ हुआ। बचपन में हमने एक साथ भोजन, शयन और क्रीड़ा की। कर्णवेध, उपवीत और विवाह सब साथ-साथ ही हुए। इस विमल वंश में एक यही बात अनुचित हो रही है कि सब भाइयों को छोड़ कर अभिषेक एक ही का हो रहा है $।' अपने राम से इतना कहला कर गोस्वामी जी चुप नहीं रह जाते। राम के इस विमल वैराग्यमय प्रेम का सामाजिक मूल्य उनकी दृष्टि में है। वे कहते हैं—'प्रभु का यह सप्रेम सुन्दर पश्चात्ताप भक्त के मन की कुटिलता को दूर करे *।' विमल वैराग्य और विज्ञान की इस योजना को गोस्वामी जी के विश्व-मंगल विधान की योजना के भीतर ही स्थान प्राप्त है। इसीलिए गोस्वामी जी की यह अभिलाषा है कि मर्यादा पुरुषोत्तम के शील की यह त्यागमय और विज्ञानमय पवित्रता विश्व भर के शीलोन्मुख भक्तों के मन को पवित्र बनाए।

उसी समय वहाँ प्रेम के आनंद में मग्न हो कर लक्ष्मण आते हैं। उनके भीतर भी अनन्तशील के केन्द्र के लिए वही त्यागबुद्धि है। राम के अभिषेक का समाचार पा कर वे भी प्रेम के आनन्द में मग्न हैं §। उन्हें अपनी शक्ति और अपने अधिकार का भान ही नहीं है। वे उनकी कल्पना भी नहीं करते। राज्य के लिए भाइयों में सहज वैर दिखाई पड़ता है; पर मर्यादापुरुषोत्तम के शील के प्रकाश के आलोक में उस युग के हृदय में ईश्वरीय जीवन की पवित्रता उतर आयी है और चारों तरफ़ उसी का आलोक दिखाई पड़ता है। यह आलोक इतना मधुर है कि प्रेम के माधुर्य का प्रभाव बन्धन तोड़ चुका है। अयोध्या का सम्पूर्ण नगर उस समय भरत के आगमन के लिए परमात्मा से प्रार्थना कर रहा है, जिससे अभिषेक के समय, त्याग और विज्ञानमय प्रेम का पावन आलोक राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न चारों केन्द्रों से प्रवाहित होता हुआ उसे दिखाई पड़े और इस पवित्रता का दर्शन कर, उसे अपनी आँखों का फल मिल सके ×। कितना व्यापक त्याग और विज्ञान चारों तरफ़ छाया हुआ है। इस विमल वैराग्य और विज्ञान के आनन्द में विभोर हो जाने के कारण पूरा नगर अपने स्वार्थ को छोड़ चुका है। वह लोक के आनन्द के साथ एकाकार हो कर अभेद दर्शन के विमल विज्ञान और विमल वैराग्य का परिचय दे रहा है।

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ६ के बाद। † वही। $ रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा १० और उसके पहले। * वही। § वही। × रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा १० के बाद।

स्वर्गीय जीवन के पृथ्वी पर उतर आने के कारण पृथ्वी का रूप इतना मधुर और आकर्षक प्रतीत हो रहा है कि उस आकर्षण के सामने स्वर्ग के देवताओं की रावण-वध की योजना गोस्वामी जी को कुचाल की तरह ही प्रतीत होती है। आज पृथ्वी के लोगों का शील इतना पवित्र हो गया है कि उसके सम्मुख देवताओं के भीतर रावण-वध की वासना कुचाल के समान मालूम पड़ती है। तुलसी की दृष्टि में यद्यपि रावण-वध लोकमंगल की स्थापना के लिए आवश्यक है, फिर भी उस कार्य की ओर देवताओं की स्वार्थमय प्रवृत्ति कुचाल की तरह दिखाई पड़ती है। उन्होंने कहा है—'हाट, वाट, घर, गली तथा अथाइयों में नर-नारी सब परस्पर यही बात कर रहे थे कि कल शुभमुहूर्त का समय कब है, जब विधाता हमारी कामना पूरी करेगा। सीता के साथ राम को स्वर्णसिंहासन पर बैठा हुआ देख कर हमारा मन कब आनन्दमग्न होगा। सब लोग कल के दिन की पवित्र प्रतीक्षा में मग्न थे और कुचाली देव विघ्न मना रहे थे ‡।'

जिस तरह बौद्ध और जैन धर्मों में बुद्ध और महावीर मानव शील के सम्पूर्ण विकास हैं और उनके सम्मुख देवता भी हीन दिखाई पड़ते हैं, प्रायः ठीक उसी तरह गोस्वामी जी की दृष्टि में भी विमल वैराग्य तथा विमल विज्ञान-सम्पन्न स्वर्गीय जीवन वाले मानवों के सामने देव-चरित्र भी कुचाल की तरह दिखाई पड़ता है—स्वार्थ से छू जाने के कारण। पुरुषोत्तम मानव-चरित्र को वे देव-चरित्र से अधिक पवित्र मानते हैं और उनका पुरुषोत्तम मानव-चरित्र वही है जो विमल विज्ञान और वैराग्य-युक्त हृदय में विश्व प्रेम को पैदा कर विकास की ओर बढ़ रहा हो।'

देवताओं के भीतर रावण-वध की स्वार्थमय प्रवृत्ति की ओर तुलसी का ध्यान बिलकुल स्पष्टतः जागरूक है। तुलसी यह अनुभव करते हैं कि स्वार्थ के चोर ने देवताओं के भीतर से विज्ञान और वैराग्य की चोरी कर ली है—"तिन्हहिं सोहाइ न अवध बधावा, चोरहिं चंदिनि राति न भावा। सारद बोलि विनय सुर करहीं, बारहिं बार पांय ले परहीं। विपति हमारि बिलोकि बडि मातु करिय सोइ आजु। रामु जाहिं बन राजु तजि होइ सकल सुरकाजु †।"

पर पृथ्वी के पवित्र प्रेम के आनन्द का उत्सव, जिसमें आदर्श शील की उपासना उसे स्वर्ण-सिंहासन पर बिठा कर की जाने को थी, सरस्वती की आँखों में समाया हुआ था। पृथ्वी के इस त्यागमय आनन्द के उत्सव को वह भंग नहीं करना चाहती थी। देवताओं की प्रार्थना सुनने के बाद सरस्वती के भीतर गोस्वामी जी ने एक पवित्र पश्चात्ताप पैदा किया है—"सुनि सुर विनय ठाढ़ि पछिताती, भइउं सरोज विपिन हिमराती। बार बार गहि चरण संकोची, चली विचारि विबुधमति पोची§।" बार-बार पैर पकड़ कर जब देवताओं ने सरस्वती को संकोच में डाल दिया, तब वह किसी प्रकार अयोध्या जाने को तैयार तो हो गयी, पर देवताओं की बुद्धि को नीचता से भरी हुई ही उसने निश्चित किया—"ऊँच निवास नीच करतूती, देखि न सकहिं पराइ बिभूती*।" सरस्वती के इस कार्य से आगे

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा ११ के पहले। † रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा ११ और उसके बाद। § वही। * वही।

लोकमंगल-विधान होने वाला था, इसीलिए वह देवताओं की प्रार्थना स्वीकार कर सकी। उसे इस बात का विश्वास था कि इस प्रयत्न के परिणाम की गुरुता पर विचार करके आगे आने वाले कवि मेरे प्रति विरक्त न होंगे—"आगिलु काजु बिचारि बहोरी। करिहहिं चाह कुसल कवि मोरी ‡।"

मन्थरा और कैकेयी का चरित्र ईश्वरीय स्वर्गीय जीवन के व्यापक प्रभाव का अपवाद माना जाता; पर सरस्वती के इस प्रयोग से गोस्वामी जी ने उन दोनों के शील पर से कलंक का धव्वा हटा दिया है। आज के पाठक को ध्यान में रख कर ही यह बात कही जा सकती है। राम के युग के समाज ने कैकेयी को अपराधिनी की तरह ही प्रायः देखा है; क्योंकि देवताओं के इस गुप्त षड्यंत्र का पता मानव समाज को नहीं था। एक बात स्पष्ट है कि इस प्रकरण के पहले भी कैकेयी उस स्वर्गीय शील के प्रकाश के भीतर ही थी; क्योंकि जब मन्थरा ने राम के अभिषेक का समाचार दे कर उसके भीतर ईर्ष्या पैदा करनी चाही तब कैकेयी ने उत्तर दिया था—'वही दिन पवित्र और मंगलमय होगा, जिस दिन तेरा कहना सत्य होगा। यह सूर्यवंश का सुन्दर नियम है कि जेठा भाई स्वामी होता है और छोटे उसके सेवक। यदि सत्य ही राम का कल तिलक है तो इस संवाद को सुनाने के लिए तू जो माँगे मैं वही देने को तैयार हूँ। सब माताएँ राम को कौसल्या के समान ही स्वभाव से प्रिय हैं और मुझ पर तो वे विशेष स्नेह रखते हैं। उनकी प्रीति की परीक्षा करके मैंने देख लिया है। यदि परमात्मा कृपा करके हमें फिर जन्म दे तो राम-सीता ही हमारे पुत्र और पुत्र-वधू हों। राम मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं। उनके तिलक से तुझे कैसे क्षोभ हुआ † ?'

इस कथन से तुलसी का यह दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है कि कैकेयी मर्यादा पुरुषोत्तम के स्वर्गीय आदर्शों को अपने प्राणों से भी अधिक चाहती थी। अतएव उसने अपने को राम पर निछावर कर दिया था। अजस की पिटारी तो केवल मन्थरा बनी थी—"नामु मन्थरा मन्दमति चेरि केकइ केरि। अजस पेटारी ताहि करि गई गिरा मति फेरि §।"

स्वार्थ की वासना मनुष्य को राम के आदर्श से गिरा देती है। यह तुलसी का सर्वसम्मत सिद्धान्त है। काम मनुष्य को शील के आदर्श पथ से हटा देता है। कैकेयी का उदाहरण इसी बात को सिद्ध करता है। स्वार्थ ने उसे पतित किया और सकाम हो कर उससे सम्बद्ध होने के कारण सिद्धभक्त दशरथ को तो राम-प्रेम के लिए अपने प्राणों की भी बलि देनी पड़ी। तुलसीदास जी इस बात को मानते हैं कि माया का प्रलोभन अष्ट सिद्धियों के रूप में प्रकट हो कर योगसाधक को परमात्मज्ञान से दूर हटा ले जाता है। माया का यही वासनामय स्वार्थी आकर्षण स्वर्गीय जीवन से मानव को अलग रखता है। ये दोनों सत्य एक ही सत्य के दो पहलू हैं। एक चिन्तन-प्रधान दूसरा जीवन-प्रधान या क्रिया-प्रधान। वासना ने कैकेयी का पतन इसी कारण सम्भव बना दिया। इस सत्य को

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ११ और उसके बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा १५ के पहले। § रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा १२।

दशरथ भी स्वीकार करते हैं—"कवने अवसर का भयउ गयउं नारि विस्वास। जोग-सिद्धि-फल-समय जिमि जतिहि अविद्या नास‡।" स्वर्गीय शील के चरणों पर अपने राज्याधिकार को निछावर करके तुलसी के दशरथ अपने जीवन को सफल बना लेना चाहते थे। इस त्याग का समारोह उनकी आँखें उस आदर्श शील को स्वर्ण के सिंहासन पर बिठा कर देख लेना चाहती थीं। दशरथ इसी को अपने जीवन की योग की सिद्धि का फल समझते थे। विमल विज्ञान और वैराग्य के द्वारा स्वार्थपूर्ण अधिकार-लिप्सा को उपासना का रूप दे कर, परम पावन में, अधिकार भावना के अपने स्वार्थी रूप को वे लीन कर देना चाहते थे। यही उनके जीवन-योग की समाधि का फल था, पर वासना के माध्यम कैकेयी पर विश्वास कर लेने के कारण अविद्या-जन्य अज्ञान ने जीवन के योग की पूर्णता तक उन्हें नहीं पहुँचने दिया। अपने अधिकारों को जब वे राम के चरणों पर नहीं चढ़ा सके तब उन अधिकारों को छोड़ कर उन्होंने स्वर्ग की यात्रा की।

इस प्रकरण में विमल विज्ञान और वैराग्य के आधार पर गोस्वामी जी ने मर्यादा पुरुषोत्तम के शील का बड़ा सुन्दर विकास दिखाया है। कोपभवन में कैकेयी के वाग्बाण से मूर्छित दशरथ को देख कर राम ने कैकेयी से कारण पूछा और अपनी कठोरता का पूरा उपयोग करके राम को उसने सब कहानी सुना दी। इस अवस्था में अपने विमल विज्ञान और स्नेहमय पवित्र वैराग्य के कारण राम, त्याग के आनन्द में मग्न हो गये—"मन मुसकाइ भानु-कुल-भानू, राम सहज आनन्द-निधानू। बोले वचन विगत सब दूषन, मृदु मंजुल जनु बागविभूषन†।" सम्पूर्ण जगत् के लिए अपने भीतर कोमल और स्नेहमय त्याग और वैराग्य की भावना रखने वाला व्यक्ति कठोर शब्दों का प्रयोग कैसे कर सकता है। उसके शब्द तो वाणी के शृंगार की शाश्वत सामग्री अपने स्वभाव से ही बन जाते हैं। ऐसा शील जीवन की उन परिस्थितियों में भी आनन्दमग्न रह सकता है, जिनमें साधारण मनुष्यों पर स्वार्थी घृणा, ईर्ष्या, क्षोभ और शोक उमड़ पड़ेंगे। राम ने माता के सामने पुत्र के वे सब आदर्श रख दिये, जिनमें पवित्र ज्ञान और पवित्र वैराग्य के कारण माता-पिता के लिए अपने जीवन के स्वार्थी अंश की बलि दे कर वह अपने को धन्य समझता है। उन्होंने कहा—"संसार में माता-पिता को सन्तुष्ट रखने वाला पुत्र दुर्लभ होता है। वन में हम ऋषियों से मिल सकेंगे। वहाँ हमारा हर तरह से हित होगा। इस यात्रा में सबसे बड़ी बात तो यह होगी कि हमारा जीवन हर तरह से विकसित होगा और माता-पिता की आज्ञा पालन करने का पुण्य हमें अनायास ही मिल जाएगा। आज भाग्य हर तरह से हमारे अनुकूल है। प्राण-प्रिय भरत राज्य के अधिकारी हों, इससे बढ़ कर सौभाग्य की बात हमारे लिए और क्या हो सकती है। यदि ऐसे कार्य के लिए भी मैं वन न जाऊँ तो मैं मूढ़ों के समाज में सर्वश्रेष्ठ मूर्ख समझा जाऊँगा$।'

तुलसी के राम ने पवित्र त्याग और वैराग्य के आनन्द को इतना महत्त्व दिया है और उसमें इतना आकर्षण अनुभव किया है कि उनके अनुसार महामूर्ख भी उस आनन्द

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा २९। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ४१ के पहले और बाद। $ वही।

को नहीं छोड़ सकेगा। उन्होंने कहा है—'जो लोग मूर्खतावश कल्पतरु को छोड़ कर एरंड के वृक्ष की सेवा करते हैं, अमृत को छोड़ कर विष माँग लेते हैं, ऐसे मूढ भी आनन्द का ऐसा समय पा कर नहीं चूकते। मुझे सबसे बड़ा दुःख यही है कि इस छोटी-सी बात के लिए राजा इतने व्याकुल क्यों हो गये। निश्चित ही मुझसे कोई अपराध हो गया है‡।'

शपथ दे कर राम ने राजा की व्याकुलता का कारण पूछा तो अपनी कुटिलता की मधुरता से अपने शब्दों में भोलापन भरके कैकेयी ने राम की कपटपूर्ण प्रशंसा की और कहा—'पिता को इन परिस्थितियों को ठीक समझा दो, जिससे वृद्धावस्था में उन्हें अपयश न मिले। सुकृत ने तुम्हारे समान पुत्र जिसे दिया है उसका समाज में अपमान होना उचित नहीं है†।' गोस्वामी जी ने राम के विमल विज्ञान और वैराग्य के प्रति अपनी भावना व्यक्त करते हुए कहा है—'रामहिं मातु वचन सब भाये, जिमि सुरसरिगत सलिल सुहाये$।'

गोस्वामी जी ने दशरथ के भीतर भी विमल विज्ञान और वैराग्य के प्रकाश में एक महान् शील का विकास चित्रित किया है। यह विमल विज्ञान और वैराग्य दशरथ के भीतर इतना विकसित हो गया था कि राम के प्रेम के लिए वे अपना यश और स्वर्ग सब कुछ छोड़ने के लिए तैयार हो गये। मर्यादा पुरुषोत्तम के लिए वे अपना सब कुछ छोड़ देने को प्रस्तुत थे। राम के शील और स्नेह का प्रभाव उन पर इतना था कि पवित्रता के उस दृश्य को वे अपनी आँखों से ओझल नहीं होने देना चाहते थे। कैकेयी कांड की परिणति के समय मूर्च्छा हटने के बाद वे शिव से प्रार्थना करते हैं—"आसुतोष तुम्ह अवढर दानी, आरति हरहु दीन जनु जानी। तुम्ह प्रेरक सबके हृदय सो मति रामहिं देहु। बचन मोर तजि रहहिं घर परिहरि सील सनेहु*।"

राम के इस शील और स्नेह के लिए दशरथ के भीतर इतना आकर्षण है कि अनंत शील और स्नेह की इस नरझाँकी को अपने से अलग हटते देख कर वे विक्षिप्त हो गये हैं और पागल आदमी जैसे अपनी प्रिय वस्तु को भी तोड़-फोड़ डालता है वैसे ही इस विक्षिप्तता में दशरथ राम के भीतर शील और स्नेह के उस अभाव की कामना करते हैं, जो उन्हें वन जाने से रोक दे। विक्षिप्तता की अवस्था में भी दशरथ राम के शील और स्नेह को नहीं भूलते। वे उसे तोड़ कर केवल अपने हृदय की इस विक्षिप्तावस्था को ही अभिव्यक्त करते हैं, जो उन्हें अपरिसीम शील और स्नेह के केन्द्र के अदर्शन की कल्पना ने दी है। दशरथ की यह अवस्था मूलतः शील और स्नेह के प्रति या राम के विमल विज्ञान और वैराग्य के प्रति उनकी भक्ति को ही व्यक्त करती है, उसके अभाव को नहीं।

राम का विमल विज्ञान और वैराग्य विष को भी अमृत में परिणत कर लेता है। परम विज्ञान और वैराग्य के प्रकाश से आलोकित तुलसी के राम इस कैकेयी कांड से सन्तोष और शीतलता ही अनुभव करते हैं—"सुनि प्रसंग भये सीतल गाता§।" उन्होंने

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ४१ के पहले और बाद। † वही। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ४३ के पहले। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ४४ और उसके पहले। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ४५ के पहले और बाद।

पिता से कहा—'स्नेह के कारण पैदा हुए सोच को आप इस मंगलमय समय में छोड़ दीजिए। हृदय से प्रसन्न हो कर आप हमें आज्ञा दें ‡।' अपने राम के इन शब्दों के वाद गोस्वामी जी कहते हैं—'इतना कह कर प्रभु पुलकित हो उठे †।' उनके राम आगे फिर कहते हैं—"धन्य जनमु जगती तल तासू, पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू। चार पदारथ करतल ताके, प्रिय पितुमातु प्रानसम जाके $।" विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के त्यागपूर्ण और स्नेहमय वातावरण में जिस चरित का विकास होता है, वह तुलसी के राम की दृष्टि में वरावर वना रहता है। वे उस व्यक्ति का जीवन धन्य मानते हैं, जिसमें इस तरह के शील का विकास होता है। 'पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू' * से विज्ञान और वैराग्य के प्रति दशरथ की भी भक्ति की पुष्टि हो जाती है।

राम के वनगमन के समय अयोध्या में कैकेयी और मन्थरा के अतिरिक्त सब में विमल विज्ञान और वैराग्य का अस्तित्व था।

अयोध्या भर में शील की इस शोभा को अपनी दृष्टि से ओझल होते देख प्रत्येक नर-नारी के भीतर शोक छाया हुआ है—"मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं सोक न हृदय समाइ। मनहुं करुण-रस-कटकई उतरी अवध बजाइ §।" शोक इतना असीम हो रहा था कि ऐसा प्रतीत होता था कि मानो रणवाद्य बजा कर करुण रस ने अपनी सारी सेना ले कर अयोध्या पर आक्रमण कर दिया हो। उस जनता के भीतर कुछ लोग अधिक वुद्धिमान् थे। उन्होंने दशरथ को विमल विज्ञान और वैराग्य के प्रकाश में सत्य की रक्षा करते हुए पाया—"एक धरम परमिति पहचाने, नृपहि दोसु नहिं देहिं सयाने ×।" अयोध्या में सब के भीतर एक ही तरह की पवित्र परिणति दिखाई पड़ती थी। धर्म की मर्यादा की ओर सबकी दृष्टि थी। कैकेयी की प्रिय सहेलियाँ—ब्राह्मण-कुल की मान्य वधुएँ—आ कर कैकेयी को समझाती हैं। राम, सीता, लक्ष्मण, भरत तथा दशरथ की स्थिति और उनके शील की बड़ी संक्षिप्त पर सारगर्भित आलोचना वे सब कैकेयी के सम्मुख प्रस्तुत करती हैं—

सीय कि पिय संग परिहरिहि, लषनु कि रहिहहिं धाम।
राजु कि भूँजव भरत पुर नृपु कि जियहिं विनु राम +।

राम के शील के प्रभाव से विमल विज्ञान और वैराग्य के प्रकाश में सीता, लक्ष्मण, भरत और दशरथ के भीतर जिस त्यागमय स्नेह का विकास (विमल वैराग्य) पैदा हो गया था, वह इन स्त्रियों की चेतना के भीतर भी स्पष्ट दिखाई पड़ता था। राम के वन जाने का परिणाम इन स्त्रियों के सामने विलकुल स्पष्ट था। भावी चित्र को वे पहले से ही पूरा-पूरा देख रही थीं। उन्हें इसमें तनिक भी सन्देह न था कि सीता, पति की सेवा के लिए, वन चली जाएँगी, श्रेष्ठ सेवक लक्ष्मण भी स्वामी को छोड़ कर अयोध्या में नहीं रुक सकते,

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ४५ के पहले और वाद। † वही $ वही।
* रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा ४५ के वाद। § रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा ६४। × रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा ४७ के वाद। + रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा ४९।

प्राणों से भी अधिक महत्त्व अपने आदर्श पुत्र को देने वाले दशरथ प्राण त्याग देंगे और विमल विज्ञान और विमल वैराग्य-सम्पन्न भरत राज्य नहीं कर सकते। राम के विमल विज्ञान और वैराग्य के आलोक में पलने वाले अवध की दयनीय दशा का चित्र इन नारियों के सम्मुख स्पष्ट दिखाई पड़ रहा था। कैकेयी के लिए उनके अंतिम शब्द थे—'जिस तरह सूर्य के विना दिन, प्राण के विना शरीर और निशापति के विना रात्रि की दशा होती है, उसी तरह राम के विना अवध की दशा समझो ‡।' राम के विमल विज्ञान और विमल वैराग्यपूर्ण शील ने अवध के नर-नारी तथा जड-चेतन को मुग्ध कर लिया था।

कैकेयी के भीतर विमल-विज्ञान और वैराग्य के अल्पकालीन अभाव का मनोवैज्ञानिक आधार भी गोस्वामी जी प्रस्तुत करते हैं।

राम के इतने उच्च शील का प्रभाव कैकेयी पर कुछ समय के लिए व्यर्थ हो कर इस बात की सूचना देता है कि उत्कट स्वार्थ की ईर्ष्यापूर्ण वासना शील के पतन को उस निम्नतम स्तर तक ले जा सकती है, जहाँ पहुँच कर पतित कुछ समय तक पतित पावन राम की शक्ति के भी बाहर हो जाता है। अन्यथा राम के वियोग में मन्थरा और कैकेयी को छोड़ कर सब लोग—"जरहिं विषम जर लेहिं उसासा, कवनि राम बिनु जीवन आसा।" —'विषम ज्वर के समान प्रचंड वियोग के ताप से जल कर उच्छ्वास ले रहे थे। राम के विना उनके जीवन की भी आशा नहीं थी †।' विमल विज्ञान और वैराग्य के पथ पर चलने वाले जीवों की यही अवस्था रहती है। वे अपने सुख-दुख को भूल कर विमल वैराग्य और विमल विज्ञान के शक्तिकेन्द्र के मिलन और वियोग की अनुभूति में ही लीन रहते हैं। इस केन्द्र के सान्निध्य से उनका जीवन रक्षित-सा रहता है और इसे अपने सम्मुख न पा कर उनके प्राण संकटग्रस्त हो जाते हैं।

इस संकट की स्थिति में तुलसी के राम, इन्द्रियों के क्षोभ के ऊपर उठ कर आनन्द-मग्न हैं। उनके सामने आदर्श की उपासना का अपार समुद्र उमड़ रहा था। पिता के सत्य की रक्षा, अपने लिएं आज्ञापालन के आनन्द का स्वाद, वे दोनों चाहते थे। दोनों तरफ़ से वे आदर्श की उपासना कर लेना चाहते थे। इब्सन और बर्नार्ड शॉ की यह मान्यता है कि परिस्थितियों की अपरिहार्यता जब मनुष्य को कष्ट सहने के लिए विवश करती है, तब अपने उस कष्ट को अपने जीवन का आदर्श कह कर वह दंभ करता है और अपनी दयनीय परिस्थिति को वह जीवन की पवित्रता और आदर्श कह कर झूठे अभिमान को अपने हृदय में पाल रखता है। पर तुलसीदास जी इस आदर्श को महामानव में सहज और नैसर्गिक मानते हैं। इसीलिए इस संकट की परिस्थिति में उनके राम गोस्वामी हैं, इन्द्रियों और मन के स्वामी हैं। उन्हें विचलित नहीं होने देते—"अति विषादवस लोगलोगाई, गये मातु पहिं राम गोंसाई $।" इस परिस्थिति में विमल विज्ञान और वैराग्ययुक्त राम के लिए तुलसीदास जी का 'गोसाईं' विशेषण बिलकुल सार्थक है। विमल विज्ञान और वैराग्य की साधना कर लेने वाला व्यक्ति

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, सोरठा ५० के पहले का छन्द। † रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, सोरठा ५० के बाद। $ वही।

शील की परीक्षा के समय उत्तीर्ण होने के आनन्द में मग्न हो जाता है। यह तुलसी का अपना सिद्धान्त है, जिसे उन्होंने आदर्श चरित व्यक्तियों को देख कर स्थिर किया है। उनके राम इसी कोटि के आदर्श पुरुष हैं। कैकेयी के भवन से लौट आने पर उन्हें यह समझ कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि अब पिता उन्हें वन जाने से न रोकेंगे और सत्य की उपासना में पिता को तथा उन्हें सिद्धि प्राप्त हो जाएगी—"मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ, मिटा सोचु जनि राखइ राऊ ‡।"

नवगयंदु रघुबीर मनु राजु अलान समान।
छूट जानि बन गवनु सुनि उर अनंदु अधिकान †।

इस कठिन परिस्थिति में अपने विमल विज्ञान और विमल वैराग्य की परीक्षा में उत्तीर्ण होने की वह बलवती और उत्साहपूर्ण शक्ति राम के भीतर तरंगित हो रही थी जो एक बँधे हुए मतवाले हाथी में दिखाई पड़ती है। जिस तरह उसका मन अपने खंभे को उखाड़ देने के लिए छटपटाता रहता है उसी तरह इन परिस्थितियों के आ जाने से राम के मन को राज्य उस बँधे हुए मतवाले हाथी के स्तंभ की तरह दिखाई पड़ रहा था। अपने को मुक्त हुआ देख कर वन में पुनः भाग जाने का आनन्द जिस तरह मतवाले हाथी के भीतर लहराने लगता है, उसी तरह वन जा कर अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने के लिए मर्यादा पुरुषोत्तम के भीतर भी आनन्द तरंगित हो रहा था। विमल विज्ञान और वैराग्य के भीतर से उत्पन्न यह आनन्द जीवन के तूफ़ान को मलय मारुत के शीतल-मन्द-सुगन्धयुक्त स्पर्श में परिणत कर देता है।

जिस आदर्श को बर्नार्ड शॉ और इब्सन ने यूरोपीय समाज में देखा था उसके आधार पर उन्हें विश्वमानव के शील के विकास का इतिहास नहीं लिखना चाहिए था। भारत के समान कोई देश हो सकता है जहाँ आदर्श, विवशता नहीं; स्वभाव के भीतर के विमल विज्ञान और विमल वैराग्य से उत्पन्न होता है। भारतीय आदर्श विवशता के अंधकार में नहीं पैदा होते; विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के प्रकाश में पैदा होते हैं। यह और बात है कि शील की ऊँचाई से पतित हो जाने वाला अशक्त मानव उन आदर्शों का पालन न कर सके; पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि आदर्श केवल कल्पित और इसीलिए असत्य हैं। उल्लू यदि सूर्य के ताप और प्रकाश को नहीं सह सकता, इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि सूर्य के भीतर प्रकाश है ही नहीं।

बर्नार्ड शॉ ने अपने 'क्विंटएसेन्स आफ़ इब्सेनिज़म्' में लिखा है—"ब्रिटिश फिलिस्टिनिज़्म पुट डाउन विडो आइडियलाइज़िंग विद दि स्ट्रॉङ्ग हैंड; ऐण्ड सती इज़ एबॉलिश्ड इन इंडिया §।"—'अंग्रेज़ों के रूखे स्वभाव ने सतीत्व के आदर्शवाद का अपने सशक्त हाथों से दमन किया, जिससे सती-प्रथा भारत में समाप्त हो चुकी है।' यह बात मानी जा सकती है कि भारत का अंग्रेज़ी युग आदर्शों के अंधकार का युग था; पर शॉ महोदय ने

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, सोरठा ५० के बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ५१। § क्विंटएसेन्स ऑफ़ इब्सेनिज़म्, पृष्ठ ३१।

यदि वाणभट्ट का लिखा हुआ 'हर्षचरित' पढ़ा होता तो उन्हें भारत की सती का गौरव सातवीं शताब्दी के उस ऐतिहासिक युग में दिखाई पड़ जाता, जिसमें अपने पति प्रभाकरवर्धन की तुरन्त होने वाली मृत्यु के दृश्य को देखने से बचने के लिए हर्ष की माता महारानी यशोवती पति के शरीर छोड़ने के पहले ही अग्नि की सहायता से स्वर्ग चली गयीं और अपने प्रियपुत्र हर्षवर्धन के रोकने से भी न रुकीं ‡। यदि किसी युग का मनुष्य आदर्शों से गिर जाता है तो इसका यह बिलकुल अर्थ नहीं होता कि किसी दूसरे युग का मनुष्य अपने स्वभाव से आदर्शों की उपासना नहीं कर रहा था और अपने सच्चे रूप में आदर्श कभी थे ही नहीं।

वर्नार्ड शॉ की आदर्श की परिभाषा उनकी पुस्तक 'आइडियल्स ऐन्ड आइडियलिस्ट्स्' के 'आदर्श और आदर्शवादी' अध्याय में देखिए। उन्होंने आदर्शवादियों के लिए कहा है— "दि आइडियलिस्ट हू हैज़ टेकेन रेफ्यूज विद दि आइडियल्स विकाज़ ही हेटस् हिमसेल्फ़ ऐन्ड इज़ ऐशेम्ड ऑफ़ हिमसेल्फ़ थिंक्स दैट आल दिस इज़ सो मच दि बेटर †"—'आदर्शवादी अपने पर घृणा करता है। वह अपने से लज्जित है। इसीलिए उसने आदर्शों की शरण ली है और सोचता है कि ये आदर्श जितने ही बढ़ते जाएँ उतना ही अच्छा है।' यहाँ वर्नार्ड शॉ ने मनुष्य की दुर्बलता को स्वाभाविक तथा उसके लिए मनुष्य की घृणा और लज्जा को निरर्थक और दंभमात्र माना है।

कुछ देर के लिए अंग्रेज़ी जीवन के सम्बन्ध में हम इस बात को स्वीकार भी कर लें तब भी भारत के आदर्शवादियों के लिए हम ऐसा नहीं कह सकते। भारत का आदर्शवादी, मनुष्य के पूर्ण रूप को समझता है। वह वासना को ही मनुष्य नहीं समझता। उसके ऊपर शासन करने वाले मानव के गोस्वामी (वशी) स्वरूप की वह उपासना करता है। 'नारि मुई घर संपति नासी, मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी §' को वह सन्यासी नहीं कहता। भोग की सामग्री का अभाव तो विवशता है। उसके भीतर दिखाई पड़ने वाला संन्यास केवल संन्यास का आभासमात्र है। सोने की मिथिला के राजा विदेह और कपिलवस्तु के राजकुमार गौतम का संन्यास भारत की दृष्टि में सच्चा संन्यास है। भारत का आदर्शवादी, मनुष्य के पूर्ण स्वरूप से प्रेम करता है और उसके अपूर्ण स्वरूप से असन्तुष्ट रहता है। शॉ के आदर्शवाद की परिभाषा भारत पर नहीं लगायी जा सकती। महात्मा गाँधी यदि चाहते तो सुख से रह सकते थे, पर विमल विज्ञान और विमल वैराग्य की चेतना ने उन्हें तपोमय जीवन की ओर अग्रसर कर दिया था। तुलसी के राम भी इसी तरह के आदर्शवादी हैं। सत्य की उपासना के लिए नश्वर सुख की उन्होंने सत्य की वेदी पर बलि दे दी।

पिता के पास से राम कौसल्या के पास आये और उन्हें समाचार दिया कि पिता ने मुझे वन का राज्य दिया है और वहाँ मुझे हर तरह से बड़े-बड़े लाभ होंगे—"पिता

‡ वाणभट्ट-लिखित हर्षचरित, उच्छ्वास ५, श्लोक ४ के बाद अनुच्छेद ५। ‡ क्विंट एसेन्स ऑफ़ इब्सेनिजम्. पृष्ठ २७, अनुच्छेद २। † रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १०० के पहले।

दीन्ह मोहि कानन राजू, जहँ सब भाँति मोर बड काजू ‡।" यह सुन कर कौसल्या सूख गयीं। उन्होंने इस घटना का कारण पूछा तो राम ने शील की पवित्रता का निर्वाह करने के लिए सचिव पुत्र से माता को विवरण दिला दिया।

तुलसी की कौसल्या अपने पूर्वजन्म से ही कर्तव्य, बुद्धि और स्नेह के एक अपूर्व सन्तुलन से निर्मित हुई हैं। इस स्थिति में, कर्तव्य और स्नेह, दो पवित्र अवस्थाओं का संघर्ष उनके भीतर पैदा हुआ। तुलसी, हृदय के उस पवित्र संघर्ष के सौन्दर्य को अनिर्वचनीय मानते हैं—"सुनि प्रसंग रहि मूक जिमि, दसा वरनि नहिं जाइ †"; "राखि न सकइ न कहि सक जाहू, दुहूं भांति उर दारुन दाहू $।" आदर्श का लोप और वियोग दोनों से भयानक संताप होगा—"धरम सनेह उभय मति घेरी, भइ गति सांप छछुन्दरि केरी। राखउं सुतहिं करहुं अनुरोधू, धरम जाइ अरु वंधुविरोधू *।" वह सोचती हैं कि अनुरोध करके पुत्र को रख लेती हूँ तो सत्य की मर्यादा भंग हो जाती है और भाइयों में विरोध होता है। पर तुरन्त ही विमल विज्ञान के अभेददर्शन के प्रकाश में आ कर वह भेद के आधार से उत्पन्न हुई विरोध कल्पना के ऊपर उठ जाती हैं। विमल विज्ञान उन्हें सज्ञानता की स्थिति में ला देता है और राम-भरत की समता उन्हें दिखाई पड़ जाती है—"बहुरि समुझि तिय धरमु सयानी, रामभरत दोउ सुत सम जानी §।" समत्व के इस प्रकाश में कौसल्या को अपार धैर्य प्राप्त हो जाता है—"सरल सुभाउ राम महतारी, बोली वचन धीर धरि भारी। तात जाउं वलि कीन्हेहु नीका, पितु आयसु सव धरम क टीका ×।" उसे पिता की आज्ञा सव धर्मों में श्रेष्ठ दिखाई पड़ती है और उसका पालन करने वाले राम के शील पर वह अपने को निछावर करती है। यहीं, भावना के क्षेत्र में भी उसे भरत, दशरथ और अयोध्या की सारी प्रजा प्रचंड क्लेश के एक ही विशुद्ध भाव में मग्न दिखाई पड़ती है। विरोध की कल्पना उसके भीतर शान्त हो जाती है। वह कह उठती है—"राज देन कहि दीन वन मोहि न सो दुख लेसु। तुम्ह विनु भरतहिं, भूपतिहिं, प्रजहिं प्रचंड कलेसु +।" अब कौसल्या को यह दुःख नहीं है कि राजा ने राम को वन जाने की आज्ञा दी; उसे केवल यही चिन्ता है कि राम के बिना भरत, दशरथ तथा अयोध्या की प्रजा को प्रचंड क्लेश होगा। विमल विज्ञान और वैराग्य की भूमि पर पहुँचे हुए व्यक्ति को अपना दुःख नहीं रह जाता। वह विश्व के दुःख से दुःखी होने लगता है। तुलसी की, विमल विज्ञान और विमल वैराग्य की यह भाव-भूमि—'सियाराममय सव जग*' की भाव-भूमि ही है। इसी अभेददर्शन की दृष्टि से तुलसी अपने रामदर्शन के भीतर वनदेवी, वनदेव इत्यादि सव देवों, देवियों और पितरों को देखते हैं। इसी भाव-भूमि पर पहुँच कर उनकी कौसल्या राम से कहती हैं—"यदि तुम्हें केवल पिता की आज्ञा है तो माता का स्थान पुत्र

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ५३ के पहले। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ५४ और उसके बाद। $ वही। * वही। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ५५ के पहले। × वही। + रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ५५। * रामचरितमानस, वालकांड, दोहा ७ के बाद।

के लिए पिता से अधिक महत्त्वपूर्ण है। मेरी आज्ञा मान कर तुम वन न जाओ। यदि माता-पिता दोनों ने आज्ञा दी है तो वन तुम्हें सैकड़ों अवध की तरह सुखद होगा। वन-देवता तुम्हारे पिता होंगे और वन-देवियाँ माता की तरह तुम्हारी रक्षा करेंगी। पशु-पक्षी तुम्हारे चरणकमल की सेवा करेंगे। गृहस्थाश्रम के अन्त में तो राजा के लिए वनवास उचित ही है, पर तुम्हारा कोमल वय देख कर हृदय को पीडा होती है। आज वन ही भाग्यशाली है और तुमसे वियुक्त हो कर अवध अभागा हो गया है‡।' अनंतशील की नरझाँकी जहाँ न रहे वही स्थान अभागा है। 'अपना पुत्र समझ कर यदि मैं तुम्हारे साथ जाना चाहूँ तो तुम्हारे हृदय को संकोच होगा, क्योंकि तुम सब माताओं के परम प्रिय पुत्र हो। तुम सब प्राणों के प्राण और सम्पूर्ण जीवन के जीवन हो†।' यहाँ कौसल्या का विमल विज्ञान स्पष्टतः परिलक्षित हुआ है। वह फिर कहती हैं—'सब का प्राण (राम) जब वन जाने का प्रस्ताव हमारे सामने रखता है, तब इन शब्दों को सुन कर मुझे बड़ा पछतावा होता है$।' वह पछतावा यही है कि राम के अभाव में अयोध्या के प्राण संकट में अवश्य होंगे। पर सम्पूर्ण विश्व, आदर्श के केन्द्र का दर्शन करके धन्य हो जाएगा। यह सन्तोष की बात है। 'यह विचारि नहिं करउं हठ झूठ सनेह बढ़ाइ*' झूठे स्नेह से व्यापक राम को कौसल्या सीमित कैसे कर सकती हैं। उसे व्यापक समझ कर ही उससे सच्चा प्रेम किया जा सकता है। इसीलिए वह राम से प्रार्थना करती हैं कि आपने माता का नाता हमसे स्वीकार कर लिया है, इसीलिए उस स्वीकृति का निर्वाह करेंगे। अपने पूर्व प्राप्त वरदान के कारण कौसल्या दशरथ से अधिक जागरूक हैं।

अपने पूर्वजन्म के वरदान के अनुसार कौसल्या राम को परमात्मा और पुत्र दोनों रूपों में देखती हैं। विशिष्टाद्वैत का अवतारी ब्रह्म जब अवतार लेता है तो उसकी दोनों अवस्थाएँ रहती हैं। संसार के सम्बन्धों में भी वह बँधता है और उन सम्बन्धों से अलिप्त भी रहता है। राम को पुत्र की तरह देखती हुई कौसल्या कहती हैं—'तुम्हें देव, पितर सब इसी तरह रक्षित रखें जिस तरह पलकें आँखों की रक्षा करती हैं। तुम्हारे आने की अवधि जल की तरह है। तुम्हारे प्रिय परिजन मीन की तरह हैं। यदि अवधि का जल इन्हें नहीं मिला तो ये प्राण त्याग देंगे। पर तुम करुणा के सागर और धर्म के नेता हो। इसीलिए कुछ ऐसा उपाय करो जिससे तुम वापस आ कर सबको जीवित देख सको§।' इतना कहते-कहते कौसल्या अपने मातृत्व के वश में हो कर भावविह्वल हो जाती हैं और राम के चरणों में लिपट कर विलाप करने लगती हैं। पुरुषोत्तम के वियोग का संताप इतना भयानक और दुस्सह होता है कि गोस्वामी जी उसे अनिर्वचनीय कहते हैं। अनंत शीलवान् के मिलन का आनन्द और वियोग का संताप, दोनों अनंत और अपरिसीम तथा अनिर्वचनीय होते हैं। किसी तरह राम माता को सान्त्वना दे पाते हैं।

इस समाचार को पा कर सीता की अवस्था इससे भी अधिक शोचनीय हो जाती है। वह सोचने लगती हैं कि प्रारब्ध ने हमारे शरीर और प्राण दोनों को स्वामी के साथ

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ५५ के बाद। † वही। $ वही। * रामचरित-मानस, अयोध्याकांड, दोहा ५६ और उसके बाद। § वही।

भेजना नियत किया है या केवल प्राणों को। उन्हें इस बात का विश्वास है कि मर्यादा पुरुषोत्तम यदि उन्हें न ले गये तो प्राण तो उनके साथ अवश्य चले जाएँगे; मृतक शरीर अयोध्या में पड़ा रह जाएगा ‡।

राम ने माता को सहारा देने के लिए सीता को अयोध्या में रखना चाहा। वन के सब कष्ट बताये पर पति के साथ अपनी आत्मा को एकाकार बना देने वाली नारी बिना पति के कैसे रह सकती थी। जगत्पिता के आदर्शों के साथ एक हो जाने वाली जगदम्बा को सब कष्ट भूल जाएँगे, यदि पति का साथ उसे मिल सका। यदि ऐसा न हुआ तो उसके प्राण कैसे बचेंगे। उसे तो पति के प्रेम के सामने प्राणों का मोह है ही नहीं। यदि पति का साथ न मिला तो उसके प्राण भी नहीं रहेंगे। विमल विज्ञान का अद्वैत उसने पति में पा लिया है और विमल वैराग्य उसके भीतर इतना उत्पन्न हो गया है कि पति के लिए बड़े से बड़ा बलिदान करने की क्षमता उसमें हो गयी है। वह पति से यही पूछती हैं—'अवधि तक आप यदि मुझे अवध में रखना चाहते हैं तो क्या मेरे प्राण रह सकेंगे † ?' वह राम से प्रश्न करती हैं—'क्या आप के लिए वन में तप करना ठीक है और मैं घर में सुख से रहूँ $?' वह पति के तप में समभागिनी बनना चाहती हैं। यदि ऐसा न हुआ तो लोगमंगल साधिका कैसे होंगी। विश्व के सामने विमल विज्ञान और वैराग्य का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए जो त्याग राम करेंगे वही त्याग सीता भी करेंगी। वह कहती हैं कि आपके मुख से ऐसी बात सुन कर हमारा यह हृदय फट न गया तो मेरे ये नीच प्राण आपके विषम वियोग का दुःख भी सह लेंगे *। इतना कहते ही सीता बहुत अधिक व्याकुल हो गयीं। केवल वियोग का प्रस्ताव भी उनसे नहीं सहा गया। राम को विश्वास हो गया कि 'हठि राखे नहिं राखिहि प्राना §।' उन्होंने सीता को साथ चलने की आज्ञा दे दी। राम और सीता को आज्ञा देने में कौसल्या की जो दशा हो गयी कवि उसे वर्णन करने में अपने को अक्षम बताता है×।

राम के लिए लक्ष्मण का प्रेम भी विमल विज्ञान और वैराग्यपूर्ण प्रेम था। अपने स्वार्थों के प्रति विमल वैराग्य ने लक्ष्मण के भीतर भी राम के लिए इतना उज्ज्वल प्रेम पैदा किया था कि वह भी अनिवर्चनीय ही था। सीता के समान उनकी भी दशा थी। अपने शरीर और गृहस्थी से लक्ष्मण ने नाता तोड़ लिया है। यह बात राम से छिपी न रह गयी। राम ने उन्हें भी कई तरह से समझाया लेकिन लक्ष्मण का उत्तर केवल यही था—मैं सेवक हूँ और आप स्वामी। आप हमें त्याग देंगे तो आप पर हमारा क्या वश चल सकेगा। आपने हमें बड़े नीतिपूर्ण उपदेश दिये। धैर्यवान्, धर्म की धुरी को वहन करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों के लिए ही वैदिक धर्म के श्रेष्ठ आदर्श हैं। मैं तो दुर्बल बालक हूँ। आपने हमें स्नेह से पाला है। क्या हंस भी अपने ऊपर मंदर और मेरु पर्वत को रख

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड दोहा ५७ के बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ६६। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ६७ के पहले और बाद। * वही। § वही। × रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ६९ के पहले।

सकता है। हमारी वही दशा है। आप मुझ पर विश्वास करें। मेरे कर्तव्य, गुरु, पिता तथा माता के लिए अवशिष्ट नहीं रह गये हैं। संसार के सब नाते मुझ से छूट गये हैं। वे सब नाते मैंने केवल आपसे जोड़ लिए हैं। जिसको कीर्ति, ऐश्वर्य और सुगति प्रिय हों, धर्म नीति का उपदेश उसी को दिया जा सकता है। जो मन से, वाणी से और कर्म से प्रिय के चरणों से अनुरक्त हो जाए तो क्या कृपासिंधु प्रिय उसे छोड़ देता है‡ ?" अनंत स्नेह की अपरिमित वियोग-वेदना को लक्ष्मण में देख कर राम ने उन्हें भी चलने की अनुमति दे दी। बड़ी हानि की स्थिति में बड़ा लाभ पा कर लक्ष्मण को बड़ा सन्तोष हुआ। "मुदित भये सुनि रघुवर वानी, भयउ लाभ बड़, गइ बड हानी।" उन्हें इतना आनन्द हुआ जितना आनन्द अंधे को नेत्र पा कर होता है†।

सुमित्रा के भीतर भी विमल विज्ञान और वैराग्य की अपार निधि थी। विमल विज्ञान और वैराग्य के कारण लक्ष्मण के भीतर लोकादर्श के प्रतीक राम के लिए इतना अपार प्रेम था कि सुमित्रा के पास आज्ञा माँगने जाते हुए भी उन्हें भय हो रहा था कि कहीं उनका वात्सल्य बाधक न हो जाए। यह समाचार पा कर जब सुमित्रा सहमीं तब लक्ष्मण फिर संकट में पड़ कर सोचने लगते हैं—"एहि सनेहबस करब अकाजू $।" विमल विज्ञान और वैराग्य के भीतर उत्पन्न हुआ स्नेह व्यक्तिप्रेम से ले कर विश्वप्रेम तक फैला रहता है। उसमें व्यक्ति और विश्व दोनों समा सकते हैं।

तुलसी के पात्रों में से सुमित्रा की ओर इसी दृष्टिकोण से प्रकाश डाला गया है। वह तुरन्त धैर्य धारण कर सकती हैं और 'सहज सुहृद *' हैं। समत्व के भीतर उत्पन्न होने वाला प्रेम उनके भीतर स्वाभाविक है। सुमित्रा ने लक्ष्मण को जो विदाई का उपदेश दिया है वह विमल विज्ञान और वैराग्य का एक बड़ा भव्य नमूना है। वह कहती हैं—"वैदेही तुम्हारी माता हैं। प्रत्येक अवस्था में तुम पर स्नेह रखने वाले राम तुम्हारे पिता हैं। जहाँ राम का निवास रहता है वहीं अवध का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। दिन वहीं होता है जहाँ सूर्य का प्रकाश रहता है। यदि सीता और राम वन जाते हैं तो अयोध्या में तुम्हारा कोई काम नहीं। गुरु, पिता, माता, बंधु, सुर और स्वामी की सेवा प्राण के समान उन्हें समझ कर करनी चाहिए। राम प्राणों को प्रिय हैं, जीव के जीवन हैं। वे सबके निःस्वार्थ मित्र हैं। विश्व में जितने परमप्रिय और पूजनीय हैं, सबमें राम का नाता ही मानना चाहिए§।" यहाँ गोस्वामी जी की सुमित्रा विश्वप्रेम को राम-प्रेम का और रामप्रेम को विश्वप्रेम का रूप दे देती हैं। उनके कहने का तात्पर्य यही है कि जो राम को प्रेम करता है वह विश्व को प्रेम करता है; क्योंकि राम को वही प्रिय होता है जो विश्व को प्रेम करता है। राम के जीवन का आदर्श ही विश्वप्रेम है। विमल विज्ञान और वैराग्य व्यक्ति को विकास की उसी भूमि पर पहुँचाते हैं।

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, ७२ के पहले और बाद। † वही। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ७३ के पहले। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ७३ के बाद। § वही।

सुमित्रा लक्ष्मण से कहती हैं कि मेरे इन शब्दों को मन में उतार कर तुम राम के सेवक की तरह बन जाओ। इससे तुम्हारा जन्म सफल हो जाएगा—पुरुषोत्तम के कार्यों में सहायक बनने से ‡। विमल विज्ञान और वैराग्य के भीतर पैदा हुआ प्रेम स्वार्थों से विरक्त रह कर निश्छल हो जाता है। ऐसा निश्छल प्रेम करने वाला अतुल भाग्यशाली होता है। इसीलिए सुमित्रा कहती हैं—'छल छोड़ कर तुम्हारे मन ने राम के चरणों में स्थान पा लिया है। तुम मेरे साथ परम भाग्य के पात्र हो। मैं तुम पर निछावर हुई। तुम्हारे समान पुत्र को उत्पन्न करके मेरा भी जीवन भाग्यशाली और धन्य हो गया है। संसार में वही युवती पुत्रवती होती है जिसका पुत्र विश्वमंगल विधान में मर्यादा पुरुषोत्तम का साथ देता है। जो पुत्र रामविमुख होता है उससे माता के गौरव को धक्का पहुँचता है। तुम्हारे ही भाग्य से राम वन जा रहे हैं। यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न न होती तो तुम्हारा शील तपस्या की आग में तपने का अवसर ही नहीं पाता। सब सुकृतों के फल के रूप में ही व्यक्तियों के भीतर राम और सीता के चरणों के लिए सहज स्नेह पैदा होता है †।' ऐसे ही लोग लोकमंगल विधान के प्रतीक राम और सीता के चरणों में, अपने सहज स्वभाव से अपने को समर्पित कर क्षुद्र से विराट् हो जाते हैं। लक्ष्मण को समझाते हुए सुमित्रा कहती हैं—'स्वार्थ के भीतर पैदा होने वाले राग, रोष, ईर्ष्या, मद और मोह के वश में स्वप्न में भी न जाना। सब तरह के विकारों को छोड़ कर मन, वाणी और कर्म की पूरी शक्ति से राम की सेवा करना $।' अंत में सुमित्रा अपने पुत्र को अविरल अमल हरिभक्ति का आशीर्वाद देती हैं—"रति होउ अविरल अमल, सिय-रघुबीर-पद नित नित नई *।" 'तुम्हारे हृदय को सीताराम के चरणों की नित्य नयी निरन्तर प्रवाहित होने वाली अमल प्रीति मिले।'

यहाँ से आज्ञा पा कर लक्ष्मण, सीता और राम के साथ दशरथ के दरबार में आये जहाँ अपार जनसमुद्र का असीम शोक उमड़ रहा था। शोक में जलते हुए दशरथ कुछ बोल न सके। बार-बार वे अपने बच्चों को हृदय से लगा रहे थे। यहाँ राम ने पिता से आज्ञा माँगी और विमल वैराग्य-विज्ञान-जन्य प्रेम की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया—"तात किये प्रिय प्रेमप्रमादू, जस जग जाइ होइ अपवादू §।" प्रिय के प्रेम के पथ पर वासना के क्षोभ को नहीं आने देना चाहिए। उससे व्यक्ति को अपयश मिलता है। राम दशरथ को उस प्रेम की ओर ले जाना चाहते थे जिसमें वासना का प्रमाद नहीं, विमल विज्ञान और वैराग्य का प्रकाश रहता है। परन्तु दशरथ ने तो परम पावन के लिए अपने प्रेम का वही स्वरूप माँगा था जिसके लिए प्राणों की बलि दी जा सके। ज्ञानमय प्रेम के आलोक में चाहे सब स्वार्थों का विसर्जन हो जाए पर शरीर तो बच ही जाता है। दशरथ

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ७३ के बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ७४ और उसके बाद। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ७४ के बाद। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ७५ के पहले। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ७५ के बाद।

उस शरीर को भी प्रेम के लिए विसर्जित कर देना चाहते थे। इन सब प्रेमियों की यही अवस्था थी। कोई क्षणिक वियोग भी नहीं सह सकता था। इनमें सीता, लक्ष्मण तथा दशरथ थे। कोई भावी दर्शन के लोभ से जीवित था। इस कोटि में अयोध्या के और सब लोग थे। इनमें कौसल्या, सुमित्रा तथा भरत इत्यादि ज्ञान की ऊँची सीमा पर थे, बाक़ी और लोग प्रेम की अधिकता को ही अपने भीतर पाले हुए दर्शन की प्रतीक्षा कर रहे थे। दशरथ ने राम और सीता को रोकने का प्रयत्न किया। सीता को रोकने में उन्हें किंचित् सफलता की आशा थी, पर इस कार्य में सीता की असीम राम-भक्ति दशरथ के मार्ग में बाधक हो गयी और कैकेयी की क्रूरता ने भी सीता की सहायता और दशरथ के प्राणों पर आक्रमण किया। उसने राम के सामने मुनियों के वस्त्र रख कर यथोचित करने की आज्ञा दी और राम ने उस आज्ञा को बड़े आनन्द से शिरोधार्य कर लिया। राम के निकलते ही दशरथ के साथ-साथ सब मूर्छित हो गये ‡।

उपासना की सर्ववाद सम्बन्धी भूमि विमल विज्ञान और विमल वैराग्य की भूमि है। इस सत्य को गोस्वामी जी ने मानस में बार-बार सिद्ध करने का आयोजन कर लिया है। यहाँ भी वही सत्य प्रचारित हुआ है—राम के शील के भीतर से। 'गुरु से आज्ञा ले कर और प्रजा को सान्त्वना दे कर राम चले। अपनी यात्रा के आरम्भ में उन्होंने गणपति, गौरी और शिव का मंगलमय ध्यान किया। विदेशी आलोचक इसी तरह की स्थितियों को भक्ति की निम्न श्रेणी मानते हैं, जिसमें परम आराध्य एक न हो कर अनेक हो जाते हैं पर समाज का निर्माण करने वाली भारतीय दृष्टि व्यक्ति के भेददर्शी स्वभाव के मनोविज्ञान को ठीक-ठीक समझ कर ही ऐसा करती है। उसके अनुसार यदि व्यक्ति को स्वाभाविक विकास में पैदा हुए बहुदेवों की आसक्ति से हटा लिया जाएगा तो वह कुछ मनुष्यों के अपने सीमित संसार के प्रति ही अपने भीतर आसक्ति पैदा कर के संघर्ष में प्रवृत्त होगा। इसीलिए अपने खास व्यक्तियों के प्रति मोहजन्य प्रेम से व्यक्ति के मन को स्वाभाविक ढंग से अनासक्त बना कर विश्वप्रेम की ओर बढ़ाने के लिए भारतीय धार्मिक नेताओं ने बहुदेवों के प्रति आसक्ति को सुरक्षित रहने दिया तथा उसी के भीतर अभिन्न परमात्मदर्शन के अभेद को पैदा कर एक तरह से भेदाभेद का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया है। बहुदेवों के भीतर एक देव को समझना सरल है। बहुमानवों के भीतर परमात्मा (एक) को समझना अपेक्षाकृत दुरूह। इसीलिए उन बहुदेवों में एक परमोच्च शक्ति का ज्ञान सगुण उपासना के भीतर करा दिया गया। इन शक्तियों को मानव अपने से ऊँची शक्तियों के रूप में देखता है; इसीलिए उनमें परमोच्च शक्ति वाले परमात्मा का ध्यान वह सरलता से कर सकता है। मनुष्य अपने में तथा अपने ही समान मानव के भीतर परमात्मा की अनुभूति कठिनाई से कर पाता है; इसीलिए भारतीय संत तुलसी का 'बहुदेवात्मक एकदेव वाद' विकास का स्वाभाविक तथा सरल पथ है। विमल विज्ञान इस तरह के अभेद को भी देख लेता है। जिस देश में जगत् को परमात्मा से अलग माना जाता

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ७९ और उसके पहले।

है उस देश में व्यक्ति के भीतर विश्व के लिए स्वाभाविक प्रेम उत्पन्न होने की सम्भावना कम रहती है। पर जो देश 'सियाराममय सब जग' ‡ की अनुभूति कर लेता है उसके स्वभाव में विश्व-प्रेम स्वाभाविक स्थान पा लेता है। जब चारों तरफ़ सियाराम ही हैं तो वह किससे बैर करे।

विमल विज्ञान और विमल वैराग्य में स्वार्थ का अभाव रहता है। इसीलिए अयोध्या के लोगों में रामप्रेम का इतना अदम्य प्रवाह गोस्वामी जी ने दिखाया है कि तमसा के किनारे तक पूरे एक दिन की यात्रा भर अयोध्या की प्रजा राम के साथ लगी हुई चली गयी। यहाँ उस अनंत प्रेम के लिए तुलसी के अनंत राम को अपनी शक्ति का प्रयोग करने की आवश्यकता हुई। उस प्रयोग से उन्होंने प्रजा के भीतर प्रेम के प्रवाह को मन्द कर प्रभात के पहले ही चिह्न मिटवाते हुए रथ को हँकवाना शुरू किया। प्रातः जब रथ का मार्ग नहीं दिखाई पड़ा तो सब लोग बड़े व्याकुल हुए। पशु-पक्षी तक अनंत मर्यादा के इस शील के प्रति प्रेमासक्त थे। लोग चारों तरफ़ राम राम करते हुए दौड़ने लगे। अंत में उन्होंने एक दूसरे को समझाना शुरू किया—'राम ने हमारे कष्ट को समझ कर ऐसा किया है †।' रघुवीर के बिना वे अपने जीवन को धिक्कारने लगे। शोक भरे वे सब अयोध्या लौट आये। यहाँ गोस्वामी जी ने लिखा है—"विषम वियोगु न जाइ बखाना। अवधि आस सब राखहिं प्राना $।" राम आएँगे, इसी आशा से वे जीवित रहने लगे। इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने जीवन को तपोमय बना दिया। विमल विज्ञान और वैराग्य की स्थिति, स्वार्थ की बलि दे कर परम मंगल के लिए त्याग और तपस्या से ही प्राप्त होती है। यही तुलसी का सिद्धान्त है।

विमल विज्ञान के आलोक में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' * की अनुभूति उत्पन्न होती है। इस सर्ववाद के प्रभाव से भारत ने विश्व के कण-कण में एक परमात्मा के अस्तित्व का अनुभव किया। नदी, पर्वत, पशु, पक्षी, लता, गुल्म चारों तरफ़ उसे परमात्मा की शक्ति एक विशिष्ट देव या देवी के रूप में अनुभूत होती है। अपने इसी अनुभव के कारण लौकिक पुरुष की तरह गोस्वामी जी के राम भी श्रृंगवेरपुर पहुँच कर देव-नदी गंगा को एक विशेष हर्ष के साथ प्रणाम करते हैं। लक्ष्मण, सचिव और सीता ने भी प्रणाम किया। अपने इस परिवार के साथ गंगा के तट पर तुलसी के राम बड़े सुखी हुए। राम ने गंगा के माहात्म्य से लोगों को परिचित कराया। उन्होंने कहा—'गंगा सब तरह के आनन्दों और मंगलों की जड़ है। हर तरह के सुख इससे उत्पन्न होते हैं। सब प्रकार की पीड़ाएँ इससे दूर होती हैं §।'

विमल विज्ञान की दृष्टि में सान्त और अनंत में अभेद रहता है। इस प्रसंग में गोस्वामी जी ने विमल विज्ञान के अपने दृष्टिकोण से अवतार की सांतता और अनंतता पर प्रकाश डाला है। उन्होंने कहा है—

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७ के बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ८५ के बाद। $ वही। * छान्दोग्य उपनिषद्, खंड १४ श्लोक १। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ८६ के बाद।

मज्जनु कीन्ह पंथस्रमु गयेऊ। सुचि जलु पियत मुदित मन भयेऊ ‡।
सुमिरत जाहि मिटइ स्रम भारू। तेहि स्रमु यह लौकिक व्यवहारू।

विमल विज्ञान की स्थिति में मनुष्य को यह रहस्य भी व्यक्त हो जाता है कि अवतार सांतता स्वीकार करके अपनी अनंतता को छिपाये रहता है। उसे मनुष्य के सामने जीवन के आदर्श प्रस्तुत करने रहते हैं; इसीलिए वह केवल नरलीला ही करता है। वह लोगों को यही भान होने देता है कि वह आदर्श व्यक्ति है और उसका शील मनुष्य के लिए अनुकरणीय है। अपनी अनंतता को वह उसी व्यक्ति के सम्मुख प्रकट करता है जो शील के विकास की उच्चतम भूमि पर पहुँच जाता है और जिसके भीतर इस दुर्बलता का उदय नहीं हो सकता कि परमात्मा के आदर्श की ओर मनुष्य कैसे जा सकता है; साधारण मनुष्य के लिए ये आदर्श अनुकरणीय नहीं; इसलिए मनुष्य यदि आदर्श न बन पाए तो उसका दोष नहीं यह तो उसका स्वभाव है। भारतीय दर्शनों का यह विश्वास है कि नर ही नारायण बन सकता है। नर को नारायण के उदार पथ की ओर ले जाने के लिए ही अवतार होते हैं। इसीलिए गीता के कृष्ण ने कहा है—"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् †।" मनुष्य को अपना विकास स्वयं करना चाहिए। उसे अपने को ह्रास की ओर नहीं ले जाना चाहिए। अवतार श्रेष्ठ पुरुष हो कर ही आता है, और लोगों को श्रेष्ठ बनाने के लिए ही। अवतार के दार्शनिक पहलू पर भी गीता ने प्रकाश डाला है—

यद्यदाचरते श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते $।

'जो-जो आचरण श्रेष्ठ पुरुष करता है, सर्वसाधारण उसी के अनुसार अपने शील का पथ निर्मित करता है। जो आदर्श वह अपने कार्यों के द्वारा बना जाता है दुनिया उसी का अनुसरण करती रहती है।'

परमात्मा इसी श्रेष्ठ पुरुष के रूप में आ कर धर्म की स्थापना (आदर्श शील का प्रचार) करता है। विमल विज्ञान के रहस्य के भीतर यह दृष्टि भी गोस्वामी जी ने रखी है—

'सुद्ध सच्चिदानन्दमय कंद भानु-कुल-केतु।
चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु *।'

'शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म ही सूर्यवंश के श्रेष्ठ पुरुष राम के रूप में अवतीर्ण हुआ है। वह आदर्श जीवन व्यतीत करता है। साधारण मनुष्य उसका अनुकरण करके भव-सागर के लिए सेतु पा लेता है। आदर्श पुरुष का जीवन दुर्बलताओं के समुद्र को पार करने के लिए साधारण मनुष्य के लिए सेतु का काम करता है।'

जो विश्वजीवन विमल विज्ञान और वैराग्य से उत्पन्न सहज स्नेह पर आधारित रहता है उसमें जातिगत ऊँच-नीच के भेद का अभाव रहता है।

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ८६ के बाद। † गीता, अध्याय ६, श्लोक ५।
$ गीता अध्याय ३ श्लोक २१। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ८७।

इस विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के प्रकरण में गोस्वामी जी ने अभेद-दर्शन के प्रकाश में जातिगत ऊँच-नीच के भेद को भी समाप्त कर दिया है। परम पवित्र शील के प्रकाश में निषाद, कोल, किरात, शबर और केवट सब एक ही श्रेणी के सत्पुरुषों के रूप में दिखाई पड़ते हैं। ये सब संत-मानव हैं।

मर्यादा पुरुषोत्तम के आदर्शों से निषादराज परिचित हैं। राम के आने का समाचार पाते ही अपने परिवार और प्रिय बन्धुओं के साथ फल-मूल ले कर वे राम की सेवा में प्रस्तुत होते हैं। इस मिलन में राम और निषाद दोनों व्यक्तियों के हृदय में अपार हर्ष है। दंडवत करके अपनी भेंट राम के आगे रख कर निषादराज बड़े अनुराग से उनकी ओर देखने लगते हैं। गुह, शील विकास की पर्याप्त ऊँची भूमि पर पहुँचे हुए हैं। सहज-स्नेह उनमें पैदा हो गया है। सहज-स्नेह विमल वैराग्य का लक्षण है। अपने स्वार्थों के प्रति वैराग्य ले कर जिस व्यक्ति के भीतर स्नेह पैदा होता है वही सहज-स्नेही कहलाता है। ऐसे व्यक्ति के भीतर स्वार्थनिरपेक्ष स्नेह स्वभाव का अंग बन जाता है। इस प्रकार के स्नेह का कारण स्वार्थ नहीं स्वभावगत सात्त्विकता होती है। इस विमल वैराग्य के प्रकाश को प्राप्त कर मर्यादा पुरुषोतम के आदर्शों में लीन होने के लिए निषाद का हृदय प्रस्तुत था। पुरुषोत्तम इसी परम पावन सहज-स्नेह का क्रीतदास बन जाता है। गीता का ज्ञानी भक्त और तुलसी का भक्त सहज-स्नेह की इसी सिद्धि को प्राप्त किये रहता है। इस भक्त को स्वीकार करने के लिए परमात्मा सदा प्रस्तुत रहता है—विवश रहता है, क्योंकि इस तरह का भक्त उससे और कुछ नहीं केवल उसका प्रेम चाहता है। इसलिए 'सहज-सनेह-विबस रघुराई, पूँछी कुशल निकट बैठाई ‡।' सहज स्नेह का यह संत-स्वभाव, भेद को नहीं रहने देता। निषादराज के सहज-स्नेह से प्रभावित हो कर भगवान राम ने इन्हें अपनी बराबरी का स्थान दे कर अपना अभिन्न मित्र बना लिया। राम ने जब कुशल प्रश्न पूछा तब निषादराज के उत्तर में विमल वैराग्यपूर्ण जीवन की स्पष्ट झलक दिखाई पड़ती है—"नाथ कुसल पदपंकज देखे, भयउं भागभाजनु जन लेखे †।" वह राम से कुछ नहीं चाहते। राम के चरणकमलों का दर्शन हो गया तो निषाद का पूरा कुशल हो गया। राम के जनों में उनकी गिनती हो गयी और वे भाग्यभाजन हो गये। क्षुद्र वैयक्तिक जीवन के स्वार्थों से ऊपर उठ कर विश्वजीवन (राम के आदर्श) में स्थान पा जाने को ही गुह अपना भाग्य और कुशल समझते हैं। व्यक्ति से विश्व हो जाना विमल विज्ञान और विमल वैराग्य की उदारता का लक्षण है।

मुनियों के जीवन में भी गोस्वामी जी ने विमल विज्ञान और विमल वैराग्य का सुन्दर विवेचन किया है।

शील के विकास की एक मनोहर झाँकी जो विमल वैराग्य का दृश्य प्रस्तुत करती है, हमें राम के मुनिव्रत के आरम्भ में दिखाई पड़ती है। राम आतिथ्य स्वीकार करने निषादराज के गाँव में नहीं जाते। मुनिवेष गाँव में जाने की अनुमति नहीं देता।

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ८७ के बाद। † वही।

उस व्रत के अनुसार मनुष्य को गाँव के बाहर वन्य जीवन की सरलता के रंगों से अपने जीवन का चित्र बनाना पड़ता है। इसीलिए ग्राम के बाहर रह कर ही उन्होंने आतिथ्य स्वीकार किया‡।

विमल विज्ञान और वैराग्य के चिन्तनात्मक बौद्धिक रूप को भी गोस्वामी जी ने मानस के इस द्वितीय सोपान में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

इस प्रकरण में जीवन के चित्रों में क्रियात्मक विमल विज्ञान और विमल वैराग्य का प्रदर्शन करने के अतिरिक्त गोस्वामी जी ने विशुद्ध चिन्तन के क्षेत्र में भी विमल विज्ञान और वैराग्य का विवेचन किया है। भगवान् राम को भूमि पर शयन करते हुए देख कर निषाद को बड़ा विषाद हुआ। वे कैकेयी को दोष देने लगे। इस स्थिति में उन्हें सान्त्वना देने के समय की लक्ष्मण की मनःस्थिति की चर्चा करते हुए गोस्वामी जी ने कहा है—"बोले लषन मधुर मृदु बानी, ग्यान बिराग भगति रस सानी†।"

विमल विज्ञान और विमल वैराग्य ही प्रेमभक्ति की ओर ले जाते हैं। लक्ष्मण के भीतर प्रेमभक्ति उत्पन्न हो गयी थी; इसीलिए ज्ञान वैराग्य और भक्ति उनकी वाणी में एक साथ स्थान पा गये हैं। निषादराज को सान्त्वना देने वाले उनके शब्द ज्ञान, वैराग्य और भक्ति को उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं। वे कहते हैं—"कोई किसी को सुख और दुःख नहीं देता। अपने किये हुए कर्मों को ही सब भोगते हैं। संयोग और वियोग, सुख की अनुभूति और दुःख की अनुभूति, हित, अहित और मध्यम स्थिति, ये सब भ्रम के जाल हैं। मनुष्य की कल्पनाएँ हैं। जन्म और मरण, संसार का जहाँ तक प्रपंच है—संपत्ति, और विपत्ति, कर्म और काल, घर, पृथ्वी, धन, गाँव, परिवार, स्वर्ग और नरक इत्यादि समग्र स्थितियाँ, जो देखी और सुनी जाती हैं, उन पर यदि ध्यानपूर्वक चिन्तन किया जाए तो वे सब अज्ञानजन्य ही दिखाई पड़ेंगी। उनमें अन्ततः सत्य न दिखाई देगा। अन्तिम और पूर्ण सत्य के दर्शन उनमें न होंगे। स्वप्न में राजा भिखारी हो जाता है और रंक इन्द्र हो जाता है। जागने पर हानि और लाभ कुछ नहीं रह जाते। इसी तरह स्वप्न के समान संसार का भी प्रपंच है। ऐसा विचार करके क्रोध नहीं करना चाहिए। किसी को व्यर्थ दोष नहीं देना चाहिए। अज्ञान की रात में सब सोते रहते हैं। उसी अज्ञान के कारण अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करते हैं। इस संसार की अज्ञान-रात्रि में योगी जागते रहते हैं सत्यप्रेमी प्रपंच से विरक्त रहते हैं। इस सत्य का दर्शन जीव तभी करता है जब वह अज्ञान की निद्रा से जाग पड़ता है, जब विषयों के विलासों के प्रति उसके भीतर वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। इसी स्थिति में उसके भीतर विवेक पैदा होता है और अज्ञान की भ्रान्ति दूर हो जाती है। अज्ञान के दूर होते ही रघुनाथ के चरणों के लिए उसके भीतर अनुराग उत्पन्न होता है। मन, वाणी और कर्मों के द्वारा राम के चरणों का स्नेह ही परम सत्य है। राम सत्य के परमोच्च स्वरूप (ब्रह्म) हैं। वे अविगत, अलख, अनादि और

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ८८। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ९१ के बाद।

अनुपम हैं। वे सब विकार और भेदों से अस्पृष्ट रहते हैं। वेद उनका निरूपण 'नेति' कह कर ही करते हैं। वे कृपालु, भक्त, पृथ्वी, ब्राह्मण, सुरभि और देवताओं के लिए मनुष्य का शरीर धारण करके अपने आदर्श चरित का विस्तार करते हैं। उनके इस चरित्र की चर्चा करने से संसार के प्रपंचों के लिए विराग उत्पन्न हो जाता है। यह समझ कर तुम अज्ञान छोड़ दो और सीताराम के चरणों के स्नेह में लीन हो जाओ‡।

विमल विज्ञान और वैराग्य का यह बौद्धिक निरूपण है। इसके लिए इस प्रकरण में गोस्वामी जी ने एक स्वाभाविक अवसर निकाल लिया है।

विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के भीतर सत्यप्रेम का शाश्वत रूप ही रहता है। विमल विज्ञान और विमल वैराग्य का सिद्धान्त इस बात पर विश्वास करता है कि सत्य ही परम धर्म है, और उसकी रक्षा के लिए बड़े से बड़ा बलिदान भी छोटा ही है। इस पूरे सोपान में राम, सीता, लक्ष्मण, दशरथ, कौसल्या, सुमित्रा, भरत इत्यादि जितने व्यक्ति हैं, सब ने सत्य के लिए ही बलि दी है। सुमन्त राम को छोड़ कर शृंगवेरपुर से जब अयोध्या लौटने के समय व्यथित हो कर दशरथ का यह प्रस्ताव रखते हैं कि राम वापस हो जाएँ या कम-से-कम सीता ही वापस चलें, तो अपने लिए राम यही समझाते हैं—"धरमु न दूसर सत्य समाना, आगम निगम पुरान बखाना†" और जब सीता को लौट जाने के लिए राम ने समझाया तब सीता ने अपने सत्य धर्म (अपने सच्चे कर्तव्य) की तरफ़ से यह तर्क प्रस्तुत किया—

'सुनि पति बचन कहति बैदेही, सुनहु प्रान पति परम सनेही।
प्रभु करुनामय परम बिबेकी, तनु तजि रहत छांह किमि छेंकी।
प्रभा जाइ कहं भानु बिहाई, कहं चद्रिका चंदु तजि जाई§।'

'शरीर को छोड़ कर छाया रोकने पर भी नहीं रुकती। सूर्य की प्रभा और चन्द्रमा की चन्द्रिका उन्हें छोड़ कर कहीं जा ही नहीं सकतीं। इसी तरह का अभिन्न प्राकृतिक सम्बन्ध सीता और राम का है। विमल वैराग्य और विज्ञान के भीतर से विकसित होने वाला सम्बन्ध इसी प्रकार शाश्वत और अटूट हो जाता है। इसी तरह का शिष्ट और सान्त्वनामय उत्तर सुमन्त को दे कर सीता ने घर वालों के लिए भी सान्त्वना के बड़े मधुर सन्देश दिये। लेकिन सीता का माधुर्यपूर्ण व्यवहार सुमन्त के वियोग को और तीव्र करता जाता था—"सुनि सुमंत्र सिय सीतल बानी। भयेउ बिकल जनु फनि मनि हानी*।" जिसका हृदय विमल विज्ञान और विमल वैराग्य से मधुर हो जाता है उसका प्रभाव संसार पर इसी तरह का पड़ता है। जगत् के लिए ऐसे व्यक्तित्व का वियोग असह्य हो जाता है—"नयन सूझ नहिं सुनइ न काना। कहि न सकइ कछु अति अकुलाना§।"

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ९१ के बाद पंक्ति ४ से दोहा ९३ से एक पंक्ति बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ९४ के बाद। § रामचरितमानस, अयोध्या-कांड, दोहा ९६ के बाद। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ९८ के बाद। § वही।

पुरुषोत्तम के विज्ञान और वैराग्य-जन्य प्रेम का प्रभाव इतना व्यापक हो गया था कि उन्हें छोड़ कर रथ के घोड़े तक वापस नहीं जाना चाहते थे। सुमन्त्र किसी प्रकार वापस हुए।

गंगा के किनारे आने पर पार उतारने के समय केवट ने भी बड़े कोमल प्रेम का परिचय दिया। गौतम की अहल्या जब पत्थर से, राम के चरण की धूल के प्रभाव से, नारी हो गयी तो इस केवट की नाव भी स्त्री कैसे न हो जाती ! बस, प्रेम के कारण पैर धो कर चरणोदक लेने के लिए इस प्रेमी ने यह बहाना निकाला। और बिना चरणोदक लिये नाव पर चढ़ने ही न दिया। विमल विज्ञान और वैराग्य के केन्द्र के प्रति जिसके भीतर इतना स्नेह हो वह व्यक्ति ही विमल विज्ञान और वैराग्य का पूर्ण संस्कार अपने भीतर संचित कर रखता है। इसी प्रकार का त्यागी और अटपटा प्रेमी यह केवट था‡।

विमल विज्ञान और विमल वैराग्य पर किसी एक ही जाति का अधिकार नहीं होता। केवट के इस प्रकरण को इस तरह यहाँ स्थान दे कर गोस्वामी जी ने यही सिद्ध किया है कि विमल विज्ञान और वैराग्य किसी के भीतर पैदा हो सकता है। उसके लिए जाति और वर्ण की रेखाएँ सीमा नहीं बन सकतीं। प्रेमानन्द की जिस समाधि में मग्न हो कर केवट भगवान् राम के चरण धो रहा था, वह अवर्णनीय थी।

अति आनंद उमगि अनुरागा, चरन सरोज पखारन लागा।
बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं, एहि सम पुन्यपुंज कोउ नाहीं†।

राम के प्रेम की यह समाधि बड़े सौभाग्य से किसी को मिलती है। इसीलिए आज केवट को भक्तों में सर्वोच्च स्थान मिला हुआ है। देवता भी उसके भाग्य को पा लेने की अभिलाषा करके यह स्वीकार करते हैं कि केवट के समान पुण्यपुंज कोई नहीं है। अपनी इस स्थिति की प्राप्ति को केवट भी अनुभव कर रहा है। उतराई के लिए वह मुद्रिका नहीं लेता। वह कहता है—"नाथ आजु मैं काह न पावा, मिटे दोष-दुख-दारिद-दावा $।" 'आप मुझे स्वामी की तरह मिल गये। अब पाना बाकी क्या रह गया। आज तो मेरे सब दोषों, दुखों, और दारिद्रय का समूह समाप्त हो गया। मैंने बहुत दिन तक सेवा-कार्य किया। आज विधाता ने मुझे पूर्ण और प्रचुर सम्पत्ति का वेतन दे दिया। आपके अनुग्रह से अब मुझे कुछ न चाहिए।' ऐसे विमल विज्ञान और वैराग्य की उच्च भूमि पर पहुँचे हुए साधक को भगवान् राम ने विमल भक्ति का वरदान दिया—'बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमलु बरु देइ *।'

गोस्वामी जी ने देवकोटि की शक्तियों में भी विमल विज्ञान और वैराग्य का अस्तित्व दिखाया है।

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड सोरठा १०० और उसके पहले। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १०१ के पहले। $ रामचरितमानस, अयोध्यांकाड, दोहा १०१ के बाद। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १०२।

विमल विज्ञान और वैराग्य के इस प्रकरण के भीतर देवकोटि की शक्तियों में भी इसी विमल विज्ञान और वैराग्य की चेतना का दर्शन गोस्वामी जी ने कराया है। केवट के पार उतार देने के वाद सीता देव नदी से अपने पति और देवर की मंगलकामना करती हैं तव गंगा के विमल जल के भीतर से विमल विज्ञानपूर्ण अभेददर्शन से युक्त शब्द सुनाई पड़ते हैं—"सुनु रघुवीर प्रिया वैदेही, तव प्रभाउ जग विदित न केही। लोकप होहिं विलोकत तोरें, तोहि सेवहिं सव सिधि कर जोरें ‡।" यहाँ सीता को गंगा, आदि शक्ति जगदम्वा की तरह देखती हैं—वह शक्ति जिसकी दृष्टि के इशारे से देवता उत्पन्न होते हैं और सिद्धियाँ जिसके सम्मुख हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं। इसके वाद गंगा के हृदय के भीतर के विमल वैराग्य की स्थिति का चित्र गोस्वामी जी ने प्रस्तुत किया है—"तुम्ह जो हमहिं वडि विनय सुनाई, कृपा कीन्हि मोहि दीन्हि वड़ाई †।" पवित्र वैराग्य के भीतर जो निरभिमानता होती है, वही गोस्वामी जी ने गंगा के इन शब्दों में व्यक्त की है।

गुह में भी इसी सहज स्नेह तथा विमल विज्ञान और वैराग्य का चित्रग किया गया है। यहाँ से आगे वढ़ने के समय गुह भगवान् राम का साथ नहीं छोड़ता। वह कहता है आपको वन पंथ दिखाऊँगा और जिस वन में आप रहेंगे वहाँ पर्णकुटी वना कर फिर आपकी जैसी आज्ञा होगी, करूँगा। यह भी विमल विज्ञान के कारण निःस्वार्थ सहजस्नेह प्राप्त भक्त है। जव राम ने घर लौटने को कहा था, तव 'सुनत सूख मुख भा उर दाहू $' उसकी दशा शोचनीय हो गयी थी। राम ने इसे जव साथ ले लिया तव गुह हृदय से प्रसन्न हो गया—"सहज सनेहु राम लखि तासू, संग लीन्ह गुह हृदय हुलासू *।"

तीर्थराज प्रयाग में विमल विज्ञान और वैराग्य के सव चिह्न गोस्वामी जी ने दिखाये हैं।

शृंगवेरपुर के वाद भगवान् राम, सीता, लक्ष्मण और गुह के साथ प्रयाग आये। विमल विज्ञान और विमल वैराग्य वाले शील के जो-जो लक्षण होते हैं, वे सव भगवान् ने तीर्थराज में देखे हैं। तीर्थों के राजा के राजचिह्नों में वही सव आदर्श दिखाई पड़ते हैं। तुलसी के राम ने सत्य को उसके मंत्री की तरह, श्रद्धा को उसकी पत्नी की तरह और दुनिया के रक्षक नारायण को उसके मित्र की तरह देखा है। सत्य, श्रद्धा और जगत् की रक्षा विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के अवश्यंभावी परिणाम हैं। राम ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से तीर्थों के उस राजा का कोप भरा हुआ देखा है। उसके देश-प्रदेश पावन और सुन्दर हैं। उसका क्षेत्र अगम्य तथा सुन्दर, दुर्ग वड़ा दुर्गम है। प्रतिपक्षी स्वप्न में भी उसमें प्रवेश करने की कल्पना नहीं कर सकता। सव प्रभावशाली तीर्थ उसकी सेना के सैनिक हैं। पापों की सेना को नष्ट करने में वे वड़े दक्ष हैं। संगम उसका सुन्दर सिंहासन है। अक्षय वट उसका छत्र तथा गंगा-यमुना की तरंगें चँवर हैं। सुकृती, साधु और पवित्र

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १०२ के वाद। † वही। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १०३ के वाद। * वही।

लोग उसकी सेवा में लगे रहते हैं। वेद और पुराण उसका पवित्र यशोगान करने वाले वन्दीजन हैं‡।

इस तरह विमल विज्ञान की आँखों से भारतीय धर्म-परम्परा ने एक विराट् पवित्रता का दर्शन प्रयाग में किया है। उसी पवित्रता की ओर तुलसी में बड़ा ही आकर्षक झुकाव दिखाई पड़ता है। विमल विज्ञान की आँखें ही पवित्रता का दर्शन कर पाती हैं। इसीलिए रामायण के जितने पात्र विमल विज्ञान और विमल वैराग्य का अनुभव कर चुके हैं वे मर्यादा पुरुषोतम को देख कर उनके सामने श्रद्धा से झुक जाते हैं। ऐसे ही लोगों में से भरद्वाजऋषि भी हैं। मर्यादा पुरुषोतम को देख कर उन्हें इतना अनिर्वचनीय आनन्द हुआ जिसकी सीमा नहीं है। उन्हें ऐसी प्रतीति हुई कि ब्रह्मानन्द की राशि ही प्राप्त हुई है†।

गोस्वामी जी के अनुसार भक्ति के आवश्यक उपादान, पवित्र दैन्य और पवित्र नम्रता, विमल विज्ञान और विमल वैराग्य से ही सम्भव हैं।

अपनी शक्तियों के अहंकारात्मक अनुभव के प्रति मनुष्य के मन में जब विमल वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, तब उनमें पवित्र दीनता और पवित्र नम्रता का उदय होता है। इसी नम्रता के भीतर उपासक जीवात्मा को अपनी कमी तथा परमात्मा की अनंत शक्तियों का साक्षात्कार होता है। परमात्मा की इस अनंत पवित्रता का अनुभव करके साधक जीवात्मा के भीतर यह ज्ञान उत्पन्न हो जाता है कि जीवों के भीतर पवित्रता की जो अनन्त श्रेणियाँ दिखाई पड़ती हैं, उन्हें भी पवित्रता का प्रकाश, अनंत पवित्रता के केन्द्र परमात्मा से ही मिल रहा है। वही अनंत सब जगह व्याप्त है। इस पवित्रता की व्यापकता का वह जब हृदय से अनुभव करने लगता है तब उसे ब्रह्मानन्द की अनुभूति होने लगती है। भरद्वाज ने उस परम पवित्र के नररूप को जब अपने सम्मुख पाया तब उसे हृदय से लगा कर वे ब्रह्मानन्द की अपार राशि में निमग्न हो गये। अहंकार से मुक्त उनके हृदय में, विमल वैराग्य-जन्य विमल विनम्रता ने राम के भीतर की विराट् पवित्रता को स्वीकार करने के लिए अनंत स्थान बना दिया था। इस अनंत स्थान के बिना ब्रह्मानन्द की अनुभूति नहीं होती। भरद्वाज ने अपनी यह साधना पूरी कर ली थी, इसीलिए मर्यादा की उच्चतम भूमि का राम में दर्शन करके वे ब्रह्मानन्द में निमग्न हो गये। उन्हें अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव हुआ। साधना की इस पूर्णता का स्पष्ट इंगित गोस्वामी जी ने दिया है— "लोचनगोचर सुकृतफल, मनहुं किये विधि आनि§" मानो ब्रह्मा ने सुकृतों के फल को ला कर नेत्रों के सामनें प्रत्यक्ष रख दिया। यहाँ सुकृतों के फल का अभिप्राय यही है कि सुकृत मनुष्य के भीतर निरभिमानता और दुष्कृत अभिमान पैदा करते हैं। दुष्कृती अपनें को ही देखता है। सुकृती की आँखें विश्व भर के मंगल की योजना पर लगी रहती हैं।

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १०५ और उसके पहले। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १०६ के ऊपर वाली पंक्ति। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १०६।

इसीलिए वह अपने स्वार्थ से मुक्ति पा कर अभिमान-मुक्त हो जाता है। स्वार्थ ही अभिमान का उद्‌गम स्थान है। स्वार्थ भी अपने को देखता है और अभिमान भी स्वार्थों के कारण ही होता है। अपने स्वार्थ की वस्तुओं का संग्रह करके मनुष्य के भीतर जब अपनी शक्तियों का लोभात्मक गौरव पैदा होता है उसी समय वह अहंकार को अनुभव करता है। इस अहंकार में वह अपनी सफलता को दूसरों की सफलता से श्रेष्ठ अनुभव करता हुआ फूल उठता है। वह यह अनुभव करता है कि जो काम मैं कर सकता हूँ वह दूसरा नहीं कर सकता। 'मैं' पर लोभात्मक गौरव से टिकने वाली और उसी तक सीमित रह जाने वाली दृष्टि अहंकार की होती है। भरद्वाज ऋषि में सुकृतों के कारण विमल विनम्रता उत्पन्न हो गयी थी। इसीलिए उनकी दृष्टि अभिमान की अपवित्रता से मुक्त हो कर पवित्र हो गयी थी। और फलतः उन्होंने पुरुषोत्तम के भीतर की मर्यादा का अनुभव करके ब्रह्मानन्द का आस्वाद पा लिया। अहंकार के कारण यदि उनकी दृष्टि 'मैं' का अतिक्रमण न कर सकी होती तो यह कभी सम्भव न होता।

भरद्वाज जी के विमल विज्ञान और विमल वैराग्य की व्यापक भावना का साक्षात्कार गोस्वामी जी ने बड़ी सतर्कता और विनम्र निष्ठा के साथ किया है। निरन्तर रहने वाले सुकृतों की एक विकसित सूची, बड़ी विनम्रता से, भरद्वाज जी से उन्होंने प्रस्तुत करायी है। राम से प्रार्थना करते हुए मुनि कहते हैं—

आजु सुफल तपु, तीरथ, त्यागू, आजु सुफल जपु, जोग, बिरागू।
सुफल सकल-सुभ-साधन-साजू, राम तुम्हहिं अवलोकत आजू ‡।

तप, तीर्थ, त्याग, जप, योग और विराग ये सब पवित्रता की अनंतता का दर्शन करने के लिए भरद्वाज जी सज्जित कर रहे थे। इसीलिए वे कहते हैं कि आपको देखते ही सकल शुभसाधनों की हमारी सज्जा सफल हो गयी। अनंत पवित्रता को देख कर ऐसा ही अनुभव होता है। इसके बाद भरद्वाज जी कहते हैं कि लाभ की सीमा और सुख की सीमा दो वस्तुएँ नहीं। एक ही के दो नाम हैं। जितना बड़ा लाभ होता है उतना ही बड़ा सुख होता है—"तुम्हरे दरस आस सब पूजी †।" आपके भीतर की अनंत पवित्रता के दर्शन के लाभ से हमें अनंत आनन्द का अनुभव हुआ है। इस अनंत को कोई आशा कैसे लाँघ सकती है। हमारी सब आशाएँ पूरी हो गयीं। आपकी कृपा से हम पूर्णकाम (आप्तकाम) हो गये। इस अनंत आनन्द को भरद्वाज जी अपने भीतर सदा के लिए स्थिर कर लेना चाहते हैं। यह आनन्द सहजस्नेह को अपने साथ लगातार स्थिर रख कर ही स्थिर होता है। अहैतुकी भक्ति (सहजस्नेह) का वरदान भरद्वाज जी ने इसीलिए राम से माँगा—"अब करि कृपा देहु बर एहू, निज-पद-सरसिज सहज सनेहू §।" पवित्रता के केन्द्र के चरणों के लिए यदि सहज स्नेह हो तो हृदय का आनन्द स्थिर हो जाता है। जब भक्ति सहैतुकी हो जाती है तब मनुष्य के भीतर परमात्मा की तरफ़ झुकाव स्वार्थ से होता है। स्वार्थ की सिद्धि हो जाने पर लोभजन्य आनन्द समाप्त हो जाता है और भक्ति भी समाप्त हो जाती है। पर सहज स्नेह कुछ नहीं चाहता, वह मनुष्य का स्वभाव बन जाता है।

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १०६ के बाद। † वही। § वही।

उसमें उत्पन्न हुआ स्नेह अपना शाश्वत रूप पा लेता है। उसका आनन्द अखंड, अभेद्य, अच्छेद्य और अनंत हो जाता है।

इसी सिद्धान्त का विवेचन करने के लिए भरद्वाज जी ने राम से कहा है—

करम वचन मनु छांड़ि छलु जब लगि जनु न तुम्हार।
तब लगि सुख सपनेहु नहिं कियें कोटि उपचार‡।

मन, वाणी और कर्म की निश्छलता, स्वार्थहीनता की पवित्र स्थिति है। इस स्थिति पर पहुंच कर जो सहज स्नेह प्राप्त होता है वही ब्रह्मानन्द का अनंत सुख है। तुलसी-साहित्य के भीतर इस सहज स्नेह का बड़ा उच्च स्थान है। इसकी परिणति की प्राप्ति ही तुलसी-साहित्य का मुख्य लक्ष्य है।

इस पवित्र स्नेह का ऋषि में दर्शन करके अनंत (पवित्र राम) का हृदय भी उनके सामने झुक जाता है। 'सुनि मुनि बचन रामु सकुचाने, भाव भगति आनन्द अघाने†' के द्वारा गोस्वामी जी ने परमात्मा की भाववश्यता का रूप प्रस्तुत किया है। उनके राम ऋषि से कहने लगते हैं—"सो बड सो सब-गुन-गन-गेहू, जेहि मुनीस तुम्ह आदर देहू। मुनि रघुवीर परस्पर नवहीं, बचन अगोचर सुख अनुभवहीं$।" पवित्र व्यक्ति ही पवित्रता का निर्णायक हो सकता है। इसीलिए भगवान् राम ने भरद्वाज के लिए यह बड़ी उचित बात कही है कि आप जिसे आदर देंगे वही गुणों का निवासभवन हो सकता है। ऋषि और राम के भीतर की दो पवित्रताएं एक हो जाने के लिए परस्पर आकृष्ट हुई और दो उज्ज्वल शील वाले व्यक्तियों की भेंट हो जाने से अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती ही है।

तुलसी का सान्त और अनंत ब्रह्म राम, विमल विज्ञान का एक आदर्श उदाहरण है। राम-चरित-मानस भर में गोस्वामी जी ने अवतारी राम को दो भूमियों पर स्थित रखा है। अद्वैतभूमि पर और मायाविशिष्ट भूमि पर। अद्वैत भूमि पर वे अनंत रहते हैं और मायाविशिष्ट भूमि पर वे सान्त प्रतीत होते हैं। यह भूमि पुरुषोत्तम भूमि है। आदर्श मानव की यह भूमि है। इस भूमि पर राम स्वयं रह कर आदर्श नर के समान विमल विज्ञान और विमल वैराग्यपूर्ण आचरण करते रहते हैं। वे मुनियों को प्रणाम करते हैं और मुनि लोग अपने गुरुत्व और वृद्धत्व की भूमि से उन्हें आशीर्वाद देते हैं। पर यही मुनि लोग उन्हें अनंत परमात्मा मान कर नमस्कार करते हैं, उनकी प्रार्थना करते हैं और उनसे उनकी चरणों की भक्ति माँगते हैं।

रामब्रह्म की सान्तता में भी विमल विज्ञान की दृष्टि अनंतता का दर्शन करती है। इस दृष्टि से पवित्र शील के अनंत सौन्दर्य ने जहाँ-जहाँ अपना पैर रखा, वह-वह स्थान अनंत सौन्दर्य और पवित्रता से इतना व्याप्त हो गया कि आज तक भी मनुष्य की पीढ़ियाँ उसे नहीं भूलतीं; उस पवित्रता का दर्शन करने के लिए उसकी ओर आकृष्ट होती चली जा रही हैं। 'जो नगर और गाँव राम के मार्ग में बसे थे उन्हें देख कर देवताओं

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १०७ और उसके बाद। † वही। $ वही।

और नागों के नगर भी अपने को हीन समझते थे। जहाँ-जहाँ राम के पैर पड़े, उन-उन स्थानों की शोभा इन्द्रपुरी से भी अधिक हो गयी। राम के मार्ग के निकट निवास करने वाले पुण्यवान लोगों की प्रशंसा स्वर्ग के निवासी तक करते हैं। जिस सरोवर और नदी में राम स्नान करते थे वे देव नदी और देव सरोवर से भी प्रशंसा प्राप्त करते थे। जिस वृक्ष के नीचे भगवान् राम बैठते थे उसका यशोगान कल्पतरु भी करता था। राम के चरणों की धूल का स्पर्श पा कर पृथ्वी अपने को बड़ी भाग्यवाली समझती थी ‡।"

राम के हृदय का यह अनंत शील उनके रूप पर भी अनंत सौन्दर्य बन कर छा गया था। इसीलिए शील और सौन्दर्य दोनों मिल कर बिना किसी अपवाद के प्रत्येक नर-नारी बालक-वृद्ध को अपने केन्द्र राम, लक्ष्मण और सीता की ओर आकृष्ट कर लेते थे। लोगों को ऐसा प्रतीत होता था कि करोड़ों कामदेव उस सौन्दर्य को देख कर लज्जित हो जाएँगे। इस त्रिमूर्ति का पवित्र आकर्षण उनके लिए इतना अधिक शक्तिशाली हो गया था कि कुछ क्षणों के ही परिचय के बाद जब इन पथिकों के वियोग का समय आता था तब उन्हें ऐसा अनुभव होता था "बिधि निधि दीन्हि लेत जनु छीने †" मानो दी हुई सम्पत्ति को विधाता छीने ले रहा हो। विमल विज्ञान और वैराग्य के आलोक में उत्पन्न हुए राम, सीता और लक्ष्मण के विश्वप्रेम में इतना आकर्षण था कि ये लोग प्रत्येक नर-नारी को अलौकिक-से लगते थे। इसीलिए तुलसी के कुछ नर-नारी राम, सीता और लक्ष्मण को देख कर यही कहते थे—'ये स्वाभाविक सौन्दर्य वाले लोग स्वयं उत्पन्न हुए हैं। ये ब्रह्मा के बनाये हुए नहीं हैं। जहाँ तक वेदों ने ब्रह्मा की सृष्टि बतायी है, कान, आँख और मन जितने जगत् का साक्षात्कार कर सकते हैं उन चौदहों भुवनों को खोज कर देखो। ऐसी स्त्री भीं कहाँ सुनी या देखी गयी है। इन्हें देख कर ब्रह्मा को इनके समान सौन्दर्य की सृष्टि करने की इच्छा हुई। उसने प्रयत्न प्रारम्भ किया, बहुत परिश्रम किया पर इनसे अधिक या समान सौन्दर्य की कल्पना ही वह न कर सका। उसी ईर्ष्या से इन सुन्दर प्राणियों को वन में ला कर उसने छिपा दिया है $।' कुछ कहते थे—'हम अपने को परम धन्य मानते हैं और वे सब लोग पुण्य के कोष हैं जो इनको देख रहे हैं, जिन्होंने इन्हें देखा है और जो आगे देखने वाले हैं। ये सुकुमार शरीर वाले इस अगम मार्ग पर कैसे चलेंगे *।' यह सोच कर उनकी आँखों में अश्रु भर जाता था। नारियाँ कहती थीं—'यदि ब्रह्मा हमें वरदान दे तो हम तो यही माँगें कि हमें इन मूर्तियों को अपनी आँखों में रख लेने की शक्ति मिले §।'

उज्ज्वल विश्वप्रेम के निश्छल आलोक का यही प्रभाव होता है। उसे प्रत्यक्ष करके जगत् पागल हो जाता है। विराट् शील के ये सौन्दर्यमय पात्र इतने आकर्षक थे कि जिन्होंने सीता के साथ राम-लक्ष्मण को देख लिया उनका दुर्गम भव-पथ बिना श्रम आनन्दमय

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १११ के बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ११७ के पहले। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ११८ के बाद और दोहा ११९। * वही। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ११९ के बाद।

हो गया—"जिन्ह-जिन्ह देखे पथिक प्रिय, सिय समेत दोउ भाइ। भव-मगु-अगमु-अनंदु तेइ बिनु स्रम रहे सिराइ ‡।" सीताराम और लक्ष्मण के इस त्यागमय पथिक रूप को गोस्वामी जी ने इतना पवित्र और शक्तिमय माना है कि उनका यह निश्चय है कि इस परम पवित्र रूप के ध्यान से मनुष्य स्वर्ग के उस पथ को प्राप्त कर सकता है जो मुनियों के लिए भी दुर्लभ है। यह ध्यान और कोई दूसरी वस्तु नहीं, विमल विज्ञान और विमल वैराग्य का ही पवित्र ध्यान है जो राम धाम (अद्वैत भूमि की अभेदानुभूति) तक व्यक्ति को पहुँचा देता है—"अजहुँ जासु उर सपनेहु काऊ, बसहिं लषन सिय राम बटाऊ। रामधाम-पथु पाइहि सोई, जो पथु पाव कबहुँ मुनि कोई †।"

अवतार के सान्त और अनन्त रूपों से सम्बद्ध तुलसी के वाल्मीकि का विमल विज्ञान और वैराग्य भी हृदय और मस्तिष्क का शृंगार बनने के योग्य भाव और विचार की बड़ी सुन्दर सामग्री प्रस्तुत करता है। अवतार के जिन दो पक्षों की चर्चा पहले की गयी है, उनका बड़ा सुन्दर चित्र इस विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के प्रकरण में वाल्मीकि आश्रम में गोस्वामी जी ने प्रस्तुत किया है। इस प्रकरण में गोस्वामी जी ने अवतार के सान्त मानव पक्ष और अनन्त परमात्म पक्ष, दोनों का पूर्ण चित्र अंकित किया है, "मुनि कहुं राम दंडवत कीन्हा, आसिरबादु विप्रबर दीन्हा $।"

यहाँ सान्त मर्यादा पुरुषोत्तम प्रणाम करते हैं और विप्र होने के नाते वाल्मीकि उन्हें आशीर्वाद देते हैं और तीनों अतिथियों का आदर सत्कार करते हैं। इसके बाद जब राम उनसे अपने निवास-योग्य स्थान पूछते हैं तब अवतार के विराट् परमात्म रूप का बड़ी सरल पद्धति से मुनि विवेचन करते हैं। वे कहते हैं—"वेद की मर्यादाओं का पालन करने वाले आप जगदीश राम हैं। जानकी आपकी माया हैं *।" विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म माया के साथ ही रहता है। इसीलिए सीता को गोस्वामी जी के वाल्मीकि ने रामब्रह्म की माया कहा है। इसके बाद वे कहते हैं—'आपकी यह माया आपका रुख पा कर जगत् की सृष्टि करती है, उसका पालन करती है तथा उसका संहार भी करती है। जो सहस्रशीर्ष, सर्पराज, चराचर के स्वामी वासुकी पृथ्वी को अपने सिर पर उठाये हुए हैं वही आपका स्वरूप, लक्ष्मण के रूप में अवतीर्ण हुआ है। देवताओं के कार्य के लिए राजा का रूप धारण करके आप लोग दुष्ट निशाचरों की सेनाओं को समाप्त कर देने के लिए आये हुए हैं। हे राम, आपके स्वरूप को वाणी नहीं पा सकती, बुद्धि उसे अपने चिन्तन से नहीं बाँध सकती। वह अविगत, अकथ और अपार है। वेद भी उसे नेति (न इति) कह कर अनन्त ही बताते हैं। संसार दृश्य है, तुम उसके द्रष्टा हो। ब्रह्मा, विष्णु और शिव को तुम्हीं नचाते रहते हो। जब वे ही तुम्हारे मर्म को नहीं जानते तो और दूसरा कौन जान सकता है। इस रहस्य को वही जानता है जिसके सामने तुम अपना रहस्य प्रकट करना चाहते हो।

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १२२। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १२२ के बाद। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १२३ के बाद। * रामचरित-मानस, अयोध्याकांड, सोरठा १२५ के पहले का छंद।

तुम्हें जान कर वह तुम्हारा ही रूप हो जाता है‡।' गोस्वामी जी के वाल्मीकि का यह कथन उपनिषद् के "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति†।" 'ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है', वाक्य का प्रतिरूप ही है। वे राम से पुनः कहना आरंभ करते हैं—'हे भक्तों के हृदय को चन्दन की शीतलता प्रदान करने वाले रघुनन्दन भक्त भी तुम्हें तुम्हारी कृपा ही से जानते हैं। तुम्हारा रूप चित् (चेतना) और आनन्द का सम्पूर्ण अस्तित्व अपने भीतर व्याप्त रखता है। उसे विकार विकृत नहीं कर सकते। तुम्हारे इस रहस्य को अनन्तदर्शी अधिकारी साधक ही समझ पाते हैं। देवताओं के कार्य के लिए आपने मानव शरीर धारण किया है और साधारण राजा की तरह वाणी और क्रिया का आप व्यवहार करते हैं (कहते हैं और करते हैं)। तुम्हारे चरित को देख और सुन कर जड़ मानव को अज्ञान अधिक सताने लगता है, वह भ्रम में पड़ जाता है, पर चिन्तनशील मनीषी को उसी से सन्तोष की सिद्धि प्राप्त होती है। तुम जो कहते हो उसे सत्य करके दिखा देते हो। आपने जो पूछा कि मैं कहाँ रहूँ तो मुझे यह पूछने में संकोच ही हो रहा है कि मुझे वह स्थान बताइए जहाँ आप न हों तो वही स्थान मैं आपको रहने के लिए बता दूँगा$।' गोस्वामी जी के वाल्मीकि का यह कथन उपनिषद् वाक्य "ईशावास्यमिदं सर्वं*" 'यह सम्पूर्ण विश्व ईश का आवास्य (निवास-स्थान) है' की प्रतिच्छाया ही है।

विमल विज्ञान की विशिष्टाद्वैती चिन्तन-पद्धति के अनुसार उपर्युक्त चिंतनपूर्ण उत्तर देने के बाद ऋषि वाल्मीकि भावात्मक रसमय उत्तर देते हैं। वे कहते हैं, 'हे राम अब आप सुनिए! जहाँ आप सीता और लक्ष्मण के साथ निवास करें। जिनके कान के समुद्र आपकी कथा की नदियों से निरन्तर भरे जाने पर भी पूरे नहीं होते, उन्हीं के हृदय में आपके निवास के लिए सुन्दर घर है। जिन्होंने अपनी आँखों को चातक बना रखा है, जिनके लोचन आपके दर्शन के बादल के लिए निरन्तर अभिषित रहते हैं, जो बड़ी-बड़ी नदियों, नदों और सरोवरों की वृहत् जल-राशि का निरादर करके आपके रूप के जलबिन्दु से सुखी होते हैं, उनके सुखदायक हृदय-सदनों में आप सीता और लक्ष्मण के साथ निवास करें। जिसकी जिह्वा आपके यशरूपी विमल मानस के लिए हंसिनी बन जाती है और आपके गुणों के मोती चुनती रहती है, आप उसी के मन में निवास करें। जिसकी नासिका आपके प्रसाद की पवित्र और सुन्दर सुगन्ध, नित्य बड़े सम्मान की भावना से प्राप्त करती रहती है, जो आपको अर्पित करके भोजन करते हैं, आपके प्रसाद के रूप में मिले हुए वस्त्र और आभूषणों को धारण करते हैं, देवता, गुरु और ब्राह्मण को देख कर जो विशेष प्रेम और नम्रता से नतमस्तक हो जाते हैं, जिसके हाथ नित्य आपके चरणों की पूजा करते हैं, जिसके हृदय को आपके आश्रय को छोड़ दूसरा कोई सहारा नहीं दिखाई पड़ता, जिसके चरण आपके तीर्थों तक चल कर जाते हैं, उनके हृदय में आप निवास करें। जो लोग प्रति

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, सोरठा १२५ के बाद। † मुण्डकोपनिषद्, मुण्डक ३, खण्ड २, मंत्र ९। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १२६ और उसके पहले। * ईशोपनिषद्, मंत्र १।

दिन आपके मन्त्रराज का जप करते हैं, परिवार-सहित आपकी पूजा करते हैं, कई प्रकार से तर्पण और हवन करते हैं, ब्राह्मण को भोजन करा के कई तरह के दान देते हैं, आपसे अधिक अपने मन में गुरु को स्थान देते हैं और सब भावों से सम्मानपूर्वक उनकी सेवा करते हैं और सब के परिणामस्वरूप आपके चरणों का प्रेम माँगते हैं, उनके मनमन्दिर में आप सीता के साथ निवास करें ‡।' यहाँ परमात्मा से अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान गुरु को दे कर गोस्वामी जी के वाल्मीकि का उपर्युक्त वाक्य कबीर के 'बलिहारी गुरु आपकी जिन गोविन्द दीन दिखाय' से साम्य रखता है।

उपर्युक्त भावधारा को आगे बढ़ाते हुए गोस्वामी जी के वाल्मीकि कहते हैं—'जिनके मन में काम, क्रोध, मद, मान, लोभ, क्षोभ, राग और द्रोह नहीं होते, जिनके हृदय में कपट, दंभ और माया नहीं होती, उनके हृदय में आप निवास करें। जो सब के प्रिय और सब के हितेच्छु होते हैं, जिनके लिए सुख और दुःख, प्रशंसा और गाली समान होते हैं, जो विचारपूर्वक सत्य और प्रिय बात कहते हैं, जो सोते-जागते आपकी ही शरण में रहते हैं, आपको छोड़ कर जिनके लिए दूसरा मार्ग नहीं रहता, उन्हीं के मन में आप निवास करें। जो दूसरे की पत्नी को माता के समान समझते हैं, दूसरे के धन को महा-विष मानते हैं, दूसरे की सम्पत्ति को देख कर प्रसन्न होते हैं, दूसरे की विपत्ति से बहुत दुखित होते हैं और जिन्हें आप प्राणों के समान प्रिय हैं, उन्हीं के मन आपके लिए पवित्र निवास-गृह हैं। जिनके लिए स्वामी, सखा, पिता, माता और गुरु सब आप ही हैं, उनके मनमन्दिर में आप दोनों भाई सीता के साथ निवास करें †।'

भक्ति के मर्म को सरसता प्रदान करते हुए गोस्वामी जी के वाल्मीकि अपनी इस भावधारा के उपसंहार में कहते हैं—'जिनकी दृष्टि सब के दुर्गुणों को छोड़ कर गुणों पर ही पड़ती है, जो ब्राह्मण और गाय के लिए अपने को संकट में डाल देते हैं, जिन आदर्श-प्रिय व्यक्तियों से जगत् के आदर्श का पथ बनता है, उन्हीं का पवित्र मन आपका घर है। जो अपने दोषों और आपके गुणों को समझता रहता है, जिसे हर तरह से आपका ही भरोसा रहता है, जिसे रामभक्त प्रिय लगते हैं, उनके हृदय में आप सीता के साथ निवास कीजिए। जो जाति-पाँति, धन, धर्म और बड़प्पन को छोड़ कर आप ही में मग्न रहता है आप उसी के हृदय में निवास करें। जिनके लिए स्वर्ग, नरक और मुक्ति सब समान होते हैं और चारों तरफ़ जो आप ही को धनुप-बाण लिये हुए देखता रहता है, जो मन, वाणी और कर्म से आप का दास है, आप उसके हृदय में अपना निवास बना लें। जिसे कभी कोई वस्तु नहीं चाहिए और आपके लिए जिसके हृदय में सहज-स्नेह होता है, आप उसके हृदय में निरन्तर निवास करें। उसका हृदय आपका निजी घर है $।"

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १२६ के बाद से दोहा १२८ तक। † रामचरित-मानस, अयोध्याकांड, दोहा १२८ के बाद से दोहा १२९ तक। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १२९ के बाद से दोहा १३० तक।

इन सरस कोमल प्रस्तावों के बाद वाल्मीकि ने विराट् के पवित्र अंग चित्रकूट को जहाँ मन्दाकिनी नदी और अत्रि आदि ऋषियों के तपोवन हैं, राम के लिए उचित निवास-स्थल बता दिया।

विमल विज्ञान और वैराग्य का शक्ति, शील और सौन्दर्य से भी अभिन्न सम्बन्ध होता है। अनंत शील के साथ जो अनंत सौन्दर्य आता है उसे गोस्वामी जी अनंत शील का शाश्वत सगुण रूप मानते हैं। इसलिए उन्हें यह अनंत सौन्दर्य अनंत शील के परिणाम की तरह दिखाई पड़ता है। उनकी दृष्टि में अनंत सौन्दर्य उतना ही पवित्र और पूज्य है जितना अनंत शील। वे दोनों में अभेद समवाय सम्बन्ध मानते हैं। विमल विज्ञान और विमल वैराग्य की पवित्र अन्तर्दृष्टि इस पवित्र शील और सौन्दर्य का दर्शन करती है। गोस्वामी जी के अनुसार तपस्या का परिणाम पवित्र शील तो है ही, पर पवित्र सौन्दर्य और पवित्र शक्ति भी उसका परिणाम है। तपस्या के परिणामस्वरूप जब अनंत शील दर्शन देता है, तब अनंत सौन्दर्य और अनंत शक्ति को ही वह अपना सहारा बनाता है। इसीलिए तप के ये सब परिणाम पूज्य हैं। इसीलिए चित्रकूट के ऋषियों का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी लिखते हैं—"मुनि रघुबरहिं लाइ उर लेहीं। सुफल होन हित आसिष देहीं। सिय-सोमित्रि-राम-छवि देखहिं। साधन सकल सफल करि लेखहिं ‡।" अनंत शील के परिणाम को अनंत सौन्दर्य के रूप में इस त्रिमूर्ति के भीतर देख कर ऋषियों को यही प्रतीत होता है कि उनके सकल साधन सफल हो गये। अनंत शील बिना अनंत सौन्दर्य का सहारा लिये प्रत्यक्ष गोचर नहीं हो सकता, इसीलिए यह अनंत सौन्दर्य उतना ही पूज्य हो जाता है जितना अनंत शील। विमल विज्ञान और विमल वैराग्य की पवित्र दृष्टि से शील और सौन्दर्य की इस झाँकी का दर्शन करके साधक स्वार्थमय सांसारिक क्षुद्र प्रलोभनों को इस अनंत के चरणों पर निछावर कर देता है। यह दर्शन स्वयं विमल विज्ञान और विमल वैराग्य का कारण बन जाता है। इसमें इतनी शक्ति और आकर्षण होता है कि तपस्वियों के अतिरिक्त भी चित्रकूट के साधारण कोल, किरात मन की उसी पवित्र भूमि पर पहुँच जाते हैं, जिस पर तपस्वी इतनी श्रममयी साधना के बाद पहुँचता है। इस शील और सौन्दर्य के सम्मुख मानव क्या पशु भी सहज वैर तक को छोड़ देते हैं—"करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत वैर बिचरहिं सब संगा †।"

कोल, किरातों की तरफ़ लक्ष्य करके गोस्वामी जी कहते हैं—"रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेउ जो जाननिहारा §।" विमल विज्ञान और विमल वैराग्य का धाम राम केवल निश्छल प्रेममय शील चाहता है। वह जाति, वर्ग और वर्ण की भावना से ऊपर उठ कर केवल निश्छल प्रेम को ही अपनाता है—"बेदबचन मुनिमन अगम ते प्रभु करुनाऐन। बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन *।" परमात्मा प्रेम को, अधिक

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १३३ के पहले। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १३६ के बाद। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १३५ के बाद। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १३५।

प्रेम से स्वीकार करता है। अनंत शील के सौन्दर्य का प्रभाव तुलसी के भीतर इतना गहरा बैठा था कि उसका व्यापक प्रभाव उन्हें स्पष्ट परिलक्षित हो रहा था, 'नयनवन्त रघुवरहिं विलोकी। पाइ जनमफल होहिं विसोकी ‡' इत्यादि वाक्य इस वात के साक्षी हैं। इस प्रभाव से गोस्वामी जी ने जड-चेतन सवको प्रभावित दिखाया है—"परसि चरनरज अचर सुखारी। भये परमपद के अधिकारी †।" यहाँ जड भी आनन्दमग्न हो कर परमपद का अधिकारी दिखाया गया है। विमल विज्ञान की दृष्टि जड-चेतन सब के भीतर अनंत के प्रति पावन प्रेम देखती है। वह मंगलमय और पावन आनन्द का समुद्र जहाँ निवास करता है वह स्थान मंगलमय और आनन्दपूर्ण हो जाता है—"सो बनु सैलु सुभाय सुहावन। मंगलमय अति-पावन-पावन। महिमा कहिय कवन विधि तासू। सुखसागर जहं कीन्ह निवासू §।"

विमल विज्ञान और वैराग्य पर आधारित उत्सर्गमय प्रेम के भीतर माधुर्य का अनंत पारावार निवास करता है। इस वानप्रस्थ आश्रम में प्रेम की बड़ी मनोहर झाँकी गोस्वामी जी ने दिखायी है। विमल विज्ञान और वैराग्य की बड़ी पवित्र मनोहरता का दर्शन उन्होंने सीता के तपोमय प्रेम में देखा है। प्रिय के चरणों की सेवा में सीता ने अपने को ऐसा खो दिया है कि उन्हें अयोध्या के सब सुख भूल गये। त्यागमय प्रेम की मधुरता में वह इतनी मग्न हो गयी हैं कि वन ही उन्हें सहस्रों अयोध्याओं के समान सुखद मालूम पड़ता है। कन्द मूल फल का भोजन उन्हें अमृत के भोजन की तरह मधुर प्रतीत होता है। विषयों के विलास से सीता अस्पृष्ट हो गयी थीं। इस अवस्था का चित्रण करने के लिए गोस्वामी जी कहते हैं—'जिसके इंगित मात्र से देवता जन्म लेते हैं, उसे क्या विषयों का विलास अपनी तरफ़ खींच सकता है? राम का स्मरण करके जब मनुष्य विषयों के विलासों को तृण की तरह छोड़ देता है, तब राम की प्रिया, जगदम्बा सीता के लिए यह आश्चर्य की बात नहीं है *।'

लक्ष्मण ने भी त्याग की इसी ऊँचाई पर पहुँच कर अपने को राम की सेवा में इतना लीन कर लिया है कि उन्हें अयोध्या दिखाई ही नहीं पड़ती। पत्नी, भाई और माता सबको वे भूल गये हैं। हाँ, मर्यादा पुरुषोत्तम को जब अवध का स्मरण हो आता है तब मातृभूमि का प्रेम उनकी आँखों में आँसू बन कर सज जाता है। माता, पिता, परिजन, भाई तथा भरत के स्नेह का स्मरण करके कृपालु राम उन भक्तों के वियोग से दुःखी होते हुए समय की आवश्यकता के कारण धैर्य से अपने को सँभाले रहते हैं। उनको दुःखी देख कर उनके दुःख के कारण, उनकी अवस्था पर ध्यान दे कर सीता और लक्ष्मण भी दुःखी होते हैं, पर भगवान् राम धैर्य से उन्हें सँभाल लेते हैं। अपने कष्ट को उन पर दुःख की छाया नहीं छोड़ने देते। पलकें जिस तरह पुतलियों की रक्षा करती हैं, उसी तरह राम, सीता और लक्ष्मण की रक्षा करते थे और सीता तथा लक्ष्मण भगवान् राम की सेवा इतनी

---

‡ रामचरित-मानस, अयोध्याकांड, दोहा १३७ के बाद। † वही। § वही। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १३९ और उसके पहले।

लगन से करते थे, जितनी मोहमय तन्मयता से अविवेकी पुरुष शरीर की रक्षा करता है ‡। विमल विज्ञान और वैराग्य के लिए गोस्वामी जी ने यहाँ भी संकेत दे दिया है। जिस पुरुष में शरीर का मोह नहीं रह जाता वही विमल विज्ञान और वैराग्य-सम्पन्न कहा जा सकता है।

विमल विज्ञान और वैराग्य के इस प्रकरण में गोस्वामी जी ने अनंत शील के केन्द्र राम के प्रति ऐसे अनंत स्नेह की मधुरता सुमन्त और घोड़ों के हृदयों में सँजो कर रख दी है कि वह केवल अनुभव ही करते बनता है। जब तक निषाद लौट कर नहीं आये, घोड़े और सुमन्त वहीं छटपटाते पड़े रहे। उन्होंने आ कर किसी प्रकार उन्हें सान्त्वना दी और अपने चार विश्वस्त सेवकों के साथ उन्होंने सुमन्त और रथ को अयोध्या भेजा।

अप्रस्तुत विधान के द्वारा भी विमल विज्ञान का बड़ा प्रभावशाली संकेत गोस्वामी जी ने दिया है।

अलंकारों की योजना की पद्धति से भी गोस्वामी जी ने इस सोपान में विमल विज्ञान का संकेत बार-बार दिया है। अयोध्या लौटने के समय सुमन्त के दयनीय संताप का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी ने कहा है—'विवेकी, वेदज्ञ, आदरणीय, पवित्र शील और उच्च जाति वाला ब्राह्मण जिस तरह धोखे में मदिरा पी लेने पर ग्लानि, पश्चात्ताप और संताप से भर जाता है, उसी तरह के पश्चात्ताप की अवस्था सुमन्त की थी †।' विमल विज्ञान से पवित्र मन के भीतर ही पवित्र स्नेह का वियोग पक्ष इतना मधुर होता है।

फिर गोस्वामी जी ने पतिव्रता स्त्री का चित्र प्रस्तुत करते हुए सुमन्त की अवस्था से उसकी तुलना इस प्रकार की है—'जिस तरह साध्वी, ज्ञानवती, कर्म, मन और वाणी से पति को देवता मानने वाली कुलीन नारी, प्रारब्धवश पति से अलग हो कर दारुण वियोग के ताप से जलती रहती है, उसी तरह के संताप से सुमन्त का हृदय जल रहा था §।' इस तरह का पवित्र संताप विमल विज्ञान और विमल वैराग्य-पूर्ण हृदय के भीतर ही संभव है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम में इतना रूप, गुण, शील और स्वभाव था कि उनके अयोध्या से चले जाने पर राजा दशरथ उसी ध्यान में मग्न हो कर अनन्त समाधि में विलीन हो गये।

राजा जब राम के वियोग में व्याकुल हुए, तब सुमन्त ने धैर्य धारण कर के बड़े विमल विज्ञान और वैराग्य की बात उन्हें सान्त्वना देने को कही। उन्होंने कहा—'महाराज आप, पंडित और ज्ञानी हैं। जन्म, मरण, दुःख-सुख, भोग, हानि-लाभ, प्रिय-मिलन और वियोग, ये रात और दिन की तरह निश्चित काल पर होने को बाध्य हैं। जड बुद्धि के लोग सुख में हर्षित होते हैं और दुःख में व्याकुल हो कर विलाप करते हैं। धीर पुरुष दोनों स्थितियों में सम रह कर मन में धैर्य को बनाये रखते हैं *।' इसी तरह के धीर पुरुष गोस्वामी जी के अनुसार विमल विज्ञान और वैराग्य के सच्चे साधक हैं। भगवान्

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १३९ के बाद से दोहा १४० के बाद तक। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १४३। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १४३ के बाद। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १४८ के बाद।

राम ने सुमन्त के द्वारा जो संदेश भरत के लिए भेजा था वह भी विमल विज्ञान और वैराग्य का ही सन्देश था—"कहव संदेसु भरत के आये, नीति न तजिय राजुपदु पाये। पालेहु प्रजहि करम-मन-बानी, सेयेहु मातु सकल सम जानी‡।" यहाँ समत्वपूर्ण नीतिमत्ता का सन्देश विमल विज्ञान का सन्देश है, क्योंकि नीतिमत्ता समत्वपूर्ण विमल विज्ञान ही है, और मन, वचन और कर्म से प्रजापालन का संदेश विमल वैराग्य का है। प्रजापालन के कार्य में अपने हितों की विमल वैराग्यपूर्ण बलि देनी पड़ती है। यहाँ उत्सर्ग आनन्द की तन्मयता को अपने साथ लिये रहता है।

विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के असीम पारावार राम के प्रेम के लिए जिस तरह दशरथ ने अपने जीवन और मरण, दोनों को सार्थक बना लिया, विराट् आदर्श के साथ प्रेम करके जिस तरह जीवन और मरण दोनों को उन्होंने असीम सौन्दर्य प्रदान किया, वह त्यागमय जीवनदर्शन गोस्वामी जी की आँखों से ओझल नहीं होता। वे कहते हैं—"जियन मरन फलु दसरथु पावा, अंड अनेक अमल जसु छावा। जियत राम-बिधु-बदन निहारा, रामबिरह मरि मरनु संवारा†।" राम के विरह में जो मरता है, उसकी मृत्यु भी धन्य हो जाती है।

इस घटना के बाद से इस विमल विज्ञान और वैराग्य के सोपान पर खड़ा हुआ इस कांड का नायक दिखाई पड़ता है। जिस तरह प्रफुल्ल चित्त से भरत के लिए राज्य छोड़ कर राम महान् हो गये उसी तरह मिले हुए राज्य को, विज्ञान की अनंत विमलता को अपना सहारा बना कर भरत ने भी छोड़ दिया और अपने वैराग्य की भी अनंत विमलता का परिचय दिया। अपने इस कार्य से भरत परम भक्तों की श्रेणी में जा बैठे। राम के आदर्शों के वे इतने बड़े उपासक बन गये कि वे इस कांड के नायक मान लिये गये हैं। दशरथ की मृत्यु के बाद ही ननिहाल में उन्हें अपशकुन होने लगे तो वे माता, पिता, परिजन और भाइयों का कुशल ही महेश से मनाते हैं। विमल विज्ञान और विमल वैराग्य का यह कितना बड़ा आदर्श है। गोस्वामी जी ने भरत के भीतर मांडवी की कुशल कामना नहीं पैदा की। पुरुष के भीतर का यह विमल वैराग्य उन्होंने इसी तरह विकसित किया था। इस विमल वैराग्य के प्रकाश में भरत ने अपने स्वार्थमय व्यक्तित्व का ऐसा विलोपन कर दिया है कि प्रयत्न करने पर भी वह कहीं नहीं दिखाई देता। राम के प्रेम के कारण वे अपने सब स्वार्थों को भूल कर अपने को राम की एक वस्तु मात्र समझते हैं और पिता की मृत्यु का समाचार पा कर पछाड़ खा कर गिर पड़ते हैं और कहते हैं—"चलत न देखन पायेउं तोहीं, तात न रामहिं सौंपेहु मोहीं§।" भरत के भीतर अपने लिए कोई अभिमान अवशिष्ट है ही नहीं। राम के प्रति इसी निश्छल प्रेम के कारण वे स्वर्गीय पिता से कहते हैं कि आपने मुझे राम को नहीं सौंपा। जैसे किसी की कोई वस्तु सौंपी जाए उसी तरह भरत अपने को राम को सौंपा जाना ही ठीक समझते हैं, मर्यादा की सहज स्नेहपूर्ण दृष्टि से।

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, सोरठा १५० के बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १५४ के बाद। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १५८ के बाद।

भरत के भीतर की यही मर्यादा उन्हें विमल विज्ञान और विमल वैराग्य का ज्वलन्त उदाहरण बना देती है। भरत के भीतर विज्ञान और वैराग्य के कारण शील की इतनी पवित्र ऊंचाई विकसित हो गयी है कि वे कैकेयी का राज्य करने का प्रस्ताव सुनते ही पश्चात्ताप से इस तरह जलने लगते हैं जैसे पके हुए घाव पर अंगार रख दिया गया हो। हृदय की पवित्रता का अनुभाव भरत के भीतर के इस अनुताप को भी परम पावन बना देता है। वे कैकेयी से कहते हैं—'संसार में ऐसा कौन जीव है, जिसे राम प्रिय न लगते हों। वे राम जब तुझे अप्रिय हो गये तो तू मुझे बता कि संसार के जीवों की श्रेणी का अतिक्रमण करने वाली तू कौन है। तू चाहे जो भी हो, पर अपने मुँह में काला पोत कर मेरी आँखों के सामने से हट जा। अथवा तुझे कुछ कहना व्यर्थ है। मेरे समान पातकी कौन है जिसे विधाता ने तेरे समान रामविरोधी हृदय से मुझे पैदा किया। पातकी मैं ही हूँ ‡।' कैकेयी की कुटिलता के कारण शील की आदर्श भावना ने शत्रुघ्न के भीतर भी वही क्षोभपूर्ण अनुताप पैदा कर दिया था। वे रामविरोधी को क्षमा करने की शक्ति खो बैठे और मंथरा को उसी आवेश में उन्होंने दंड दिया।

भरत के शील के भीतर इतनी निश्छलता थी कि कौसल्या को, उन्हें देख कर, यही प्रतीत हुआ कि राम ही लौट आये। भरत और शत्रुघ्न दोनों पुत्रों को कौसल्या ने इस तरह हृदय से लगा लिया कि संसार को यह स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा कि अनंत पवित्रता के स्रोत राम को पैदा करने के लिए सचमुच ही विधाता ने पवित्रतम पात्र का चुनाव किया था—"देखि सुभाउ कहत सब कोई। राममातु अस काहे न होई †।" इस माता के सम्मुख मर्यादा पुरुषोत्तम का विमल वैराग्य बिलकुल स्पष्ट था। वन जाने के समय की उनकी अवस्था के भीतर हर्ष और शोक के अभाव का बड़ा सुन्दर चित्र उन्होंने भरत के सामने प्रस्तुत किया। सीता और लक्ष्मण के त्यागमय स्नेह की चर्चा की। माता कौसल्या के सामने जब भरत ने स्नेह-शपथ ली, उस समय गोस्वामी जी ने साधक के लिए साधना के आदर्शपथों की चर्चा उनसे करायी है। भरत कहते हैं—'यदि मैं माता के षड्यन्त्रों में सम्मिलित रहा होऊँ तो मुझे वही गति मिले जो गति विष्णु और शिव के चरणों को छोड़ कर प्रेतों की उपासना करने से होती है। साधना के पावन वैदिक पथ को छोड़ कर जो वाममार्गी बन कर अधोगति की ओर जाते हैं, मुझे उन्हीं की गति मिले, यदि माता के इस रहस्यमय षड्यन्त्र का ज्ञान मुझे पहले से रहा हो ‡।' वाममार्गी शाक्त उपासना और प्रेतों की उपासना को गोस्वामी जी विमलविज्ञान के प्रतिपक्षी तथा अज्ञानजन्य उपासनाओं के पथ मानते थे।

कौसल्या ने भरत को सान्त्वना देते हुए विमल विज्ञानजन्य प्रेम के अभेद को उनके और राम के भीतर देखा है। 'राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहुं

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १६१ और उसके पहले। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १६२ के बाद। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १६१ के पहले से ले कर उसके बाद तक।

तें प्यारे‡ ।' कह कर उनके अभिन्न पावन प्रेम की स्वीकृति के द्वारा कौसल्या ने भरत को सान्त्वना दी है।

दशरथ के मृतक संस्कारों के बाद कोसल की राजसभा की आज्ञा ले कर जो कुछ भरत ने किया उससे गोस्वामी जी ने विमल विज्ञान और वैराग्य की एक अनुपम झाँकी प्रस्तुत की है। अवध की राजसभा की भूमिका में ही विमल विज्ञान और विमल वैराग्य का निचोड़ दे दिया गया है। गोस्वामी जी ने नीति और धर्ममय भारतीय संस्कृति की एक वृहत् भूमिका के रूप में मानस को प्रस्तुत किया है। मानस एक आधार है, जिस पर भारतीय मर्यादा की अट्टालिका का निर्माण वे करना चाहते थे; इसीलिए वे अपने वसिष्ठ से उस राजसभा में नीति और धर्ममय वाणी का प्रयोग कराते हैं। उनके ध्यान से नीति और धर्म का सौन्दर्य कभी ओझल नहीं होने पाता—"भरत वसिष्ठ निकट बैठारे। नीति धरम मय वचन उचारे†।" वसिष्ठ राजा की धर्मनिष्ठा और सत्यनिष्ठा की प्रशंसा करते हैं और भरत को बताते हैं कि सत्य का निर्वाह उन्होंने राम को वन भेज कर किया और प्रेम का निर्वाह अपने शरीर को त्याग कर। उनके लिए धर्म और सत्य इतने बड़े थे कि उन्हीं के लिए दशरथ ने अपने प्राणों की वलि दे दी। राम के गुण, शील और स्वभाव की चर्चा करते हुए ऋषि के हृदय की पवित्रता सजल हो कर उनकी आँखों में भर गयी और राम के गुण, शील और स्वभाव की भावना ने अपने आनन्द के द्वारा उनके रोम-रोम में जागरण पैदा कर दिया। यहाँ भी पवित्रता की भावना ने उनके रोम-रोम को सजग बना दिया। इसके बाद जब लक्ष्मण और सीता के रामप्रेम की चर्चा वसिष्ठ ने की तब तो ज्ञानी होते हुए भी वे शोक और स्नेह में मग्न हो गये$। इस घटना से गोस्वामी जी यही बताना चाहते हैं कि विमल विज्ञान और विमल वैराग्य की प्रक्रिया से उत्पन्न हुआ राम प्रेम सीता और लक्ष्मण के भीतर इतना पावन हो गया था कि वसिष्ठ का ज्ञान उसका अनुभव करके पवित्र हो गया। उस अकलुष पवित्रता के ज्ञान से उत्पन्न हुई अनुभूति ने मुनि को आत्मसात् कर लिया।

'हानि लाभ जीवनु मरनु जसु अपजसु विधि हाथ*' की भावना भी विमल विज्ञान और विमल वैराग्य का परिणाम है। इस प्रकाश को प्राप्त करके विकासशील मनुष्य दोषारोपण और क्रोध करने की प्रवृत्तियों के ऊपर उठ जाता है—"अस विचारि केहि देइय दोषू, व्यरथ काहि पर कीजिय रोषू§।" गोस्वामी जी के वसिष्ठ ने अपनी इन दो उक्तियों के द्वारा प्रारब्धवाद के सहारे भरत के भीतर के विमल विज्ञान और विमल वैराग्य को उभारने का सफल प्रयत्न किया है।

दशरथ की मृत्यु के कारण जो शोक का सागर लोगों के हृदयों में उमड़ पड़ा था, उसे शान्त करने के लिए वसिष्ठ ने भरत से कहा—"तात बिचार करहु मनमाहीं। सोच

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १६७ के बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १६९ के बाद। $ वही। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १७०। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १७० के बाद से ले कर दोहा १७२ तक।

जोग दशरथ नृप नाहीं ‡ ।" जिस व्यक्ति ने आदर्शों की अनंत परिणति के द्वारा अपने जीवन को सफल और राममय बना लिया उसका अन्त शोचनीय कैसे हो सकता है ।

लोकादर्श के भीतर विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के अभावों का दुष्परिणाम भयानक होता है । आदर्शों से गिर जाने के कारण जिन लोगों की दशा शोचनीय हो जाती है, उनकी गिनती गिनाने में एक बृहत् लोकादर्श का चित्र गोस्वामी जी ने इस सोपान में प्रस्तुत किया है । यह चित्र विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के अभाव के अवश्यंभावी कुपरिणामों की व्यापक कल्पना के आधार पर बनाया गया है । वसिष्ठ ने भरत के शोक के वेग को कम करने के लिए उन्हें समझाते हुए कहा है—'शोचनीय दशा उस ब्राह्मण की होती है जो वेद के मर्म को नहीं समझता और अपना धर्म छोड़ कर विषयों में, आसक्ति हो जाने के कारण, मग्न हो जाता है । उस राजा (क्षत्रिय) की दशा पर शोक किया जा सकता है, जिसे प्रजा प्राणों के समान प्रिय नहीं है । उस धनवान् वैश्य की दशा शोचनीय होती है जो कृपण होता है और अतिथियों तथा शिवभक्तों के साथ सज्जनता का व्यवहार नहीं करता । उस शूद्र की दशा शोचनीय हो जाती है जो विप्रों का अपमान करता है, जो बहुत बकवादी, सम्मान चाहने वाला तथा अपने ज्ञान के लिए अभिमान करता है । उस स्त्री की भी दशा शोचनीय होती है जो पति को प्रवंचित करती है तथा कुटिल, कलहप्रिय, और स्वेच्छाचारिणी होती है । वह ब्रह्मचारी भी दयनीय होता है जो अपने व्रत का पालन नहीं करता और गुरु की आज्ञा का अनुसरण नहीं करता । वह गृहस्थ भी दयनीय होता है जो अज्ञानवश कर्मपथ को त्याग कर विरक्त हो जाता है तथा वह यती भी दयनीय है जो विवेक और विराग से हीन हो कर जगत् के प्रपंचों में खो जाता है । वही तपस्वी दयनीय अवस्था में रहता है जो तप में नहीं, भोग में आसक्त हो जाता है । माता, पिता, गुरु और बन्धु के विरोधी की दशा भी दयनीय होती है । पिशुन और अकारण क्रोधी भी दयनीय होते हैं । दूसरों का अपकार करने वाला हर तरह दयनीय होता है । वह बड़ा कठोर और केवल अपने ही शरीर की रक्षा करने वाला होता है । वह भी हर तरह से दयनीय है, जो छल छोड़ कर हरिजन नहीं हो जाता । कोसल-नरेश की दशा शोचनीय नहीं है । उनका प्रभाव तो चौदहों भुवनों में परिव्याप्त है । जैसे तुम्हारे पिता थे, वैसा अतीत में कोई नहीं था, वर्तमान में कोई नहीं है और भविष्य में भी कोई न होगा । ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र और दिक्पाल लोग दशरथ की गुणगाथा का वर्णन करते हैं । जिसके राम, लक्ष्मण, तुम्हारे और शत्रुघ्न के समान पवित्र पुत्र उत्पन्न हुए हों उसके यश का वर्णन कौन कर सकता है † ।' विमल विज्ञान और वैराग्य की दृष्टि से समाज तथा व्यक्ति के शील की यह आलोचना गोस्वामी जी ने प्रस्तुत की है । भरत को तुलसी के वसिष्ठ ने आगे समझाया है—'तुम्हारे पिता ने शब्दों के लिए राम को छोड़ा और राम की विरहाग्नि में अपनी आहुति दे दी । उन्हीं के शब्दों को सार्थक करने के लिए तुम राज्य करो ।

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १७० के बाद से ले कर दोहा १७२ तक ।
† वही ।

प्रजा को सुपालित देख कर दशरथ की आत्मा को भी सन्तोष होगा और तुम्हें कोई दोष न होगा ‡।'

'कौसल्यादि सकल महतारी, तेउ प्रजा सुख होहिं सुखारी †।' के द्वारा गोस्वामी जी ने रानियों के भीतर भी विमल वैराग्य की एक पवित्र ऊँचाई का दर्शन किया है।

अंत में वसिष्ठ और सभा ने भरत को यही आदेश दिया कि वे तत्काल राज्य स्वीकार करें और राम के आने पर उन्हें सौंप दें। कौसल्या ने भी बड़ी सरलता से यही प्रस्ताव भरत के सम्मुख रखा; पर विमल विज्ञान और वैराग्य की अनंत सीमा के भीतर परिव्याप्त यह राम का अनुचर, उस प्रस्ताव को कैसे मानता ! माता के सरल और स्नेहमय शब्दों ने भरत को और अधिक व्याकुल कर दिया। लोचन के जल से सिंच कर उनके हृदय में राम के विरह के नये अंकुर फूट निकले। भरत के इस पवित्र स्नेह को देख कर दर्शक अपना शरीर भी भूल गये। सब लोग इस सहज स्नेह की मर्यादा की प्रशंसा करने लगे §।

भरत के विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के सामने कर्त्तव्य का चित्र स्वभावतः स्पष्ट था। कर्त्तव्य भरत के सामने समस्या बन कर नहीं, जीवन के एक स्वाभाविक क्रम की तरह आता था। भरत के हृदय की विमल वैराग्य की अनुभूति में इतनी शक्ति अवश्य है कि तुलसी की योजना के अनुसार समाज के भीतर एक आदर्श भ्रातृ-स्नेह का विकास हो सके। सब लोगों के प्रस्तावों को भरत की विमल वैराग्य की दृष्टि ने ठुकरा दिया। इन सब प्रस्तावों के भीतर विमल वैराग्यपूर्ण, भरत की दृष्टि ने दोष और दुर्बलता को स्पष्ट खोज लेने में कोई कठिनाई अनुभव न की। इस पावन प्रकाश में एक क्षण में ही चारों तरफ़ के दोष परिलक्षित होने लगे। अज्ञानमय, मोहजन्य प्रेम हमेशा भ्रान्ति की काली छाया से मलिन रहता है। वह ठीक निर्णय न कर अन्धकार में ही पड़ा रहता है। सत्य का प्रकाश उसे नहीं प्राप्त होता। इसीलिए भरत ने कहा—"संसय शील प्रेम वस अहहू, सबुइ उचित सब जो कछु कहहू *।" अपने इस कथन से भरत ने उपर्युक्त स्थिति को स्पष्ट करके सबके प्रस्तावों को सामान्यतः ठुकरा दिया, लेकिन विमल विज्ञान की दृष्टि से गुरु और माता को विशेष सम्मान देने के लिए उन्होंने कुछ अलग कर लिया। उन्होंने कौसल्या के लिए कहा—'राम की माता बड़ी सरल चित्त हैं और हम पर उनका विशेष स्नेह है। हमारी दीनता को देख कर उन्होंने सद्भावना और स्नेह के कारण ऐसा कह दिया §।' माता की दृष्टि में भी जो स्नेह की दुर्बलता थी उसकी ओर भरत ने विनीत और शिष्ट संकेत कर दिया है। गुरु के लिए भी उन्होंने कहा—"गुरु विवेक सागर जगु जाना, जिन्हहिं विस्व कर-बदर-समाना। मो कहं तिलक साज सज सोऊ, भये विधि विमुख-बिमुख सब कोऊ ×।"

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १७२ के बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १७४ के पहले। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, सोरठा १७५ के पहले का छन्द। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १८० और उसके पहले। § वही। × रामचरित-मानस, अयोध्याकांड, दोहा १८० के बाद।

विवेकसागर गुरु के ऐसे प्रस्ताव को भरत ने केवल अपने ही दुर्भाग्य की प्रेरणा का फल माना। विमल विज्ञान और विमल वैराग्य-सम्पन्न ऐसे पात्र की कल्पना भरत में गोस्वामी जी की ही सर्वभेदिनी दृष्टि कर सकती थी। भरत का यह पात्र अपनी पवित्र दृष्टि के प्रकाश से सबके गुण-दोषों को अलग करके, यह निश्चय करने में तनिक भी कठिनाई अनुभव नहीं करता कि दशरथ का सत्यप्रेम तो पवित्र और पूज्य है, पर कैकेयी का घातक प्रस्ताव कैसे क्षम्य हो सकता है। मर्यादा पुरुषोत्तम का जो विरोध कैकेयी ने किया उसका प्रायश्चित्त दशरथ के शब्दों का पालन करने से न होगा। भरत यह निश्चित समझ गये थे कि राम को वन भेज कर भरत के लिए राज्य करने की स्वीकृति दे कर दशरथ अपना कर्त्तव्य पूरा कर लेने के लिए बाध्य थे और उन्होंने वैसा ही किया। उन्होंने अपने सत्य की रक्षा कर ली और राम के लिए अपने प्राण दे दिये। अब भरत की विमल वैराग्य से आलोकित दृष्टि इस बात को देख लेती है कि भरत यदि राम के लिए प्राण त्याग कर दे तो अपने आदर्श पिता का सच्चा पुत्र होगा, पर यदि नियति ने यह सम्भव नहीं किया, तो वह, राज्य करने के लिए, धर्म की दृष्टि से, विमल विज्ञान की दृष्टि से बाध्य नहीं है। दशरथ ने उसे राज्य करने की आज्ञा नहीं दी है। यह तो लोभ और मोह से पराजित कैकेयी ने हठात् दशरथ से माँग लिया है। यह वरदान कैकेयी के लोभ और मोह को, उसके मद और मत्सर को, उसकी ईर्ष्या और द्वेष को मिला है। ऐसी स्थिति में पवित्र विज्ञान और पवित्र वैराग्य की धर्मपूर्ण दृष्टि पावन शील वाले भरत को ऐसा अपवित्र आचरण करने के लिए कैसे बाध्य कर सकती है। पाप यदि वरदान माँग कर पुण्यात्मा को अपने साथ घसीटना चाहता है, तो पुण्यात्मा अपनी पूरी शक्ति लगा कर पाप का विरोध करेगा। विमल विज्ञान का यही संकेत है। धर्म पुण्यात्मा को पापी के साथ नहीं बाँध सकता। 'उद्धरेदात्मनात्मानम्' ‡ के सिद्धान्त के अनुसार जागरूक भरत ने शील के सौन्दर्य की साधना की अपनी सिद्धि का पूरा उपयोग कैकेयी के कुचक्र से बच निकलने के लिए किया। उनकी विमल विज्ञान और विमल वैराग्यपूर्ण अन्तर्वृत्ति को अपना पथ खोज निकालने में देर न लगी। इस कांड के नायक भरत ने राम को छोड़ और सब लोगों का मार्गदर्शन किया है तथा सामान्य बुद्धि की मलिनता के ऊपर विमल विज्ञान का बड़ा ही उज्ज्वल प्रकाश डाला है।

भरत की दृष्टि से यह बात छिपी नहीं रह गयी कि कैकेयी के वरदान को अपने लिए स्वीकार करने में विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के उच्च आसन से उनका एक बड़ा दयनीय पतन होगा। राजा को तो राजर्षि होना चाहिए। राम के विमुख जाने वाला राजा अपनी प्रजा को एक क्षण में प्रलय के विकराल जबड़ों को सौंप देगा। कैकेयी राम के परम पावन आदर्शों के विरुद्ध खड़ी हो गयी थी। उसका साथ देना पाप का साथ देना होता। उसका साथ दे कर राजा होने में, भरत ने विश्व के लिए आदर्श की दृष्टि से तथा जीवन की सुरक्षा की दृष्टि से भी एक महाप्रलय का दर्शन किया। 'धर्मो रक्षति

‡ गीता, अध्याय, ६ श्लोक ५।

रक्षितः' (मनुस्मृति, अध्याय ८, श्लोक १५) के सिद्धान्त के अनुसार उन्होंने यह समझ लिया कि राम के आदर्शों की रक्षा ही, सुख की सृष्टि है और उन आदर्शों का विरोध प्रलय की ज्वाला है। ऐसा अनुभव करके ही विमल विज्ञान और वैराग्यपूर्ण स्वरों में भरत ने उत्तर दिया था—

कहउं साचु सब सुनि पतियाहू, चाहिय धरमसील नर नाहू।
मोहि राज हठि देइहउ जबहीं, रसा रसातल जाइहि तबहीं ‡।

अपने इन शब्दों से भरत यही बताना चाहते हैं कि कैकेयी के द्वारा प्राप्त वरदानों को स्वीकार करना राम के विरुद्ध चलने को ही स्वीकार करना है। कैकेयी के इस वरदान को प्रजा और मन्त्रि-परिषद् यदि हठात् कार्यान्वित कर सकी तो पृथ्वी और उसके आदर्श, सब एक क्षण में नष्ट हो जाएँगे। भरत के समान विमल विज्ञान और वैराग्यमय चरित्र से खिलवाड़ करके राम-विरोधिनी कैकेयी के वरदान को क्रियात्मक रूप देने से प्रलय को छोड़ और दूसरा क्या हो सकता है। जगद्रक्षिका पवित्रता को नष्ट करने से जगत् का नाश ही तो होता है।

भरत इस आदर्श की हीनता के परिणाम को अच्छी तरह समझते थे कि जिस समाज में व्यक्ति को प्रिय का विरह प्राणों के समान प्रिय लगने लगे, प्रिय की अनुपस्थिति ही उसे सुखी बनाए, तो उस समाज का प्रलय अवश्यंभावी है—"जौं प्रिय बिरह प्रानप्रिय लागे, देखब सुनब बहुत अब आगे †।"

विमल विज्ञान और विमल वैराग्य-सम्पन्न व्यक्ति के भीतर, आदर्श से किसी भी तरह चूक जाने पर सात्त्विक ग्लानि का प्रादुर्भाव होता है। विमल विज्ञान और विमल वैराग्य ही इस तरह के आदर्शों की अन्तर्दृष्टि प्रदान कर सकते हैं। जब यह दृष्टि व्यक्ति को प्राप्त हो जाती है तब उसे लोक का अपयश और परलोक का सोच नहीं रह जाता। इन सबकी पीड़ा उसे नगण्य प्रतीत होती है। वह एक ही पीड़ा नहीं सह सकता। वह पीड़ा है – राम के आदर्शों के विरुद्ध जा कर पतन की स्थिति में पहुँच जाने की ग्लानि की मार्मिक वेदना—"डरु न मोहि जग कहइ कि पोचू, परलोकहु कर नाहिन सोचू। एकइ उर बस दुसह दवारी, मोहि लगि भे सियराम दुखारी §।" भरत के कारण सीताराम को कष्ट सहना पड़ा। इस स्थिति से उत्पन्न वेदना की दावाग्नि को भरत का पवित्र विरागी हृदय नहीं सह सकता।

अपनी सम्पूर्ण वेदना परिषद् के सम्मुख रख कर अंत में भरत कहते हैं—

आपनि दारुन दीनता कहउं सबहि सिरु नाइ।
देखे बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ *।

भरत का यह वैराग्यमय शील उन्हें राम के प्रेम का मानव रूप बना देता है। भरत ने अपने निश्छल स्नेह की व्याकुलता को सब लोगों पर छा दिया—"मातु सचिव

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १७७ के बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १७८ के बाद। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १८० के बाद। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १८१।

गुरु पुर नर नारी, सकल सनेह विकल भये भारी। भरतहिं कहहिं सराहि सराही, राम-प्रेम-मूरति-तनु आही ‡।" अयोध्या की जलती हुई प्रजा को इस आदर्श प्रेमी ने प्रेम का पावन पथ दिखा कर सहारा दिया। सबने इस राम-प्रेमी को अपने प्राणों में बिठा लिया। राम का आकर्षण इतना बड़ा था कि अपने घर-बार, धन-सम्पत्ति की किसी को चिन्ता नहीं थी। यही विमल विज्ञान और विमल वैराग्य का जीवन में परिणाम होता है। इसी स्थिति में सब चिन्ता छोड़ कर सब लोग रामदर्शन की तैयारी करने लगे। गोस्वामी जी ने इस विमल विज्ञान और विमल वैराग्य का स्पष्ट संकेत, लोगों की भावना को व्यक्त करके, दिया है। लोग सोचने लगे—

जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करइ न सहज सहाइ†।

विमल विज्ञानी और विमल विरागी धन-सम्पत्ति, माता-पिता, भाई और मित्र को तभी तक अपना समझते हैं, जब तक ये सब राम के आदर्शों में, उनके चरणों में भक्ति से डूब जाने में आपसे आप सहायक होते रहते हैं, अन्यथा इन सबको वे छोड़ देते हैं।

इसी दृष्टिकोण से भरत ने राजा राम की सम्पत्ति और उनके राज्य को सुरक्षित करके ही अयोध्या छोड़ना ठीक समझा। विश्वस्त सेवकों को स्वामी राम के प्रति उनके कर्तव्यज्ञान को सजग कर भरत ने यथास्थान उन्हें रक्षा के लिए नियुक्त कर दिया। उन सेवकों ने इसी रामकाज को राम का दर्शन मान लिया और उसी सेवा के सुख में निमग्न हो गये। कैकेयी के द्वारा प्राप्त राज्य और सम्पत्ति के प्रति भरत के भीतर विमल विराग इसीलिए था कि वह सम्पत्ति उन्हें राम-विमुख कर देती। उसे राम की ही समझ कर उन्होंने उसकी रक्षा की।

इसी राम के काज की सिद्धि के प्रयत्न में निषाद भी अपने क्षणभंगुर शरीर को अर्पित कर देने के लिए प्रस्तुत हो गये, जब इतने बड़े समूह को ले कर उन्होंने भरत को राम की तरफ़ आते देखा। निषाद को संदेह हो गया कि राम पर आक्रमण करने भरत जा रहे हैं। उसने सोचा—"समरु मरनु पुनि सुर-सरि-तीरा, रामकाजु छनभंगु सरीरा §।" स्वामी के कार्य के लिए युद्धक्षेत्र पर युद्ध करूँगा। मेरा यश चौदहों भुवनों को उज्ज्वल कर देगा। यदि भगवान् राम के लिए शरीर छोड़ दूँगा तो मेरे दोनों हाथों में लड्डू रहेंगे—यहाँ यश और वहाँ स्वर्ग। विमल वैराग्य का कितना अच्छा उदाहरण निषाद ने प्रस्तुत किया, आदर्श की रक्षा के लिए प्राणों के मोह को छोड़ कर।

विमल विज्ञान की बात भी गोस्वामी जी ने निषादराज से कहलायी है। वह कहते हैं—'साधुओं के समाज में जिसकी गिनती नहीं होती, राम के भक्तों में भी जो नहीं गिना जाता, वह जीते हुए भी पृथ्वी का भार ही रहता है। वह जननी के यौवनरूपी विटप के लिए केवल कुठार का काम करता है *।' विमल विज्ञान और विमल वैराग्य ने

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १८२ के बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १८४ के। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १८८ के बाद। * वही।

निपादराज के भीतर यहाँ लोकमंगल विधान करने वाला जगद्रक्षक पवित्र उत्साह उत्पन्न किया है।

विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के आधार पर ही आदर्श समाज की सृष्टि हो सकती है। निपादराज के भीतर जो पवित्र सन्देह उत्पन्न हुआ था वह निराधार था। भरत की स्थिति दूसरी ही थी। परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए निपादराज आये भी और भरत के पावन हृदय के माधुर्य में वे लीन भी हो गये। यहाँ गोस्वामी जी के विमल विज्ञान ने एक अनोखा मोड़ लिया है। रामप्रेम की पवित्रता के भीतर जो अभेद पैदा होता है उसे इस विमल विज्ञान ने देखा है। जिसे राम ने हृदय से लगा कर अपना प्रेम दे दिया, जिसे उनके आदर्शों की पवित्रता का प्रकाश मिल गया, वह कहाँ नीच जाति का रह सकता है! अपनी विमल विज्ञान की योजना के द्वारा गोस्वामी जी ने इस प्रकार के अभेद सिद्धान्त का प्रचार किया है। उन्होंने भरत-निपादराज के मिलन का वर्णन करते हुए कहा है—

लोक वेद सब भाँतिहिं नीचा, जासु छांह छुइ लेइय सींचा।
तेहि भरि अंक राम-लघु-भ्राता, मिलत पुलक-परिपूरित गाता‡।

राम के इस निपाद मित्र से मिल कर भरत का पूरा शरीर आनन्दातिरेक के रोमांच से भर उठा। तुलसीदर्शन में पवित्रता की शर्त राम की भक्ति या पवित्र शील है—"राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहिं न पाप-पुंज समुहाहीं। एहि तौ राम लाइ उर लीन्हा। कुल समेत जग पावन कीन्हा। स्वपच सवर खस जमन पांवर कोल किरात। राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात†।" राम के आदर्शों की तरफ़ जो झुका, वही पवित्र हो जाता है और फिर जातिगत अपवित्रता समाप्त हो जाती है। तुलसी के विमल विज्ञान का अभेदवाद जगत् को इसी आधार भूमि पर ला कर विषमता को नष्ट करके एक आदर्श समाज की सृष्टि करना चाहता है।

भरत के विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के अमोघ प्रभाव को गोस्वामी जी ने इस कांड भर में सुरक्षित रखा है। उनका इस कांड का नायक भरत इतना बड़ा है कि उसके शील और स्नेह को देख कर निषाद आवेश के आनन्द में अपना अस्तित्व ही भूल गया। तुलसी की तरफ़ से निषादराज आदर्शों के एक प्रचारक की तरह दिखाई पड़ते हैं। वे भरत से कहते हैं—'मेरी करतूत और मेरे कुल को समझ कर तथा प्रभु राम की महिमा का अनुभव कर लेने के बाद भी जो उनके चरणों का ध्यान नहीं करता, उसे प्रारब्ध ने प्रवंचित कर रखा है§।'

विमल विज्ञान के द्वारा अखिल विश्व में भेदाभेदरूप ब्रह्मानुभूति गोस्वामी जी उत्पन्न करना चाहते थे। भरत की इस यात्रा के समय गंगा की महिमा में फिर गोस्वामी जी ने विमल विज्ञान का अभेददर्शन प्रस्तुत किया है—"करहिं प्रनाम नगर-नर-नारी,

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १९२ के बाद। † वही। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १९४ के बाद।

मुदित ब्रह्ममय बारि निहारी ‡ ।" गंगा को ब्रह्ममय जल कह कर गोस्वामी जी ने विमल विज्ञान के अभेददर्शन का स्पष्ट संकेत दिया है । भरत ने ब्रह्म के इस गंगा रूप से भी सीताराम के चरणों का सहज स्नेह माँगा † । गोस्वामी जी ने भेद के भीतर अभेददर्शन को ही साधना का स्वाभाविक प्रकार माना है । भेद देखने वाली आँखों को धीरे-धीरे उसी भेद के भीतर अभेद का दर्शन करा देना, गोस्वामी जी के अनुसार, स्वाभाविक उपासना-पद्धति है । उनके अनुसार भेद को ध्यान से अलग रख कर अभेददर्शन स्वप्रतिगामी है । इसीलिए उनके भरत ने निषादराज के साथ के अपने वार्तालाप में सीता की पवित्रता की चर्चा करते हुए उनके पिता जनक के गौरव को भोग और योग के द्वारा प्रदर्शित किया है $ । भोग और योग का समन्वय भेद और अभेद का ही समन्वय है । भेदभावना से भोग और अभेदभावना से योग संभव होता है । दोनों का समन्वय भेदाभेद है ।

गोस्वामी जी ने इसी भेद और अभेद का समन्वय करने के लिए अभेद ब्रह्म को भेदमय जगत् के शील की अनंतता के भीतर प्रतिष्ठित करके देखा है । उनकी उपासना-पद्धति इस 'बाहरजामी' * ब्रह्म के शील के सौन्दर्य को छोड़ कर कभी चलती ही नहीं । निषादराज से बातचीत करते हुए उनके भरत मर्यादापुरुषोत्तम के गौरव को इसी शील की भूमि पर प्रस्तुत करते हैं—'राम ने अवतार ले कर जगत् को उज्ज्वल और जागृत कर दिया । वे रूप, शील, सुख और सब गुणों के आदर्शों के महासागर हैं । राम का स्वभाव पुरजन, परिजन, गुरु, पिता और माता सब को सुखी बनाता है । बैरी भी राम की बड़ाई करते हैं । वे अपने बोलने, मिलने तथा विनय से सब को मोह लेते हैं । करोड़ों शारदा तथा सैकड़ों करोड़ शेष भी प्रभु के गुणों की गिनती नहीं कर सकते § ।' यही अनंत आदर्श तुलसी का 'बाहरजामी' ब्रह्म है और इसी की उपासना उनकी रामभक्ति है । विमल विज्ञान और विमल वैराग्य इसी आदर्श तक पहुँचने में व्यक्ति के सहायक होते हैं ।

विमल विज्ञान और विमल वैराग्य का आधार गोस्वामी जी ने नियतिवाद को भी माना है । गोस्वामी जी का यह नियतिवाद भारतीय विचारधारा के अनुकूल ही व्यक्ति को अकर्मण्य, निराशाग्रस्त तथा भीरु नहीं बनाता । इसके प्रतिकूल नियतिवाद के सम्यक् ज्ञान से व्यक्ति कर्मठ, आशावान् और निर्भय रहता है । सद्भावना के साथ अपने मंगल और लोकमंगल के विकास का प्रयत्न करने पर भी जब वह सफल नहीं होता, तब अपनी असफलता को नियति का विधान समझ कर फल के प्रति नितान्त अनासक्त हो कर विमल वैराग्य की अवस्था में पहुँच जाता है । नियति के इसी प्रकार के स्वभाव को समझ लेना ही गोस्वामी जी के अनुसार विमल विज्ञान की प्राप्ति का एक अंग है । इस नियति को भारतीय कर्मवादी दर्शन व्यक्ति के ही अनेक जन्मों के कर्मों का फल समझते हैं । नियति को अपने ही कर्मों का फल समझ कर भारतीय उसकी कटुता को भी साहस, धैर्य और न्याय्य

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १९५ के बाद । † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १९६ के पहले । $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १९ के पहले । * तुलसी कवितावली, उत्तरकांड, पृष्ठ १९३, सवैया १२९ । § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा १९९ के पहले ।

बुद्धि से स्वीकार करता है। चित्रकूट के मार्ग पर राम के एक रात के विश्राम के वन्य साधनों को देख कर जब भरत व्यथित होते हैं और इन सब का कारण अपने को समझ कर ग्लानि में डूब जाते हैं तब निषादराज उन्हें समझाते हैं—'आप व्यर्थ सन्तप्त न हों। राम आपको प्रिय हैं और आप राम को प्रिय हैं। यह सब तो वाम-विधि की करनी है। भरत ने प्रिय राम को सुखी देखने के सब प्रयत्न बाल्यकाल से ही किये, इतने पर भी यदि राम को कष्ट हो गया तो भरत का दोष नहीं, वामविधाता का दोष है‡।' यही समझ कर निषादराज भरत में उत्साह की प्रेरणा उत्पन्न करना चाहते हैं। निषादराज ने भरत को समझाया और शपथ ली कि भगवान् राम को मैंने ठीक तरह से जान लिया है। उन्हें तुमसे अधिक कोई दूसरा व्यक्ति प्रिय नहीं है। राम अन्तर्यामी हैं, कृपा के निवासस्थान हैं। आप इस विचार को मन में दृढ़ करके, चल कर विश्राम करें। नियति के इस विधान का स्मरण जब भरत को हो आया तब उन्होंने अपने भीतर धैर्य का अनुभव किया।

यहाँ से भरत का विमल विज्ञान और वैराग्यपूर्ण स्नेह, हर तरह की परीक्षा से अकलुष और विकाररहित सिद्ध होता है। त्रिवेणी में स्नान के बाद भरत के द्वारा तीर्थ-राज से माँगे हुए वरदान में गोस्वामी जी ने विमल वैराग्य का बड़ा सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। भरत ने तीर्थराज से कहा है—'मुझमें अर्थ, धर्म तथा काम की रुचि नहीं है। मैं निर्वाणगति भी नहीं चाहता। जन्म-जन्म राम के चरणों के लिए प्रेम को छोड़ मुझे कोई दूसरा वरदान नहीं चाहिए†।' यह रति, भरत बड़ी कठिन परीक्षा के समय भी अपने भीतर स्थिर रखना चाहते हैं। वे तीर्थराज से कहते हैं—'राम चाहे हमें कुटिल ही समझें, दुनिया मुझे गुरु और स्वामी का द्रोही भी समझे तब भी आपके अनुग्रह से सीता-राम के चरणों की रति मेरे भीतर दिन-दिन बढ़ती ही जाए§।'

विमल विज्ञान का यह कितना ऊँचा आदर्श है। भरत का प्रेमी, प्रिय की सद्भावना या दुर्भावना की बिलकुल चिन्ता नहीं करता। उन दोनों से विरक्त रह कर सहज-निश्छल स्नेह प्रिय के लिए वह अपने हृदय में चाहता है। प्रेमी यदि प्रिय के द्वारा सताया न गया तो उसके प्रेम को बलिदान क्या देना पड़ा। प्रिय की दुर्भावनाओं के रहते हुए भी प्रेम यदि बढ़ता जाए तभी तो वह सहज प्रेम है। विमल वैराग्य के क्षेत्र के सहज प्रेम की आदर्श-भूमि गोस्वामी जी ने चातक के प्रेम में देखी है। उनके भरत कहते हैं—'बादल चाहे जन्म-भर स्मरण न करे और जल माँगने वाले चातक पर चाहे वज्र और ओलों की वर्षा करे, पर चातक की पुकार घटती नहीं। चातक तो पुकार की कमी को प्रेम की कमी और बढ़ती हुई प्रिय के लिए हृदय की पुकार को प्रेम की वृद्धि समझता है, इसीलिए कठोर प्रिय के लिए भी उसके हृदय में पुकार निरन्तर बनी रहती है। प्रिय को पुकारते हुए उसका कंठ नहीं थकता। जिस तरह तपने पर सोना अधिक चमकता है, उसी तरह प्रिय के लिए अपने स्वार्थों की बलि दे कर अपने जीवन को तपाने से प्रेम उज्ज्वलतर हो जाता है*।'

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २०० के पहले। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २०३। § रामचरितमानस, अयोध्यांकाड, दोहा २०३ के बाद। * वही।

अपने स्वार्थों के प्रति उमंग भरा विमल वैराग्य और प्रिय के स्वार्थों की उपासना सच्चे प्रेमी का लक्षण है। विमल वैराग्य के उज्ज्वल चरित को ले कर भरत राम से सहज प्रेम करते हैं। भरत के इस विमल वैराग्य की साक्षी त्रिवेणी में विराट् के जलरूप के भीतर से वाणी बन कर प्रकट होती है—"तात भरत तुम्ह सब विधि साधू, राम-चरन-अनुराग-अगाधू। बादि गलानि करहु मन मांहीं, तुम्ह सम रामहिं कोउ प्रिय नाहीं ‡।"

गोस्वामी जी ने भरत के विमल वैराग्यमय प्रेम की पवित्रता का उल्लास अनंत के हृदय में व्याप्त दिखाने के लिए त्रिवेणी की धारा से साक्षी दिलवायी है। भरद्वाज जी ने भी भरत के शील को देख कर यही अनुभव किया कि 'मेरा भाग्य ही मूर्तिमान बन कर भरत के रूप में आ गया †।'

अपने इस कांड के नायक भरत में गोस्वामी जी की प्रतिभा ने विमल वैराग्य और विमल विज्ञान का ऐसा प्रकाश आलोकित किया है कि उसके सामने ऋषियों का हृदय भी प्रेमभक्ति के आदर्श का दर्शन करके कृतज्ञता से झुक गया है। भरद्वाज जी भी सान्त्वना देते हुए भरत से यह रहस्य बतला देते हैं कि 'कैकेयी का दोष नहीं, यह दोष सरस्वती का है $।' उन्होंने यह भी कहा कि 'तुम्हारा विमल यश प्रचारित करके लोक और वेद दोनों अपने को धन्य मानेंगे। कैकेयी-कांड में तुम्हारा अल्प अपराध देखने वाले भी अधम, अज्ञानी, और असाधु कहलाएँगे, तुम यदि राज्य भी करते तो तुम्हें दोष नहीं था और राम को भी उससे सन्तोष होता, पर तुमने राम-चरणों की दासता स्वीकार करके बहुत ही भला काम किया। राम के चरणों के स्नेह से ही लोकमंगल की सृष्टि होती है। राम के आदर्शों से ही लोक की रक्षा हो सकती है। राम के चरणों का यह स्नेह तुम्हारा धन, जीवन और प्राण है। तुमसे बड़ा भाग्य किसका हो सकता है। तुमसे बढ़ कर राम का कोई दूसरा प्रेमी नहीं है। तुम्हारी प्रशंसा करते हुए उन्होंने रात बिता दी थी। उनके हृदय के रहस्य को प्रयाग में स्नान के समय हमने समझा, जब वे तुम्हारे अनुराग में मग्न हो गये थे *।'

अपने इसी वार्तालाप के सिलसिले में विमल विज्ञान और वैराग्य का संकेत देते हुए भरद्वाज ऋषि ने कहा—'राम का स्नेह तुम पर इतना है, जितना जड तथा अज्ञानी मनुष्य का स्नेह जीवन और जगत् के सुखों से रहता है §।' भरत के समान विमल विज्ञानी और विमल विरागी ऐन्द्रिक सुखोपभोगों से ऊपर उठ कर आत्मा के सौन्दर्य को जागृत करता है, अपने विमल विज्ञान और वैराग्य से लोकमंगल की साधना करके।

भरद्वाज ने आगे भरत से यही कहा है—'हमारे मत से तुम राम के स्नेह के अवतार हो। राम का स्नेह तुम्हारे रूप में पृथ्वी पर उतर आया है। तुम्हें मिला हुआ यह कलंक भी धन्य है जो हमें यह उपदेश दिला सका। राम की भक्ति के रस की सिद्धि

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा२०४ के पहले। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २०४ के बाद। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २०५। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २०६ के बाद। § वही।

के लिए यह समय बड़ा मंगलमय है। तुम्हें देख कर राम की भक्ति के रस की सिद्धि की ओर हम लोग भी बढ़ सकेंगे ‡।'

गोस्वामी जी ने इस विमल वैराग्यमय प्रेम की स्तुति बड़े प्रभावशाली शब्दों में भरद्वाज जी से करायी है। वे भरत से कहते हैं—'आपका विमल यश द्वितीया के निष्कलंक चन्द्रमा की तरह है। राम के भक्त कुमुद और चकोर बन कर इसकी ओर देखते रहेंगे। यह हमेशा उदित ही रहेगा, कभी अस्त न होगा। संसार के आकाश में यह घटेगा नहीं, दिन-दिन दूना ही होता जाएगा। त्रिलोकरूपी कोक इससे बड़ा प्रेम करेगा। राम का प्रतापरूपी सूर्य तुम्हारे यश के चन्द्रमा के सौन्दर्य को कम न कर सकेगा †।'

इस कांड के नायक के लिए दिया गया भरद्वाज का यह बहुत बड़ा सम्मान है, जिसमें भरद्वाज यह स्वीकार करते हैं कि राम का बढ़ता हुआ प्रताप भरत की पवित्रता के चन्द्रमा में उज्ज्वलता ही उत्पन्न करेगा।

आगे भरद्वाज फिर कहते हैं—'तुम्हारे यश का यह विमल चन्द्र रात-दिन सबको सुखद रहेगा। कैकेयी के कर्तव्यों का राहु इसे ग्रस्त नहीं कर सकेगा। तुम्हारे यश का यह विमल चन्द्र राम के सुन्दर प्रेम के अमृत से पूर्ण है। चन्द्रमा को अपने गुरु बृहस्पति की पत्नी के प्रति वासनामय आसक्ति का दोष लगा था, पर तुम्हारे यश के इस विमल चन्द्र को गुरुओं का अपमान करने का दोष कभी नहीं लग सका है। तुमने अमृत को पृथ्वी के लिए सुलभ बना दिया। राम के भक्त अब इस राम-प्रेम के अमृत को पी कर अघा जाएँगे। तुमने अपनी कीर्ति के अनुपम चन्द्र की सृष्टि की, जिसमें राम का प्रेम मृग बन कर बैठा है। तुम्हारे मन में यह प्रेम उत्पन्न हो गया है। इस पर आघात लगने की आशंका से तुम्हें ग्लानि हो रही है। पर दरिद्र को ही पारस पा कर उसके खो जाने का भय होना चाहिए। तुम्हारा विमल विज्ञान और वैराग्यमय हृदय परम उदार और धनी है। वह राम-प्रेम का सुरक्षित कोष है। उसमें सुरक्षित रखा हुआ राम-प्रेम कभी नहीं खो सकता। सब साधनों का सुन्दर परिणाम लक्ष्मण, राम और सीता का दर्शन है और उस दर्शन का फल तुम्हारा दर्शन है। तुम धन्य हो §।' प्रयाग के आकाश ने भी धन्य की ध्वनि भरत के लिए भेजी। अपने को राम का कृपापात्र समझ कर भरत राम-प्रेम में मग्न हो गये। उन्होंने रोमांच से अपने शरीर को सीताराम से अपने हृदय को तथा कमल के समान अपनी आँखों को स्नेह के जल से भर लिया *।

सांसारिक सुखों के प्रति, भरत के भीतर, प्रिय के वियोग के समय विमल विज्ञान के अद्वैत में उत्पन्न विमल वैराग्यजन्य तीव्र अनासक्ति रहती है। भरद्वाज की सभा को भरत ने जो उत्तर दिया वह भी विमल विज्ञान और विमल वैराग्य का एक बड़ा सुन्दर

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २०७ और उसके पहले। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २०७ के बाद। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २०७ के बाद से ले कर दोहा २०८ के बाद तक। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २०९ और उसके पहले।

उदाहरण है। उन्होंने कहा—'माता के कारनामों का सोच मुझे नहीं है। हमें इसका भी दुःख नहीं है कि संसार हमें नीच समझेगा। मुझे इस बात का भी डर नहीं है कि हमारा परलोक बिगड़ जाएगा। पिता की मृत्यु का शोक भी हमें नहीं है। उनका सुकृत तो संसार भर पर छाया हुआ है, लक्ष्मण और राम के समान पुत्र उन्होंने पाये, राम के विरह में उन्होंने क्षणभंगुर शरीर को छोड़ कर अपने को मंगलमय बना लिया। उनके लिए शोक करने का कोई प्रसंग ही नहीं है। राम, लक्ष्मण और सीता खुले पैर मुनि के वेष में वन-वन फिर रहे हैं। मृगचर्म को उन्होंने वस्त्र बना लिया है तथा फल को भोजन और कुश और पत्ते को बिस्तर। वृक्षों के नीचे निवास करके वे हिम, धूप, वर्षा और वायु के आघातों को सहते हैं। इसी दुःख की जलन से हमारी छाती दिनरात जल रही है। हमें न दिन में भूख लगती है और न रात में निद्रा ही आती है। हमने पूरे संसार को अपने मन में स्थान दे कर खोजा, पर इस रोग की दवा हमें नहीं मिली ‡।'

भरद्वाज ने भरत को समझाया और आतिथ्य स्वीकार करने के लिए उन्हें राज़ी कर लिया। इस स्वागत के लिए भरद्वाज ने अपनी सिद्धियों का उपयोग किया। स्वागत के लिए पृथ्वी पर उन सुखों की सृष्टि हो गयी, जिसे देख कर देवताओं का मन भी आकृष्ट हो जाए। पर परम पावन वैराग्य में सिद्ध भरत इतने अनुपम थे कि सिद्धियों को भी 'राम-लघु-भाई' † 'अतुलित अतिथि' $ दिखाई पड़े। ब्रह्मा को भी विस्मय में डालने वाली भरद्वाज के द्वारा की गयी स्वागत की तैयारी विमल विरागी भरत को आकृष्ट न कर सकी। केवल ऋषि की आज्ञा का अनुसरण करने के लिए वे उस पिंजड़े में बन्द भर हो गये।

गोस्वामी जी का भक्तिदर्शन यही मानता है कि परमात्म-प्रेम की अनुभूति प्राप्त कर लेने वाला साधक विमल वैराग्य की सिद्धि कर लेता है। संसार की कोई सम्पत्ति उसे आकृष्ट नहीं कर सकती। परम मूल्यवान् राम को प्राप्त कर लेने के बाद कोई मूल्यवान् वस्तु उसे आकृष्ट नहीं कर सकती।

गोस्वामी जी ने कहा है—"संपति चकई भरतु चक मुनि आयसु खेलवार। तेहि निसि आस्रम पींजरा राखे भा भिनुसार *"—सम्पत्ति चकई की तरह और भरत चकवे की तरह थे। मुनि की आज्ञा तो केवल खेल का ही महत्त्व पा सकी। आश्रम ने केवल पिंजड़े का काम किया। चक्रवाक और चक्रवाकी अपने नैसर्गिक स्वभाव के कारण रात में नहीं मिलते।' नदी के दोनों किनारों पर बँट जाते हैं। यदि खिलवाड़ करने के लिए उन्हें पकड़ कर पिंजड़े में भी रख लिया जाए तब भी वही निसर्ग उनके भीतर काम करता रहता है। वे एक दूसरे से अलग-अलग ही रहते हैं। मुनि की आज्ञा ने खेल-खेल में उस रात्रि में आश्रम के पिंजड़े में सम्पत्ति चक्रवाकी और भरत चक्रवाक को बन्द कर दिया। ये दोनों

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २०९ के बाद से दोहा २१० के बाद तक।
† रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २१२ के बाद। $ वही। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २१४।

रात्रि भर उसमें रहे; पर भरत के हृदय में उस सम्पत्ति के प्रति कोई आसक्ति न पैदा हुई। भरत रूपी चकवा विमल विज्ञान और विमल वैराग्य में सिद्ध था; इसीलिए सम्पत्ति के आकर्षण का प्रभाव उस पर न पड़ा।

विमल विज्ञान और वैराग्ययुक्त भक्त को भगवान् अपने से भी अधिक महत्त्व देता है। विमल विज्ञान प्रकाशमय होता है। उसके आलोक में सब रहस्य स्पष्टतः व्यक्त होने लगते हैं। इसीलिए इस कांड में गोस्वामी जी ने भक्ति-सम्बन्धी रहस्यों को भी प्रकाश में लाया है। संतों का सर्वसम्मत सिद्धान्त तुलसी भी स्वीकार करते हैं कि भक्त को भगवान् बहुत अधिक प्रिय होता है, इसीलिए वह भक्त को अपने से भी अधिक महत्त्व देता है। कभी-कभी वह ऐसी भी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देता है, जिनमें भक्त भगवान् से भी श्रेष्ठ दिखाई पड़ने लगता है। यहाँ गोस्वामी जी के भरत अपने उपास्य राम से भी श्रेष्ठ हैं। प्रयाग से चित्रकूट तक भरत और शत्रुघ्न नंगे पैर और बिना छत्र के गये। विमल वैराग्य के अपने इस साधक के लिए गोस्वामी जी कहते हैं—'भरत के प्रेम, नियम, व्रत और धैर्य असीम हैं। उनके इस अनुराग को देख कर देवताओं ने इतने फूलों की वर्षा की कि पृथ्वी कोमल और पथ मंगलमय हो गया। बादल ऊपर से छाया कर रहे थे तथा सुन्दर एवं सुखद वायु बह रही थी। जाने के समय राम का पथ भी ऐसा नहीं था जैसा कि भरत का हो गया। यहाँ राम से राम का दास बढ़ गया है‡।'

यहाँ गोस्वामी जी ने कहा है—'पथ पर जितने जड-चेतन जीवों ने भगवान् राम को देखा था वे सब मुक्ति के योग्य हो गये थे और भरत के दर्शन ने उनके संसार के बन्धन काट दिये। उनका भवरोग मिट गया†।' मुक्ति भवरोग के मिटने से ही मिलती है। राम के दर्शन से सब जड-चेतन केवल मुक्ति के योग्य बन गये थे, पर वह मुक्ति मिली उन्हें भरत के दर्शन से ही। भगवान् के दर्शन से जड-चेतन जगत् केवल मुक्ति के योग्य बना, पर यह योग्यता मुक्ति के रूप में परिणत हुई भरत के दर्शन से। गोस्वामी जी कहते हैं कि यह बात भरत के लिए कठिन नहीं है, जिसे राम भी अपने मन में स्मरण करते रहते हैं। इस संसार में एक बार भी राम का नाम ले लेने से व्यक्ति पावन हो जाता है। भरत तो राम के प्रिय और उनके छोटे भाई हैं, तब वे अपने पथ पर मंगल की सृष्टि क्यों न कर सकते$!

भरत के इस प्रेम को देख कर इन्द्र को यह भय होता है कि भरत राम को कहीं वापस न ले जाएँ। देवगुरु बृहस्पति से वे भरत के लक्ष्य की सिद्धि में बाधा डालने में सहायत्ता माँगते हैं और इस प्रकार इन्द्र फिर छल करना चाहते हैं।

विमल विज्ञान और वैराग्य-युक्त भक्ति अमोघ और अजेय शक्ति वाली होती है। यह सत्य गोस्वामी जी के द्वारा इसी प्रकरण में प्रस्तुत किया गया है। भरत की बुद्धि और उनके हृदय में विकार उत्पन्न करके उनके राम-प्रेम को कुंठित करने के कुचक्र में जब इन्द्र ने

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २१५ और उसके पहले। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २१५ के बाद। $ वही।

वृहस्पति को सम्मिलित करना चाहा तव उसका उत्तर देते हुए वृहस्पति ने विमल विज्ञान की कुछ वातें की हैं। देवगुरु ने कहा—'माया-पति राम के सेवक से माया करने से वह माया प्रयोक्ता पर ही उलट पड़ती है। उस वार कैकेयी के विरुद्ध तुम्हारी सफलता राम की इच्छा के भीतर थी। इस वार तुम्हें हानि उठानी पड़ेगी। राम अपने प्रति किये गये अपराध पर क्रुद्ध नहीं होते, पर भक्त के अपराधी को वे अपनी क्रोधाग्नि से भस्म कर देते हैं। भरत के समान राम का स्नेही कोई नहीं है। संसार राम का जप करता रहता है और राम भरत का ही नाम रटते रहते हैं। भगवान् के भक्त की हानि की तुम्हें कल्पना भी न करनी चाहिए ‡।' लोकमंगल विधायक शील का विरोध विरोधी के लिए प्रयलंकर होता है। यही वात वृहस्पति ने देवराज को समझायी। 'तव कछु कीन्ह रामरुख जानी †' से यह वात स्पष्ट हो जाती है कि ईश्वरीय इच्छा (डिवाइन विल) का सिद्धान्त गोस्वामी जी स्वीकार करते हैं। इसी सत्य को प्रस्थापित करने के लिए उनके वृहस्पति इन्द्र से कहते हैं कि कैकेयी-प्रकरण में मैंने तुम्हारी सहायता राम के रुख को समझ कर की थी। विमल विज्ञान पूर्ण भरत के विरुद्ध राम की इच्छा कदापि नहीं जा सकती। विमल विज्ञान की अनंतता राम और भरत में है। राम अनंत विमल विज्ञान का रक्षक है। उसे धक्का देने वाले के लिए उसका क्रोध भयानक रूप धारण कर लेता है।

विमल विज्ञान की इसी वात पर अधिक वल देने के लिए वृहस्पति ने कहा—'राम को सेवक परम प्रिय होता है। सेवक के सेवक को देख कर वे सुखी होते हैं और उसके वैरी को देख कर उनकी क्रोधाग्नि भड़क उठती है। यद्यपि वे सम हैं, उनके भीतर राग और रोष नहीं रहते, पाप, पुण्य, गुण और दोष से वे परे रहते हैं, उन्होंने विश्व में कर्म को ही प्रधान वनाया है, उसी के अनुसार सव लोग फल पाते हैं, पर भक्त और अभक्त, आदर्श प्रेमी और आदर्श द्वेषी में वे भेद देखते हैं, अगुण, अलेख, अमान और एकरस होने पर भी भक्त के प्रेम से वँध कर, मर्यादाप्रेमी के प्रेम के वश में हो कर राम सगुण हो गये हैं। इसीलिए भरत की भक्ति को छोड़ तुम्हारे लिए कोई दूसरा पथ नहीं है। भरत, रामभक्त दूसरों के परमहितेच्छु, दूसरों के दुःख से पीडित रहने वाले और दयालु हैं। इन भक्त शिरोमणि से तुम्हें नहीं डरना चाहिए $।'

विमल विज्ञान और वैराग्य के भीतर का वियोग विवेक को साथ ले कर चलता है। गोस्वामी जी ने प्रेम के भीतर रहने वाले वियोग को विवेक के साथ रख कर भी विमल विज्ञान की सिद्धि की है। विमल विज्ञान वियोग को विवेक का सुन्दर वरदान दे कर और अधिक सुन्दर वना देता है। इसीलिए अपने भरत के वियोग का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—'वियोग के समुद्र में डूवते हुए भरत विवेक के जहाज पर चढ़ गये।' —"होत मगन वारिधि विरह चढ़े विवेक जहाज *।" भरत के इसी विमल विज्ञानमय शील के

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २१६ के वाद से दोहा २१७ तक। † वही। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २१७ के वाद से दोहा २१८ तक। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २१९।

कारण भगवान् राम ने क्रुद्ध लक्ष्मण को समझाते हुए कहा—'भरत के समान आदर्श पुरुष ब्रह्मा की सृष्टि के भीतर न देखा न सुना है ‡।'

विमल वैराग्य की पराकाष्ठा हमें गोस्वामी जी के भरत में दिखाई पड़ती है। 'भरतहि होइ न राजमद विधि-हरि-हर-पद पाइ। कबहुं कि कांजी सीकरनि छीरसिन्धु विनसाइ †।' ये शब्द राम ने लक्ष्मण से कहे हैं। जब चित्रकूट में लक्ष्मण को यह समाचार मिला कि भरत चतुरंगिणी सेना के साथ आ रहे हैं, तब उन्होंने समझा कि राज्य पा कर भरत को मद हो गया है और वे राम पर आक्रमण करने आ रहे हैं। यह बात उन्होंने राम से कही भी। इसके उत्तर में राम ने कहा—'ब्रह्मा, विष्णु और शिव का पद पा कर भी भरत को राजमद नहीं हो सकता $।' भगवान् राम ने हृदय से यह अनुभव किया था कि भरत विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के इतने बड़े महासागर हैं कि उनके अनंत धैर्य पर राजा का पद मिलने का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। साधारण राजा के पद के प्रलोभन की तो कोई बात ही नहीं की जा सकती। भरत के धैर्य का महासागर ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव का पद पा कर भी विचलित न हो सकेगा।

यहाँ गोस्वामी जी ने विमल विज्ञान और विमल वैराग्य से उत्पन्न हुई भरत की अनन्त धवल धीरता को क्षीरसागर की तरह तथा विधि, हरि तथा हर के पदों को खटाई के कुछ कणों के समान देखा है। भरत की धीरता के धवल क्षीरसागर के सम्मुख विधि, हरि तथा हर के पद खटाई के दो-तीन कणों की तरह हैं। जिस तरह खटाई के दो-तीन कणों से दूध का समुद्र नहीं प्रभावित होता उसी तरह भरत के धैर्य का, उनके विमल विज्ञान और वैराग्य का धवल समुद्र ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के पदों को पा कर भी नहीं प्रभावित हो सकता। विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के स्वभाव को भरत के जीवन के चित्रों के द्वारा गोस्वामी जी समझा देना चाहते हैं। इस सोपान के नायक के जीवन के भीतर विमल विज्ञान और विमल वैराग्य, परीक्षा की कठोर अग्नि में तप कर चमक उठे हैं। उनकी पवित्रता की साक्षी देने के लिए स्वयं भगवान् राम ने लक्ष्मण से चित्रकूट में भरत के आने के पहले कहा है—"लखन तुम्हार सपथ पितु आना, सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना *।" राम ने लक्ष्मण की और पिता के सम्मान की शपथ ले कर भरत के शील की साक्षी यहाँ दी है।

राम ने आगे और कहा है—'दूध श्रेष्ठ गुण वाला तथा जल हीन गुण वाला होता है, पर ब्रह्मा की रचना में वे दोनों मिले हुए हैं। सूर्यवंश के सरोवर में भरत हंस की तरह हैं। जन्म ले कर गुणदोषों को उन्होंने अलग-अलग कर दिया है। गुणरूपी दूध को ले कर अवगुण रूपी जल को उन्होंने छोड़ दिया है। उनके यश से जगत् प्रकाशित हो गया है §।'

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २३० के पहले। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २३०। $ वही। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २३० के बाद। § वही।

भरत के गुण, शील और स्वभाव में इतना प्रभाव है कि भगवान् राम उनका ध्यान करके प्रेम के समुद्र में मग्न हो गये। उनकी इस दशा को देख कर गोस्वामी जी के देवताओं ने राम से कहा है—'यदि भरत का जन्म न होता तो सम्पूर्ण धर्म की धुरा को कौन अपने कन्धे पर उठाता। भरत के गुणों की कहानी कविकुल के लिए अगम्य है। आपके विना उसको कौन जान सकता है ‡।' पवित्रता की अनंत गम्भीरता को अनंत गम्भीर पवित्रता का शील ले कर ही मनुष्य पहचान सकता है। अनंत पवित्रता की निवासभूमि राम में थी। इसीलिए भरत के शील की गम्भीरता का उन्हें पता था।

भगवान राम के चित्रकूट के निवासस्थल को गोस्वामी जी ने विमल विज्ञान की राजधानी के रूप में देखा है। भगवान राम के चित्रकूट के निवासस्थल की एक राज्य के रूप में कल्पना करके रूपक की पद्धति के द्वारा गोस्वामी जी ने विमल विज्ञान और विमल वैराग्य का बड़ा सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। 'राम के निवास के पास वन की सम्पत्ति इस तरह चमक रही है, जिस तरह आदर्श राजा को पा कर सुखी प्रजा चमकती है। इस राज्य में विमल वैराग्य मन्त्री है। विमल विज्ञान (विवेक) राजा है। सुन्दर वन ही उस राज्य का पावन प्रदेश है। यम और नियम योद्धा हैं। पर्वत राजधानी है। सुमति के भीतर उत्पन्न हुई शान्ति ही इस प्रदेश की पवित्र और सुन्दर रानी है। राम के चरणों में लगे हुए मन का भाव ही सब राज्यांगों से सम्पन्न सुन्दर राजा है। विवेक रूपी राजा की सहायता से मोह रूपी राजा की सेना को जीत कर इस पुर में सुख-सम्पत्ति और सुन्दर समय अकंटक राज्य करते हैं †।' राम का यह राज्य विमल विज्ञान और वैराग्य का ही राज्य है। इस राज्य की सीमा में राम के चरणों के चिह्न देख कर भरत को इतना हर्ष हुआ जितना कि रंक को पारस पा कर होता है। भरत के इस विमल विज्ञानमय प्रेम का तुलसी ने इस प्रकार वर्णन किया है—'प्रेम अमृत है, विरह मन्दराचल के समान है, भरत गम्भीर समुद्र की तरह हैं। उसे मथ कर सुर और साधुओं की भलाई के लिए कृपासिन्धु रघुवीर प्रकट हुए $।' भरत के समान महात्माओं के हृदय-समुद्र जब आदर्श का दर्शन करने के लिए व्याकुल हो जाते हैं तब उसकी पुकार से भगवान् के अवतार होते हैं। स्वर्गीय जीवन इसी आदर्श के गम्भीर समुद्र के मन्थन से उत्पन्न होता है। आदर्श का निरन्तर मनन (मंथन) स्वर्गीय जीवन को उत्पन्न कर देता है।

स्वर्गीय जीवन की उत्पत्ति की बड़ी सुन्दर प्रक्रिया गोस्वामी जी ने प्रस्तुत की है। उनके अनुसार, स्वर्गीय जीवन को, विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के अनंत समुद्र को पृथ्वी पर उतार लेने के लिए साधक का हृदय भी अनंत समुद्र के समान व्यापक, गम्भीर और उदार होना चाहिए। स्वर्गीय जीवन के अभाव को पृथ्वी पर देख कर यह अनंत महासागर के समान हृदय जितना अधिक व्याकुल होगा, उस अभाव की पूर्ति करने के लिए स्वर्गीय जीवन, परमात्मा, उतनी ही शीघ्रता से पृथ्वी पर उतर आएगा। भरत का

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २३१ के बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २३४ के पहले। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २३७।

हृदय इसी तरह विराट् महासागर था। उसमें अनंत आदर्श को पृथ्वी पर उतार लेने के लिए व्याकुलता उत्पन्न हो गयी थी। इसीलिए विरह रूपी मन्दराचल के मंथन द्वारा उसमें से प्रेम के अमृत को ले कर भगवान् राम पृथ्वी पर उतर आये। स्वर्गीय जीवन चारों तरफ़ छा गया। विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के समुद्र से जगत् का जीवन आप्लावित हो गया।

स्वर्गीय जीवन का यह आदर्श केन्द्र जिस स्थान में निवास करता है उसके चारों ओर विमल विज्ञान और विमल वैराग्य का पावन प्रकाश छाया रहता है। इसीलिए भगवान् राम के आश्रम में भरत के प्रवेश का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी ने लिखा है—'करत प्रवेश मिटे दुखदावा। जनु जोगी परमारथु पावा‡।' उस आश्रम में प्रवेश करते ही भरत विमल विज्ञान और वैराग्य की अभेदानुभूति की समाधि में मग्न हो गये। चित्रकूट की उस सभा में मुनियों के बीच में सीता और राम ऐसे प्रतीत हो रहे थे जैसे ज्ञान की सभा में भक्त और भगवान् सशरीर उतर आये हों†।'

गोस्वामी जी की राम-भक्ति में ज्ञान और प्रेम का सन्तुलन ही पग-पग पर दृष्टि-गोचर होता है। भक्ति और भगवान् की ज्ञानमय अनुभूति ही तुलसी के विमल विज्ञान के सिद्धान्त के भीतर स्थान पाती है। बिना ज्ञान के भक्ति की स्थिति को गोस्वामी जी स्वीकार ही नहीं करते। इसीलिए उनकी भक्ति केवल अन्धकारमय आवेश नहीं; प्रकाश-मय जागरूकता है। उसके कारण व्यक्ति मूर्छा के अन्धकार में नहीं, ज्ञान के प्रकाश के आलोक में प्रवेश पा लेता है। इस ज्ञान के प्रकाश के आलोक का स्वरूप 'सियाराममय सब जग'$ की अभेदानुभूति का प्रकाश है जो 'छान्दोग्य' के ऋषि को 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' * में अनुभूत हुआ था।

भरत का राम-प्रेम विराट् आनन्द की अभेदानुभूति की प्रकाशमय समाधि है। इस अभेद की अनुभूति में वैयक्तिक जीवन के हर्ष-शोक, सुख-दुःख सब समाप्त हो जाते हैं। केवल विराट् आनन्द का प्रकाश ही अवशिष्ट रह जाता है। इसी स्थिति में भरत का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी ने लिखा है—'सानुज सखा समेत मगन मन, बिसरे हरष-सोक-सुख-दुख गन§।' भक्ति की इस सीमा पर पहुंचे हुए व्यक्ति के भीतर भगवान् के सान्निध्य का अनुभव करके, भगवान् से मिल कर जिस आनन्द का अनुभव होता है वह कविकुल के कर्म, मन और वाणी के लिए अगम्य होता है। जब तक कवि भी कर्म, मन और वाणी से इस आनन्द का अनुभव स्वतः न कर ले तब तक इस मिलन-प्रीति का वर्णन वह नहीं कर सकता। परम प्रेम की इस अवस्था को प्राप्त करके, मन, बुद्धि और चित्त अहंकार को खो देते हैं। अपने अस्तित्व को भूल जाते हैं—"परम प्रेम पूरन दोउ भाई, मन, बुधि, चित अहमिति बिसराई×।" गोस्वामी जी ने इस परम प्रेम की चर्चा करते

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २३७ के बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २३८। $ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७ के बाद। * छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय ३, खंड १४, कंडिका १। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २३८ के बाद। × रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २३९ के बाद।

हुए लिखा है—'सुप्रेम को कौन व्यक्त कर सकता है। वाणी और वुद्धि तो उस प्रेम को पा ही नहीं सकते। उन्हीं के धर्म (शब्द और अर्थ) कवि का सच्चा वल होते हैं। वे इस प्रेम की छाया भी नहीं प्राप्त कर सकते। ताल की गति का अनुसरण करके ही नर्तक नाचता है पर असीम प्रेम तो ताल, लय और गति सव का अतिक्रमण कर जाता है। भरत-रघुवर का स्नेह अगम है। वहाँ तो ब्रह्मा, विष्णु और शिव का मन भी नहीं पहुंच पाता ‡।' विमल विज्ञान और विमल वैराग्य की निर्मलता के भीतर इसी प्रकार के प्रेम का विकास होता है। गोस्वामी जी ने विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के पूर्णपात्र अपने नायक भरत के भीतर इसी परम पावन प्रेम का दर्शन किया है। अपने नायक को, जो परम भक्त हो चुका है, गोस्वामी जी ने ब्रह्मा, विष्णु और शिव के ऊपर स्थान दिया है।

निश्छल प्रेम का प्रवाह आत्मविस्मृति की समाधि है। इस निश्छल प्रेम का प्रवाह चित्रकूट में इतना तीव्र था कि उसमें पड़ कर आनन्दमग्न लोग न किसी से कुछ कहते थे, न पूछते थे। सव लोग मन की निश्चल अवस्था पर पहुँच चुके थे, इस अवस्था पर पहुँचे हुए मन को समाधि के निश्चल मन के समकक्ष गोस्वामी जी ने देखा है। पतंजलि के योगसूत्र के अनुसार योग चित्त की वृत्तियों का निरोध है—"योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः †। इस प्रेमयोग की अवस्था में भी मन की गति का निरोध गोस्वामी जी ने देखा है। उनके अनुसार मन जव प्रेम से भर जाता है तव वह अपनी गति के लिए रिक्त हो जाता है। उसकी गति उसमें अवशिष्ट नहीं रह जाती। उसकी गति रुक जाती है। उसकी वृत्तियों का निरोध हो जाता है—'कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा, प्रेम भरा मनु निज गति छूछा §।'.

प्रेम के प्रभाव से अणु और महान् दोनों समान हो जाते हैं। प्रेम के इस आलोक में ऋषि वसिष्ठ के भीतर से भी जातिगत भेद दूर हो जाता है। और विमल विज्ञान का आलोक उसका स्थान ले लेता है। प्रेम से पुलकित हो कर अपना नाम वता कर केवट दूर से ऋषि को दंडवत् प्रणाम करता है, पर रामसखा को ऋषि वरवस हृदय से लगा लेते हैं। गोस्वामी जी ने इस स्थिति को व्यक्त करने के लिए उत्प्रेक्षा के वड़े सुन्दर, सीमित, पर हृदय को छूनेवाले शब्दों का प्रयोग किया है—"रामसखा रिपि वरवस भेंटा, जनु महि लुठत सनेह समेटा *।" पृथ्वी पर पड़ कर प्रणाम करता हुआ केवट ऋषि को ऐसा प्रतीत हुआ मानो स्नेह भूमि पर गिर कर धूल में विखर गया हो। उस विखरी हुई प्रेम की अमूल्य निधि को ऋषि ने समेट कर हृदय से लगा लिया। इस स्थिति को समझाते हुए गोस्वामी जी ने लिखा है—"रघुपति भगति सुमंगल मूला §।" राम की भक्ति सव मंगलों की जननी है। उसे प्राप्त करके जीव जगत् के भेदों के ऊपर उठ कर विमल विज्ञान के आलोक से आलोकित हो उठता है। गोस्वामी जी ने कहा है—'केवट के समान

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २३९ के वाद। † पातंजल दर्शन, समाधिपाद, सूत्र २ § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २४१ के पहले। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २४१ के वाद। § वही।

नीच कोई नहीं है। वसिष्ठ के समान संसार में बड़ा भी कोई नहीं है। पर इस केवट को देख कर मुनिराज इससे इतने अधिक आनन्द की अनुभूति के साथ मिले जितना आनन्द उन्हें लक्ष्मण से भी मिलने से नहीं हुआ। यह केवट के भीतर स्थान पाने वाली सीताराम की भक्ति के प्रताप का प्रत्यक्ष प्रभाव है‡।'

विमल विज्ञान के सिद्धान्त के भीतर ब्रह्म की सर्वव्यापिनी अद्वैतता का संकेत, गोस्वामी जी ने भगवान् राम की सर्वव्यापकता की अलौकिक शक्ति दिखा कर यहाँ फिर से दिया है। राम ने लोगों को पीड़ित समझ कर लक्ष्मण के साथ एक ही पल में सबसे अलग-अलग और एक ही साथ भेंट की और उनके भावों की अलग-अलग अभिलाषाओं को पूर्ण कर दिया। सब का दारुण दुःख दूर हो गया। इस बात को दार्शनिक अभेदवाद और सर्वव्यापकतावाद की अद्वैतता से गोस्वामी जी ने बड़े स्वाभाविक उपमान वाक्य के द्वारा समझा दिया है—"यह बड़ि बात राम कै नाहीं, जिमि घट कोटि एक रवि छाहीं†।" सर्वव्यापी राम के लिए यह कोई बड़ी बात नहीं है। जिस तरह जल से भरे हुए करोड़ों घड़ों में सूर्य का बिम्ब एक साथ दिखाई पड़ जाता है उसी तरह सब चेतन और प्रेम-जल से भरे हुए जीवों के भीतर सर्वांतर्यामी राम ब्रह्म एक साथ ही दिखाई पड़ गया। एक पल में ही राम उन सब लोगों से मिले।

इसी दृष्टिकोण से सीताराम की अभिन्नता और उनकी सर्वव्यापकता का संकेत देने के लिए गोस्वामी जी ने इसी प्रकरण में सीता के भी बहुरूपों की चर्चा की है—"सीय सासु प्रति वेष बनाई, सादर करइ सरिस सेवकाई। लखा न मरमु राम बिनु काहू, माया सब सियमाया माहू$।" जितनी सासें थीं सीता ने उतने ही रूप बनाये और सब की एक ही तरह से सेवा की। इस रहस्य को राम के सिवा किसी ने न जाना। संसार की सम्पूर्ण माया सीता की माया में ही रहती है। सीता और राम के लौकिक और अलौकिक स्वरूप को समझा देना भी तुलसी की विमल विज्ञान संपादन योजना के भीतर है। अद्वैत के मायाविशिष्ट हो जाने का पूरा स्वरूप इसी प्रकार गोस्वामी जी ने अपनी जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया है। उसके अद्वैत रूप की अनन्तता तथा मायाविशिष्ट रूप की मर्यादित सान्तता दोनों को अनुकूल अवसर पर गोस्वामी जी दिखाते गये हैं। अपनी इस पद्धति के द्वारा भ्रम मिटा कर लोगों में विमल विज्ञान की उत्पत्ति कर देना गोस्वामी जी का लक्ष्य है।

इसी बीच में राम के लौटने और न लौटने के असमंजस में भरत पड़े रहे। चित्रकूट की सभा प्रारम्भ हुई। यहाँ राम के व्यक्तित्व और उनके जन्म के प्रयोजन को सभा के सामने वसिष्ठ से रखवा कर विमल विज्ञान के एक परिणाम की सिद्धि गोस्वामी जी ने की है। 'धरम धुरीन भानुकुल भानू, राजा रामु स्ववसु भगवानू*।' से अवतार के व्यक्तित्व का तथा 'सत्यसंध पालक स्रुति सेतू, रामजनमु जगमंगल हेतू§।' से उसके प्रयोजन की

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २४२ और उसके पहले। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २४२ के बाद। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, सोरठा २५० के बाद। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २५२ के बाद। § वही।

ओर संकेत कर दिया गया है। राम, माता-पिता और गुरु के आज्ञापालक, दुष्टों का दमन करने वाले तथा देवताओं के हित की सिद्धि करने वाले हैं। नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थ का ठीक-ठीक रहस्य राम को छोड़ और कोई नहीं जानता। इन सबका विमल विज्ञान राम को ही है‡। गोस्वामी जी ने विमल विज्ञान को अध्यात्म दर्शन तथा व्यवहार-दर्शन—दोनों के सम्यक् ज्ञान के लिए प्रयुक्त किया है और इन दोनों को ले कर ही विशिष्टाद्वैत का दर्शन अग्रसर होता है। अद्वैत के साथ अध्यात्म-दर्शन तथा विशिष्ट के साथ व्यवहार-दर्शन संबद्ध हो जाता है। चित्रकूट की यह सभा व्यवहार-दर्शन का सम्यक् ज्ञान या विमल विज्ञान प्रस्तुत करती है।

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, चन्द्र, सूर्य और दिक्पाल, माया, जीव, कर्म, सम्पूर्ण काल, शेषनाग, पृथ्वी के राजा इत्यादि शक्तियाँ, निगम और आगमों के द्वारा बतायी हुई योग की सिद्धियाँ, विचार करके देखने पर राम की आज्ञा सब के सिर पर हैं†। यह तुलसी के वसिष्ठ के द्वारा प्रस्तुत अद्वैत की शक्ति है। 'राखे राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ§' में वसिष्ठ ने विशिष्टाद्वैत अवतारी राम की चर्चा की है। अद्वैत परमार्थ की सिद्धि करता है, विशिष्टाद्वैत अवतारी राम संसार के स्वार्थ को भी सिद्ध कर देता है।

विमल विज्ञान और वैराग्य के आधार पर चित्रकूट की सभा में जीवनदर्शन के विराट् आदर्श की स्थापना की गयी है।

अवतारी राम को अयोध्या के राजा की तरह वापस लौटा ले जाने की भूमिका प्रस्तुत करके वसिष्ठ सभा का परामर्श चाहते हैं। यहाँ भरत और शत्रुघ्न के विमल वैराग्य की बहुत बड़ी परीक्षा हुई। जब मुनि के राय माँगने पर भरत ने कहा कि हमारे ही कारण राम की यह दशा हुई और हमारा यह और बड़ा दुर्भाग्य है कि हमें ही आगे का उपाय सुनाना पड़ेगा*। इस पर वसिष्ठ ने यह प्रस्ताव रखा कि भरत और शत्रुघ्न वन चले जाएँ और सीता, राम तथा लक्ष्मण को वापस कर दें। इस प्रस्ताव को सुन कर भरत और शत्रुघ्न का सिद्ध विमल वैराग्य मन के भीतर से निकल कर सारे शरीर पर अपने अनुभावों के रूप में प्रकट हो गया। उनके शरीर आनन्द से भर गये। मन प्रसन्न हो उठे तथा शरीरों पर तेज छा गया। उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि पिता फिर से जीवित हो गये और राम राजा हो गये§। भरत ने कहा—'कानन करउं जनम भरि बासू, एहितें अधिक न मोर सुपासू×।'—'सीताराम अन्तर्यामी हैं और आप सर्वज्ञ हैं। यदि आपने सत्य ही ऐसा प्रस्ताव किया है तो उसे सत्य कोजिए। भरत जीवन भर के लिए वन में रहने के लिए प्रस्तुत हैं+।'

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २५२ के बाद। † वही। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २५३। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २५४। § रामचरित-मानस, अयोध्याकांड, दोहा २५४ के बाद। × वही। + रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २५५।

गोस्वामी जी ने भरत के विराट् वैराग्य को यहाँ बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है—भरत का गौरव महासागर की तरह है। मुनि की बुद्धि अवला नारी की तरह उसके किनारे ही खड़ी रह गयी। पार जाने का कोई साधन उसे नहीं मिला‡।

यहाँ से यह सभा राम के पास आती है। वसिष्ठ राम से प्रस्ताव करते हैं—'आप सबके हृदय में निवास करने के कारण सबकी भावनाओं को जानते हैं। ऐसा उपाय आप बताएँ जिससे सब पीड़ितों का हित हो। पीड़ित स्वयं अपनी पीड़ा दूर करने के उपाय नहीं बता सकता†।' सर्व समर्थ राम का विमल वैराग्यपूर्ण शील यहाँ प्रकट हो जाता है। नम्रता के कारण वे राय देने की अपनी समर्थता का उचित प्रदर्शन भी छोड़ देते हैं, और भार गुरु पर डाल देते हैं—उनकी आज्ञा मानने को हर तरह से प्रस्तुत हो कर। मुनि भरत की प्रार्थना स्वीकार करने को कहते हैं। राम, पिता और मुनि की शपथ ले कर कहते हैं कि संसार में भरत के समान भाई नहीं पैदा हुआ। मैं भरत के कहने के अनुसार करने को प्रस्तुत हूँ§।

इस पर भरत ने राम पर घटी वही दुर्घटना दुहरायी, दुर्भाग्य ने जिसके लिए उन्हें बरबस कारण बना लिया था, और शोक में मग्न हो गये। उनके इस शोक को दूर करने के लिए राम कहते हैं—'मेरे मत में संसार के पवित्र ख्याति वाले सब लोगों में तुम श्रेष्ठ हो। जिनको गुरुओं और साधुओं की सभा का लाभ नहीं मिला है, वे ही माता को दोष दे सकते हैं। जो लोग तुम्हारे नाम का स्मरण कर लेंगे, उनमें लोक में यश प्राप्त करने वाला शील तथा परलोक में सुख देने वाला धर्म उत्पन्न हो जाएगा। तुम्हारे शील का स्मरण करते ही सब अमंगल और पापों के प्रपंच नष्ट हो जाएँगे। शिव को साक्षी बना कर मैं सत्य कहता हूँ कि पृथ्वी तुम्हीं से रक्षा पा कर रक्षित है। राजा ने मुझे त्याग कर सत्य की रक्षा की और मेरे प्रेम के लिए अपना शरीर छोड़ दिया। उनकी आज्ञा का उल्लंघन करने में मुझे दुःख होता है, उससे भी अधिक मुझे तुम्हारा संकोच है। इस पर भी गुरु ने मुझे तुम्हारी ही बात मानने की आज्ञा दी है। मैं प्रस्तुत हूँ। मन को प्रसन्न करके और संकोच को छोड़ कर जो कहो मैं वही करूँगा*।

राम को इस तरह अपने विमल वैराग्य और विज्ञान से वश में करने वाले भरत के चरणों पर देवताओं ने अपने अनुराग की अंजलि अर्पित कर दी। देवगुरु बृहस्पति ने देवताओं को बताया कि भरत के नैसर्गिक विमल विज्ञान और विमल वैराग्य से राम उनके वश में हैं। भरत मर्यादा पुरुषोत्तम की छाया हैं§।

आदर्श सेवक भरत ने व्यवहार-दर्शन के अपने विमल विज्ञान और वैराग्य से इस बात का निश्चय कर लिया कि अपने स्वार्थ के लिए राम के समान अनंत कृपा वाले

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २५५ के बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २५६ और उसके बाद। § रामचरितमानस अयोध्याकांड, दोहा २५८ के पहले। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २६२ के पहले से दोहा २६३ तक। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २६४ के पहले।

स्वामी को संकट में नहीं डालना चाहिए। उनकी आज्ञा में ही हमारी भलाई होगी ‡। ऐसा निश्चित करके उन्होंने जो कुछ कहा उसमें उनके व्यवहार दर्शन का विमल विज्ञान स्पष्टत: परिलक्षित होता है। उन्होंने कहा—'अपने ऊपर गुरु और स्वामी का हर तरह का स्नेह देख कर मेरे मन की व्याकुलता मिट गयी। अब मुझे कोई सन्देह नहीं रह गया है। आप तो दया के समुद्र हैं ही। अब आप वही करें जिससे आपके इस जन का हित भी हो और आपके मन में किसी प्रकार का क्षोभ भी उत्पन्न न हो †। सेवक के भीतर धर्म पालन के लिए जिस विमल वैराग्य की आवश्यकता होती है वह भी भरत के शब्दों में स्थान पा गयी है। ऊपर के सिलसिले में ही वे राम से कहते हैं—'जो सेवक स्वामी को संकोच में डाल कर अपने हित की सिद्धि करता है वह नीच बुद्धि का होता है। उसके भीतर विमल विज्ञान नहीं होता। सेवक का हित तो सेवा-धर्म की पूर्ति में ही सिद्ध होता है। स्वामी की सेवा की पूर्ति हो उसका परम कर्तव्य तथा उसके व्यक्तित्व का परमोच्च विकास है। इस सेवा को उसे केवल सेवा के लिए ही करना चाहिए। इस सेवा के भीतर अपने सुख और लोभ की भावना नहीं होनी चाहिए। आप यदि अयोध्या लौट चलें तो सब लोगों का स्वार्थ तो आपके समान आदर्श राजा को पा कर सिद्ध हो जाएगा, पर आपकी आज्ञा का पालन करना इससे करोड़ों गुना अधिक अच्छा है। स्वार्थ और परमार्थ का सार यही है§।'

'यह स्वारथ परमारथ सारू' * कह कर भरत यही बताना चाहते हैं कि अपूर्ण मानव स्वार्थ ही देखता है, पर पूर्ण मानव (मर्यादा पुरुषोत्तम) का हर कार्य परम अर्थ (परमोच्च आदर्श) को सामने रख कर होता है। इसीलिए अपूर्णमानव को पूर्णता प्राप्त करने के लिए पूर्णमानव के आदेश के अनुसार कार्य करना चाहिए। पुरुषोत्तम का अनुसरण करने की यह प्रवृत्ति विकासोन्मुख मानव के भीतर सम्पूर्ण सुन्दर कार्यों के परिणाम के रूप में पैदा होती है। पुरुषोत्तम का यह अनुवर्तन ही सुन्दर आदर्शों का शृंगार है§।'

इसके बाद भरत कहते हैं—'एक प्रार्थना मैं करता हूँ। यदि आपको उचित मालूम पड़े तो स्वीकार कर लीजिए। तिलक की सम्पूर्ण सामग्री मैं सज्जित कर लाया हूँ। आपका मन यदि मानता है तो हमारे इस प्रयास को सफल कर दीजिए। शत्रुघ्न के साथ मुझे वन भेज कर सब लोगों को सनाथ कीजिए, नहीं तो दोनों भाइयों को वापस भेज दीजिए और मुझे अपने साथ ले चलिए, अन्यथा हम तीनों भाई वन चले जाएँ आप सीता के साथ अयोध्या चले जाइए। आप का मन जिस बात से प्रसन्न हो, वही करें। आपने निर्णय का पूरा भार मुझ पर छोड़ दिया, पर पीड़ित होने के कारण मेरे भीतर नीति और धर्म का ज्ञान नहीं रह गया है। मैं तो स्वार्थ की बात ही करूँगा। स्वामी की आज्ञा सुन कर जो सेवक मुहजोरी करता है उसे देख कर लज्जा भी लज्जित हो जाती है। मैं अवगुणों का अगाध महासागर हूँ और आपके स्नेह की प्रशंसा तो महात्मा लोग भी

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २६५ के पहले। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २६६ के बाद। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २६७ के पहले। * वही। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २६७ के पहले।

करते हैं। अब तो मुझे वही अच्छा लगेगा जिससे स्वामी का मन किसी तरह असमंजस में न पड़े। आपके चरणों की शपथ ले कर मैं पूरी सद्भावना से कहता हूँ कि जगत् के मंगल के लिए एक ही उपाय है—आप संकोच छोड़ कर प्रसन्न मन से जो आज्ञा देंगे उसे सब लोग नतमस्तक हो कर स्वीकार करेंगे और सब कठिनाइयाँ दूर हो जाएँगी ‡।'

सात्त्विक स्वभाव वाले व्यक्ति अपने सामने अधिक ऊँचा आदर्श देखते हैं तो उन्हें उस आदर्श के सामने अपनी हीनता का अनुभव हो जाता है। भक्ति के क्षेत्र में इस निरभिमानता की बड़ी आवश्यकता होती है। सात्त्विक शील वाले व्यक्ति आदर्श के प्रति विद्रोह का अपने साथ कोई सम्बन्ध देख कर पीड़ित होते हैं। वैसी ग्लानि के समय सात्त्विक बुद्धि अपने भीतर हीनता ही देखती है और आदर्श व्यक्ति में सब प्रकार के त्याग और महत्त्व उसे दिखाई पड़ते हैं। इस कांड का नायक सात्त्विक शीलवान् है; इसीलिए पवित्र ग्लानि और निरभिमानता का उसे अनुभव होता है।

विमल विज्ञान, विमल वैराग्य तथा हठपूर्ण वैराग्य और हठयोग में भी गोस्वामी जी ने सम्बन्ध स्थापित किया है। विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के सम्मिलित प्रभाव से जीवन में जो सात्त्विक प्रेम और उपासना के क्षेत्र में जो सहज अनासक्तिमय प्रेमभक्ति पैदा होती है, उसे गोस्वामी जी हठयोग और हठपूर्ण वैराग्य से श्रेष्ठ स्थान देते हैं। इसीलिए चित्रकूट में जब अयोध्या के निवासी स्नान करके देवताओं की पूजा के बाद उनसे वरदान माँगते हैं कि गुरुओं के समाज और भाइयों के साथ राम अयोध्या में राज्य करें, तब उस स्थिति का व्यापक प्रभाव दिखाने के लिए गोस्वामी जी ने कहा है—'अयोध्या निवासियों की स्नेहमय वाणी को सुन कर ज्ञानी मुनि लोग योग और वैराग्य की निन्दा करते हैं †।' गोस्वामी जी बुद्धियोगजन्य ज्ञान से हृदययोगजन्य प्रेम को अधिक महत्त्व देते हैं। इसीलिए उन्होंने अपनी उपासना-पद्धति में ज्ञान और भक्ति, बुद्धि और हृदय दोनों का समन्वय कर लिया है। उनके अनुसार बिना प्रेम के ज्ञान व्यर्थ है। उनकी भक्ति में ज्ञान और प्रेम दोनों हैं। अद्वैत का ज्ञान और विशिष्टाद्वैत के अवतारी ब्रह्म के लिए ज्ञानप्रेम-समन्वित भक्ति ही तुलसी की विचारधारा का निचोड़ है। अवतार के लिए बुद्धिजन्य श्रद्धा तथा हृदयजन्य प्रेम रहता है। इन्हीं दोनों के योग से प्रेमभक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

इस तरह के प्रेम में और योग की समाधि में कोई विशेष अन्तर नहीं रहता। विमल वैराग्य व्यक्ति से अनुपम त्याग कराता है। इस प्रकाश में छोटे से छोटा त्याग भी प्रेम के आलोक में सुन्दरतम हो जाता है। राम के अनन्त कर्म-सौन्दर्य के प्रति जनक के भीतर जो श्रद्धा है उसने उनके भीतर राम के प्रति अनन्त प्रेम भी पैदा कर दिया है। राम पावन हैं और जिन स्थानों में वे निवास करते हैं वे भी परम पवित्र हो जाते हैं। यह विमल विज्ञान जनक के भीतर है। इस विज्ञान के आधार पर चित्रकूट को भी वे पवित्र

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २६७ के पहले से २६८ तक। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २७२ के बाद।

मानते हैं और दूर से ही जब पर्वत दिखाई पड़ जाता है तो राम के प्रति श्रद्धा और प्रेम के कारण तथा चित्रकूट के लिए पावनत्व की भावना के कारण वे चित्रकूट को प्रणाम करके अपना रथ छोड़ कर पैदल चलने लगते हैं। यह भी विमल वैराग्य का एक उदाहरण है। राम के दर्शन के लिए उत्साह के कारण उनके भीतर किसी प्रकार के पथ-श्रम और कष्ट की चेतना नहीं रह जाती। प्रेमयोग की समाधि के कारण ही ऐसा हुआ है। मन जब राम के ध्यान में मग्न हो गया, तब उसमें से सब वेद्यान्तर विगलित हो गये। इस स्थिति का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी ने लिखा है—'मन तहं जहं रघुवर वैदेही, बिनु मन तन दुखु सुख सुधि केही ‡।"—मन तो वहाँ है जहाँ रघुवर और वैदेही हैं। बिना मन के शरीर के सुख दुःख की स्मृति किसे हो सकती है।

विमल विज्ञान और विमल वैराग्य से उत्पन्न हुआ प्रेम दार्शनिक ज्ञान और विराग की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली और शक्ति सम्पन्न होता है।

अयोध्या, मिथिला और चित्रकूट के समाजों के मिल जाने से भगवान् राम के आश्रम का रूपक के आधार पर गोस्वामी जी ने बड़ा भव्य वर्णन किया है। वे कहते हैं—'आश्रम एक सागर की तरह हो गया। वहाँ व्याप्त हो जाने वाला शान्त रस भरे हुए पवित्र जल की तरह है। मिथिला और अयोध्या की सेना मानो करुणा की नदी है और उसको भगवान् राम अपने साथ लिये जा रहे हैं। ज्ञान और विराग के किनारों को वह डुबाती हुई चली जा रही है। सशोक वचन इस नद से नाले की तरह मिल रहे हैं। शोकपूर्ण उच्छ्वास के रूप में वायु की लहरें धीरजरूपी तट-तरु को भंग कर रही हैं। विषम विषाद इसकी तीव्र धारा है। भय, भ्रम इत्यादि इसके अनंत भँवर और आवर्त हैं। बुद्धिमान् मनुष्य केवट हैं। विद्या उनकी बड़ी नाव है। पर वे इस नाव को आगे बढ़ा नहीं सकते, किंकर्तव्यविमूढ हो गये हैं। बेचारे वनवासी कोल-किरातों के हृदय, यह दृश्य देख कर हारे हुए पथिक की तरह थक गये हैं। सेना की यह नदी जब आश्रमरूपी समुद्र से आ कर मिली तब वह भी आकुल हो उठा है। दोनों राजसमाज शोक से व्याकुल हो गये हैं। न किसी के भीतर ज्ञान रह गया, न धैर्य और न लज्जा। शोक के समुद्र में डूब कर सब लोग यही सोच रहे हैं कि दुष्ट विधाता ने यह सब क्या कर दिया †।'

यहाँ पर गोस्वामी जी ने कहा है कि स्नेह की नदी को कोई पार नहीं कर सकता $। गोस्वामी जी की इसी दृष्टि ने विशिष्टाद्वैती दृष्टि से इस स्नेह की नदी को राम-स्नेह की नदी के रूप में परिवर्तित कर लिया है। अद्वैत चिन्तन की धारा कृपाण की तेज धार की तरह प्रतीत हुई और उस पर चलना साधारण जन के लिए अस्वाभाविक प्रतीत हुआ क्योंकि इस धार पर तो विरला अभ्यासी ही चल सकता है। यह सिद्धि अपवाद हो सकती है, नियम नहीं। पर शील का विकास सर्वसाधारण के लिए अनिवार्य है। इसी-

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २७३ के बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २७४ और बाद वाला छन्द। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, सोरठा २७५ के पहले का छन्द।

लिए अद्वैत चिन्तनधारा को छोड़ कर आचार्य रामानुज विशिष्टाद्वैत की ओर चले आये। उनके अनुसार माया भी पवित्र हो जाती है, यदि वह राम की दासी की तरह काम करने लगे। वस्तुतः वह ऐसा ही कर रही है, पर साधारण जीव उसे समझता नहीं, इसीलिए उसे कष्ट है। विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय में मायाजन्य रंग और रेखाओं को सत्य मान लिया गया। पर सब रंगों और रेखाओं के भीतर एक रूप देखा गया, वह रूप था सीता और राम का, जो कहने में भिन्न था पर था अभिन्न। विश्व में चारों तरफ़ दिखाई पड़ने वाले रूपों की तरफ़ आसक्तिमय प्रेरणा से झुकने वाले मन को सीता और राम की तरफ भक्ति की प्रेरणा से आकृष्ट किया गया। इस तरह वासना से कलुषित दृष्टि भक्ति से पवित्र बन गयी।

रूपाकर्षण और स्नेहाकर्षण की स्वाभाविक प्रवृत्ति सगुण उपासना और प्रेम भक्ति के रूप में गोस्वामी जी ने विकसित कर ली है। रूपों के आधार पर टिका हुआ स्नेह तथा उसकी मिलन और वियोग की दो स्थितियाँ भी इसी तरह भक्ति के साँचे में ढाल ली गयीं। जब दृष्टि का स्वभाव रूप को देखना है, तब उसकी स्वाभाविकता के आधार पर उसे राम के रूप में बाँध दिया गया। इसी तरह जब मनोविज्ञान के सिद्ध भारतीय विचारकों को यह दिखाई पड़ा कि मनुष्य का हृदय स्वभावतः स्नेह के पथ से ही यात्रा कर सकता है— 'तुलसी न समरथ कोउ जो तरि सकइ सरित सनेह की ‡।'—तब उन्होंने इस स्नेह को भी राम से बाँध कर रामभक्ति का रूप दे दिया। इस प्रकार रूपाकर्षण और स्नेहाकर्षण की दो स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ सगुण उपासना और प्रेमभक्ति की दो स्वाभाविक अवस्थाओं में परिवर्तित कर ली गयीं। जिस प्रकार अद्वैत का विकास विशिष्टाद्वैत के रूप में हुआ उसी तरह उस अद्वैत से सम्बद्ध बुद्धिजन्य विज्ञान और विराग का विकास गोस्वामी जी ने विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के रूप में कर लिया, जिनके प्रकाश में बहिर्यामी सगुण, अन्तर्यामी निर्गुण से श्रेष्ठ दिखाई पड़ने लगा। इसी सिद्धान्त के आधार पर, रामस्नेह के आधार पर उत्पन्न हुए वियोग की पवित्र धारा से ज्ञान और विराग के दोनों तटों को गोस्वामी जी ने आप्लावित करवा दिया है†।' विमल विज्ञान और विमल वैराग्य इसी तरह राम के लिए पवित्र वियोग उत्पन्न करके स्वार्थी जीवन के मोह को समाप्त कर देते हैं।

सीता और राम के प्रति प्रेम, साधारण मोह और ममता का अनंतव्यापी, अनंत गौरवमय रूप है। वह चिन्तनमय वेदान्ती ज्ञान को अपने प्रकाश से विमल विज्ञान का रूप दे देता है। राम के रूप के प्रति सात्त्विक और अनंत आसक्ति विमल विज्ञान है तथा जगत् के रंग-रूपों से सात्त्विक विरक्ति विमल वैराग्य है। सात्त्विक अनंत आसक्ति के प्रभाव-क्षेत्र के भीतर उत्पन्न होने वाला वियोग भी पवित्र और अनंत होता है। राम प्रेम की अनंतता में उत्पन्न होने वाले वियोग का करुण भाव विश्व की रक्षा करने वाली विश्व-वेदना का

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, सोरठा २७५ के पहले का छन्द। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २७४ के बाद।

रूप है। इस तरह के पवित्र वियोग में मग्न जनक की अवस्था समझाते हुए गोस्वामी जी ने इस द्वितीय सोपान में कहा है—'जिसके ज्ञानसूर्य से भवनिशा समाप्त हो जाती है, जिसकी वाणी की किरणों से मुनियों के हृदयकमल विकसित होते हैं, क्या उसके समीप मोह और ममता आ सकते हैं? यह तो सीता और राम के प्रेम का गौरव है जिसके सामने भक्ति का प्रकाश ले कर जनक का ज्ञान झुक गया। पावन स्नेह के आलोक में उस ज्ञान ने विमल विज्ञान का रूप धारण कर लिया ‡।'

इसी के बाद गोस्वामी जी ने फिर कहा है—'वेद ने तीन तरह के जीव बताये हैं, विषयी, साधक और ज्ञानवान् सिद्ध। इनमें से जिसका मन राम के स्नेह से सरल होता है, सज्जनों की सभा में उसी को गौरवपूर्ण सम्मान प्राप्त होता है। राम के प्रेम के बिना ज्ञान उसी प्रकार नहीं शोभित होता, जिस प्रकार कर्णधार के बिना नौका। जिस तरह कर्णधार नौका को एक निश्चित लक्ष्य की तरफ़ ले जाता है उसी प्रकार रामप्रेम ज्ञान को भी उसके निश्चित लक्ष्य तक पहुँचा देता है। यह निश्चित लक्ष्य है ज्ञान का विमल विज्ञान के रूप में परिणत हो जाना, राम की भक्ति प्राप्त कर लेना, मर्यादा पुरुषोत्तम की पूर्णता प्राप्त कर लेना †।'

विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के आधार पर उत्पन्न हुआ राम-चरणों के लिए यह अनुराग जगद्द्वन्द्वों को नष्ट कर देता है। मन गृह-प्रपंचों के ऊपर उठ कर, विश्वमंगल तक पहुँच कर, भगवान् में लीन हो जाता है। इसीलिए चित्रकूट के इसी प्रकरण में मिथिला और अयोध्या के प्रेमीजन को संसार से अनासक्त देख कर गोस्वामी जी ने कहा है—राम, लक्ष्मण और वैदेही को छोड़ कर जिसे घर भाता है, उसका भाग्य ही प्रतिकूल रहता है $।

नारी के भीतर भी मर्यादा पुरुषोत्तम के प्रति इसी प्रकार का विमल विज्ञानजन्य प्रेम गोस्वामी जी ने देखा है। राम को सीता और लक्ष्मण के साथ देख कर मिथिला की रानियाँ भी व्याकुल हो गयीं। उनकी आँखों में आँसू भर आये। अंग शिथिल हो गये। नख से पृथ्वी को खरोंचते हुए, राम की दशा पर सोचते-सोचते सब शोकसंतप्त हो गयीं। गोस्वामी जी ने उनकी दशा का वर्णन करते हुए लिखा है—'वे सब सीताराम के प्रेम की मूर्तियों की तरह थीं। ऐसा मालूम पड़ता था मानो बहुत से रूप धारण करके करुणा स्वयं शोकग्रस्त हो रही हो *।' इस शोकग्रस्त नारी समाज में धीरज के साथ सुमित्रा ने विमल विज्ञानपूर्ण बातें कही हैं—'ब्रह्मा की गति बड़ी विचित्र है; वह सृजन करके पालता और बाद में नष्ट भी कर देता है। ब्रह्मा की मति भोली है। वह बालक की तरह बनाता और मिटाता रहता है §।' इसी सिलसिले में कौसल्या ने कहा है—'कर्म की गति कठिन है। शुभ और अशुभ, सब फलों को देने वाला विधाता उसे जानता रहता है। ईश्वर की

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, सोरठा २७५ के बाद। † वही। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २७८ के बाद। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २८० के पहले। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २८० के बाद।

आज्ञा सब के सिर पर रहा करती है। विष और अमृत भी उत्पत्ति, स्थिति और लय की तीन अवस्थाओं के बन्धन में रहते हैं। विषम परिस्थितियों में व्यर्थ का सोच नहीं करना चाहिए, क्योंकि विधाता का यह प्रपंच अनादि और अवश्यंभावी है‡।'

प्रेम के गौरव को पा कर विमल विज्ञान शुष्क ज्ञान से श्रेष्ठ हो जाता है। इस विमल विज्ञान के आधार पर विकसित विमल वैराग्य से जो उदार और पावन प्रेम हृदय में उत्पन्न होता है उसी की स्थिति गोस्वामी जी ने कौसल्या के भीतर दिखायी है। राम और सीता के प्रेम के ऊपर उठ कर उनका प्रेम सपत्नी-पुत्र भरत पर टिका हुआ है। वे सीता की माता से कहती हैं—'लक्ष्मण, राम और सीता वन चले जाते हैं तो इसका परिणाम भला छोड़ बुरा न होगा, पर मुझे भरत की चिन्ता हो रही है। मैंने राम की शपथ कभी नहीं ली; आज उसी शपथ पर कहती हूँ कि भरत के शील, गुण, नम्रता, गौरव, भ्रातृप्रेम, विश्वास और उनकी सज्जनता का वर्णन सरस्वती भी नहीं कर सकतीं। राजा ने हमसे बार-बार कहा था कि भरत कुलदीपक हैं। पुरुष की परीक्षा विषम परिस्थितियों में उसके स्वभाव से ही होती है। विवेक के समुद्र आपके पति को और आपको कौन समझा सकता है, पर अवसर पा कर आप राजा को प्रेमी भरत की दयनीय दशा को समझाइए और उनसे प्रार्थना कीजिए कि लक्ष्मण को वापस करके भरत को ही राम के साथ वन भेजने की व्यवस्था करें। भरत के प्रेमी हृदय को किसी और उपाय से शान्ति नहीं मिल सकती। राम के लिए उनका प्रेम अतर्क्य है†।' गोस्वामी जी ने कहा है—'कौसल्या के हृदय में भरत के लिए इस पावन और निश्छल प्रेम को देख कर सिद्ध योगी और मुनि भी ज्ञान को छोड़ कर प्रेम में मग्न हो गये§।' यहाँ भी गोस्वामी जी ने प्रेम की गुरुता को धारण करने वाले विमल विज्ञान को शुष्क ज्ञान से श्रेष्ठ सिद्ध किया है।

सीता को चित्रकूट में तपस्विनी के वेष में देख कर जनक के भीतर उनके विमल वैराग्य के लिए जो पूज्य बुद्धि उत्पन्न हुई, उसकी व्यंजना गोस्वाजी जी ने बड़े सुन्दर शब्दों में करायी है। उन्होंने सीता से कहा है—'पुत्रि, तुमने दोनों कुलों को पवित्र कर दिया। तुम्हारे धवल सुयश की चर्चा संसार में सब लोग कर रहे हैं। तुम्हारी कीर्ति की धवल सरिता ने गंगा की पावनता पर भी विजय प्राप्त कर ली है। वह करोड़ों ब्रह्माण्डों में पहुँच चुकी है। गंगा से पृथ्वी, स्वर्ग और पाताल के केवल तीन लोकों को गौरव प्राप्त हुआ है, पर तुम्हारी कीर्ति की सरिता ने अनंत साधु समाजों के हृदयों को अपनी पावनता से पवित्र किया है*।"

भरत के विमल विज्ञान और विमल वैराग्यमय शील का मूल्यांकन गोस्वामी जी ने अपने ज्ञानी जनक के शब्दों में भी प्रस्तुत किया है।

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २८० के बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २८१ से २८२ के बाद तक। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २८२ के बाद। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २८५ के बाद।

सीता को तपस्वी राम की सेवा के लिए विदा करके, समय को अनुकूल समझ कर रानी सुनयना ने चित्रकूट के शिविर में अपने पति जनक से कौसल्या का संदेश सुना कर भरत की चर्चा की। भरत का स्मरण होते ही जनक भरत के स्नेह में मग्न हो गये—"मूंदे सजल नयन पुलके तन, सुजस सराहन लगे मुदित मन ‡।" उन्होंने कहा—'भरत की कथा भवबंधन को काट सकती है। उनके शील का आलोक पा कर मानव मन स्वार्थजन्य क्षुद्र वासनाओं के ऊपर उठ जाएगा। धर्म, राजनीति और वेदान्त में बुद्धि के अनुसार मेरी गति है। परन्तु मेरी यही मति भरत की महिमा से हार कर उसकी छाया का भी स्पर्श नहीं कर पाती। ब्रह्मा, गणेश, शेष, शिव और शारदा, कवि, मेधावी तथा बुद्धिमान् लोगों को भरत का चरित्र और उनकी कीर्ति, उनके धर्म, शील तथा गुणों की उज्ज्वल सम्पत्ति सुनने और समझने में सुखद मालूम पड़ते हैं। इनका माधुर्य पवित्र गंगाजल और अमृत के स्वाद को भी लाँघ जाता है। भरत के गुणों की सीमा नहीं है। वे अनुपम पुरुष हैं। भरत को भरत के ही समान समझो †। भरत की अमित महिमा को राम जानते तो हैं, पर उसका वर्णन नहीं कर सकते। लक्ष्मण लौट जाएँ और भरत राम के साथ वन जाएँ, यह तो अपने लाभ की बात है। लेकिन भरत और राम की प्रीति और प्रतीति का अनुमान नहीं किया जा सकता। भरत स्नेह और ममता की सीमा हैं $।'

भरत के लिए राम की ममता विश्वप्रेम है और वह विशिष्टाद्वैत की ब्राह्मी-स्थिति है।

स्नेह की सीमा विश्वप्रेम है तथा ममता की सीमा विश्वात्मवाद है, जिसमें सम्पूर्ण विश्व में हर व्यक्ति अपना ही प्रतीत होता है। राम पूर्ण समत्व की स्थिति पर रहते हैं *, पर वे भरत की ममता और स्नेह की पराकाष्ठा को स्वीकार करते हैं। मालूम पड़ता है गोस्वामी जी ने यहाँ विरोधाभास के द्वारा राम और भरत की प्रीति को अभिव्यक्त करना चाहा है। विमल विज्ञान के पूर्णरूप राम समता की अंतिम सीमा हैं। ऐसा व्यक्तित्व भरत के स्नेह और ममता की सीमा को कैसे स्वीकार कर सकता है। समता और ममता विरोधी भाव हैं, दोनों एक ही हृदय में नहीं रह सकते। पर थोड़ा-सा विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है। स्नेह और ममता की अंतिम सीमा अपने भीतर सम्पूर्ण को समेट लेती है। इस तरह का स्नेह और इस कोटि की ममता 'सियाराममय सब जग §' के लिए होती है। इस तरह के स्नेह और ममता की पराकाष्ठा में और विमल विज्ञान तथा विमल वैराग्य में कोई अन्तर नहीं रह जाता। राम के प्रति इस तरह के स्नेह और ममता की अपने हृदय में सिद्धि कर लेने वाला व्यक्ति सब जग के लिए स्नेह और ममता अपने भीतर रखता है। इस विश्वव्यापिनी स्नेह और ममता के प्रकाश में भेद की विषमता नष्ट हो जाती है और अभेद का समत्व प्राप्त हो जाता है। इसीलिए राम की समता की

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २८६ के बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २८६ के बाद से २८७ तक। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २८७ के बाद। * वही। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७ के बाद।

अंतिम सीमा और भरत के स्नेह और ममता की अंतिम सीमा में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। दोनों एक ही सत्य के दो स्वरूपों की ओर संकेत करते हैं। अनंत समता बौद्धिक चिन्तन की पराकाष्ठा पर दृष्टि रखती है तथा अनंत स्नेह और अनंत ममत्व मानस की अनंत अनुभूति की अवस्थाएँ हैं। इस प्रकार के समत्व और ममत्व में अभेदानुभूति की विशिष्टाद्वैती विचारधारा ही काम कर रही है। माया विशिष्ट सगुण विराट् के लिए अनंत ममता तथा अद्वैत निर्गुण विराट् के प्रति अभेदानुभूति की समता की भावना की ओर गोस्वामी जी ने यहाँ संकेत किया है।

भरत के रामप्रेम की अवस्था भी ब्राह्मी स्थिति है। समत्व की अभेदानुभूति और ममत्व की विश्व प्रेमानुभूति के एक अनिर्वचनीय मिश्रित स्वरूप को ले कर गोस्वामी जी रामचरण अनुराग के पास आ जाते हैं, जो सब व्यक्तियों के लिए साधन का सुलभ पथ है। इस स्थिति को वे भरत की दशा के भीतर ही प्रस्तुत कर देते हैं उनके जनक अपनी पत्नी सुनयना से कहते हैं—'परमार्थ और स्वार्थ के जितने सुख हैं, बन्धन और मुक्ति की जितनी अनुभूतियाँ हैं, उन सब की ओर भरत स्वप्न में भी दृष्टि नहीं ले जाते। राम के चरणों का स्नेह ही भरत के लिए साधन भी है और सिद्धि भी। वही पथ भी है और वही गन्तव्य भी। मुझे तो भरत का मत यही दिखाई पड़ता है ‡।' अनंत आदर्श के केन्द्र के चरणों का स्नेह भी जीवन-साधना को अनंतता पर पहुँचा देता है। ये सब स्थितियाँ एक ही स्थिति की ओर ले जाती हैं, और वह स्थिति है विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के द्वारा 'सियाराममय सब जग † ' की अभेदानुभूति की। विशिष्टाद्वैत की यही ब्राह्मी स्थिति है।

भरत के स्नेह की सिद्धि की इस अवस्था को बता कर जनक ने अपनी रानी से कहा—'राम की आज्ञा को भूल कर भी अपने मन से भरत न टालेंगे §।' यहाँ पर राम और भरत के लोकादर्शों के प्रति वेदान्ती जनक और उनकी पत्नी सुनयना का प्रेम दिखाने के लिए गोस्वामी जी ने कहा है—'राम और भरत के गुणों की प्रेम से गिनती करते हुए इस दम्पति की एक रात एक क्षण की तरह बीत गयी *।' विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के प्रकाश में सौन्दर्य के भीतर लीन हो जाने के लिए मन को जो पावनता और तन्मयता चाहिए, वह जनक और सुनयना को प्राप्त हो गयी थी, इसीलिए राम और भरत के आदर्शों की सौन्दर्यभावना में वे इतने तन्मय हो गये कि पूरी रात एक क्षण के समान बीत गयी। यही विशिष्टाद्वैत का ब्रह्मानन्द है जो सगुण ब्रह्म के सर्वतोमुख सौन्दर्य के अनुभव से साधक को प्राप्त होता है।

विमल विज्ञान और विमल वैराग्ययुक्त भक्ति को गोस्वामी जी ने ज्ञान से श्रेष्ठ माना है। इसीलिए विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के भीतर जिस भक्ति का विकास होता

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २८७ के बाद † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ७ के बाद। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २८८। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २८८ के बाद।

है। उसकी ओर इस सोपान में उन्होंने वार-वार ध्यान आकृष्ट किया है। जनक के आ जाने के वाद की चित्रकूट की राजसभा प्रारम्भ होने के कुछ ही पहले भगवान् राम ने उन सब लोगों की ओर वसिष्ठ जी का ध्यान आकर्षित किया जो घर-वार छोड़ कर उनके लिए वन में कष्ट सह रहे थे और समस्या के हल का कोई मार्ग निश्चित कर लेने के लिए प्रार्थना की। इसका उत्तर देते हुए ऋषि वसिष्ठ ने कहा—'आपके विना संसार के सव सुख-साज दोनों राजसमाजों के लिए नरक के समान हैं। आप प्राणों के प्राण, जीवों के जीव तथा सुखों के भीतर के सुख हैं। आपको छोड़ कर जिन्हें घर अच्छा लगता है, उनका भाग्य ही खोटा है। वह सुख, धर्म और कर्म जल जाएँ जिनके द्वारा राम के चरणों के प्रति भक्ति न पैदा हो। वह योग साधना कुयोग की ही साधना होती है, जिसमें राम का प्रेम प्रधान न हो। वह ज्ञान अज्ञान के समान हो जाता है जो राम के प्रेम के माधुर्य से सिंचा हुआ न हो। अयोध्या और मिथिला के ये सव जीव तुम्हारे विना दुखी और तुम्हीं से सुखी रहते हैं। जिसके मन में जो कुछ है उसे तुम स्वयं जानते हो। तुम जैसी आज्ञा दोगे उसे वे अपने झुके हुए मस्तकों से स्वीकार करेंगे ‡।'

इन पंक्तियों में गोस्वामी जी ने एक वार फिर से योग और ज्ञान की अपेक्षा प्रेमभक्ति को ही श्रेष्ठ स्वीकार किया है और उसके भीतर उत्पन्न होने वाली शरणागति का विवेचन किया है, जिसके द्वारा जीव अपनी सव वुराइयों से मुक्त हो कर राम के आदर्शों की शरण में चला जाता है और उसी साँचे में ढल जाता है।

कोमल और निश्छल शील, गोस्वामी जी के अनुसार रूखे ज्ञान और वैराग्य से श्रेष्ठ होता है। निश्छल स्नेहमय इस शील से ज्ञान का विवेक भी वढ़ता है। उपर्युक्त समस्या के समाधान का भार विदेह पर छोड़ते हुए ऋषि वसिष्ठ ने उनसे कहा—'आप ज्ञान के कोप, सज्जन, पवित्र, धर्म पर अचल रहने वाले तथा मनुष्यों के रक्षक हैं। इस परिस्थिति में इस समस्या का हल खोजने वाला आपसे अधिक योग्य कोई नहीं है †।'

ऋषि वसिष्ठ की नम्रता का प्रभाव जनक पर दिखाते हुए गोस्वामी जी ने कहा है—'ऋषि की नम्रता का अनुभव करके जनक के भीतर अनुराग प्रवाहित होने लगा। वसिष्ठ के नम्र शील को देख कर जनक अपने ज्ञान और वैराग्य से विरक्त हो गये §।'

विश्ववेदना की मधुर सभ्यता के भीतर जगत् को प्रतिष्ठित करके गोस्वामी जी उसका दर्शन करना चाहते हैं। विराट् जगत् की इस मधुर झाँकी में वे राम के जीवन-सौन्दर्य के माधुर्य का साक्षात्कार करना चाहते हैं। जगज्जीवन से अलग हट कर केवल चिन्तनमय ज्ञान और विराग के जीवन की ओर जगत् को ले जाना तुलसी का ध्येय नहीं था। अपने इसी ध्येय की सिद्धि ज्ञानी जनक में दिखाते हुए उन्होंने कहा है कि वसिष्ठ की कोमल नम्रता के प्रभाव से अनुराग में डूब कर जनक अपने ज्ञान और वैराग्य से विरक्त हो गये। मन में स्नेह भर कर वे सोचने लगे कि हमारा यहाँ आना अच्छा नहीं हुआ।

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २८८ के वाद से २८९ के वाद तक। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २९०। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २९० के वाद।

राजा ने राम को वन जाने को कहा और स्वयं अपने प्राणों को प्रेम की वेदी पर विसर्जन कर दिया। अब हम राम को वन से वन ही में भेज कर अपने विवेक की वृद्धि कर लेंगे और प्रसन्नता से मिथिला चले जाएँगे ‡।

दशरथ ने जिस सत्य और प्रेम की सम्मिलित अनुभूति के द्वारा अपने जीवन नाटक का आदर्श भरतवाक्य लिखा, वह जनक के हृदय पर अंकित है। उन्हीं आदर्शों की उपासना वे राम को वन भेज कर करना चाहते हैं और उन्हीं की परिणति में अपने आनन्द और विवेक की परिणति देख रहे हैं। 'प्रमुदित फिरब विवेक बढ़ाई—'† से वे इसी सत्य का संकेत देते हैं। राम के आदर्श से आनन्द और विवेक दोनों की सिद्धि होती है।

भरत के पास आ कर विदेह जनक ने इसी तरह का प्रस्ताव रखा। उन्होंने भरत से कहा—'तुम्हें राम का स्वभाव मालूम है। राम सत्यव्रत और धर्मनिष्ठ हैं। वे सब के शील और स्नेह को समझते हैं। संकोच के कारण दूसरों के लिए वे बड़े से बड़ा कष्ट सहने को प्रस्तुत रहते हैं। आप जो चाहते हों, कहें $।'

विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के आलोक में भरत की निरभिमानता का स्वरूप निखर कर प्रकाशित होता है। वे अनंत शक्ति, शील और सौन्दर्य के केन्द्र करुणा-सागर राम की छाया हैं। राम में और उनमें कोई अंतर नहीं। विमल विज्ञान और विमल वैराग्य का आलोक वे प्राप्त कर चुके हैं। इसीलिए अपने अनंत शक्ति, शील और सौन्दर्य के ऊपर उठ कर वे निरभिमान हो गये हैं। वे स्वयं कोई राय नहीं देते। सब भार वे जनक पर छोड़ देते हैं। स्वयं शिशु और आज्ञाकारी सेवक बन कर वे उपदेश ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। अनंत शक्ति के प्रति विमल वैराग्य का यही लक्षण है—अनंत शक्ति रहते हुए भी उसके अस्तित्व के अभिमानात्मक ज्ञान को छोड़ देना।

ऐसी अवस्था पर पहुँचे हुए भरत कहते हैं—'आगमनिगम और पुराणों में प्रसिद्ध सेवा धर्म कितना कठिन होता है, इसे संसार जानता है। स्वामी के प्रति कर्तव्य और सेवक के स्वार्थ में विरोध होता है। स्वार्थी सेवक इस कर्तव्य को पूरा नहीं कर सकता है। बहरे और अन्धे प्रेम के भीतर बोध का अभाव होता है इसीलिए ज्ञान का आधार न मिलने पर प्रेमी अपना पथ हिसाब लगा कर निश्चित नहीं कर सकता *।'

निरभिमानता विशिष्टाद्वैत की भक्ति की सार्वजनीन, भावमूलक, आदर्श व्यवहार-दर्शन की साधना का पूर्वरूप और आवश्यक अंग है।

इस सोपान के नायक भरत ने अपने को सेवक और प्रेमी के रूप में देखा है और बड़ी नम्रता से उन्होंने विमल वैराग्य के प्रकाश में राय देने का अपना अधिकार त्याग कर जनक पर ही सब भार छोड़ दिया है। यहाँ पर भरत ने जनक से कहा—'राम के रुख पर

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २९० के बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २९० के बाद। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २९१ और पहले। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २९१ के बाद।

ध्यान दे कर, उनके धर्मव्रत की रक्षा करके, मुझे पराधीन सेवक समझ कर, मेरे प्रेम को पहचान कर आप कोई ऐसा परामर्श दें जो सर्वसम्मत और सब के हित में अच्छा हो ‡।' यहाँ अपनी, राम की तथा संसार भर के सब मनुष्यों की आदर्शमूलक स्थिति को भरत ने थोड़े से शब्दों में बड़ी योग्यता से रख दिया है। विमल विज्ञान और विमल वैराग्य की सिद्धि के भीतर गोस्वामी जी इसी सार्वजनीन, आदर्श व्यवहारदर्शन को प्राप्त करना चाहते हैं। उनकी साधना योग और ज्ञान की व्यक्तिमूलक साधना न हो कर भक्ति की सार्वजनीन, भावमूलक, आदर्श व्यवहारदर्शन की साधना है और इसकी सिद्धि का साक्षात्कार गोस्वामी जी ने मानस के आदर्श पात्रों में कर लिया है। योग और ज्ञान की साधना किसी स्थिति तक व्यक्तिगत ही होती रहती है; पर भक्ति की साधना का एक क्षण भी व्यक्तिगत सीमा के भीतर आबद्ध नहीं रहता।

आदर्श की ऊँचाई को वही देख और समझ सकता है, जिसमें वह ऊँचाई हो। आदर्श की यह सिद्धि भरत के थोड़े से शब्दों में जितने सुन्दर ढंग से व्यक्त हुई है उसे गोस्वामी जी ने बड़ी सुन्दर और मौलिक कल्पना का सहारा ले कर व्यक्त किया है, वे कहते हैं—'भरत की वाणी सुन कर और उनके स्वभाव को देख कर उस पूरे समाज के साथ जनक उनकी प्रशंसा करने लगे। भरत के शब्द सुगम और अगम, मधुर, कोमल और साथ ही साथ कठोर सत्य पर आधारित होने के कारण कठोर थे। उनमें अक्षर तो कम पर अर्थ बहुत अधिक था। जिस तरह मुख दर्पण में रहता है और दर्पण अपने ही हाथ में लिया जाता है, पर मुख पकड़ा नहीं जा सकता उसी अद्भुतता से युक्त भरत की विमल और संक्षिप्त वाणी में विमल अर्थ बैठा हुआ था, पर उसको पकड़ लेना असम्भव था †।' उसे समझ लेना साधारण मनुष्य की शक्ति के बाहर की बात थी। व्यवहार दर्शन की जो विमल भावमूलक गहराई भरत के भीतर थी, जब तक वही गहराई किसी के भीतर न हो, तब तक भाव का संकेत देने वाले उनके संक्षिप्त शब्दों का पूरा अभिप्राय समझना असम्भव है।

विमल विज्ञान और विमल वैराग्यजन्य प्रेम स्वार्थ का विरोधी होता है। विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के सोपान पर पहुँच कर गोस्वामी जी इस तथ्य को सिद्ध करना चाहते हैं कि विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के आधार पर जो प्रेम-भक्ति विकसित होती है उसका साक्षात्कार करके, उसके सम्मुख स्वार्थ, भय से आतंकित हो कर दहल उठता है। इस भक्ति के सम्मुख स्वार्थ टिक नहीं सकता। इस भक्ति को सिद्ध कर लेने वाला स्वार्थों के ऊपर उठ जाता है।

यहाँ स्वार्थी देवताओं के शील के भीतर स्वार्थ की प्रेरणा तथा भरत, वसिष्ठ और जनक के भीतर प्रेमभक्ति की पावनता की शक्ति दिखाई गयी है।—कुलगुरु की गति, विदेह के विशेष तरह के स्नेह और भरत की अपार रामभक्ति को देख कर स्वार्थी देवताओं

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २९२। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २९२ के बाद।

का हृदय दहल कर निष्क्रिय-सा हो गया। राम के भीतर भी प्रेमी के लिए प्रेम और संकोच को देख कर देवराज संकट में पड़ गया कि कहीं राम वापस न चले जाएँ और देवशत्रु रावण का पथ अकंटक बन जाए ‡।'

यहाँ एक बार देवता फिर सरस्वती का स्मरण करते हैं—भरत की बुद्धि में विकार पैदा कर देने के लिए। पर सरस्वती ने जो उत्तर दिया है उससे अयोध्याकांड के नायक भरत महामहिम हो गये हैं। सरस्वती के उत्तर की भूमिका में गोस्वामी जी ने एक बार फिर विमल विज्ञान के नेत्रों को स्वार्थ की जडता का साक्षात्कार करते हुए दिखाया है। वे कहते हैं—'देवताओं की प्रार्थना सुन कर ज्ञानवती सरस्वती ने देवताओं के भीतर स्वार्थ की जडता को देख कर कहा—मुझसे तुम लोग भरत की मति फेर देने के लिए कहते हो? ब्रह्मा, विष्णु और शिव की माया बहुत बड़ी होती है, उसमें भी भरत की मति की ओर आँख उठा कर देखने की शक्ति नहीं होती। उस मति में भ्रम पैदा करने के लिए तुम मुझसे कहते हो। क्या चन्द्रिका सूर्य को चुरा सकती है? भरत के हृदय में सीता और राम का निवास है। जहाँ सूर्य का प्रकाश रहता है वहाँ क्या अंधकार का प्रवेश हो सकता है† ?' यहाँ पर गोस्वामी जी ने यही सिद्ध किया है कि प्रेमभक्ति के विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के प्रकाश में जो प्रकाशमयी पावन मति मनुष्य के भीतर विकसित होती है उस पर बड़ी से बड़ी शक्ति अपना प्रभाव नहीं डाल सकती। सच्चे भक्त का स्थान ब्रह्मा, विष्णु और शिव के भी ऊपर है। भरत के समान प्रेमी भक्त साधना की इसी भूमि पर पहुँचा हुआ रहता है। वह माया के प्रलोभनों के ऊपर उठ जाता है। उस तक ये प्रलोभन नहीं पहुँच सकते।

गोस्वामी जी ने मर्यादापुरुपोत्तम में विमल वैराग्य की अनंतता का दर्शन किया है। वसिष्ठ और जनक भरत के साथ राम के पास पहुँचे। भरत की स्थिति का ज्ञान वसिष्ठ ने राम को करा दिया। इसके बाद उनका परामर्श माँगा। पर मर्यादा पुरुपोत्तम ने भी अपनी अनंतता को विमल वैराग्य का रूप दे दिया था। उसका उपयोग करके श्रेष्ठ और वयोवृद्ध वसिष्ठ और जनक का वे मार्ग-निर्देशन नहीं करना चाहते थे। इससे लोकमर्यादा का व्यवहार-दर्शन कलुपित हो जाता। जब वसिष्ठ ने जनक और भरत के वार्तालाप की चर्चा करके राम से कहा कि मेरे मत में अब आपकी आज्ञा के अनुसार कार्य किया जाए, तब तुलसी के राम ने बड़ी नम्रता से उनसे कहा—'आप और मिथिलेश के उपस्थित रहने पर मेरा परामर्श बिलकुल अनुचित और अभद्र प्रतीत होगा। आप और राजा की जो आज्ञा होगी, वह मेरे लिए शिरोधार्य होगी, यह आपकी शपथ पर मैं कह रहा हूँ $।'

इसके बाद गोस्वामी जी ने लिखा है कि राम की शपथ को सुन कर वसिष्ठ और जनकपुरी सभा के साथ संकोच में पड़ गये। उनसे कोई उत्तर न देते बना। सारी सभा संकोच से भरत की ओर देखने लगी *।

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २९३ के पहले। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २९३ के बाद। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २९४ के बाद। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २९५।

विमल विज्ञान और विमल वैराग्यजन्य प्रेम आवेशजन्य और निष्क्रिय न हो कर त्यागपूर्ण कर्तव्य-पथ पर सजग और जागरूक रहता है। विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के आधार पर जिस भक्ति-प्रवाह का उद्गम होता है वह आवेशजन्य और निष्क्रिय नहीं होती, इस बात को गोस्वामी जी ने यहाँ समझाया है। प्रेमभक्ति का सिद्ध योगी अपने प्रेम के प्रवाह में किसी भी क्षण लोक का, व्यवहारदर्शन के पथ पर, सफल नायकत्व कर सकता है। उसके प्रेम का प्रवाह, व्यवहारदर्शन की पूर्णपरिणति के साक्षात्कार के बाद ही, उसी के परिणामस्वरूप होता है, इसीलिए प्रति क्षण में उसके कण-कण में विमल विज्ञान और विमल वैराग्य का प्रवाह होता रहता है। यही बात गोस्वामी जी ने यहाँ समझायी है।

भरत के इसी शील को व्यक्त करते हुए गोस्वामी जी ने लिखा है—'सभा के इस संकोच को देख कर राम-बन्धु ने बड़ा धैर्य धारण किया। कुसमय देख कर उन्होंने अपने स्नेह की बढ़ती हुई ऊँचाई को इस तरह सँभाला जिस तरह अगस्त्य ने बढ़ते हुए विन्ध्य पर्वत को रोका था। जिस तरह सब गुणों की खान और जगत् को पैदा करने वाली पृथ्वी को हिरण्याक्ष चुरा ले गया था, उसी तरह सब गुणों की खान और सम्पूर्ण जगत् के आधार का कार्य करने वाली बुद्धि को शोक चुरा ले गया था। पर भरत के शक्तिवान् विमल विज्ञान ने विशाल बराह की तरह उस मति का अनायास ही तुरन्त उद्धार कर लिया ‡।'

गोस्वामी जी के अनुसार विमल विज्ञान का यह भी लक्षण प्रतीत होता है कि विमल विज्ञान की दृष्टि जिस व्यक्ति को प्राप्त हो जाती है वह पवित्र स्नेह के शोक से प्रभावित होता है, पर उसका वियोग उसे निष्क्रिय नहीं बनाता। कर्तव्य की गुरुता सम्मुख आते ही वह वियोग के बढ़ते हुए प्रवाह के ऊपर उठ कर उसे शान्त कर देता है और वेदना को छोड़ कर कर्तव्य की ओर बढ़ जाता है, भारतीय आर्यवीरों के भीतर यही सन्तुलित शील बड़ी प्राचीन परम्परा के भीतर मनीषी, कवियों और जीवनदर्शन के कलाकारों ने चित्रित किया है। आर्यवीर स्नेह के आवेश में भी आता है। इस आवेश से वह पवित्र स्नेह के लिए अपने हृदय की सजीवता का परिचय देता है। पर वृहत्तर कर्तव्य के सामने आने पर शोक-प्रवाह को रोक कर वह अपनी लोकनेतृत्व की शक्ति का भी परिचय देने लगता है। शकुन्तला के वियोग में मग्न दुष्यन्त को भी कालिदास ने एक ही क्षण में अन्तर्हित मातलि से माढव्य की रक्षा करने के लिए सन्नद्ध-कार्मुक कर लिया है और उसके बाद प्रत्यक्ष प्रस्तुत हुए मातलि की प्रार्थना पर राक्षसों के विरुद्ध इन्द्र की सहायता के लिए भी इस तरह तैयार कर लिया है जैसे शकुन्तलाकांड हुआ ही न हो। एक क्षण में वियोग को भूल कर राजा क्षात्रधर्म को चरितार्थ करने के लिए चला जाता है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि जो निश्छल प्रेम आर्यवीर के भीतर एक के लिए होता है, उसकी पवित्रता इतनी व्यापक होती है कि वही प्रेम वह जगत् भर को दे सकता है †।

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २९५ के बाद। † कालिदास लिखित अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक, अंक ६, श्लोक २५ के बाद।

तुलसी के भरत भी अपने विमल विज्ञान के प्रकाश में एक ही क्षण में शोक की शिथिलता का विसर्जन करके संकोच में पड़ी हुई सभा का नेतृत्व करने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। विमल विज्ञान की जननी शारदा का उन्होंने हृदय से स्मरण किया और वह वाणी वन कर हृदय से ओठों पर चली आयी—"हिय सुमिरी सारदा सुहाई, मानस तें मुख पंकज आई।" हंसिनी के समान उज्ज्वल और कोमल भरत की वाणी ने विमल विवेक, धर्म और नीति को अपने साथ सज्जित कर लिया। जो भरत शोकमग्न सभा के शोक के साथ एकाकार हो गये थे वही स्नेह की शिथिलता में पड़े हुए उस समाज को विमल विवेक की दृष्टि से देख कर सीताराम का स्मरण कर लेने के बाद बोलने लगे ‡।

विवेक की दृष्टि स्नेह को उसकी शिथिलता के साथ देख कर स्वयं सजग हो जाती है और अन्धे तथा बधिर-स्नेह का मार्गदर्शन करने लगती है। भक्ति के भीतर यही विमल विवेक स्नेह के साथ मिल कर रहता है। किसी भी क्षण वह स्नेह की पवित्र प्रखरता को ज्ञान की सबलता के रूप में परिणत कर लेता है। स्नेह की पवित्र प्रखरता की स्थिति प्रेमी को केवल प्रिय व्यक्ति पर केन्द्रित करके कुछ समय के लिए सीमित तो कर देती है, पर ज्ञान की दृष्टि से जब वह सम्मिलित हो जाती है तब विराट् भावना से सम्पन्न हो जाती है। राम के लिए भरत का केवल पवित्र स्नेह उन्हें राम को एक कोमल राजकुमार के रूप में दिखाता है, ऐसा राजकुमार जिस पर निर्वासन की विपत्ति पड़ी हुई हो। पर भरत का वही स्नेह जब अपने विमल विज्ञान या विमल विवेक के साथ चलने लगता है तब वही राम उसे परमहित, अंतरजामी, सुसाहिब, सीलनिधान, प्रनतपाल और सरबग्य के रूप में दिखाई पड़ने लगते हैं, निगम और आगम के गेय के रूप में दिखाई पड़ने लगते हैं †।

ऐसी स्थिति में भरत वहाँ स्पष्टतः यह घोषणा कर देते हैं कि शोक और स्नेह के पवित्र बाल स्वभाव से आतंकित हो कर पिता की आज्ञा का उन्होंने विरोध किया और राम की इच्छा के प्रतिकूल मर्यादा के पथ से उन्हें विचलित करके वापस ले जाने को चित्रकूट तक चले आये §। यह विमल विज्ञान की दृष्टि,प्रेम की सब पवित्र सीमाओं को महत्ता की अनंतता के रूप में परिणत कर देती है। अपनी इस पवित्र बाल लघुता को मर्यादा पुरुषोत्तम के द्वारा क्षम्य दिखा कर भरत ने अनंत कृपासागर राम की अनंतता के साथ अपनी पवित्र नम्रता की अनंतता का भी परिचय दिया है। उनकी विमल विज्ञान की दृष्टि इस बात को देख लेती है कि आर्त का अविनय क्षम्य होता है तभी तो मर्यादा पुरुषोत्तम ने भरत के समान आर्त के अविनय को क्षमापूर्ण दृष्टि से ही देखा *।

विमल विज्ञान की इस पृष्ठभूमि पर भरत अपने स्नेह को पुनः प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—'सत्य, सुकृत और सुख की सीमा से सुशोभित स्वामी के चरणकमलों की धूल

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २९५ के बाद से २९६ तक। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २९६ के बाद। § वही। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २९९ के पहले।

की शपथ ले कर मैं जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं में अपने हृदय की रुचि बतलाता हूँ। स्वार्थ, छल तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की भावनाओं को छोड़ कर हमारा हृदय स्वामी के लिए सहजस्नेह और स्वामी की सेवा चाहता है। आज्ञापालन के समान आदर्श-स्वामी की कोई दूसरी सेवा नहीं होती। आपका वही अनुग्रह इस जन को मिले। आप जैसी आज्ञा देंगे यह वैसा ही करेगा‡।'

विमल विज्ञान और विमल वैराग्य-सम्पन्न मनुष्यत्व स्वार्थकलुषित देवत्व से उच्चतर होता है। विमल विज्ञान से युक्त भरत के उस निर्मल स्नेह से पवित्र हो कर राम ने, साधु समाज ने तथा विदेह ने उनके गौरव की प्रशंसा की†। यहाँ भी निश्छल मानव से स्वार्थी देवता को गोस्वामी जी ने हीन पद दिया है। देवता भी स्वार्थी हो जाए तो निश्छल मानव से भी उसका पद निम्नकोटि का हो जाता है। उनके अनुसार विमल विज्ञान और विमल वैराग्य से जो निश्छलता मनुष्य को मिलती है उससे उसका गौरव इतना विराट् हो जाता है कि वह स्वार्थी देवताओं को भी लाँघ जाता है। देवत्व स्वार्थकलुषित हो कर विमल विज्ञान और विमल वैराग्य सम्पन्न मनुष्यत्व के सम्मुख श्रीहत हो जाता है। अयोध्या-निवासियों के भीतर से राम के प्रेम को अपनी माया के द्वारा कम कर देने वाले इन्द्र को गोस्वामी जी ने कहा है कि वह तो शोक से मारे गये मानवों को मार कर अपना मंगल चाहता है। ऐसी प्रवृत्ति देवराज की महामलिन प्रवृत्ति का परिचय देती है $। उन्होंने स्वार्थी इन्द्र के लिए और कड़े शब्दों का प्रयोग किया है—"कपट कुचालि सीवं सुरराजू, पर-अकाज-प्रिय आपन काजू *।"

तुलसी के राम ने भी इन्द्र की इस चंचलता के कारण उसे चंचल श्वान और चंचल युवक की श्रेणी में ही रख कर देखा है—"लखि हियँ हँसि कह कृपानिधानू, सरिस स्वान मघवान जुबानू§।" गोस्वामी जी के अनुसार विमल विज्ञान-सम्पन्न मनुष्यों को देवमाया प्रभावित नहीं कर सकती। देवता की शक्ति भी विमल विज्ञान और विमल वैराग्य की शक्ति के सम्मुख कुंठित हो जाती है—"भरतु, जनकु मुनिजन सचिव साधु सचेत बिहाइ। लागि देवमाया सबहि जथा जोगु जनु पाइ×।"

जीवन-पथ पर विमल विज्ञान को साथ ले कर शील को आदर्श बना कर चलने वाले व्यक्ति के सामने देवता भी हार मान लेता है। उसकी शक्ति भी व्यर्थ हो जाती है। यहाँ चित्रकूट की सभा में इन्द्र की माया भरत, जनक, मुनिजन और शीलनिष्ठ सचिव को छोड़ कर सब पर अपना प्रभाव डाल सकी। रामप्रेम और गृहप्रेम के बीच में द्विविधा पैदा हो गयी। सब लोगों के मन चंचल हो कर रामप्रेम और गृहप्रेम के बीच में मोह के हिन्दोल पर चढ़ कर झूलने लगे+।

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २९९ के बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, सोरठा ३०० के पहले का छन्द। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड सोरठा ३००। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, सोरठा ३०० के बाद। § वही। × रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३०१। + रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३०१ के बाद।

गोस्वामी जी की भक्ति के भीतर राम के आदर्शों के साथ तदाकार परिणति आवश्यक है। उस आदर्श के सम्मुख गृहप्रेम नहीं उत्पन्न होना चाहिए। विमल विज्ञान की साधना कर लेने वाला साधक स्वार्थातीत राम के आदर्शों और स्वार्थव्याप्त गृह के स्नेह के बीच के अन्तर को समझ कर श्रेयस्कर पथ की ओर अपने पग बढ़ा देता है।

चित्रकूट की सभा में विमल विज्ञान और विमल वैराग्य की सिद्धि तक न पहुँचे हुए लोगों की दशा इन्द्र की माया के सम्मुख बड़ी विचित्र हो गयी थी। वे दो प्रकार के भार से आक्रान्त थे। एक तरफ़ रामस्नेह के भार से और दूसरी तरफ़ संसार का आकर्षण उत्पन्न करने वाली इन्द्र की माया के दवाव से। गोस्वामी जी के राम ने वहाँ की जनता की इस द्विधाजन्य पीडा को देख लिया है—"कृपा-सिंधु लखि लोग दुखारे, निज सनेह सुर-पति-छल भारे ‡।"

गोस्वामी जी ने विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय की चिन्तनधारा के अनुसार माया और भक्ति के सम्बन्ध पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला है। केवल अद्वैत की भावना, केवल अद्वैत-मूलक चिन्तन, अध्यात्मदर्शन की सृष्टि करता है। केवल द्वैत के आधार पर टिके हुए माया के प्रपंचात्मक जगत् के स्वार्थों का चिन्तन जडवाद है। माया जब अद्वैत का विशेषण बन कर उसकी वशवर्तिनी हो जाती है, तब वह पवित्र हो जाती है। स्वार्थ जब अद्वैत विराट् में अपने को खो देता है तब उसे परमार्थ का रूप मिल जाता है। ममता जब अपने भीतर अखिल विश्व को बिठा लेती है तब उसे समता की संज्ञा प्राप्त होती है। हृदय के विकास की इसी पद्धति को स्वीकार करने वाला साधक विशुद्ध विज्ञान और विशुद्ध वैराग्य की ओर बढ़ जाता है। विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय ने स्वार्थ और माया के सब सम्बन्धों को राम के साथ जोड़ कर माया को ब्रह्ममय बना लिया है। माया जब ब्रह्म का विशेषण बन कर 'सियाराममय सब जग' † की अनुभूति कराने लगी तब उसे भक्ति का रूप मिल गया। वह स्वयं भक्ति बन कर पवित्र हो गयी। यह भी कहा जा सकता है कि जगत् की भावना से सम्बन्ध रखने वाली माया कलुषित होती है और विराट् के साथ अहेतुक स्नेह के बन्धन में बँध जाने वाली मायामय क्षुद्र ममता ही विराट् बन कर पवित्र हो जाती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार जगत से सम्बन्ध रखने वाले स्वार्थ के सब नाते राम के साथ अहेतुक प्रेम से जुड़ कर पवित्र हो गये।

केवल अद्वैत-चिन्तन ज्ञान का विषय है और माया को उदार बना कर उसे विराट् ब्रह्म के साथ जगत् के हर सम्बन्ध की भावना के रूप में जोड़ लेने से हृदय की भक्तिमयी भावना का उद्गम होता है। हृदय की यही विराट् परिणति तुलसी की शील-साधनामयी भक्ति है। इसी विशालहृदयता के विशुद्ध विज्ञान और वैराग्य की भूमि पर पहुँचा हुआ साधक जगत् के प्रलोभनों की तरफ़ नहीं झुकता चाहे उसे झुकाने के लिए स्वयं इन्द्र भी क्यों न प्रयत्न करें। विशिष्टाद्वैत चिन्तनधारा के आधार पर विकसित होने वाला भरत

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३०१ के बाद। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७ के बाद।

का शील इसी प्रकार का है। इसी शील की उपासना गोस्वामी जी करते हैं, क्योंकि यह शील रामभक्ति का पथ है, उसका एक स्वरूप है। मानस के इस दूसरे सोपान में जितने आदर्श पात्रों का जीवन चित्रित हुआ है वे सब इसी प्रकार के विशुद्ध विज्ञान और विशुद्ध वैराग्य के साधक और सिद्ध हैं। उन सबके नायक की तरह भरत का चित्रण हुआ है।

राम की अनिर्वचनीय और अनंत शक्ति, शील और सौन्दर्य की त्रिवेणी की अनुभूति के लिए भरत की भक्ति भी अनंत और अनिर्वचनीय हो जाती है। सभा में उपस्थित जो लोग इन्द्र की माया के प्रभाव क्षेत्र के बाहर थे वे भी भरत के शील की महिमा के वशीभूत हो गये थे। वे भरत की भक्ति को देख कर अवाक् से रह गये थे—"सभा राउ गुरु महिसुर मंत्री, भरत भगति सब कै मति जंत्री ‡।"

जीवन के क्षुब्ध और अज्ञानान्धकार से ढके हुए सागर में गोस्वामी जी ने भरत को, आदर्शों का प्रकाशस्तंभ माना है। उन्हें रामभक्ति के ऐसे सूर्य की तरह देखा है जिसके प्रकाश से विश्वभर आलोकित हो जाता है। शील के इस अलौकिक प्रकाश के सामने सम्पूर्ण जगत् को ले कर तुलसी का कवि नतमस्तक हो गया है। उस प्रकाश की शक्ति और सौन्दर्य की इयत्ता का संकेत देने में वह अपनी बुद्धि को बार-बार अक्षम स्वीकार करता है। वह कहता है—'भरत की प्रीति, नीति, विनय और बड़ाई सुनने में ही सुखद मालूम होते हैं। उनका वर्णन करना कठिन है। जिसकी भक्ति का अल्पतम अंश मुनिगणों और विदेह को प्रेम-मग्न कर देता है, उसकी महिमा का अनुमान तुलसी कैसे लगा सकता है! इन्हीं की भक्ति के स्वभाव से तो हमारे भीतर सुमति उल्लसित हुई है। अपने उद्‌गम (भरत की महिमा) की असीमता के सम्मुख अपने को क्षुद्रतम अनुभव करके वह सुमति संकुचित हो गयी है। कवियों के सम्मान को भरत की महिमा के सामने पराहत होता हुआ देख कर मेरी सुमति संकोच में पड़ गयी है। बालक की वाणी की तरह अपने भीतर मेरी सुमति एक विवशताजन्य कुंठा का अनुभव कर रही है। भरत की भक्ति के गुण, सौन्दर्य, अधिकता, चिन्तन और सीमा को वह नहीं व्यक्त कर पाती। भरत का उज्ज्वल यश धवल चन्द्र की तरह है और सुमति चकोर कुमारी की तरह। भक्तों के विमल हृदय के आकाश में उदय होने वाली भरत की उस भक्ति को वह केवल एकटक देख भर रही है। उस सौन्दर्य के प्रेम में तन्मय हो कर वह अपने को खो चुकी है †।'

गोस्वामी जी के अनुसार भरत का स्वभाव वेदों के लिए भी अगम है। ऐसी स्थिति में यदि साधारण बुद्धि उसकी थाह लगाने में असफल रह जाती है तो गोस्वामी जी उसे क्षम्य समझते हैं §। गोस्वामी जी इस बात पर विश्वास करते हैं कि भरत के शील में इतनी शक्ति और आकर्षण है कि उनके निश्छल और सत्य भाव के कीर्तन और श्रवण से सीता और राम के चरणों के प्रति स्नेह उत्पन्न होना अवश्यंभावी है। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो भरत के निश्छल प्रेम को सुन कर सीताराम के चरणों में अनुरक्त न हो जाए।

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३०१ के बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३०१ के बाद से ३०२ तक। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३०२ के बाद।

वह मनुष्य बहुत बड़ा अभागा है जिसके भीतर भरत को स्मरण करने के बाद भी रामप्रेम सुलभ न हो जाए ‡।

तुलसी के राम में विमल विज्ञान और विमल वैराग्य-सम्पन्न शील के लिए अपेक्षित सब गुणों की असीमता का समावेश है।

इसी प्रकरण में भगवान् राम के भीतर पवित्र और विनम्र शील का एक अनुपम चित्र गोस्वामी जी ने प्रस्तुत किया है। अभी ही भरत ने भगवान् राम से अपने भावी कर्तव्य के लिए आज्ञा माँगी है। गोस्वामी जी ने अपने अवतारी राम के भीतर दया, सज्जनता, सबके हृदय को जानने की शक्ति, धर्मधुरीणता, धैर्य, नीतिमत्ता, सत्य-स्नेह, शील, आनन्द के अनंत समुद्र, देशकालज्ञता, समय और समाज के स्वभाव के ज्ञान, नीति और प्रीतिपालकता को एक साथ सँजो कर रखा है। विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के ये अवश्यंभावी मंगलमय परिणाम हैं†। अपने इन सब गुणों को एक साथ ले कर राम भरत को आज्ञा देने की भूमिका प्रस्तुत करते हैं। आज्ञा देने के लिए जिन शब्दों का उन्होंने उपयोग किया, उनके लिए गोस्वामी जी ने कहा है—'भगवान् राम ने अपने भाषण में सरस्वती की सम्पूर्ण शक्तियों का उपयोग किया। उन शब्दों को सुनने से चन्द्रमा से स्रवित होने वाले अमृत के माधुर्य का अनुभव होता था और उसका परिणाम मंगलमय था$।' विमल विज्ञान के मूलस्रोत राम के भीतर वाणी के गुणों की पूर्णता की जो उद्‌भावना गोस्वामी जी ने की है उससे उनकी विमल विज्ञान की भावना की व्यापकता और गम्भीरता का परिचय मिलता है। विमल विज्ञान तो शील के माधुर्य, विश्वप्रेम का मूलकेन्द्र ही है। इस विज्ञान की सम्पूर्णता राम के शील में थी। अतएव पूर्ण विज्ञान की वाहिका वाणी, सरस्वती की सम्पूर्ण मधुरता और शक्ति को ले कर तो निःसृत होगी ही।

तुलसी के राम ने भरत को जो प्रेममय आदेश दिये हैं उनमें उनके शील के उच्चतम विकास का सौन्दर्य अपनी पूर्णता के साथ अंकित हो गया है। उन्होंने भरत से कहा—'प्रिय भरत, तुम धर्मचक्र के वाहक हो। लोक और वेद का तुम्हें पूर्ण ज्ञान है*।' लोक और वेद की मर्यादाओं का सम्यक् ज्ञान और उनका अनुवर्तन गोस्वामी जी के विमल विज्ञान और विमल वैराग्य का मुख्य लक्ष्य है। वही आदर्श जीवन की सम्पूर्णता है। तुलसी के राम भरत से कहते हैं—'कर्म, वाणी और मन की पवित्रता में तुम्हारे समान तुम्हीं हो। दूसरा तुम्हारी समता नहीं कर सकता। गुरुओं के समाज में छोटे भाई की प्रशंसा मैं कैसे करूँ। तुम सूर्य-कुल की प्रथाओं को जानते हो। सत्यप्रतिज्ञ पिता की कीर्ति और प्रीति को भी तुम जानते हो। समय, समाज और गुरुजनों की प्रतिष्ठा का भी ज्ञान तुम्हें है। तुम्हें उदासीन, मित्र तथा शत्रु के हृदय का भी परिचय है। तुम्हें सब के कर्त्तव्यों का ज्ञान है। तुम अपने और मेरे परम हित धर्म को भी जानते हो§।' गोस्वामी जी की

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३०२ के बाद। † वही। $ वही। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३०५ के पहले। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३०३ और बाद।

भक्ति-पद्धति में पवित्र शील ही परम हित धर्म है। इसीलिए उनका विमल विज्ञान और विमल वैराग्य भी इसी पवित्र शील 'परमहित धर्म' की अन्तिम परिणति है। गोस्वामी जी ने इसी पवित्र शील 'परमहित धर्म' का परमोच्च चित्रण करके अपने विमल विज्ञान और विमल वैराग्य की साधना की है। अथवा यों भी कहा जा सकता है कि विमल वैराग्य और विमल विज्ञान में तथा इस पवित्र शील के परमहित धर्म में अभेद और अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

राम का शील, वैयक्तिक शीलविकास न हो कर, विमल विज्ञान और वैराग्ययुक्त जगत् के शील के उन्नायक की तरह प्रस्तुत किया गया है। भरत से राम कहते हैं—'मुझे हर तरह से तुम्हारा भरोसा है, तथापि अवसर की प्रेरणा से मैं तुम्हें कुछ परामर्श दे रहा हूँ। पिता के अभाव में हम लोगों की बात केवल कुल-गुरु की कृपा से सँभल गयी है अन्यथा हमारे साथ प्रजा, पुरजन और परिवार सब का अनिष्ट होता।'

'नतरु प्रजा परिजन परिवारू, हमहिं सहित सबु होत खुआरू ‡।' में गोस्वामी जी के राम का ध्यान व्यक्ति के शील विनाश से ले कर समाज के पतन तक फैला हुआ है। राजधर्म यदि विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के आधार पर आधारित नहीं रहता तो प्रजा का शील विनष्ट हो जाता है और चारों तरफ़ विनाश ही विनाश दिखाई पड़ता है। राजा के आदेश भी विमल विज्ञान और विमल वैराग्य की लोकमंगलव्यापिनी दृष्टि को ले कर प्रचारित हों और उनका अनुवर्तन भी उसी प्रकार का। ऐसी ही परिस्थिति में अद्वैत दर्शन मनुष्य के जीवन के साँचे में ढल कर, शील से विशिष्ट हो कर जीवन बन जाता है, केवल चिन्तन नहीं रह जाता। इस तरह विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय अवतार के जीवन दर्शन के आधार पर एक क्रियात्मक दर्शन को प्रस्तुत करता है।

शील की इसी उच्चतम भूमि पर गोस्वामी जी ने अपने राम के चरित्र का विकास दिखाया है। इसी योजना के अनुसार उनके राम के भीतर सत्य, पवित्र और लोकमंगल विधायिनी विनम्रता का विकास दिखाया गया है। उनकी यह नम्रता सत्य और मंगल का अनुमोदन करने के समय अनत रमणीयता को ले कर सम्मुख प्रस्तुत होती है। इसी विनम्रता के साथ राम ने वसिष्ठ और जनक के उन कार्यों को भक्तिपूर्वक स्वीकार किया है, जिनके द्वारा उन्होंने दशरथ के स्वर्गारोहण के बाद संसार के शील की रक्षा कर ली।

भरत को समझाते हुए चित्रकूट की सभा में तुलसी के राम कहते हैं—'यदि असमय सूर्य अस्त हो जाए तो संसार में ऐसा कौन होगा जिसे कष्ट न पहुँचे। विधि ने सूर्य के समान तेजस्वी हमारे पिता को अस्त करके इसी तरह का उत्पात किया, लेकिन मुनि और मिथिलेश ने सब बिगड़ी हुई बातों को बना लिया। राज्य की व्यवस्था, सब की लज्जा और प्रतिष्ठा, धर्म, भूमि, धन और घर सब की रक्षा गुरु का प्रभाव कर लेगा और उस का परिणाम श्रेयस्कर ही होगा। इस सम्पूर्ण समाज के साथ घर और वन में गुरु का प्रसाद तुम्हारी और हमारी रक्षा करता रहेगा †।'

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३०३ के बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३०४ और पहले।

गुरु के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धा प्रदर्शित करते हुए, उसी का अंग बना कर तुलसी के राम ने बड़े स्नेह से भरत को संकेत दिया है कि गुरु का प्रसाद घर में तुम्हारी रक्षा करेगा और वन में हमारी। तुम घर में रहो और मैं वन में जाऊँ। इस बात को रुखाई से न कह कर मर्यादा पुरुषोत्तम ने अतर्कित और असामान्य पवित्र शिष्टता के ढंग से भरत के सामने रख दिया है। इससे एक तरफ़ भरत को मधुर स्नेह दिया है और दूसरी तरफ़ गुरु को श्रद्धा। भरत की रक्षा की भावना के साथ उन्हें स्नेह प्रदान किया है और सब की रक्षा का विधान करने वाले गुरु के लिए अपने हृदय की श्रद्धा, गोस्वामी जी के राम ने समर्पित की है।

'सहित समाज तुम्हार हमारा, घर बन गुरु प्रसाद रखवारा‡।' में इसी तरह श्रद्धा, भक्ति, स्नेह, व्यक्ति के आदर्श तथा लोक के आदर्श के संकेत बहुत थोड़े-से शब्दों में दे दिये गये हैं।

इसके बाद विमल वैराग्य से अभिमानरहित और विमल विज्ञान के मधुर आदेश भरत को देते हुए राम कहते हैं—'माता, पिता, गुरु और स्वामी की आज्ञा सम्पूर्ण आदर्श की तरह है। वह पृथ्वी को धारण करने के लिए शेष की तरह है। उस आज्ञा का पालन तुम करो और मुझे भी ऐसा अवसर दो, मेरे लिए भी ऐसा अनुकूल वातावरण पैदा करो जिससे मुझे उनकी आज्ञा पालन करने में सहायता मिले। इससे तुम्हारे द्वारा सूर्यकुल के आदर्शों की रक्षा होगी। गुरुजनों का आदेश' यदि पालित होता रहे तो एक इसी कारण से सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इससे कीर्ति, सुगति और सम्पति की त्रिवेणी का निर्माण होता है। इस पर विचार करके बहुत बड़े संकट को उठा कर भी प्रजा और परिवार को सुखी बनाओ। हमारे परिवार की विपत्ति को सब लोगों ने बाँट लिया है। जनता का यह त्यागमय आदर्श मुझे बहुत बड़ा संतोष देता है। तुम्हें मेरे वापस आने तक बड़ी कठिनाइयों का सामना करना है। तुम्हें अच्छी तरह समझ कर ही मैं कुछ कोमल और कुछ कठोर बातें कह रहा हूँ। तुम्हें हर प्रकार से यही प्रयत्न करना चाहिए कि इस विषम परिस्थिति में मुझसे कुछ अनुचित कार्य न हो। बन्धु बड़ी कठिनाइयों के समय सहायक होता है। गिरते हुए वज्र को भी अपने हाथों से रोक कर वह बन्धु की रक्षा करता है। सेवक तो हाथ पैर और आँखों से अपने कर्त्तव्यों का पालन करके अपने को योग्य सिद्ध करता है पर स्वामी तो केवल मुख से आदेश दे कर ही स्वामी बन जाता है। सेवक के इसी उत्सर्गमय प्रेम के कारण सेवाभाव की प्रशंसा सब सुकवि करते हैं†।'

राम के भीतर जो प्रेम भरत के लिए है उसमें मधुर-स्नेह और अटल विश्वास है। इसी को प्राप्त करके भरत ने अपने को धन्य समझा। गोस्वामी जी ने यहाँ बताया है कि भगवान राम की अमृतमयी वाणी अपने रूप में प्रेम के समुद्र को सब के सम्मुख प्रस्तुत कर सकी। वहाँ का समाज इस स्नेह की समाधि में मग्न हो कर शिथिल हो गया

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३०४ के बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३०५ और पहले।

था। उनकी अवस्था का वर्णन करना सरस्वती की शक्ति के बाहर की बात थी। वह मौन हो गयी थी। सब की वाणी मूक हो गयी थी ‡।

राम के इस मधुर-स्नेह और विश्वास को प्राप्त करके भरत ने अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिए कहा—'आपके साथ वन जाने का सुख मुझे प्राप्त हो गया। संसार में जन्म लेने का लाभ मुझे हो गया †।' विमल वैराग्य और विमल विज्ञान के जिस ऊँचे आदर्श को ले कर मर्यादा पुरुषोत्तम वन में आये थे उसकी विराट् व्यंजना सरस्वती की सम्पूर्ण शक्ति को ले कर उन्होंने चित्रकूट की इस सभा में की थी और वनवास की सम्पूर्ण अवधि के भीतर उसी का विकास अपने पूर्ण सौन्दर्य को प्राप्त करने वाला था। इसकी सम्पूर्ण भूमिका का सौन्दर्य भगवान् राम की इस वाणी में पा कर भरत को स्वामी के साथ शील-सौन्दर्य की झाँकी देखने का फल प्राप्त हो गया। उसे देख कर उनका हृदय महानतम हो गया। संसार में जन्म ले कर पूर्ण होने का मानव का लक्ष्य उन्होंने पूर्ण शील का दर्शन कर प्राप्त कर लिया था और पूर्ण मानव, उनके भी भीतर इसी प्रभाव के प्रकाश में उत्पन्न हो गया था। उनके 'दुःख और दोष' सब 'विमुख' हो गये थे $।

प्रत्येक मनुष्य के भीतर महामानव को जागृत करने की अपनी योजना को गोस्वामी जी ने रामभक्ति के इसी शील पक्ष को ले कर पूरा किया है। राम का महामानव वन की तपस्या में तप कर जगत् के सामने भास्वित हुआ और उसके भीतर लोकमंगल का विधान कर सका। उसी महामानव के प्रकाश में अपने भीतर विराटता का अनुभव करके भरत अपने जन्म लेने के लक्ष्य को सिद्ध समझ रहे हैं और चित्रकूट की उस सम्पूर्ण भूमि को देख लेना चाहते हैं जहाँ महामानव मर्यादा पुरुषोत्तम के चरण पड़े हुए हैं *।

गोस्वामी जी के अनुसार मानव के शील का उच्चतम विकास देवों के शील को भी पवित्रता की सात्त्विक प्रेरणा दे सकता है। विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के भीतर विकसित होने वाला राम और भरत का शील इतना पवित्र, आकर्षक और जगन्मंगलविधायक है कि स्वार्थी देवता भी रघुकुल की प्रशंसा करके कल्पतरु के पुष्पों की वर्षा करने लगे। इस शील के प्रकाश के आलोक में उनके हृदय के भीतर का स्वार्थान्धकार भी दूर हो गया।

इस विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के भीतर गोस्वामी जी ने जो प्रभाव देखा है, वह इतना है कि देवता लोगों के भीतर से भी वह स्वार्थ के अंधकार को नष्ट हो जाने को बाध्य कर देता है और उनके हृदय प्रेम से विवश हो कर हर्ष में मग्न हो गये। 'धन्य भरत जय राम गोसाईं, कहत देव हरषत बरिआईं।" से यही सत्य प्रस्तुत किया गया है §।

विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के भीतर ऐसा स्वामि-सेवक भाव पैदा होता है जो निःस्वार्थता के कारण परम पवित्र होता है। उसके सौन्दर्य को स्वार्थमग्न स्वामिसेवक

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३०५ के बाद। † वही। $ वही। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३०६ के बाद। § रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३०७ के बाद।

भाव कभी प्राप्त ही नहीं कर सकता। 'सेवक-स्वामि सुभाउ सुहावन, नेमु पेमु अति पावन पावन ‡।' ऐसे परम पावन स्वामिसेवक-भाव के भीतर स्वामी का स्वभाव ऐसा सुन्दर होता है कि सेवक उसकी ओर आकृष्ट हो कर स्वयं आत्मोत्सर्ग करके महान् हो जाता है। राम के सुन्दर स्वभाव के कारण भरत का शील इसी सिद्धान्त के आधार पर परम सुन्दर और पवित्र हो गया है।

ब्रह्म के सच्चिदानन्द-स्वरूप के साक्षात्कार के रूप में गोस्वामी जी ने तीर्थों को देखा है। ब्रह्म का आनन्दांश ही उनके अनुसार तीर्थों की सृष्टि करता है। इस आनन्द-स्वरूप ब्रह्म का सम्बन्ध 'सत्यं शिवं सुदरं' के त्रिसत्य के अन्तिम घटक सुन्दर के साथ अधिक रहता है। गोस्वामी जी इस सिद्धान्त को मानते हैं कि जगत् के भीतर शील के सौन्दर्य का आलोक पृथ्वी के जिस खंड पर पड़ता है वही तीर्थ बन जाता है। सुन्दर शील पृथ्वी के जिस खंड पर घटित हो जाता है, वही तीर्थ कहलाने लग जाता है। वही विराट् के आनन्दांश से सम्बद्ध हो कर परम पावन बन जाता है। चित्रकूट में मर्यादा पुरुषोत्तम के चरणों का स्पर्श पा जाने वाली भूमि भरत के लिए तीर्थ बन गयी है। एक परम पावन तीर्थ की सृष्टि, चित्रकूट में भरत के शील की पवित्रता से सम्बद्ध सौन्दर्य ने भी की है। वह है भरत कूप। चित्रकूट पर्वत के पास एक सुन्दर कूप पहले से ही पावन तीर्थ का रूप पा चुका था। भगवान् राम के अभिषेक के लिए आये हुए तीर्थजल को सुरक्षित रखने के लिए अत्रि मुनि ने यही स्थल चुना और एक विशेष कूप वहीं पर बना कर वह जल सुरक्षित रख दिया गया। यही भरत कूप तीर्थ बन गया†। इस तीर्थ के विषय में गोस्वामी जी ने कहा है—"विधिबस भयेउ बिस्व उपकारू, सुगम अगम अति धरम बिचारू $।"

नियति की प्रेरणा ने भरत के त्याग और तपोमय जीवन के उत्सर्ग के सौन्दर्य से भरतकूप के रूप में इस तीर्थ की सृष्टि कर दी। संसार के लिए यह तीर्थ अब तो सुगम हो गया, पर बलिदान के दुर्गम पथ पर चल कर भरत के शील के सौन्दर्य ने इस तीर्थ की सृष्टि की। विमल विज्ञान और विमल वैराग्य की त्यागमय और तपोमय अगम साधना से एक तपोनिष्ठ व्यक्ति शील के सौन्दर्य की साधना कर लेता है। उसकी साधना जो सुन्दर पथ बना देती है, उस पर चलना और लोगों के लिए सुगम हो जाता है। उस सौन्दर्य की भावना अपने भीतर प्राप्त करके लोग आदर्श के पथ पर सरलता से बढ़ते चले जाते हैं।

यद्यपि 'भरत कूप अब कहिहहिं लोगा, अति पावन तीरथ जल जोगा' * कह कर पावन तीर्थों से आये हुए अभिषेक के जल को पहले से ही गोस्वामी जी पुनीत मानते हैं, क्योंकि उन तीर्थों का निर्माण भी मानव के इसी सुन्दर शील ने किया है, फिर भी भरत का नाम इस तीर्थ के साथ जोड़ कर उन्होंने यही सिद्ध किया है कि यहाँ शील के एक दूसरे प्रकार के सौन्दर्य ने एक और पावन तीर्थ की सृष्टि की है। विमल विज्ञान और

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २०७ के बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३०८ के बाद। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३०८ के बाद। * रामचरित-मानस, अयोध्याकांड, दोहा ३०८ के बाद।

विमल वैराग्य के प्रकाश में जो भ्रातृप्रेम भरत के भीतर राम के लिए उत्सर्ग बुद्धि पैदा कर चुका है उसी के सौन्दर्य का प्रतीक इस भरत कूप के तीर्थ में उत्पन्न हो गया है। यह कूप स्वयं भरत के शील से सम्बद्ध हो कर पावन हो गया है, पर शील और सौन्दर्य के अनेक केन्द्रों से आये हुए जलों से सम्बद्ध हो कर यह अब 'अति पावन' हो गया है। अब इस पावनता के ऊपर भरत के परम पावन नाम की ही मुद्रा लगा दी गयी है और यह नवीन तीर्थ 'भरतकूप के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इस तरह विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के इस सोपान में गोस्वामी जी ने तीर्थों की उत्पत्ति को भी मनुष्य के शील के सौन्दर्य से सम्बद्ध कर लिया है। गोस्वामी जी का यह सिद्धान्त प्राचीन परम्परा के इतिहास से सम्बद्ध है, पर एक नूतन आलोक में सजग हो कर सिद्धान्तरूप में तीर्थों की उत्पत्ति को गोस्वामी जी ने यहाँ देखा है। इसी सिद्धान्त के अनुसार चित्रकूट का वन भी 'रामवन' तीर्थ हो गया है और उसमें भ्रमण करते हुए भरत के साथ बड़ा अलौकिकता को भी लौकिक भूमि पर उतार कर गोस्वामी जी ने देखा है‡।

गोस्वामी जी ने विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के प्रभाव में अलौकिकता का लौकिकीकरण किया है। इस सम्बन्ध में गोस्वामी जी की दृष्टि एक ऐसे स्वतः सिद्ध सत्य की ओर गयी है जिसे सिद्धान्त रूप में पहले कम लोगों ने ही देखा था। गोस्वामी जी यह मानते हैं कि सीमित विकास को देखने वाली दृष्टि के लिए ही अलौकिकता का विस्मय बाकी बचा रहता है। अनन्तभेदिनी दृष्टि के लिए कोई वस्तु विस्मयजनक नहीं होती। साधारण मनुष्य को जो बातें अलौकिक प्रतीत होती हैं, उसके लिए वे सब साधारण-सी बात जान पड़ती हैं। क्षुद्र सीमाओं को देखने वाली दृष्टि जब कभी उस सीमा के बाहर की किसी वस्तुस्थिति को देखती है तब उसे विस्मय होता है, पर जिस दृष्टि ने विराट् को देख लिया उसके किये अलौकिकता अवशिष्ट नहीं रह जाती। परम शक्तिवान् के सामने और सब शक्तिसम्पन्न वस्तुएँ सामान्य प्रतीत होने लगती हैं। विमल विज्ञान और विमल वैराग्य मनुष्य की दृष्टि को अनन्त व्यापिनी बना देते हैं। फलतः उसके सामने विस्मय के समान कोई मनोभूमि रह ही नहीं जाती।

अपना यह सिद्धान्त गोस्वामी जी ने कई स्थलों पर चित्रित किया है। भरत का रामवन-अटन भी एक ऐसा प्रकरण है जहाँ अनंत को देख लेने पर विस्मय की शान्ति की ओर संकेत किया गया है। चित्रकूट की भूमि को, रामवन को तीर्थ के समान अनुभव करके भरत उसकी यात्रा कर रहे हैं। उनके चरण कोमल हैं। उनकी रक्षा का कोई उपाय नहीं किया गया है। इन खुले पैरों की रक्षा के लिए कृतज्ञता के भार से दबी हुई भूमि कोमल हो गयी, क्योंकि उसी की रक्षा के लिए भरत आदर्श शील की साधना कर रहे हैं। कुश, काँटे कंकड़ इत्यादि सब कठोर वस्तुएँ छिप गयीं। पृथ्वी ने अपने मार्गों को मृदु और मंजुल बना दिया। शीतल, मन्द, सुगन्धित समीर बहने लगा। देवताओं ने पुष्पवृष्टि की, बादलों ने छाया कर दी, वृक्ष, फूल फल उठे और सब तृण कोमल हो

‡ रामचरितमानस, दोहा ३०९ के बाद।

गये । राम का प्रिय जान कर मृग उनकी तरफ़ देखने लगे, अपनी सुन्दर बोली से पक्षी उनका मनोरंजन करने लगे । अलौकिक प्रतीत होती हुई इस स्थिति को समझाते हुए गोस्वामी जी कहते हैं—'साधारण मनुष्य भी आलस्य में ही राम का नाम ले कर सब सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है । भरत तो राम को प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं, उन के लिए यह कौन बड़ी बात है ‡ ।'

विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के कारण जो शील भरत में विकसित हुआ है उसी के कारण उन्हें राम का स्नेह और उनकी शक्ति प्राप्त हो गयी है । इस विराट् शक्ति के लिए अलौकिक और असम्भव कोई वस्तु नहीं । जड कहलाने वाला जगत् भी उसकी सेवा करता है । इस शक्ति का परिचय प्राप्त कर लेने के बाद, गोस्वामी जी को भी कहीं अलौकिकता नहीं दिखाई पड़ती ।

तुलसी के अनुसार ज्ञानोपासना और प्रतीकोपासना दोनों की आवश्यकता होती है और प्रतीक, उपासना के क्षेत्र में नितान्त आवश्यक होता है । विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के इस सोपान में गोस्वामी जी ने इस दार्शनिक विचारधारा की ओर फिर से संकेत किया है । विदाई के समय राम ने विवेकपूर्ण राजधर्म का उपदेश दे कर पिता के आज्ञानुवर्तन के लिए भरत को अयोध्या जाने का आदेश दिया ।

यहाँ गोस्वामी जी ने कहा है—"बन्धु प्रबोध कीन्ह बहु भाँती बिनु अधार मन तोषु न साँती † ।" शान्ति की विविध प्रकार की प्रबोधमय योजना भी मन को सन्तोष और शान्ति नहीं दे पाती । प्रतीक का आधार पा कर, सगुण का सहारा पा कर, उसके विमल विज्ञान और विमल वैराग्यपूर्ण शील को देख कर उपासक का मन सन्तुष्ट और शान्त हो जाता है । उसके सब क्षोभ प्रशान्ति में परिणत हो जाते हैं । बिना राम के केवल विवेकपूर्ण राजधर्म का प्रबोध ले कर अयोध्या लौटने के समय भरत का मन सन्तुष्ट और प्रशान्त नहीं हो रहा था । भरत के इस पावन स्नेहमय शील को अनुभव करके महामानव ने अपनी चरण-पादुका का प्रतीक दे कर महामानव के हृदय को शान्ति और सन्तोष में निमग्न कर दिया § —"प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्ही, सादर भरत सीस धरि लीन्ही * ।"

इस चरणपीठ के साथ बहुत बड़ा आदर्श भरत के साथ अयोध्या गया । भरत ने अपनी सम्पूर्ण श्रद्धा, भक्ति और आदर भावना इन पादपीठों को अर्पित कर दी । ये दो चरण पीठ प्रजा के प्राणों के दो पहरेदारों की तरह अयोध्या गये । भरत के उज्ज्वल प्रेम रत्न के लिए ये सम्पुट बन गये । प्रेम के दो अक्षरों की तरह ये भरत के सामने प्रस्तुत हुए । रघुवंश के द्वार के दो रक्षक कपाटों की तरह ये भरत को प्रतीत हुए । दक्ष कर्तव्य के दो हाथों की तरह भरत ने इन्हें प्राप्त किया । सेवा के पवित्र धर्म के उज्ज्वल नेत्रों की तरह उन्होंने इन दो चरण पीठों को पाया । भरत को यह अवलम्ब पा कर इतनी प्रसन्नता हुई जैसे सीता और राम ही अयोध्या वापस जा रहे हों—दक्षिण चरण रक्षक राम के चरण की तरह और वाम सीता के चरण की तरह † ।

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३१० । † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३१४ के बाद । § वही । * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३१४ के बाद । § वही ।

गोस्वामी जी के अनुसार प्रेम की पराकोटि ही विमल विज्ञान और विमल वैराग्य है। विदा देने के समय, भरत को भेंटते समय राम के प्रेम का वर्णन करते हुए, गोस्वामी जी ने लिखा है—"भेटत भुज भरि भाइ भरत सो, राम-प्रेम-रसु कहि न परत सो‡।" गोस्वामी जी ने आगे लिखा है—'भगवान् राम के तन, मन और वचन से अनुराग उमड़ पड़ा। धीराग्रणी राम धैर्य को दूर भगा कर आँखों से पवित्र अश्रु की वर्षा करने लगे। मुनियों का समूह वसिष्ठ, जनक के समान धैर्यशाली व्यक्ति जिनके मन का सुवर्ण ज्ञानाग्नि से तप कर अकलुष और उज्ज्वल हो गया था, जिन्हें ब्रह्मा ने निर्लिप्त बना कर ही उत्पन्न किया था, जो उसकी दृष्टि में जल के भीतर जलास्पृष्ट कमल पत्र की तरह उत्पन्न हुए थे, वे भी राम और भरत की अनुपम और अपार प्रीति को देख कर, तन, मन, वचन और विरागपूर्ण चिन्तन के साथ उसी प्रीति में निमग्न हो गये। राम-भरत का अनंत प्रेम और जनक इत्यादि का अनंत ज्ञान मिल कर एकरूप हो गये। इन दोनों की अनंतता का रूप रसमय ही होता है। अनंत प्रेम, ज्ञान से वियुक्त हो कर नहीं रह सकता। तथा अनंत ज्ञान प्रेम के बिना असम्भव और निरर्थक है†।'

इसी बात को गोस्वामी जी ने बार-बार सिद्ध किया है। इस रसमय अनंतता की प्राप्ति विमल विज्ञान और विमल वैराग्य से ही होती है। विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के इस प्रभाव में चित्रकूट की इस सभा में अयोध्या चित्रकूट और वन के प्रत्येक व्यक्ति का हृदय प्रत्येक से एक हो गया था और चलते समय सब लोग सबसे मिले। पवित्र स्नेह से राम कैकेयी से मिले और सब लोगों को उनके साथ उन्होंने बड़ी मधुर विदाई दी$।

विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के प्रकाश में दर्शन जीवन बन जाता है। राम के व्यक्तित्व के साथ पृथ्वी पर दर्शन, जीवन बन गया था, इसकी चर्चा पग-पग पर गोस्वामी जी ने की है। उन्हें चित्रकूट की पर्णकुटी में सीता, राम और लक्ष्मण अपने विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के कारण भक्ति, ज्ञान और वैराग्य के समान दिखाई पड़े हैं। यहाँ सीता, भक्ति-प्रधान, राम ज्ञान-प्रधान, और लक्ष्मण वैराग्य-प्रधान चरित्र के प्रतीक हैं। दार्शनिक क्षेत्र के भक्ति, ज्ञान और वैराग्य के सिद्धान्त सीता, राम और लक्ष्मण के जीवन बन गये हैं*। रामायण के सब आदर्श पात्र दार्शनिक विचारों के प्रतीक के समान प्रतीत होते हैं।

ऐसे प्रकाश में जीवन का हर पग दर्शन का रूप प्राप्त कर लेता है। अयोध्या लौट कर आदर्श कर्त्तव्य के प्रतीक भरत जब नियमपूर्वक अवधि तक रहने की आज्ञा माँगने गुरु के पास जाते हैं तब गोस्वामी जी के वसिष्ठ कहते हैं—'तुम जो कुछ समझ लोगे, जो कुछ कहोगे और जो कुछ करोगे, वही संसार में धर्म का प्राण, उसका रहस्य, उसका

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३१५ के बाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३१५ के बाद से ३१६ तक। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३१८। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३२०।

तत्त्व और सार समझा जाएगा ‡।' कौसल्या और गुरु की आज्ञा ले कर भरत ने नन्दिग्राम में पादुका को सिंहासन पर अभिषिक्त किया, मुनिवृत्ति धारण करके वहीं रहने लगे और पादुका की आज्ञा ले कर राज्य-कार्य का संचालन करने लगे।

विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के प्रकाश में जो निश्छल प्रेम उत्पन्न होता है उसमें प्रेमी और प्रिय में अद्वैत स्थापित हो जाता है। ऐसे प्रेम की वियोगदशा में भी प्रेमी एकरूप रहते हैं। इसी स्वभाव के अनुसार मुनिव्रति राम के प्रेमी भरत का वियोग भी ऋषि धर्म को ले कर जीवन-पथ पर आलोक फैलाता है और आदर्श प्रेमियों के लिए प्रकाशस्तम्भ का कार्य करता है। इस प्रेम में इतनी उच्च कोटि का विमल वैराग्य रहता है कि उसके भीतर रहने वाली उत्सर्ग-भावना इन्द्र के ऐश्वर्य तथा कुबेर की सम्पत्ति को भी तृण के समान समझती है। जिस अयोध्या के राज्य को देख कर इन्द्र विस्मय में पड़ जाते हैं, जहाँ की सम्पत्ति को देख कर कुबेर भी लज्जित हो जाते हैं उसी ऐश्वर्य और सम्पत्ति से भरत को कोई लगाव नहीं है†।

गोस्वामी जी भरत के इस प्रेम की आलोचना करते हुए बताते हैं कि राम-प्रेमी भरत के लिए यह त्याग तो तृण के समान है। इसके लिए उनकी प्रशंसा नहीं की जाती। वे दूसरे कारणों से बड़े हैं। टेक और विवेक की सम्पत्ति के कारण चातक और हंस के प्रेम की सराहना होती है। चातक अपनी टेक के कारण और हंस अपने विवेक के कारण बड़ा है। बादल के लिए चातक अपनी टेक नहीं छोड़ता और अपने प्रिय दूध को अपने विवेक से जल से अलग कर के हंस ग्रहण कर लेता है। विमल विज्ञान और विमल वैराग्य के सिद्ध भरत के भीतर टेक और विवेक दोनों हैं। इसीलिए वे प्रेम के क्षेत्र में महानतम हैं$।' उनके भीतर राम के प्रेम का प्रण और उस प्रेम की सिद्धि के लिए कर्तव्य का धर्मपूर्ण विवेक दोनों ने बड़ा सुन्दर स्थान पाया है। भरत की भक्ति, उनके वैराग्य और गुणों की उज्ज्वल सम्पत्ति अवर्णनीय है।

गोस्वामी जी ने इस सोपान के अंत में भरत के प्रेम का वर्णन करते हुए कहा है—'सीता और राम के प्रेम के अमृत से पूर्ण भरत का जन्म यदि न हुआ होता तो मुनियों के मन के लिए भी अगम, यम, नियम, शम और दम के भयानक व्रत का आचरण कौन करता, अपने सुयश के बहाने दुःख, सन्ताप, दारिद्रय, दम्भ और दोष को कौन नष्ट करता और तुलसी के समान शठों को राम की तरफ़ कौन बलात् आकृष्ट करता *।'

इस सोपान के नायक भरत का रामप्रेम इतना पावन और ओजस्वी है कि सब के मन में पवित्र प्रेम पैदा कर देता है।

---

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३२२ के पहले। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३२२ के बाद। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३२३। * रामचरितमानस, अयोध्याकांड, अन्तिम छन्द।

भरत के चरित्र के गौरव को व्यक्त करते हुए गोस्वामी जी ने कहा है—'भरत के चरित्र को जो नियमपूर्वक तथा आदर से सुनते हैं, उनके भीतर सीताराम के प्रति प्रेम और संसार के प्रलोभनों के प्रति विराग अवश्य उत्पन्न होगा ‡ ।'

गोस्वामी के अनुसार विमल·विज्ञान और विमल वैराग्य विश्व-प्रेम के आधार हैं। उनमें और विश्वप्रेम में समवाय सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध अटूट है। इसी विमल विज्ञान और विमल वैराग्य-जन्य विश्वप्रेम के द्वारा मनुष्य के शील के उत्थान के लिए गोस्वामी जी ने राम और भरत के इस विमल विज्ञान और विमल वैराग्यपूर्ण प्रेम का उपयोग किया है और उस प्रेम में स्वयं तन्मय हो गये हैं।

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, सोरठा ३२५।

अध्याय ४

रामभक्ति : जीवन और विमल वैराग्य

शील के दार्शनिक विकास की दृष्टि से अरण्यकांड का तृतीय सोपान द्वितीय सोपान का समकक्ष ही है। द्वितीय सोपान विमल विज्ञान और वैराग्य सम्पादन है, और यह सोपान विमल वैराग्य सम्पादन है। विमल वैराग्य के विकास को गोस्वामी जी ने इस कांड में जीवन के और-और क्षेत्रों में चित्रित किया है। वैराग्य का दार्शनिक सत्य जीवन का व्यावहारिक सत्य हो कर इस कांड में विकसित हुआ है।

इस कांड के मंगलश्लोक में गोस्वामी जी ने शिव की प्रार्थना करते हुए, उन्हें वैराग्यरूपी कमल को विकसित करने वाला सूर्य कहा है। शंकर का जीवन त्याग और विराग का प्रतीक है। यह विमल वैराग्य ही जीवन के समग्र आदर्शों की जड़ है। इसीलिए मंगलश्लोक में शिव धर्मरूपी वृक्ष की जड़ कहे गये हैं। वैराग्य के साथ रह कर ही विवेक की शोभा होती है। विवेक के साथ यदि त्याग और विमल वैराग्य न रहे तो विवेक निष्क्रिय, मलिन, अर्थहीन और निकम्मा हो जाएगा। वैराग्य के अभाव में विवेक केवल दार्शनिक चिन्तनमात्र का एक अंग बन कर गद्दी तकियों के सहारे निकम्मा बन कर पड़ा रह सकता है। जीवन के सौन्दर्य का शिल्पी होने का सौभाग्य उसे न प्राप्त होगा। यह सौभाग्य उसे विमल वैराग्य के सहयोग से ही प्राप्त होता है। विमल वैराग्य विवेक का सुन्दर कर्मठ और सक्रिय रूप है। विमल वैराग्यमय शिव को विवेक-जलधि को प्रफुल्लित करने वाला, आनन्द देने वाला पूर्ण चन्द्र कहने का यही रहस्य है। अपने वैराग्य के द्वारा लोकमंगल का विधान करके शिव अपने विवेक के समुद्र को उल्लसित और आनन्दपूर्ण उमंगों से सक्रिय बनाते रहते हैं। इस विमल वैराग्य के उत्पन्न हो जाने पर पाप के बादलों का अन्धकार नष्ट हो जाता है, जीवन पवित्रता और तपस्या से आलोकित हो जाता है, उसके भीतर मिलने वाले ताप शान्त हो जाते हैं; अज्ञान के बादल की घटा विनष्ट हो जाती है, जीवन अकलुष हो जाता है और ऐसा ही वंदनीय व्यक्ति ब्रह्मा की सृष्टि का श्रेष्ट प्राणी होता है और राम का प्रिय होता है‡। ये सब गुण और अवस्थाएं शिव के समान आदर्श शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति में हैं, इसीलिए विमल वैराग्य के केन्द्र शिव के साथ गोस्वामी जी ने इस विशेषण-शृंखला को जोड़ दिया है।

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, मंगलाचरण, श्लोक १।

संसार के मंगल का विधान करने के लिए मुनि-वेश में वन-पथ पर विचरण करते हुए राम में यही विमल वैराग्य है। इस वनकांड में उनके इसी विमल वैराग्य पूर्ण रूप का ध्यान गोस्वामी जी ने किया है‡।

विमल वैराग्य की शक्ति का प्रभाव प्रदर्शित करने के लिए इस कांड की प्रायः पूरी कथा विमल वैराग्य-सम्पन्न शिव ने विमल वैराग्य की अग्नि में तपी हुई उमा से कही है। उन्होंने प्रारम्भ ही में बताया है—'राम की कथा बड़ी रहस्यमयी है। पंडित और मननशील मुनि उससे अपने जीवन के लिए वैराग्य प्राप्त करते हैं। वैसे जड और मूर्ख प्राणी, जो आदर्शों से प्रेम नहीं करते, जो राम के पथ से बहुत दूर हैं, उन्हें इस कथा से अज्ञान ही मिलेगा†। आदर्शप्रिय भरत को राम के इस शील का मर्म ज्ञात था, इसीलिए उन्हें विमल वैराग्य की प्राप्ति हुई और जडवुद्धि जयन्त को उसी चरित के भीतर से अज्ञान और विमोह प्राप्त हुए$। अनन्त शक्ति के केन्द्र ब्रह्म राम को मनुष्य समझ कर उसने उनकी शक्ति की परीक्षा लेने के लिए सीता का अपमान किया। विमल वैराग्य के द्वारा अपनी अनन्त शक्तियों को छिपा कर संसार को उत्तम पुरुष की मर्यादाओं की शिक्षा देने वाले राम के विरोधी को कहाँ स्थान मिल सकता है। विमल वैराग्यपूर्ण मर्यादा पुरुषोत्तम की शक्ति का स्पर्श पा कर तृण ब्रह्मास्त्र बन गया और जडता का साथ देने वाला इन्द्रपुत्र उसके सम्मुख अवस्तु। जडता का स्पर्श पा कर शक्ति निष्क्रिय बन जाती है और विमल वैराग्य के पावन स्पर्श से तृण अमोघ शक्तिवान् ब्रह्मास्त्र बन जाता है। राम की इस पवित्र अमोघ शक्ति का विरोध करने वाला कहाँ स्थान पा सकता है—"राखि को सकइ रामकर द्रोही *।" जयन्त की रक्षा ब्रह्मा और शिव भी न कर सके§।

अज्ञानजन्य वासना के पथ पर चल कर जीवन की यात्रा करने वाले अभागे पथिक के लिए पूरी पृथ्वी तपे हुए लोहे के समान हो जाती है। उसका हर पग प्राणघातक और आत्मा के अवसाद का कारण बनता है। इस अवस्था को समझाते हुए इसी कांड की कथा के प्रवाह में कागभुशुंडि ने गरुड़ से कहा है—'जो राम के पथ से विमुख हो जाता है, उसके लिए माता भी मृत्यु के समान बन जाती है, पिता यम के समान हो जाता है, अमृत विष की तरह आचरण करने लगता है, मित्र सैकड़ों शत्रुओं की तरह व्यवहार करने लगता है, गंगा वैतरणी बन जाती है और सम्पूर्ण जगत् आग से भी अधिक तीव्र ताप देने लगता है×।' कोमलहृदय राम के पथ से अलग हो जाने वाला क्रूर हो जाता है। उसके लिए जगत् की सब शान्तिदायिनी वस्तुएँ विष की ज्वाला ही उत्पन्न करती हैं।

अपने अज्ञानजन्य मोह की अवस्तुता का पता जब लग जाता है तब जयन्त राम के विमल वैराग्य के सामने आत्मसमर्पण कर क्षमा प्राप्त कर लेता है। विमल वैराग्य अपनी

---

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, मंगलाचरण, श्लोक २। † रामचरितमानस, अरण्यकांड, मंगलाचरण, श्लोक २ के बाद वाला सोरठा। $ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा १ के पहले। * रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा १ के बाद। § वही। × वही।

प्रकृति से क्षमाशील होता है पर आदर्श की शिक्षा देने के लिए वह कुमार्ग पर चलने वालों को सुधारने के लिए दया करके दण्ड-विधान भी करता है।

राम के विमल वैराग्य के भीतर भक्तवत्सलता है, कृपालुता है और कोमल शील है। विमल वैराग्य ही उनका अपना निजगृह है। वे उसी में निवास करते हैं। उनका यह परमधाम उसी को प्राप्त होता है, जो अनासक्तिमय प्रेम (विमल वैराग्य) के प्रकाश से आलोकित हो जाता है। संसाररूपी समुद्र के लिए राम का शील मन्दराचल पर्वत की तरह है। उसकी समग्रता को जान कर साधक उसके भीतर से सात्त्विकता के रत्नों को ले लेता है, और अभिमान इत्यादि दूषित प्रवृत्तियों को छोड़ देता है। शील के इसी सौन्दर्य के कारण राम त्रैलोक्य के हृदय-नायक हैं। इसी शील के कारण उनसे सूर्यकुल की शोभा बढ़ी। यही शील संतों को सन्तोष देता है। इसी के कारण राक्षस पराहत होते हैं। इसी शील की शिव उपासना करते हैं। ब्रह्मा इत्यादि सब देवता इसी शील की पूजा करते हैं। विमल ज्ञान ही इस राम का शरीर है। यही शील सज्जनों का अंतिम लक्ष्य है। यही आनन्द का मूल स्रोत है। विमल वैराग्य की इसी विराट् परिणति—रामब्रह्म के अवतार मर्यादा पुरुषोत्तम के सामने इस सोपान में विरागी अत्रि का पवित्र हृदय श्रद्धावनत हो जाता है और वे उनसे चरणों की भक्ति का ही वरदान माँगते हैं। शील के सौन्दर्य का बार-बार साक्षात्कार करके वे आनन्द में निमग्न होना चाहते हैं। मुक्ति का आनन्द उनके लिए नीरस, हेय और आकाशकुसुम की तरह है‡।

विमल वैराग्य के इस प्रकरण में दाम्पत्य के भीतर नारी और पुरुष के प्रेम की त्यागमय पवित्रता की ओर बार-बार ध्यान आकृष्ट किया गया है। विमल वैराग्य की पवित्र अनासक्ति के भीतर से उत्पन्न होने वाला त्याग इस प्रकरण में गोस्वामी जी ने फिर से चित्रित किया है। पवित्र त्याग से जीवन और जगत् की रक्षा होती है। दाम्पत्य के भीतर भी इस त्याग की आवश्यकता है, क्योंकि जीवन का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण अंश दाम्पत्य के सौन्दर्य के भीतर ही विकसित होता है। यह विमल वैराग्यपूर्ण आत्मविसर्जन सीता में है। इस सीता को पातिव्रत की शिक्षा दे कर अत्रिपत्नी अनसूया कहती हैं—"सुनु सीता तव नामु सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं। तोहि प्रानप्रिय रामु कहेउँ कथा संसार हित†।"

गोस्वामी जी की अनसूया ने केवल लोक-मर्यादा पर जोर देने के लिए ही सीता को शिक्षा दी, अन्यथा सीता तो सती स्त्रियों के लिए आदर्श हैं।

गोस्वामी जी इस बात को स्पष्ट बता देना चाहते हैं कि सुन्दर, स्वस्थ, बुद्धिमान्, धनी, कोमल स्वभाव वाले और तेजस्वी पति से तो पत्नी का स्वार्थ सिद्ध होता रहता है। ऐसे पति के सम्पर्क में रहने वाली नारी का आत्मोत्सर्ग उतना महत्त्व नहीं रखता। इस आत्मोत्सर्ग के साथ, न चाहने पर भी, नारी की कृतज्ञता तथा स्वार्थसिद्धि के लिए उसका आभार अवश्य ही व्यक्त होगा। अपने इस कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए धर्म उसे बाध्य

---

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, सोरठा ३ के बाद वाला छन्द। † रामचरितमानस, अरण्यकांड, सोरठा ५।

करता है। पर नारी के शील का, उसकी आत्मबलि का उच्चतम विकास अहेतुक प्रेम के भीतर ही दिखाई पड़ सकता है। यह अहेतुक प्रेम जीवन के भीतर अस्वस्थ संघर्ष नहीं उत्पन्न होने देता। इसके द्वारा वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के क्षेत्रों में एक पवित्र और सक्रिय शान्ति का प्रकाश जीवन को आनन्दमय और सन्तोषमय बनाये रखता है। जीवन के इसी आनन्द और सन्तोष की सिद्धि के महायज्ञ में भाग लेने के लिए गोस्वामी जी ने नारी को भी निमन्त्रित किया है। उनकी अनसूया ने सीता से कहा है—"वृद्ध रोगवस जड़ धनहीना, अंध बधिर क्रोधी अति दीना। ऐसेहु पतिकर किये अपमाना, नारि पाव जमपुर दुख नाना। एकइ धरम एकु व्रतु नेमा, काय वचन मन पति पद प्रेमा ‡।"

अपनी सब आकांक्षाओं को, अपने सब सांसारिक हेतुओं को विसर्जित करके जब विमल वैराग्य को अपना साथी बना कर नारी अहैतुक प्रेम की साधना करेगी तब उसका जीवन तपोमय, राममय, पवित्र और महान् होगा। तभी वह जगदम्बा जगद्धात्री बन सकेगी...नारी के इसी तपोमय रूप के गोस्वामी जी उपासक थे। विमल वैराग्य की इसी उच्च भूमि पर पहुँच कर दाम्पत्य जीवन में नारी ब्रह्मनिष्ठ हो जाती है। उसके जीवन का पूर्ण विकास इसी पथ पर पावन प्रेम के आलोक में होता है।

नारी के लिए निर्दिष्ट ऊपर के प्रेम-पथ पर कोमल शील की ओर तो गोस्वामी जी ने बार-बार संकेत किया ही है, इसके अतिरिक्त भी राम के कोमल शील के आधार पर पुरुष के भीतर भी विमल वैराग्य की साधना का संदेश गोस्वामी जी ने दिया है और इस शील के प्रति वे इतने अधिक आकृष्ट हुए हैं कि इसका निर्देश वे बार-बार करते हैं, और रामचरितमानस का यह मूलमंत्र है। साधारण दुर्बल स्वाभाव वाले मनुष्य में शक्ति के विकास के साथ कठोरता विकसित होती है पर विमल वैराग्य की अनंत विभूति के साथ मर्यादा पुरुषोत्तम की अनंत शक्ति दयालुता की अनंत कोमलता को ले कर चलती है। इससे वे लोकमंगल विधान करते हैं। वे लोकसेवक के रूप में अवतीर्ण हुए हैं। अत्रि से, चलने के पूर्व, आज्ञा लेते हुए वे कहते हैं—"आयसु होइ जाउं बन आना। संतत मो पर कृपा करेहू, सेवक जानि तजेहु जनि नेहू †।"

यहाँ अनंत शक्तिवान् राम पवित्र विराग के कारण अपनी अनन्त शक्ति के साथ अपार कोमलता को लिये हुए हैं। इसी बात को बताने के लिए तुलसी के अत्रि भगवान् राम का उत्तर देते हुए कहते हैं—'जिसकी कृपा, ब्रह्मा, शिव और सनकादि परम सत्य को जाननेवाले भी चाहते हैं वही आप, अकाम और दीन के सामने इतने स्नेहयुक्त और कोमल हो जाते हैं। जिससे बढ़ कर और कोई देवता नहीं है, उसका शील ऐसा क्यों न हो §।'

गोस्वामी जी का यह सिद्धान्त है कि अज्ञानजन्य सांसारिक भावनाओं का बन्धन मनुष्य पर इतना दृढ़ बँधा हुआ है कि ज्ञान, योग, जप और धर्म उसे शिथिल नहीं कर

---

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ४ के बाद। † रामचरितमानस, अरण्यकांड, सोरठा ५ के बाद। § वही।

सकते। राम के इस कोमल शील का आकर्षण ही इस बन्धन को भूलने में व्यक्ति की स्वाभाविक सहायता कर सकता है, उसे राम के शील के सौन्दर्य से विभूषित कर सकता है तथा अज्ञान के आकर्षण के प्रति उसे विमल वैराग्य दे सकता है ‡।

सरभंग एक ऐसे ऋषि हैं जिन्होंने अपने मन को राम के शील के सौन्दर्य में मग्न कर लिया है। इस शील के सौन्दर्य का साक्षात्कार कराने वाले सीता और राम के सुन्दर शरीर उनके ध्यान के लक्ष्य हैं †। अत्रि से मिलने के बाद सरभंग के आश्रम में राम के सान्निध्य में ऋषि का विमल वैराग्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। राम के रूप को देख लेने के बाद उनका विमल वैराग्य इस सीमा पर पहुँच जाता है कि वे अपना शरीर भी नहीं देखना चाहते। योगाग्नि से अपने शरीर को भस्म करके वे स्वर्ग चले गये। योगाभ्यास, यज्ञ, जप, तप जितना सरभंग ने किया था, उन सबसे अनासक्त हो कर उन्होंने केवल भक्ति का वरदान माँग लिया $ ।

गोस्वामी जी के अनुसार वैराग्य विमल तभी होता है जब वह मनुष्य को संसार के स्वार्थों से पृथक् हटा कर राम के शील और सौन्दर्य में मग्न कर दे। यह विमल वैराग्य ही अहैतुकी भक्ति है। यही भक्ति उनके सरभंग ने माँगी—"सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम। मम हिय बसहु निरंतर सगुन रूप श्रीराम"। संसार की सब आसक्ति छोड़ कर सगुण भक्ति के विमल वैराग्य में सरभंग लीन हो गये। अपने शरीर की आसक्ति भी न सह सकने के कारण उसे भी छोड़ दिया * ।

भक्त भगवान् से अलग रह कर उसके शील सौन्दर्य का साक्षात्कार करना चाहता है। इसीलिए उसे सगुण रूप की भेदभक्ति चाहिए §।

विमल वैराग्य सब देवताओं में भेद न देख कर उनके भीतर एक पवित्र एकता देखता है। पवित्र हृदय से सब में राम का दर्शन करके वह केवल राम के ही आश्रय में चला जाता है। स्वप्न में भी उसे किसी दूसरे देवता का भरोसा नहीं रहता—"सपनेहु आन भरोस न देवक, मन क्रम बचनु राम-पद-सेवक"—ऋषि सुतीक्ष्ण के लिए कहा गया है। ऋषि सुतीक्ष्ण इसी तरह के अनन्य प्रेम वाले रामभक्त थे ×।

उपास्य के रूप-दर्शन से भी विमल वैराग्य की उत्पत्ति होती है। संसार के विविध रूपों में आसक्त मन को अनंत सौन्दर्य विभूषित राम का रूप अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। उसके भीतर सांसारिक सौन्दर्य के प्रति विमल वैराग्य उत्पन्न कर देता है। सम्पूर्ण विश्व में अपने उपास्य के रूप को देखने के कारण भी उसका संसार के प्रति वैराग्य द्वेषपूर्ण न हो कर मैत्रीपूर्ण और विमल हो जाता है। 'वदनपंकज' का दर्शन उसके लिए 'भवमोचन' हो जाता है। इसी स्थिति में पहुँच कर सुतीक्ष्ण राम के आने का समाचार पा कर कहते

---

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, सोरठा ६। † रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ७। $ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ७ के बाद। * रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ८। § रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ८ के बाद। × रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ९ के बाद।

हैं—"होइहिं सुफल आजु मम लोचन, देखि वदन पंकज भवमोचन‡।" प्रिय का सौन्दर्य भक्त को अपनी ओर आकृष्ट करके विमल वैराग्य के प्रकाश में संसार से—उसके प्रलोभनों के बन्धनों से, उसे मुक्ति दे देता है।

तुलसी के अनुसार भक्ति के भीतर ज्ञान और प्रेम की एकाकार परिणति हो जाती है। उनके अनुसार ज्ञान जब प्रेम से युक्त होता है तभी विमल वैराग्य उसके भीतर उत्पन्न होता है। बिना प्रेम के ज्ञान व्यर्थ है। प्रेम ज्ञान को विमलता प्रदान करता है और ज्ञान के भीतर उत्पन्न हुआ वैराग्य विमल हो जाता है। ज्ञान के भीतर उत्पन्न हुआ अभेद वैराग्य को उत्पन्न करता है और प्रेम की भावना उस वैराग्य को स्नेह की कोमलता से विमल बना देती है। इस वैराग्य में घृणा इत्यादि कुछ अवशिष्ट नहीं रह जाते। ज्ञानी जब प्रेम में मग्न हो जाता है तब वह इतना सजीव और महान् हो जाता है कि उसकी ऊँचाई का अनंत सौन्दर्य अनिर्वचनीय हो जाता है। उमा से चर्चा करते हुए शंकर, सुतीक्ष्ण की इसी अवस्था की ओर संकेत करते हैं—"निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी, कहि न जाइ सो दसा भवानी†।" सुतीक्ष्ण के समान ज्ञानी मुनि जब निर्भर प्रेम में मगन हो गया तब उसके भीतर उत्पन्न विमल वैराग्य की अवस्था अनिर्वचनीय हो गयी। उसके भीतर उत्पन्न होने वाली प्रेममयी सजगता के माधुर्य का वर्णन जड़ वाणी नहीं कर सकती।

गोस्वामी जी ने अष्टांग योग को भक्ति का साधन बना लिया है। उनके सुतीक्ष्ण राम के रूप का ध्यान करते-करते अपने भीतर रूप की धारणा जागृत कर अचल आसन पर आसीन हो कर रूपानन्द की समाधि में मग्न हो जाते हैं। जगत् के आनन्द से हट कर वे विमल वैराग्य के भीतर प्राप्त हुए राम के रूप के आनन्द की समाधि में मग्न हो जाते हैं। 'मुनि मगु माझ अचल होइ बैसा$' में योग के स्थिर आसन की ओर संकेत है। 'दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा, को मैं, चलेउँ कहाँ, नहिं बूझा*।' में प्रेमाधिक्य और ध्यानजन्य धारणा का लक्षण है। 'मुनिहिं रामु बहु भाँति जगावा, जाग न ध्यानजनित सुख पावा§।' में ध्यान और धारणाजन्य समाधि के भीतर प्रिय के लोकमंगल विधायक रामरूप के दर्शन का आनन्द चित्रित किया गया है। तुलसी के सुतीक्ष्ण की मर्यादा-पुरुषोत्तम के लोकमंगल विधायक राजा राम के रूप से ही आसक्ति है। समाधि के भीतर से राम जब भूप रूप को छिपा कर चतुर्भुज रूप दिखाते हैं, तब सुतीक्ष्ण इस तरह से तिलमिला कर जाग उठते हैं जिस तरह मणि खो जाने पर सर्प तिलमिला कर उसे खोजने के लिए व्याकुल हो उठता है×।

इस तरह योगांगों का उपयोग करके भी विमल वैराग्य के नेत्रों से दिखाई पड़ने वाले रूप और शील के सौन्दर्य की आनन्दपूर्ण समाधि में गोस्वामी जी सगुण भक्ति की ही साधना करते रहते हैं। वहाँ वे योगियों की अखंड ब्रह्मज्योति को न देख कर 'बाहरजामी'+

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोह ९ बाद। † रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ९ के बाद। $ वही। * वही। § वही। × वही। + कवितावली, उत्तरकांड, सवैया १२९।

राम के रूप और शील के सौन्दर्य को ही 'अन्तर्जामी'‡ बना कर देखते रहते हैं। उनके सुतीक्ष्ण इसी बात की गवाही देते हैं।

विमल वैराग्य के प्रकाश के साथ भक्त का दीनभाव उदित होता है। उपास्य की अमित महिमा को देख कर तुलसीदास जी के सुतीक्ष्ण इतने नम्र और दीन हो गये हैं कि वे अपनी शक्ति के लिए अहंकारपूर्ण आसक्ति का विसर्जन कर देते हैं। हृदय की पवित्रता के भीतर से उत्पन्न हुआ यह भगवत्प्रेमपूर्ण विराग, विमल वैराग्य है। इस विमल वैराग्य की दृष्टि से अनंत शील शक्ति और सौन्दर्य की अमित महिमा को उपास्य में देख कर सुतीक्ष्ण अपने को बड़ा हीन अनुभव करते हैं। उस अनंतता के सम्मुख अपने को क्षुद्रतम अनुभव करके उनका हृदय भक्ति से कोमल हो उठता है। वे कहते हैं—"महिमा अमित मोरि मति थोरी, अस्तुति करउँ कवनि विधि तोरी†।"

जब यह दीनभाव भक्त के भीतर उत्पन्न होता है तब उसका अभिमान दूर हो जाता है और भगवान् की विभूति की सम्पूर्णता को वह अपने सम्पूर्ण मन से देख लेता है, साधक की अभिमानशून्यता के भीतर ही भगवान् की अनंत शक्ति का पूर्ण प्रतिबिम्ब बन सकता है। हृदय की पूर्णता ही भगवान् की पूर्णता का अनुभव कर सकती है। अभिमान जितना ही अधिक रहता है, उतना अधिक ही वह हृदय को घेर कर खंडित किये रहता है। नष्ट होते-होते जब वह शून्य हो जाता है तब हृदय पूर्ण हो कर भगवान् की पूर्णता की भावमयी झाँकी प्राप्त कर लेता है।

जिस तरह शंकराचार्य का अद्वैत-दर्शन सत्य के व्यावहारिक और पारमार्थिक दो रूपों को मानता है उसी तरह गोस्वामी जी का मत मुख्यत: विशिष्टाद्वैत पर आधारित होने के कारण सत्य के उन दोनों रूपों को देखता है। गोस्वामी जी ने माया की दृष्टि से दिखाई पड़ने वाले भगवान् के व्यावहारिक रूप को भी सत्य माना है और ज्ञान की दृष्टि से दिखाई पड़ने वाले पारमार्थिक अद्वैत रूप को भी। शंकराचार्य के अद्वैतवाद और रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद में अंतर यही है कि व्यावहारिक सत्य अद्वैत दृष्टि से भ्रम माना जाता है और पारमार्थिक अद्वैत सत्य ही परम सत्य या केवल सत्य माना जाता है। पर विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय में भगवान् का मायामय रूप भी सत्य माना जाता है, भ्रम नहीं।

माया को ब्रह्म का अंग मान लेने के कारण विशिष्टाद्वैती दृष्टि ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों को सत्य मानती है। इसीलिए रामायण के सब भक्त पात्र ब्रह्म राम के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का ध्यान करते हैं, पर सगुण रूप लोक-मर्यादा के सौन्दर्य, मधुरता और पवित्रता से सम्बद्ध होने के कारण उन्हें अधिक प्रिय है। ब्रह्म के निर्गुण रूप को मनुष्य की चिन्तनमयी सत्ता प्राप्त करती है, उसके सगुण रूप को साधक की प्रेम-भावना तथा उसकी शील-भावना अपने भीतर भावित करती रहती है। चिन्तन से अधिक

‡ कवितावाली, उत्तरकांड, सवैया १२९। † रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा १० के बाद।

शील के क्रियात्मक पक्ष पर आस्था रखने के कारण गोस्वामी जी पवित्र क्रियाओं के जनक, राम के सुन्दर रूप की ओर ही अधिक आकृष्ट हुए हैं और मानस के दूसरे पात्र भी सगुण भक्ति की ओर अधिक झुके हुए हैं।

इसी भावना पद्धति के आधार पर तुलसी के सुतीक्ष्ण की विमल वैराग्यपूर्ण दृष्टि राम के आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों रूपों को देख कर व्यावहारिक रूप में अन्ततोगत्वा निमग्न हो जाती है। वे निर्गुण की भावना तो कर सकते हैं, पर लीन सगुण के ही ध्यान में होते हैं। वे अरूप राम की स्तुति उसे 'ज्ञानगिरागोतीतं अरूपं' ‡ कह कर भी करते हैं और 'सीतानयनचकोर निशेशं' † कह कर भी। वे कहते हैं—'यद्यपि आप विरज, व्यापक, अविनाशी और सबके हृदय में निरन्तर वास करने वाले हैं, तथापि सीता और लक्ष्मण के साथ आपका काननचारी रूप मेरे हृदय में निवास करे $।'

राम का यह काननचारी रूप ही अपने परम त्यागमय (विमल वैरागमय) रूप से मानव के शील के परमोच्च विकास को प्रदर्शित करता है। गोस्वामी जी इसीलिए इस रूप की उपासना करते हैं और मानस के सब भक्तपात्र इसी रूप के ध्यान में मग्न होते हैं।

गोस्वामी जी के अनुसार भक्त में समग्र शुभगुण, अविरल भक्ति, वैराग्य और विज्ञान एक साथ रहते हैं। इसीलिए सुतीक्ष्ण को वरदान देते हुए राम ने कहा है—"अविरल भगति विरति विज्ञाना, होउ सकल-गुन-ज्ञान-निधाना *।" लेकिन भक्त इन सबका स्रोत राम की सगुण लीला में देख कर अपने को उसी रूप तक सीमित रखता है। गोस्वामी जी के सुतीक्ष्ण भी इसी तरह के भक्त हैं। वे कहते हैं—'प्रभु ने जो वर दिया वह मुझे मिल गया। अब जो वर मुझे अच्छा लगता है वह दीजिए §।' और उस वरदान में सुतीक्ष्ण कहते हैं—'धनुष और बाण धारण करने वाले राम, सीता और लक्ष्मण के साथ मेरे हृदय के आकाश में चन्द्रमा के समान सदा निवास करें, यही मेरी कामना है ×।'

भगवान् राम का मर्यादापुरुषोत्तम और लोकमंगल विधायक रूप मानस के सब भक्त पात्रों को प्रिय है।

सुतीक्ष्ण के गुरु अगस्त्य भी उसी विमल वैराग्य की दृष्टि पाये हुए एक भक्त हैं जो निर्गुण को जानते हुए भी सगुण से ही प्रेम करना अपने जीवन का लक्ष्य समझते हैं। विशिष्टाद्वैती भक्ति-पद्धति में विशिष्ट और अद्वैत दोनों ब्रह्मस्वरूपों की ओर भक्तों का झुकाव स्वाभाविक है, पर रूप की उपासना को नैतिक और दार्शनिक बल देने के लिए उत्पन्न हुए रामानुज ने रूप पर अधिक आसक्ति पैदा की और यही आसक्ति तुलसी और मानस के सब भक्त चरित्रों में दिखाई पड़ती है।

अगस्त्य भी यही वरदान माँगते हैं—"यह वर माँगउँ कृपा निकेता, बसहु हृदय श्री अनुज समेता +।"

---

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा १० के बाद। † वही। $ वही। * रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ११ के पहले। § वही। × रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ११। + रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा १२ के बाद।

वे आगे यह भी कहते हैं—"जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता, अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता। अस तव रूप बखानउँ जानउँ, फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ ‡।"

निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान और प्रतिपादन करने के बाद भी बार-बार गोस्वामी जी के अगस्त्य में सगुण ब्रह्म का प्रेम तरंगित होने लगता है। निर्गुण का ज्ञान और सगुण के प्रति उमंग भरा प्रेम गोस्वामी जी की विमल वैराग्य पूर्ण भक्ति का लक्षण है।

विमल वैराग्य के इस सोपान में लक्ष्मण ने राम से ज्ञान, विराग, माया, भक्ति, ईश्वर और जीव के लक्षण पूछे हैं। तुलसी के राम के अनुसार माया के संक्षिप्त लक्षण इस प्रकार हैं: 'मैं और मेरा, तुम और तुम्हारा में दिखाई पड़ने वाला भ्रममूलक सम्बन्ध-ज्ञान ही माया है। इसी माया के वश में सब जीव रहते हैं। इन्द्रियों की अनुभूति में आने वाला अखिल विश्व जिसका अनुभव इन्द्रियों के द्वारा मन करता रहता है, सब माया का विस्तार है †।'

माया के दो भेद हैं—विद्या और अविद्या। अविद्या का स्वभाव दुष्ट है और वह अतिशय दुःखरूपिणी है। उसी के वश में हो कर जीव भवकूप में पड़ता है। विद्या से जगत् की सृष्टि होती है। उसमें स्वयं अपना बल नहीं होता। वह ईश्वर की प्रेरणा से ही कार्य करती है $ ।

सांख्य के प्रकृति-पुरुष के भी प्रायः यही लक्षण हैं। सांख्य के अनुसार पुरुष परम चेतन है और प्रकृति परम जड। पुरुष नेत्रवान् है और प्रकृति अंधो। पुरुष ज्ञानवान् है और प्रकृति परम अज्ञ। पुरुष के ज्ञान और चैतन्य के प्रकाश में, सांख्य दर्शन के अनुसार, प्रकृति कार्य करती रहती है। सम्पूर्ण जगत् में प्रकृति-पुरुष के कार्य की यही प्रक्रिया चलती रहती है। सांख्य के अनुसार सब प्राणियों के शरीर प्रकृति के अंश हैं। उन शरीरों के भीतर ज्ञान और चैतन्य पुरुष के प्रकाश के खंड हैं। सब जीवों के भीतर यही दोनों मिल कर कार्य करते रहते हैं। इस प्रक्रिया को जान लेने वाला अपने अभिमान की आसक्ति को छोड़ कर कर्ममुक्त हो जाता है। इस ज्ञान के अभाव में पाप पुण्य सब के साथ वह अपने को ही सम्बद्ध करता रहता है और यही सम्बन्ध उसका बन्धन बन जाता है। इस रहस्य को समझ लेने वाला स्वार्थमुक्त हो कर जगत् के मंगलविधान से अपने को जोड़ कर रामपथ पर चलने लगता है। सांख्य और विशिष्टाद्वैत दर्शन इसी चिन्तन-पद्धति के द्वारा जीवन के सौन्दर्य से जोड़ लिये जाते हैं। इसी ज्ञान के प्रकाश में माया के स्वार्थ से सम्बद्ध आकर्षण के प्रभाव से साधक मुक्त हो जाता है * ।

विशिष्टाद्वैती विचारधारागत विमल वैराग्य के सिद्धान्त का गोस्वामी जी ने ज्ञान से सम्बन्ध प्रदर्शित किया है। लक्ष्मण के पूछने पर राम ने बताया है कि जिसमें

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा १२ के बाद। † रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा १४ और उसके बाद। $ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा १४ के बाद। * सांख्यतत्त्व-कौमुदी, कारिका १०, ११, १७, २० और २१।

किसी भी प्रकार के भेद-ज्ञान और अभिमान का लेश नहीं रह जाता है, जो व्यक्ति सब में समान रूप से ब्रह्म को ही देखता है, वही परम ज्ञानी और विरागी है। वह अष्ट सिद्धियों और त्रिगुणों के प्रलोभनों को तृण की तरह छोड़ देता है‡। प्रलोभनों को छोड़ना ही स्वार्थ के ऊपर उठ कर लोकमंगल विधान की अवस्था तक पहुँच जाना है। इसी लोक-मंगल विधान की उदारता का दर्शन गोस्वामी जी मनुष्य में करना चाहते हैं। इस अवस्था तक पहुँचा हुआ मनुष्य भेद को भूल कर सम्पूर्ण विराट् ब्रह्म के साथ एक हो जाता है। इस प्रकार वह सब का हो जाता है।

विमल वैराग्य की दृष्टि से जीव का लक्षण प्रदर्शित करते हुए गोस्वामी जी के राम ने लक्ष्मण को बताया है कि जो माया, ईश्वर और स्वयं अपने को भी नहीं जानता, वही जीव है†। बंधन के भीतर पड़ा हुआ अज्ञानी मनुष्य, जो माया की क्षुद्रता को नहीं जानता, ईश्वर की सत्यता और महत्ता को नहीं जानता और अपनी दुर्बलता का भी जिसे ज्ञान नहीं रहता, वही वेदान्त का 'जीव' है। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में भी ऐसे प्राणी को जीव-संज्ञा दी गयी है।

अध्यात्म दर्शन से अलग हट कर व्यवहार दर्शन के सिद्धान्त के अनुसार भी देखा जाए तो जीव वही है जो माया की निःसारता, स्वार्थ की क्षुद्रता को न पहचान कर उसी में लीन और दुर्बल स्वभाव का होता है। यह जीव आदर्शों से और ईश्वरीय गुणों से दूर रहता है, अपनी इन दुर्बलताओं की हीनावस्था का भी उसे ज्ञान नहीं रहता। फलतः उसका शीघ्र विकास नहीं हो पाता। परमोच्च शील की दिशा में उसकी गति मन्द रहती है। राम के पथ से, मर्यादा पुरुषोत्तमत्व से, वह बहुत नीचे की विकास-श्रेणी में रहता है। इसको पहचान कर मर्यादा पुरुषोत्तम की ओर उसकी प्रवृत्ति होने लगती है। यहीं उसके भीतर विमल वैराग्य का उदय हो जाता है।

विमल वैराग्य की दृष्टि में जीव के बन्धन और मोक्ष का संचालक, माया को शक्ति प्रदान करने वाला तथा जीव को मुक्ति की ओर जाने के लिए प्रकाश देने वाला ईश्वर है। वह जीव, जगत् और माया सब के ऊपर नियन्त्रण रखने वाली अपरिसीम अनंत शक्ति है। ईश्वर की इस शक्ति का ज्ञान प्राप्त करने के बाद मनुष्य अपने सब स्वार्थों को उसके चरणों में विसर्जित करके लोकमंगल विधान के विमल वैराग्य की ओर प्रस्थान करता है $।

विमल वैराग्य सिद्धान्त में विरति की उत्पत्ति का कारण बताते हुए गोस्वामी जी के राम ने, संक्षेप में, लक्ष्मण से इस विमल वैराग्य के प्रकरण में 'धर्म तें विरति *' ही कहा है। इस वार्तालाप के प्रकरण में उन्होंने लक्ष्मण से कहा भी है कि मैं तुम्हें संक्षेप में ही बताऊँगा। तुम मति, मन और चित्त लगा कर सुनो—"थोरेहि महँ सब कहउं बुझाई, सुनहु तात मति, मनु चितु लाई§।"

---

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा १५ के पहले। † रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा १५। $ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा १५। * रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा १५ के बाद। § रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा १४ के बाद।

मति किसी वस्तु को ग्रहण करती है, मन उसकी ओर वढ़ने की इच्छा करता है और चित्त प्रेरणा के द्वारा उसे कार्य में प्रवृत्त करता है।

गोस्वामी जी के राम का अभिप्राय यही है कि संक्षिप्त दार्शनिक सिद्धान्तों को वुद्धि से ग्रहण करके अपने मन में उन्हें जीवन के रूप में परिणत करने की वासना पैदा करो और चित्त की प्रेरणा दे कर, चित लगा कर उन दार्शनिक सिद्धान्तों को जीवन के रूप में परिणत कर लो। दर्शन जिन अवस्थाओं को हीन संज्ञा से संवोधित कर उनकी परिभाषा, हीनता की दृष्टि से उन्हें देखते हुए करता है, उनसे दूर रहो और दर्शन के द्वारा प्रशंसित अवस्थाओं की तरफ़ मन और चित्त को प्रेरित करके उन्हें अपने जीवन के व्यवहारों के भीतर प्राप्त कर लो। यही राम का संकेत है।

इस संकेत के अनुसार 'धर्म तें विरति' सूत्र का वड़ा व्यापक अर्थ हो जाता है। 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई, परपीड़ा सम नहिं अधमाई‡।' गोस्वामी जी की चौपाई है। परहित करके लोकमंगल विधान करना ही श्रेष्ठ धर्म है। परहित के साधक को अपने जीवन के सुखों के प्रति उसी तरह विराग की वृत्ति धारण करनी पड़ती है, जिस तरह मर्यादा पुरुषोत्तम ने मुनिवेश धारण करके लोकमंगल का विधान किया था। इसी पद्धति के द्वारा स्वार्थमय प्रलोभनों के प्रति उत्पन्न हुए विराग के कारण को वताने के लिए गोस्वामी जी के राम ने संक्षेप में 'धर्म तें विरति' कह दिया है। इस पद्धति से उत्पन्न हुई विरति में विमल वैराग्य उत्पन्न होता है, जो मनुष्य को निष्क्रिय न वना कर पावन और लोकानन्द की जननी उस पवित्र कोमलता और सक्रियता की ओर ले जाता है जिससे राम के जीवनपथ का निर्माण हुआ है।

लक्ष्मण को ज्ञान की उत्पत्ति वताते हुए राम ने संक्षेप में केवल 'जोग तें ज्ञाना†' ही कहा है। उन्होंने यह भी वताया है कि वैदिक विचारधारा ज्ञान को मोक्ष का कारण मानती है। "ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः"—ज्ञान के विना मुक्ति नहीं होती। यह दर्शन शास्त्र का सिद्धान्त है। पतंजलि के अनुसार योग चित्त की वृत्तियों का निरोध है—"योगः चित्त-वृत्ति-निरोधः§" स्वार्थमय प्रलोभनों में भटकते हुए चित्त को रोक कर जव एक ही वृत्ति में उसे केन्द्रित कर दिया जाता है तव योग की उत्पत्ति होती है। लोकमंगल विधायक कर्म की प्रवृत्ति में मन को केन्द्रित कर देने वाले राम एक सच्चे कर्मयोगी भी हैं। इस योग की अवस्था में साधक को अभेद की प्राप्ति हो जाती है और यही एकत्व का ज्ञान, दर्शन के सिद्धान्तों के भीतर परिभाषित ज्ञान है। इसे प्राप्त करके मनुष्य की, वासनाओं से (माया के प्रलोभनों से) मुक्ति हो जाती है। ऐसा पूर्ण पुरुष ही संसार में जीवित रहने का पूर्ण अधिकारी है।

परन्तु वेदान्त का वैराग्य और ज्ञान मनुष्य को रूपात्मक जगत् की भेद-वहुल भावना के वाहर ले जाते हैं। इसी स्थिति तक वैराग्य और ज्ञान को भगवान् राम ने छोड़ कर भक्ति को उनसे श्रेष्ठ मान लिया है और भक्ति के भीतर के ज्ञान और वैराग्य को

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ४० के वाद। † रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा १५ के वाद। § पातंजल दर्शन, समाधिपाद, सूत्र २।

गोस्वामी जी ने विमल विज्ञान और विमल वैराग्य संज्ञा दे कर उन्हें पवित्र लोक व्यवहार के आदर्श के भीतर उतार लिया है। उनके अनुसार लोकमगल विधान की पवित्रता से सम्बद्ध हो कर वे विमल हो जाते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने मानस के प्रायः प्रत्येक सोपान में भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ सिद्ध किया है। विमल वैराग्य के इस तृतीय सोपान में भी भगवान् राम ने लक्ष्मण से सिद्धान्त चर्चा करते हुए धर्म, वैराग्य, योग, ज्ञान और मोक्ष इन सबसे अधिक श्रेष्ठ स्थान भक्ति को दिया है, क्योंकि इन सबका लोकमंगल विधायक श्रेष्ठ अंश भक्ति के भीतर ही मिलता है। अरूप और अलख को देखने वाले ज्ञान और वैराग्य, इस भक्ति में विमल विज्ञान और विमल वैराग्य बन कर, अनंत शक्ति, अनंत शील और अनंत सौन्दर्य वाले मर्यादा पुरुषोत्तम राम को देख कर मुग्ध होते हैं। जगत् के व्यवहारों की मलिनता का अभाव और उसके अनंत सौन्दर्य और पवित्रता को भगवान् राम में देख कर उस पवित्रता में लीन होने के इनके विमल स्वभाव के कारण ही गोस्वामी जी ने भक्ति के क्षेत्र में इन्हें विमल विशेषण से विशिष्ट बना दिया है। केवल अद्वैत को देखने वाले ये ज्ञान और वैराग्य भक्ति के क्षेत्र में आ कर जब विशिष्ट ब्रह्म की सगुण झाँकी देख कर पवित्रता में लीन होने लगे तब तुलसीदास जी ने उनके लिए भी सार्थक विशेषणों की आवश्यकता का अनुभव किया और विमल और विशुद्ध आदर्शों को देखने के कारण उनके साथ विमल और विशुद्ध विशेषण जोड़ दिया। अद्वैत के ये घटक विशिष्टाद्वैत के क्षेत्र में आ कर गोस्वामी जी के हाथों विशिष्ट रूप से विभूषित कर दिये गये। गोस्वामी जी का यही भक्तियोग है जिसे उनके राम धर्म, वैराग्य, योग, ज्ञान और मोक्ष सबसे श्रेष्ठ बताने के लिए लक्ष्मण से कहते हैं—'धर्म से विरति और योग से ज्ञान की उत्पत्ति होती है ‡।' यह पहले बताया जा चुका है कि तुलसी-दर्शन के अनुसार धर्म और योग दोनों लोकमंगल विधायक कर्मों की ओर ही व्यक्ति को ले जाते हैं। यही स्थिति ज्ञान के अभेददर्शन की स्थिति है। उपर्युक्त प्रकरणों में चर्चा के प्रवाह में लक्ष्मण राम से कहते हैं—'वेदों ने भी ज्ञान को मोक्षप्रद बताया है पर जिस वस्तु से मैं शीघ्र प्रसन्न हो जाता हूँ, वह भक्त को आनन्द-विभोर करने वाली मेरी भक्ति है। यह भक्ति अपनी स्वतन्त्र शक्ति के आधार पर आधारित है। इसके लिए कोई दूसरा सहारा नहीं चाहिए। ज्ञान और विज्ञान इसी के अधीन रहते हैं। यह भक्ति संतों की अनुकूलता से मिलती है। यह सुगम पंथ है। इस पर चल कर मैं सरलता से प्राप्त कर लिया जा सकता हूँ। भक्त के भीतर पहले निरभिमानी पवित्र आचरण वाले ब्राह्मण के चरणों में प्रेम होना चाहिए। वैदिक मर्यादा के भीतर निर्धारित अपने-अपने कर्मों में भक्त को निरत रहना चाहिए। इसके परिणामस्वरूप विषयों के प्रति विराग उत्पन्न होता है। इसके बाद मेरे चरणों के लिए अनुराग उत्पन्न होता है। श्रवण, कीर्तन इत्यादि नवधा भक्ति इस तरह के शील के भीतर दृढ़ हो जाती है, तब साधक के मन में मेरे आदर्शों के प्रति अति प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न होता है। ऐसे भक्त के हृदय में संत स्वभाव वाले व्यक्तियों के प्रति अतिशय प्रेम और मेरे आदर्शों के चिन्तन

---

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा १५ के बाद।

के प्रति मन, कर्म और वाणी से दृढ नियम उत्पन्न हो जाता है। वह मुझे अपना गुरु, पिता, माता, बंधु, पति और देवता, सब कुछ समझता है। वह अपने मन, कर्म और वाणी की पवित्रता से मेरी ही सेवा किया करता है। मेरे गुणों का गान करते हुए उसका शरीर पुलकित हो जाता है। उसका कंठ भाव से रुद्ध हो जाता है। आँखों से प्रेम के अश्रु बहने लगते हैं। जिसके भीतर काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर तथा दंभ नहीं होते, मैं निरन्तर उसके वश में रहता हूँ।

जो वाणी, कर्म और मन से मेरी ही तरफ़ बढ़ते रहते हैं और निष्काम भाव से मेरा चिन्तन करते रहते हैं, उनके हृदयकमल में मैं सदा विश्राम करता रहता हूँ ‡।'

जीवन पथ पर अपने नियत कर्त्तव्यों से प्रेम और दूसरे के महान् और सुखद दिखाई पड़ने वाले कर्त्तव्यों के प्रति पवित्र और सन्तोषमय निश्छल विराग भी गोस्वामी जी के भक्तियोग के भीतर स्थान पाने वाले विमल वैराग्य का लक्षण है। वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म को अनासक्त हो कर पालन करने वाला उनके राम के अनुसार उत्तम मर्यादा के पथ पर रहता है। संसार के सब पवित्र सम्बन्धों की अनुभूति को ले कर राम की साधना करना ही तुलसी का भक्तियोग है। स्वार्थ के ऊपर उठ कर हृदय की पवित्रता से आदर्श व्यक्तियों की सेवा करना परम भक्तियोग का लक्षण है। क्षत्रिय जाति की मर्यादा के अनुसार लोक की रक्षा राम ने इसीलिए की। इसी लोकमंगल विधान की भावना को ले कर सब वर्ण अपना-अपना काम करें तो उनकी रामभक्ति पूर्ण हो जाती है और वे मर्यादा पुरुषोत्तमत्व को प्राप्त कर लेते हैं। मर्यादा पुरुषोतम उनके हृदय में निरन्तर विश्रान्ति को ले कर निवास करता रहता है। ऐसी स्थिति में हृदय का वासनात्मक संघर्ष मिट जाता है और विमल वैराग्य की सक्रिय पावन शान्ति उसके भीतर स्थान पा लेती है। वर्तमान युग का मनुष्य कार्य के साथ आर्थिक धारणा को जोड़ कर वर्ण को चंचल और तरल रूप में रखना चाहता है। तुलसी कर्तव्य के साथ धर्म की धारणा का योग आवश्यक समझते थे। प्राचीन वर्ण-व्यवस्था का मूल भी यही था। इसीलिए उन युगों में वर्ण-व्यवस्था प्रायः निश्चित और अचल रहती गयी थी। वर्ण-परिवर्तन की आवश्यकता का उन युगों के मनुष्यों को अनुभव ही नहीं हुआ। जब हर जगह राम का ही कार्य करना था तब जगह बदलने की क्या आवश्यकता! विमल वैराग्य के सिद्धान्त का स्वार्थ के प्रति विमल वैराग्यपूर्ण यही भक्तियोग है, जिसका उपदेश तुलसी के राम ने लक्ष्मण को दिया।

गोस्वामी जी ने विमल वैराग्य और एकनिष्ठ दाम्पत्य का भी सम्बन्ध बड़े मार्मिक ढंग से स्थापित किया है। अरण्यकांड के पंचवटी-प्रकरण में शूर्पणखा का कांड इसी समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है। विमल वैराग्य के अनुसार सांसारिक जीवन की स्थिति को विघात नहीं पहुँचता। जीवन का प्रत्येक अंग इसमें आदर्श हो कर तथा परम सौन्दर्य से विभूपित हो कर रहता है। दाम्पत्य के भीतर का एकनिष्ठ प्रेम भी चित्त की वृत्तियों का एक केन्द्र में प्रेम की पवित्रता के साथ केन्द्रीकरण का प्रेमयोग ही तो है।

---

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा १५ के बाद।

एक पत्नीव्रती होने के कारण तथा और नारियों के प्रति अपने हृदय में विमल वैराग्य प्रतिष्ठित कर लेने वाले राम और लक्ष्मण ने अपना सम्पूर्ण हृदय सीता और उर्मिला को दे दिया था। शूर्पणखा ने इन दोनों को उस व्रत से विमुख करके दो नारियों के अधिकारों को बारी-बारी से छीनने का प्रयत्न किया। वासना के तूफ़ान ने जब उसके भीतर एकनिष्ठता के स्थान में व्यभिचार को उसके राक्षसी शील का स्वभाव बना दिया था तभी शासक राम ने उसे अपराधिनी घोषित करके उसके लिए दण्ड का विधान किया था।

गोस्वामी जी ने शूर्पणखा कांड के भीतर राम और लक्ष्मण के हृदय में दाम्पत्य-प्रेम की एकनिष्ठता में भी विमल वैराग्य का चित्रण किया है।

इस विमल वैराग्य का जिस व्यक्ति में अभाव होता है, वही राक्षसी स्वभाव का माना जाता है। इसी प्रकरण में राम और लक्ष्मण के विमल वैराग्य से प्रभावित हो कर खरदूषण कहता है—"यह कोउ नृप बालक नरभूषण...हम भरि जनमु सुनहु सब भाई, देखी नहिं असि सुंदरताई।...बध लायक नहिं पुरुष अनूपा ‡।"

हृदय की पवित्रता के इस सुन्दर बाह्यरूप पर तो खरदूषण मुग्ध हुआ, पर घोर तामसी प्रवृत्ति उससे अन्तिम निर्णय के रूप में यह कहलाती है—"देहिं तुरत निज नारि दुराई, जीअत भवन जाहिं दोउ भाई †।" नारी और पुरुष की पवित्रता इनके लिए कोई वस्तु नहीं। विमल वैराग्य से यह बहुत दूर हैं। वासना और जीवन का मोह इनका प्रधान लक्षण है। राक्षसी स्वभाव के लोग युद्ध भी करते हैं तो तामसी क्रोध और भय के कारण। आर्य-स्वभाव के भीतर युद्ध की भावना लोकरक्षक, सात्त्विक क्रोध और सात्त्विक उत्साह के कारण उत्पन्न होती है और राक्षस स्वभाव के भीतर लोकपीड़क, तामसी क्रोध और भय युद्ध की प्रवृत्ति पैदा करते हैं।

खरदूषण के प्रस्ताव को सुन कर राम के निम्न उत्तर में लोकरक्षक उत्साह की व्यंजना है—

"हम छत्री मृगया वन करहीं, तुम्हसे खल मृग खोजत फिरहीं $।" भय के अभाव की व्यंजना राम के इन शब्दों में है—"रिपु बलवंत देखि नहिं डरहीं, एक बार कालहुँ सन लरहीं *।"

लोकरक्षा का भाव भी तुरन्त यहीं पर तुलसी के राम ने इन शब्दों में व्यक्त कर दिया है—"जद्यपि मनुज, दनुजकुल घालक, मुनिपालक खलसालक बालक §।" आर्य स्वभाव वाले मनुज कुल के राम ने दनुजकुल का संहार करने के लिए प्रण किया था। संसार के संत स्वभाव के व्यक्तियों की रक्षा और असंत स्वभाव वाले व्यक्तियों के संहार की उन्होंने प्रतिज्ञा की थी।

---

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा १८ के बाद। † वही। $ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा १८ के बाद। * वही। § वही।

गोस्वामी जी ने विमल वैराग्य के द्वारा राक्षसी शील को भी प्रभावित होते हुए दिखाया है। रामायण भर में गोस्वामी जी ने इस बात की ओर संकेत किया है कि कोई भी शील परिवर्तित हो सकता है। शील में सुधार और विकार दोनों संभव हैं। विमल वैराग्य के इस प्रकरण में गोस्वामी जी ने राक्षसी प्रकृति के लोगों पर भी भगवान् राम के विमल वैराग्य का अमोघ प्रभाव दिखाया है। खरदूषण से युद्ध के समय राम के शील से प्रभावित हो कर मरने के समय राक्षसों का हृदय भी विमल वैराग्य से प्रभावित हो जाता था और उनकी सद्गति हो जाती थी—"राम राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निरवान ‡।"

विकास और ह्रास के उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार त्रिगुणात्मिका सृष्टि के भीतर का मनुष्य तीनों गुणों से प्रभावित होता है। घोर तमोगुणी रावण के भीतर भी सात्त्विक विमल वैराग्य कुछ समय के लिए उत्पन्न हो जाता है। राम के द्वारा खर और दूषण के वध का समाचार पाते ही रावण की सात्त्विकता जाग उठती है। वह सोचने लगता है—'खर और दूषण मेरे समान बलवान थे। भगवान् के बिना उन्हें दूसरा कोई नहीं मार सकता। देवताओं को आनन्द देने वाले और पृथ्वी पर से पाप के भार को हल्का करने के लिए यदि भगवान् ने अवतार लिया है, तब तो जा कर मैं हठपूर्वक उनसे वैर करूँगा। उनके बाणों से प्राण छोड़ कर संसार से मुक्त हो जाऊँगा। तमोगुण प्रधान इस शरीर से भजन तो हो नहीं सकता। मन, कर्म और वाणी से तामसी वैर ही मेरे लिए स्वाभाविक है। इसी भाव से मैं भगवान् से मिलूँगा। वैर ही मेरा दृढ़ मंत्र होगा †।'

इसके बाद ही, विमल वैराग्य के द्वारा मृत्यु का वरण, और वैर के द्वारा भक्ति की साधना करने वाले इस घोर तामसी साधक के भीतर तमोगुणी वासना उमड़ पड़ती है। वह कहने लगता है—'यदि वे नररूप राजकुमार ही होंगे तो दोनों को युद्ध में जीत कर उनकी पत्नी को छीन लाऊँगा §।' परमात्मा के हाथों मर कर मुक्त होने की रावण की तैयारी में वासनाओं के प्रति विमल विराग की भावना व्यक्त होती है और साधारण मनुष्य, राजकुमार की पत्नी को हरण करने की वासना में घोर तामसी व्यभिचार व्यक्त होता है। रावण के मन के भीतर तमोगुण इतना वेगवान और बलिष्ठ है कि सत्त्वगुण को ठहरने के लिए समय ही नहीं मिलता। उसके उदय और अस्त प्रायः एक साथ ही हो जाते हैं।

विमल वैराग्य के प्रकाश में कूटनीति की पवित्रता को गोस्वामी जी सम्भव मानते हैं। तुलसी के राम को यह बात मालूम हो गयी कि शूर्पणखा कांड का बदला सीता का अपमान करके लिया जाएगा। संसार के सम्मुख रावण के पाप की पराकाष्ठा को और अधिक उद्वेजक बनाने के लिए उसके द्वारा सीताहरण का कांड भी होना आवश्यक था। सीता के समान आदर्श पवित्रता के सतीत्व पर जो पापपूर्ण आक्रमण करे उसके लिए

---

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा २०। † रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा २२ के बाद। § रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा २२ के बाद।

भारतीय दण्डनीति में मृत्युदण्ड का विधान है। राम इस कांड को भी रावण के द्वारा घटित हो जाने देना चाहते थे। साथ ही साथ सीता के सतीत्व की रक्षा भी परमावश्यक थी। यह कार्य कूटनीति के द्वारा रावण को चकमा दे कर ही हो सकता था। इस कूट-नीतिक चकमे को गोस्वामी जी के राम ललित नरलीला कहते हैं। सतीत्व का 'रुचिर व्रत' पालन करने वाली सीता से उन्होंने कहा—"सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुशीला। मैं कछु करबि ललित नर लीला। तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जौं लगि करउँ निसाचर नासा ‡।" संसार के सम्मुख रावण के द्वारा अपनी पत्नी के सतीत्व पर आक्रमण होने के अपमान को विमल वैराग्य के द्वारा राम ने सह लिया और अपने सतीत्व को अपमानित देखने की भावना को सती सीता ने भी, लोकमंगल विधान के लिए, अपनी प्रतिष्ठा के प्रति इसी विमल वैराग्य पूर्ण अपने स्वभाव के कारण सह लिया। पर इस आदर्श दम्पति ने रावण को एक पवित्र चकमा अवश्य दिया। अपनी दृष्टि में उन्होंने अपनी पवित्रता की रक्षा कर ली पर संसार और यहाँ तक कि लक्ष्मण की दृष्टि में भी रावण ने सीताहरण कर लिया। पापपूर्ण प्रतिशोध की उसकी महत्त्वाकांक्षा पूरी हो गयी। उसकी तामस भक्ति का एक अध्याय पूरा हो गया। पर राम और सीता की दृष्टि में यह सब कुछ नहीं हुआ—"निज प्रतिबिंब राखि तहं सीता, तैसइ सील रूप सुविनीता। प्रभुपद धरि हिय अनल समानी ‡।" सीता ने उसी तरह के शील, रूप और विनय वाले अपने प्रतिबिम्ब को कुटी में रख दिया और राम के चरणों का ध्यान अपने हृदय में रख कर अग्नि में समा गयी—"लछिमनहूँ यह चरित न जाना, जो कछु चरित रचा भगवाना †।"

इस तरह आदर्श शील की रक्षा और जगत् के सामने इस लक्ष्य की पूर्ति और लोकमंगल-विधान के लिए पवित्र कूटनीति का प्रयोग गोस्वामी जी आवश्यक मानते हैं। इस नीति के द्वारा उनके राम ने सीताहरण का प्रातिभासिक अपमान सह लिया। अपने प्रातिभासिक अपमान को सह लेने के लिए विमल वैराग्य की हृदय में स्थापना, गोस्वामी जी के विमल वैराग्य के अनुसार आवश्यक है। इस तरह की कूटनीति को उनका विमल वैराग्यपूर्ण हृदय पवित्र मानता है।

गोस्वामी जी के अनुसार जड राक्षसी स्वभाव में भय के द्वारा आध्यात्मिक ईश्वरीय प्रेम और विमल वैराग्य की उत्पत्ति होती है। मारीच का स्वभाव इसी प्रकार का है। विश्वामित्र के यज्ञ के समय तक यह घोर राक्षस स्वभाव का था। ताड़का और सुबाहु के साथ यह यज्ञ में विघ्न करने गया था। जब से विश्वामित्र के आश्रम से राम के बाण ने उसे समुद्र तट पर ला फेंका था, तभी से शक्ति से आतंकित मारीच ने राम में ईश्वरत्व का दर्शन कर लिया था।

सीताहरण की योजना जब रावण ने उसके सामने रखी तब वह कहता है—"ते नर रूप चराचर ईसा। तासों तात बयरु नहिं कीजै, मारे मरिय जिआये जीजै।... तिन्हसन बयरु किये भल नाहीं।...तिन्हहिं विरोधि न आइहि पूरा...जेहि ताड़का सुबाहु

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा २२ के बाद। † वही।

हति खंडेउ हर कोदंड । खरदूषण तिसिरा बधेउ मनुजं कि अस बरिबंड ।...जाहु भवन कुलकुसल बिचारी ‡ ।"

रावण का विरोध करने से भी जब उसने अपनी मृत्यु निश्चित देखी, 'तब ताकेसि रघुनायक सरना ।' उसनें सोचा—"कस न मरउँ रघुपति सर लागे †।" रावण के बाणों से मरने की अपेक्षा राम के बाणों से मर कर उसने अपने लिए मंगलमय मृत्यु की विमल वैराग्यपूर्ण इच्छा का वरण किया। ऐसा निश्चित करके रावण के साथ 'चला रामपदप्रेम अभंगा $ ।'

अपने मन के भीतर का अपार हर्ष उसने भीतर ही छिपा रखा । उसने सोचा—'आज 'परमसनेही' का दर्शन होगा । अपने 'परम प्रीतम' को देख कर इन आँखों को सफल करके सुख में विभोर हो जाऊँगा । लक्ष्मण और सीता के साथ 'कृपानिकेत' राम का ध्यान अपने मन में करूंगा । जिसका पावन क्रोध मुक्तिदायक होता है, जिसकी भक्ति अवश और उद्दंड को भी अपनी ओर आकृष्ट करके अवश्य ही वश में कर लेती है, वही 'सुखसागर हरी' अपने हाथों से धनुप पर बाण रख कर मेरा वध करेंगे । धनुप और बाण ले कर पीछा करते हुए अपने प्रभु को मैं फिर-फिर कर देखूँगा । मेरे समान धन्य कोई दूसरा नहीं है * ।' जीवन की अपेक्षा पवित्र मृत्यु को वरण करना विमल वैराग्य का लक्षण है । मारीच का यह विमल वैराग्य मूलतः भय से उत्पन्न हुआ है । नीच स्वभाव के व्यक्ति में भक्ति, शक्ति के आतंक से ही उत्पन्न होती है । राक्षसी स्वभाव वाले भक्त मारीच की भी यही स्थिति है ।

गोस्वामी जी ने सत्यप्रतिज्ञता और विमल वैराग्य के भी अटूट सम्बन्ध का अंकन किया है । विमल वैराग्य का साधक अपनी ऐसी प्रतिज्ञाओं का पालन भी करता है जो सात्त्विक नहीं हैं । सीताहरण की योजना पूरी करने की प्रतिज्ञा कर लेने के बाद विमल वैराग्यपूर्ण भक्त मारीच ने प्राण रहते उसका पालन किया, राम का बाण लगने पर वह भ्रम पैदा करने के लिए 'हा लक्ष्मण' कह कर चिल्लाया पर अपने विमल वैराग्य की साधना को अंकुरित रखने के लिए मन में उसने राम का भी स्मरण किया—"पाछे सुमिरेसि मन महुँ रामा § ।" प्राण छूट जाने के बाद दिव्य शरीर में प्रेमविभोर हो कर उसने पुनः राम का स्मरण किया और भगवान् ने उसका आन्तरिक प्रेम पहचान कर दिव्य गति दी × ।

इस तरह विमल वैराग्य का साधक शुभ और अशुभ भावनाओं के ऊपर उठ कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करता है ।

अवतार की अनंत शक्ति और विमल वैराग्य का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए गोस्वामी जी ने अवतारी राम के भीतर अपनी अनंत शक्ति के प्रति बार-बार विमल

---

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा २५, उसके पहले और बाद । † रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा २५ के बाद । $ वही । * रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा २५ से २६ तक । § रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा २७ । × रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा २६ के बाद ।

वैराग्यमय प्रवृत्ति दिखायी है। उन्होंने वार-वार यही दिखाया है कि भक्त के लिए अनंत शक्तिवान् भी सीमित मनुष्य हो जाता है—अपनी अनंत शक्ति के प्रति अपने भीतर विमल वैराग्य के त्याग को उत्पन्न करके।

'निगम नेति, सिव ध्यान न पावा, मायामृग पाछे सो धावा ‡।' में सीता के समान भक्त के लिए अनंत ने अपने को सीमित करके नर-लीला की है। सम्पूर्ण जीवन के भीतर नर रूप में सीमित हो कर अनंत इसी प्रकार लीला करता रहता है। यह उसके विमल वैराग्य की ही व्यंजना है। अनंत के इसी प्रेममय त्याग के कारण उसका यही पवित्र ध्यान ले कर सीता वियोग के दिन काट देती है—"जेहि विधि कपट कुरंग सँग धाइ चले श्रीरामु, सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरि नामु †।"

सीता के वियोग में विक्षिप्त की तरह भटकते हुए राम के लिए फिर इसी तरह का इशारा गोस्वामी जी ने दिया है—"एहि विधि खोजत विलपत स्वामी, मनहुँ महा विरही अति कामी। पूरन काम राम सुखरासी, मनुज चरित कर अज अविनासी $।"

अपनी शक्तियों के प्रति राम का विमल वैराग्य जटायु की मुक्ति के प्रकरण में भी गोस्वामी जी ने दिखाया है। राम ने जटायु से कहा—"आप शरीर का स्वास्थ्य मुझसे ले लें।" इसका उत्तर जटायु ने दिया—"जाकर नाम मरत मुख आवा, अधमहुँ मुक्त होइ स्तुति गावा। सो मम लोचन गोचर आगे, राखउँ देह नाथ केहि खाँगे *।"

इसका उत्तर देने के लिए राम ने अपनी शक्तियों के प्रति विमल वैराग्य प्रदर्शित करते हुए कहा—"तात करम निज तें गति पाई §।" अपने विमल वैराग्य के कारण राम ने भक्त के पवित्र कर्मों को ही अधिक महत्त्व दिया, अपनी अनंत शक्ति को नहीं। मुक्ति का कारण उन्होंने भक्त के कर्म को माना; भगवान् की शक्ति को नहीं।

अपनी राजशक्ति के प्रति भी विमल वैराग्य के कारण गोस्वामी जी के राम गुह और शवरी के पवित्र प्रेम के सम्मुख पवित्र विनय और निश्छल स्नेह से झुक गये हैं। गोस्वामी जी के अनुसार, भक्ति के जितने प्रकार हैं उन सब से विमल वैराग्य की ही सिद्धि होती है। शवरी से नवधा भक्ति पर चर्चा करते हुए उसके स्वभाव राम ने वताये हैं। उनमें से प्रत्येक से विमल वैराग्य ही सिद्ध होता है।

भक्ति के प्रथम प्रकार के रूप में गोस्वामी जी ने संतों की संगति और उससे उत्पन्न विमल वैराग्य को स्वीकार किया है। 'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा' ‡ संत स्वभाव वाले व्यक्ति के साथ से संगति का प्रभाव अवश्य पड़ता है। इस संगति से व्यक्ति के शील में संत धर्म का आविर्भाव होने लगता है और मन वासनाओं के आकर्पण से विरत हो जाता है। इस प्रकार का शील भी विमल वैराग्य का एक अंग है। संत स्वभाव ही विमल वैराग्य का केन्द्र है।

---

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा २९। † रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ३० के पहले। $ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ३० के वाद। * वही। § रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ३५ के पहले।

रामकथा से प्रेम को गोस्वामी जी ने भक्ति का दूसरा प्रकार माना है और उससे भी विमल वैराग्य की ही उन्होंने सिद्धि की है—"दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ‡।" रामचरित विमल वैराग्य का आदर्श है। उस चरित से प्रेम होने लगा कि मनुष्य के भीतर स्वार्थमय वासनाओं के प्रलोभनों के प्रति पवित्र विराग उत्पन्न होना आरम्भ हो जाता है। प्रेम एक ही से सम्भव है। जब विमल वैराग्यपूर्ण रामचरित के लिए प्रेम उत्पन्न हो जाता है तब वासनाओं के लिए प्रेम नहीं रह जाता और व्यक्ति में विमल वैराग्य उत्पन्न हो जाता है।

निरभिमान गुरुपदपंकज सेवा को गोस्वामी जी ने भक्ति का तीसरा प्रकार और विमल वैराग्य को उसका परिणाम माना है—"गुरुपदपंकज सेवा तीसरि भगति अमान †।" निरभिमान हो जाना ही विमल वैराग्य का एक लक्षण है। 'गुरुपदपंकज सेवा' निरभिमानता की व्यंजनामात्र है, उसका अनुभाव है। इस सेवा में दत्तचित्त मनुष्य वासनाओं के स्वार्थमय प्रलोभनों से दूर हट कर विमल वैराग्य की ओर चला जाता है। सेवाप्रेम और वासना एक साथ नहीं रह सकते। प्रथम के साथ विमल वैराग्य अवश्यंभावी पूर्णकारण की तरह सदा उपस्थित रहता है।

निश्छल हो कर राम के यशोगान और उससे प्राप्त विमल वैराग्य को गोस्वामी जी ने भक्ति का चौथा प्रकार माना है—"चौथि भगति मम गुनगन करइ कपट तजि गान $" निश्छल हो जाना ही विमल वैराग्य का लक्षण है। रामचरित का निःस्वार्थ और निश्छल गान करने की अवस्था में मनुष्य का मन प्रेम की समाधि में लीन हो जाता है। पवित्रता में मग्न होने का यह संस्कार धीरे-धीरे मनुष्य के मन को निश्छलता और निःस्वार्थता की अनासक्ति में पहुँचा देता है। इस प्रकार की अनासक्ति में पहुँच कर साधक के मन के भीतर विमल वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और उसका शील राम के शील के रूप में परिणत हो जाता है।

दृढ़ विश्वास के साथ राममंत्र का जप और उसका परिणाम विमल वैराग्य, गोस्वामी जी के अनुसार भक्ति का पाँचवाँ प्रकार है—"मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा, पंचम भजनु सो वेद प्रकासा *।" परम मंगलमय, कल्याणकारी, करुणासागर राम पर दृढ़ विश्वास होते ही मन राम के शील की ओर झुकने लगता है और स्वभावजन्य उसकी दुर्बलताएँ नष्ट होने लगती हैं। निरन्तर जप और दृढ़ विश्वासजन्य ध्यान से मन राम-केन्द्र में योगस्थ हो जाता है और संसार की आसक्ति राम की आसक्ति के रूप में बदल जाती है। साधक का मन राम के आदर्शों से रँग जाता है और उसमें विमल वैराग्य उत्पन्न हो जाता है।

इन्द्रियनिग्रह, शील, प्रपंचों से विरति, सज्जनों के धर्म से निरंतर आसक्ति तथा इनसे उत्पन्न विमल वैराग्य गोस्वामी जी के अनुसार भक्ति का छठवाँ प्रकार है—"छठ दम सीलु विरति बहुकर्मा, निरत निरंतर सज्जन धर्मा §।" इन्द्रियनिग्रह मन को योग की तरफ़

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ३५ के पहले। † रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ३५। $ वही। * रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ३५ के बाद। § रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ३५ के बाद।

ले जाता है। योगोन्मुख मन स्वयं वासनामय प्रपंचों से विरत हो जाता है। पवित्र शील का उदय इसका अवश्यंभावी परिणाम है। इस स्थिति में आ कर मनुष्य के भीतर सज्जनों के शील के लिए निरंतर आसक्ति प्रवाहित होने लगती है। इन सब गुणों का आविर्भाव और मनुष्य के हृदय में इनका स्थायित्व ही स्थायी विमल वैराग्य का परिणाम है। इस स्थिति में और विमल वैराग्य की स्थिति में कोई अंतर नहीं रहता।

'सियाराममय सब जग' ‡ की दृष्टि, संत को राम से भी अधिक सम्मान देने का स्वभाव तथा इससे उत्पन्न विमल वैराग्य को गोस्वामी जी भक्ति का सातवाँ प्रकार मानते हैं—"सातव सम मोहिमय जग देखा, मोतें संत अधिककरि लेखा §।" सियाराममय सब जग की अनुभूति हो जाने पर मन के भीतर समत्व स्थापित हो जाता है। शत्रु-मित्र इत्यादि द्वन्द्वों की भावना मन में नहीं रह जाती। उच्चतम जीवन मर्यादा पुरुषोत्तम राम का जीवन है। इस जीवन के पास पहुँचने के लिए साधक को इस समत्व की द्वंद्वातीत अवस्था में पहुँचना पड़ता है। जीवन के भीतर के स्वार्थ की संकीर्णता का जो मन अतिक्रमण कर लेता है, वही जीवन की इस ऊँचाई पर पहुँचता है। यही विमल वैराग्य की स्थिति है। संत स्वभाव को राम से भी अधिक सम्मान देना इसी विमल वैराग्य की स्थिति है। संत स्वभाव तो राम के शील पर आधारित रहता है। जो संत को अधिक चाहता है, संत स्वभाव का गौरव जिसके हृदय में स्थान पा चुका है वह स्वयं विमल वैराग्य का साधक संत बन जाता है। ऐसे व्यक्ति का सम्मान राम स्वयं करते हैं, क्योंकि राम को संत अपने से भी अधिक प्रिय हैं। इस प्रकार भक्ति के इस सातवें प्रकार से भी परमोच्च जीवन के विमल वैराग्य की ही प्रतिष्ठा मनुष्य के हृदय में होती है।

यथालाभ संतोष और स्वप्न में भी दूसरे के दोष को न देखना विमल वैराग्य की स्थिति है। इसे गोस्वामी जी भक्ति का आठवाँ प्रकार मानते हैं—"आठव जथालाभ संतोषा, सपनेहु नहिं देखइ पर दोषा *।" जो कुछ मिल जाए उसी से संतोष कर लेने में जीवन के भीतर विमल वैराग्य की स्थापना हो जाती है। परमात्मा की इच्छा से पवित्र कर्तव्य के पथ पर जो प्राप्ति हो जाए उससे सन्तोष करके संसार की अन्य वस्तुओं से वासनात्मक दृष्टि और मन को हटा लेना विमल वैराग्य का चिह्न है। इस तरह के साधक के भीतर जो कुछ भी मिल जाए उससे भी आसक्ति नहीं होती, उससे केवल पवित्र सन्तोषमात्र होता है। पवित्र सन्तोष आनन्ददायिनी शान्ति का कारण बनता है और यही शान्ति विमल वैराग्य का भी लक्षण है।

स्वप्न में भी दूसरे के दोष को न देखना विमल वैराग्य ही है। जो दृष्टि दूसरे के दोषों को ढूंढती रहती है उसमें अपने गुणों के लिए अभिमान रहता है। यह अभिमान दूसरों में दोष के दर्शन का स्वभाव उत्पन्न करता रहता है और इससे मनुष्य अपने को और अधिक महान् समझ कर और अधिक फूलता रहता है। इससे मन में आसक्ति बढ़ती

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७ के बाद। † रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ३५ के बाद। § वही।

है और जीवन का महान् आनन्द विमल वैराग्य मिटता है। अभिमान और आसक्ति के भीतर जो परदोष दर्शन की प्रवृत्ति मनुष्य में विकसित होती रहती है उसके कारण ईर्ष्या, द्वेष इत्यादि से मनुष्य का मन जलता रहता है और विमल वैराग्य के भीतर प्राप्त होने वाला विश्वप्रेम और परमात्मप्रेम उसे नहीं प्राप्त होता। ऐसी स्थिति में उसकी ईश्वरभक्ति सिद्ध न हो कर वासनाभक्ति ही सिद्ध होती रहती है और जीवन क्षुद्रतर होता जाता है। रामभक्ति की ऊँचाई पर पहुँचने के लिए, इन सब दृष्टियों से, साधक के भीतर परदोष-दर्शन का सर्वथा अभाव तुलसी का अभीष्ट है और इससे भी विमल वैराग्यपूर्ण भक्ति की ही सिद्धि होती है।

सबसे सरल और छलहीन, व्यवहार, ईश्वर का भरोसा, हृदय में हर्ष और दैन्य का अभाव गोस्वामी जी के अनुसार नवम भक्ति की स्थिति है और इससे भी विमल वैराग्य उत्पन्न होता है—"नवम सरल सब सन छल हीना, मम भरोस हिय हरष न दीना ‡।" सब लोगों से सरल, और छलहीन व्यवहार विमल वैराग्य-सम्पन्न व्यक्ति का होगा, जिसके भीतर ईर्ष्या, द्वेष, अभिमान और दुष्ट वासनाजन्य प्रतिशोध और प्रतिद्वन्द्विता की वासना बनी रहती है, उसका व्यवहार सरल और छलहीन कदापि नहीं हो सकता। ईर्ष्यादि के अभाव में व्यक्ति विमल विरागी अवश्य ही हो जाता है। इस विमल वैराग्य की सिद्धि जिसे प्राप्त हो जाती है वह ईश्वर को छोड़ कर और किसी का सहारा नहीं चाहता। उसके हृदय में इसीलिए सांसारिक सम्बन्धों से सम्बद्ध हर्ष और शोक के लिए स्थान नहीं रह जाता। स्वार्थजन्य हर्ष-शोक का अभाव तो उसके भीतर स्वार्थाभाव के कारण रहता ही है, लोकमंगल विधायक कर्तव्यों की सफलता या असफलता के समय भी उसमें हर्ष और शोक उत्पन्न नहीं होते। सच्चे कर्मयोगी की तरह वह अनासक्त रह कर लोकमंगल विधायक कर्म करता रहता है। अतएव उसके हृदय में निरन्तर विमल वैराग्य का प्रकाश बना रहता है। यह भक्ति का नवम प्रकार है।

हमने यह देख लिया कि प्रथम से ले कर नवम प्रकार तक की प्रत्येक तरह की भक्ति विमल वैराग्य और परमात्मप्रेम को ही उत्पन्न करती है। मनुष्य के व्यक्तित्व को मर्यादा पुरुषोत्तम तक पहुँचा देती है। नवधा भक्ति के इसी स्वभाव के कारण भगवान् राम ने शबरी से कहा है—"नव महुं एकउ जिन्हके होई, नारि पुरुष सचराचर कोई। सोइ अतिशय प्रिय भामिनी मोरे †।"

शबरी के भीतर विमल वैराग्य का अपार प्रकाश था। उसके भीतर भक्ति के सब प्रकार सिद्ध हो चुके थे। इसी कारण राम ने कहा है—"सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे §।"

गोस्वामी जी के अनुसार रामदर्शन का फल यही है कि उससे जीव अपना सहज आत्मस्वरूप प्राप्त करके जीवत्व की दुर्बलताओं से मुक्त हो जाता है और उसके भीतर विमल वैराग्य के प्रकाश में मर्यादा पुरुषोत्तमत्व का उदय हो जाता है। मर्यादा पुरुषोत्तम के दर्शन का प्रभाव मर्यादापुरुषोतमत्व के रूप में तो हृदय पर पड़ेगा ही।

---

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ३५ के बाद। † वही। § वही।

सीता के अभाव में राम के भीतर वियोग की वेदना का चित्र अंकित करके विमल विराग की साधना करने वालों के लिए गोस्वामी जी ने नारी के प्रति आसक्ति से बचे रहने का संकेत दिया है। चारों तरफ़ के उद्दीपनों को देख कर तुलसी के राम ने उन सब के भीतर कामदेव की सेना के रूपक की कल्पना की है और लक्ष्मण से कहा है—'काम की इस सेना को देख कर जिनका धैर्य नहीं छूटता वे परम श्रेष्ठ पुरुष हैं। काम की सबसे बलवती शक्ति नारी है। इसकी आसक्ति से जो बच सका, वही महा वीर है‡।' यहाँ पर राम ने लक्ष्मण से यह भी कहा है कि 'काम, क्रोध और लोभ ये तीन बड़े पराक्रमी दुष्ट हैं। 'विज्ञान धाम' मुनियों के मन में भी ये क्षणमात्र में क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं। लोभ की शक्ति इच्छा और दम्भ में रहती है। काम की शक्ति केवल नारी है और क्रोध की शक्ति और अभिव्यक्ति कठोर वाणी है†।'

इस तरह काम का परिणाम वियोग की वेदना के रूप में प्रदर्शित करके राम ने शान्तिप्रिय साधकों को इस काम से बचे रहने का संकेत दिया है।

इसी बात को रामकथा के आदि आचार्य शिव उमा से कहते हैं—'त्रिगुणों के प्रलोभनों से अस्पृष्ट रहने वाला और जड-चेतन का संचालक राम सबके हृदय में निरन्तर निवास करता है। कामियों की दीनता का अभिनय करके उसने केवल धीर व्यक्तियों को हृदय में विमल वैराग्य को बिलकुल दृढ बना लेने का इंगितमात्र दिया है—"कामिन्हके दीनता दिखाई, धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई§।"

अरण्यकांड के इस प्रकरण में गोस्वामी जी ने कलासम्बन्धिनी सम्पन्नता और विमल वैराग्य का सम्बन्ध भी चित्रित किया है। उन्होंने ज़ीवन का कोई ऐसा आवश्यक क्षेत्र नहीं छोड़ा है जिसमें परमोच्च शील के सौन्दर्य की सृष्टि करने वाले विमल वैराग्य की आवश्यकता पड़ती है। सौन्दर्य को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले कलाकारों के शील के भीतर भी सौन्दर्य की उँचाई की परम आवश्यकता है। इस बात को विराध राक्षस की कथा के द्वारा गोस्वामी जी ने व्यक्त किया है। विराध राक्षस इन्द्र का गंधर्व था। दुर्वासा के सम्मुख अपनी गान-विद्या का प्रदर्शन करने के समय इसे अभिमान हो गया और गान विद्या की मर्मज्ञता न रखने वाले मुनि का इसने अपमान किया। फलतः राक्षस हो जाने का अभिशाप इसे भोगना पड़ा*। इस प्रसंग से गोस्वामी जी ने कलाकारों को यही संकेत दिया है कि सौन्दर्य को अभिव्यक्ति प्रदान करने वालों के भीतर परमोच्च शील का सौन्दर्य रहेगा तभी उनका जीवन शान्तिमय हो सकता है। जीवन में सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए मनुष्य को अपनी उच्चतम योग्यता के प्रति भी पवित्र विमल वैराग्य की वृत्ति ही धारण करनी चाहिए। इस प्रकार की वृत्ति से मनुष्य में ईश्वरीय गुणों का आविर्भाव होता है

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ३८ के बाद। † रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ३८। § रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ३८ के बाद। * रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ३३।

और नारायण का अंश (कलात्मक योग्यता) उसके भीतर अपने सच्चे सौन्दर्य और प्रकाश को ले कर आलोकित होता है।

भक्त और भगवान् के सम्बन्ध के भीतर भी गोस्वामी जी ने विमल वैराग्य की स्थिति का अंकन किया है। अरण्यकांड के इसी प्रकरण में उनके राम ने नारद से कहा है—"कवन वस्तु असि प्रिय मोहि लागी, जो मुनिवर न सकहु तुम्ह माँगी ‡।" भगवान् अपनी प्रत्येक प्रिय वस्तु को भक्त के लिए त्याग सकता है। अपनी प्रत्येक प्रिय वस्तु के प्रति उसके भीतर विमल वैराग्य रहता है। उसका सम्वन्ध भक्त के साथ निश्छल विमल वैराग्य के आधार पर आधारित रहता है—"जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ, जन सन कवहुंकि करउं दुराऊ †।" राम, भक्त के साथ निश्छल सम्वन्ध में वँधा रहता है, कोई दुराव नहीं रखता।

नारद के वरदान माँगने की प्रवृत्ति भी विमल वैराग्य को ही व्यक्त करती है। वे अपने लिए कुछ नहीं माँगते। वे केवल यही माँगते हैं कि भगवान् के सव नामों से रामनाम अधिक महत्त्वशाली हो जाए और भक्तों के हृदय में उसी का निवास रहे। 'यद्यपि प्रभु के अनेक नाम हैं और वेद उनमें से एक-एक की अधिक से अधिक प्रशंसा करते हैं, तथापि 'राम' नाम सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण हो। वह पापरूपी पक्षियों के लिए वधिक का काम करे §।'

तुलसी के नारद के भीतर और नामों के प्रति जो विराग है वह भी मैत्रीपूर्ण और परम पवित्र है। वे कहते हैं—'आपकी भक्ति पूर्णिमा की उज्ज्वल रात है, आपका 'राम' नाम उसके भीतर प्रकाशित होने वाला चन्द्रमा है। दूसरे नाम उज्ज्वल तारों की तरह हैं। वे सव आप के नामरूपी चन्द्र के साथ, भक्त के हृदय की भक्ति की चाँदनी रात में, उज्ज्वल तारों की तरह निवास करें *।'

इनमें गोस्वामी जी को व्यापक राम के रूप (सव देवताओं के नाम) तारों की तरह दिखाई पड़ते हैं गोस्वामी जी उन्हें भी पवित्र और विमल मानते हैं, क्योंकि वे सव रामरूपी चन्द्र के प्रकाश के भीतर ही पूर्णभक्ति की पूर्णिमा से प्रकाशित भक्त के हृदय में आलोकित होते हैं।

पुत्र की रक्षा और माता के विमल वैराग्य की वृत्ति को तथा भक्त की रक्षा और उसके प्रति भगवान् के विमल वैराग्यपूर्ण आवेग को गोस्वामी जी एक ही स्तर की अनुभूति मानते हैं। उनके अनुसार जिस तरह माता अपने सुखों के त्याग को वात्सल्यभाव के उत्सर्गमय विमल वैराग्य के रूप में परिणत कर भयानक आपत्तियों से पुत्र की रक्षा करने के लिए अपने प्राणों के मोह को छोड़ देती है, उसी तरह भगवान् भी विमल वैराग्य की अपनी वृति के सहारे मानवरूप में असंख्य कष्ट सहता हुआ भक्त की रक्षा करता रहता है।

---

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ४० के वाद। † रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ४१ के वाद। § वही। * रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ४२।

इसी बात को नारद से बताने के लिए राम ने कहा है—'जो भक्त सब सहारों को छोड़ कर मेरे आश्रित हो जाते हैं, उनकी रक्षा मैं उसी प्रकार करता हूँ जिस तरह माता वैसे बालक की रक्षा करती है जो उसे छोड़ और किसी को नहीं पहचानता। अग्नि और सर्प से घिरे हुए बालक को दौड़ कर माता और गाय ही बचा सकती है। दूसरे में इतना पवित्र और निःस्वार्थ त्याग नहीं उत्पन्न होता। बड़ा हो जाने पर प्रौढ पुत्र के लिए माताओं के हृदय में उस तरह का प्रेम नहीं रह जाता। ज्ञानी लोग मेरे लिए प्रौढ पुत्र की तरह हैं। निरभिमान भक्त मुझे बालक पुत्र की तरह प्रिय होता है। भक्त को मेरी शक्ति का भरोसा रहता है और ज्ञानी को अपनी निजी शक्ति का। लेकिन काम और क्रोध दोनों के शत्रु हैं। काम, क्रोध, लोभ और मद इत्यादि अज्ञान की प्रबल धारा की तरह हैं। उन सब में मायारूपिणी नारी के लिए आसक्तिमय प्रेम सबसे अधिक भयानक और दुखद है। अज्ञान के वन के लिए नारी के प्रति आसक्ति वसन्त के समान है। अज्ञान का वन फूल कर इस आसक्ति से रंगीन और सम्पन्न हो जाता है। जप, तप और नियमों के जलाशय के लिए नारी के प्रति पुरुष की यह आसक्ति ग्रीष्म ऋतु का काम करती है। काम, क्रोध, मदमत्सर इत्यादि के मेढकों के लिए यह आसक्ति वर्षा ऋतु के समान प्रिय होती है। दुर्वासना के कुमुद को यह आसक्ति शरद ऋतु की तरह प्रफुल्लित बना देती है। समग्र धर्मों के कमलों के लिए यह आसक्ति हिम बन जाती है। उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर डालती है, जला डालती है। ममता का जवास इस आसक्ति की शिशिर ऋतु को पा कर पल्लवित हो उठता है। पापरूपी उलूकों के लिए यह घोर अन्धकार वाली रात है। बुद्धि, बल, शील और सत्य के मीनों के लिए यह आसक्ति बंसी बन जाती है। उन्हें फँसा कर मार डालती है। अवगुणों की जड शूलप्रद यह आसक्ति सब दुःखों की खान है। इसीलिए सब कष्ट सह कर भी नारी के बंधन से मैंने तुम्हें मुक्ति दी ‡। इस मुक्ति को, राम की पवित्रता का प्रतीक, विमल वैराग्य, भक्त के हृदय में बैठ कर सम्भव बनाता है।

विमल वैराग्य के इस प्रकरण में नारद से संत धर्म की चर्चा करते हुए राम ने संत के भीतर रहने वाले उन सब धर्मों की चर्चा की है जिनका आधार विमल वैराग्य बनता है। इसी विमल वैराग्य के कारण भगवान् उनके वश में रहता है—'जिन्हतें मैं उन्हके बस रहऊँ †।'

तुलसी के राम के अनुसार काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद और मत्सर पर विजय, अनघता, अकामता, अचलता, अकिंचनता (अर्थ संग्रह का अभाव) पवित्रता, सुखधामता, अमित ज्ञान, अनीहता (वासना की इच्छा का अभाव), परिमित आवश्यकताओं की तृप्ति, सत्यप्रतिज्ञता, कवित्व, ज्ञानित्व और योगित्व, सावधानता, दूसरों को सम्मान देने की प्रवृत्ति, अभिमानहीनता, भक्ति के पथ पर धैर्य, परमोच्च प्रवीणता, गुणागारता, संसार के दुःखों का अभाव, संदेह का अभाव, देह और गेह से मन को अनासक्त कर राम के

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ४३ से ४४ तक। † रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ४८ के बाद।

चरणों में शरणागति, अपने गुणों को सुनने से संकोच, परगुण श्रवण से हर्ष, समता, शीतलता, नीतिनिष्ठता, सरल स्वभाव, विश्वप्रेम, जप, तप, व्रत, दम, संयम और नियम, गुरु-गोविन्द-विप्रपद के लिए प्रेम, श्रद्धा, क्षमा, मैत्री, दया, प्रसन्नता, माया का अभाव, भगवान् के चरणों में प्रेम, विरति, विवेक, विज्ञान, विनय, वेद और पुराणों का यथार्थ बोध, दम्भ, मान और मद का अभाव, कुमार्ग पर भूल कर भी न जाने की प्रवृत्ति, राम के चरित का गान और श्रवण, बिना कारण परहित का स्वभाव इत्यादि संतों के अनन्त गुण हैं। सरस्वती और वेद के लिए भी वे अनिर्वचनीय हैं‡। ये सब स्वभाव विमल वैराग्य से ही सम्भव हो सकते हैं। राम की भक्ति जो सब आदर्श गुणों की जड है, इस विमल वैराग्य से उत्पन्न होती है। इसी विमल वैराग्य का निरूपण जीवन के विविध क्षेत्रों में इस तृतीय सोपान में किया गया है।

---

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ४४ के बाद से दोहा ४५ के बाद की चौपाइयों तक।

अध्याय ५

विशुद्ध संतोषमय जीवन का स्वरूप

मानस के प्रथम कांड में 'विमल संतोष सम्पादन' है। किष्किंधाकांड चतुर्थ सोपान में गोस्वामी जी ने विशुद्ध सन्तोषमय जीवन की योजना प्रस्तुत की है। विमल सन्तोष में जीवन की प्रायः प्रथमावस्था के भीतर विमलता का चित्र अंकित किया गया है। यहाँ प्रौढ़ जीवन के भीतर विशुद्ध भावनाओं और अनुभूतियों की पवित्रता और विशुद्धि के आधार पर ही प्रायः सन्तोष की योजना की गयी है। विशुद्ध सन्तोष में जीवन की पवित्रता के साथ-साथ अनुभव की परिपक्वता और गहराई भी है। यहाँ के विशुद्ध सन्तोष को गोस्वामी जी ने सौन्दर्य, शक्ति परमोच्च-ज्ञान, जीवन की आदर्श मर्यादाओं, सज्जनता के प्रति प्रेम, पवित्र धर्म से जीवन की रक्षा के प्रयत्न इत्यादि अवस्थाओं पर आधारित करके चित्रित किया है। सीता के वियोग की वेदना, मर्यादा पुरुषोत्तम के भीतर यहाँ उत्तरदायित्व की और प्रेम की पवित्र शान्ति और ज्ञानमयी कर्तव्यनिष्ठा के रूप में बदल जाने से भी विशुद्ध सन्तोष को उत्पन्न करती है। यहाँ राम का चरित्र कलिमल को नष्ट करने वाला अपना विशेष रूप धारण करता है। नारी के प्रति वासनामयी आसक्ति यहाँ प्रायः प्रेमजन्य कर्तव्यज्ञान के रूप में बदल कर महान् हो गयी है। उसका यही गुण कलिमलनाशक बन जाता है। संसार की व्याधि की यही औषधि है। वासना की आसक्ति रक्षा की कर्तव्य बुद्धि में बदल कर सत्य युग के धर्म की सृष्टि करती है। कलि की स्वार्थमयी प्रवृत्ति उसमें नहीं रह जाती। यहाँ से सीता की रक्षा की पवित्र प्रवृत्ति राम अपने भीतर जागृत कर लेते हैं। राम का यह शील जब उनके नाम के साथ जुड़ जाता है तब वह नाम संसार-रूपी व्याधि के लिए अमोघ औषधि बन जाता है ‡।

ज्ञानराशि और पापनाशिनी काशी का ध्यान करके भी गोस्वामी जी ने इस सोपान के आरम्भ में विशुद्ध सन्तोष की ओर संकेत किया है। कृपामय शंकर के उत्सर्गमय गरल पान और जगत् की रक्षा की चर्चा में भी अनुभव की पवित्र गहराई और लोकमंगल विधान के लिए आत्मबलि के प्रयत्न का संकेत दे कर अनासक्ति के विशुद्ध सन्तोष का ही सम्पादन गोस्वामी जी ने कर लिया है †।

प्रौढ साधक के भीतर भक्ति की निश्छलता और परमज्ञान-सम्पन्न दीनता भी विशुद्ध संतोष का कारण बन जाती है।

---

‡ रामचरितमानस, किष्किंधा कांड, मंगलाचरण, श्लोक १ और २। † रामचरितमानस, किष्किंधाकांड, श्लोक २ के बाद वाला सोरठा।

रामभक्त रूद्र के अवतार हनुमान् जब पहली बार इस जीवन में अपने उपास्य राम को पहचान लेते हैं तो उनके भीतर आनन्द उमड़ पड़ता है। गोस्वामी जी के शंकर ने उमा से चर्चा करते हुए कहा है—"प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना ‡।" ब्रह्म राम को भक्तों के लिए वन-वन भटकते हुए देख कर जो आनन्द हनुमान को हुआ उसे शिव अनिर्वचनीय मानते हैं। भक्ति के भीतर विशुद्ध सन्तोष का यही आनन्द है।

गोस्वामी जी के अनुसार भक्त के लिए भगवान् के पावन प्रेम का आधार विशुद्ध सन्तोष ही रहता है। उनके हनुमान् ने राम से कहा—'आपकी माया के प्रभाव से अज्ञान मुझ पर छाया हुआ था। मैं आपको नहीं पहचान सका; पर आप मुझे कैसे भूल गये। मोह की कुटिलता और अज्ञान की जड़ता जीव का धर्म है, भगवान् का नहीं। दीनबन्धु हो कर आप मुझे कैसे भूल गये। यद्यपि हममें बहुत से अवगुण हैं तथापि स्वामी सेवक को भूल जाए तो उसे कौन सहारा देगा। जीव तुम्हारी माया से घिरा रहता है। उसका यह बन्धन तुम्हारा प्रेम ही काटता है। मैं तो भजन के कोई उपाय नहीं जानता। आपकी रक्षावृत्ति का ही आश्रित मैं हूँ। सेवक, स्वामी के सहारे और सुत, माता के सहारे पुष्ट होता हुआ निश्चिन्त बना रहता है।' ऐसा कह कर अपने असली रूप में हनुमान् राम के चरणों में प्रेमविभोर हो कर लिपट गये †।

यहाँ अपना प्रेम प्रदान कर भगवान् अपने भक्त को विशुद्ध सन्तोष प्रदान करता है—"तब रघुपति उठाइ उर लावा, निज लोचन-जलु सींचि जुड़ावा $।" इतने पवित्र प्रेम की वर्षा अपने ऊपर भगवान् को करते अनुभव करके भक्त को परम पवित्र शीतलता मिलती है। यही विशुद्ध सन्तोष के भीतर रहने वाली भक्ति के क्षेत्र की शीतल शान्ति है।

गोस्वामी जी ने विशुद्ध सन्तोष और भक्त के भीतर विकसित हुए विश्व के प्रति पवित्र और अनंत सेवा-भाव पर अपना ध्यान केन्द्रित रखा है। हनुमान् के समान विश्व-सेवक भक्त को देख कर भगवान् के भीतर भी पवित्रता की गहराई को ले कर विशुद्ध सन्तोष उत्पन्न होता है; क्योंकि भगवान् भी तो विश्वसेवक का पवित्र कर्तव्य ले कर संसार में आता है। इसी दृष्टिकोण से राम हनुमान से कहते हैं—'तुम अपने मन में कोई हीन-भाव न रखो। तुम मुझे लक्ष्मण से भी दूने प्रिय हो। मुझे सब लोग समदर्शी कहते हैं; पर मुझे सेवक अधिक प्रिय है और वह सेवक और अधिक प्रिय है जो केवल मुझे ही अपना लक्ष्य मानता है। यह अनन्य भक्त वही है जो निरन्तर यह समझता है कि मैं सेवक हूँ और यह सम्पूर्ण जड-चेतन विराट् जगत् मेरे स्वामी का रूप है *।'

भक्त के इस विराट् और पवित्र भाव से भगवान् के भीतर भी विशुद्ध सन्तोष उत्पन्न हो जाता है।

---

‡ रामचरितमानस, किष्किधाकांड, दोहा १ के बाद। † रामचरितमानस, किष्किधाकांड, दोहा १ के बाद से २ के बाद तक। $ वही। * रामचरितमानस, किष्किधाकांड, दोहा २ के बाद से दोहा ३ तक।

गोस्वामी जी के विशुद्ध सन्तोष की योजना के भीतर मैत्री धर्म को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। पवित्र उत्सर्ग वाली सच्ची मित्रता भी गोस्वामी जी की विशुद्ध सन्तोष की योजना का अंग है। इस मित्रता से सम्बद्ध पवित्र नीति का विश्लेषण राम ने अपने मित्र सुग्रीव के कष्ट को देख कर किया है—'जो मित्र के दुःख को देख कर दुखित नहीं होते उन्हें देख कर बड़ा पातक होता है। अपने पर्वत के समान दुःख को जो धूल के कण की तरह देखता है और मित्र के कण के समान दुःख को सुमेरु के समान देखता है, वही सच्चा मित्र है। मित्र को बुरे रास्ते से हटा कर अच्छे रास्ते पर चलाने वाला, उसके दुर्गुणों को छिपा कर केवल गुणों को प्रकट करने वाला, लेने-देने में कभी संकोच और सन्देह न करने वाला ही सच्चा मित्र है। जो यथाशक्ति मित्र का सदा हित करता है और मित्र की विपत्ति में जिसका प्रेम सौगुना बढ़ जाता है, वही संत मित्र होता है‡।' पावन मैत्री के भीतर निवास करने वाला यही संतस्वभाव विशुद्ध सन्तोष को उत्पन्न करता है। ऐसे जीवन-शिल्पी के चारों ओर विशुद्ध सन्तोष का प्रकाश छाया रहता है।

गोस्वामी जी के अनुसार विशुद्ध सन्तोष के प्रकाश में शत्रु भी मित्र के समान दिखाई पड़ता है। राम के समान अनंत-शक्ति-शील और सौन्दर्ययुक्त आदर्श मित्र को पा कर सुग्रीव के भीतर विशुद्ध सन्तोष उत्पन्न हो गया। उनके मन की चंचलता नष्ट हो गयी। मन की ऐसी परिवर्तित अवस्था में उनके शब्दों से विशुद्ध सन्तोष की बड़ी पवित्र व्यंजना होती है। वह कहते हैं—'नाथ की कृपा से मेरा मन अविचल हो गया। सुख, सम्पत्ति, परिवार और बड़ाई को छोड़ कर मैं आपकी सेवा करूँगा। ये सब रामभक्ति के बाधक हैं। संसार के शत्रु-मित्र, सुख-दुःख अज्ञान-जन्य हैं। ये परम सत्य नहीं हैं। आज तो मुझे वालि ही सबसे बड़े हितेच्छु की तरह दिखाई पड़ता है जिसकी कृपा से विषाद को शान्त करने वाले राम मुझे मिले†।'

ऐसा कह कर गोस्वामी जी के सुग्रीव विशुद्ध सन्तोष के प्रकाश में राम से अविरल भक्ति माँग लेते हैं।

विशुद्ध सन्तोष और नारी के सम्बन्ध पर भी गोस्वामी जी ने बड़ा ही पवित्र और स्वस्थ दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। जीवन-यात्रा के लिए नारी को पत्नी रूप में मनुष्य तभी स्वीकार कर सकता है जब कि वह छोटे भाई की पत्नी न हो, भगिनी न हो, पुत्रवधू न हो, और पुत्री न हो। इन चारों का, सम्बन्ध की दृष्टि से, समान स्थान है, इसके विपरीत आचरण करने वालों का शील मर्यादा पुरुषोत्तम के भीतर घोर असन्तोष उत्पन्न करता है§। वालि का वध इसीलिए हुआ। इस मर्यादा का धर्मपूर्वक पालन विशुद्ध सन्तोष की सृष्टि कर सकता है; क्योंकि ऐसे दम्पति द्विगुणित शक्ति से विश्व की सेवा में अपने को लगा सकते हैं।

गोस्वामी जी के अनुसार विशुद्ध सन्तोष का पतित शील वाले व्यक्तियों पर भी प्रभाव पड़ता है। अनन्त विशुद्ध सन्तोष के पावनतम केन्द्र राम के सम्मुख वालि में परिवर्तन

---

‡ रामचरितमानस, किष्किंधाकांड, दोहा ६ के बाद। † वही। § रामचरितमानस, किष्किंधाकांड, दोहा ८ के बाद।

हो गया। वह विशुद्ध सन्तोष की प्राप्ति कर सका। अपनी मृत्यु का न्यायसंगत कारण राम से जान कर उसके भीतर विशुद्ध सन्तोष उत्पन्न हो गया और उसने कहा—'स्वामी के साथ मेरी चतुराई कैसे चल सकती थी। मैं आज भी पापी हूँ, पर अंतिम समय में आप के आश्रय में आ ही गया‡।' ये शब्द विशुद्ध सन्तोष के व्यंजक हैं। उसमें यह परिवर्तन देख कर राम को भी विशुद्ध सन्तोष हुआ और उन्होंने वालि को जीवनदान देना चाहा, पर वालि के भीतर विशुद्ध सन्तोष अपने पावनतम रूप में उत्पन्न हो गया। अब उसके लिए संसार के जीवन और शरीर का कोई भी मूल्य नहीं था। उसने कहा—'जिसके नाम की शक्ति से काशी में शंकर सबको समगति देते हैं, वही अनंत मेरी आँखों के सामने है। ऐसा अवसर मुझे अब कब मिल सकता है! मेरी आँखों के सामने वही है जिसे श्रुतियाँ अनंत कहती हैं, प्राण को रोक कर, मन और इन्द्रियों को वश में करके मुनि लोग जिसका कभी-कभी ही ध्यान कर सकते हैं। ऐसे अवसर को पा कर शरीर धारण करना कल्पवृक्ष को काट कर बबूल का बगीचा लगाने के समान होगा†।'

वालि ने इस विशुद्ध सन्तोष के प्रकाश में अपने पुत्र अंगद को राम के चरणों में सौंप दिया और अपने लिए अविरल भक्ति माँग ली। राम के चरणों में अति दृढ़ अनुराग के विशुद्ध सन्तोष में उसे इतनी पवित्र अनासक्ति मिल गयी कि शरीर छोड़ने में उसे कोई कष्ट न हुआ। जिस तरह हाथी के गले से माला गिरे और उसे कुछ भी भान न हो उसी तरह वालि ने सहज ही शरीर को छोड़ दिया§। इस तरह अज्ञानी में भी परमोच्च शील के प्रकाश से विरागजन्य विशुद्ध सन्तोष उत्पन्न हो सकता है।

अज्ञान जन्य वियोग और विशुद्ध सन्तोष के प्रकाश के सम्भावित सम्बन्ध पर भी गोस्वामी जी का ध्यान केन्द्रित हुआ है। ज्ञान के द्वारा उत्पन्न विशुद्ध सन्तोष अज्ञान जन्य सब पीड़ाओं को शान्त कर देता है। राम ने वालि की मृत्यु के बाद तारा को ज्ञान देने के लिए, उससे कहा—'पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु के संयोग से यह अधम शरीर निर्मित है। यह तो साक्षात् तुम्हारे सम्मुख सोया हुआ है। जीव तो अविनाशी है फिर तुम क्यों रोती हो।' यह रहस्य जान कर तारा को ज्ञान हो गया और उसने भी विशुद्ध सन्तोष के प्रकाश में अविरल भक्ति का वरदान अपने लिए माँग लिया है*।

विशुद्ध सन्तोष तथा अन्य सामाजिक और दार्शनिक मर्यादाओं में भी गोस्वामी जी ने सम्बन्ध सूत्र स्थापित किया है। उन्होंने अपने इस विशुद्ध सन्तोष की योजना में बहुत-सी ऐसी सामाजिक और दार्शनिक मर्यादाओं को सम्मिलित कर संक्षेप में और बड़े पटु प्रयोग के द्वारा उनकी ओर संकेत कर दिया है, जिनकी समुचित साधना के द्वारा विशुद्ध सन्तोष की प्राप्ति हो जाती है।

---

‡ रामचरितमानस, किष्किधाकांड दोहा ९। † रामचरितमानस, किष्किधाकांड, दोहा ९ के बाद की चौपाइयाँ और छंद। § रामचरितमानस, किष्किधाकांड, दोहा १० और पहले। * रामचरितमानस, किष्किधाकांड, दोहा १० के बाद।

सुग्रीव की मैत्री के बाद अपने प्रवर्पण गिरि पर निवास करने के समय विभिन्न ऋतुओं के सौन्दर्य का वर्णन करने के बहाने गोस्वामी जी के राम ने विशुद्ध सन्तोप उत्पन्न करने वाली मर्यादाओं की ओर उपमान विधान के द्वारा संकेत किया है। वर्षा और शरद दो ऋतुओं में प्रवर्पण पर राम ने निवास किया था। उन्हीं का वर्णन करते हुए विशुद्ध सन्तोप सम्पादन करने वाली मर्यादाओं की स्थापता राम ने लक्ष्मण के साथ अपने वार्तालाप में की है। वर्षा का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है—

"विजली चमक कर वादल में इस तरह समाप्त हो जाती है जिस तरह दुष्ट की प्रीति स्थिर नहीं रहती।—स्थिर प्रीति विशुद्ध सन्तोष सम्पादन करती है।

वादल पृथ्वी के समीप झुक कर वर्षा करते हैं, जिस तरह विद्वान लोग विद्या पा कर नम्र हो जाते हैं।

जलबिन्दुओं के आघात को पर्वत ठीक उसी तरह सह रहे हैं, जिस तरह दुष्टों की कर्कश वाणी को संत लोग सह लेते हैं।

छोटी नदियाँ थोड़े ही जल से अपने किनारों को तोड़ कर तेज़ी से वह पड़ती हैं, जिस तरह थोड़े से धन को पा कर नीच मनुष्य इतराता है।—अपार सम्पत्ति के साथ गम्भीरता, धैर्य और नम्रता विशुद्ध सन्तोप उत्पन्न करते हैं।

पृथ्वी पर गिरने से जल इस तरह गंदला हो गया, जिस तरह जीव से लिपट कर माया उसे मलिन वना देती है।—माया के प्रभाव से अप्रभावित जीव आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर विशुद्ध सन्तोप का अनुभव करने लगता।

इकट्ठा हो कर जल तालावों में इस तरह भर रहा है, जिस तरह सब सद्‌गुण एक साथ इकट्ठे हो कर सज्जनों के पास चले आते हैं।

नदियों का जल समुद्र में जा कर इस तरह स्थिर हो जाता है, जिस तरह जीव परमात्मा को पा कर।

हरी घास से पृथ्वी इतनी घनी ढक गयी है कि रास्ता नहीं दिखाई पड़ता। इसी तरह अनेक पाखण्डवादों के घने प्रभाव से सद्‌ग्रंथ गुप्त हो जाते हैं।—सद्‌ग्रंथों के प्रचार से विशुद्ध सन्तोप का प्रभाव सर्वतोव्यापी हो जाता है।

मेढकों की ध्वनि चारों ओर इतनी अच्छी लग रही है जितना अच्छा वालकों का वेदपाठ।

नवपल्लवों से लदे हुए वृक्ष वैसे ही सुन्दर दिखाई पड़ते हैं जैसे विवेक को प्राप्त करके साधकों के मन सुन्दर हो जाते हैं।

अर्क और जवास इस तरह विना पत्तों के हो गये हैं जैसे सुराज्य में दुष्ट लोग विना उद्यम के हो जाते हैं।—सुराज्य से विशुद्ध सन्तोष की स्थापना होती है और दुष्टों के कार्य बन्द हो जाते हैं‡।"

‡ रामचरितमानस, किष्किधाकांड, दोहा १३ के वाद से १४ के वाद तक।

"कहीं खोजने पर भी धूल नहीं मिलती है जिस तरह क्रोध धर्म को दूर कर देता है।—धर्म की स्थिति तक ही विशुद्ध सन्तोष रक्षित रहता है।

शस्य से भरे हुए खेत उपकारी मनुष्य की सम्पत्ति की तरह सुन्दर दिखाई पड़ते हैं।

रात्रि के घने अन्धकार में दम्भियों के समाज की तरह खद्योत प्रकाशित हो रहे हैं।—दम्भरहित शील के भीतर ही विशुद्ध सन्तोष का व्यापक प्रकाश आलोकित होता है, दम्भियों के क्षुद्र शील का झूठा प्रकाश अज्ञान के अन्धकार में एक क्षण के लिए चमक कर नष्ट हो जाता है।

चतुर किसान खेत में से अनावश्यक पौधों को उसी तरह निकाल रहे हैं जिस तरह बुद्धिमान लोग मोह, मद और मान को अपने भीतर से निकाल देते हैं।

चक्रवाक पक्षी इस तरह नहीं दिखाई पड़ रहे हैं जिस तरह कलियुग को अपने सामने देख कर धर्म भाग जाते हैं।

मरुभूमि पर वर्षा हो रही है, पर तृण नहीं निकलते, जिस तरह हरिजनों के हृदय में वासना उत्पन्न नहीं होती।

विविध प्रकार के प्राणियों से भरी हुई पृथ्वी इस तरह दिखाई पड़ रही है, जैसे योग्य राजा को पा कर प्रजा बढ़ जाती है।

थक कर पथिक जहाँ तहाँ इस तरह रुक कर निष्क्रिय हो गये हैं, जैसे ज्ञान के उत्पन्न होने पर इन्द्रियों के समूह निष्क्रिय हो जाते हैं।

कभी प्रबल मारुत बहता है और मेघ जहाँ तहाँ विलीन हो जाते हैं, जैसे कुपुत्र के उत्पन्न होने पर कुल के सद्धर्म नष्ट हो जाते हैं—सद्धर्मों की रक्षा से ही विशुद्ध सन्तोष उत्पन्न होता है।

दिन में कभी घना अन्धकार हो जाता है और कभी सूर्य दिखाई पड़ने लगता है, जिस तरह कुसंग और सुसंग से ज्ञान विनष्ट और उत्पन्न होता रहता है‡।"

यहाँ वर्षा का राम के द्वारा किया हुआ वर्णन समाप्त हो जाता है। वर्षा के बीत जाने पर वे लक्ष्मण से इसी पद्धति का अनुसरण करते हुए शरद ऋतु का वर्णन भी करते रहते हैं। वे कहते हैं—

"उदित हो कर अगस्त्य ने मार्गों पर का जल इस तरह सुखा दिया है जिस तरह लोभ को सन्तोष सुखा देता है।

सरिता और सरोवरों का निर्मल जल इस तरह शोभित होता है जिस तरह मद और मोह के अभाव में संतों का पवित्र हृदय शोभित होता है।

धीरे-धीरे नदियों और सरोवरों का जल इस तरह सूख रहा है, जिस तरह ज्ञानी लोग ममता को धीरे-धीरे छोड़ देते हैं†।"

---

‡ रामचरितमानस, किष्किंधाकांड, दोहा १४ के बाद से दोहा १५ तक। † रामचरितमानस, किष्किंधाकांड, दोहा १५ के बाद।

'शरद को देख कर खंजन इस तरह चले आये हैं, जैसे सुन्दर समय को पा कर सुकृत सुन्दर दिखाई पड़ने लगते हैं।

कीचड़ और धूल के अभाव में भूमि इस तरह शोभित हो रही है, जिस तरह नीतिकुशल राजा के कार्य सुन्दर होते हैं।

जल की कमी से मछलियाँ इस तरह व्याकुल हो रही हैं, जिस तरह बुद्धिहीन कुटुम्बी धन के अभाव में व्याकुल होता है।

विना बादलों के निर्मल आकाश इस तरह शोभित होता है, जिस तरह सब आशाओं से स्वतन्त्र हो कर हरिजन प्रसन्न दिखाई पड़ते हैं।

शारदी वृष्टि कहीं-कहीं थोड़ी-थोड़ी ही होती है, जिस तरह मेरी भक्ति को कभी-कभी कोई विरला व्यक्ति ही पाता है।

भिक्षुक, वणिक, तपस्वी और राजा प्रसन्न हो कर इस तरह अपनी यात्रा के लिए नगर छोड़ रहे हैं, जिस तरह हरिभक्ति को पा कर चारों आश्रमों के लोग श्रम छोड़ देते हैं।

अगाध जल में रहने वाली मछलियाँ इसी तरह सुखी हैं, जैसे हरि की शरण में पहुँच जाने पर एक भी बाधा नहीं रहने पाती।

फूले हुए कमलों वाला सरोवर इस तरह आकर्षक दिखाई पड़ता है, जिस तरह निर्गुण ब्रह्म सगुण होने पर परम सौन्दर्यमय हो जाता है।

चक्रवाक का मन रात को देख कर इस तरह दुखी होता है, जिस तरह दुर्जन दूसरे की सम्पत्ति को देख कर ईर्ष्या से दुखी हो कर जलता रहता है।

चातक रटता रहता है, उसे बड़ी प्यास रहती है, जिस तरह शंकर का द्रोही सुख नहीं पाता, सुख के लिए प्यासा ही रहता है, उसकी प्यास नहीं बुझती।

शरद के ताप को रात में चन्द्रमा इस तरह दूर कर देता है, जिस तरह संत के दर्शन से पातक दूर हो जाते हैं।

चन्द्रमा को देख कर चकोरों के समुदाय इस तरह उसकी ओर बद्धदृष्टि हो कर देखने लगते हैं जिस तरह हरि को पा कर हरिजन उनकी ओर अपलक एकाग्र दृष्टि से देखने लगते हैं।

हिम के भय से मच्छरों का काटना इस तरह समाप्त हो गया है, जिस तरह ब्राह्मण से द्रोह करने पर कुल नष्ट हो जाता है।

भूमि पर भरे हुए विविध जीव शरद ऋतु में इस प्रकार चले गये हैं, जिस तरह गुरु के मिलने पर संशय और भ्रम के समुदाय नष्ट हो जाते हैं ‡।'

इस तरह की एक वृहत् योजना के द्वारा समाज और दर्शन के प्रायः उन सब आदर्शों को गोस्वामी जी के राम ने ऋतु वर्णन के बहाने लक्ष्मण को बता दिया है, जिससे विशुद्ध सन्तोष का सम्बन्ध है।

‡ रामचरितमानस, किष्किंधा कांड, दोहा १५ के बाद से दोहा १७ तक।

गोस्वामी जी ने विशुद्ध सन्तोष और परमार्थ का सम्बन्ध भी निर्धारित कर दिया है। विश्वमंगल विधायक राम का कार्य स्वार्थ से अस्पृष्ट परमार्थ कार्य है। अपने स्वार्थ की सिद्धि से मनुष्य को वासनात्मक सन्तोष प्राप्त होता है। राम के कार्य को सिद्ध करके विशुद्ध पावन सन्तोष का अनुभव वह कर लेता है। इस विशुद्ध सन्तोष के सुख को प्राप्त करने की तल्लीनता रामप्रेम के आनन्द के कारण साधक में इतनी प्रभावशालिनी होती है कि वह शरीर के ज्ञान को भी आत्मसात् कर लेती है।

हनुमान् इत्यादि की सीता के खोजने के समय की तल्लीनता इसी प्रकार की थी—

चले सकल वन खोजत सरिता सर गिरि खोह।
राम-काज-लयलीन मन विसरा तन कर छोह ‡।

ऐसी तल्लीनता साधक को विशुद्ध सन्तोष में मग्न कर देती है। जामवन्त का इस प्रकार का सन्तोष निम्नांकित शब्दों में व्यक्त हुआ है। अंगद के भीतर राम काज की सिद्धि के प्रयत्न में अपनी असफलता की कल्पना से जो पवित्र क्षोभ उत्पन्न हुआ उसको शान्त करते हुए जामवन्त ने कहा है—

तात राम कहुं नर जनि मानहु, निर्गुण ब्रह्म अजित अज जानहु।
हम सब सेवक अति बड़ भागी, संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी।
निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहं रहहिं मोच्छ सुख त्यागि †।

सगुण ब्रह्म के विश्वमंगल विधान में भाग लेने में जो आनन्द है, विशुद्ध सन्तोष है, उसके सामने मोक्ष का सुख भक्त के लिए नगण्य है।

इसी भाव को व्यक्त करते हुए अंगद भी बाद में जटायु के भाग्य की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—"धन्य जटायू सम कोउ नाहीं। राम-काज-कारन तनु त्यागी। हरिपुर गयेउ परम बड़भागी $।"

वह परम भाग्यवान् है जिसे रामकाज सिद्ध करने पर विशुद्ध सन्तोष की प्राप्ति हो गयी है।

इस तरह कई दृष्टिकोणों से गोस्वामी जी ने इस सोपान में विशुद्ध सन्तोष का अध्ययन और चिन्तन प्रस्तुत किया है।

---

‡ रामचरितमानस, किष्किंधाकांड, दोहा २६ और पहले। † वही। $ रामचरितमानस, किष्किंधाकांड, दोहा २६ के बाद।

अध्याय ६

विमलज्ञानयुक्त जीवन दर्शन

सुन्दरकांड के पंचम सोपान में विमल ज्ञान के चित्रण की अपनी योजना गोस्वामी जी ने कार्यान्वित की है। मंगल श्लोकों से ही यह कार्य प्रारम्भ हो गया है। ज्ञान चिन्तन का विषय है। चिन्तन से उत्पन्न हुआ ज्ञान सत्य को एक, अभेद्य, असीम, अनंत और निर्गुण रूप में उपलब्ध करता है। भाव सत्य के विविध रूपों को सीमा के भीतर सगुण रूप में प्राप्त करके सन्तोष का अनुभव करता है। गोस्वामी जी ने अपने विशिष्ट विमल ज्ञान की योजना के भीतर ज्ञान और भाव का समन्वय कर लिया है। उनके राम शान्त, शाश्वत, अप्रमेय, निर्वाण और शान्तिप्रद, ब्रह्माशम्भुफणीन्द्र-सेव्य, वेदान्त वेद्य, विभु, जगदीश्वर तथा सुरगुरु हैं और अनघ, मायामनुष्य, रामाख्य हरि और करुणाकर भूपाल-चूडामणि रघुवर भी हैं। अद्वैत के विशिष्ट हो जाने पर जब वह अवतारी हो गया तब उससे सम्बद्ध ज्ञान, वैराग्य, सन्तोष, विज्ञान सब विमल और विशुद्ध विशेषणों से सम्बद्ध हो गये ‡।

मानस के इस सोपान में 'ज्ञान' विमल विशेषण से विशिष्ट हो कर अपने अद्वैत वेदान्तीरूप में केवल निर्गुण राम को ही न देख कर भूपाल चूडामणि सगुण राम को भी देखता है। वेदों का प्रारम्भ त्रिगुणात्मिका सृष्टि के नाना भेदों के भीतर एकात्मा को देख कर भी भेदप्रधान बहुदेव के रूप में ब्रह्म की भावात्मिका उपासना करता है। उस उपासना कांड में ऋषियों ने अपने हृदय के सब कोमल भावों को इन्द्र, वरुण, सोम इत्यादि देवताओं को अर्पित किया है। वेदों का अंत, ज्ञान कांड वेदान्त है। उसमें ज्ञानगम्य निर्गुण अद्वैत का चिन्तन है। इस वेदान्तवेद्य का भी गोस्वामी जी चिन्तन करते हैं; पर भूपाल चूडामणि के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप की भावमयी भक्ति से उपासना किये बिना उनके हृदय को सन्तोष नहीं मिलता। निर्गुण-सगुण ब्रह्म का उनका यही ज्ञान-भाव-समन्वित विमल ज्ञान उनकी भक्ति का आधार है।

अपनी इसी विमल ज्ञान की दृढ भूमि पर खड़े हो कर वे राम से प्रार्थना करते हैं—'हे रघुपति, मैं सत्य कहता हूँ मेरे इस हृदय में कोई दूसरी इच्छा नहीं है। आप अखिल विश्व की अन्तरात्मा हैं। मेरे हृदय की यह निरीहता आपसे छिपी नहीं है... हे रघुश्रेष्ठ, आप मुझे पूर्ण भक्ति प्रदान कीजिए और मेरे हृदय को कामादि दोषों से मुक्त कीजिए †।'

---

‡ रामचरितमानस, सुन्दरकांड, मंगलाचरण, श्लोक १। † रामचरितमानस, सुन्दरकांड, मंगलाचरण, श्लोक २।

इस श्लोक में अखिलान्तरात्मा का दर्शन करने वाला ज्ञानी संत, रघुपुंगव का भक्त बन कर उससे पूर्णभक्ति का ही वरदान माँगता है।

तीसरे श्लोक में गोस्वामी जी इस कांड के नायक हनुमान् की प्रार्थना करते हैं जो ज्ञानियों में अग्रगण्य भी हैं और रघुपति के श्रेष्ठ दूत भी। वे श्रेष्ठ ज्ञानी और श्रेष्ठ भक्त दोनों हैं।

किष्किंधा कांड में वियोगिनी तारा को राम के उपदेश के बाद जिस ज्ञान की उपलब्धि हुई उसकी प्रक्रिया का चित्रण गोस्वामी जी ने किया है। पाँच भौतिक, परिवर्तनशील, अधम जड़ पिंडों के भीतर नित्य और शाश्वत ब्रह्म को देख लेना ज्ञान है। बालि के मृतक शरीर की ओर संकेत करके राम ने कहा है—"छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा। प्रगट सो तनु तव आगें सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा ‡।" इस सत्य को जान लेने के बाद की अवस्था ज्ञान की दशा है—"उपजा ज्ञान चरन तब लागी" † से इस सत्य का सकेत दिया गया है। ज्ञान का प्रकाश भक्ति की भावना से मिल कर विमल ज्ञान का रूप धारण करता है। ज्ञान उत्पन्न होने के बाद तारा परम भक्ति का वर माँग लेती है। यह अवस्था विमल ज्ञान की है—"लीन्हेसि परम भगतिबर माँगी $।" इस सोपान में इसी तरह के विमल ज्ञान के प्रकाश में भक्ति की स्थापना की गयी है।

लोकमंगल विधायक कार्य में भक्ति के विमलज्ञानयुक्त आनन्द की स्थिति को गोस्वामी जी ने स्वीकार किया है। जिस कार्य के साथ लोकमंगल विधायक राम का सम्बन्ध होता है उसमें योग दे कर सिद्धि के पास पहुँचने की प्रबल आतुरता भक्त में रहती है। वह राम-कार्य की सिद्धि को जब अपने सामने सम्भव होती हुई देख लेता है तब उसे अपार आनन्द होता है। वह अपना सम्पूर्ण बल, अपनी समग्र बुद्धि राम-कार्य की सिद्धि में लगा कर अपने को राम का दास सिद्ध करना चाहता है। सुन्दर कांड के नायक हनुमान् इसी प्रकार के भक्त हैं। उनकी परीक्षा ले कर जब सुरसा कहती है—"रामकाज सब करिहहु तुम्ह बल-बुद्धि-निधान *" तब अपनी सिद्धि को सम्भव देख कर हनुमान् को हर्ष होता है—"आसिष देइ गई सो हरषि चलेउ हनुमान् §।"

भक्त का अपनी सिद्धि का भी कारण भगवान् के प्रताप को ही समझना विमल विज्ञान का एक लक्षण है। विमल ज्ञान के प्रकाश में भक्त अपनी कार्यसिद्धि के प्रति भी अनासक्त ही रहता है। वह इस सिद्धि के भीतर भगवान् के प्रताप का ही कारण रूप में दर्शन करता है। अपनी सिद्धि के प्रति उसे कोई अभिमान नहीं रहता। लंका को जला कर लौटने के बाद राम ने जब हनुमान् से पूछा—"कहु कपि रावनपालित लंका, केहि बिधि दहेहु दुर्ग अति बंका ×।" तब 'प्रभुप्रसन्न जाना हनुमाना, बोला बचन बिगत अभिमाना +।' से हनुमान् की अपनी प्रतिष्ठा के प्रति अनासक्ति और निरभिमानता ही व्यक्त होती है।

---

‡ रामचरितमानस, किष्किंधाकांड, दोहा १० के बाद। † वही। $ वही। * रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा २। § वही। × रामचरितमानस, किष्किंधाकांड, दोहा ३२ के बाद। + वही।

निरभिमानता विमल ज्ञान-सम्पन्न भक्त का लक्षण है। निरभिमान मन से हनुमान् ने राम को उत्तर दिया—'बन्दर की कितनी बड़ी शक्ति होती है। वह केवल एक डाली से कूद कर दूसरी डाली पर जा सकता है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। समुद्र को लाँघ कर सोने की लंका जलायी, निशाचरों को मार कर उपवन को उजाड़ा, वह सब तो आपके प्रताप ने किया। उसमें मेरे सामर्थ्य का कोई योग नहीं था। उसके लिए कोई कार्य कठिन नहीं, जिस पर आप अनुकूल हों। आपके प्रभाव से रूई भी वाडव ज्वाला को शान्त कर सकती है ‡।'

हनुमान् के ये शब्द विमलज्ञानयुक्त भक्ति के आनन्द के अनुभाव हैं। इसके बाद हनुमान भक्ति के इस उत्सर्गमय आनन्द को अपने हृदय में स्थिर रखने के लिए राम से अविचल भक्ति का ही वरदान माँगते हैं।

विमलज्ञानयुक्त भक्ति के प्रकाश में तुलसीदास की राक्षसों के प्रति याचना भी सहानुभूतिपूर्ण है। इस सोपान में राक्षसों का कुछ वर्णन करके इस वर्णन के लिए अपना कारण बताते हुए गोस्वामी जी ने कहा है—तुलसीदास ने इनका थोड़ा-सा वर्णन इसलिए कर दिया है कि ये सब रघुनाथ के बाणरूपी तीर्थ में शरीर त्याग करके उत्तम गति प्राप्त करेंगे †।

विमलज्ञानयुक्त भक्त उन दुष्टों को भी सहानुभूतिपूर्ण नेत्रों से देखता है जो आगे चल कर राम की भक्ति का पवित्र आलोक प्राप्त करने वाले हैं।

जिस व्यक्ति को विमल विज्ञान की दृष्टि प्राप्त हो जाती है उसे भक्त को देख कर अपार हर्ष होता है। भक्त के भीतर मर्यादा पुरुषोत्तम के शील का दर्शन करके विमल ज्ञान की दृष्टि वाला व्यक्ति असीम आनन्द का अनुभव करता है। शीलविकास की भारतीय मर्यादा राक्षस में भी विमल ज्ञान के विकास की सम्भावना मानती है। इसीलिए गोस्वामी जी ने लंकिनी में भी इस विकास को दिखाया है। यह घटना वाल्मीकि के रामायण में भी है, पर विमल ज्ञान के भक्तिपूर्ण विकास की यह सीमा वाल्मीकि की लंकिनी में नहीं दिखाई पड़ती है। यह सम्पूर्ण योजना गोस्वामी जी की मौलिक प्रतिभा से उत्पन्न हुई है।

हनुमान् के हाथों पराजित होने के बाद इस विमल ज्ञान का उदय उसमें हो जाता है। उसी विमल ज्ञान के प्रकाश में वह कहती है—"तात मोर अति पुन्य बहूता, देखेउं नयन राम कर दूता §।"

विमल ज्ञान सम्पन्न भक्त दूसरे भक्त को देख कर इसी तरह अपने को धन्य समझता है।

लंकिनी आगे कहती है—"तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला एक अंग, तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग *।"

---

‡ रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा ३३ और पहले। † रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा ३ के पहले। § रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा ४ के पहले। * रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा ४।

भक्त के साथ के एक क्षण के सुख की बराबरी स्वर्ग और मुक्ति के सुख भी नहीं कर सकते। लोकमर्यादा की सिद्धि से जो अपार हर्ष भक्त को होता है, वह स्वर्ग और मुक्ति के आनन्द से नहीं। भक्त के जीवन में मर्यादा पुरुषोत्तम के शील के सौन्दर्य की अन्तिम परिणति के रूप में महामानव का विकास हो जाता है। उस महामानव के शील का साक्षात्कार करके भक्त को जो सन्तोष होता है वह स्वर्ग और निर्वाण के सुख से नहीं। तुलसी की विमल ज्ञानयुक्त भक्ति का यही रहस्य है।

हनुमान् से मिलने पर गोस्वामी जी के विभीषण ने भी परिचय पूछते हुए इसी अटल सिद्धान्त का परिचय दिया है। विभीषण हनुमान् से पूछते हैं—'आप हरि के दासों में से तो कोई नहीं हैं ? मेरे हृदय में आपके लिए अपार प्रेम उमड़ रहा है ‡।'

विमल ज्ञान जिन हृदयों में उदित हो जाता है उनका मिलन इसी तरह का होता है। इस तरह की प्रीति के उदाहरण मानस में भरे पड़े हैं। हनुमान् को देख कर सीता की भी यही अवस्था हो गयी थी —'हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी सजल नयन पुलकावलि ठाढ़ी †।'

विमल ज्ञान के आलोक में भगवान् की असीम शक्ति का दर्शन होता है। गोस्वामी जी के 'कोसलपुर राजा $' की अनंत शक्ति विमल ज्ञान के प्रकाश में ही दिखाई पड़ती है। परमात्मा की यह शक्ति असम्भव को भी सम्भव बना सकती है। भक्त इसीलिए 'कोसलपुर राजा' को प्रत्येक कठिन कार्य को करने के पहले अपने हृदय में रख लेता है।

विमल ज्ञान की यही दृष्टि पा कर तुलसी की लंकिनी ने हनुमान् से कहा है—'कोसलपुर राजा को हृदय में रख कर नगर में प्रवेश कीजिए और अपने सब कार्यों को सिद्ध कर लीजिए। जिसे राम कृपा की दृष्टि से देख लेते हैं, उसके लिए विष अमृत और शत्रु मित्र बन जाता है, उसके लिए समुद्र गाय के खुर के समान और आग शीतल हो जाती है। उसके लिए सुवर्ण का घनत्व ले कर भी विशाल सुमेरु धूल के कण की तरह हो जाता है *।'

राम के गुणों के चिन्तन से विमल विज्ञान का अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है। आनन्द योगी और ज्ञानी को समाधि में प्राप्त होता है, विमल ज्ञानी भक्त को वही अनिर्वचनीय आनन्द राम के गुणों के सौन्दर्य में हृदय को मग्न कर देने में मिलता है। विभीषण से वार्तालाप करते हुए इस सोपान में राम के गुणों की चर्चा की गयी है। इस चर्चा के आनन्द का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी ने लिखा है—"एहि विधि कहत राम-गुन-ग्रामा पावा अनिर्वाच्य बिस्रामा §।"

यही अनिर्वचनीय आनन्द है जो भक्त को मर्यादा पुरुषोत्तम के शील की भावना से प्राप्त होता है। अवधपति अपने इसी मर्यादा पुरुषोत्तमत्व के कारण सीता के भी

---

‡ रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा ६ के पहले। † रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा १३ के बाद। $ रामचरितमानस, सुन्दर कांड, दोहा ४ के बाद। * वही। § रामचरितमानस, सुन्दरकांड दोहा ७ के बाद।

'परम स्नेही' बन गये थे। रावण के राक्षसी प्रेम प्रस्ताव का उत्तर देने के पहले इस 'परम स्नेही' का ध्यान सीता ने कर लिया था और इस ध्यान के आलोक में उन्हें विमल ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हो गया था—"तिनु धरि ओट कहति वैदेही, सुमिरि अवधपति परम सनेही ‡।" इस स्मरण के बाद जो विमल ज्ञान उन्हें प्राप्त हुआ उसमें 'परम सनेही' राम का प्रताप सूर्य की तरह और रावण जुगनू की तरह दिखाई पड़ा—"सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा, कबहुं कि नलिनी करइ बिकासा †।"

इस तरह राम के चरणों के प्रेम से ज्ञान को विमल बना कर गोस्वामी जी ने उसे भक्ति के भीतर स्थान दे दिया है। उनकी त्रिजटा भी इसी कोटि की विमलज्ञानसम्पन्न है—"त्रिजटा नाम राक्षसी एका, राम-चरन-रति निपुन बिबेका $।" 'राम-चरन-रति' के साथ 'निपुन बिबेक' ही विमलज्ञान का प्रतिनिधि है।

विमलज्ञानमय, उज्ज्वल और अनिर्वचनीय प्रेम भगवान् के भीतर भी भक्त के लिए होता है। विमल ज्ञान के प्रकाश में गोस्वामी जी ने भक्त सीता के लिए राम में अनिर्वचनीय प्रेम का दर्शन किया है। इसीलिए इस प्रेम का सन्देश सीता को देने के पहले ब्रह्मचारी हनुमान् प्रेम की पवित्रता के सौन्दर्य की भावना में लीन हो गये—

रघुपति कर सन्देश अब सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कपि गदगद भयेउ भरे बिलोचन नीर *।

राम ने अपने सन्देश में सबसे बड़ी बात यह कही थी—'तुम्हारे और हमारे प्रेम के तत्त्व को केवल मेरा मन जानता है और वह मन सदा तुम्हारे पास ही रहता है तो प्रेम के रहस्य का सन्देश कौन भेजे §।' इस तरह भक्त के लिए भगवान् के हृदय में अनिर्वचनीय प्रेम रहता है।

विमल ज्ञान के साथ गोस्वामी जी की सीता भी राम की भक्ति सेवक-सेव्य भाव से करती हैं। इसीलिए हनुमान् उन्हें सान्त्वना देते हुए कहते हैं—'सेवक-सुख-दाता राम का स्मरण कर आप धैर्य धारण करें ×।'

विमल ज्ञान में भक्ति-प्रताप-तेज और बल का समाहित रूप विकसित होता है। विमल ज्ञान की दृष्टि जब परमात्मा के अनंत शीलशक्ति और सौन्दर्य का साक्षात्कार कर लेती है, तब उसके भीतर ऐसी भक्ति का प्रादुर्भाव होता है जिसमें प्रताप, तेज और बल साथ ही साथ रहते हैं। यह सब, भगवान् की अनंत शक्तियों की छाया भक्त के हृदय पर पड़ने से, भक्त में उत्पन्न हो जाते हैं। भक्त भगवान् की शक्ति की अनंतता की भावना निरन्तर करता रहता है। इस मानस सान्निध्य के कारण भगवान् की अनंत शक्ति का संस्कार भक्त के भीतर तेज, प्रताप और बल बन कर बैठ जाता है। इतने पर भी, विमल ज्ञान के कारण इस रहस्य को समझ कर, भक्त कदापि अभिमान नहीं करता।

---

‡ रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा ९ के पहले। † वही। $ रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा १० के बाद। * रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा १४। § रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा १५ के पहले। × वही।

विमल ज्ञान के इस कांड में सीता को हनुमान् के लघुरूप को देख कर जब विजय में सन्देह हुआ तब हनुमान् ने अपना समरभयंकर विराट् रूप दिखाया और सीता को आश्वस्त करके कहा—

सुनु माता साखामृग नहिं बल-बुद्धि-बिसाल।
प्रभु प्रताप तें गरुडहिं खाइ परम लघु ब्याल‡।

इस दोहे में भक्त की नम्रता के भीतर प्रताप, तेज और वल की स्पष्ट व्यंजना है। गोस्वामी जी ने इसके बाद सीता के मन की दशा बताते हुए लिखा है—"मन सन्तोष सुनत कपि बानी, भगति-प्रताप-तेज-बल सानी†।"

इसी स्थिति में भगवान् की अनंत शक्ति भक्त को तेज, प्रताप और वल दे देती है। रावण के उपवन का फल खाने के लिए आज्ञा देते हुए जानकी के द्वारा भी, गोस्वामी जी ने भगवान् की अनंत शक्ति के इस प्रभाव की व्यंजना करवायी है—

देखि बुद्धि-बल-निपुन कपि कहेउ जानकी जाहु।
रघुपति-चरन हृदय धरि तात मधुर फल खाहु$।

रघुपति-चरण का ध्यान अनंत शक्ति का ध्यान है, और उसमें से रावण के उपवन में फल खाने के लिए अपेक्षित तेज, प्रताप और वल उत्पन्न होंगे, इसीलिए सीता ने मधुर फल खाने के पूर्व रघुपति-चरण का ध्यान दिलाना आवश्यक समझा।

विमलज्ञानरूपिणी भक्ति की अनंत शक्ति के भीतर से सात्त्विक सामाजिक रक्षा-नियमों का भी अनुपम विकास होता है। विमल ज्ञानमयी भक्ति के भीतर भक्त को भगवान् का इतना बड़ा बल प्राप्त हो जाता है कि विश्व के सब नियमों का वह उल्लंघन कर सकता है; पर विमल ज्ञान के द्वारा इस उद्दंडता को वह रोक लेता है और विश्व के रक्षा-नियमों का पालन करता है। जितने देवास्त्र हैं उन सबसे विश्व की रक्षा ही होती रहती थी, पर तपस्या के फलस्वरूप वे अस्त्र कभी-कभी राक्षसों को भी, सत्यानुरोधी देवताओं से वरदान के रूप में, कुछ निश्चित काल के लिए और कुछ निश्चित नियमों के अधीन, मिल जाया करते थे और वे उनका दुरुपयोग कर अपने राक्षसी स्वभाव का परिचय देते ही थे और अपने संहार के दिन को और अधिक निकट ले आते थे।

विश्वरक्षक इन अस्त्रों को भी विमल ज्ञान सम्पन्न भक्तों की अनंत शक्ति विफल कर सकती थी, पर हनुमान् के समान विमल ज्ञान की श्रेणी पर पहुँची हुई सब शक्तियाँ इन अस्त्रों की मर्यादा की रक्षा करती थीं। मेघनाद के द्वारा प्रयुक्त ब्रह्मास्त्र को विमल ज्ञान की इसी सात्त्विकता के कारण हनुमान् ने मान लिया—"ब्रह्म अस्त्र तेहि साधा कपि मन कीन्ह विचार, जौं न ब्रह्म सर मानउं महिमा मिटइ अपार*।"

इसी विमल ज्ञान की सात्त्विकता के कारण 'प्रभु कारज' के लिए हनुमान् ने नागपाश का बन्धन भी स्वीकार कर लिया—"जासु नाम जपि सुनहु भवानी,

‡ रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा १६। † रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा १६ के बाद।
$ रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा १७। * रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा १९।

भव-बन्धन काटहिं नर ज्ञानी। तासु दूत कि बंध तर आवा, प्रभु कारज लगि कपिहि बंधावा ‡।"

विमल ज्ञान की दृष्टि में परमात्मा की अनंत शक्ति के विविध विराट् आयोजन दिखाई पड़ जाते हैं। 'माया ईश्वर की शक्ति से ही सृष्टि करती है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव उसी विराट् राम की शक्ति से सृष्टि, पालन और संहार का कार्य करते हैं। उसकी शक्ति से शेष पृथ्वी का भार धारण करता है। दुष्टों के शासन के लिए वही बार-बार अवतार लेता है †।' रावण इत्यादि शक्तियाँ उसी शक्ति के क्षुद्र अंश हैं। 'उसकी शक्ति से सुर-असुर और चराचर जगत् को खा जाने वाला काल भी डरता है $।'

राम की इन शक्तियों का ध्यान दिला कर जब हनुमान् ने रावण को समझाया, तब उसने कहा—"मिला हमहिं कपि बड गुरु ज्ञानी *।" यद्यपि यह रावण का व्यंग्य था तथापि बात सच्ची थी। गोस्वामी जी की विमल ज्ञान की दृष्टि राम में इन सब योजनाओं की शक्ति देखती हैं।

विमल ज्ञान के केन्द्र भगवान् में शरणागत के लिए अनंत वत्सलता रहती है। विमल ज्ञान के भीतर जो अनंत शक्ति होती है, उसे किसी का भय नहीं रहता। वह स्वरक्षित और सब की रक्षिका होती है। इसीलिए उसमें छल की आवश्यकता नहीं रहती। इसी अनंत शक्ति के कारण राम निश्छल और शरणागत रक्षक हैं।

विभीषण शत्रु का भाई था, पर अनंत शक्तिवान् को किसी और विचार की आवश्यकता ही नहीं थी। शरणागत को बिना आगापीछा सोचे उन्होंने शरण दी।

शरणागत-वत्सलता को इसी प्रकरण में राम ने उच्चतम आदर्श माना है। सुग्रीव से वे कहते हैं—'जो अपने अनहित का अनुमान करके शरणागत को त्याग देते हैं वे नीच और पापी हैं। उन्हें देखने से भी हानि होती है। जिन्हें करोड़ों ब्राह्मणों के वध का पाप लगा हो उसकी भी, शरण में आने पर मैं रक्षा करता हूँ। जब जीवन के करोड़ों जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं, तभी वह मेरी तरफ़ आता है। जो मनुष्य निर्मल मन होता है वही मुझे पाता है। मुझे कपट और छलछिद्र अच्छे नहीं लगते §।' अपनी अनंत शक्ति की ओर संकेत करते हुए उन्होंने निर्भयता प्रकट करके कहा—"यदि रावण ने भेद लेने भेजा है तब भी कोई भय या हानि नहीं। संसार के स [ब] राक्षसों को लक्ष्मण पल भर में मार सकते हैं, यदि भयभीत हो कर आया है, तो अपने प्राणों की तरह उसकी रक्षा करूँगा। दोनों स्थितियों में तुम उसे मेरे पास ला सकते हो ×।'

विमल विज्ञान के प्रकाश में भक्त की शरणागति का विकास भी एक विशेष ढंग से ही होता है। विमल विज्ञान के प्रकाश में मद, मोह, कपट और छल को छोड़ कर भक्त

‡ रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा १९ के बाद। † रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा २० के बाद। $ रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा २१ के बाद। * रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा २३ के बाद। § रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा ४३ और बाद। रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा ४३ के बाद से ४४ तक।

भी अनंत शक्तिवान् की शरण में चला जाता है। ऐसे शरणागतियुक्त भक्त का लक्षण बताते हुए विभीषण से राम ने कहा—'चराचर का द्रोही मनुष्य भी यदि सभय मेरी शरण में आता है और नाना प्रकार के छलकपट, मदमोह को छोड़ देता है उसे मैं तुरन्त साधु के समान बना देता हूँ ‡।'

'माता-पिता, भाई, पुत्र, पत्नी, शरीर, धन, भवन, मित्र और परिवार की ममता के सूत्रों को इकट्ठा करके, इन सब के सम्मिलित प्रेम की डोरी से, जो अपने मन को मेरे चरणों में बाँध देता है, जो समदर्शी, इच्छाहीन, हर्ष, शोक और भय से जिसका मन मुक्त हो जाता है ऐसा सज्जन मेरे हृदय में उसी तरह निवास करता है जैसे लोभी के हृदय में धन। तुम्हारे समान संत ही मुझे प्रिय हैं। दूसरे किसी कारण से मैं शरीर में नहीं आता †।'

सगुन उपासक परहित-निरत नीति-दृढ नेम,
ते नर प्रानसमान मम जिन्हके द्विज-पद-प्रेम $।

"सुनु लंकेस सकल गुन तोरे। तातें तुम्ह अतिसय प्रिय मोरे *।" सच्ची शरणागति वाले भक्त में उपर्युक्त सब गुण होते हैं। विभीषण इसी तरह के भक्त थे और इसीलिए राम के परम प्रिय भी।

विमल ज्ञान के भीतर शक्ति के साथ विनम्र सहिष्णुता भी रहती है। विभीषण में यह विमल ज्ञान था, इसीलिए उन्होंने समुद्र के पार सेना ले जाने के लिए समुद्र से प्रार्थना करने को कहा। विमल ज्ञानी राम ने. प्रार्थना करना भी स्वीकार कर लिया। विभीषण को यह ज्ञात था कि राम का बाण 'कोटि-सिन्धु सोषक' है तथापि उन्होंने विनम्र होने का ही परामर्श दिया और अनंत शक्तिवान् ने उस परामर्श को स्वीकार कर लिया §।

इस अनंत शक्तिवान्, अनंत शीलवान् और अनंत सौन्दर्य के स्रोत राम के चिन्तन से तुलसी के अनुसार साधक में विमल ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है और बिना जलयान के वह भव-सिन्धु को पार कर जाता है ×।

---

‡ रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा ४७ के बाद। † वही। $ रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा ४८। * रामचरितमानस, सुन्दरकांड दोहा ४८ के बाद। § रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा ५० तथा उसके पहले और बाद। × रामचरितमानस, सुन्दरकांड, दोहा ६०।

अध्याय ७

विमल विज्ञानमय जीवनदर्शन

अयोध्या कांड विमल विज्ञान वैराग्य सम्पादन कांड है और लंका कांड विमल विज्ञान सम्पादन। युद्धकांड होने के कारण यहाँ वैराग्य की आवश्यकता नहीं है पर विमल विज्ञान की आवश्यकता अवश्य है। वेदान्त ब्रह्म को विज्ञान और आनन्द स्वरूप मानता है—"विज्ञानं ब्रह्म ‡" "आनंदो ब्रह्म †" समत्व और एकत्वप्राप्त व्यक्ति मानस में ब्रह्मलीन और विज्ञानी कहा गया है। विज्ञानी से भी भक्त को ऊँचा बताते हुए गोस्वामी जी की उमा ने कागभुशुंडि की भक्ति की प्राप्ति का कारण शंकर से पूछा है। इसके पहले जीवन-मुक्त की चर्चा करके जीवन मुक्त से विज्ञानी को उन्होंने श्रेष्ठ बताया है—"ज्ञानवंत कोटिक महं कोऊ, जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ। तिन्ह सहस्रमहं सब सुख खानी, दुरलभ ब्रह्मलीन विज्ञानी $।"

विज्ञानी एकत्व और समता की ब्रह्म भावना में लीन रहता है। भक्ति की अवस्था इससे भी पवित्र विमल विज्ञान की अवस्था होती है। सगुण सियाराम की अनुभूति अखिल विश्व में कर लेने वाला विमल विज्ञानी होता है। सीतारामसय जगत् की भावना विमल विज्ञान की भावना है।

इसी प्रकार के एकत्व और समत्व की भावना को साथ ले कर विमल विज्ञानी भारतीय वीर अखिल विश्व की रक्षा और अखिल विश्व में मर्यादा की स्थापना का प्रयत्न करके सम्पूर्ण जगत् में राम के आदर्श का दर्शन कर लेना चाहता है।

लंकाकांड के युद्ध में मर्यादा पुरुषोत्तम का साथ देने वाला प्रत्येक योद्धा राक्षसों का शत्रु इसीलिए है कि उनमें उसे राम की मर्यादाओं का प्रायः अभाव ही दिखाई पड़ता है। समत्व की अखिल जागतिक मर्यादा का दर्शन विमल विज्ञान का दर्शन है। इस वासना को ले कर राम का प्रत्येक योद्धा राम के आदर्शों का सार्वभौम रूप देखने के लिए, राक्षस का संहार करने के लिए आतुर है। भक्ति के इसी दृष्टिकोण को ले कर लंका कांड में अधार्मिक आततायित्व और लोकरक्षक पवित्र वीरभाव का संघर्ष दिखाया गया है।

अनंत शक्तिवान् राम के इस अनंत शील के प्रचार के आनंद की भावना इतनी तीव्र है कि आदर्शों के समत्व को वे राक्षसों तक को प्रदान कर मुक्त कर देते हैं। राम के

---

‡ तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली, अनुवाक ५, मंत्र १०। † तैत्तिरीय उपनिषद्, भृगुवल्ली, अनुवाक ६, मंत्र ४। $ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ५३ के बाद।

विमल आदर्शों की झाँकी अपने सम्मुख देखता हुआ प्रत्येक राक्षस मृत्यु के समय विमल ज्ञानमय रामभक्ति का अधिकारी वन जाता था और राम उसे अपने साकेत धाम भेज देते थे, जो इन आदर्शों की लीला का शाश्वत धाम है। पावन धर्म के प्रचार-क्षेत्र में विमल विज्ञान की धार्मिक समता का आनन्दमय पावन रूप इतना व्यापक हो गया है कि राक्षस भी उसका अधिकारी हो गया है।

वेदान्त का केवल विज्ञान, चिन्तन द्वारा एकत्व और समत्व की निर्गुण धारणा प्राप्त करता है। विशिष्टाद्वैत के 'विमल' विशेषण से विशिष्ट हो कर गोस्वामी जी का विमल विज्ञान भावना द्वारा एकत्व और समत्व की सगुण झाँकी के 'सियाराममय सत्र जग ‡' की सगुण एकता और समता का दर्शन करके आनन्द विभोर हो उठता है। उसके इस आनन्द का आधार राम के शक्ति-शील और सौन्दर्य-समन्वित लोकादर्श हैं। भक्त राम के इन आदर्शों के सौन्दर्य को अपने भीतर और चराचर जगत् के भीतर प्रसारित करके देखता है। इसीलिए गोस्वामी जी के मानस में अचल चित्रकूट पर्वत भी इन आदर्शों के प्रभाव से प्रफुल्लित दिखाई पड़ता है, वृक्ष भी इस आनन्द महोत्सव में वारहों महीने फल-फूल दे कर भाग लेते दिखाई पड़ते हैं। चेतन जगत् के भीतर पशु-पक्षी भी लोकादर्श के इस आनन्द के उल्लास से उल्लसित हैं और चिन्तनशील प्राणियों में 'कोल, किरात भिल्ल वनचारी †' सव सभ्य मनुष्यों के साथ इस आनन्द के यज्ञ के यजमान हैं। आनन्द के इस समत्व के प्रसार के भीतर यक्ष गन्धर्व सव आ कर मग्न हो गये हैं। यहाँ तक कि लंकाकांड में खास तौर से तथा अन्य दूसरे स्थलों पर भी राक्षसों की घोर तामसी मनोभूमि भी मर्यादा पुरुषोत्तम के पवित्र शक्ति, शील और सौन्दर्य के सहज आलोक से आलोकित हो जाने के लिए वाध्य हो गयी है। उस पर भी पवित्रता छा गयी है।

इस विराट् पावनता के सगुण-निर्गुण वीज लंकाकांड के भी मंगल श्लोक में हैं। यहाँ के मंगलाचरण में भी गोस्वामी जी ने राम का ध्यान योगीन्द्रज्ञानगम्य, निर्गुण, निर्विकार, मायातीत रूप में तथा कालरूपी मतवाले हाथी के लिए सिंह के रूप में किया है। लव, निमेष, युग, वर्ष और कल्प के समय-परिमाणों को उनके प्रचंड वाणों की तरह माना है और काल को उनके धनुष की तरह। कालरूपी धनुष पर लव, निमेष इत्यादि वाणों को चढ़ा कर संसार का संहार करने वाली शक्ति के विराट् रूप में यहाँ राम देखे गये हैं। यह 'विमल विज्ञान' का केवल 'विज्ञान' भाग है जो विराट् राम की सत्ता को अखिल विश्व की एकता पर प्रसारित देखता है। परन्तु दूसरी तरफ़ जव गोस्वामी जी के यही विराट् राम शंकरसेव्य, भवभयहरण, गुणनिधि, अजित, सुरेश, खलवधनिरत, ब्रह्मवृन्दैकदेव, कन्दावदात (मेघवर्ण) सरसिजनयन, देव और पृथ्वी के राजा के रूप में भी दिखाई पड़ते हैं तव गोस्वामी जी के अनुसार 'विमल विज्ञान' की भक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है $।'

‡ रामचरितमानस, वालकांड, दोहा ७ के वाद। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ३१९ के वाद। $ रामचरितमानस, लंकाकांड, मंगलाचरण श्लोक १ और श्लोक ३ के वाद वाला दोहा।

इसी मंगलाचरण के दूसरे और तीसरे श्लोकों में गोस्वामी जी के सगुण शिव सज्जनों को कैवल्य देने वाले भी हैं और. अपने शंख और चन्द्रमा की तरह श्वेतआभा वाले शरीर से दुष्टों को दंड देने वाले भी हैं। इस तरह निर्गुणसगुण की पवित्र लोकादर्श-युक्त झाँकी विमल विज्ञान के नेत्रों से देखी जाती है।

यही विमल विज्ञान की दृष्टि है जिसको ले कर सेतुनिर्माण के आरम्भ में इस कांड में जामवन्त ने राम से कहा है—"नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भव-सागर तरहिं ‡" 'आपका नाम ही सेतु है जिस पर चढ़ कर मनुष्य भवसागर को पार कर जाएगा'। राम के नाम के साथ इतने पवित्र आदर्शों का ध्यान जुड़ा हुआ है कि उनके ध्यान में मग्न रहने वाले मनुष्य के मन में अपवित्रता रह ही नहीं सकती। उसके पवित्र मन में जगत् के तापों का नितान्त अभाव हो जाता है।

रामेश्वर की स्थापना में भी गोस्वामी जी के राम की दृष्टि में विमल विज्ञान का आलोक ही क्रियाशील है। विश्वव्यापी समत्व के आदर्श का प्रचार जिस योजना के द्वारा गोस्वामी जी करना चाहते हैं उसमें विष्णु-शिव के समत्व का एक बहुत बड़ा और महत्त्व-पूर्ण स्थान है। रामायण के सोपानों में हर जगह विभिन्न दृष्टिकोणों से इस समत्व को सौन्दर्य प्रदान किया गया है। इस योजना की अन्तिम परिणति राम की तरफ़ से की गयी है। वह है सेतु पर रामेश्वर की स्थापना। विष्णु के अवतार राम, शिव की मूर्ति स्थापित कर उसकी पूजा कर लेते हैं तब सेना सेतु पर पैर रखती है।

राम की ओर से विष्णु-शिव ऐक्य की योजना की यह अन्तिम और परमोच्च परिणति इसलिए है कि आगे एक बहुत बड़ा कार्य है। वह है राक्षसों का विनाश। यही राम के जीवन का भी परमोच्च यज्ञ है, जिसमें विश्व के शत्रुओं का विनाश होने जा रहा है। अपने जीवन के परमोच्च विकास को शिवभक्ति पर आधारित करके तुलसी के राम ने यह व्यक्त किया है कि उनके हृदय में शिव के लिए परमोच्च स्थान है। अपनी इस इच्छा को व्यक्त करते हुए भी वे कहते हैं—"करिहउं इहां संभु थापना। मोरे हृदय परम कल्पना †।" राम के हृदय की यह परमोच्च कल्पना है जो उन्हें शिव की भक्ति को सगुण-उपासना के रूप में साकार कर देने को बाध्य करती है।

रावण वध की पृष्ठभूमि में राम के जीवन का जो महानतम आदर्श है वह भी उनकी शिवभक्ति से व्यक्त हो जाता है। राम ने रावण-वध करके पृथ्वी को निशिचर-विहीन करने का जो संकल्प किया है उसमें रावण को उन्होंने निजी शत्रु की तरह अपनी कल्पना में स्थान नहीं दिया है। उन्होंने अपनी भावना में रावण को विश्व-शत्रु की तरह देखा है। उपासना के लिए जिस अनुभूतिपूर्ण भक्ति के आवेग की आवश्यकता है, उसकी दृष्टि से राम और रावण में अन्तर यही है कि राम सात्त्विक शिवभक्त हैं और रावण है तामस शिवभक्त। राम की शिवभक्ति उनके द्वारा विश्व-मंगल विधान कराती है तथा

---

‡ रामचरितमानस, लंकाकांड, आरम्भ का सोरठा। † रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा १ के बाद।

रावण की शिवभक्ति से जो शक्ति रावण को प्राप्त हुई उससे लोक-पीड़न हो रहा है। अपनी शिवभक्ति के द्वारा राम ने विश्व के सामने यह आदर्श स्थापित किया है कि शिव-भक्त रावण मेरा शत्रु कदापि न होता; क्योंकि हम दोनों एक ही उपास्य शिव के उपासक हैं। मैं रावण का वध इसलिए कर रहा हूँ कि वह विश्व-शत्रु हो कर विश्व के आदर्श व्यक्तियों को उत्पीड़ित कर रहा है।

तुलसी के राम भी विमल विज्ञान की दृष्टि की पवित्रता से शिव के सगुण-निर्गुण रूप की उपासना करते हैं। यह ऐक्य और समत्व की ओर ले जाने वाली कल्पना परमोच्च है ही; क्योंकि ब्रह्मैक्यवाद के बाद और कुछ अवशिष्ट नहीं रह जाता। इस स्थान पर पहुँच कर सब भेद और विरोध शान्त हो जाते हैं। इस समत्व के आदर्श में इतना बल है कि आगे 'चल कर इसकी पवित्रता के आलोक में राक्षसों का हृदय भी पवित्र हो गया है। इस तरह निर्गुण विज्ञान' यहाँ सगुण भक्ति के समत्व से सम्बद्ध हो कर 'विमल' हो गया है। इसकी विमलता इसलिए भी ओजस्विनी है कि इसमें भक्ति के लिए अपेक्षित हृदय की कोमलता के द्वारा, हृदय की कोमलता पर आक्रमण करके उस पर पवित्रता और कोमलता का प्रकाश डाला जाता है। केवल अमूर्त चिन्तन के लिए इसमें कोई स्थान नहीं। यहाँ जीवन की पवित्र विमलता जगज्जीवन की अपवित्रता पर आक्रमण करके उसे विमल बना देती है। राम-रावण की युद्ध की पृष्ठभूमि में जीवन की दार्शनिक परिणति या दर्शन का यही जीवनमय विकास आगे बढ़ कर अपनी पूर्णावस्था तक पहुँच गया है—वह अवस्था जिसमें राक्षसों का घोर तमोगुण सात्त्विकता का अनुचर बन गया है, उसके सौन्दर्य से बाध्य हो कर।

इस तरह शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के विरोध को गोस्वामी जी ने अपनी भक्ति के विमल विज्ञान के द्वारा जीवन-दर्शन और अध्यात्मदर्शन की परमोच्च परिणति पर ले जा कर शान्त कर दिया है। ब्रह्मैक्यवाद के इस विशिष्टाद्वैती सगुण प्रतीक को, जिसके आधार से विष्णु और शिव एक हो गये हैं, गोस्वामी जी के मर्यादा पुरुषोत्तम ने बहुत अधिक और सार्थक महत्त्व दिया है। अपने बनाये हुए सेतु को भी मानवता के उद्धार का कारण समझ कर राम ने पवित्रता से सम्बद्ध कर दिया है।

शंकर की पूजा कर लेने पर तुलसी के राम कहते हैं—'शिव के समान मुझे कोई दूसरा प्रिय नहीं है। शिव से द्रोह करके मेरा भक्त होने का जो दम्भ करता है वह मनुष्य स्वप्न में भी मुझे नहीं पाता। शंकर से विमुख रह कर जो मेरी भक्ति चाहता है वह नारकी, मूढमति और जड है‡।'

'जो शंकर का प्रिय और मेरा द्रोही बनता है या शिव का द्रोही और मेरा दास बनता है ऐसा व्यक्ति एक कल्प के समय तक घोर नरक में वास करता है†।'

मंगलस्वरूप और कल्याणकर शिव-शंकर का जो विरोध करता है उसे मंगलमय और लोकमंगल विधायक मर्यादा पुरुषोत्तम राम की भक्ति कैसे मिल सकती है। मंगल

---

‡ रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा २ के पहले। † रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा २।

और मंगलमय प्रवृत्तियों का विरोध करने वाले लोगों के लिए नरक को छोड़ कर और कहाँ स्थान हो सकता है ?

राम ने आगे और कहा है—'जो रामेश्वर का दर्शन करेंगे वे मृत्यु के बाद मेरे लोक को चले जाएँगे ‡ ।'

राम की भावना और चिन्तन के परमोच्च सगुण प्रतीक रामेश्वर का विमल विज्ञान के भाव से दर्शन करने वाला राम के लोक में अवश्य ही जाएगा । राम की विमल विज्ञान की भावना का मानस और चाक्षुप प्रत्यक्ष कर लेने वाला अवश्य ही साकेत लोक का अधिकारी होगा । विमल विज्ञान का समत्वपूर्ण महाभाव, जिसमें विश्ववेदना उत्पन्न होती है, अपने आश्रय नर को नारायण बना कर साकेत लोक का अधिकारी बना देता है ।

शिव को समर्पित होने वाले गंगाजल के महत्त्व को व्यक्त करते हुए राम ने कहा है—"जो गंगाजल ला कर रामेश्वर को चढ़ाएँगे उन्हें सायुज्य मुक्ति मिलेगी । वे मुझसे एक हो जाएँगे † ।'

पावनता का प्रतीक गंगाजल और लोककल्याणकर शंकर जब एक कर दिये जाएँगे तब समर्पित करने वाले के भीतर अनासक्तिमय, पावन लोकमंगल विधान की भावना जागृत हो जाएगी । वह राम के शील में लीन हो कर राममय हो जाएगा । उसकी दृष्टि विमल विज्ञानमय हो जाएगी ।

अपने उपास्य रामेश्वर की निश्छल और निष्काम उपासना करने वाले के अनुष्ठान के परिणाम की ओर संकेत करते हुए राम ने कहा है—'रामेश्वर की अकाम और निश्छल सेवा करने वाले को शंकर मेरी भक्ति देते हैं § ।'

राम के उपास्य रामेश्वर की अकाम और निश्छल सेवा लोकमंगल विधान को सम्भव बनाने वाली अनासक्तिमय प्रवृत्ति और चेष्टा है । यही राम की भक्ति भी है । राम की भक्ति इसी का परिणाम है । यह प्रवृत्ति विमल विज्ञान की अभेदानुभूति के बाद ही पैदा होती है ।

तुलसी के राम ने सेतु दर्शन के महत्त्व को बताते हुए कहा है—'मेरे बनाये हुए सेतु का दर्शन करने वाला बिना श्रम भवसागर को पार कर लेता है * ।' शील की दुर्बलताओं का जाल बिछाने वाली तमोगुणी राक्षस-प्रकृति के विनाश को सम्भव बनाने वाला यह सेतु-निर्माण का कार्य अन्तिम उपाय था, तमोगुणी प्रवृत्तियाँ संसार को दुस्तर समुद्र बना देती हैं । इन प्रवृत्तियों को नष्ट करने वाली सात्त्विक वासना मन को राम के बनाये हुए सेतु से प्राप्त होगी, क्योंकि सेतु-निर्माण का कार्य इन प्रवृत्तियों को नष्ट करने के लिए ही हुआ था । सेतु के दर्शन से, यह सात्त्विक और निष्काम लोक-मंगल विधान की वासना, जिसका प्रतीक सेतु है, मनुष्य को प्राप्त हो जाएगी । यही

‡ रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा २ के बाद । † वही : § वही । * रामचरित-मानस, लंकाकांड, दोहा २ के बाद ।

विमल विज्ञान की दृष्टि है। यही राम के नाम का भी महत्त्व है। 'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं‡' के अनुसार ऐसे साधक के लिए भव को सिन्धु बनाने वाली वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं, भव-सिंधु सूख जाता है, उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

गोस्वामी जी ने और भारतीय भक्तों की परम्परा ने भी भगवान् के अनंत शील के सौन्दर्य के प्रतिविम्ब की तरह उनके रूप को भी अनंत सौन्दर्य-समन्वित दिखाया है। विमल विज्ञान की राम के भीतर जो अनंत समत्व भावना का सौन्दर्य था, उसकी कोमलता का प्रभाव जलचरों पर भी इतना पड़ा कि इसके प्रतिविम्व राम के अनंत रूप को देख कर वे मुग्ध हो गये। आपस के सहज वैर को छोड़ कर वे इतनी संख्या में जल के स्तर के ऊपर चले आये कि दूसरे सेतु का निर्माण हो गया और सेतु पर न समाने वाली सेना उन जलचरों पर चढ़-चढ़ कर उस पार गयी†।

गिरिजा से जल पर तैरते हुए पत्थरों की चर्चा करते हुए गोस्वामी जी के शंकर ने बताया है कि नल-नील या पत्थर के स्वभाव के द्वारा सेतु-निर्माण नहीं हुआ। राम प्रणत पर प्रेम करते हैं। जो विनम्र हो जाए उसे राम की कृपा की विमल विज्ञानपूर्ण समत्वमय प्रेम-दृष्टि अवश्य मिल जाती है। उसी विमल विज्ञानपूर्ण राम की समत्व की दृष्टि से प्रभावित हो कर नल-नील भी सफल हुए और स्वयं डूबने वाले और दूसरों को डुबाने वाले पत्थर भी जल पर नौका की तरह तैरने लगे§।

विमल विज्ञान की पवित्रता और कोमलता जड को भी प्रभावित करती है। इस बात को सिद्ध करने के लिए गोस्वामी जी ने इस घटना की अलौकिकता को यहाँ स्थान दिया। वाल्मीकि में रामेश्वर की स्थापना की चर्चा नहीं है और न इस तरह का अलौकिक प्रभाव, जो जलचर और जडों को प्रभावित करता हुआ दिखाई पड़े। यह गोस्वामी जी की अपनी निजी विराट् योजना का अंग है।

विमल विज्ञान के प्रकाश में गोस्वामी जी ने सन्तुलित राजनीति का भी चित्रण किया है। विमल विज्ञान का समत्ववाद एक ऐसे स्वस्थ शील को जन्म देता है जिसमें एकत्ववाद और समत्ववाद के आधार पर, 'सियाराममय सब जग' के प्रकाश में कोई किसी से अपने को हीन नहीं मानता; सब जगह समत्व का दर्शन करता है और सबके प्रति श्रद्धा और समता के भाव अपने भीतर बनाये रखता है। इस दृष्टि के भीतर अधिक शक्तिवान् विनम्र रहता है। हीन शक्तिवान् के भी नीतिपूर्ण शब्दों को सम्मान देता है—उन्हें सर्वगत ईश्वर के पवित्र शब्द समझ कर। हीन बल वाला व्यक्ति भी अपने से अधिक बलवान् के केवल पशुबल से आतंकित हो कर उसकी भयपूर्ण चाटुकारिता नहीं करता। उसे अनीतिपूर्ण मार्ग पर जाते हुए रोकता है और उचित परामर्श देने में कभी नीति को नहीं छोड़ता। रावण ने मानस के भीतर अपने तामसी स्वभाव के कारण इस नैतिकता के ईश्वरीय सन्तुलन को खो दिया है। मन्दोदरी, विभीषण और प्रहस्त इत्यादि के नीतिपूर्ण और पारमार्थिक

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २४ के बाद। † रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ३ के बाद से ४ तक। § रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ३ के पहले।

एकत्व को पवित्रता से दिये गये उपदेशों को, बल के अभिमान के कारण, वह सम्मान नहीं देता ‡।

विमल विज्ञान की दृष्टि माया के बन्धन से बँधे हुए साधारण जीवों की शक्ति को सीमित और माया पर नियन्त्रण रखने वाले अवतारी ब्रह्म की शक्ति को अनंत मानती है। इस प्रकार की दृष्टि रखने वाले दूरदर्शी लोग अवतार को पहचान कर साधारण जीव को उससे वैर नहीं करने देते।

गोस्वामी जी के सभ्य राक्षस पात्रों के भीतर यह दृष्टि है और वे रावण को अनीति के मार्ग पर जाने से रोकते हैं। साधारण जीवों की दुर्बलतापूर्ण चाटुकारिता का शील धारण करने वाले मंत्रियों की वे भर्त्सना करते हैं। इस तरह के मंत्रियों के परामर्श को सुन कर सात्विक शील वाला रावणपुत्र प्रहस्त कहता है—'आप नीति के विरुद्ध न करें। मंत्रियों में बहुत थोड़ी बुद्धि है। 'ठकुर सोहाती' कहने वाले मंत्रियों की राय मानने वाला राजा अपने कर्तव्य को पूरा नहीं कर पाता। लंका जलाने वाले हनुमान को खाने के लिए इसमें से किसी राक्षस के भीतर भूख बाकी नहीं रह गयी थी? क्यों इन्होंने उसे पकड़ कर नहीं खा लिया? जिस मत को मान कर राजा आगे गड्ढे में जाता है ऐसी ही राय ये लोग राजा को दे रहे हैं। जो मनुष्य समुद्र को बाँध कर खेल-खेल में लंका में सेना उतार लेता है, उसे पकड़ कर हम खा जाएँगे? आप हमें कायर न समझ कर हमारी बातों को सम्मान दें। मीठी बातें कहने और सुनने वाले प्रायः सब हैं; औषधि के समान कड़वी कहने और सुनने वाले बहुत कम हैं। यदि सीता को लौटा कर प्रीति कर लेने पर राम नहीं जाते तो उन पर हठ करके आक्रमण कीजिए †।'

आदर्शपूर्ण नीतिवाक्य में ईश्वर बैठ कर बोलता है; पर विमल विज्ञान-शून्य दृष्टि अभिमान के कारण इस शक्ति को नहीं देख सकती। तमोगुणी रावण अपने हठ के कारण इसी मदान्धता की स्थिति में अंत तक रह जाता है। वह प्रहस्त का अपमान करता है $।

विमल विज्ञान की विशिष्टाद्वैती दृष्टि में परमात्मा की विश्वरूप अनुभूति होती है। विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय विराट् जगत् को परमात्मा का शरीर मानता है—"कृत्स्नस्य चिदचिद्वास्तुनस्सर्वावस्थावस्थितस्य पारमार्थिकस्यैव परस्य ब्रह्मणश्शरीरतयारूपत्वम्" * इस कांड में विमल विज्ञान सम्पन्न मन्दोदरी ने रावण को समझाते हुए कहा है—'राम से विरोध छोड़ दें।' उन्हें मनुष्य समझ कर हठ न करें। हमारे शब्दों पर आप विश्वास करें। रघुवंशमणि विश्वरूप हैं। वेद भिन्न-भिन्न लोकों की कल्पनाएँ उनके अंग-अंग में करता है। पाताल उनका पैर है, ब्रह्मलोक सिर है। और और लोक उनके अंग-अंग में विश्राम करते

‡ रामचरितमानस, सुंदरकांड, दोहा ३९ के बाद से ४० तक, ५३ के बाद से ५६ के बाद तक, लंकाकांड, दोहा ५ के पहले से ९ के बाद तक। † रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ८ से ले कर ९ के बाद तक। $ रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ९ के बाद तक। * आनन्द मुद्रा यंत्रालय, मद्रास, द्वारा प्रकाशित, आचार्य रामानुज का श्री शारीरक मीमांसाभाष्य, पृष्ठ ६१ पंक्ति ८।

हैं। उनकी भृकुटि का भयंकर विलास ही काल है, सूर्य उनका नेत्र है, घनमालाएँ उनके केशपाश हैं, अश्विनीकुमार उनकी नासिका हैं, दिन और रात उनके अपार निमेष हैं, दसों दिशाएँ उनके कान हैं, मारुत उनकी साँस है, लोभ उनका अधर है, यमराज उनके भयानक दाँत हैं, माया उनका हाथ है, दिक्‌पाल उनकी भुजाएँ हैं, अग्नि उनका मुख है, समुद्र उनकी जिह्वा है, सृष्टि, पालन और संहार उनकी इच्छा हैं, अगणित वनस्पतियाँ उनके रोम हैं, पर्वत उनकी हड्डियाँ हैं, नदियाँ उनकी नसों के जाल हैं, समुद्र उनका पेट है और यातनाएँ उनके नीचे के अंग हैं। इस तरह विश्वरूप प्रभु की अनंत कल्पनाएँ हैं। शिव उनका अहंकार हैं, ब्रह्मा उनकी बुद्धि हैं, चन्द्रमा उनका मन है, विराट् प्रकृति का प्रथम विकास (महत्) उनका चित्र है और चर-अचरमय भगवान् ही मनुष्य रूप में राम हैं ‡।

इस विश्वरूप की विराट् कल्पना को रावण के सामने रख कर मन्दोदरी ने रावण को रामविरोध से विरत करने की निष्फल चेष्टा की। उसका अभिमान उसे रामोन्मुख होने से रोकता रहा।

विमल विज्ञान को गोस्वामी जी ने आर्य-वीर-धर्म का प्राण माना है। यह बात पहले ही कही गयी है कि जगत् के पीड़ितों की अनासक्तिमय अहैतुकी रक्षा आर्य वीर का धर्म है। जीवन का यह विराट् आदर्श ही राम का प्राण है। मनुष्य में इस तरह की मनोवृत्ति, फलतः रामभक्ति का अंग बन जाती है। लंकाकांड के इस विमल विज्ञान के प्रकरण में गोस्वामी जी ने वीरता का भक्ति से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। यद्यपि यह प्रकरण युद्ध का है, तथापि इसमें भक्ति अंगी है और वीर रस अंग। यहाँ वीररस भक्ति के सम्मुख आत्मसमर्पण करके एक अभिपम छटा के आलोक से आलोकित हो कर विकसित होता है।

यहाँ दो तरह के वीर भाव हैं—एक सात्त्विक और दूसरा तामसी। जगद्रक्षक सात्त्विक वीरभाव सर्वव्यापिनी रसस्थिति तक पहुँचता है; पर लोकपीडक तामसी वीरभाव भावाभास या रसाभास की अल्पव्यापिनी स्थिति तक पहुँच कर रुक जाता है। पहला पक्ष राम का है। उसमें जगन्मोहिनी शक्ति है। दूसरा पक्ष रावण का है। कुछ राक्षसों को कुछ ही समय तक आकृष्ट करने की उसमें शक्ति है। अखिल जगत् के अत्यधिक लोगों को उसे अनुभव करके उद्वेग, घृणा और क्रोध की ही अनुभूति होती है। राम की सेना के वीरों के भीतर का सात्त्विक उत्साह और उस सेना के सैनिकों का वीरदर्प भी भक्ति के आलोक में पावन बन गया है। रावण के राक्षस मदान्धता में केवल अपने को नर और वानर वीरों के भक्षक समझते हैं; पर राम के सैनिक भक्ति के प्रकाश में मर्यादा पुरुषोत्तम के प्रति शरणागति और समर्पण का पवित्र भाव धारण कर लोकरक्षा के कार्य में प्रवृत्त रहते हैं। वहाँ जब जामवन्त, नल-नील को सेतु-निर्माण के कार्य में भाग लेने का आदेश देते हैं, तब कहते हैं—"राम प्रताप सुमिरि मन माहीं, करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं †।"

‡ रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा १४ के पहले से १५ तक। † रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा १ के पहले।

वहाँ का आदेश भी भक्ति की विनम्रता से कोमल, पर अमिट और अमोघ है—

बोलि लिये कपि निकर बहोरी, सकल सुनहु विनती कछु मोरी।
राम-चरन-पंकज उर धरहू, कौतुक एक भालु कपि करहू‡।

जामवन्त के इस पावन आदेश को पाते ही भक्तिपूर्ण हृदय उमड़ पड़ते हैं और बात की बात में सेतु-निर्माण का कार्य पूरा कर लेते हैं; पर इस स्थिति में भी उन्हें अभिमान नहीं है। इस अपूर्व सफलता को वे राम के प्रताप के चरणों में समर्पित कर उसी का कार्य मानते हैं। अपने विमल विज्ञान के प्रभाव से वे अभिमान से विरत और भक्ति की भावना से आप्लावित रहते हैं। पूरे कांड भर में वीर हृदय पवित्र अनासक्ति के कारण लोकमंगल विधान का कार्य करते हुए भक्ति के मार्ग पर अग्रसर होता है और अपनी सफलताओं को अनासक्ति से राम के चरणों में अर्पित करता रहता है।

वहाँ अंगद को जब राजदूत का सम्मान मिलता है तब वे कहते हैं—"सोइ गुन सागर ईस, राम कृपा जापर करहु† ।" सर्वसिद्ध राम से यह आदर पा कर वे इसे भक्ति का प्रसाद समझते हैं और भक्ति के आनन्द में मग्न हो कर अपने भीतर अपार शक्ति का अनुभव करते हैं—"गएउ सभा दरबार तब सुमिरि रामपदकंज $ ।" और इस राम-चरण-स्मरण का प्रभाव ऐसा है कि धीरता, वीरता और बल की अपार राशि को ले कर इधर-उधर देखते हुए वे सिंह की तरह आगे बढ़ते हैं—"गयेउ सभा मन नेकु न मुरा * ।" मन तनिक भी विचलित नहीं हुआ और तेज का प्रभाव इतना कि—"उठेउ सभासद कपि कहं देखी§ ।" प्रत्येक सभासद उस रामतेज को सम्मान देने के लिए स्वभावतः बाध्य हुआ और नम्रता से उठ खड़ा हुआ। सभा में बैठते हुए भी इस वीर के भीतर वही राम प्रताप की पवित्र और अनंत बलशालिनी भावमयी समाधि है—"रामप्रताप संभारि उर बैठ सभा सिरु नाइ × ।" रामप्रताप का यह वीर-प्रतीक, उजड्ड की तरह सिर उठा कर नहीं बैठता; पवित्र और तेजोमयी नम्रता से सिर झुका कर बैठता है।

अंगद के भीतर राम के समत्व का यही विमल विज्ञानमय ज्ञान है। रावण ने अपमान भरे शब्दों में जब अंगद से परिचय पूछा तब पिता का नाम बता कर वालि-तनय ने अपना परिचय दिया। जिस वालि ने छह मास तक इस रावण को अपनी भुजा के नीचे दबा कर रखा था, उसी के लिए अवज्ञा की झूठी वीरता भरे शब्दों का प्रयोग करके रावण कहता है—"रहा वालि वानर मैं जाना+ ।" अपनी पराजय की भावना को छिपा कर रावण ने यहाँ वीर बनने का कपटपूर्ण अभिनय किया। इसी छल का उत्तर देते हुए अंगद ने कहा—"सुनु सठ भेद होइ मन ताके, श्री रघुवीर हृदय नहिं जाके।*" निश्छलता

‡ रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा १ के पहले। † रामचरितमानस, लंकाकांड, सोरठा १७। $ रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा १८। * रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा १८ के बाद। § वही। × रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा १९। + रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा २० के बाद। * रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा २१ के पहले।

से अपनी पराजय को भी न छिपाने वाले राम का मर्यादापूर्ण आचरण जिसके हृदय में स्थान न पाएगा वही छलपूर्ण व्यवहार करेगा। विमल विज्ञान की पवित्र समता की भावना मन के भीतर के छल और भेद को दूर कर निश्छलता और अभेद को पैदा कर देती है। विमल विज्ञान के समत्वपूर्ण लक्ष्य में विश्वमंगल-विधान ही निरन्तर स्थित रहता है। उसकी विजय विश्वमंगल-विधान के प्रयत्न की सफलता में तथा पराजय इसी प्रयत्न की असफलता में रहती है। लक्ष्य की अनासक्तिमय पवित्रता के कारण उसकी जय और पराजय दोनों पवित्र होती हैं, अतः उनमें एक को भी छिपा कर रखने की उसे आवश्यकता नहीं पड़ती। वह न तो इस प्रकार की जय से अभिमानपूर्ण प्रतिष्ठा का अनुभव करता न पराजय से लज्जा का। वह दोनों स्थितियों में निश्छल ही रहता है। रावण के छली स्वभाव को दूर करने के लिए उस छली की दुर्बलता पर आघात पहुँचाने के लिए अंगद ने उत्तर भी बड़े कटु और स्पष्ट दिये।

गोस्वामी जी की विमल विज्ञानमयी दृष्टि पवित्रता के प्रति किये गये अपमान का विरोध भी करती है। विमल विज्ञान की दृष्टि परमात्मा के अभेद की पवित्रता को जब देख लेती है, उसकी समदृष्टि की पावनता का साक्षात्कार कर लेती है तब उस पवित्रता के विरोधी को वह देखना ही नहीं चाहती। रावण ने जब राम का, सभा में, अपमान किया तब ऐसा पावन और तीव्र क्रोध तुलसी के अंगद के भीतर पैदा हुआ कि पृथ्वी पर उनके दोनों हाथों के पटकने से भूचाल आ गया, रावण के सभासद भाग चले, सिंहासन से गिरते हुए रावण ने अपने को सँभाला और उसके सब मुकुट जमीन पर गिर पड़े। उनमें से चार को अंगद ने रावण के सभाभवन से राम के शिविर में फेंक दिया ‡।

गोस्वामी जी की विमल विज्ञान की, अभेद-दर्शन प्राप्त कर लेने वाली दृष्टि अवतार के पूर्ण महत्त्व का दर्शन कर लेती है। विमल विज्ञान की निश्छल दृष्टि अभिमान के अभाव में परमात्मा की अखिल शक्ति को उनके मानव अवतार में देख कर अवतार को केवल मानव नहीं मानती; परमात्मा भी समझती है।

जब रावण ने राम को अभिमान से अपमानित करते हुए उन्हें पकड़ लाने की आज्ञा अपने राक्षसों को दी—'जियत धरहु तापस दोउ भाई †' तब उसका उत्तर देते हुए अंगद ने कहा—'राम को अभिमान से मनुष्य कहते हुए तेरी जीभ गल कर गिर नहीं गयी $?' और जब दुबारा 'तापस' कह कर रावण ने राम को उनकी अनुपस्थिति में अपमानित किया तब राम के प्रताप को समझ कर अंगद को बड़ा क्रोध हुआ। सभा में प्रण करके उन्होंने अपना पैर स्थिर करके रख दिया और कहा—"जौं मम चरन सकसि सठ टारी, फिरहिं राम सीता मैं हारी *।" यदि मेरा पैर तू हटा सका तो राम वापस चले जाएँगे, सीता को मैं हार जाऊँगा।

---

‡ रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ३१ के बाद। † रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ३२ के बाद। $ वही। * रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ३३ के बाद।

राम की शक्ति का इतना अपार विश्वास इस तेजस्वी दूत में है कि सीता के हार जाने का दाँव लगा बैठता है। यह विमल विज्ञान की शक्ति है और इसके द्वारा राम का प्रताप इस पवित्र दूत को अपना माध्यम बना कर इसके द्वारा स्वयं बोलने लगता है। राम प्रेम की समाधि प्राप्त करके यह राम से तदाकार हो गया है।

विमल विज्ञान प्राप्त हो जाने पर संत के स्वभाव में सत्य के लिए दृढ़ आग्रह पैदा हो जाता है। जिस संत में अभेददर्शी विमल विज्ञान उत्पन्न हो जाता है वह करोड़ों विघ्नों के सम्मुख नीति का परित्याग नहीं करता ‡। इसी तरह की स्थिरता वीर संत अंगद के पैर को प्राप्त हो गयी थी। गोस्वामी जी के शिव भी इसी विमल विज्ञान की दृष्टि से उमा से कहते हैं—'जो तृण को वज्र और वज्र को तृण बना देता है उसके दूत का प्रण कैसे टल सकता है † ।'

प्रतिष्ठा और अधिकार का अहंकार विमल विज्ञान की दृष्टि को समाप्त कर देता है। रावण को अंगद-कांड के बाद समझाते हुए मन्दोदरी ने कहा है—'युद्ध-क्रिया में दक्ष अंगद और हनुमान् के समान जिसके योद्धा हैं, उन्हें प्रिय, तुम बार-बार मनुष्य कहते हो और व्यर्थ मान और ममता के अभिमान में बहे जा रहे हो $ ।' विमल विज्ञान की दृष्टि अनंत की सर्वव्यापिनी शक्ति को अवतार के भीतर देख लेती है। इस विमल विज्ञान का उदय होते ही अवतार को मनुष्य समझने वाली संशयाकुल दृष्टि मोह से मुक्त हो जाती है—'ज्ञान उदय जिमि संशय जाहीं * ।'

तामसी क्रोध का परिणाम सम्मोह और सात्त्विक क्रोध का परिणाम भक्ति है। गीता के अनुसार तामसी क्रोध से सम्मोह उत्पन्न होता है—"क्रोधाद्भवति सम्मोहः § ।" गोस्वामी जी ने लोकमंगल विधायक क्रोध और भक्ति को साथ-साथ चलते हुए दिखाया है। सात्त्विक क्रोध को विमल विज्ञानपूर्ण भक्ति नहीं छोड़ती। राम के सात्त्विक वीरों के भीतर जहाँ-जहाँ क्रोध है वहाँ रामभक्ति भी है। यह क्रोध पावन कर्तव्य-बुद्धि और लोक-मंगल विधान के बीजभाव से उत्पन्न होने के कारण जागरूक है। तामसी क्रोध की तरह कर्तव्य-बुद्धि को मूर्छित करने वाला सम्मोह इसमें नहीं रहता।

अंगद और हनुमान् के क्रोध का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी ने लिखा है—"जुद्ध विरुद्ध क्रुद्ध दोउ बानर, रामप्रताप सुमिरि उर अंतर। रावन भवन चढ़े दोउ धाई, करहिं कोसलाधीस दोहाई × ।" इस तरह लंकाकांड का पूरा युद्ध राम की सेना के भीतर भक्ति की बाढ़ से एक सात्त्विक पवित्रता प्राप्त करके जागरूक उत्साह, क्रोध, घृणा इत्यादि के सात्त्विक संस्कारों से लोकमंगल विधान करता हुआ उपासना की पूर्ण पवित्रता से आलोकित है। इस आलोक से निशाचरों का हृदय भी पवित्र हो जाता है।

---

‡ रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ३४। † रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ३४ के बाद। $ रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ३६ के बाद। * रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ४६ के बाद। § गीता, अध्याय २, श्लोक ६३। × रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ४३ के बाद।

गोस्वामी जी ने विमल विज्ञान और तामसी भक्ति का सम्बन्ध भी चित्रित किया है। रावण के शील के भीतर की इस तामसी भक्ति की चर्चा पहले हुई है। गोस्वामी जी की विमल विज्ञानपूर्ण दृष्टि प्रायः सब राक्षसों के भीतर इसी तामसी भक्ति के शत्रुभाव को देखती है, जो अन्त तक उस शत्रुभाव को अपनी सिद्धि का साधन समझ कर रक्षित और अक्षुण्ण रखती है।

उनके शिव उमा से कहते हैं—'राम बड़े मृदुचित्त और करुणाकर हैं। निशाचर लोग वैरभाव से मेरी उपासना कर रहे हैं—यह बात समझ कर वे उन्हें परमगति दे देते हैं‡।'

इस प्रकार गोस्वामी जी की विमल विज्ञान की दृष्टि ने सात्त्विक और तामस दोनों भावों को भक्ति की एक ही दिशा में यात्रा करते हुए देखा है। एक प्रकार से गोस्वामी जी ने इस बात की ओर संकेत किया है कि सब जीव अपनी सबलताओं और दुर्बलताओं को ले कर उसी परम लक्ष्य (परमात्म-स्थिति) की ओर अग्रसर होने का प्रयास कर रहे हैं। उसके आकर्षण से कोई बचा हुआ नहीं है।

गोस्वामी जी परम्परागत इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं कि सम्मोह के कारण सत्य का दर्शन नहीं हो पाता। मेघनाद के सम्मोह का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी उसके मायायुद्ध का वर्णन करके अन्त में कहते हैं—'जिसकी प्रबल माया के वश में ब्रह्मा और शिव, छोटे और बड़े सब रहते हैं, उसी को खोटी बुद्धि वाला यह निशाचर अज्ञान के कारण अपनी माया दिखाता है। सम्मोह के कारण भगवान् की अनंत शक्ति को नहीं समझ पा रहा है†।'—"सम्मोहात् स्मृति विभ्रमः $।"

विमल विज्ञान की दृष्टि से अवतार की दुर्बलताओं के रहस्य का भी गोस्वामी जी ने साक्षात्कार किया है। समत्व के अनंत आदर्श, परमात्मा के भीतर अवतार के शरीर में शोक इत्यादि जो भाव दिखाई पड़ते हैं वे सब पवित्र रहते हैं, और आदर्श मनुष्य में उनकी जो स्थिति होती है उसी का चित्र वह मनुष्य के सामने रखता है। भगवान् के भीतर ये सब भाव किसी न किसी प्रकार भक्त की रक्षा के लिए ही उत्पन्न होते हैं और नर-शरीर में रह कर वह यही दिखाना चाहता है कि आदर्श शील-वाला मनुष्य भी अपने भक्त की रक्षा के लिए ये प्रेरक भाव अपने हृदय में धारण करता है। अवतार की ये दुर्बलताएँ भी पवित्र होती हैं। भक्त पर कृपालु रहने के कारण ही उसकी रक्षा के लिए वह अपने भीतर इन पवित्र दुर्बलताओं को स्थान देता है। "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् *" गीता के अनुसार अनंत समत्व प्राप्त परमात्मा के भीतर समदृष्टि भक्त के लिए अधिक कृपा रहती है। लक्ष्मण को शक्ति लगने के बाद के रामविलाप की आलोचना करते हुए गोस्वामी जी के शिव उमा से कहते हैं—"उमा एक अखंड रघुराई, नरगति भगत कृपालु देखाई§।" इस चौपाई में ऊपर के विवरण के सम्पूर्ण तत्त्व मिल जाते हैं।

‡ रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ४४ के बाद। † रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ५१। $ गीता, अध्याय २, श्लोक ६३। * गीता, अध्याय ४, श्लोक ११। § रामचरित-मानस, लंकाकांड, दोहा १ के पहले।

गोस्वामी जी के अनुसार घोर तमोगुणी शील में भी किसी अंश तक विमल विज्ञान की स्थिति संभव होती है। त्रिगुणात्मिका सृष्टि में किसी भी एक गुण का सर्वथा अभाव नहीं होता। इसी नियम के आधार पर घोर तमोगुण के भीतर भी सात्त्विकता की एक क्षीण और पावन किरण बाकी रह जाती है। 'कुम्भकरण' का शील इसी तरह का है। एक दिन जाग कर असंख्य महिषों को खा कर और घड़ों शराब पी कर छह मास के लिए सो जाने वाले इस घोर तामसी राक्षस के भीतर भी विमल विज्ञान का पावन प्रकाश अपनी क्षीणता में विद्यमान है। सीता-हरण का समाचार रावण से पा कर वह कहता है—"जगदम्बा हरि आन अब सठ चाहत कल्यान ‡" और सीता को वापस कर देने की राय देता है। राम के अनंत शील, शक्ति और सौन्दर्य की चर्चा करके वह कहता है—'मुझे पहले जगाते तो मैं अधिक अच्छी राय देता; अब तो परम सुन्दर और 'तापत्रयमोचन' को देख कर अपनी आँखें शीतल करने जाता हूँ †।'

उसकी इस दशा का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं—"राम-रूप-गुन सुमिरत मगन भयेउ छन एक। रावनु माँगेउ कोटि घट मद अरु महिष अनेक §।"

समत्व-सम्पन्न राम के अनंत शक्ति, शील और सौन्दर्य ने इस घोर तमोगुणी के जीवनक्षणों को भी कभी-कभी प्रभावित किया ही था। वह भी इस प्रभाव से नहीं बचा था। घोर तमोगुण के अगणित क्षणों के भीतर के एक क्षण के विमल विज्ञान के समत्व में लीन हो कर दूसरे ही क्षण में वह 'अनेक महिष' और 'कोटि घट मद' माँगता है।

विमल विज्ञान की दृष्टि से गोस्वामी जी ने भक्ति के भीतर सांसारिक सम्बन्धों की स्थिति भी निर्धारित की है। कुम्भकर्ण और विभीषण के समान राक्षस भी अपनी समत्व की दृष्टि के भीतर पारिवारिक सम्बन्ध का निर्वाह बहुत दूर तक करते हैं। अपने परिवार के लोगों के प्रति सत्य और निश्छल आचरण को वे रामभक्ति का ही अंग मानते हैं। विभीषण ने राम-विरोधी रावण का साथ बहुत दूर तक दिया; पर जब इस साथ का अर्थ रामविरोध ही हो गया तब वे राम की शरण में चले गये। राम-विरोधी भाई का साथ छोड़ दिया। कुम्भकर्ण ने भाई के प्रति अपने कर्तव्य को और रामभक्ति को जीवन के अन्तिम क्षण तक अपने साथ रखा। भाई के लिए राम से लड़ा पर राम की भक्ति को अपने हृदय से नहीं जाने दिया। युद्धक्षेत्र के मार्ग पर जाते हुए कुम्भकर्ण को जब विभीषण ने प्रणाम किया और कारणवश अपनी राम-शरणागति का समाचार दिया तब कुम्भकर्ण ने कहा—'सुनो पुत्र, रावण काल के वश में है। वह आदर्शमय समत्व-सम्पन्न रामभक्ति का परामर्श कैसे मान सकता है। शोभा और आनन्द के समुद्र राम की भक्ति पा कर तुमने वंश को उज्ज्वल कर दिया है। कपट छोड़ कर मन, वाणी और कर्म से रणधीर राम की सेवा करना।' इस तरह समत्व-प्राप्त बड़े भाई ने छोटे भाई को, युद्धक्षेत्र पर लंका और रावण इत्यादि से सम्बद्ध सब भावों को, निश्छल हो कर राम की सेवा

‡ रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ६२। † रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ६२ के बाद। § रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ६३।

में अर्पित कर देने की आज्ञा दे दी और लोकमंगल विधान की योजना में योग दिया। परमभक्ति की इस साधना के साथ विभीषण को उन्होंने 'परम सिखावन' दिया, पर परम-भ्रातृप्रेम की रक्षा के लिए राम के बाणों को अपने प्राण अर्पित कर मुक्त हो गये ‡।

इस तरह इस वीर ने परिवार के प्रति अपने निश्छल प्रेम की साधना से पारिवारिक स्नेह को रामभक्ति का रूप दे दिया और राम के आदर्शों की विमल विज्ञानपूर्ण भावना को अपने हृदय में स्थान दे कर परिवार-प्रेम और राम-भक्ति की पावनता के प्रकाश को एकाकार करके आत्म-विसर्जन किया।

विमल विज्ञानपूर्ण अपनी इस समत्वपूर्ण भक्ति की दृष्टि से सम्पूर्ण जगत् के सत्व, रजस् और तमस् के प्रसार के बीच गोस्वामी जी ने रामभक्ति के पावन आलोक का दर्शन किया है।

गोस्वामी जी की विमल विज्ञान की प्रेममयी समत्व दृष्टि, भयंकर युद्ध में अनंत शक्तिवान् के प्रयास का रहस्य भी जानती है। इस बात में सन्देह हो सकता है कि सृष्टि और संहार की शक्ति रखने वाला अनंत शक्तिवान् ईश्वर अपनी इच्छामात्र से प्रलय और सृष्टि कर सकता है; फिर उसे अवतार ले कर इतना भयंकर युद्ध करना क्यों अभीष्ट है।

कुम्भकर्ण की भयानक समर-शैली को देख कर गोस्वामी जी के शिव ने इस तरह के संदेह का अनुमान करके, उसका उत्तर उमा को दिया है—'जिस तरह सर्पों के बीच में गरुड़ खेलते रहते हैं, उसी तरह 'रघुपति' भी नरलीला करते हैं। नहीं तो जिसकी भृकुटि के भंगमात्र से काल की भी मृत्यु हो सकती है, उसे ऐसी लड़ाई शोभा देती है? इन युद्धों के द्वारा भगवान् की कीर्ति का विस्तार होता है और उसका ध्यान करके संसार का मनुष्य जगद्द्वन्द्वों पर विजय प्राप्त करके मुक्त हो जाता है †।'

अवतारी परमात्मा नररूप में युद्ध में भाग ले कर भी युद्धभूमि के आदर्शों का प्रचार करता है। वह पवित्र धर्मयुद्ध की लोकमंगल विधायिनी आवश्यकता का प्रदर्शन करता है और इस बात को आदर्श की तरह मनुष्य के सामने प्रस्तुत करता है कि सत्य के लिए, लोकरक्षा के पावन कर्तव्य का पालन करने के लिए, विश्वप्रेम के समत्व को अपने हृदय में स्थान दे कर भयानक से भयानक स्थितियों का भी वीरता से सामना करते हुए मनुष्य को विचलित नहीं होना चाहिए।

केवल समत्व का चिन्तन ज्ञान का विषय है, पर समत्व की विश्वप्रेममयी भावना विमल विज्ञान का क्षेत्र है। इसी भावना को ले कर अवतारी रामब्रह्म लोकमंगल विधान के लिए आदर्श धर्मयुद्ध का प्रचार करते हैं। शान्ति के प्रयोग से अन्ततः जहाँ कार्यसिद्धि नहीं होती वहाँ दुष्टों के प्रति वे दण्डनीति का प्रयोग करते हैं। इसी धर्म के आलोक से विभूषित राम की तेजस्विनी कान्ति का वर्णन करने से तुलसी का कवि अपने को अक्षम

‡ रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ६३ के बाद से ६४ तक। † रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ६५ के बाद।

अनुभव करता है—"कह दास तुलसी, कहि न सक छवि सेप, जेहि आनन घने ‡" अपने सहस्र मुख से शेष भी, गोस्वामी जी के अनुसार, उस सौन्दर्य का वर्णन नहीं कर सकता। "चरित राम के सगुन भवानी, तरकि न जाहिं बुद्धि बल बानी † ।" अनंत शक्तिवान् जब अनंत प्रेम को ले कर संसार में खेलने आता है तब सीमित शक्ति और प्रेम के भीतर यात्रा करने वाले बल, बुद्धि और वाणी उसकी थाह नहीं पा सकते। उसके कार्यों को नहीं समझ सकते, उसकी कृपा से विमल विज्ञान का अनंत प्रेम जिसे प्राप्त हो जाता है वही उसे पहचान सकता है।

राम के इस अनंत और निश्छल प्रेम के कारण ही भयानक युद्ध के अन्त में मेघनाद निश्छल हो गया तथा लक्ष्मण और राम का ध्यान कर उसने मुक्ति प्राप्त की—"मरती बार कपट सब त्यागा, रामानुज कहँ, रामु कह अस कहि छांडेसि प्रान। धन्य-धन्य तव जननी, कह अंगद हनुमान $ ।" अन्त में पवित्र हृदय से लक्ष्मण और राम से मिलने का पवित्र ध्यान ले कर उसकी आत्मा अकलुष हो गयी।

अपने घोर तामसी स्वभाव के कारण रावण विमल विज्ञान प्राय: खो चुका था। केवल ज्ञानाभास उसके भीतर था। युद्ध के लिए विदा होते समय वह अपनी पत्नियों को जगत् के नश्वर रूप का ज्ञानोपदेश करता है, पर स्वयं अज्ञान के अन्धकार से व्याप्त हो कर मर्यादा पुरुषोत्तम से युद्ध करने के लिए प्रस्थान करता है—"नस्वर रूप जगत सब देखहु हृदय बिचारि" * इसी पर गोस्वामी जी ने कहा है—"तिन्हहिं ज्ञान उपदेसा रावन। आपुन मंद कथा सुभ पावन § ।"

रावण की यात्रा के समय गोस्वामी जी ने रावण के लिए अपशकुनों का वर्णन करके उसके भीतर के विमल विज्ञान के अभाव की ओर बड़ा स्पष्ट संकेत किया है—क्या उस मनुष्य को स्वप्न में भी संपत्ति, शुभशकुन और मन की विश्रान्ति मिल सकती है, जो मोहवश 'भूत-द्रोह-रत', 'कामरत' और 'रामविमुख' हो गया हो ×। 'भूत-द्रोह-रत' 'कामरत' और 'रामविमुख' विशेषणों से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि भूत-स्नेहरत, अनासक्त और मर्यादा पुरुषोत्तम के आदर्शों में लीन विश्वप्रेमी मनुष्य ही विमल विज्ञानी है और रावण इस अवस्था से बहुत दूर और विरुद्ध दिशा में जीवन-यात्रा कर रहा था।

विमल विज्ञान की दृष्टि से धर्मयुद्ध के रहस्य को गोस्वामी जी ने प्रस्तुत किया है। युद्ध में रथ का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। रावण को रथ पर और राम को रथहीन देख कर विभीषण बड़े अधीर हुए और प्रेम ने राम से एक प्रश्न पूछने के लिए उन्हें बाध्य किया। उन्होंने पूछा कि बिना 'पदत्राण, कवच और रथ के आप बलवान् रावण को कैसे जीत सकेंगे + ?'

---

‡ रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ७१ के पहले का छंद। † रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ७३ के बाद। $ रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ७६ और उसके पहले। * रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ७७। § रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ७७ के बाद। × रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ७८। + रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ७९ के बाद।

राम ने जो उत्तर दिया, उसमें विमल विज्ञानपूर्ण एक सच्चे धर्मयुद्ध का पूर्ण चित्र है। उन्होंने कहा है—'जिससे मनुष्य की सच्ची जीत होती है वह रथ ही दूसरा है। शौर्य और धैर्य उस रथ के चक्र होते हैं; सत्य और शील दृढ़ ध्वजा और पताका बनते हैं; बल, विवेक, दम और परहित उसके घोड़े होते हैं; क्षमा, कृपा और समता लगाम की रस्सियाँ बनते हैं; परमात्मा का भजन ही उस रथ का योग्य सारथी होता है; विरति ही उस रथ के रथी की ढाल का काम करती है; सन्तोष कृपाण का काम करता है; दान की प्रवृत्ति उसका परशु बनती है; बुद्धि उसकी प्रचंड शक्ति का काम करती है; श्रेष्ठ विज्ञान उसका कठोर धनुष होता है; अमल और अचल मन उसका तूणीर होता है; शम, यम, नियम इत्यादि उसके विभिन्न प्रकार के बाण होते हैं; ब्राह्मण और गुरु की पूजा उसके लिए अभेद कवच का काम करती है। इनके समान विजय का और कोई दूसरा उपाय नहीं है। ऐसा धर्ममय रथ जिसके पास होता है उसके लिए जीतने को कोई शत्रु बच ही नहीं सकता।

संसार रूपी महादुर्दम शत्रु को वही वीर जीत सकता है, जिसके पास ऐसा दृढ़ रथ हो‡।

जीवन के विमल विज्ञान के, समत्वदर्शक, आदर्शों से निर्मित इसी धर्ममय रथ का उपयोग करके राम, रावण से युद्ध के लिए प्रस्तुत थे। लोकमंगल विधान के लिए ऊपर के गिनाये हुए समग्र आदर्शों की आवश्यकता होती है। विमल विज्ञानी सम्पूर्ण विश्व की रक्षा की समत्व भावना से अपने भीतर इन सब आदर्शों की सिद्धि प्राप्त करके जीवन-संघर्ष में प्रस्तुत होता है। राम की युद्धनीति इतने विराट् आदर्श के आधार पर बनी हुई थी और एक विराट् समत्वपूर्ण विश्वप्रेम का आदर्श विश्व के सामने रख रही थी। 'करुणा-सिन्धु', 'आरतबन्धु' जब 'जनरच्छक' बन कर युद्ध में प्रवृत्त होता है, तब उसका युद्ध भी परमधर्म बन जाता है†।

अनंत शक्तिवान्, विमल विज्ञानपूर्ण धर्मयुद्ध करते हुए अपनी शक्ति के प्रति वैराग्य-वृत्ति ही धारण किये रहता है। अनंत शक्तिवान् राम भी धर्मयुद्ध में प्रवृत्त होते हुए निरभिमान रहते हैं। उन्हें किसी शक्ति के सहारे की, किसी उपासना की आवश्यकता नहीं रहती; पर संसार में मर्यादा की स्थापना के लिए वे भी युद्धारम्भ में अनासक्त और समत्वमय ब्राह्म-शक्ति का पवित्र ध्यान कर लेते हैं। इन्द्र के रथ पर सवार हो कर सब श्रान्त लोगों को रावण से अपने द्वन्द्वयुद्ध की वे सूचना देते हैं। इसके बाद गोस्वामी जी कहते हैं—"अस कहि रथ रघुनाथ चलावा, बिप्र-चरन-पंकज सिरु नावा§।" विप्र के भीतर पवित्र अनासक्ति और समत्व बुद्धि रहती है। इसी पावनता का ध्यान करके राम धर्मयुद्ध में प्रवृत्त होते हैं। अपनी अनंत शक्ति के प्रति पवित्र वैराग्य की भावना धारण करके राम ने अपने विमल विज्ञान का परिचय दिया है। विमल विज्ञान मनुष्य को परम नम्र बनाता है। अनंत शक्तिवान् का ब्राह्मण-चरणों में झुकना इसी परम नम्रता का सूचक है।

---

‡ रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ७९ के बाद से दोहा ८० तक। † रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ८२ के पहले का छंद। § रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ८९ के बाद।

राम की विस्तृत युद्धलीला में भक्त विभीषण के विमल विज्ञानमय प्रेम की भी परीक्षा हुई। काटने पर रावण के सिरों के समूह बढ़ते चले जाते थे। युद्ध के अन्त का कहीं पता नहीं था। राम के असंख्य प्रयत्नों के बाद भी रावण मर नहीं रहा था। अपनी असमर्थता का अभिनय करके राम ने विभीषण की ओर देखा। यहीं उसके समत्वमय विमल विज्ञानयुक्त रामभक्ति की परीक्षा थी। लोकमंगल विधान की योजना में उसकी सहायता कहाँ तक आगे बढ़ सकती है, यही राम देखना चाहते थे। विभीषण इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए, रावण की नाभी के अमृत का भेद दे कर।

इसी बात को गोस्वामी जी के शिव ने उमा से कहा—'उमा, जिसकी इच्छा से काल भी मर सकता है, वही अनंत शक्तिवान् भक्त के प्रेम की परीक्षा लेने के लिए रावण को मारने में देरी कर रहा था ‡।'

इस तरह सम्पूर्ण युद्धकांड विमल विज्ञान की दृष्टि के विकास की एक योजना है, और अपनी इस योजना को गोस्वामी जी ने राम के समत्वपूर्ण विश्वप्रेम और लोकमंगल विधान की, उनकी योजना की पूर्ति के प्रयास के साथ-साथ पूरी कर लिया है। इस कांड भर में राम के अनासक्त लोकमंगल विधान के प्रकाश में प्रत्येक वीर अपने कलुष को खो कर विमल विज्ञानी हो गया है। इस यज्ञ की पूर्णाहुति रावण की तपोमयी साधना की सिद्धि में है, जिसे राम ने उसकी मुक्ति के रूप में उसे दिया।

अखिल विश्व के लोकमंगल विधान के अन्त में राम का लोकोपकारी रूप अपने समग्र तेज के साथ उद्भासित होता है और ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्र इत्यादि सब देवता श्रद्धावनत हो कर उस तेज के सामने झुक जाते हैं। स्वर्ग से आ कर दशरथ ने अपने पुत्र के रूप में अनंत के असीम रूपसौन्दर्य का साक्षात्कार किया। पर अनंत शक्तिवान् अपनी इस सफलता को पिता दशरथ के पुण्य का फल ही समझता है—"तात सकल तव पुन्य प्रभाऊ, जीतेउं अजय निसाचर राऊ †।" अनंत की इसी सगुण लीला के सौन्दर्य को देखने की पवित्र वासना को ले कर दशरथ के समान भक्त मुक्ति को त्याग कर जीवन का ही बरदान माँग लेता है।

पूरा लंकाकांड राम की अनंत पवित्र शक्ति का, युद्ध के रूप में साकार धर्म का ही संस्करण है। यहाँ धर्म ही क्षात्ररूप धारण करके लोकमंगल विधान कर रहा है और यहाँ विमल विज्ञान की समता 'बिनु विज्ञान कि समता आवइ §' सबके भीतर निर्भयतापूर्ण भक्ति की सृष्टि कर रहा है। राम के समत्व के पावन आलोक को अपना आधार बना कर सब लोग निर्भय हो गये हैं। अन्त में बानर-भालुओं से राम कहते भी हैं—"निज निज गृह अब तुम्ह सब जाहू। सुमिरेहु मोहि डरपेहु जनि काहू *।" राम की यही अभयवरद वाणी अमोघ हो कर विमल विज्ञानपूर्ण भक्ति की निर्भयता चारों ओर पैदा कर देती है।

‡ रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा १०१ के बाद। † रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा १११ के बाद। § रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ८९ के बाद। * रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ११७ के बाद।

अध्याय ८

अविरल हरिभक्ति : उच्चतम जीवनदर्शन

यद्यपि रामायण के सब कांडों में प्रकरणवश आगे बढ़ती हुई घटनाओं के प्रभाव में भक्तों ने बराबर अपने लिए भगवान् से अविरल भक्ति का ही वरदान माँगा है, पर उस अविरल हरिभक्ति के सम्पूर्ण चित्रण के लिए रामायण का अंतिम कांड ही उचित स्थान की तरह गोस्वामी जी के द्वारा चुना गया है। अविरल हरिभक्ति मनुष्य के जीवन के पूर्ण विकास की स्थिति है। उत्तर कांड तक पहुँच कर भगवान् राम के भी जीवन का पूर्ण विकास हो जाता है, और उनके जीवन के विकास के साथ भक्त के चिन्तन और भावना के लिए भी क्रम से इतनी सामग्री मिल जाती है कि उसका शील, चिन्तन और भावना, दोनों के समाहित प्रभाव को ले कर, अविरल हरिभक्ति में प्रवेश कर सके। षष्ठ सोपान विमल विज्ञान पूर्ण विश्वप्रेम के समत्व को मनुष्य के भीतर विकसित कर देता है। इस विकास के बाद विश्वरूप भगवान् की निरन्तर प्रवाहित होने वाली भक्ति की तरफ़ वह सरलता से अग्रसर हो सकता है।

अपनी इस अविरल हरिभक्ति की योजना का संकेत गोस्वामी जी ने षष्ठ सोपान के अंतिम दोहे में ही दे दिया है—'युद्ध और विजय से सम्बद्ध, रघुवीर के चरित्र को जो बुद्धिमान लोग सुनेंगे उन्हें भगवान् नित्य ही विजय, विवेक और विभूति देंगे ‡।' नित्य विवेक अविरल हरिभक्ति का लक्षण है।

इसके बाद गोस्वामी जी ने फिर कहा—'कलियुग का यह समय कलुषों की निवास-भूमि है। हे मन, विचार करके देख ले, भगवान् के नाम को छोड़ कर इसमें कोई दूसरा आधार नहीं है †।'

इस प्रकार षष्ठ सोपान के अंत में नित्य विवेक के साथ भगवान् के नाम के नित्य आधार की ओर जाने को उन्होंने मन को परामर्श दे दिया है। निरन्तर प्रवाहित होने वाले विवेक के साथ भगवान् के नाम का निरन्तर आधार प्राप्त कर लेना ही अविरल हरिभक्ति है। इसके लिए मन को प्रस्तुत करके गोस्वामी जी सप्तम सोपान का मंगल श्लोक प्रारम्भ करते हैं।

प्रथम मंगल श्लोक में गोस्वामी जी ने भगवान् राम का वह ध्यान किया है जिसमें उनके हृदय पर भृगु के चरण का चिह्न अंकित है—"विलसद्विप्रपादाब्जचिह्नम् $।" ब्राह्मण के

‡ रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा १२१। † वही। $ रामचरितमानस, उत्तरकांड, मंगलाचरण, श्लोक १।

चरण का नित्य ध्यान, भगवान् के हृदय की भी अविरल भक्ति का संकेत है। विष्णु ने इस चरण को आदर्श की अविरल भक्ति के लिए ही अपने हृदय पर हमेशा के लिए चिह्न बना कर धारण कर लिया। ब्राह्मधर्म (सत्त्वगुण) के प्रकाश से निरन्तर आलोकित क्षात्र-धर्म (रजोगुण) का आदर्श ही गोस्वामी जी के मानव-जीवन-विकास का आदर्श है। सत्त्वगुण से निरन्तर प्रेरणा प्राप्त करके रजोगुण और तमोगुण जीवन की यात्रा के अंत में यदि सत्त्वगुण के चरणों में आत्मविसर्जन कर दें तो अविरल हरिभक्ति का उदय हो जाता है। इसीलिए यह संकेत देने के लिए क्षात्रधर्म के पथ पर चलने वाले को सत्त्वगुण-प्रधान शील दे कर गोस्वामी जी ने उनका ध्यान किया है।

इसी श्लोक में 'सर्वदा सुप्रसन्नम्' राम का विशेषण भी अविरल भक्ति की ओर संकेत करता है। आदर्श का ध्यान हृदय में रख कर निरन्तर उसकी भावना के आनन्द में मग्न रहना ही अविरल भक्ति का लक्षण है। 'कपिनिकरयुत' और 'वन्धुनासेव्यमान' विशेषण भी वानरों और लक्ष्मण की अविरल रामभक्ति का चित्र प्रस्तुत करते हैं। 'जानकीश' विशेषण सीता के हृदय में राम के निरन्तर ध्यान की ओर संकेत करना है। 'अनिशं नौमि' से कवि स्वयं अपनी अविरल रामभक्ति का संकेत देता है ‡।

दूसरे श्लोक में कोशलेन्द्र के मंजुल चरणकमल को चिन्तक के मनरूपी भ्रमर का साथी कह कर भी गोस्वामी जी ने अपनी अविरल हरिभक्ति की योजना को बीज कांड के आरम्भ में ही सुरक्षित कर लिया †।

अविरल भक्ति में डूबे हुए भरत से मिलने के लिए भगवान् राम लंका से प्रस्थान कर चुके हैं। उन्होंने अयोध्या पहुँचने में बड़ी शीघ्रता की है, क्योंकि अवधि के बाद एक क्षण भी भरत के समान भक्त जीवित न बचेगा। विभीषण के आतिथ्य को अपार नम्रता से स्थगित करते हुए भगवान् राम ने कहा—"बीते अवधि जाउं जौं जियत न पावउं बीर $।" और भरत के स्नेह का ध्यान करके वे प्रेममग्न हो गये। सतर्कता के लिए उन्होंने सन्देश ले कर हनुमान् को पहले ही भरत के पास भेज दिया था। भरत की अविरल भक्ति यहाँ तक पहुँची थी कि नियत समय के बाद राम के एक क्षण के वियोग को भी वे नहीं सह सकते थे। वे यही सोचते भी हैं—"बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना, अधम कवन जग मोहि समाना *" राम के विरह सागर में भरत का मन निरन्तर मग्न रहता था—"राम विरह-सागर महं भरतु मगन मनु होत §।"

अयोध्या के लोग भी निरन्तर चिन्तन करते हुए राम के वियोग से क्षीण शरीर हो गये थे—"कृसतन राम वियोग ×।"

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, मंगलाचरण, श्लोक १। † रामचरितमानस, उत्तरकांड, मंगलाचरण, श्लोक २। $ रामचरितमानस, लंकाकांड, दोहा ११६। * रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १ के पहले। § रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १। × रामचरितमानस, उत्तरकांड, मंगलाचरण के बाद का दोहा।

हनुमान् जब पहुँचे तब भरत को उन्होंने कुशासन पर, क्षीण शरीर ले कर जटाओं के मुकुट के साथ बैठे हुए देखा। राम-राम जपते हुए उनके नेत्रों से अश्रु प्रवाहित हो रहा था ‡। उनकी इस अविरल रामभक्ति को पहचान कर हनुमान् ने कहा—'आप जिसके विरह को दिन रात सोच रहे हैं, जिसके गुणों के समूह की पंक्तियों को आप निरन्तर रटते रहते हैं, सज्जनों को सुख देने वाले, देवताओं और मुनियों के रक्षक वे रघुकुल तिलक सकुशल वापस आ गये †।'

यहाँ हनुमान् के द्वारा प्रयुक्त 'दिनरात' और 'निरन्तर' शब्द भरत के अविरल रामप्रेम की सूचना देते हैं।

अविरल भक्ति में भगवान् की प्रत्येक वस्तु के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है। दीनबन्धु रघुपति का दास समझ कर भरत ने हनुमान् को तुरन्त सम्मानपूर्वक हृदय से लगा लिया था। प्रिय की प्रत्येक वस्तु प्रेमी को प्रिय के समान ही आकर्षक प्रतीत होती है। अनासक्तिमय चित्त के भीतर भक्त को भगवान् के सब भक्तों में अपनी ही आत्मा का साक्षात्कार होता है। इसीलिए रघुपति का दास समझ कर भरत ने हनुमान् के भीतर अपनी ही आत्मा का दर्शन कर उन्हें हृदय से लगा लिया $।

इसी तरह के भक्तों में से सुमित्रा भी एक भक्त हैं। अपने पुत्र लक्ष्मण से वे इसलिए नहीं मिलतीं कि वे पुत्र हैं, पर इसलिए मिलती हैं कि उस पुत्र के भीतर 'राम चरन-रति' है—"भेंटेउ तनय सुमित्रा रामचरनरति जानि *।"

गोस्वामी जी के अनुसार अविरल हरिभक्ति के लिए सम्पूर्ण जीवन के सब क्षणों का उत्सर्ग करना पड़ता है। हनुमान्, जाम्बवान्, सुग्रीव और विभीषण इत्यादि ने इसी तरह का उत्सर्ग किया था। इसीलिए मुनि वसिष्ठ से परिचय कराते हुए राम ने कहा—"मम हित लागि जनम इन्ह हारे, भरतहु तें मोहि अधिक पियारे§।"

अविरल हरिभक्ति के प्रत्येक क्षण का सुख नवीन मालूम होता है। राम के कृपा भरे उपर्युक्त शब्दों को सुन कर सब लोग प्रेममग्न हो गये और उस तल्लीनता के प्रत्येक क्षण का आनन्द उन्हें नवीनतम प्रतीत हो रहा था—"सुनि प्रभु बचन मगन सब भये, निमिष निमिष उपजत सुख नये ×।"

विश्वास और एकनिष्ठता अविरल हरिभक्ति के मुख्य अंग हैं। राज्याभिषेक के बाद वेदों ने राम की स्तुति करते हुए कहा है—'विश्वास करके और अन्य सब आशाओं को छोड़ कर जो आपके दास हो रहते हैं, वे विना श्रम संसार के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते हैं। ऐसे ही स्वामी की हम स्तुति करते हैं+।' विश्वास और एकनिष्ठता गोस्वामी जी के

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १। † रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १ के बाद। $ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १ के बाद। * रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ६। § रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ८ के पहले। × वही। + रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १२ के बाद का छंद, पंक्ति ११–१२।

भक्ति साहित्य के मूल आधार हैं और इनका ध्यान गोस्वामी जी से कभी दूर नहीं होता। वे इस मूल को बार-बार विनय-पत्रिका में और दोहावली इत्यादि ग्रंथों में दुहराते हैं।

गोस्वामी जी ने अपनी अविरलभक्ति की योजना के भीतर संसार रूपी अनादि तरु के रूप में वेदों से भगवान् का ध्यान कराया है। राज्याभिषेक के बाद वेदों ने राम की स्तुति करते हुए उनसे कहा है—'संसाररूपी महाविटप के रूप में रहने वाले आपको हम नमस्कार करते हैं। इस विराट् तरु का मूल अज्ञात तथा अव्यक्त है। चारों वेद इसकी त्वचा हैं। छह शास्त्र इसके मुख्य स्कन्ध हैं। प्रकृति के महत् इत्यादि पच्चीस विकार इसकी शाखाएँ, घने पत्र और पुष्प हैं। इसमें कटु और मधुर (सुख और दुःख) दोनों प्रकार के फल लगते हैं। केवल एक वल्ली (माया) इसका सहारा ले कर झूलती रहती है ‡।'

आचार्य रामानुज के विश्वशरीर ब्रह्म का यह एक दूसरे प्रकार का रूपक है। ब्रह्म के साथ विश्व की भावना रख कर गोस्वामी जी उसे सगुण बनाये रखते हैं। अविरल हरिभक्ति में विशिष्ट के आधार पर भगवान् का सगुण ध्यान और अद्वैत के आधार पर विशुद्ध निर्गुणमतों के लिए भी उपासना की पद्धति निर्धारित रहती है। वेदों ने राम की स्तुति करते हुए उनसे कहा है—'जो लोग अज, अद्वैत, अनुभवगम्य और मन की पहुँच के बाहर रहने वाले ब्रह्म का ध्यान करते हैं, वे ऐसा कहें और जानें; हम तो आपके सगुण यश को ही नित्य गाया करते हैं।' 'कहें' और 'जानें' से अद्वैत मत के प्रति उदारता तथा 'सगुण यश नित्य गाया करते हैं'—'सगुन जस नित गावहीं'—से सगुण ब्रह्म के प्रति अविरल भक्ति व्यक्त होती है †।

गोस्वामी जी की अविरल हरि भक्ति की योजना के भीतर जो सगुण का ध्यान होता है, उसमें माया के विकार नहीं रह सकते। माया के नियामक ब्रह्म का सगुण ध्यान माया की सहायता न करके उसका नियमन ही करता है, साधक को माया व प्रभाव से दूर ले जाता है। वह माया के सब विकारों के ऊपर उठ कर 'करुनायतन' 'सदगुनाकर'—पवित्र गुणों के समूह, राम के चरणों का अनुराग, अपने मन, वाणी और कर्मों के द्वारा, अपने हृदय में उत्पन्न कर लेता है। उसके मन वाणी और कर्म राम को छोड़ कर अन्यत्र कहीं नहीं जाते $। अविरल हरिभक्ति की प्रक्रिया में सगुण साधक के लिए योग अपरिहार्य नहीं है। राज्याभिषेक के समय आये हुए शिव ने भगवान् राम की स्तुति करते हुए कहा—'हे अनंत, आपकी कथा जिनका सहारा बन जाती है, उनके लिए संत 'सदा' के लिए प्रिय हो जाते हैं। जिनके भीतर राग, लोभ, मान और मद नहीं रह जाते उनके लिए सम्पत्ति और विपत्ति की स्थितियाँ एक समान ही हो जाती हैं। इसी कारण आपका सेवक योग को त्याग देता है और आपके अवलम्ब का 'नित्य सहारा' ले कर आनन्द में मग्न रहता है। आपसे प्रेम करके उस प्रेम के नियम को 'निरन्तर' अपने साथ रख कर अपने शुद्ध

---

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १२ के बाद का छंद, पंक्ति १७ से २० तक।
† वही, पंक्ति २१–२२। $ वही, पंक्ति २३–२४।

हृदय में आपके चरणकमलों का ध्यान किया करता है।' उपरि प्रयुक्त 'सदा', 'नित्य सहारा' तथा 'निरन्तर' शब्द अविरल हरिभक्ति के व्यंजक हैं ‡ ।

अविरल हरिभक्ति में योग की आवश्यकता नहीं रह जाती। जब तक मन चंचल हो कर संसार के द्वन्द्वों में उलझा रहता है तभी तक उसकी चंचल वृत्तियों का निरोध करने के लिए योग की आवश्यकता रहती है। जब अविरल भक्ति प्राप्त हो जाती है तब मन निरन्तर राम के ध्यान के आनन्द में, मन, वाणी और कर्म से लीन रहता है। ऐसे साधक का मन कभी चंचल रहता ही नहीं। अतएव उसके लिए योग की आवश्यकता भी समाप्त हो जाती है।

अवतारी सगुण ब्रह्म को दास पर अतिशय प्रेम रहता है। सम्पूर्ण भक्ति सम्प्रदाय में यह बात बार-बार दुहरायी गयी है कि भगवान् अपने दास पर सबसे अधिक प्रेम करता है। दास का लक्षण यही होता है कि उसे संसार के सुख से अधिक आकर्षक राम के प्रेम का आनन्द मालूम पड़ता है। इस प्रेमानन्द के सामने वह संसार के आनन्द को त्याग देता है।

अयोध्या में आये हुए वानरों की यही दशा थी। मर्यादापुरुषोत्तम के साथ उन्हें ब्रह्मानन्द का सुख मिल रहा था। भगवान् के चरणों की प्रीति उनके भीतर इतनी थी कि वे एक प्रकार की आनन्दसमाधि में खो गये थे। दिनरात कैसे बीत गये इसका उन्हें पता तक न था। इस तरह छह मास बीत गये। घर का स्मरण उन्हें स्वप्न तक में न हुआ † ।

छह महीने के बाद भगवान् राम ने स्वयं उन्हें स्मरण कराया और कहा—'तुम लोगों ने मेरी बड़ी सेवा की। मुख पर तुम्हारी बड़ाई किस तरह करूं। इसलिए तुम मुझे और अधिक प्रिय हो कि मेरे लिए घर का सुख भी तुम लोग भूल गये। भाई, राज्य, सम्पत्ति, वैदेही, शरीर, घर, परिवार और स्नेही मुझे सब प्रिय हैं। पर तुम्हारे समान नहीं। मैं झूठ नहीं कहता। यह तो मेरी प्रतिज्ञा है। यह तो नीति है कि सेवक सबको प्रिय लगते हैं, पर मुझमें दास पर अधिक प्रेम है। अब तुम लोग घर जाओ और दृढ़ नियम से मेरा भजन करना। मुझे सर्वगत और सर्वहित समझ कर मेरे लिए सदा अत्यधिक प्रेम रखना $ ।'

अवतारी ब्रह्म, दास के लिए अपना अतिशय प्रेम और उसका कारण दास के सम्मुख रख कर उसके भीतर अपने लिए सदा अतिशय प्रीति रखने का आदेश देता है, पर गृहस्थ को गृहत्याग का आदेश नहीं देता। गोस्वामी जी की भक्ति गृह में रह कर अनासक्ति योग से भगवत्प्रेम उत्पन्न करके सिद्ध हो जाती है। 'सदा' शब्द से अविरल भक्ति का आदेश दे कर अवतारी ब्रह्म अपने दासों को घर वापस भेज देता है।

गोस्वामी जी के अनुसार रामचरित ही अविरल हरिभक्ति की आधार-भूमि है। रामराज्य की आदर्श स्थिति का वर्णन करके गरुड़ के कागभुशुंडि ने कहा—'भगवान् की

---

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १३ के बाद का छंद, पंक्ति १२ से १५ तक।
† रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १५। $ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १५ के बाद से दोहा १६ तक।

अनंत महिमा को समझ कर केवल इतना ही वर्णन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि हम उन्हें बिलकुल हीन बना कर देख रहे हैं। अनंत शक्तिवान् क्या-क्या नहीं कर सकता। उसके चरित के आधार से जो लोग उसकी महिमा को जान लेते हैं, उनके भीतर इस गौरव के लिए अविरल प्रेम उत्पन्न हो जाता है। उस महिमा को जान लेने के बाद शान्त और दान्त शील वाले मुनि लोग उस अनंत पवित्रता को निरन्तर अपने भीतर जागरूक रखने के लिए उस पवित्रता के केन्द्र अवतारी रामब्रह्म की पवित्र लीलाओं का निरन्तर वर्णन करते रहते हैं। यह निरन्तर कीर्तन-अविरल हरिभक्ति का लक्षण है‡।

गोस्वामी जी की अविरल हरिभक्ति की योजना में सीता का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। सीताराम की अपनी उपासना के भीतर उन्होंने सीता को राम की अविरल भक्ति धारण करने वाली एक अनादि और अनंत शक्तिमती उपासिका के रूप में देखा है। मर्यादा पुरुषोत्तम का निरन्तर हर प्रकार से अनुसरण करने वाली यह नारीशक्ति अपने को स्त्रियों के आदर्श की उच्चतम भूमि पर रख कर राम के योग्य बनाए रखती है। अपने विश्वरक्षक पति के साथ वह भी विश्वरक्षिका की तरह अपने कर्तव्यों का निर्वाह करती रहती है। मातृसेवक राम के साथ वह निरभिमान हो कर माताओं की सेवा करती है तथा अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में राम के आदर्श में डूब कर वह राम के अविरल प्रेम की साधना करती रहती है।

गोस्वामी जी ने कहा है—'लक्ष्मी, पार्वती और ब्रह्माणी के द्वारा वंदित, निरन्तर अनिन्दित शीलवाली जगदम्बा, जिसकी कृपा के कटाक्ष की चितवन देवता लोग चाहते रहते हैं, वही अपने अनंत ऐश्वर्य का संवरण करके, अपने को सीमित और नम्र बना कर राम के चरणों की रति की साधना करती रहती हैं†।'

इस तरह गोस्वामी जी की सीता अविरल हरिभक्ति की साधना करने वाली राम की अनंतशक्ति का नारी अवतार है। वह मानवी हो कर उतनी ही गौरवशालिनी है जितने महान् मर्यादापुरुषोत्तम मानव राम हैं।

गोस्वामी जी ने अपनी अविरल हरिभक्ति के प्रकाश में ब्रह्म के सगुण-निर्गुण रूप का कई बार और कई प्रकार से वर्णन किया है। उन्होंने इसी सोपान में कहा है—

'जो ज्ञान, वाणी और इन्द्रियों की शक्ति के बाहर है, जो अजन्मा तथा माया, मन और गुणों की पहुँच के भी बाहर है वही सच्चिदानन्दघन राम, उदार नरलीला करता रहता है। अनंत अस्तित्व, अनंत आनन्द और अनंत चैतन्य का स्वामी सीमा के भीतर आ कर मनुष्य की मर्यादा का मार्ग दिखाता है§। इस तरह अनंत को सीमा के भीतर आदर्शमानव के रूप में देख कर गोस्वामी जी अपने हृदय के प्रेम को उसके चरणों में निरन्तर अर्पित करते रहते हैं।

---

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा २१ के बाद। † रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा २४ और उसके पहले। § रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा २५।

गोस्वामी जी ने अविरल हरिभक्ति-सम्पादन के इस विश्वव्यापी महायज्ञ को विविध क्षेत्रों में चलते हुए देखा है। इस अन्तिम सोपान में गोस्वामी जी ने विश्वव्यापिनी अविरल हरिभक्ति की धारा बहा दी है। अलग-अलग क्षेत्रों से अविरल रामभक्ति इस सोपान में प्रवाहित हो रही है। अयोध्या के बालक शुक सारिकाओं को वही राम का नाम पढ़ा रहे हैं। प्रातःकाल स्नान करके सरयू के किनारे अयोध्या के मनुष्य हनुमान् से बार-बार रामचरित सुनते हैं। अयोध्या के सब नर-नारी उसी रामप्रेम के आनन्द में मग्न दिखाई पड़ते हैं। योगी, विरागी, ब्रह्मज्ञानी सब अवतारी ब्रह्म की लीला के सौन्दर्य में मग्न हैं ‡।

पृथ्वी से ले कर ब्रह्मलोक तक एक ही आनन्द छाया हुआ है। नारद नित्य आते हैं और राम की लीला देख कर ब्रह्मलोक जाते हैं—"नित नव चरित देखि मुनि जाहीं, ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं। सुनि विरंचि अतिसय सुख मानहिं, पुनि-पुनि तात करहु गुन गानहिं।" ब्रह्मानन्द में मग्न सनकादि ऋषि भक्त नारद की प्रशंसा करते हैं और समाधि भूल कर ये परम अधिकारी अपने अनंत निर्गुण ब्रह्म की नरलीला के आख्यान सुनते हैं। निर्गुण के मानवोचित मर्यादित गुणों को सुन कर वे समाधि भूल जाते हैं। उनके हृदय की निर्गुण पवित्रता सगुण पवित्रता के रूप में परिवर्तित हो जाती है $।

गोस्वामी जी ने सनकादि की इस अवस्था की चर्चा करते हुए कहा—जीवन-मुक्त, ब्रह्मलीन ये मुनि भी ध्यान छोड़ कर चरित सुनते हैं। जो लोग राम की कथा से प्रेम नहीं रखते उनके हृदय पत्थर हैं। उनमें मर्यादाएँ कभी अंकुरित नहीं हो सकतीं *।

सनकादि प्रकरण में विशेष कर तथा और स्थानों में भी गोस्वामी जी ने निरन्तर निर्गुण भक्ति की अपेक्षा अविरल सगुणभक्ति को ही अधिक स्वाभाविक और प्रभावशालिनी सिद्ध किया है।

तेजपुंज, शुभगुण और शीलवाले, सदा ब्रह्मानन्द में लीन रहने वाले, अतिप्राचीन पर बालक रूप में रहने वाले, विगतविभेद, समदर्शी दिगम्बर वेश में रहने वाले सनकादि भी रामचरित के प्रेमी हैं। ये ऋषि भगवान् राम से मिलने आते हैं। उन्हें देखते ही भगवान् राम ने उनका स्वागत किया, पर अनंत सौन्दर्यवान् के रूप को देख कर मुनियों का निर्गुण ज्ञान भूल गया। वे अपने मन को न रोक सके। यहाँ सगुण की निर्गुण पर विजय हो गयी। सगुण ब्रह्म का यही अनंत सौन्दर्य जगत् के रूपाकर्षण से मन को मुक्ति दे देता है। सगुण के इस रूप को देख कर ऋषि सच्चे आनन्द की समाधि में डूब गये §।

इस रूप-सौन्दर्य के आनन्द की समाधि से ऋषियों को हटाने के लिए भगवान् राम ने शील के सौन्दर्य की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया और संतों के शील की चर्चा करते हुए कहा—'बड़े भाग्य से आज हमें संतों का साथ मिला है। संतों के साथ से, बिना

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा २५ के बाद से दोहा २६ तक। † रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ४१ के बाद। $ वही। * रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ४२। § रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ३२ के बाद तक।

प्रयास संसार की क्षुद्रता से मनुष्य को मुक्ति मिल जाती है। वह महान् हो जाता है। संत का साथ मुक्ति का पथ है और कामी का साथ संसार की तरफ़ जाने वाला मार्ग ‡।'

शील के सौन्दर्य की भावना बहुत दूर तक मनुष्य, चिन्तनशील और सतर्क हो कर करता रहता है। इस भावना की चिन्तनशील सतर्कवृत्ति के कारण रूप-सौन्दर्य में मग्न ऋषियों का मन जाग कर भगवान् के शील की तरफ़ आ गया। वे भगवान् राम की प्रार्थना करने लगे—'राम, आप अनंत और अनामय हैं। आप अकशुव, अनेक, एक और करुणामय हैं, आप निर्गुण और गुणों के सागर हैं। आप आनन्द के निवास, सुन्दर और सुशील हैं। आप लक्ष्मी के पति और पृथ्वी का पालन करने वाले हैं। आप अनुपम, अजन्मा, अनादि और सौन्दर्य की राशि हैं। आप ज्ञान के समुद्र. निरभिमान और मानप्रद हैं। आपके पवित्र यश की चर्चा वेद और पुराणों में भरी पड़ी है। आप ब्रह्मज्ञानी, कृतज्ञ और अज्ञाननाशक हैं। आपके अनन्त नाम हैं। इसीलिए आप अनाम और निरंजन हैं †' अनंत, नामों के भीतर रहने वाली किसी एक ही वस्तु से आसक्त नहीं होता। इसीलिए उसका एक निश्चित नाम भी नहीं होता और वह निरंजन और निर्लिप्त रहता है। सनकादि की प्रार्थना का और अंश इस प्रकार है—'आप सर्व हैं, सर्वगत हैं, और सबके हृदय में निरन्तर निवास करते हैं $।' यहाँ गोस्वामी जी ने ईश्वर के सर्वत्व (सब कुछ वही है) 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' * सर्वगतत्व, (सबमें वही है) 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' § और सर्वान्तर्यामित्व का एक ही स्थान में संकेत कर दिया है। सर्वान्तर्यामित्व का सिद्धान्त गीता में भी परिलक्षित होता है—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"—'हे अर्जुन, ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में रहता है ×।'

ऐसे सर्वान्तर्यामी सगुण राम से गोस्वामी जी के सनकादि ने 'अनपायनी' अविरल 'प्रेम भगति' माँगी है +।

इस तरह सनकादि प्रकरण को ला कर गोस्वामी जी ने ज्ञान और योग से अधिक उच्चासन पर सगुण-निर्गुण राम की अविरल 'प्रेम भगति' की स्थापना कर ली है।

अविरल हरिभक्ति के इस सोपान में तुलसी के राम के द्वारा भक्ति की बड़ी सुन्दर और सारगर्भित व्याख्या की गयी है। अयोध्या के निवासियों को बुला कर भगवान् राम ने भक्ति का प्रतिपादन करने की अपनी भूमिका में कहा—'मेरा वही प्रियतम सेवक है जो मेरे अनुशासन को मानता है। यदि मैं कोई अन्यायपूर्ण बात कहूँ तो भय छोड़ कर मुझे रोकना।' इस विनम्र भूमिका के बाद भगवान् राम ने कहना आरम्भ किया—'देवताओं को भी दुर्लभ, मनुष्य-शरीर बड़े भाग्य से मिलता है, इस बात को सब शास्त्र स्वीकार करते हैं। सब प्रयत्नों का निवासस्थल यह शरीर ही है। इसमें रहते हुए, प्रयास करके मुक्ति भी मिल सकती है।

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ३२ के बाद से दोहा ३३ तक। † रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ३३ के बाद। $ वही। * छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय ३, श्लोक १। § ईशोपनिषद्, श्लोक १। × गीता, अध्याय १८, श्लोक ६१। + रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ३४।

यह मोक्ष का द्वार है। इसको पा कर जो अपनी दूसरी दुनिया को इस जन्म के सुन्दर कार्यों से सुन्दर नहीं बना लेता वह इस ओर दूसरे जन्मों में भी सिर धुन-धुन कर पछताता है तथा काल, कर्म और ईश्वर को व्यर्थ दोष देता है‡।'—"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्—गीता†।" 'अपनी आत्मा का पतन नहीं, उसका उद्धार स्वयं करना चाहिए।'

'इस शरीर का फल विषयों के प्रति आसक्ति नहीं है। स्वर्ग भी कुछ ही समय के लिए मिलता है। अंत में उस सुख का भी अंत हो जाता है। जो मनुष्य का शरीर पा कर विषयों की आसक्ति में फँस जाता है वह अमृत को बदल कर विष स्वीकार कर लेता है। यह अविनाशी जीव चौरासी लाख योनियों में भटकता रहता है। काल और कर्म के गुण और स्वभाव से घिरा हुआ माया की प्रेरणा से यह फिरता रहता है। परमात्मा अपने अहैतुक स्नेह के कारण कृपा करके कभी इसे नर-देह दे देता है। मनुष्य का शरीर संसार-सागर को पार करने के लिए नाव है। मेरी कृपा अनुकूल पवन है। सद्गुरु उसका कर्णधार है। इस दुर्लभ सज्जा को मनुष्य आसानी से प्राप्त कर लेता है। परमात्मा की कृपा से इस सज्जा से युक्त ऐसे नर-समाज को पा कर जो भवसागर के पार नहीं जा सकता है वह मंदमति, आत्महन्ता और परमात्मा के प्रति कृतघ्न है$।'

'यदि यहाँ और परलोक में सुख चाहते हो तो मेरे शब्दों को प्रेरक हृदय में दृढता से जमा लो। पुराण और श्रुतियों के अनुसार मेरी भक्ति का यह पथ सुलभ और सुखद है। ज्ञान का पथ अगम है। उस पर अनेक विघ्न हैं। उसकी साधना बड़ी कठिन होती है, क्योंकि यात्रीमन को रुकने के लिए उसमें कोई सहारा नहीं मिलता। विना किसी केन्द्र के, खोजी मन, किसका आधार लेगा। कष्ट करके इस ज्ञान को कोई पा भी ले, तो भक्तिहीन होने के कारण वह भी मुझे प्रिय नहीं है। भक्ति स्वतन्त्र और सब सुखों की खान है। विना सज्जनों की संगति के यह प्राप्त नहीं होती। विना पुण्यराशि के संतों का दर्शन भी नहीं होता। संतों का यह साथ संसार की भावना की क्षुद्रता का अंत कर देता है। संसार में एक ही पुण्य कर्म है और वह है पावन चरित ब्राह्मण के चरणों की सेवा। जो निश्छल हो कर द्विज-सेवा करता है, उस पर मुनि और देवता अनुकूल रहते हैं*।"

'एक और गुप्त रहस्य है। आप लोगों से मैं प्रार्थना करता हूँ कि विना शंकर का भजन किये मनुष्य मुझे नहीं प्राप्त कर सकता§।'

यहाँ इस अन्तिम सोपान तक शिव-विष्णु-ऐक्य की अपनी साधना पर गोस्वामी जी ने बार-बार जोर दिया है।

राम फिर कहते हैं—'कहो, भक्ति के पथ पर कौन कष्ट है? इसमें न योग है न यज्ञ, न जप, तप और उपवास ही हैं। भक्ति में तो केवल सरल स्वभाव रखना पड़ता है, मन की कुटिलता छोड़ देनी होती है और जो कुछ मिल जाए उससे सदा सन्तुष्ट रहना

---

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ४२ के बाद से दोहा ४३ तक। † गीता, अध्याय—६, श्लोक ५। $ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ४४ और उसके पहले। * रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ४४ के बाद। § रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ४५।

पड़ता है। यदि मनुष्य मेरा दास कहला कर दूसरे की आशा करने लगे तो उसे मुझ पर विश्वास कहाँ रह गया। इस तरह के सरल और निश्छल आचरण से मैं वश में हो जाता हूँ। जो वैर और विग्रह, आशा और भय छोड़ देता है, उसके लिए सब दिशाएँ सदा सुखमय बनी रहती हैं ‡।'

"अपने किसी भी कार्यारम्भ से मनुष्य को आसक्त नहीं होना चाहिए। प्रतिष्ठा और घर की आसक्ति भी उसमें नहीं होनी चाहिए। उसे अकलुष, अक्रोध, दक्ष और विज्ञान की समत्व भावत्व के साथ रहना चाहिए। सज्जनों की संगति से उसे सदा प्रेम होना चाहिए। विषय, स्वर्ग और मुक्ति को भी तृण के समान समझना चाहिए। भक्ति के पक्ष के लिए भी उसे हठ नहीं रखना चाहिए, न तो शठता ही करनी चाहिए। दुष्ट तर्कों को भी दूर ही रखना चाहिए †।'

'ममता, मद और मोह को छोड़ कर जो मेरे शील और नाम से आसक्त हो जाते हैं उनके सुख को वही जान सकता है जो विशुद्ध-निश्छल आनन्द की राशि में डूब चुका हो $।'

इस प्रकार राम ने जीवन में आदर्श शील की पूर्णता ही को भक्ति का स्वरूप माना है और साधन के सब लक्ष्यों से इसी पूर्णता की प्राप्ति को परम लक्ष्य माना है। यही पूर्णता राम है।

गोस्वामी जी के वसिष्ठ द्वारा भी भक्ति के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। एक दिन भगवान् राम के पास आये हुए वसिष्ठ मुनि ने वार्तालाप के प्रसंग में कहा—'पौरोहित्य कर्म बड़ा मन्द होता है। वेद, पुराण और स्मृतियों ने इसकी निन्दा की है। जब मैंने आपके कुल का पौरोहित्य स्वीकार नहीं किया, तब मेरे पिता ब्रह्मा ने कहा—इसका लाभ आगे होगा। परमात्मा ब्रह्म नररूप में 'रघुकुलभूषण भूप' होंगे *। तब मैंने अपने हृदय में विचारा—जिसके लिए योग, यज्ञ, व्रत और दान किया जाता है उसी को जब पाऊँगा, तब इस पौरोहित्य से बढ़ कर और कोई धर्म नहीं है। यज्ञ, तप, नियम, योग, कुलधर्म तथा विभिन्न प्रकार के वैदिक शुभ अनुष्ठान, ज्ञान, दया, दम, तीर्थों में स्नान—जहाँ तक वेदों और सज्जनों ने धर्म की व्याख्या की है, वेद, शास्त्र तथा अनेक पुराणों के पढ़ने और सुनने का एक ही लक्ष्य होता है कि आपके चरणकमलों की निरन्तर प्रीति उत्पन्न हो जाए। सब साधनों का यही एक सुन्दर फल है। प्रेमभक्ति के जल के बिना भीतर का कलुष नहीं धुल सकता। वही सर्वज्ञ, ब्रह्मज्ञानी और पंडित है, वही गुणों की निवासभूमि और अखंडित विज्ञान सम्पन्न है, वही दक्ष और सब शुभ लक्षणों से युक्त है, जिसके हृदय में आपके चरणकमलों के लिए रति उत्पन्न हो जाती है।'

इतना कह कर वसिष्ठ जी ने राम से यही वरदान माँगा कि जन्म-जन्म में आपके चरणकमलों का स्नेह कभी न घटे।

---

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ४५ के बाद। † वही। $ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ४६। * रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ४७ के बाद से ले कर दोहा ४९ तक।

यहाँ भी अविरल हरिभक्ति को ही जीवन का अन्तिम विकास वसिष्ठ जी ने माना है, और उन्होंने कहा भी है कि सब शुभ कार्यों का लक्ष्य राम के चरणों की निरन्तर प्रीति (अविरल हरिभक्ति) ही है। इसी अविरल भक्ति का वरदान माँगने के लिए उन्होंने कहा—जन्म-जन्म में आपके चरणकमलों का स्नेह कभी न घटे।

जीवन के इसी अन्तिम और पूर्ण विकास का गोस्वामी जी की उमा के द्वारा भी समर्थन हुआ है। कौए के शरीर में कागभुशुंडि के हृदय में इस अविरल हरिभक्ति पर आश्चर्य प्रकट करती हुई और अपने सन्देह को दूर करने के लिए शिव से अपने प्रश्न की भूमिका में उमा ने कहा—'कौए के शरीर में वैराग्य, ज्ञान, विज्ञान, रामचरित के लिए प्रगाढ और अतिशय प्रेम तथा उसकी रामभक्ति को सुन कर मुझे बड़ा सन्देह हो रहा है। हे शिव, सहस्रों मनुष्यों में से कोई एक धर्मनिष्ठ होता है। करोड़ों धर्मशीलों में से कोई एक विषय-विमुख और विरागरत होता है। इस बात को वेद भी मानते हैं कि करोड़ों विरक्तों के बीच में से कोई एक सम्यक् ज्ञान प्राप्त करता है। करोड़ों ज्ञानियों में से कोई एक जीवन्मुक्त होता है। सहस्रों जीवन्मुक्तों में से कोई एक आनन्दराशि, ब्रह्मलीन विज्ञानी होता है। धर्म-शील, विरक्त, ज्ञानी, जीवन्मुक्त और ब्रह्मज्ञानी—इन पाँचों प्रकार के मनुष्यों से अधिक दुर्लभ वह है जो अभिमान और माया को लाँघ कर राम की भक्ति में डूब जाता है। ऐसी हरिभक्ति कौए को कैसे मिली। कृपा करके इसका कारण बताइए।'

'राम को अपना अन्तिम लक्ष्य समझने वाला, ज्ञानप्रेमी, गुणों का निवासस्थल और धीरमति वाला किस कारण कौए के शरीर में आ गया—कृपया मुझे समझाइए ‡।'

अपने इस प्रश्न के भीतर उमा ने भक्त को अन्तिम दुर्लभ मनुष्य और भक्ति को जीवन के विकास का अन्तिम सोपान माना है। इसीलिए रामचरित के इस अन्तिम सोपान में गोस्वामी जी ने जीवन के पूर्णतम विकास—अविरल हरिभक्ति का प्रतिपादन किया है।

अविरल हरिभक्ति जिसे प्राप्त हो जाती है, उस पर माया की बाधा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। माया का प्रबल अस्त्र मोह (भ्रम) है। इस मोह को जीव पर डाल कर माया उसे भगवान् से दूर रखती है। भ्रम से ज्ञान लुप्त हो जाता है। अनंत शक्तिवान् राम को लंकायुद्ध में नागपाश में बँधा हुआ देख कर मायाकृत यह मोह गरुड को हो गया था। उस अवस्था में पड़े हुए गरुड की चर्चा करते हुए शिव ने उमा से कहा है—"नाना भाँति मनहिं समुझावा, प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा §।' राम की यह माया बड़ी प्रबल होती है। नारद ने गरुड को समझाया है—"सुनु खग प्रबल राम की माया। जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई, बरिआई बिमोह मन करई †।" 'वह ज्ञानियों के चित्त को भी चुरा ले जाती है और बरबस उनके मन में विमोह उत्पन्न कर देती है। उसने मुझे भी कई बार नचाया है और तुम्हें भी उसने व्याप्त कर लिया है। तुम्हारे भीतर का महामोह मुझसे नष्ट न होगा; ब्रह्मा के पास जाओ *।'

---

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ५२ के बाद से दोहा ५४ तक। † रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ५८, उसके पहले और बाद। § वही। * वही।

गरुड ने ब्रह्मा को जब अपनी दशा बतायी तब वे सोचने लगे—कवि, कोविद और ज्ञाता भी माया के वश में हो जाते हैं। हरि की माया का प्रभाव अपरिसीम है। उसने कई बार मुझे भी नचाया है। जब अग-जग के स्रष्टा पर भी उसका अधिकार है तब पक्षिराज के मोह में क्या आश्चर्य। उन्होंने गरुड को शिव के पास भेज दिया।

बिना सज्जनों की संगति के रामचरित का ज्ञान नहीं होता। उसके बिना मोह का अज्ञान दूर नहीं होता। इसके दूर हुए बिना राम के चरणों में दृढ अनुराग उत्पन्न नहीं होता ‡।

अविरल हरिभक्ति के पथ का बाधक मोह रामचरित के ज्ञान से दूर हो जाता है। मोह नष्ट होने पर प्रेम की उत्पत्ति और उसके बाद राम की प्राप्ति होती है—"मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा, किये जोग, जप, ज्ञान बिरागा †।" योग, जप, ज्ञान और वैराग्य से श्रेष्ठ गोस्वामी जी ने अनुराग को माना है और यही भक्ति है।

माया और ब्रह्म के सम्बन्ध का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाने पर अज्ञान समाप्त हो जाता है और अविरल हरिभक्ति प्राप्त हो जाती है। कागभुशुंडि ने गरुड का मोह दूर करने के लिए कहा—'संसार भर में माया की प्रचंड सेना व्याप्त हो रही है। काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद और मत्सर उसके सेनापति हैं। दंभ, कपट और पाखंड इत्यादि उसके योद्धा हैं। वह माया रघुवीर की दासी है। जो इसे समझ लेता है उसके लिए यह शून्य हो जाती है। लेकिन यह माया राम की कृपा बिना नहीं छूटती $।' इसी के आगे काग-भुशुंडि कहते हैं—'जो माया सब जग को नचाती रहती है, जिसके सम्पूर्ण रहस्य को कोई देख नहीं सकता वही प्रभु के भ्रूविलास के साथ, अपने पूरे समाज को ले कर, नटी की तरह नाचती है। वही सच्चिदानन्द, अज, विज्ञानरूप (विज्ञानमानन्दं ब्रह्म)* बलधाम व्यापक, व्याप्य, अखंड, अनंत, अखिल, अमोघशक्ति परमात्मा राम है। वे सगुण होते हुए भी अगुण, अदभ्र, वाणी और इन्द्रियों के परे, सर्वदर्शी, अनवद्य, अजित, निर्मम, निराकार, निर्मोह, नित्य, निरंजन, सुख की राशि, प्रकृतिपर, ब्रह्म, निरीह, विरज, अविनाशी और सर्वान्तिर्यामी हैं। उन पर माया का प्रभाव कभी नहीं पड़ता, जैसे सूर्य के सम्मुख अंधकार नहीं रह सकता। जिस तरह अभिनेता अनेक रूप धारण करता है पर वही हो नहीं जाता उसी तरह ब्रह्म राम भी अनेक रूप धारण करते हैं, पर माया के उन रूपों से स्वयं प्रभावित नहीं होते §।'

"निर्गुण रूप में जटिलता न रहने के कारण वह सरल है, पर सगुण की लीला अनिर्वचनीय है। उसे कोई नहीं जानता। उसके विभिन्न प्रकार के सुगम और अगम चरितों से मुनियों का मन भी भ्रम में पड़ जाता है ×।"

---

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ६१। † रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ६१ के बाद। $ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ७१। * बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय ५, ब्राह्मण ९, कंडिका २८। § रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ७१ के बाद से दोहा ७२ तक। × रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ७३।

भक्त की अविरल भक्ति की रक्षा भगवान् स्वयं करता है। वह भक्त के अभिमान को नष्ट करके उसे निरभिमान बना देता है। निरभिमानता की अवस्था ही राम के स्वभाव का लक्षण है। इस निरभिमानता को प्राप्त करके साधक राम हो जाता है। इस राम हो जाने में ही राम की भक्ति की परिणति होती है। कागभुशुंडि ने गरुड से कहा है—'राम का यह सहज स्वभाव है कि वे अपने जन के भीतर कोई भी अभिमान नहीं रहने देते। संसार की जड और अनंत शोक तथा शूलों का कारण यह अभिमान ही है। प्रभु को सेवक पर अपार ममता होती है। इसीलिए शूलप्रद इस अभिमान के व्रण को वे सेवक के भीतर से काट कर निकाल देते हैं। जिस तरह शिशु के व्रण को माता कठिनहृदया हो कर चिरवाती है और बालक के व्याकुल हो कर छटपटाने और चिल्लाने की चिन्ता न करके व्याधि के नाश की ओर ही ध्यान रखती है उसी तरह परमात्मा भी सेवक का अभिमान नष्ट करने के लिए उसे कष्ट देता है ‡।'

राम के अलौकिक रहस्य का ज्ञान अविरल हरिभक्ति के लिए आवश्यक है। कागभुशुंडि ने गरुड से कहा है—'राम की कृपा के बिना राम का प्रभुत्व नहीं जाना जा सकता, प्रभुत्व जाने बिना विश्वास उत्पन्न नहीं होता, बिना विश्वास के प्रीति उत्पन्न नहीं होती और बिना प्रीति के भक्ति दृढ नहीं होती †।'

इसीलिए अविरल हरिभक्ति के लिए राम के अलौकिक रहस्य को जानने की आवश्यकता होती है। अविरल हरिभक्ति की इसी आवश्यकता के लिए कागभुशुंडि ने अपने मोह और राम की अलौकिक शक्ति की विराट्ता के दर्शन की चर्चा की। उन्होंने कहा—'मेरे इष्ट, बालक राम हैं। उनका अवतार जब-जब होता है, मैं छोटे कौए के रूप में जा कर उस बालक से खेलता हूँ और पाँच वर्ष तक वहीं रहता हूँ। एक बार अपने साथ खेलते हुए बालक राम को देख कर मुझे मोह हो गया। मैंने अपने अज्ञान में सोचा—परम चैतन्य और आनन्दमय विराट्, प्राकृत शिशु की तरह कैसे खेलता है। इतना ध्यान आते ही राम की माया से मैं व्याप्त हो गया। उन्होंने मेरे मोह को समझ लिया और उनका बालक रूप मुझे अपने खेल में पकड़ने दौड़ा और मैं उड़ा। आकाश में ब्रह्मलोक तक गया और पीछे देखा तो राम की भुजा और मुझमें कुल दो ही अंगुल का अन्तर था। सप्तावरण को भेद कर जहाँ तक मेरी गति थी मैं गया, पर वही दो अंगुल का अन्तर। व्याकुल हो कर मैंने आँखें बन्द कर लीं। जब आँखें खोलीं तो अपने को कोसलपुर में पाया। मुझे देख कर राम मुसकाये और मैं उनके मुख में चला गया। उनके पेट में अनेक ब्रह्मांडों के समूह मैंने देखे। विचित्र रचना वाले अनेक लोक, करोड़ों ब्रह्मा और शिव, अगणित तारे, रवि और चन्द्र, अगणित लोकपाल, यम और काल, अगणित पर्वत और भूमि का विशाल विस्तार, सागर, नदियाँ, सरोवर और अपार वन, सृष्टि के विभिन्न प्रकार के विस्तार, सुर, मुनि, सिद्ध, नाग, नर, किन्नर और चारों प्रकार के सचराचर

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ७३ के बाद से दोहा ७४ तक। † रामचरितमानस, उत्तरकांड, सोरठा ८९ के पहले।

जीव मैंने देखे। अदृश्य और अतर्क्य को देख कर मैं उसका वर्णन कैसे करूँ। प्रत्येक ब्रह्मांड में सौ-सौ वर्ष रहते हुए अनेक ब्रह्मांडों की मैंने यात्रा की। उन सब ब्रह्मांडों में सृष्टि के समस्त विस्तार के साथ अयोध्या, सरयू, दशरथ, कौसल्या और सब भाई थे। उनमें राम का अवतार और बालविनोद था। अनेक ब्रह्मांडों में वही राम दिखाई पड़े। वही शिशुता और वही शोभा मैंने देखी। ऐसा लगा कि सौ कल्प बीत गये। अपने आश्रम में भी आया और कुछ समय तक निवास किया। फिर अयोध्या में रामावतार हुआ। वहाँ भी जा कर प्रभु का दर्शन किया और यह सब दो घड़ियों में मैंने देख लिया। कृपालु राम मेरी व्याकुलता पर ध्यान दे कर फिर हँसे और मैं बाहर आ गया। उनकी वही बाल-क्रीडा फिर प्रारम्भ हुई, पर मेरा मन व्याकुल ही रहा। यह सब मेरी समझ के बाहर हो गया था। व्याकुल हो कर मैंने रक्षा की प्रार्थना की। भगवान् का कृपालु हाथ मेरे सिर पर पड़ा और मैं उनके रहस्य को जान कर भक्ति के आनन्द में तन्मय हो गया। उन्होंने प्रसन्न हो कर मुझे अनन्त शक्ति का वरदान माँग लेने को कहा। उत्तर देते हुए मैंने कहा—

अविरल भगति बिसुद्ध तव स्रुति पुरान जो गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभुप्रसाद कोउ पाव।
भगत कलपतरु प्रनतहित, कृपासिन्धु सुखधाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम‡।

इस तरह भगवान् के अनत रहस्य को जान कर भक्त के भीतर उसके लिए अनंत प्रेम उत्पन्न हो जाता है, और वह उनसे अविरल भक्ति प्राप्त कर लेता है। वह इसी अविरल भक्ति को अनंतशक्ति मानता है। इसके अतिरिक्त किसी दूसरी शक्ति को वह शक्ति मानता ही नहीं।

गोस्वामी जी के कागभुशुंडि ने ईश्वर, जीव, माया, भक्ति, ज्ञान, और मुक्ति के सम्बन्ध का विवेचन भी गरुड के सम्मुख प्रस्तुत किया है। गरुड को यह रहस्य बताते हुए कागभुशुंडि ने कहा है—'सीतावर अखंड-ज्ञान और एक हैं (एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म†)। सचराचर जीव माया के प्रभाव में आ सकते हैं। यदि सबके भीतर एकरस ज्ञान ही रहता तो ईश्वर और जीव में क्या भेद रह जाता। माया के वश में रहने के कारण जीव अभिमानी होता है§।'

माया के भेदों में सीमित रह कर जीव अपने को खंड-खंड के साथ सम्बद्ध देख कर अभिमान करने लगता है। ज्ञान के द्वारा जब वह अपने को एक और विराट् योजना के भीतर लगा हुआ देखता है तब खंड और भेद-सम्बन्धिनी उसकी बुद्धि समाप्त हो जाती है और उसके साथ उसका खंड के आधार पर टिका हुआ अभिमान भी नष्ट हो जाता है।

कागभुशुंडि ने गरुड से कहा—'गुणों की खान माया, ईश्वर के वश में रहती है। जीव इसीलिए परवश होता है और ईश्वर स्ववश और स्वतन्त्र। जीव अनेक होते हैं, पर

---

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ७४ के बाद से ले कर दोहा ८४ तक। † त्रिपाद्-विभूतिमहानारायण उपनिषद्, अध्याय ३, कंडिका ३। § रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ७७ के बाद।

लक्ष्मीपति राम तो एक ही हैं। यद्यपि माया के द्वारा उत्पन्न की गयी भेदकल्पना व्यर्थ है तथापि बिना भगवान् के वह करोड़ों उपाय किये नहीं जाती।' रामचन्द्र के भजन के बिना जो निर्वाण-पद चाहता है वह ज्ञानवान् होने पर भी बिना सींग और पूंछ का पशु ही है। यदि सोलह चन्द्रमा उदय हो जाएं तारामों के सब समूह प्रज्वलित हों और सब पर्वतों में दावाग्नि पैदा कर दी जाए तब भी बिना सूर्योदय के रात्रि का अंत नहीं आता। इसी तरह बिना हरिभजन के जीवों का क्लेश नहीं मिटता। हरि के सेवकों को अविद्या (अज्ञान, माया) प्रभावित नहीं कर पाती। प्रभु की प्रेरणा से उस पर विद्या (ज्ञान) का ही प्रभाव बना रहता है। इसी से दास का नाश नहीं होता और उसकी भेदभक्ति बढ़ती ही जाती है‡।'

गोस्वामी जी के कागभुशुंडि ने राम की महिमा तथा उनके नाम, रूप और गुणों की अनंतता का बड़ा भव्य चित्र प्रस्तुत किया है। उन्होंने गरुड से अपने वार्तालाप के प्रकरण में कहा है—'राम की महिमा उनके नाम, रूप और गुण सब अमित और अनंत हैं। अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार मुनि लोग उनका यशोगान करते हैं। वेद, शेष और शिव भी उस अनंत का पार नहीं पाते। आपसे ले कर पक्षी और मच्छर तक आकाश में उड़ते हैं, पर इस असीम आकाश का अंत नहीं पाते, उसी तरह रघुपति की अनंत महिमा में डुबकी लगा कर क्या कोई उसकी थाह लगा सकता है। सैकड़ों करोड़ कामदेव के समान राम का शरीर सुन्दर है। असीम शत्रुओं का विनाश करते समय वे अपने भीतर करोड़ों दुर्गाओं की शक्ति धारण कर सकते हैं। ऐश्वर्य और विलास में सैकड़ों करोड़ इन्द्र उनके समीप नहीं पहुंच सकते। उनके अनंत विस्तार को सैकड़ों करोड़ आकाश नहीं पा सकते। सैकड़ों करोड़ मरुतों का विपुल बल उनमें है। उनका प्रकाश सैकड़ों करोड़ सूर्य भी नहीं छू सकते। वे सम्पूर्ण भवत्रास के नाशक हैं और सैकड़ों चन्द्रमाओं से भी अधिक सुशीतल हैं। सैकड़ों करोड़ कालों से भी अधिक दुस्तर, दुर्गम, और दुरन्त वे हैं। सैकड़ों करोड़ धूमकेतु के समान उनका प्रभावशाली आतंक है।'

'सैकड़ों करोड़ पातालों से भी अधिक गहराई उनमें है। सैकड़ों करोड़ यमराजों से भी वे अधिक भयानक हैं। अनंत कोटि तीर्थों से भी वे अधिक पवित्र हैं। उनका नाम अखिल पापों के समूह को नष्ट कर देता है। राम करोड़ों हिमालयों से भी अधिक अचल और स्थिर स्वभाव के हैं। सैकड़ों करोड़ समुद्रों से भी वे अधिक गम्भीर हैं। भक्तों की सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति करने में वे सैकड़ों करोड़ कामधेनुओं से भी अधिक सक्षम हैं। अनंत कोटि सरस्वतियों से भी अधिक निपुणता उनमें है। सैकड़ों करोड़ विधाताओं से भी अधिक सृजन की दक्षता उनमें है। करोड़ों विष्णुओं से भी अधिक पालन करने की शक्ति उनमें है। उनकी संहार-शक्ति सैकड़ों करोड़ रुद्रों से भी अधिक है। सैकड़ों करोड़ कुबेरों से भी वे अधिक धनवान् हैं। करोड़ों मायाओं से भी अधिक प्रपंच का विस्तार उनके भीतर

---

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ७७ बाद से दोहा ७८ के बाद तक।

है। भार धारण करने में वे सैंकड़ों करोड़ शेषों से भी अधिक शक्तिवान् हैं। प्रभु राम असीम और अनुपम हैं ‡।'

'ऐसे अनंत शक्तिवान् राम करुणाभवन और सुखनिधान हैं। भक्तों का प्रेम उन्हें अपने वश में कर लेता है। मन के भीतर इस अनंत की भावना स्थिर रख कर ममता, मद और मान को छोड़ देना चाहिए तथा उनकी अविरल भक्ति को सदा के लिए अपने हृदय में दृढ़ बना लेना चाहिए †।'

अविरल भक्ति के लिए आवश्यक सगुण राम की यह अनंतता बेजोड़ है। गोस्वामी जी ने अपने भुशुंडि के माध्यम से भक्तों के लिए सगुण निर्गुण भगवान् की इस अनंतता की एक पूर्ण तथा अनुपम झाँकी प्रस्तुत की है।

अविरल हरिभक्ति की दृष्टि से गोस्वामी जी के कागभुशुंडि ने भक्ति और ज्ञान का बड़ा सुन्दर विवेक गरुड को दिया है। भुशुंडि के अनुसार इस विवेक से अविरल हरिभक्ति की सिद्धि में सरलता होती है। अपने सब भ्रमों को दूर कराते हुए गरुड ने कागभुशुंडि से ज्ञान और भक्ति का अन्तर पूछा। उन्हें समझाते हुए भुशुंडि ने कहा—'भक्ति और ज्ञान में कोई भेद नहीं है। दोनों सांसारिक जीवन में मिलने वाले संताप को दूर करते हैं। जो कुछ थोड़ा-सा अन्तर है उसे सावधान हो कर सुनिए।'

'ज्ञान, विराग, योग और विज्ञान ये सब पुरुष हैं। पुरुष का प्रताप सब तरह से प्रबल होता है। विरक्त और धीरमति पुरुष नारी के प्रति अपनी आसक्ति को छोड़ सकता है, विषयों के वश में रहने वाला, राम के चरणों से विमुख कामी पुरुष ऐसा नहीं कर सकता। दुर्बल पुरुषों से अलग श्रेणी में रहने वाले ज्ञाननिधान मुनि लोग भी नारी के मुखचन्द्र को देख कर चंचल हो जाते हैं। विश्व में नारी माया का प्रत्यक्ष रूप है $।'

'मैं यहाँ किसी तरह के पक्षपात से नहीं, वरण् वेद, पुराण और संत मतों के आधार पर ही कह रहा हूँ। यह विचित्र नियम है कि नारी, नारी के रूप से मुग्ध नहीं होती। माया और भक्ति दोनों नारी वर्ग के हैं। राम भक्ति से प्रेम करते हैं। माया को तो वे चंचला नर्तकी समझते हैं। रघुराज भक्ति के अनुकूल रहते हैं, इसलिए माया उससे बहुत डरती है। जिसके हृदय में अहैतुकी निरुपम रामभक्ति निर्बाध हो कर निरन्तर निवास करती है, उसे देख कर माया संकुचित हो जाती है। अपनी किसी शक्ति का प्रयोग वह उसके विरुद्ध नहीं कर सकती। जो विज्ञानी मुनि हैं वे इसीलिए सब सुखों के मूल भक्ति को ही भगवान् से माँग लेते हैं। भगवान् के इस रहस्य को शीघ्रता से कोई नहीं जान सकता। राम की कृपा से जो इसे जान लेता है उसे स्वप्न में भी मोह नहीं होता। आप ज्ञान और भक्ति के और भेद को सुनें जिसे सुन लेने पर राम के चरणों के लिए अविच्छिन्न प्रेम सदा बना रहता है *।'

---

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ९० के बाद से दोहा ९१ के बाद तक। † रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ९२। $ रामचरितमानस, उत्तरकांड, सोरठा ११५ और उसके पहले। * रामचरितमानस, उत्तरकांड, सोरठा ११५ के बाद से दोहा ११६ तक।

अविरल हरिभक्ति की सम्पन्नता के लिए यह ज्ञान और भक्ति के भेद का विवेक इसी तरह उपयोगी होता है।

इसी प्रकरण में कागभुशुंडि गरुड़ से कहते हैं—'सुनो तात, यह कहानी अनिर्वचनीय है। यह समझते ही बनती है, वाणी के द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती। ईश्वर का अंश, जीव अविनाशी है। यह अपने स्वभाव से ही चैतन्यमय, स्वच्छ और सुख की राशि है। यह माया के वश में हो कर बँध गया है। माया के जड रूप की आसक्ति और चैतन्य जीव में सम्बन्ध की ऐसी दृढ ग्रन्थि बँध गयी है कि झूठी होने पर भी उसके छूटने में बड़ी कठिनाई होती है। माया के साथ बँध कर जब से जीव संसारी हो गया है, तब से यह ग्रन्थि न तो छूटती है और न वह सुखी होता है। श्रुतियों और पुराणों ने इसके लिए बहुत से उपाय बताये हैं, पर उनसे भी यह ग्रन्थि न छूट कर और अधिक उलझ जाती है। जीव के हृदय में अज्ञान का अन्धकार इतना अधिक रहता है कि उसे माया के सम्बन्ध को दृढ करने वाली यह ग्रन्थि दिखाई ही नहीं पड़ती, तब वह कैसे छूट सकती है‡।'

माया के इस आकर्षण से अपनी अनंत शक्ति के असीम ह्रास को अज्ञान के कारण जीव देख ही नहीं सकता तब वह अपनी दुर्बलताओं को समझ कर उन्हें दूर कैसे कर सके।

अपने वार्तालाप के इसी प्रवाह में भुशुंडि गरुड से कहते हैं—'ईश्वर माया की इस ग्रंथि के दर्शन का संयोग यदि कभी लाता भी है तब भी यह ग्रंथि कदाचित् ही सुलझती है। यदि हरि की कृपा से कभी सात्त्विक श्रद्धा रूपिणी सुन्दर धेनु जीव के हृदय में आ बसती है और जब वह श्रुति के द्वारा बताये हुए अपार जप, तप, यम, नियम इत्यादि शुभ धर्माचरणों की हरी घास को चरती है, तब भावरूपी वत्स शिशु को पा कर पन्हा जाती है। इस गाय को दुहने के लिए निवृत्ति पैर बाँधने की रस्सी बनती है और निर्मल मन अहीर बनता है। यह अहीर परमधर्ममय दूध को दुहता है और अकाम (अनासक्ति) को अग्नि बना कर उस पर औटता है। इस औटे हुए परमधर्ममय दूध को क्षमा, सन्तोष रूपी पवन से ठंडा करती है।' परमधर्म, विश्वरक्षा की भावना ही है। उसके साथ क्षमा और सन्तोष की शीतलता निरन्तर निवास करती है। इस शीतल दूध को धृति, शम का जावन दे कर जमाती है। विश्वरक्षा की भावना धैर्य और शान्ति की भावना से दृढ होती है। मुदिता, विचार की मथानी ले कर इस दही को मथती है। विश्वरक्षा की दृढ भावना के रहस्य को समझने के लिए आनन्दमय चिन्तन, ऊहापोह में लग जाता है। इस मंथन कार्य के लिए दम, आधार बनता है और सत्य तथा सुन्दर वाणी रस्सी बनती है। सत्य, कोमल वाणी तथा स्वार्थों का दमन अखिल-विश्वरक्षक के लिए परम आवश्यक होते हैं। इनकी सहायता से वह अपनी अखिल विश्वरक्षा की भावना की परीक्षा करता रहता है। इस मंथन के बाद विमल विराग रूपी सुन्दर और परम पवित्र नवनीत प्राप्त होता है†। सत्य, कोमल वाणी और स्वार्थों के दमन से विश्वरक्षा का

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ११९ के बाद। † रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ११६ के बाद।

सत्प्रयत्न करने वाला साधक अंत में सुन्दर और परम पवित्र विमल विराग को प्राप्त कर लेता है।

इसके बाद अग्नि (चित्त की शान्ति) को प्रकट करके, शुभ और अशुभ कर्मों को योग भस्म कर देता है। सच्चे कर्मयोगी को लोकमंगल विधान के अनासक्तिमय कर्मयोग में मन की शान्ति प्राप्त हो जाती है और अशुभ कर्म तो उससे होते ही नहीं; शुभ कर्मों से भी अनासक्त रह कर उनके प्रभाव से वह मुक्त रहता है। उन्हें लक्ष्य में रख कर उसके भीतर अभिमान इत्यादि पैदा नहीं होते। विमल विराग रूपी नवनीत से इस तरह ज्ञानरूपी घृत उत्पन्न होता है। इस घृत को बुद्धि शीतल करती है और ममता रूपी मल जल जाता है। बुद्धि के भीतर विमल विराग के आधार पर जब अनासक्तिमय ज्ञान उत्पन्न होता है। तब ममता भस्म हो जाती है और इस ज्ञान के भीतर सांसारिक ताप भी ममता के साथ शान्त हो कर एक परम शीतल दशा को छोड़ जाता है। 'इस स्वच्छ, निर्मल ज्ञानरूपी घृत को पा कर विज्ञाननिरूपिणी बुद्धि (ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली बुद्धि) इसे चित्तरूपी दीपक में भर लेती है और ज्ञान से भरे हुए चित्तरूपी दीपक को समता का दृढ आधार बना कर उस पर रख देती है‡।' चित्त निर्मल ज्ञान से जब पूर्ण हो जाता है तब ब्रह्मनिरूपिणी बुद्धि समत्व का दर्शन कर लेती है। उसके भीतर 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म',† 'नेह नानास्ति किंचन'§ इत्यादि श्रुतिवाक्यों के चिन्तन से समता की भावना उत्पन्न हो जाती है और भेद की विषमता नष्ट हो जाती है। 'जागृति स्वप्न और सुषुप्ति की तीन अवस्थाएँ सत्त्व, रजस् और तमस् के त्रिगुण रूपी कपास से तुरीय (ब्रह्म-ज्ञान) रूपी रुई को अलग करके सुन्दर और सुदृढ बत्ती बना लेती हैं।' ऐसी स्थिति में साधक का चित्त त्रिगुणात्मक जगत् की भेद-बहुल भावना से अलग हट कर जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति की तीनों अवस्थाओं में ब्रह्मज्ञान के अभेद-दर्शन में मग्न रहता है। 'ज्ञान के निर्मल घृत में ब्रह्मज्ञान की सुदृढ़ बत्ती को रख कर ब्रह्मनिरूपिणी बुद्धि जब तेजराशि विज्ञानमय दीपक को जलाती है, तब उसके प्रकाश में मद इत्यादि शलभ जाते ही भस्म हो जाते हैं*।' चित्त के भीतर निर्मल ज्ञान के साथ जब ब्रह्म ज्ञान का योग होता है तब चित्त तेजोमय और विज्ञानमय अभेद दर्शन से आलोकित हो उठता है। उसमें काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद और मात्सर्य नहीं रह जाते।

इस तरह सः (वह ब्रह्म) अहं (मैं) अस्मि (हूँ)—'वह ब्रह्म मैं ही हूँ'—'सोहमस्मि' की अखंडित वृत्ति ही उस चित्तरूपी दीपक की परम प्रचंड दीपशिखा है। इस ज्योति का प्रकाश आत्मानुभव का आनन्द (ब्रह्मानुभूति का आनन्द) है। तब सांसारिक भावनाओं के स्रोत (भेद और भ्रम) नष्ट हो जाते हैं। प्रबल अविद्या (माया-अज्ञान) के मोह इत्यादि परिवार के द्वारा उत्पन्न किया हुआ अंधकार मिट जाता है। तब वही

---

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ११७। † त्रिपाद्विभूतिमहानारायण उपनिषद्, अध्याय १, कंडिका ३। § त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्, अध्याय ३, कंडिका ३।
* रामचरितमानस, उत्तरकांड, सोरठा ११७।

ब्रह्मनिरूपिणी बुद्धि ब्रह्म ज्ञान के अभेद दर्शन के प्रकाश को पा कर हृदयरूपी घर में बैठ जीव के साथ लगी हुई माया की ग्रंथि को सुलझा कर खोलती है और माया के आकर्षण के बन्धन से जीव को हमेशा के लिए मुक्त कर लेती है। यदि उसे ग्रंथि खोलने में सफलता मिल जाए तो इस जीव के जीवन का ध्येय पूर्ण हो जाता है।' इसका अंतिम पुरुषार्थ (मोक्ष) इसे प्राप्त हो जाता है। यह पूर्ण, मुक्त, शुद्ध और प्रबुद्ध पुरुष हो कर माया के स्वार्थमय प्रलोभनों से मुक्त हो जाता है। 'परन्तु इस ग्रंथि को खोलने के प्रयत्न को जान कर माया अनेक विघ्न करती है। ऋद्धि-सिद्धियों को प्रेरित करके बुद्धि के सामने ला कर उसे प्रलोभन देती है। कल, बल और छल से ये ऋद्धि-सिद्धियाँ साधक के पास जा कर अपने अंचल की हवा से दीपक को बुझा देती हैं।' यदि साधक इनके प्रलोभनों में पड़ गया तो उसका ब्रह्मज्ञान समाप्त हो जाता है। 'यदि बुद्धि परम सज्ञान होती है तो उनके द्वारा होने वाला अपना अहित देख लेती है। यदि ऋद्धि-सिद्धियों के विघ्न, बुद्धि के सामने बाधा उपस्थित नहीं कर सकते, तब देवता उपद्रव करते हैं। इन्द्रियों के द्वार, शरीर के विभिन्न वातायन हैं। उन वातायनों पर देवता लोग अपना-अपना स्थान बना कर बैठे हुए हैं। विषयरूपी समीर को जब वे आते हुए देखते हैं, तब इन्द्रियों के वातायानों को बलपूर्वक खोल देते हैं। जब विषयों का प्रभंजन हृदयरूपी घर में प्रविष्ट हो जाता है, तब ब्रह्मज्ञान के विज्ञान का दीपक बुझ जाता है, ग्रंथि छूट नहीं पाती और विज्ञान का प्रकाश मिट जाता है। इस स्थिति में विषय का प्रभंजन बुद्धि को व्याकुल कर देता है। इन्द्रियों और देवताओं को ज्ञान में रुचि नहीं है। इनमें विषयों के आसक्तिमय भोग के प्रति ही निरन्तर प्रेम रहता है। जब विषयों के समीर से बुद्धि भ्रान्त हो गयी, तब उतना प्रयास करके दीपक को फिर से कौन जलाए ‡।'

'ऐसी अवस्था में जीव फिर से संसार के विविध सन्तापों से घिर कर पीड़ित होता है। हे पक्षिराज, हरि की माया बड़ी दुस्तर है। इसको पार करना बड़ा कठिन है। विवेक का निरूपण करना, समझना और उसकी साधना अति दुष्कर कार्य है और इस पथ पर अनेक अचिन्तित बाधाएँ उपस्थित होती हैं †।'

'ज्ञान का मार्ग कृपाण की धारा है। उस पर से गिर पड़ने में देरी नहीं लगती। यदि निर्विघ्न इस पथ की यात्रा पूरी हो जाए तो साधक को अभेद-स्थिति का कैवल्य परम पद प्राप्त हो जाता है। संत, पुराण, निगम और आगमों का यह मत है कि कैवल्य का परमपद बड़ा दुर्लभ है§।' इसीलिए चिन्तन के कैवल्य की तरफ न जा कर भक्त भाव-समाधि के कैवल्य की साधना करता है। यही सगुण भक्ति की साधना है।

उपरिविवृत ज्ञान मार्ग के विवेचन के निष्कर्ष में गोस्वामी जी के भुशुंडि भक्तिपथ की सरलता, स्वाभाविकता और श्रेष्ठता का विवेचन करते हैं। उन्होंने गरुड़ से कहा— 'यही परम दुर्लभ कैवल्य-पद राम के भजन से, साधक के न चाहने पर भी, बरबस आता है।

---

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ११७ के बाद। † रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ११८। § रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ११८ के बाद।

जिस तरह करोड़ों उपाय करने पर भी आधार के बिना जल नहीं टिक सकता, उसी तरह मोक्ष का सुख हरिभक्ति को छोड़ कर नहीं रह सकता। ऐसा विचार करके बुद्धिमान हरिभक्त लोग मुक्ति को निरादृत करके भक्ति की ओर ही आकृष्ट हुए। भक्ति करते हुए बिना प्रयत्न और प्रयास के, संसार की जड-अविद्या (माया-अज्ञान) का नाश हो जाता है। भोजन तृप्ति और हित के लिए किया जाता है। इसीलिए वह उतना ही किया जाता है जितना जठराग्नि पचा सके। अतः ऐसा कौन मूढ है जिसे सुगम और सुखद हरिभक्ति न अच्छी लगे।'

हे पक्षिराज, सेवकसेव्य भाव की भक्ति के बिना संसार पार नहीं किया जा सकता। इस सिद्धान्त पर विचार करके आप राम के चरणकमलों का ध्यान करें। जो चेतन को जड और जड को चेतन बनाता रहता है, ऐसे समर्थ रघुनायक को जो जीव भजते हैं, वे धन्य हैं‡।' जगत् को देखने वाली, साधक की चेतना भक्ति के आनन्द में जगत् की स्वार्थमय आसक्ति के लिए जड बन जाती है। इस आसक्ति का उसके भीतर सर्वथा अभाव हो जाता है। इस आनन्द के प्रभाव से जड हृदय भी इसके माधुर्य का अनुभव करके 'सियाराममय सब जग'† की झाँकी का साक्षात्कार करने के लिए चेतन हो जाता है।

भुशुंडि के अनुसार भक्तिमणि का प्रभाव अमोघ है। गरुड से वे कहते हैं—'राम की भक्ति एक सुन्दर चिन्तामणि की तरह है। उसके रहने से हृदय दिन-रात परम प्रकाश से आलोकित रहता है। उसके लिए घी, दीपक और बत्ती की आवश्यकता नहीं होती। मोह (अज्ञान) की दरिद्रता उसके पास नहीं आती। लोभ का समीर उसे नहीं बुझा पाता। प्रबल अज्ञान का अंधकार उससे मिट जाता है। इस मणिदीप से कामादि शलभों के समुदाय नष्ट हो जाते हैं। दुष्ट कामादि उसके पास नहीं जाते। भक्त के लिए विष अमृत की तरह और शत्रु मित्र की तरह हो जाता है। भक्ति के इस मणिदीप के बिना कोई मनुष्य सुख नहीं पा सकता। जिन मानस रोगों के वश में हो कर सब जीव दुखी रहते हैं, वे प्रबल मानसरोग भक्तों को नहीं व्याप्त कर सकते। जिसके हृदय में रामभक्ति की मणि रहती है उसके लिए स्वप्न में भी दुःख का एक कण तक अवशिष्ट नहीं रह जाता। इस संसार में वही चतुर शिरोमणि हैं जो इस मणि के लिए सत्प्रयत्न करते रहते हैं। यद्यपि यह मणि संसार में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती रहती है, पर राम की कृपा के बिना यह प्राप्त नहीं हो सकती§।'

इस भक्तिमणि की प्राप्ति के उपाय भी गरुड को भुशुंडि ने बताये हैं। भुशुंडि ने गरुड़ से कहा—'इस मणि को पाने के सुगम उपायों को हतभाग्य मनुष्य ने छोड़ दिये। वेद और पुराण पावन पर्वत की तरह हैं। उनमें वर्णित राम की कथाएँ सुन्दर खानों की तरह हैं। इन छिपी हुई खानों का रहस्य जानने वाले—मरमी—सज्जन लोग हैं। सुन्दर बुद्धि ही कुदाली है, ज्ञान और विराग की आँखें इन खानों के स्थानों को देख लेती हैं। जो

---

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ११८ के बाद से दोहा ११९ तक। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७ के बाद। § रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ११९ के बाद।

प्राणी प्रेमभाव को साथ ले कर, ज्ञान और विराग की आँखों से देख-देख कर इन खानों को खोदता है वही इस भक्तिमणि को सुख की खान के रूप में प्राप्त करता है ‡।' गोस्वामी जी के अनुसार वेद और पुराणों के भीतर वर्णित जगत् के ज्ञानमय और भावमय विस्तार को, बुद्धिगत ज्ञान (स्वार्थ के प्रति विराग) और अनन्त के प्रति हृदयगत प्रेम की भावभूमि पर पहुँच कर देखने से ही 'सियाराममय सब जग' का विश्वरतिभाव सिद्ध होता है।

गोस्वामी जी के भुशुंडि के अनुसार भी भक्त भगवान से बड़ा है। वे गरुड़ से कहते हैं—'मेरे मन में ऐसा विश्वास है कि राम से भी बड़ा राम का दास होता है, राम सिंधु की तरह हैं, धैर्यवान् सज्जन लोग बादल की तरह हैं।' वे राम की अनंतता को अपने साथ ले कर उनकी शीतलता और मधुरता का प्रचार जगत् में चारों ओर करते हैं। 'राम चन्दन के वृक्ष हैं और संत लोग समीर हैं।' राम के पवित्र यश की सुगंध को संतरूपी समीर चारों तरफ फैला कर विश्व में प्रफुल्लता और मंगल की सृष्टि करते रहते हैं। 'सम्पूर्ण जीवन का अन्तिम फल सुन्दर हरिभक्ति ही है और उसे बिना संतों की सहायता के कोई नहीं पा सकता। ऐसा विचार करके जो राम के भक्तों के साथ रहते हैं। उनके लिए राम की भक्ति सुलभ हो जाती है †।'

'ब्रह्म क्षीरसागर की तरह हैं। ज्ञान मंदराचल पर्वत का काम करता है। संत लोग इस अपार ब्रह्मज्ञान के मंथन का कार्य करने वाले देवताओं की तरह हैं। वे विराट् ब्रह्म के अनन्त विस्तार को मथकर राम कथा रूपी अमृत को निकाल लेते हैं। इसी कथा रूपी अमृत की मधुरता भक्ति है ।' राम के आदर्श शील का साक्षात्कार करके भक्त के हृदय में प्रेम का जो मधुर आनन्द उत्पन्न होता है वही भक्ति है।

गरुड़ से भुशुंडि कहते हैं—'विरति ढाल है, ज्ञान तलवार है, और इनकी सहायता से मद, मोह और लोभ इत्यादि शत्रुओं को मार कर साधक जो विजय प्राप्त करता है वही हरिभक्ति है।' जीवन की दुर्बलताओं के ऊपर उठ कर पूर्ण सबल और आदर्शमय पवित्र जीवन की पूर्णता को प्राप्त कर लेना ही गोस्वामी जी के भुशुंडि के अनुसार भक्ति है * ।

इस समग्र ज्ञान-परम्परा को जान लेने से, गोस्वामी जी के अनुसार, साधक का अविरल हरिभक्ति का पथ और सुगम हो जाता है।

संत-असंत-लक्षण तथा मानस रोगों को जानने से भी अविरल हरिभक्ति का पथ सरल हो जाता है। भक्ति के साधक के लिए गोस्वामी जी ने संतधर्म का विवेचन और असंतों के लक्षणों का विवरण इसीलिए दिया है कि भक्त एक की तरफ़ प्रवृत्त होता रहे और दूसरे से बचता रहे। हृदय के रोगों को भी जान लेने से भक्त उनसे अपना बचाव करने के उपाय करता रहता है और उनसे हृदय को अस्वस्थ और कलुपित नहीं होने देता।

गोस्वामी जी के भुशुंडि ने गरुड को मानस रोग और उनसे निवृत्ति के उपाय भी बताये हैं। मानस रोगों के सम्बन्ध में गरुड के प्रश्न का उत्तर देते हुए भुशुंडि ने गरुड से

---

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ११९ के बाद। † वही। $ रामचरितमानस, उत्तरकांड; दोहा १२७। * रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १२०।

कहा—'मोह हृदय की सब व्याधियों का मूल है। इस अज्ञान से अनंत शूलों की सृष्टि होती है। काम हृदय के लिए वात का कार्य करता है और लोभ कफ का। क्रोध पित्त बन कर हृदय को बराबर जलाता रहता है। यदि ये तीनों भाई मिल कर हृदय पर आक्रमण करते हैं, तब हृदय सन्निपातग्रस्त हो जाता है। विषयों के अनंत और दुर्गम मनोरथ अनंत शूल हैं। उनके नाम की गिनती नहीं हो सकती। ममता दाद का काम करती है।' दाद सुख से खुजलाते हुए मनुष्य घाव बना लेता है, पर खुजलाना नहीं छोड़ता। ममता अंत में पीड़ा देती है पर उसका आरम्भिक सुख मनुष्य नहीं छोड़ना चाहता। 'ईर्ष्या खुजली है।' इसका प्रभाव भी प्रारम्भ से ही पीड़ा से आरम्भ होता है, पर मनुष्य खुजलाना नहीं छोड़ता। ईर्ष्या से जलता हुआ मनुष्य जलन को ही सुख समझता है। 'हर्ष और विषाद हृदय के लिए गरह रोग की तरह हैं‡।' गरह रोग रोगी के गले को पकड़ लेता है और उसे बोलने तक नहीं देता। इसी तरह सांसारिक सुख और दुःख से सम्बद्ध लोभ और भय, स्वार्थ साधन का लोभ और स्वार्थ-हानि का भय मनुष्य की वाणी को कुंठित किये रहते हैं। वह हृदय से जो अनुभव करता है उसे बोल देने के लिए अपने को स्वतंत्र अनुभव नहीं करता। उसकी सत्यप्रियता और निर्भीकता पर हर्ष और विषाद की स्वार्थगत भावनाएँ अभिशाप बन कर छा जाती हैं।

अपने विवेचन को अग्रसर करते हुए भुशुंडि गरुड से कहते हैं—'दूसरे के सुख को देख कर जो जलन पैदा होती है वही हृदय के लिए क्षय रोग है।' यह जलनरूपी क्षयरोग मनुष्य के मन की महानता को नष्ट करता हुआ उसे क्षीण और क्षुद्र बना देता है। अहंकार अति दुखदायी घुटनों की गाँठ का रोग है। यह रोग खड़े हुए मनुष्य को बैठ तो जाने देता है, पर बैठे हुए को उठने नहीं देता। बड़ी पीड़ा पहुँचाता है। उसी तरह अहंकार मनुष्य के गौरव को पतन की ओर तो ले जाता है, पर पतित को महत्व की ओर उठने नहीं देता और आसक्ति के कारण पीड़ा पहुँचाता रहता है। 'दंभ, कपट, मद और मान नहरुआ रोग की तरह हैं।' नहरुआ में चमड़े को छेद कर ऊपर निकली हुई नस की वृद्धि होती है। इसे जितना काटा जाए उतना ही यह नस बढ़ती जाती है और पीड़ा पहुँचाती है। दंभ, कपट, मद और मान इत्यादि भी वैसे ही संतापदायक और वर्धिष्णु होते हैं। 'लालच जलोदर रोग की तरह है।' जलोदर बढ़ते-बढ़ते रोगी को मृत्यु के पास पहुँचा देता है और लालच भी मृत्यु का द्वार है। 'धन, प्रतिष्ठा और अधिकार की त्रिविध इच्छा तिजरा ज्वर की तरह है।' यह मनुष्य को जल्दी नहीं छोड़ती और संताप देती रहती है। 'मत्सर और अविवेक शीत और उष्ण ज्वर की तरह हैं।' ये कुरोग अनंत हैं†।

'एक व्याधि से ही मनुष्य मर सकता है पर ये तो मन की अनंत असाध्य व्याधियाँ हैं। ये जीव को निरन्तर पीडा पहुँचाती रहती हैं। वह किस तरह समाधि की अवस्था को

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १२० के बाद। † रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १२१ के पहले।

प्राप्त कर सकता है। नियम, धर्म, आचार, तप, ज्ञान, यज्ञ, जप तथा दान इत्यादि असंख्य औषधियों से भी ये रोग दूर नहीं होते ‡।'

'इस तरह सब जीव शोक, हर्ष, भय, प्रीति और वियोग से रुग्ण रहते हैं। ये मानस रोग दिखाई तो सबको पड़ते हैं, पर इन्हें कोई विरला ही पहचानता है। ये पापी रोग पहचान में आ जाने पर कुछ मन्द पड़ जाते हैं, परजन-परितापी स्वभाव वाले ये दुष्ट नष्ट नहीं होते। विषयों के कुपथ्य पा कर ये मुनियों के हृदय में भी अंकुरित हो जाते हैं। साधारण दुर्बल मनुष्य की तो कोई बात ही नहीं। यदि संयोग से राम की कृपा प्राप्त हो जाए, तो ये सब रोग नष्ट हो जाते हैं। इस रोग के लिए सद्गुरु वैद्य है। उसके शब्दों पर विश्वास और विषयों की आशा का अभाव रोगी का संयम है। राम की भक्ति संजीवनी जडी है। पूर्ण श्रद्धा और पूर्ण विकसित बुद्धि इस रोगी के लिए अनुपान का काम करती हैं †।" सद्गुरु के शब्दों पर विश्वास करके यदि मानस रोगी विषयों का साथ छोड़ दे और पूर्ण श्रद्धा तथा पूर्ण विकसित बुद्धि की सहायता से रामभक्ति को अपने हृदय में उत्पन्न कर ले, तो उसके सब मानस रोग दूर हो जाते हैं। 'रामभक्ति को छोड़ कर अन्य करोड़ों उपायों से भी यह रोग नष्ट नहीं होता §।'

गोस्वामी जी के भुशुंडि ने गरुड से मानस रोग के अभाव के लक्षण भी बताये हैं। उन्होंने गरुड से कहा है कि जब मानस रोगी के हृदय में विराग की अधिकता उत्पन्न हो जाए, सुबुद्धि की भूख नित्य नया रूप ले कर जब उत्पन्न होने लगे, विषयों की आशारूपिणी दुर्बलता जब समाप्त हो जाए और मन, विमल ज्ञान के जल से स्नान कर चुके, तभी उसके हृदय में रामभक्ति छा जाती है और मानस रोग समूल नष्ट हो जाते हैं *।

गोस्वामी जी के अनुसार केवल हरिभक्ति ही सुख का अंतिम उपाय है। उनके कागभुशुंडि ने गरुड़ से कहा है—'शिव, ब्रह्मा, शुकदेव, सनकादि तथा नारद इत्यादि ब्रह्मज्ञान पारंगत मुनियों ने अंतिम निर्णय यही दिया है कि मनुष्य को रामचरण से प्रीति करनी चाहिए। श्रुति पुराण तथा सब ग्रन्थ यही कहते हैं कि रघुपति के बिना सुख नहीं मिल सकता। कछुए की पीठ पर चाहे बाल निकल आएँ, वंध्या के पुत्र का चाहे कोई वध करे, चाहे आकाश में विविध प्रकार के पुष्प फूलने लगें, इतनी असम्भव घटनाएँ चाहे होने लगें, पर जीव को राम के विरुद्ध रहने पर सुख नहीं मिल सकता। चाहे मृगजल से प्यास बुझ जाए, खरगोश के सिर पर चाहे सींग निकल आए, अंधकार चाहे सूर्य का ही नाश कर सके, लेकिन राम के विमुख हो कर जीव सुख नहीं पा सकता। हिम से चाहे आग पैदा हो जाए, पर राम के विरुद्ध रह कर कोई सुख नहीं पा सकता।'

'जल का मंथन करने पर चाहे घी मिल जाए, रेत के भीतर से चाहे तेल निकल आए, पर बिना हरिभजन के संसार को पार करना असम्भव है। राम मच्छर को ब्रह्मा

---

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १२१। † रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १२१ के बाद। § वही। * रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १२१ के बाद, पंक्ति ९ से ११ तक।

और ब्रह्मा को मच्छर से भी हीन बना सकते हैं। ऐसा विचार करके, संदेह को छोड़ कर बुद्धिमान लोग राम का भजन करते हैं। मैं पूरे निश्चय के साथ कहता हूँ, मेरी यह वाणी कभी असिद्ध न होगी कि राम का भजन करने वाले अति दुस्तर को भी पार कर सकते हैं ‡।'

इस तरह अविरल हरिभक्ति के लिए उपयोगी जानकारी दे देने के बाद गोस्वामी जी अपनी दैन्यपूर्ण रामप्रार्थना से उपसंहार करते हुए कहते हैं—'मेरे समान दीन और आपके समान दीन का हितेच्छु कोई नहीं है। ऐसा सोच कर, हे रघुनाथ, आप संसार के हमारे भार को हल्का करें। जिस तरह कामी को नारी प्रिय होती है, लोभी को धन प्रिय होता है उसी तरह आप मुझे निरन्तर प्रिय लगें †।' यहाँ 'निरन्तर' शब्द से गोस्वामी जी ने अविरल हरिभक्ति का उपसंहार किया है।'

रामायण का संक्षिप्त ऐतिहासिक तथा महत्त्वसम्बन्धी उपसंहार संस्कृत के दो श्लोकों से करते हुए गोस्वामी जी ने कहा है—'श्रीराम के चरणकमल की निरन्तर भक्ति प्राप्त करने के लिए सुकवि प्रभु शंकर ने जिस दुर्गम रामायण की सृष्टि की, राम के नाम में निरत उस रामायण का चिन्तन करके तुलसीदास ने अपने हृदय के अन्धकार को शांत करने के लिए इस रामायण की रचना भाषा में की $।'

'जो लोग इस पवित्र, पापहर, निरन्तर मंगलकारक, विज्ञान और भक्ति देने वाले, माया और अज्ञान के कलुष को नष्ट करने वाले, शुभ और स्वच्छ प्रेम के जल से भरे हुए रामचरितमानस में भक्ति से स्नान करते हैं, वे संसाररूपी सूर्य की घोर किरणों से कभी नहीं जलते *।'

इस तरह मानव के शील के कलुष को नष्ट करके पूर्ण मानव के निर्माण की अपनी भक्तिमयी योजना को रामायण में गोस्वामी जी ने सफल उपसंहार तक पहुँचा दिया है। उनके शिव के अनुसार—"एहि महं रुचिरसप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पन्थाना §।" मानस के सात सोपान रामभक्ति के पथ का निर्माण करते हैं और उन सातों सोपानों पर चढ़ता हुआ मानव, जीवन की हर स्थिति के लिए पूर्ण पुरुष बन सकता है। तुलसी के मानस के भीतर प्रतिपादित इस व्यवहारदर्शन और अध्यात्मदर्शन का अध्ययन कर लेने के उपरान्त गोस्वामी जी की सम्पूर्ण व्यावहारिक अध्यात्मदर्शन (प्रैक्टिकल फ़िलासफ़ी) की योजना का पूर्ण ज्ञान हो जाता है।

तुलसी साहित्य के और ग्रन्थों में व्यावहारिक अध्यात्मदर्शन से सम्बद्ध इसी आदर्शोन्मुखी अविरल हरिभक्ति और उसकी प्राप्ति के उपायों का चित्रण मात्र है। विनय पत्रिका अविरल हरिभक्ति की वह अजस्र प्रवाहिणी धारा है जिसमें जीवन के सब क्षेत्रों को पवित्र

---

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १२१ के बाद की पंक्ति १२ से दोहा १२२ के बाद के श्लोक तक। † रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १३०। $ रामचरितमानस, उत्तरकांड, मंगलान्त श्लोक १। * रामचरितमानस, उत्तरकांड, मंगलान्त श्लोक २। § रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १२८ के बाद।

करने की शक्ति है। दोहावली में अविरल हरिभक्ति को प्रकाशित करने वाले रत्न भरे पड़े हैं। कृष्ण गीतावली में अविरल हरिभक्ति के भीतर अनंत रूपों में राम को देखने की चेतना निवास करती है। वैराग्य संदीपनी में अविरल हरिभक्ति में प्रयुक्त विराग के स्वच्छ और मधुर जल की वापियाँ दिखाई पड़ती हैं। कवितावली में भी गोस्वामी जी का कवित्व भाव प्रवण हो कर अविरल हरिभक्ति की ही साधना कर रहा है। गीतावली में यही अविरल हरिभक्ति जीवन के सब खंडों को कोमल और मधुर बनाने के लिए मधुरभावमयी सरिता के रूप में प्रवाहित हो रही है।

जीवन को अनंत बनाने की अपार साधना की सिद्धि प्राप्त करके तुलसी विश्व में अमर हो गये हैं।

अध्याय ९

तुलसी के मानसेतर ग्रंथ

यह बिलकुल स्पष्ट है कि गोस्वामी जी की अनन्य प्रेमनिष्ठा अवतारी राम पर ही स्थिर है। पर अद्वैत का साधक एक में ही अनंत को देखता है। मानस में यह स्थिति अनेक बार स्पष्ट हो गयी है। गोस्वामी जी नें 'सियाराममय सब जग' ‡ की अपनी साधना-भूमि से इसी बात को स्पष्ट किया है। 'सियाराममय सब जग' की इस साधना-भूमि पर अपना निरन्तर दृढ निवास बना कर रहने वाला तुलसी का साधक नाम-भेद और रूप-भेद को मिटा देने के लिए सब नामों और रूपों का भी समन्वय कर लेना है। वैष्णव साधना के भीतर राम और कृष्ण की उपासना नारायण, विष्णु या हरि के अवतारों के रूपों में होती है। मुख्यतः नारायण की उपासना करने वाला राम और कृष्ण की उपासना भी प्रायः कर ही लेता है। नारायण और राम की उपासना अपनी समग्र साहित्य साधना के भीतर करते हुए भी गोस्वामी जी ने कृष्णोपासना की एक व्यापक भावधारा के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए राम के कृष्णरूप की उपासना करके 'श्रीकृष्ण गीतावली' में अपने को सूर का भी अनुगामी बना लिया है। यह समन्वय केवल मेल-जोल की ऊपरी आवश्यकताओं के लिए गोस्वामी जी ने नहीं किया है, अपितु एक ही नारायण हरि के दो व्यापक रूपों को एक में मिला कर अपनी सत्ता की समग्रता से राम और कृष्ण के अभेद को अनुभव करके उन्होंने अपना हृदय राम और कृष्ण के इस द्वैत के अद्वैत को दे दिया है। यह निश्चित है कि संत की इस स्वीकृति का प्रभाव साधारण लोगों के भी सीमा-बन्धनों को काट कर उन्हें अद्वैत की ओर मोड़ लेता है। पर यह आवश्यकता, संत की इस समन्वय साधना में प्राथमिकता नहीं प्राप्त करती। वह तो स्वभाव से ही समन्वयवादी होता है और उसके इस स्वभाव का प्रभाव सामान्य जनता पर अपनी स्वाभाविक पवित्रता की शक्ति के कारण अवश्य पड़ता ही है। संत के इसी स्वभाव के अनुसार सूरदास जी ने भी राम की साहित्यिक उपासना की है।

अतः 'सियाराममय सब जग' की साधनाभूमि के ऊपर ही 'चौदह भुवन अचर चर रूप गोपाल†' की उपासना का रंग चढ़ा कर गोस्वामी जी ने अपनी मुख्य उपासना का बड़ा ही सात्त्विक और आकर्षक शृंगार कर लिया है। इस तरह राम और गोपाल के नाम और रूप को एक में मिला कर गोस्वामी जी ने अवतारी राम और अवतारी कृष्ण को

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७ के बाद। † विनयपत्रिका, विनय संख्या २०३।

एक साथ देखते हुए ब्रह्म राम की अद्वैत-परक उपासना की है। उनकी यह साधना 'श्रीकृष्ण गीतावली' की साहित्यिक सृष्टि के भीतर पूरी हुई है। राम और कृष्ण के रूपों का नारायण हरि में समन्वय कर लेने की प्रवृत्ति तुलसी के भी पहले कलिसंतरणोपनिषद् के काल में दिखाई पड़ती है। कलिसंतरणोपनिषद् में एक ही मन्त्र में 'हरे राम' और 'हरे कृष्ण' के उच्चारणों के द्वारा राम और कृष्ण, हरि में समन्वित कर लिये गये हैं। इस भावधारा को गोस्वामी जी ने भी अपनी साहित्यिक साधना में अक्षुण्ण रखा है।

कलिसंतरणोपनिषद् के इस समन्वय पर विचार करने के पहले अपने 'तुलसीदर्शन' में डा० बलदेव प्रसाद मिश्र, एम० ए०, डी० लिट्०, महोदय ने लिखा है। जान पड़ता है कि जानबूझ कर गोस्वामी जी ने यहाँ विष्णु भगवान् के अन्य सब नामों की अपेक्षा 'हरि' नाम को विशेष महत्त्व दिया है। 'हरि' शब्द का अर्थ करते हुए जगद्गुरु शंकराचार्य जी 'विष्णु सहस्रनाम' की टीका में लिखते हैं—"स्मृतिमात्रेण पुंसां पापं हरति इति, हरिद् वर्णत्वाद्वा हरिः। हराम्यहं च स्मर्तॄणां हविर्भागं क्रतुष्वहं वर्णश्च मे हरिदिति तस्माद्धरिरहं स्मृतः। इति भगवदवचनात्‡" डॉ० मिश्र का अभिप्राय यही है कि शील की दृष्टि से नारायण के नामों में से 'हरि' नाम सर्वोत्कृष्ट शीलव्यंजक है। यह नाम स्मरणमात्र से पापों को, शील के अभाव को हर लेता है। इसीलिए यह 'हरि' शब्द से व्यवहृत होता है। अपने इस अभिप्राय का उपसंहार करते हुए डॉ० मिश्र ने लिखा है—"इसलिए आराध्य के उत्कृष्ट गुणों का द्योतन करने के लिए यह शब्द सर्वथैव उपयुक्त है†।"

इसके बाद डॉ० मिश्र ने राम और कृष्ण के नामों का हरि के नाम से घनिष्ठ सम्बन्ध बताने के लिए कलिसंतरणोपनिषद् के नारद और ब्रह्मा के संवाद को उद्धृत कर 'हरे राम' और 'हरे कृष्ण' के उच्चारों से अंकित कलिसंतरण मंत्र का हवाला दिया है§। अंततः इस प्रकरण के अंत में डॉ० मिश्र जी ने लिखा है—'हरि-चरित्र मानस तुम्ह गावा' आदि वाक्यों में गोस्वामी जी ने राम के लिए 'हरि' शब्द का प्रयोग किया है और 'जीह जसोमति हरि हलधर से' कह कर उन्होंने कृष्ण के लिए भी 'हरि' शब्द का प्रयोग किया है। इसलिए रामभक्ति और कृष्णभक्ति को एक ही भक्ति की दो शाखाएँ अथवा एक ही भक्ति के दो रूप बताने के अभिप्राय से गोस्वामी जी ने यहाँ हरिभक्ति की बात कही है। विरति और विवेक का विशेष उपयोग करने से उन्होंने कृष्णभक्ति की अपेक्षा रामभक्ति को श्रेष्ठ अवश्य समझा परन्तु उनकी रामभक्ति समूची हरिभक्ति का विशुद्धतम रूप बन कर ही रही*।"

इसी सिद्धान्त के अनुसार हरि के रामरूप की व्यापक उपासना अपने जीवन और साहित्यिक साधना के भीतर करके गोस्वामी जी ने 'समूची हरिभक्ति' का 'विशुद्धतम रूप' उसे देने के लिए श्रीकृष्ण गीतावली लिखी। ऐसा करके अपने हृदय की अद्वैत भावना का पवित्र रूप संसार को वरदान के रूप में उन्होंने दिया है।

---

‡ तुलसी दर्शन, पृष्ठ २४०। † वही, पृष्ठ २४१। § वही, पृष्ठ २४१ * वही, पृष्ठ २४१।

श्रीकृष्ण गीतावली में वात्सल्य भक्ति के सुन्दर चित्र गोस्वामी जी ने अंकित किये हैं। वात्सल्य एक ऐसा निश्छल, निर्मल और स्वार्थों से ऊपर उठा हुआ भाव है जिसमें भक्ति की पवित्र सिद्धि अनायास ही हो जाती है। वात्सल्य हृदय की एक ऐसी स्थिति है जिसमें स्वार्थों के लिए द्वार, नैसर्गिक रूप से प्रायः वंद ही रहते हैं। प्रायः सब माता-पिता अपनी सन्तान के लिए, विशेषतः उसकी शैशवावस्था में, अपने हृदय के भीतर वात्सल्यमय प्रेम को ही स्थान देते हैं। वहाँ स्वार्थ प्रायः नहीं ही रहता। इसीलिए सब संत लोग भगवान् के वालरूप से प्रेम करना नहीं भूलते। कवीर के समान संत स्वयं ही राम का 'वालिग' वन जाता है। वह अपने राम के भीतर माता की वत्सलता देखता है और स्वयं वालक वन कर कह उठता है—"हरि जननी मैं वालिग तेरा ‡।" पुरुष की अपेक्षा नारी का हृदय अधिक कोमल होता है। इसलिए पिता की अपेक्षा माता का वात्सल्य अधिक कोमल होता है। जननी की गोद वालक की सहज, स्वाभाविक और नैसर्गिक निवासभूमि है। माता के वहुत बड़े वलिदान से वालक का निर्माण होता है। इसलिए अपने त्याग को सगुणरूप में अपनी गोदी में पा कर माता अपने त्यागमय स्नेह से वालक के रूप के भीतर अपने साकार त्याग की उपासना करती रहती है। इसीलिए सूर के कृष्ण के लिए नैसर्गिक वात्सल्य का वरदान नन्द की अपेक्षा यशोदा को अधिक प्राप्त है।

इसी नैसर्गिक सिद्धान्त के आधार पर गोस्वामी जी की श्रीकृष्ण गीतावली में पहले ही पद की पहली ही पंक्ति में 'माता लै उछंग गोविन्द मुख वार-वार निरखै' अंकित हुआ है। गोस्वामी जी की यशोदा पुलकित हो उठती हैं। उनके मन में 'आनन्दघन' से 'छन-छन' में हर्ष की वर्षा होती रहती है। उस 'अतिसय सुख' के आनन्द से उनकी 'रसना मौन, हो गयी है। श्रीकृष्ण गीतावली के एकसठ गीतों में से सत्रह को यशोदा के इसी प्रेम पर गोस्वामी जी ने निछावर कर दिया है।

इसी निश्छल प्रेमानन्द की वात्सल्य भक्ति से गोस्वामी जी के श्रीकृष्ण ने 'व्रज-जन' के हृदय को सींच कर कलुषमुक्त कर दिया है। स्वार्थों के धुल जाने से सब व्रज-जन परम हित की अवस्था में पहुँच गये हैं। जब गोस्वामी जी के 'प्रभु, प्रेमवस्य मनुज-रूप-धारी' हो जाते हैं तब प्रारम्भ में ही अपनी 'वालकेलि' के 'लीला रस' से व्रज-जन के हृदय को स्वार्थमुक्त कर परम पावन बना देते हैं†। वात्सल्य भक्ति की यह निश्छल पवित्रता मुनियों और देवताओं को भी दुर्लभ होती है। वे भी इसके आकर्षण से आकृष्ट हो जाते हैं। गोस्वामी जी के वालकृष्ण अपनी तोतली वोली के माधुर्य से मुनियों के भी मन को चुरा लेते हैं—"मुनिमन हरत वचन कहै तोतरात $।" नन्दलाल के इसी 'संत-सुर-सरवस वाल-जस' से आकृष्ट हो कर गोस्वामी जी का हृदय गा उठता है—"नन्दलाल-वालजस संत सुर-सरवस गाइ सो अमिय रस तुलसिहु पियो है *।" वात्सल्य के जिस अमृत रस का पान नन्द, यशोदा और व्रज के लोग कर रहे हैं, उसी के अनंत माधुर्य का पान गोस्वामी जी ने भी

‡ कवीरग्रंथावली, पृष्ठ १२३, पद १११। † कृष्णगीतावली, पद १। $ वही पद २। * वही, पद १६।

कर लिया। इस स्थिति में भी उन्हें राम के दास, स्वामी और सखा, शिव नहीं भूले हैं। वे अपनी यशोदा से यही पूछते हैं—"कौन जाने कौने तप, कौने योग, जाग, जप कान्ह सो सुवन तोको महादेव दियो है ‡।"

वात्सल्य भक्ति के सिद्ध मानव का स्थान सूर और तुलसी इत्यादि उपासकों के अनुसार देवताओं, ज्ञानियों और सिद्धों से भी उच्चतर है। गोस्वामी जी के 'व्रजवासियों' को 'विबुध' और 'सिद्ध' सिहाते हैं। देवता तथा ज्ञानसिद्ध महात्मा भी व्रज के, वात्सल्य भक्ति के सिद्ध मानव को देख कर आश्चर्य में पड़ जाते हैं। हृदय की उच्चतम प्रेमसाधना के द्वारा व्रज के मनुष्यों का हृदय वासनामुक्त हो कर इतना पवित्र हो गया कि उनको देख कर देवता और सिद्ध ज्ञानी भी अपने को हीन समझने लगे। भक्ति के सहारे मनुष्य देवता से भी अधिक उच्चतर शील की विकास-भूमि पर पहुँच जाता है।

श्रीकृष्ण गीतावली में शृंगार-भक्ति का माधुर्य भाव भी बड़े कोमलतम हृदय के कोष में सुरक्षित है। वात्सल्य की सात्त्विक पवित्रता की तरह ही पावन पवित्रता, शृगार के का आवेगपूर्ण त्याग में होती है। त्याग की उच्चतम भूमि वात्सल्य और शृंगार के दोनों पथों के यात्रियों को प्राप्त हो जाती है। यही अनुभव करके सूर ने इन दोनों जीवन-क्षेत्रों को अपनी भक्तिसाधना के लिए चुना था। उसी मार्ग की श्रेयस्करता के सम्बन्ध में स्वीकृति व्यक्त करने के लिए गोस्वामी जी ने भी गोपीकृष्ण के शृंगाराद्वैत के विकास को चित्रित किया है। यह शृंगार का अद्वैत इतना प्रभावशाली है कि इसकी धारा के भीतर जगत् के सब द्वैत विलीन हो जाते हैं। कृष्ण के सम्बन्ध में यशोदा को उलाहना देने की तैयारी करके आयी हुई गोपी भी उनके सौन्दर्य-सिन्धु में इस तरह निमग्न हो जाती है कि उसके सब उलाहने भूल जाते हैं। शृंगार के इसी अद्वैत भाव का इंगित देने के लिए गोस्वामी जी ने कहा है—'तुलसिदास प्रभु मुख छवि निरखत मन सब जुगुति बिसारी †।'

शृंगार के माधुर्यभाव के इस आवेग के साथ स्वार्थमयी वासनाओं के ऊपर उठ कर उपास्य के रूपमाधुर्य में लीन हो जाने की इसी मंगलमयी स्थिति का पता देने के लिए संत कबीर ने भी अपने को 'हरि की बहुरिया $' कह दिया है। 'दुलहिन' को शृंगार करके 'राम भरतार' की प्रतीक्षा करने का आदेश जब कबीर देते हैं, तब वे माधुर्यभाव की इसी आवेगपूर्ण तल्लीनता की ओर इशारा करते हैं *। 'जो सुख चहै तो लज्जा त्यागै, पियसे हिलिमिलि लागै §।' से भी वे आत्मा के पवित्र माधुर्यभाव की अद्वैतता की ओर ही इशारा देते हैं जिसे प्राप्त कर वह आनंदमय परमात्मा से मिलन के अद्वैत में एकाकार हो जाती है। इस माधुर्यभाव की पवित्रता का संकेत कई बार संतों ने दिया है। 'सीवं न चांपि सको कोऊ, तब जब हुते राम कन्हाई ×' में कृष्ण के सामने काम और उसकी सेना की असमर्थता की चर्चा ही की गयी है। परमात्मा की उपासना के जागृत रहने पर वासना

‡ कृष्णगीतावली, पद १६। † वही, पद ६। $ कबीरग्रंथावली, पृष्ठ १२५, पद ११७।
* कबीरग्रंथावली, पृष्ठ ८७, पद १। § 'कबीर', डॉक्टर हजारीप्रसाद लिखित, पद १८४।
× कृष्णगीतावली, पद ३२।

कहाँ टिक सकती है‡। कबीर के 'अब हरि हैं मैं नाहि†' का भी तो यही अभिप्राय है कि हृदय में हरि के आ जाने पर 'मैं' से सम्बन्ध रखने वाली वासना की ममता नहीं रह जाती।

लोक जीवन के भीतर भी भारतीय नारी ने अपने दाम्पत्य प्रेम को उपासना के उच्चतम स्तर पर पहुँचा दिया था। अपने हृदय के सिंहासन पर से वासना को पदच्युत करके उसने उस पर उपासना को प्रतिष्ठित कर अपने उस हृदय को गौरवमय बना दिया था। उसका हृदयस्थित पति, परमेश्वर बन गया था और उसकी त्यागमयी सेवा करके वह उपासना ही कर रही थी। उसका प्रेम, भक्ति बन गया था। इसी प्रेमभक्ति को सूरदास ने गोपी-कृष्ण के प्रेम में चित्रित किया है। दाम्पत्य जीवन की प्रेमभक्ति और भक्त-जीवन की प्रेमभक्ति में अन्तर केवल इतना ही रहता है कि पहले में पति का सम्बन्ध वासना से मुक्त हो कर परमात्मा का सम्बन्ध बन जाता है और दूसरे में परमात्मा की ही पतिभाव से वासनाविहीन उपासना की जाती है। पहले में पति, पति रहते हुए भी परमात्मा बन जाता है और दूसरे में परमात्मा, परमात्मा रह कर भी पति बन जाता है। गोपियाँ परमात्मा के रूप में उस पति की उपासना करती हैं जो उनके पतियों का भी पति है, जो जगत्पति है। भारतीय नारी अपने पति को ही परमात्मा समझ कर उसकी उपासना करती है। इन दोनों स्थितियों में अनासक्तिमय स्वार्थरहित प्रेम-योग की उच्चभूमि पर हृदय की एक ही तरह की पवित्र परिणति होती है। दोनों में कोई भेद नहीं है। भारतीय नारी के सम्मुख जब पति रहता है तब वह उसकी परमात्मा रूप में स्वार्थरहित उपासना करती है और जब परमात्मा उसके समक्ष रहता है तब वह उसकी स्वार्थरहित उपासना उसे पति-रूप में देख कर करती है। गोपियों का प्रेमयोग इसी दूसरे मार्ग का प्रेमयोग है।

अनंत के जिस प्रेम-योग को प्राप्त करके उसकी अनंतता को व्यक्त करते हुए मैथिल कोकिल विद्यापति कह उठे थे—"जनम अवधि तव रूप निहारलि नयन न तिरपित भेल§।" उसी अनंत के प्रेमयोग के अनंत गौरव को व्यक्त करते हुए गोस्वामी जी भी कह उठते हैं—"जदुपति मुख छवि कलप कोटि लगि कहि न जाइ जाके मुख चारी। तुलसिदास जेहि निरखि ग्वालिनी भजीं तात, पति, तनय बिसारी*।" अनंत सुन्दर का अनंत माधुर्यमय रूप कैसे छोड़ा जा सकता है। पिता, पति और पुत्र तो इसीलिए प्रिय होते हैं कि उनके भीतर भी अनंत का निवास है और जब अनंत स्वयं सम्मुख हो कर प्रकट होता है, तब पिता, पुत्र और पति का बाधक बन्धन साधक आत्मा को कैसे बाँध सकता है। ऐसी स्थिति में जगत् के द्वैत-प्रधान भेदात्मक सम्बन्धों से ऊपर उठ कर आत्मा अद्वैत कृष्ण में लीन हो जाती है। गोपियों का प्रेमयोग इसी तरह का है। अपूर्ण जीव के साथ रहने वाला पूर्ण जब स्वयं दिखाई पड़ जाता है। तब साधक का सिद्ध मन पति, पिता और पुत्र को छोड़ कर पूर्ण परमात्मा की ओर चला जाता है।

---

‡ कृष्णगीतावली, पद ३२। † कबीरग्रंथावली, नागरी प्रचारिणीसभा द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ १५, दोहा ३५। § 'विद्यापति', खगेन्द्रनाथ मित्र द्वारा सम्पादित, पद ७६८। * वही, पद २२।

यह अनंत सुन्दर अपने सर्वतोन्मुख सौन्दर्य का ले कर केवल गोपियों को ही आकृष्ट नहीं करता, अपितु गोप-गोपी, गोसुत तथा चराचर को आकृष्ट करता है। इसीलिए गोस्वामी जी गोपाल' के उस 'चरणारविंद' की उपासना करते हैं जो 'गोकुल-बल्लभी-प्रिय' तथा 'गोपबल्लभ' और 'गोसुत बल्लभ' भी है। इसके अतिरिक्त 'अनेक-काम-छबि' वाला वह चरण 'लोकाभिराम' है, सम्पूर्ण लोक को आकृष्ट करने की क्षमता रखता है। वह राम के चरणों की तरह ही 'भूरि गुन करुनाकर' 'भवभय-मोचन' और 'तुलसीदास-त्रास-अपहरन' हैं। राम की तरह ही मर्यादापूर्ण गुणों का केन्द्र बना कर गोस्वामी जी ने भगवान् कृष्ण के भव-कलुष-मोचन चरणों की ही उपासना की है। वे अवतार के साथ सम्बद्ध विश्व-वेदना के लोकव्यापी आदर्शों को कभी नहीं भूलते ‡।

शृंगार-भक्ति के माधुर्य में उपास्य और उपासक के मध्य में जो अद्वैत उत्पन्न होता है उससे उपासक की अनन्य भक्ति का एक अनंतमाधुर्य का सौन्दर्य प्राप्त हो जाता है। इस मधुर भाव को ले कर उपासक का हृदय उपास्य में ऐसे अनंत सौन्दर्य का अनुभव करने लगता है जिसमें जगत् भर का सौन्दर्य समा जाता है और अलग नहीं दिखाई पड़ता, केवल परम सुन्दर प्रिय ही अपनी अनंतता के साथ अवशिष्ट रह जाता है।

सौन्दर्य के इस अनंत महासागर से 'श्रीकृष्ण गीतावली' में जब तुलसी की गोपियों का वियोग हो जाता है तब जल के बाहर फेंकी हुई मछलियों की तरह उनकी दशा हो जाती है। पर जब वे 'निज नेह' को 'निहारती' हैं तब उन्हें यहां दिखाई पड़ता है कि 'समुझे सहे हमारो है हित'। ये अपने प्रेम के रहस्य का अन्तर्दर्शन करके यह समझ लेती हैं कि जिससे उन्होंने प्रेम किया है, वह 'सत्य, सनेह, सील, सोभा, सुख' तथा 'सब गुन' का 'अपार उदधि' है। सत्य, स्नेह, शील, शोभा, सुख तथा सब गुणों का अनंत महासागर परम सुन्दर एक का नहीं, एक स्थान के भी लोगों का नहीं, वह तो सत्य की अनंतता का ही होता है। इसीलिए अनंत जगत् के हित के लिए उसके वियोग को सह लेना उन्होंने अपना धर्म समझा। परम सुन्दर के प्रति अपने सात्त्विक प्रेम के अद्वैत में तुलसी की गोपियों को यही अनुभव होता है कि 'जग दूजो न देखियत कान्हकुंवर अनुहारि †।'

मधुर प्रेमी की इसी अद्वैत भूमि पर पहुँच कर गोस्वामी जी ने अपने को श्रीकृष्ण गीतावली' की गोपियों के साथ एकाकार बना कर 'चौदह भुवन अचर चर रूप गोपाल $' और 'सियाराममय सब जग *' की भावभूमि पर गोपाल के भीतर 'राम के मधुर रूप का दर्शन कर लिया। उसने अपने राम के सत्य, स्नेह, शक्ति, शोभा, सुख और सब आदर्श गुणों के अनंत महासागर का अपने कृष्ण में भी दर्शन करके रामकृष्णैक्य की रसधारा प्रवाहित की है। उनका सिद्धान्त भी तो यही है—"भेद गये बिनु रघुपति अति न हरहिं जग जाल §।" गोस्वामी जी की भक्ति उस 'प्रेम-भगति-रस हरिरस ×' को प्रवाहित करती है,

‡ कृष्णगीतावली, पद १३। † कृष्णगीतावली, पद २७। $ विनयपत्रिका, पद २०३। * रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७ के बाद। § विनयपत्रिका, पद २०३। × वही, पद २०३।

जिसकी धारा अभेद की सुदृढ शीतल भूमि पर प्रवाहित होती है। उनके 'प्रेमभगति रस, हरिरस जानहिं दास, सम, सीतल, गतमान, ज्ञानरत, विषय-उदास‡' का स्पष्ट इंगित इसी दिशा की ओर है। वे यह स्पष्ट घोषणा करते हैं कि इस मार्ग पर चलने वाला 'त्रिविध सूल' की होली जला कर प्रेमानन्द का फाग खेलने लगता है। इसी दिशा की ओर विश्व को प्रेरित करते हुए वे लिखते हैं "त्रिविध सूल होरिय जरै, खेलिय अस फागु। जो जिय चाहि परम सुख तो यहि मारगु लागु†" इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर भेद में अभेद का दर्शन करके तुलसीदास जी ने राम की अनन्य साधना के साथ कृष्ण के वात्सल्य और मधुर भाव की साधना भी की है।

श्रीकृष्ण गीतावली में भी प्रेम, ज्ञान से श्रेष्ठ माना गया है। इसी परम पवित्र माधुर्य भाव के सहारे, सूर की तरह ही, भ्रमर-गीत के प्रकरण में गोस्वामी जी ने भी प्रेम को ज्ञान से श्रेष्ठ सिद्ध किया है। उद्धव से ज्ञान और योग का सन्देश पा कर गोस्वामी जी की गोपियाँ उनसे कहती हैं—"गये कर तें, घर तें, आंगन तें ब्रजहूँ तें ब्रजनाथ। तुलसी प्रभु गयो चहत मनहुं तें सो तो है हमारे हाथ $।" प्रेमी का मन प्रेमयोग की सिद्धि प्राप्त करके प्रिय में केन्द्रित हो कर योगस्थ हो जाता है। वह प्रेमी के हाथ से, उसके नियन्त्रण से बाहर नहीं जा सकता। इस योग के कारण वह प्रियमय हो जाता है। योगभ्रष्ट और ज्ञानभ्रष्ट होने की संभावना, गोस्वामी जी के अनुसार बहुत दूर तक बनी रहती है। 'ज्ञानपंथ कृपान के धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा*।' इसी बात की गवाही देता है। पर प्रेममार्ग पर कठिनाई के स्थान पर सरलता रहती है। 'राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवई बरिआई§" से इसी सहज सरलता का संकेत मिलता है। प्रेम के इसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर गोस्वामी जी की गोपियों का प्रेममार्गी मन सहज सिद्धि प्राप्त कर चुका है। वह उनके वश में है। कृष्ण के ध्यान को छोड़ कर वह क्षण भर के लिए भी कहीं नहीं जा सकता। तन्मयता की सिद्धि जो योगी और ज्ञानी को बाद में प्राप्त होती है, वही प्रेमी को प्रारम्भ में ही प्राप्त हो जाती है और निरन्तर बढ़ती ही जाती है। 'तुलसी त्यों-त्यों होइगी गरुई ज्यों ज्यों कामरि भीजै×' इसी सत्य की गवाही देता है।

गोस्वामी जी की गोपियाँ अपने पावन प्रेम को प्रिय के आदर्श 'सुजस' के पालने पर पाल कर बड़ा करती जाती हैं। प्रिय का यह यश जितना बड़ा होता जाएगा, गोस्वामी जी की गोपियों का प्रेम भी उतना ही वृद्धिगत और पुष्ट होता जाएगा+। आदर्शवादी तुलसी की दृष्टि लोकमंगल विधान की ओर बराबर रहती है, इसीलिए उनकी गोपियाँ भी विश्वमंगल विधान करने वाला शील अपने प्रिय कृष्ण में देखती हैं। 'कंस मारि जदुबंस सुखी कियो, स्रवन सुजस सुनि जीजे✢' से यह बात बिलकुल सिद्ध हो जाती है कि

‡ विनयपत्रिका, पद २०३। † वही। $ कृष्णगीतावली, पद ४३। * रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ११८ के बाद। § वही। × कृष्णगीतावली, पद ४६। + वही। ✢ कृष्णगीतावली, पद ४६।

प्रिय का बढ़ता हुआ 'सुजस' जिस प्रेमी के हृदय में उसके गौरव की वृद्धि करता रहता है, वही तुलसी के अनुसार आदर्श प्रेमी है। प्रिय यदि दर्शन नहीं देता तो कोई चिन्ता की बात नहीं, उसका लोकमंगल विधायक सुयश ही प्रेमी के कानों तक अपने अमृतमय ध्वनिरूप में पहुँच कर उसे जीवित रखेगा। गोस्वामी जी के अनुसार वह प्रेम धन्य है जो प्रिय की भावना के भीतर विश्व भर की रक्षा की भावना को स्थान दे सके। ऐसा प्रेम रूखे योग और ज्ञान की उपासना के पथ पर नहीं मिलता। प्रेम को यह अनंत गौरव प्रदान करने के लिए अनंत अद्वैत को मायाविशिष्ट हो कर लोक-पथ पर अवतीर्ण होना पड़ता है। राम और कृष्ण के रूप में आ कर उसे यह कार्य करना पड़ता है। केवल ब्रह्म रूप से लोकव्यापी इस अनंत शील की झाँकी नहीं प्रस्तुत की जा सकती।

गोस्वामी जी की गोपियों को यही 'हरिभक्ति' का 'सुधाकर' 'सरल' और 'सुलभ' है। अपने इस मत की पुष्टि के लिए आधार प्रस्तुत करते हुए वे सब कहती हैं—"सरल सुलभ हरिभक्ति सुधाकर निगम पुराननि गाई‡।" वे कहती हैं कि वेद और पुराणों के द्वारा स्वीकृत और प्रचारित इस 'हरिभक्ति-सुधाकर' को छोड़ कर कौन ज्ञान का 'मनोरथ' कर करके मरे। उद्धव के इस ज्ञानोपदेश के प्रयत्न की व्यर्थता और अनावश्यकता को समझाती हुई गोपियाँ कहती हैं—"फल पहिले ही लह्यो ब्रजबासिन्ह अब साधन उपदेसन आए†" भक्ति-मार्ग के सिद्धों को ज्ञानमार्ग के साधन, योग की क्या आवश्यकता, इस भद्दी पुनरुक्ति को गोपियाँ मूर्खता मात्र समझती हैं। उनके अनुसार ब्रज 'सगुन छीर-निधि तीर' निवास करता है$। यह बात त्रिलोक में विख्यात है। सगुण भक्ति के इस धवल दुग्धसागर के तट पर रहने वाला यदि योग और ज्ञान के मंदार में से निर्गुण भक्ति के उज्ज्वल दुग्ध की एक दो बूंद पाने का प्रयत्न करे तो उसका यह प्रयास मूर्खता के सिवा दूसरा और क्या हो सकता है। दूध के लहराते हुए महासागर को छोड़ कर जो एक दो बूंद दूध के लिए मारा-मारा फिरे, उससे बढ़ कर पागल कौन होगा। जिसके पास दूध का महासागर है, उसके सामने प्रयास से प्राप्त होने वाले एक-दो बूंद दूध का क्या महत्त्व है। गोस्वामी जी को प्रेमभक्ति में अपार आनन्द का उज्ज्वल महासागर तरंगित होता हुआ दिखाई देता है। प्रेमभक्ति के पवित्र आनन्द के इस महासागर की तुलना में ज्ञान और योग के पवित्र आनन्द की मात्रा उन्हें एक दो बूंद के समान ही प्रतीत होती है। अपनी इस अनुभूति को व्यक्त करने के लिए उन्होंने अपनी गोपियों के द्वारा उद्धव से कहलाया है—"सगुन छीर-निधि तीर बसत ब्रज, तिहुं पुर विदित बड़ाई। आक दुहन तुम्ह कह्यो सो परिहरि हम यह मति नहिं पाई*" दूध का अनंत समुद्र जब मिल चुका है, तब एक-दो बूंद दूध के लिए प्रयास करने में कौन-सी बुद्धिमानी है।

अनंत प्रेम के समुद्र में नित्य नयी लहरें उत्पन्न होती हैं। उसके सामने ज्ञान की चर्चा बासी मालूम पड़ती है। 'जरठ' मति वाले 'जोगी' ही 'निरगुन' की 'खान' की तरफ़

---

‡ कृष्णगीतावली, पद ५१। † वही, पद ५०। $ वही, पद ५१। * कृष्णगीतावली, पद ५१।

जाते हैं। 'नवल नंदकुमार के व्रज' में तो 'सगुन सुजस' का ही गान होता है। गोस्वामी जी की गोपियों ने पहले ही कह दिया है, "प्रियसम प्रिय सनेह-भाजन, सखि, प्रीति-रीति जग जानी ‡।" प्रेमी की इस तरह की मनःस्थिति होती है। इसीलिए तुलसी की गोपियाँ भ्रमर के बहाने उद्धव से कहती हैं, "तू जो हम आदर्यो सो तो नव कमल की कानि। तजहि तुलसी समुझि यह उपदेसिबे की बानि †" नव कमल के समान कोमल और धवल कृष्ण के प्रेम-भाजन उद्धव हो चुके हैं, इसलिए प्रिय कृष्ण की मर्यादा का ध्यान रख कर ही गोपियों ने उनसे ज्ञान का उपदेश धैर्यपूर्वक सुन लिया। पर अंत में 'उपदेश' देने की इस बुरी आदत को छोड़ देने के लिए वे मधुकर उद्धव से कहती हैं। अनंत प्रेम के धवल महासागर में मग्न, मुक्त सिद्ध के सामने ज्ञानोपदेश की क्या आवश्यकता? नवल नन्दकुमार के व्यक्तित्व में अनंत पवित्रता का अपरिमित सौन्दर्य भरा हुआ है। उसी का 'सुजस' गोस्वामी जी की गोपियाँ सुनना चाहती हैं। 'गोकुल प्रीति नित नई जानि। जाइ अनत सुनाइ मधुकर ज्ञान गिरा पुरानि...नवल नन्दकुमार के व्रज सगुन सुजस बखानि' में सुजस के प्रति यही आसक्ति चित्रित की गयी है। रामोपासक आदर्शवादी सगुणभक्त तुलसी का मन गोपालकृष्ण के सगुण रूप के 'सुजस' की पवित्रता में ही लीन है $।

यह वलिदानमय प्रेम-पथ अनिर्वचनीय है। प्रेमपथ पर चलने वाले साधक को आत्मबलि देने में ही अनिर्वचनीय आनन्द अनुभव होता है। उपासना के सब सम्प्रदायों में प्रेमपथ की इस आत्मबलि का दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक विवेचन पर्याप्त मात्रा में हुआ है। प्रेमपथ का पथिक इस बात को जानता है कि अनंत प्रेम के लिए अनंत बलिदान भी देना पड़ता है। यदि प्रेम की पवित्रता अनंत है, तो जगत के वासनात्मक आकर्षण भी अनंत हैं। अनंत पवित्रता तभी प्राप्त होती है जब अनंत आकर्षणों की बलि देने के बाद मन उन सबसे ऊपर उठ जाता है। इसीलिए 'नेह की निठुरता' और उसकी 'कठिन गति' दोनों की अनंतता का वर्णन नहीं किया जा सकता, इस बात को प्रेमी अनुभव करता है *। अनंत आकर्षणों के त्याग की अपेक्षा रखने वाला प्रेम अनंत निष्ठुर होता है और आकर्षणों की उस अनंतता का त्याग करने के लिए प्रेमी को भी अनंत निष्ठुर और अनंत निष्ठुरता-सहिष्णु होना पड़ता है। जब तक आत्मबलि देने में प्रेमी को कष्ट अनुभव होता रहता है, जगत् के आकर्षणों को छोड़ने में जब तक प्रेमी को पीडा होती रहती है, तब तक वह अपने प्रेम को उज्ज्वल और पवित्र नहीं मानता। अपनी ऐसी अवस्था में अपने प्रेम की मलिनता का अनुभव करके वह निरन्तर सोच में डूबा रहता है। प्रिय परमात्मा भक्त की दुर्बलताओं के प्रति बड़ा निठुर होता है। भक्त में निरभिमानतापूर्ण दैन्य उत्पन्न करने के लिए, उसे आकर्षणों से दूर हटाने के लिए, आकर्षणों की निरर्थकता को उसके समक्ष बार-बार सिद्ध कर उनसे उसके मन में विराग उत्पन्न करने के लिए, भगवान् उसकी उन सब प्रिय वस्तुओं का क्रूर विनाश करता है जिनके कारण उसके परमात्मप्रेम का विघात हो कर उसकी आत्मा का प्रेममय विकास रुका रहता है।

‡ कृष्णगीतावली, पद ४९। † वही, पद ५२। $ वही, पद ५२। * वही, पद ५५।

उपर्युक्त सत्य की ओर संकेत करने के लिए ही तुलसी की गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—

ऊधो, प्रीति करि निरमोहियन सों को न भयो दुखदीन ?

निठुरता अरु नेह की गति कठिन परति कहीन।
दास तुलसी सोच नित निज प्रेम जानि मलीन‡।

अनंत सत्य, शील और सौन्दर्य के केन्द्र के प्रति जिसका प्रेम एक बार उन्मुख हो जाता है, वह उसकी खोज के पथ से कभी नहीं हटता। उद्धव से इसी सत्य की चर्चा करते हुए उलाहना के ढंग पर गोस्वामी जी की गोपियाँ कहती हैं—तुम्हारे वज्र के समान वचन सुन कर हमारे प्राण नहीं जाते। इसका कारण ध्यान से सुनो। तुम्हारे ज्ञान का कृपाण हमारे हृदय को हर क्षण में टुकड़े-टुकड़े करके अलग-अलग कर देता है। पर दर्शन की अवधि जरा राक्षसी का काम करके उन टुकड़ों को बार-बार जोड़ देती है। इसीलिए अपार कष्ट सहते हुए भी हमारा शरीर बचा रह जाता है। हमारा विरह आग हो गया है, हृदय से उठते हुए दीर्घ निश्वास समीर का काम करते हैं, पीड़ा से हमारा शरीर धुना जा कर रुई हो गया है और तुम जलाने वाले हो। पर उन सबका तिरस्कार करके, कुशल रक्षक, हमारे ये नयन, दर्शन के अपने स्वार्थ के कारण, जलवृष्टि करके इस शरीर की रक्षा कर लेते हैं। जीवन कठिन हो गया है और मरण असम्भव। हमारी इस दुसह विपत्ति का निवारण व्रजनाथ ही कर सकते हैं। हमारी इस दशा को समझ कर जैसा उचित हो, करो†।

अनंत सत्य, शील और सौन्दर्य के केन्द्र का वियोग ऐसा ही होता है। वह न तो जीने ही देता और न मरने की ही छुट्टी देता है। यह विशुद्ध प्रेम, योग और ज्ञान को अपनी तीव्र गति से पीछे छोड़ जाता है। गोस्वामी जी की गोपियों के अनुसार योग मन्दगामी है, पर प्रेम तो प्रलय के वट की तरह इतनी तीव्र गति से बढ़ता है कि योग के प्रलय का जल उसे डुबा नहीं सकता§। योग विश्व की समग्र चेतनाओं का प्रलय समाधि की स्थिति में कर देता है। वासनाजन्य प्रेम योग से और ज्ञान से चाहे भस्म हो जाए, पर परमात्मा के प्रति जो मधुर भाव भक्त के हृदय में उत्पन्न होता है वह स्वयं योग है और आनुष्ठानिक योग से प्रबल होता है। उसे कुंठित करने की शक्ति आठ अंगों से युक्त रहने पर भी योग में नहीं पैदा होती। गोस्वामी जी की गोपियों के अनुसार तो सगुण उपासना के प्रेम के बिना हृदय का कलुप दूर हो ही नहीं सकता। 'छपद सुनहु बर बचन हमारे। बिनु ब्रजनाथ, ताप नयनन की, कौन हरे, हरि अंतरकारे'*। अन्तर के कलुष को हर कर नयनों का ताप व्रजनाथ हर लेते हैं। बिना उनके, यह काम दूसरा कोई नहीं कर सकता। यह, गोपियों का 'बर बचन' सिद्धान्त वाक्य है। इसमें कभी अन्तर पड़ ही नहीं सकता। इसीलिए 'बढ्यो अति प्रेम, प्रलय के बट ज्यों, बिपुल जोग-जल बोरि न पारे। तुलसिदास ब्रजबनितन को व्रत, समरथ को, करि जतन निवारे'§ विशुद्ध और निःस्वार्थ

‡ कृष्णगीतावली, पद ५५। † वही, पद ५६। § वही, पद ५७। * वही, पद ५७। § वही, पद ५७।

प्रेम के अक्षयवट को योग का जल नष्ट करके डुबा नहीं सकता। प्रेम की समाधि में सब समाधियाँ लीन हो जाती हैं। इस समाधि को कोई समाधि अपने में आत्मसात् नहीं कर सकती। प्रेम की इस मधुमा समाधि से हृदय के सब कलुष नष्ट हो जाते हैं। इसकी अमोघ शक्ति को संसार की कोई दूसरी शक्ति कुंठित नहीं कर सकती। 'समरथ को, करि जतन निवारे' का यही अभिप्राय है।

प्रेम के इसी रहस्य को ध्यानपूर्वक समझने के लिए, गोस्वामी जी की गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—"मधुप, समुझि देखहु मन माहीं ‡।" शीतलता और शान्ति का अमृत तो चन्द्रमा ही दे सकता है। सूर्य में वह सामर्थ्य कहाँ। प्रेम तो आत्मा को अमरता प्रदान करने वाला अमृत है। वह कृष्णचन्द्र से ही प्राप्त हो सकता है। ज्ञान और योग के सूर्य से वह प्राप्त नहीं हो सकता—"प्रेमपियूप रूप उडुपति बिनु कैसे हो अलि, पैयत रवि पाहीं †।" योग और ज्ञान के हित वाक्य प्रेमी के कानों तक ही रह जाते हैं। उनमें प्रेमात्मक हृदय तक पहुँचने की शक्ति नहीं होती। इसीलिए गोस्वामी जी की गोपियाँ कहती हैं—"जद्यपि तुव, हित लागि कहत, सुनि स्रवन, वचन नहिं हृदय समाहीं §।" खोजते हुए यदि सौ कल्प भी बीत जाएँ तब भी अग्नि में तुषार के कण कैसे मिलेंगे। शीतल प्रेम की यही बात बताने के लिए गोस्वामी जी की गोपियाँ कहती हैं—"तुम कहि रहे, हमहुँ पचि हारीं, लोचन हठी तजत हठ नाहीं। तुलसिदास सोइ जतन करहु कछु वारक स्याम इहाँ फिरि जाहीं *" अनंत सुन्दर और अनंत शीलवान् को सगुण रूप में देख लेने पर लोचन इसी तरह हठी बन जाते हैं। वे अनंत बार भी योग की और ज्ञान की चर्चा करके तृप्ति का एक कण भी नहीं प्राप्त कर सकते, पर लोकजीवन के भीतर अवतीर्ण हुए इस परम सुन्दर और मर्यादामय की एक क्षण की झाँकी भी उनके लिए पर्याप्त है।

निशिदिन बरसने वाले पवित्र और उज्ज्वल आँसुओं से भी 'विरह बेलि' सींची जाती है उसे काटने की शक्ति 'ज्ञान परसु' में कहाँ। हृदय की क्यारी में बरहे में, विरह की बेल बोयी हुई है। ज्ञान का परशु उसे काटना चाहता है। पर पवित्र अश्रुजल से निरन्तर सींची जाने वाली इस लता को देख कर ज्ञान का परशु थक जाता है। लता को छूने की तो बात ही नहीं की जा सकती। वह तो हृदय की क्यारी के किनारे ही भौंचक हो कर, निरन्तर सिंचित इस लता की विस्मयजनक शक्ति को एकटक देखता रह जाता है। आगे बढ़ ही नहीं सकता—"ज्ञान परसु दै मधुप पठायो विरह बेलि कैसेहु कठिनाई। सो थाक्यो बरह्यों, एकहि तक देखत इनकी सहज सिंचाई §।" ज्ञान के ऊपर प्रेम के इसी महत्त्व को गोस्वामी जी ने अपनी श्रीकृष्ण गीतावली में सिद्ध किया है।

भगवान् कृष्ण का कृपालु रूप तुलसी का अंतिम साध्य है। अनंत आदर्शमय ने जिस तरह द्रौपदी की लज्जा की रक्षा, उसकी 'प्रतीति' और 'प्रीतिगति' को 'परख' कर की थी, उसकी चर्चा करते हुए 'आरतपाल, कृपालु मुरारी' की 'विरदावली' को गोस्वामी जी ने विश्व भर के नर-नारियों के हृदय पर अंकित देखा है। भक्त की निरभिमानतापूर्ण प्रणति,

---

‡ कृष्णगीतावली, पद ५८। † वही, पद ५८। § वही, पद ५८। * वही, पद ५८। § वही, पद ५९।

उसके विश्वास और प्रेम की आधारभूमि पर भगवान् की 'कृपालुता और आरतपालकता' का दर्शन गोस्वामी जी ने किया है। अभिमानजन्य स्वार्थ को छोड़ कर प्रेम और विश्वास के साथ भक्त जब भगवान् के सामने प्रणत होता है तब उसे भगवान् की अनंत कृपा का वरदान प्राप्त हो जाता है। भक्तिमार्ग की उपासना के पथ पर उपासक और उपास्य के मध्य का सम्बन्ध सूत्र इसी प्रकार का होता है और इसकी चर्चा सब भक्तों ने की है‡।

परमात्मा की इसी कृपालुता का दर्शन गोस्वामी जी ने कृष्ण में किया है। उनके कृष्ण, 'कृपालु', 'समन-कलेस' तथा 'कुसाज-सुसाजी' हैं। तुलसी इसीलिए उनके 'भगतिपथ' से 'राजी' हैं। 'जुग जुग जग साके केसव के समन-कलेस कुसाज-सुसाजी। तुलसी, को न होइ, सुनि कीरति, कृष्णकृपालुभगति पथ राजी ?' अपने इन्हीं शब्दों से गोस्वामी जी ने श्रीकृष्ण गीतावली का मंगलान्त किया है†।

यद्यपि तुलसी साहित्य में कृष्ण के नाम का स्मरण अन्यत्र भी किया गया है$। तथापि उस संक्षेप में पक्षपात का आभास दिखाई पड़ने के कारण, गोस्वामी जी के अभेदवादी साधक ने अपने हृदय की 'प्रेमभगति*' को इस स्वतन्त्र ग्रन्थ के कोमल और आकर्षक पुष्प के द्वारा श्रीकृष्ण के चरणों में अर्पित कर पक्षपात के आभास की सम्भावना को भी शान्त कर दिया है।

गोस्वामी जी ने कौसल्या, दशरथ तथा सम्पूर्ण अग-जग को साथ ले कर केवल बीस सोहरों के 'रामलला नहछू' में अपने हृदय की भक्ति, भगवान् राम के चरणों में, उनके इस विवाहांग नहछू-मंगल के अवसर के चित्र में अर्पित किया है। इस आनन्दोत्सव में हृदय को मग्न करके 'कोटि जनम के पातकों§' को गोस्वामी जी ने उसमें से निर्वासित कर दिया है। भक्तिमय, इस पवित्र आनन्दोत्सव के आलोक में लोहारिन, अहिरिन, तंबोलिन, दर्जिन, मोचिन, मालिन, बारिन तथा नाउन से ले कर देवलोक तक को गोस्वामी जी ने निमग्न कर दिया है और इन सबके साथ अपने हृदय को भी उन्होंने रामरस से आप्लावित कर लिया है। इस उत्सव में रानी और दासी तथा राजा और रंक सब ऐश्वर्यपूर्ण समृद्धि की एक ही श्रेणी में पहुँचे हुए दिखाई पड़ते हैं। नर और नारी, राजा और परिजन की इस आनन्दमयी एकाकार परिणति में एक अनिर्वचनीय वातावरण गोस्वामी जी ने अपने 'रामलला नहछू' में उत्पन्न कर दिया है।

जीवन के सब तरह के आनन्दोत्सवों को राममय बना देने के लिए ही गोस्वामी जी ने अपनी भक्ति की धारा से जीवन के सब क्षेत्रों को सींच दिया है। जीवन के सब उत्सवों के समय नर-नारी भक्ति की आनंदमयी ऊँचाई पर रह सकें, यही भावना तुलसी के भीतर राम के सम्पूर्ण जीवन के आनन्द रस को तरंगित करती रहती है। स्त्रियों के जीवन के भावस्तर को उच्चभूमि पर ले जाने के लिए गोस्वामी जी ने अपनी भक्ति को

---

‡ कृष्णगीतावली, पद ६०। † वही, पद ६१। $ कवितावली, उत्तरकांड, कवित्त १३१-१३५। * तुलसी दोहावली, दोहा १२५। अथवा—रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ३४। § रामलला नहछू, सोहर १।

नारी के घरेलू जीवन में भी ला कर रख दिया। उनकी भक्ति का यही स्वरूप 'रामलला नहछू' के रूप में व्यक्त हुआ है।

गोस्वामी जी की 'वैराग्यसंदीपिनी' में केवल दो सोरठे, चौदह चौपाइयाँ और छियालिस दोहे हैं। चौपाइयों की अंकसंख्या रामायण की पद्धति पर नहीं है। चौपाई के चार पद समाप्त होते ही एक चौपाई मान ली गयी है। "अतिसीतल अति ही सुखदाई, सम दम रामभजन अधिकाई। जड़ जीवन को करै सचेता, जग माही विचरत एहि हेता" से एक पूरी चौपाई हो गयी है ‡। इस तरह की चौदह चौपाइयों की कुल अट्ठाईस पंक्तियाँ हैं। अतः वैराग्य उत्पन्न करने वाला यह ग्रन्थ कुल बासठ छन्दों की एक सौ चोबीस पक्तियों में पूरा हो गया है।

इसमें तीन प्रकरण हैं। पहले में संतस्वभाव का वर्णन है। दूसरे में संत की महिमा का वर्णन है तथा तीसरे में शान्ति का स्वरूप चित्रित किया गया है।

इस ग्रन्थ में मुख्यतः रूपोपासना के आधार पर ही भगवान् के रूप की ओर, उनके सर्वतोमुख सौन्दर्य की ओर संसारी व्यक्ति का ध्यान आकृष्ट करके गोस्वामी जी ने वैराग्य उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। "राम बाम दिसि जानकी, लखन दाहिनी ओर। ध्यान सकल कल्यानमय, सुरतरु-तुलसी तोर †।" के विशिष्ट सगुण की भावना का और "सुनत-लखत श्रुति-नयन बिनु, रसना बिनु रस लेत। बास नासिका बिनु लहै, परसै बिना निकेत $।" के निर्गुण की भावना का विशिष्टाद्वैती समन्वय गोस्वामी जी ने "अज अद्वैत अनाम, अलख रूप गुन रहित जो। मायापति सोइ राम दास हेतु नर-तनु धरेउ *" में कर दिया है। गोस्वामी जी का यह सिद्धान्त है कि जब तक ज्योतिष्मान निर्गुण ब्रह्म सूर्यके रूप में सगुण नहीं होता तब तक भक्त का हृदय-कमल निराश्रित होने के कारण पूर्ण विकसित नहीं होता। इस सत्य को व्यक्त करने के लिए उन्होंने लिखा है, "तुलसी मिटै न मोहतम, किये कोटि गुनग्राम। हृदय-कमल फूलै नहीं, बिनु रवि-कुल-रवि राम"—'निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन करोड़ों तरह से किया जाए तब भी अज्ञान का अन्धकार नहीं मिटता। सूर्यकुल के सूर्य-राम के बिना हृदय-कमल नहीं फूलता §।'

'राम बाम दिसि' के पहले दोहे में सगुण के ध्यान से मंगलाचरण करके एकसठवें दोहे में भी 'फिरी दोहाई राम की, गे कामादिक भाजि। तुलसी ज्यों रवि के उदय, तुरत जात तम लाजि' कह कर सगुण ध्यान से ही इस ग्रन्थ का गोस्वामी जी ने मंगलान्त किया है। बीच-बीच में भी 'रामरूप स्वाती जलद, चातक तुलसीदास ×' की सगुण भावना है। पर राम के शीलमय विश्वरूप को इस ग्रंथ में भी गोस्वामी जी ने देखा है। 'कंचन को मृतिका करि मानत। कामिनि काष्ठ सिला पहिचानत। तुलसी भूलि गयो रस एहा। ते जन प्रगट राम की देहा +' से समस्त संतों के भीतर राम के शील के विश्वरूप का ही दर्शन किया गया है।

---

‡ वैराग्यसंदीपिनी, चौपाई १। † वही, दोहा १। $ वही, दोहा ३। * वही, दोहा ४।
§ वही, दोहा २। × वही, दोहा १५। + वही, छन्द २८।

इस तरह सगुण-निर्गुण की विशिष्टाद्वैती साधना, शील के रूप में गोस्वामी जी ने इस ग्रंथ में भी की है। अपने पूरे साहित्य में गोस्वामी जी ने परमात्मा की उपासना जीवन के भीतर शील के क्रियात्मक और साकार रूप में की है।

उनहत्तर वरवा छन्दों में लिखा हुआ गोस्वामी जी का छोटा-सा ग्रंथ 'वरवै रामायण' सात कांडों में विभक्त है। वालकांड में उन्नीस, अयोध्या में आठ, अरण्य में छह, किष्किंधा में दो, सुन्दर में छह, लंका में एक तथा उत्तरकांड में सत्ताईस वरवा हैं। इस ग्रंथ में प्रवन्धात्मकता नहीं है। सातों कांडों से सम्वद्ध फुटकर छन्दों का संग्रह घटनाक्रम से नहीं किया गया है। वालकांड में प्रारम्भ के वरवा सीता के सौन्दर्य का वर्णन करते हैं, पर अंतिम उन्नीसवाँ वरवा वालक राम के छोटे धनुप-वाण से खेलने की चर्चा करता है और वीच के चरणों में धनुर्भंग और विवाह की चर्चा की गयी है।

इस पूरे ग्रंथ में कलात्मक और हृदयस्पर्शी ढंग से राम और सीता के जीवन की घटनाओं का वर्णन किया गया है। उत्तरकांड में वही 'सियारामपद प्रेम' वढ़ता हुआ दिखाई पड़ता है। यह कांड भक्ति और वैराग्य के सत्ताईस वरवों के संग्रह से वना है। इन सत्ताईस छन्दों में से एक भी छन्द ऐसा नहीं है जिसमें राम-नाम का महत्त्व न दिखाई पड़ता हो। सव छन्दों में 'नाम सनेह' ही भरा पड़ा है और अन्तिम उन्हत्तरवें छन्द में तो 'जनम जनम, जहं जहं तनु तुलसिहि देहु। तहं तहं राम निवाहिव नामसनेहु' कह कर अपनी सम्पूर्ण सत्ता के साथ नाम-सनेह को जोड़ कर उसी में गोस्वामी जी अनंत एकाकारता में लीन हो गये हैं।

गोस्वामी जी के द्वारा गुंफित एक सौ अड़तालिस सोहरों और सोलह वीच-वीच में पिरोये हुए छन्दों की 'पार्वतीमंगल' की मणिमाला 'गौरी-गिरीस-विवाह'‡ का भव्य चित्र प्रस्तुत करती है। 'रामलला नहछू' को छोड़ तुलसी साहित्य के शेष दस ग्रंथों में शिव का स्मरण किसी न किसी प्रकरण में अवश्य किया गया है। 'रामलला नहछू' में भी शिवपरिवार तो प्रारम्भ में ही है। 'गनपति-गौरी'† का ध्यान करके ही गोस्वामी जी ने 'नहछू' प्रारम्भ किया है। शिव की प्रत्यक्ष चर्चा के अभाव के लिए केवल वीस सोहरों का यही ग्रंथ अपवाद है। राम के 'स्वामी, सखा और सेवक' शिव के प्रति अपनी भक्ति को निवेदित करने के लिए ही गोस्वामी जी ने इस स्वतन्त्र ग्रंथ की रचना कर 'गौरी-गिरीस'$ को गौरव प्रदान किया है। शिव के विश्वमंगल विधायक, आदर्श शील की सरिता में अपने मन को स्नान कराके पवित्र करने के लिए ही गोस्वामी जी ने इस मंगलमय ग्रंथ की रचना की है। 'शंकर-चरित-सुसरित मनहिं अन्हवावउँ*' से गोस्वामी जी ने अपनी इसी मंगलमयी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। इस तरह मन को पवित्र कर लेने की भावना को ले कर तुलसी के कवि ने 'पर अपवाद-विवाद-विदूपित वानिहि। पावनि करउं सो गाइ भवेस-भवानिहि'§ से अपनी वाणी को भी पवित्र कर लिया है।

‡ पार्वतीमंगल, सोहर २। † रामलला नहछू, सोहर १। $ पार्वतीमंगल, सोहर २। * वही, सोहर ३। § वही, सोहर ४।

नारी के शील की मंगलमयी उपासना के लिए ही गोस्वामी जी ने यह ग्रंथ लिखा है। नारी के शील का उच्चतम विकास जगत् के सम्मुख प्रस्तुत करने वाली उमा की उपासना अनंत के शीलरूप की उपासना है। इसी में गोस्वामी जी ने इस ग्रंथ को लिख कर, सिद्धि प्राप्त की है। तुलसी की पार्वती के इस विराट् शील के सम्मुख उनके आदर्श शीलवान् शिव साभार झुक कर उसके क्रीतदास बन गये हैं। 'हमहिं आजु लगि कनउड काहु न कीन्हेउ। पारवती तप प्रेम मोल मोहिं लीन्हेउ ‡।' से गोस्वामी जी के शिव अपने हृदय की शीलोपासना की उपर्युक्त अनुभूति ही व्यक्त कर रहे हैं।

अपनी भक्ति के भीतर गोस्वामी जी ने जीवन के जिस सौन्दर्य का दर्शन किया था उसी की सर्वतोमुखी अभिव्यक्ति तुलसी-साहित्य में हुई है। तुलसी की वही पवित्र चेतना नारी के शील की उच्चतम भूमि पर प्रतिष्ठित हो कर 'पार्वती मंगल' में भी व्यक्त हुई है। गोस्वामी जी की मैना 'त्रिभुवन तियमनि' † है। उनके हिमवान् भी 'धरनिधर धुरधनि' $ हैं। इन दो श्रेष्ठों के श्रेष्ठ शील का परिणाम ही तो 'जगजननी मंगलखानि भवानी' * के मंगलमय रूप में प्रकट हुआ। तुलसी की यह 'मंगलमयी मंगला' § मंगलमय शिव के विश्वमंगल विधायक शील को वरण करने के लिए उनके 'चौदह भुवन सरहना' × वाले हिमवान् के यहाँ अवतीर्ण हुई है। इस 'मंगलमयी मंगला' के लिए वर की चर्चा करते हुए जब तुलसी के नारद कहते हैं—"मोरेहुं मन अस आव मिलिहि बर बाउर + तब मंगलमयी को "लखि नारद-नारदी सुख भा उर *"; क्योंकि उन्होंने समझ लिया कि विश्वमंगल विधायक अपने स्वार्थों के प्रति 'बाउर' ही होता है और ऐसा ही 'बाउर' शिव उन्हें पुनः पतिरूप में प्राप्त होगा। नारद के आदेश से उमा "कोटि कल्पतरु सरिस संभु-अवराधन ¶" के लिए चली गयी। "अति आदर अनुराग भगति ‡@" से मन को भिगा कर, मन, वाणी और कर्म की अनन्य गति से उन्होंने 'हर चरन' ‡‡ की सेवा प्रारम्भ की। जो गौरव, स्नेह और संकोच उमा की शिव-सेवा में थे वे तुलसी के अनुसार अनंत और अनिर्वचनीय थे ‡†।

उपासक और उपास्य में एक ही तरह के गौरव और पवित्रता का भाव गोस्वामी जी ने देखा है। इस अनिंद्यसुन्दरी पार्वती के सीमाहीन गुण, रूप और यौवन-सौन्दर्य को देख कर भी विश्वमंगल विधायक शिव के हृदय में क्षोभ नहीं उत्पन्न हुआ। जिन्होंने वासनात्मक कामभावना को अपने वश में कर लिया, वे विकार के कारणों के प्रस्तुत रहने पर भी धैर्य नहीं छोड़ते ‡$।

कुचक्री, अनुभवहीन और स्वार्थान्ध देवशील, साधना की परिणति के पहले ही जब उमा से, हठात्, शंकर को बाँध देने के लिए कामदेव का उपयोग करता है तब उसे मुँहकी

---

‡ पार्वतीमंगल, सोहर ८१। † वही, सोहर ६। $ वही, सोहर ६। * वही, सोहर ८। § वही, सोहर १८। × वही, सोहर १६। + वही, सोहर १९। * वही, सोहर १९। ¶ वही, सोहर २२। ‡@ वही, सोहर २६। ‡‡ वही, सोहर २७। ‡† वही, सोहर २६–२७। ‡$ वही, सोहर २७।

खानी पड़ती है। परममंगलमय, वामाचारी काम के प्रभाव में कैसे आ सकता है। शिव ने काम को भस्म कर अपने निवासस्थान को भी छोड़ दिया। दृष्टि से दूर गये शिव को हृदय में रख कर उग्र तप करती हुई गोस्वामी जी की उमा अपर्णा हो गयी। वह 'बौरेहि के अनुराग बढि बाउरि' हो गयी ‡। लोकमंगल विधान में पागल की तरह अनुरक्त शिव के प्रेम में पागल हो कर तुलसी की उमा ने अपने तपोमय प्रेम को विश्व की नारी के लिए आदर्श बना कर परम मंगलमय कार्य किया।

कन्या के लिए पिता के दान के रूप में पति के घर जाने की विधि को गोस्वामी जी मंगलमयी मानते हैं। अपनी तपस्या से शिव को अपनी ओर पवित्र स्वीकृति के साथ उन्मुख करके भी, उनके प्रस्ताव पर, अपने लिए, तुलसी की उमा, पिता की अधीनता की सूचना देती हैं। इस सूचना को 'प्रीति, नीति प्रवीनता' का उच्चतम आदर्श मान कर, गोस्वामी जी के शिव ने सम्मान दिया है †।

इस तरह उमा और शिव के विवाह में तपस्या और विश्वमंगल का गठबंधन कराके गोस्वामी जी ने अपने हृदय की पवित्र भक्तिसाधना को शिव-पार्वती को अर्पित कर दिया है।

तुलसी की यह उपासनात्मक साहित्य साधना, निश्चित ही, उनकी भक्ति-भावना के भीतर, नारी के उच्चतम शील के दर्शन की साध को व्यक्त करती है। नारी के शील पर निखार चढ़ा कर, उसकी पवित्रता के भीतर, जगदम्बा, पार्वती और सीता का दर्शन कर लेना ही तुलसी का अभीष्ट है।

इस मंगलमय ग्रंथ के अंत में गोस्वामी जी युवतियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—'प्रेम के सूत्र में गौरी और हर के गुणों की मणियों को पिरो कर मेरी मतिरूपिणी मृगनयनी ने तुम्हारे लिए मंजु मंगल हार बना दिया है। यह हार विश्वव्यापी सर्वतोमुखी सौन्दर्य का रहस्य है। जो नारियाँ विवाह तथा अन्य मंगलमय कार्यों और उत्सवों के समय प्रेम से इन सोहरों को गाएँगी, उन्हें उमा और शंकर के प्रसाद से अभिलषित आनन्द और प्रिय वस्तुएँ प्राप्त होंगी $।'

इस तरह तुलसी की भक्तिभावना ने नारी के शील के उच्चतम निर्माण के लिए ही इस ग्रंथ की सृष्टि की है। माया विशिष्ट जीवनदर्शन को विश्वव्यापी अद्वैतभूमि पर स्थित करने की गोस्वामी जी की यही विशिष्टाद्वैती प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया से वे व्यक्ति के जीवन को विश्व का जीवन बना देते हैं।

पार्वतीमंगल की शैली पर ही गोस्वामी जी ने 'जानकी मंगल' का भी निर्माण किया है। पर ग्रांथिक योजना की अधिक स्थिर और निश्चित एकरूपता इस ग्रंथ में आदि से अंत तक दिखाई पड़ती है। पार्वतीमंगल में सोहरों की निश्चित संख्या के बाद छन्द नहीं दुहराया गया है, पर इस ग्रंथ में आठ सोहरों के बाद एक छन्द के क्रम से एक सौ

---

‡ पार्वतीमंगल, सोहर ७०। † वही, छन्द ८३। $ पार्वती मंगल, छन्द १६३–१६४।

बयासी सोहरों की माला में बीच-बीच में चौंतीस छन्द गुँथे हुए हैं। आरम्भ में आठ सोहर हैं, अन्तिम दो सौ सोलहवाँ छन्द है।

यद्यपि इस ग्रंथ में सीता और राम का विवाहोत्सव चित्रित किया गया है तथापि इस मंगलमय अवसर पर ही भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न भी मांडवी, उर्मिला और श्रुतिकीर्ति से विवाह के कोमल बन्धन में बँध गये थे। सीता और राम के विवाह का उत्सव इन चार विवाहों से पूर्ण होता है। इसीलिए सीता और राम के विवाहोत्सव का वर्णन गोस्वामी जी ने इन सबके साथ ही किया है।

इस ग्रंथ में भी वही आदर्श की उपासना की दृष्टि निरन्तर जागरूक दिखाई पड़ती है। इसमें भी 'नरनायक' जनक 'सब गुन अवधि' हैं और दूसरा कोई उनसे 'पटतर लायक' नहीं है ‡। जनक के समान नरपति न हुआ, न है और न होगा, क्योंकि 'सकल मंगलमयी' सीता उनकी सुता हुई †। दशरथ की रानियों को भी गोस्वामी जी ने 'अनुराग, भाग, सोहाग, सील और सरूप' से पूर्ण देखा है $। उनके विश्वामित्र भी 'मुनिनायक', 'पूरनकाम' और 'चारिफलदायक' हैं *। 'जानकी मंगल' में भी गोस्वामी जी के दशरथ स्नेह और सत्य के आदर्श रूप हैं§। इस ग्रंथ में भी विश्वामित्र के साथ जाते हुए राम के साथ पुरवासी, राजा और रानी अपना मन भेज देते हैं। बालक राम के लिए सबके भीतर इस प्रेम का व्यापक विकास दिखाना, तुलसी यहाँ भी नहीं भूले हैं×। 'चलत सकल पुरलोक वियोग विकल भये +' में राम के लिए सबके प्रेम की अधिकता और 'सानुज भरत सप्रेम राम पायँन नए' * में भ्रातृप्रेम और ज्येष्ठ के प्रति भक्ति की व्यंजना की गयी है। यहाँ भी राम और लक्ष्मण का सौन्दर्य 'सकल सुखमा' का समाहित रूप है ¶। यहाँ राम का विश्वमंगल विधायक रूप अपना प्रथम दर्शन देता है। 'मारि निसाचर-निकर यज्ञ करवायउ। अभय किये मुनिवृन्द जगत जसु गायउ ‡⊕' में इस विश्वमंगल विधायक के प्रति विश्व के आभार की भावना प्रदर्शित की गयी है। धनुष-यज्ञ के लिए राम-लक्ष्मण को ले जाते समय भी तुलसी के विश्वामित्र की दृष्टि में 'विप्र, साधु, सुरकाज' ही झूलता रहता है। राम के सम्पूर्ण जीवन को वे इसी के लिए निर्मित मानते हैं ‡‡।

सगुण उपासना की निर्गुण उपासना से श्रेष्ठता को गोस्वामी जी ने निरन्तर अपने ध्यान में रखा है। उनके साहित्य की यह विशेषता यहाँ भी परिलक्षित होती है। जनक की दशा के भीतर 'अवलोकि रामहिं अनुभवत मनु ब्रह्मसुख सौगुन दिये ‡†' के द्वारा निर्गुण उपासना के ब्रह्मसुख से सगुण उपासना के आनन्द को गोस्वामी जी ने सौगुना बताया है। यहाँ गोस्वामी जी ने 'विराग' से अधिक महत्त्व 'सनेह' को दिया है। राम को देख कर जनक की दशा का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी ने लिखा है—"देखि मनोहर मूरति मन

---

‡ जानकी मंगल, सोहर ६। † वही, सोहर ७। $ वही, सोहर १८। * वही, सोहर २४। § वही, सोहर २६। × वही, सोहर ३१। + वही, सोहर ३३। * वही, सोहर ३३। ¶ वही, सोहर ३५। ‡⊕ जानकीमंगल, सोहर ४२। ‡‡ वही, सोहर ४३। ‡† वही, छंद ४५।

अनुरागेउ, बंधेउ सनेह विदेह, बिराग बिरागेउ ‡ ।" राम को देख कर जनक स्नेह से बँध गये और वैराग्य से दूर हो गये । यहाँ गोस्वामी जी के जनक, ब्रह्मा को बड़ा श्रेष्ठ कलाकार और उनके द्वारा निर्मित भवसागर को श्रेष्ठ मानते हैं, क्योंकि उसमें राम के समान रत्न उत्पन्न होते हैं । 'प्रमुदित हृदय सराहत भल भवसागर । जहँ उपजहिं अस मानिक, विधि बड़ नागर' में उपर्युक्त भावना के भीतर अरूपोपासना से श्रेष्ठ रूपोपासना को ही बताया गया है † ।

अरूप जब शक्ति, शील और सौन्दर्य की अनंतता के साथ जगत् में अवतीर्ण होता है, तब उसके दर्शन के अपने स्वार्थ को, बड़े-बड़े परमार्थी भी, परमार्थ से उच्च समझने लगते हैं । जगद्व्यापी सौन्दर्य, शक्ति और शील की मानव-झाँकी इतनी अधिक आकर्षक होती है कि उसके निर्गुण के उच्चतम रहस्य का परम अर्थ भी, इस झाँकी के दर्शन के सम्मुख हीन अनुभव होने लगता है । जनक के 'विषय विमुख मन मोर सेइ परमारथ । इन्हहिं देखि भयो मगन जानि बड स्वारथ' का यही अभिप्राय है $ । जनक की इस अनुभूति का पता पा कर प्रेमपुलकित विश्वामित्र उन्हें बताते हैं—"ए परमारथ-रूप ब्रह्ममय बालक * ।" इस तरह सगुण उपासना के क्षेत्र में आ कर ब्रह्म केवल बौद्धिक चिन्तन का विषय न रह कर मनोरागात्मक प्रेम का विषय भी हो गया और उपासना के भीतर अनुभूति का यह दूसरा तत्त्व अधिक महत्त्वशाली हो गया ।

राम का यह तेजवान् रूप 'जानकीमंगल' में सब नर-नारियों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है । जनकपुर की सब स्त्रियाँ शिव से यही प्रार्थना करती हैं कि जानकी को यह साँवरा वर ही मिले । धनुप की कठोरता को देख कर पवित्र शील वाले सज्जन राजाओं को यह समझ कर धैर्य प्राप्त हो जाता है कि राम में धनुप तोड़ने की शक्ति है क्योंकि वे जानते हैं कि 'तेज, प्रताप, रूप जहं, तहं बल बूझइ § ।' वे तेज, प्रताप और रूप के साथ बल की नैसर्गिक स्थिति का सिद्धान्त जानते हैं । राम की कोमलता और धनुप की कठोरता को देख कर इसी असमंजस में पड़ी हुई जनक की रानी को एक चतुर सखी बड़े स्वाभाविक ढंग से समझाती है—"तीनि काल कर ज्ञान कौसिकहिं कर तल । सो कि स्वयंवर आनहि बालक, बिनु बल ।" यह कितना स्वाभाविक और स्पष्ट समाधान है । निर्बल बालक को त्रिकालज्ञ विश्वामित्र यज्ञ में कैसे लाएँगे × ।

यही दशा जनकपुर के सब लोगों की है । राम को देख कर वे अपने कोमल मनोरथों के कलश भर लेते हैं, पर धनुप को देख कर कोमल मनोरथों के कलशों को खाली कर देते हैं । अनंत का मानव रूप इसी तरह सबको अपनी ओर आकृष्ट करता है + ।

आर्यसभ्यता प्रेम के आवेश को लज्जा की कोमल और सात्त्विक सहायता से हृदय के भीतर ही गुप्त रखना चाहती है । जीवन के आदर्शों के साथ ही प्रेम की सुदृढ़ स्थिति को बनाये रख कर गोस्वामी जी ने प्रेम को आत्मिक तेज के प्रकाश से आलोकित

---

‡ जानकीमंगल, सोहर ४६ । † वही, सोहर ४७ । $ वही, सोहर ५० । * वही, सोहर ५१ । § वही, सोहर ६६ । × वही, सोहर ८६ । + वही, सोहर ८९, छंद ९० ।

रखा है। हृदय में जीवन के आदर्शों की अनुभूति के भीतर ही प्रेम पल कर पुष्ट होता है। आदर्शों के सात्विक तेज के भीतर गुप्त रह कर प्रेम का तेज मनुष्य के शील का विकास, आर्य हृदय में करता रहता है। प्रेम का आवेश, व्यर्थ प्रकट हो कर शिष्ट भारतीय के हृदय में स्थिति अपनी सर्जनात्मिका शक्ति को निरर्थक नहीं बनने देता। वह अपने विस्तार से सम्पूर्ण हृदय के अस्तित्व पर छा कर गुणों के सिंहासन पर आसीन रहता है। गोस्वामी जी के अनुसार अगणित सुदृढ़ स्तम्भों पर प्रेम का आकर्षक मंडप स्थित हो कर हृदय की समग्र अनुभूतियों पर अपनी शीतल छाया की शाश्वत शान्ति को बनाए रखता है। प्रेम की यही शीतलता मनुष्य के हृदय को विश्वमंगल विधान के लिए शीतल शक्ति प्रदान करती रहती है। यह शीतल शक्ति प्रेम के द्वारा आदर्शों को प्राप्त होती रहती है और जीवन के आदर्श ऐसे ही प्रेम की शीतल छाया में विश्वमंगल विधान करते रहते हैं। जानकीमंगल की अपनी 'प्रेम प्रमोद परस्पर प्रगटत गोपहिं। जनु हिरदय गुन-ग्राम थूनि थिर रोपहि‡' पक्तियों के द्वारा गोस्वामी जी ने प्रेम के उपर्युक्त स्वभाव को थोड़े से सशक्त और सुन्दर शब्दों में बड़ी कला-कुशलता के साथ व्यक्त किया है। केवल इन्हीं दो-चार मंगलमयी पक्तियों के सात्विक सौन्दर्य का ही यदि मूल्यांकन किया जाए, तब भी इनके सर्वतोमुख सौन्दर्य पर विश्व का वैभव निछावर किया जा सकता है। जीवन के शिल्पी तुलसी के साहित्य में ऐसी पक्तियाँ भरी पड़ी हैं।

शील और सौन्दर्य के ऐसे अमृतमय योग का दर्शन गोस्वामी जी ने सीता और राम के व्यक्तित्व में किया है कि तज्जन्य आनन्द की उनकी अनुभूति अनिर्वचनीय हो गयी है—"सो छवि जाइ न बरनि देखि मन मानै, सुधापान करि मूक कि स्वाद बखानै † ?" सुहावने रूप के माधुर्य के साथ 'सुहावन सुभाय $' के योग का ऐसा मधुमय दर्शन गोस्वामी जी को सीता और राम के व्यक्तित्व में हुआ है कि 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी *' की अनिर्वचनीय अवस्था में वे पहुँच गये हैं। अमृत का पान करके मूक की वाणी स्वाद का वर्णन कैसे कर सकती है ? इसी मूक की अवस्था गोस्वामी जी की भी हो गयी है, सीता और राम के मधुर सौन्दर्य को अपने हृदय की आँखों से देख कर §।

शील के इसी सम्पूर्ण और अलौकिक सौन्दर्य का दर्शन करने के लिए गोस्वामी जी ने सगुणोपासना का पथ वरण किया है। धनुभंग के प्रकरण में जब सब प्रतिस्पर्धी राजा हतप्रभ हो जाते हैं, 'बाणासुर बाण की तरह' चला जाता है और रावण चुपचाप धीरे से खिसक जाता है × तब गोस्वामी जी के विश्वामित्र जनक से राम के लिए आज्ञा देने को कहते हैं—'पार्वती के मन के समान यह धनुष भी अचल है। उन्हीं के मन के समान, एकनारीव्रत पालन करने वाले शिव का मन भी अचल है। उसी स्थिर मन वाले शिव के हाथ में यह धनुप खेल सकता है। चन्द्रमा और कामदेव को अपमानित करने वाली राम

‡ जानकीमंगल, सोहर ९५। † वही, सोहर ९७। $ वही, सोहर ९६। * रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २२८ के बाद। § जानकीमंगल, सोहर ९६-९७। × वही, सोहर १०३।

की मूर्ति केवल दर्शन के योग्य है। इस कोमल सौन्दर्य पर धनुष का गुरुतम भार रख कर इसे मलिन और विकृत कर देना अनुचित है। इस पर किसी तरह की चिन्ता, असफलता और प्रयास का भार डालना ठीक न होगा ‡।

गोस्वामी जी के जनक में निवास करने वाली, शिव और पार्वती की शाश्वत स्थिर पवित्रता की अनुभूति कितनी पवित्र और कोमल है। साथ ही साथ राम के कोमल सौन्दर्य की उनकी अनुभूति भी कितनी भोली और सहानुभूतिपूर्ण वात्सल्य से भरी हुई है।

जनक के इस पवित्र भोलेपन का उत्तर देते हुए गोस्वामी जी के विश्वामित्र कहते हैं—'यह उसी की मूर्ति है जिसका एक बार भी स्मरण कर लेने से अज्ञान के सब कलुष नष्ट हो जाते हैं। निर्गुण की इस सगुण मूर्ति का आश्चर्यमय प्रदर्शन अभी देखो। राजाओं की शक्ति के जल को आत्मसात् करके उमड़े हुए इस धनुष के महासागर के लिए राम को तुम अगस्त्य के समान समझो †।'

गुरु का इंगित पा कर हर्ष और विषाद से अस्पृष्ट राम ने धनुर्भंग किया। निरभिमानतापूर्ण इस शील के शक्तिमय केन्द्र के रूप में राम का दर्शन गोस्वामी जी ने अपनी पूरी साहित्य-साधना के भीतर किया है। शक्ति, शील और सौन्दर्य की यह साधना निर्गुण उपासना के क्षेत्र में कहाँ सम्भव थी? शक्ति, शील और सौन्दर्य की पूर्णता की उपासना करने के लिए ही गोस्वामी जी ने अपने लिए सगुणोपासना का क्षेत्र चुना।

राम के सौन्दर्य के समान ही प्रभाव सीता के सौन्दर्य में भी गोस्वामी जी ने उत्पन्न किया है। विवाह-मंडप की ओर लायी जाती हुई सीता, युवतियों के समूह में, इतनी आकर्षक दिखाई पड़ती हैं कि स्वयं सरस्वती लज्जित हो कर भाग जाती हैं। वह उपमा कहने की शक्ति कवि के मस्तिष्क में नहीं आती $। सीता 'सीय सुख सोभामई *' है। उसके शील और सौन्दर्य से समन्वित व्यक्तित्व को देख कर सरस्वती भी आनन्दमग्न हो जाती है। वह सीता का वर्णन करना भूल जाती है।

'को कहि सकइ अनन्द मगन भइ भारति §' से गोस्वामी जी भी कविता को अनुभूति की स्मृति के शान्तिमय वातावरण में उत्पन्न सर्जना ही मानते हैं। अनुभूति में मग्न सरस्वती सीता के सौन्दर्य का वर्णन नहीं कर सकती। अनुभूति के आस्वाद के बाहर आने पर ही आस्वाद की स्मृति के रूप में सरस्वती (बुद्धि) के भीतर कविता उत्पन्न होती है। हृदय की यह अनुभूति निर्गुण उपासना में सम्भव नहीं हो सकती। उपासना के इसी पथ पर तुलसी ने जनक की रानियों को बरात विदा होने के पहले मर्यादा पुरुषोत्तम राम के वियोग में रात भर निद्रा के प्रभाव से दूर रखा है। नारी के आदर्शों की प्रतिमूर्ति सीता के वियोग से भी जनकपुर के नर-नारी, हाथी-घोड़े, मृग और पक्षी सब, गोस्वामी जी की दृष्टि के भीतर व्याकुल होते हुए प्रतिबिम्बित होते हैं।

---

‡ जानकीमंगल, सोहर १०४ से १०६। † वही, सोहर १०७, छंद १०८। $ वही, सोहर १५८। * वही, छंद १६२। § वही, सोहर १६९।

सगुण उपासना के इसी पथ पर 'कृपासिंधु, सुखसिंध, सुजान-सिरोमनि' राम के वियोग से विदाई के समय गोस्वामी जी के जनक व्यथित हुए हैं‡। इसी सुजान सिरोमनि की प्रीतिच्छाया के प्रभाव में विदाई के समय बिछुड़ते हुए दो सज्जन मानव-समहों के साथ पूरा विश्व विषाद-मग्न हो गया। 'सो समौ कहत न बनत कछु सब भुवन भरि करुना रहे†' से गोस्वामी जी ने विश्वहृदय की इसी दशा का संकेत दिया है।

इसके बाद 'जानकीमंगल' में जनकपुर का विषाद अपने त्यागपूर्ण बलिदान से अयोध्या के आनन्द की सृष्टि करता है। पावन प्रेमियों के चार नये जोड़ों को पा कर अयोध्या धन्य हो गयी। माताएँ, पुत्रों और वधुओं के प्रेम के क्षीरसागर में मग्न हो गयीं। पृथ्वी और आकाश में आनन्द व्याप्त हो गया। 'उमगि चलेउ आनन्द भुवन भुइं बादर$' में इसी दशा का चित्र है।

सीता और राम के इसी पवित्र शील के पावन प्रभाव से नर-नारियों के लोक-जीवन को आप्लावित कर देने के लिए ही गोस्वामी जी ने 'सियाराम' के चरणों में 'जानकीमंगल' के रूप में अपनी मंगल पुष्पांजलि अर्पित की है। 'उपवीत ब्याह उछाह जे सियराम मंगल गावहीं। तुलसी सकल कल्यान ते नर-नारि अनुदिन पावहीं*' में विश्वमंगल विधायक मर्यादा पुरुषोत्तम की कृपाछाया में इसी उपर्युक्त विश्वमंगल की कामना की है। सीताराम के पवित्र शील की विश्वव्यापिनी झाँकी का दर्शन ही तुलसी की उपासना का रहस्य है और इसकी सिद्धि सगुणोपासना के क्षेत्र में ही सम्भव थी।

तुलसी के 'रामाज्ञा प्रश्न' में सात सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग में सात सप्तक हैं और प्रत्येक सप्तक में सात दोहे हैं। इस तरह इस ग्रंथ में मुख्यतः तीन सौ तैंतालिस दोहे हैं। इस शकुन शास्त्र की कुंजी दो अलग दोहों में प्रारंभ में ही दी गयी है। यदि इनको भी सम्मिलित कर लिया जाए तो दोहों की कुल संख्या तीन सौ पैंतालिस हो जाती है।

'राम दाहिने होहिं जेहि सकल दाहिने ताहि' की सच्ची और दृढ भावना से अपने हृदय का शृंगार कर लेने वाले तुलसी के साधक ने शकुनों पर विश्वास करने वाली भारतीय जनता को इस शकुन शास्त्र के रूप में भी भक्ति का ही वरदान दिया है। सब तरह की प्रवृत्तियों के मनुष्यों के स्वभाव के अनुसार ही मानव मनोविज्ञान के इस पंडित भक्त ने उन्हें उपासना की पद्धतियाँ प्रदान की हैं और जीवन के प्रत्येक मोड़ पर, इस जीवन-शिल्पी ने मानव को रामभक्ति के सम्मुख ही ला कर खड़ा कर दिया है। शकुन की खोज में भटकने वाला मनुष्य भी 'रामाज्ञा प्रश्न' के इस 'शकुन शास्त्र में अपने जीवन के पथ पर शकुन के रूप में रामभक्ति को ही प्राप्त करेगा और शकुन का मनोवैज्ञानिक सहारा भी।

रामायण के सात कांडों के आधार पर रामाज्ञा प्रश्न के सात सर्गों का निर्माण हुआ है। राम के जीवन की घटनाएँ आरम्भ से ले कर अंत तक जिस तरह जीवन के प्रबन्ध के

‡ जानकीमंगल, सोहर १९७। † वही, सोहर १९८। $ वही, सोहर २१०। * वही, छन्द २१६।

रूप में 'मानस' में वर्णित हैं प्रायः उसी तरह 'रामाज्ञा प्रश्न' में भी उनके जीवन की क्रमिक घटनाओं से सम्बद्ध दोहे प्रायः ठीक क्रम से ही रखे गये हैं। पहले सर्ग में श्रवण के पिता द्वारा दशरथ को दिये गये शाप की भी चर्चा है। परन्तु एक-एक सर्ग में रामायण के एक-एक कांड की पूरी कथा का नियम 'रामाज्ञा प्रश्न' में नहीं पाला गया है। यहाँ के प्रथम तीन सर्गों में बालकांड, अयोध्याकांड, अरण्यकांड और किष्किन्धाकांड तक की कथाओं से सम्बद्ध दोहों को गोस्वामी जी ने क्रम से रखा है। तीसरे सर्ग के अंत में हनुमान् इत्यादि को संपाती से सीता का समाचार मिला है।

चौथे सर्ग में फिर बालकांड की कथा से सम्बद्ध दोहे रखे गये हैं। बालकांड से सम्बद्ध नये दोहों से इस कांड के निर्माण की गोस्वामी जी की योजना में बालकांड की घटनाओं की पुनरुक्ति का दोष नहीं देखना चाहिए। यह चौथा सर्ग सात सर्गों का मध्य सर्ग है। भारतवर्ष के प्राचीन लेखक अपने ग्रन्थ के आरम्भ, मध्य तथा अंत में मंगलाचरण किया करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी नियम का पालन करने के लिए राम के जीवन के मंगलमय चित्र प्रस्तुत करने वाले बालकांड की घटनाओं को गोस्वामी जी ने मध्य मंगलाचरण के लिए इस मध्य सर्ग में फिर से दोहरा दिया है। आदि, मध्य तथा अंत मंगल का सिद्धांत तुलसी को मान्य है, इसकी गवाही वे स्वयं देते हैं। 'तुलसी सहित सनेह नित, सुमिरहु सीताराम। सगुन सुमंगल सुभ सदा, आदि मध्य, परिणाम ‡' में यह गवाही स्पष्ट है।

'रामाज्ञा प्रश्न' शकुन शास्त्र का एक पूरा ग्रंथ तो है, पर प्रबन्ध काव्य नहीं है। इसीलिए इस सार्थक पुनरुक्ति से पुनरुक्ति का दोष भी नहीं होता। इसी तरह प्रत्येक सर्ग के भी प्रथम, चतुर्थ और सप्तम सप्तकों में गोस्वामी जी के द्वारा दिये गये आदि मध्य और अंत के मंगलाचरण के लक्षण स्पष्टतः दिखाई पड़ते हैं। सप्तम सर्ग को छोड़ शेष प्रत्येक सर्ग के सातवें सप्तक के अंतिम दोहे में उनचासवें दोहे की सूचना दे कर गोस्वामी जी ने सर्गान्त का मंगलाचरण भी किया है। सप्तम सर्ग के अंतिम सातवें सप्तक में मंगलाचरण तो है, पर अंतिम सातवें दोहे में उनचास दोहों के अंतिम, सातवें समूह की सूचना नहीं दी गयी है। हाँ, इतना प्रायः निश्चित है कि सातवें सर्ग के सप्तम सप्तक में 'मुनि गनि, दिन गनि, धातु गनि, दोहा देखि विचारि ‡' में गोस्वामी जी ने तीन सौ तैंतालिस दोहों की होने वाली समाप्ति की सूचना अवश्य दी है, क्योंकि मुनि, दिन और धातु में से प्रत्येक का अर्थ सात ही होता है और ७, ७, ७ का गुणनफल ३४३ ही होगा।

'रामाज्ञा प्रश्न' के पाँचवें सर्ग में सुन्दरकांड की घटनाओं से सम्बद्ध दोहों के बाद लंकाकांड के रावण-वध तक की घटनाओं से सम्बद्ध दोहे हैं। इस सर्ग में गोस्वामी जी ने 'बीस बाहु, दस सीस दलि, खंड-खंड तनु कीन्ह। सुभट-सिरोमनि लंकपति, पाछे पाउ न दीन्ह †' कह कर, रावण के भी विशुद्ध साहस और धैर्य को अपने निश्छल भक्तहृदय की

---

‡ रामाज्ञा प्रश्न, सर्ग ३, सप्तक ३, दोहा ७। † वही, सर्ग ७, सप्तक ७, दोहा २।
$ वही, सर्ग ५, सप्तक ७, दोहा ५।

भावना अर्पित की है। छठे सर्ग में सीता की अग्नि-परीक्षा, अयोध्या-आगमन तथा राज्याभिषेक की सूचना देने वाले दोहे हैं। सीता की अग्नि-परीक्षा की घटना वाल्मीकि रामायण से ली गयी है। मानस में गोस्वामी जी ने इस घटना को छोड़ दिया है। इसी तरह सीता का द्वितीय वनवास, वहीं लव-कुश का जन्म, उनका अयोध्या आना तथा पाताल-प्रवेश इत्यादि घटनाएँ वाल्मीकि रामायण के आधार पर 'रामाज्ञा प्रश्न' में हैं। मानस में इनका वर्णन नहीं है। मंगलान्त काव्य लिखने के कारण गोस्वामी जी ने यह सब क्रम छोड़ कर केवल लवकुश के जन्म की सूचना मात्र दी है, और वह भी घटनाक्रम में नहीं। 'दुइ सुत सुन्दर सीता जाये, लवकुस वेद पुरानन्हि गाये ‡' कह कर छोड़ दिया।

सातवें सर्ग में भी राम राज्य का ही वर्णन है। इसी सर्ग में दिनों का शकुनों के साथ सम्बन्ध बताया गया है। ग्रहों की स्थिति के अनुसार विश्व की दशा का भी वर्णन किया गया है। (१) सुधा (२) साधु (३) सुरतरु (४) सुमन (५) सुफल (६) सुहावनी बात और (७) 'सीतापति-भगति' को इस सर्ग में गोस्वामी जी ने सात सुमंगलों में गिना कर रामभक्ति को ही श्रेष्ठता दी है†। इसी सर्ग में कौसल्या कल्याणमयी तथा सुमित्रा शुभप्रदा मानी गयी हैं। दशरथ को गोस्वामी जी ने कल्पतरु की तरह तथा कैकेयी को सब अपशकुनों का मूल माना है।

शकुनशास्त्र होते हुए भी 'रामाज्ञा प्रश्न' मुख्यतः शक्ति, शील और सौन्दर्य की समाहित भावना से अभिव्यक्त भक्ति ग्रंथ ही है, इस बात की ओर पहले इंगित किया गया है, पर इस सम्बन्ध में तुलसी की स्पष्ट स्वीकारोक्ति भी है। 'राम-भगति-हित सगुन सुभ, सुमिरत तुलसीदास $' से और अधिक स्पष्ट उक्ति और कैसे हो सकती है? रामचरित के आधार पर लोगों में भक्ति के विमल विचार उत्पन्न करने के लिए ही गोस्वामी जी ने इस शकुन शास्त्र की रचना की थी—'सुभग सगुन उनचास रस, राम चरितमय चारु। राम-भगत हित सफल सब, तुलसी विमल विचारु' के द्वारा उपर्युक्त कथन की सिद्धि हो जाती है *। 'रूप, शील, बय, बंस गुन सम बिबाह भये चारि §।' में शील और सौन्दर्य की ओर ध्यान स्पष्ट ही है। 'उदित भानुकुल भानु लखि, लुके उलूक नरेस ×।' तथा 'राम स्याम बारिद सघन, बसन सुदामिनि माल। बरसत सर हरपत बिबुध, दला दुकालु दयाल +।' इत्यादि में शक्ति की उपासना संगृहीत की गयी है। इस तरह ३४३ दोहों के इस पूरे शकुन शास्त्र में हमें शक्ति, शील और सौन्दर्य की उपासना के आधार पर टिकी हुई तुलसी की रामभक्ति के दर्शन सर्वत्र होते हैं। इन दोहों में से ३०० से भी अधिक भक्ति से साक्षात् सम्बद्ध होंगे और शेष परोक्ष रूप से। इनमें से एक भी दोहा ऐसा न होगा जो भक्ति से लगाव न रखता हो।

---

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा २५ के पहले। † रामाज्ञा प्रश्न, सर्ग ७, सप्तक ३, दोहा २। $ वही, सर्ग ५, सप्तक ४, दोहा ७। * वही, सर्ग ३, सप्तक ७, दोहा ७। § वही, सर्ग १, सप्तक ७, दोहा ५। × वही, सर्ग १, सप्तक ५, दोहा ५। + वही, सर्ग ५, सप्तक ७, दोहा ३।

सातवें सर्ग के सातवें सप्तक में शकुन विचारने की पद्धति पर अपना मत देते हुए गोस्वामी जी ने ग्रंथ की पूजा करके प्रभात में विचार करने का आदेश दिया है। विचार करने के पहले गुरु, गणेश, हर, गौरी, सीता, राम, लक्ष्मण, हनुमान, भरत तथा शत्रुघ्न का भी ध्यान करने को कहा है। इस तरह इस शकुन विचार का आरम्भ ही भक्ति से होता है। इस सप्तक और ग्रंथ का अंतिम दोहा भी तुलसी की भक्ति-पद्धति का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करके उपसंहार करता है। राम के भक्त के हृदय पर यह दोहा एक अद्‌भुत हार पहनाता है। यह हार विश्वास की सूत्र में सगुण ब्रह्म के शक्ति, शील और सौन्दर्य की विचित्र मणियों से बन कर भक्त के हृदय पर विमल विचार के साथ सुशोभित होता है। इस तरह यह सम्पूर्ण ग्रंथ विमल विचार का एक कोष कहा जाए तो अनुचित न होगा।

ग्रंथ के प्रारम्भ के दो ऊपर से जोड़े गये दोहे प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए एक अद्‌भुत उपाय बताते हैं। विचार करने की सब विधियाँ पूरी करके एक सौ आठ कमल के बीज ले लें। इन बीजों को एक-एक मुट्‌ठी उठा कर तीन जगह रखें। पहली मुट्‌ठी के बीज गिन कर सात से भाग दें। जो शेष बचे वह सर्ग होगा। दूसरी और तीसरी मुट्‌ठी के बीजों की संख्या में इसी पद्धति से सप्तक और दोहे की संख्या भी निकल आएगी। वह दोहा ही प्रश्न का उत्तर बताएगा। अतः भक्तिशास्त्र के आधार पर एक सात्त्विक प्रश्न शास्त्र की रचना कर गोस्वामी जी ने ज्योतिष को भक्ति के साँचे में ढाल दिया है।

गोस्वामी जी की 'दोहावली' में पाँच सौ तिहत्तर छन्द हैं। इनमें से पाँच सौ पचास दोहे और तेईस सोरठे हैं। यहाँ भी गोस्वामी जी की उसी भक्ति-पद्धति का दर्शन होता है, जिसमें सगुण-निर्गुण ब्रह्म के भीतर शक्ति, शील और सौन्दर्य की समाहित झाँकी प्रस्तुत की जाती है। इसमें विश्वव्यापी धर्म, नीति और मानव समाज की सबलताओं और दुर्बलताओं पर व्यापक प्रकाश डाला गया है। इस ग्रंथ का चातक प्रकरण अनन्य प्रेमभक्ति के अनुपम भावचित्र प्रस्तुत करता है। तुलसी के अन्य ग्रंथों के दोहे भी इसी संख्या के भीतर संगृहीत हैं।

तुलसी की 'कवितावली' कवित्त, सवैया, मनहरण, मत्तगयंद, झूलना, छप्पय और घनाक्षरी छन्दों में तथा शुद्ध ब्रजभाषा में लिखी गयी है। रामायण के कांडों के क्रम से इसमें भी सात कांड हैं। बालकांड में बाईस, अयोध्या में अट्‌ठाईस, अरण्य में केवल एक सवैया, किष्किधा में भी केवल एक ही कवित्त, सुन्दर में बत्तीस कवित्त, लंकाकांड में सब मिला कर अट्‌ठावन छन्द तथा उत्तरकांड में सब प्रकार के छन्दों की सम्मिलित संख्या एक सौ तिहत्तर है। इस ग्रंथ के अंत में चौआलीस छन्दों का 'हनुमान् बाहुक' परिशिष्ट की की तरह जोड़ा गया है। यह ग्रंथ प्रबन्धात्मक न हो कर स्फुट प्रकृति का है। कांडों से सम्बद्ध कथाओं के स्वतन्त्र छन्द संगृहीत किये गये से प्रतीत होते हैं। उत्तरकांड की काशी की महामारी वाली घटना रामायण की कथा से बिलकुल सम्बद्ध नहीं है। 'हनुमान बाहुक' में तो गोस्वामी जी ने अपनी बाहु-पीडा दूर करने के लिए हनुमान की प्रार्थना की है। पर इन घटनाओं में भी महामारी और बाहु-पीडा केवल उपासना के लिए बहाना मात्र हैं।

भक्ति ही इनमें मुख्य है। 'रामनाम जप जाग कियो चाहौं सानुराग ‡' ही गोस्वामी जी का मुख्य लक्ष्य है। पीडा उस मार्ग में बाधक हो कर आयी है और उसे दूर करने के लिए भी उसी रामनाम के 'जपजाग' का सहारा 'हनुमान् बाहुक' में उन्होंने लिया है। पूरी कवितावली में शक्ति, शील और सौन्दर्य के आधार पर विकसित होने वाली तुलसी की उसी भक्ति का दर्शन होता है, जिसको अपना उच्चतम विकास रामचरित मानस में प्राप्त होता है। अपनी 'कवितावली' में भी गोस्वामी जी ने 'साहेब न राम से, बलैया लेउं सील की †' कह कर राम के उसी विश्वमंगल विधायक शील की उपासना की है।

व्रजभाषा के माधुर्य को अपना माध्यम बना कर तुलसी की भक्तिभावना की नदी 'गीतावली' के रूप में प्रवाहित हुई है। राम के जीवन के सम्पूर्ण मधुर खंडों की झाँकियों से जो अमृतमय रसास्वाद गोस्वामी जी ने किया है, उसी की अभिव्यक्ति का परिणाम 'गीतावली' है। तुलसी के हृदय में, मर्यादा पुरुषोत्तम के जीवन की व्यापक सौन्दर्य भावना ने जब बंधन तोड़ दिया है, तभी वह इन गीतों के रूप में प्रवाहित हो उठी है। तुलसी की भक्ति की सरिता बालक राम के रूप-माधुर्य से प्रवाहित हो कर राजाराम के चरणों में विलीन हो गयी है। राम-जन्म से आरम्भ करके राज्याभिषेक तक की मधुर घटनाओं को रामायण की पद्धति पर सात कांडों में विभक्त करके गोस्वामी जी ने उन्हें क्रम से सजा कर गीतावली के रूप में गुंफित कर लिया है। राज्याभिषेक के बाद रामराज्य के सुखों का गोस्वामी जी ने ऐसा वैभवमय और मधुसिक्त वर्णन किया है कि उसे देख कर स्वर्ग के देवता भी थकित हो जाते हैं और अपने हृदय की भक्ति राम के चरणों में अर्पित कर देते हैं। जीवन के प्रयत्न पक्ष के बाद के भोग पक्ष का संक्षिप्त पर बड़ा मधुमय वर्णन गोस्वामी जी ने किया है। 'गीतावली' का कोई गीत राम के जीवन से अलग नहीं है। सम्पूर्ण गीतावली का एक-एक गीत गोस्वामी जी ने राम के चरणों में ही अर्पित किया है। प्रजा के रुख के अनुसार चलने वाले आदर्श राजा, राम के जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना सीता-परित्याग है। इस घटना का वर्णन भी गोस्वामी जी ने बड़े पवित्र गौरव के आलोक में किया। अपनी आयु पूरी हो जाने पर भी राम ने पिता की अवशिष्ट आयु को ले कर संसार के सम्मुख अधिक से अधिक आदर्शों को प्रस्तुत किया था। उनके वियोग के कारण दशरथ ने समय से पहले ही शरीर त्याग दिया था। इसी अवशिष्ट आयु का उपयोग, राम ने आदर्शों के प्रचार में किया। पिता की आयु को भोगते हुए पत्नी को साथ रखना मर्यादा के विरुद्ध था। इस रहस्य को जानकी को छोड़ और कोई नहीं जानता था—"जान कोउ न जानकी बिनु अगम अलख लखाउ $।" सीता प्रत्येक कार्य राम के मन के अनुकूल ही करती थीं, राम का भी यही स्वभाव था—"राम जोगवत सीय-मनु प्रिय मनहि प्रान प्रियाउ *"; इसीलिए बड़े रहस्यमय ढंग से अपने निर्वासन में वे स्वयं सम्मिलित हो गयीं। ऐसा करके राम और सीता दोनों ने अपने जीवन की पवित्रता का

‡ हनुमान् बाहुक, कवित्त ३९। † कवितावली, लंकाकांड, कवित्त ५२। $ गीतावली, उत्तरकांड, गीत २५। * वही, उत्तरकांड, गीत २५।

रहस्यमय ढंग से पालन किया तथा प्रजा की पवित्र भावना की पूर्ति के लिए अपने सुखों की बलि दे देने का आदर्श भी प्रत्यक्ष ढंग से राजाओं के सामने रखा। वाल्मीकि के आश्रम में लवकुश के जन्म तथा उनकी बालक्रीडा से सम्बद्ध तीन ही गीत हैं, पर वे तीनों बेजोड़ हैं। गीतावली के अंतिम गीत में गोस्वामी जी ने उपसंहार में बालकांड से ले कर केवल राज्याभिषेक तक की घटनाओं का बड़ा सुन्दर और सारग्राही संक्षेप बाईस पंक्तियों में दिया है। अंत की इन दो पंक्तियों में 'बेद पुरान बिचारि लगन सुभ महाराज अभिषेक कियो। तुलसिदास जिय जानि सुअवसर भगतिदान तब माँगि लियो ‡।' गोस्वामी जी ने अपने हृदय में सिंहासनासीन राजा राम का दर्शन करके उनसे भक्ति का वरदान माँग लिया है।

'गीतावली' के बालकांड में एक सौ आठ, अयोध्या में नवासी, अरण्य में सत्रह, किष्किन्धा में दो, सुन्दर में इक्यावन, लंका में तेईस तथा उत्तर में अड़तीस गीत हैं। इस तरह कुल मिला कर तीन सौ अट्ठाईस गीत हैं। इन गीतों में गोस्वामी जी ने आसावरी, जैतश्री, बिलावल, केदारा, सोरठ, धनाश्री, कान्हरा, कल्याण, ललित, बिभास, नट, टोड़ी, सारंग, सूही, मलार, गौरी, मारू, भैरव, चंचरी, वसंत तथा रामकली राग का उपयोग किया है।

पूरी 'गीतावली' भक्ति की एक दूसरी गंगा की तरह बह रही है। प्रारम्भ से ले कर अंत तक उसमें सौन्दर्य और पवित्रता की कमी कहीं नहीं दिखाई पड़ती। शक्ति, शील और सौन्दर्य की उसी उपासना में कवि का मन इस पूरे ग्रंथ में समाधिस्थ-सा हो गया है। 'भरत, राम, रिपुदवन, लषन के बाल-चरित-सरित' में स्नान करके तुलसी इतने आत्म-विभोर हो गये हैं कि उन्हें यही प्रतीत होने लगता है कि हम राम के साथ उन्हीं दिनों की अयोध्या में हैं—"भरत, राम, रिपुदवन, लषन के चरित-सरित अन्हवैया। तुलसी तब के से अजहुं जानिये रघुबर नगर बसैया †"

मनुष्य के हृदय का ऐसा कोई कोमल और पवित्र भाव नहीं है जिसे गोस्वामी जी न अपने राम की सेवा में न अर्पित कर दिया हो। 'गीतावली' उन सब अर्पित रत्नों का जगमगाता हुआ कोष है। गोस्वामी जी के बालक राम, युवराज राम, पथिक राम, योद्धा राम, तथा राजा राम सब अपने-अपने गुणों की परिमिति की सीमा लाँघ गये हैं। तुलसी की सीता का चित्र भी 'गीतावली' के भावसिक्त गीतों को प्राप्त करके अपनी पवित्रता और माधुर्य से मन को भक्ति-प्रवण और आनन्द विभोर कर देता है। गीतावली में 'रघुबर' के रूप से रँगा हुआ तुलसी का मन किसी दूसरे रंग को नहीं पसन्द करता। उनके 'रघुबर' का रूप ऐसा है कि उसका वर्णन 'सुक संभु और सहसफन' भी नहीं कर सकते §।

तुलसी के राजा राम का ऐश्वर्यपूर्ण राजहिंदोल, पावस ऋतु में, अयोध्या की सब प्रजा के लिए अपना झूला है। किसी के लिए रोक-टोक नहीं, वहाँ किसी के लिए कोई

‡ गीतावली, उत्तरकांड, गीत ३८। † गीतावली, बालकांड, गीत ९। § गीतावली, उत्तरकांड, गीत १६।

भेद-भाव नहीं है । अयोध्या की कोई भी स्त्री सन्तोष और आनन्द में विभोर हो कर कह सकती है, "आली री, राघौ के रुचिर हिंडोलना झूलन जैए ‡ ।" अयोध्या के 'धरमनिपुन-नीतिरत' 'चतुर नर-नारियों' के 'सहज सुभाय' और 'श्री रघुवर-पदप्रीति' को अनुभव करके 'गीतावली' के गीत गोस्वामी जी के हृदय में तरंगित हुए हैं। अपनी भावना के भीतर गोस्वामी जी ने रामराज्य में 'सबही के सुन्दर मंदिराजिर' देखे हैं, उन्हें 'राउ-रंक न लखि परैं' की अनुभूति हुई है, इन्द्र के लिए भी 'दुर्लभ भोगों' के भीतर अयोध्या के नर-नारियों को अनासक्त हो कर जीवन को परमानन्द में मग्न करते हुए उन्होंने देखा है, इसीलिए वे उन्मुक्त हृदय से, मुक्तकंठ हो कर गा उठे हैं † । अयोध्या के घर-घर में राजा राम के झूले की तरह ही राजसी ऐश्वर्य और शोभा से पूर्ण झूले पड़े हुए हैं। घर-घर में राम का यश, आनन्द बन कर फैला हुआ है $ ।

शरद ऋतु में रामराज्य की शोभा से पूर्ण अयोध्या का वर्णन दीपावली के दिन के एक ही छन्द में 'गीतावली' में किया गया है। पर इस एक ही छन्द में गोस्वामी जी ने राजा और प्रजा को 'एकरस हरषित' देख लिया है * ।

अयोध्या की अपनी प्रिय प्रजा के साथ राजा राम का फाग खेलना तुलसी ने अपने हृदय की भावना में बिलकुल प्रत्यक्ष देखा है। 'गीतावली' का गीत राम ब्रह्म के वसन्तोत्सव में परमानन्द की ऐसी वर्षा कर सका है कि उसमें नर-नारी सब अपने को भूल कर आनन्दमय हो गये हैं। राम को अनंत सौन्दर्य के आलोक से परिव्याप्त देख कर, सब लोगों का मन सौन्दर्यानुभूति के सुख में ऐसा मग्न होता है कि उसे कोई दूसरा आकर्षण अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकता। 'अंग-अंग प्रति अतुलित सुषमा बरनि न जाइ। एहि सुख मगन होइ मन फिरि नहिं अनत लोभाइ §' में गोस्वामी जी ने सौन्दर्यानुभूति की आनन्दमयी मुक्ति की अवतारणा कर ली है। इस वसन्तोत्सव के समय असंख्य कामदेवों के सौन्दर्य से अपने को सज्जित कर अवतारी ब्रह्म 'अनुज-सखाओं' × के साथ फाग खेल रहा है। उसकी इस शोभा को देख कर देवता भी अपने को धन्य मानते हैं। उस समय पृथ्वी का जीवन-ऐश्वर्य स्वर्गीय जीवन के ऐश्वर्य को अपनी ओर आकृष्ट कर उससे भी अधिक गौरवमय हो गया था, तभी तो स्वर्ग के देवता भी लालच-भरी दृष्टि से उसकी ओर देख कर मन्त्रमुग्ध हो रहे थे। 'जो सुख, जोग, जाग, जप, तप तीरथ तें दूरि। रामकृपा तें सोइ सुख अवध गलिन्ह रह्यो पूरि + ।' से गोस्वामी जी ने यही बताया है कि प्रेम के आनन्द की सिद्धि सब सिद्धियों को अतिक्रान्त करके अनंत आनन्द की ऐसी अंतिम माधुरी की सृष्टि करती है, जिसका अनुभव करके मनुष्य और सब आनन्दों को भूल जाता है। योग-यज्ञ का कोई महत्त्व उसके सम्मुख नहीं रह जाता। पर यह अंतिम माधुर्य मनुष्य को राम की कृपा से ही प्राप्त होता है। इस आनन्द में मग्न, तुलसी के साधक को राम का प्रत्यक्ष दर्शन होने लगता

---

‡ गीतावली, उत्तरकांड, गीत १८। † वही, गीत १९, पद १। $ वही, गीत १९। * वही, गीत २०। § वही, गीत २१, पंक्ति २९–३०। × वही, गीत २२। + वही, गीत २१, अंत से पंक्ति ५–६।

है। राम के वीते हुए युग को वे भूल जाते हैं। उनके हृदय की भावना वसन्तोत्सव के वाद को प्रसन्नता के वातावरण में प्रफुल्लित राम को प्रत्यक्ष देखने लगती है और गान के प्रवाह में उनका हृदय बोल उठता है—"तुलसिदास तेहि अवसर माँगी भगति अनूप। मृदु मुसुकाइ दीन्हि तव कृपादृष्टि रघुभूप ‡।" अपने आनन्द की समाधि के भीतर प्रेम की मधुमय अंतः-साधना को मानस पूजा में प्रिय का साक्षात्कार करके गोस्वामी जी ने उससे कृपादृष्टि प्राप्त कर ही ली। इस तरह के समाधिमग्न हृदय से मानस पूजा की स्थिति में गीतावली के गीतों में गोस्वामी जी ने कई वार राजा राम से भक्ति का वरदान माँग लिया है। समाधि के इसी वरदान को उन्होंने जागृत अवस्था में संसार को वाँटने के प्रयत्न किये हैं। इस तरह राम के चरित्र का मधुमय आलोक गोस्वामी जी के हृदय में पहुँच कर गीत वन गया है और उसी का परिणाम 'गीतावली' है।

गोस्वामी जी की 'विनयपत्रिका' दो सौ उन्यासी भावात्मक गेय पदों का संग्रह है। इसकी भापा व्रज है तथा इस पूर्ण संग्रह-ग्रंथ को, इसी क्रम से गीतों को संगृहीत करके गोस्वामी जी ने स्वतंत्र ग्रंथ का रूप दिया है। इसमें एक स्वतंत्र ग्रंथ की पूरी योजना है। प्रारम्भ के वासठ गीतों में एक लंवे मंगलाचरण के रूप में सव देवताओं और देवियों के साथ सीता और राम की भी प्रार्थनाएँ हैं। वाद के अवशिष्ट गीतों को गोस्वामी जी ने राम को लिखे गये पत्रों के रूप में देखा है। ये सव पत्र प्रार्थना वाहक हैं। ये तुलसी के विनय को राम के चरणों में पहुँचाने के लिए लिखे गये हैं। इस विनयपत्रिका के द्वारा गोस्वामी जी ने राम से उनकी भक्ति प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की है। गोस्वामी जी के इन पत्रों की शैली को ध्यान में रख कर देखा जाए तो पूरा ग्रंथ ही पत्र कह दिया जा सकता है। इस दृष्टि से विनय पत्रिका में सव देवताओं के लिए, रामभक्ति के पथ पर सहायक वन जाने के लिए, गोस्वामी जी ने पत्र लिखे हैं। सीता, लक्ष्मण, भरत, हनुमान इत्यादि सवके लिए पत्र हैं। सव लोगों से यही प्रार्थना की गयी है कि राम का ध्यान मेरी तरफ़ फेरने में आप सहायक वनें।

विनयपत्रिका में प्रायः वे ही राग हैं, जो कवितावली के गीतों में मिलते हैं। सम्भवतः केवल दण्डक राग ही विनयपत्रिका में अधिक है, वाकी गीतावली के और सव राग यहाँ भी प्रयुक्त हुए हैं।

भक्तिरस की एक अद्भुत धारा विनयपत्रिका में अविच्छिन्न रूप से वहती हुई दृष्टिगोचर होती है। भक्ति और भक्त के समग्र स्वभाव को गोस्वामी जी ने इस ग्रंथ में अंकित कर लिया है। सगुण और निर्गुण भक्ति के भीतर जिस अनुराग और विराग की आवश्यकता पड़ती है, उसका पूरा विवेचन भावात्मक ढंग से गोस्वामी जी ने विनयपत्रिका के गीतों में किया है। दैन्य और अनन्यता, भक्ति के दो मुख्य आधार हैं। इन दोनों का अनुपम और अक्षय कोष विनयपत्रिका में उपलब्ध होता है। भगवान् की अहैतुकी कृपा और भक्त की अहैतुकी भक्ति की वड़ी भावात्मिका और सरस सृष्टि गोस्वामी जी ने

‡ गीतावली, उत्तरकांड, गीत २१, अन्तिम दो पंक्तियाँ।

अपने २७९ पत्रों में की है। दैन्यपूर्ण शरणागति का सम्भवतः संसार के भक्ति-साहित्य में विनयपत्रिका से अधिक गौरवपूर्ण भक्ति-ग्रंथ शायद ही कोई दूसरा हो। रामनाम के अखंड विश्वास को ले कर गोस्वामी जी की भक्ति-धारा इस ग्रंथ के प्रारम्भ से ले कर अंत तक एक स्वाभाविक मौलिकता के साथ प्रवाहित हुई है। तुलसी का उपासक हृदय अपने उपास्य राम के गुणों की गिनती करते हुए कभी भी थकता-सा नहीं प्रतीत होता। राम के शील और सौन्दर्य के प्रकाश से आलोकित उनकी परम सुन्दर और कोमल विश्वमंगल-विधायिका शक्ति ने गोस्वामी जी को इतना अधिक आकृष्ट किया है और उनकी आत्मा इतनी अधिक तन्मय हुई है कि वे पुनरुक्ति की भावना के ऊपर उठ गये हैं। साधारण पाठक को विनयपत्रिका के पदों में पुनरुक्ति दोष दिखाई पड़ सकता है, पर गोस्वामी जी को इन पुनरुक्तियों में आनन्द की नयी-नयी लहरों की अनुभूति हुई है अन्यथा बेस्वाद की पुनरुक्ति का कोई अर्थ नहीं रह जाता और निरर्थक प्रयास तो कोई भक्त करता ही नहीं। जब मन निरर्थकता से ऊपर उठ जाता है, तभी तो भक्ति का विकास उसमें होने लगता है। इसीलिए गोस्वामी जी का भक्त हृदय अपने भगवान् को कभी दोष नहीं देता। वह तो बार-बार यही कहता है कि मेरा मन निरर्थक वस्तुओं में लगा हुआ है, इसीलिए परम अर्थवान् राम मुझे नहीं मिलता।

कितना निश्छल साधक तुलसी के भीतर बैठा हुआ है! उसे अपनी चिंता नहीं है। वह इसलिए दुखी नहीं है कि उसकी आत्मा दुर्बल है; उसकी सबसे बड़ी चुभने वाली समस्या यह है कि वह राम का कहलाता है। उसकी खराबी से उसका स्वामी राम अपमानित होता है, यही उसका अंदेसा है। उसकी आत्मा इसीलिए व्यथित है कि कुत्ते के दोष के कारण उसका स्वामी गाली खाता है—"बिगरे सेवक, स्वान, ज्यों साहिब सिर गारी ‡।" इसी असमंजस में तुलसी का साधक, विनयपत्रिका में, डूबा हुआ दिखाई पड़ता है कि मेरे दोषों से मेरे मालिक, राम अपमानित होंगे क्योंकि 'गुन और सील' में उन्हें कोई जीत नहीं सका है और व्यर्थ ही दास के दोष के कारण वे अपमानित होंगे †।

गोस्वामी जी यह अनुभव करते हैं कि राम के अपना लेने पर दास में दोष नहीं रह जाता—"देखे तुम्हहिं तुम्हहिं ह्वै जाई $।" इसीलिए विनयपत्रिका में वे राम से कहते हैं—"मो सम कुटिल-मौलि मनि नहिं जग, तुम सम हरि न हरन कुटिलाई *।" हरि जब किसी को अपना लेता है तब उसकी सब कुटिलता दूर हो जाती है। तुलसी के राम दीनबन्धु हैं। वे 'दीनता-दरिद्र-दाह-दोष-दुख, दारुन-दुसह-दर-दरप-हरन हैं§', उनके अपना लेने के बाद कोई दोष नहीं बाकी रह जाता।

देश और काल की अनंत सीमा के भीतर अपने राम को गोस्वामी जी ने आदर्श की स्थापना करते हुए देखा है। अनंत पापियों के पाप उनकी कृपा-दृष्टि से भस्म हो जाते हैं×।

---

‡ विनयपत्रिका, पद १५०। † वही, पद १५१। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, सोरठा १२५ के बाद। * विनयपत्रिका, पद २४२। § वही, पद २४८। × वही, पद २४८।

मर्यादा पुरुषोत्तम ने जगत् के सब सम्बन्धों का निर्वाह आदर्श की परमोच्च भूमि से किया है और उन सबका साक्षात्कार तुलसी-साहित्य के भीतर हुआ है। उन सब आदर्श भूमियों के सौन्दर्य को अपने हृदय की आनन्दात्मिका सत्ता के भीतर अनुभव करके, उन्हें विनयपत्रिका के गीतों में गोस्वामी जी ने अभिव्यक्त कर दिया है। अपने हृदय के इन सब पावन गीतों की पत्रिका को ले कर वे राजा राम की सभा में उपस्थित हुए हैं।

वे अपनी अनुभूति को राम के सम्मुख रख कर यही कहते हैं कि आपके बिना मेरा सच्चा 'हितू' कोई नहीं है। परमात्मा को छोड़ और सब कुछ नश्वर और मिथ्या है। इसीलिए पूरी सभा में वे सर्वान्तर्यामी राम को ही सर्वश्रेष्ठ मान कर कहते हैं—"विनय पत्रिका दीन की, बापु, आपु ही बांचो ‡।" अंतर्यामी को ही तुलसी की पत्रिका बाँचने का अधिकार है। हृदय की बात तो अन्तर्यामी ही जान सकता है और अपने हृदय की साधना के भीतर से तुलसी ने इन पावन पत्रों की भावसरिता को प्रवाहित किया है—"हिये हेरि तुलसी लिखी"। स्वामी के जीवन सौन्दर्य को सेवक ने अपने हृदय की आँखों से देख कर अनुराग के अक्षरों से यह पत्रिका लिखी है। इसीलिए वह चाहता है कि उस पर जनमत न लिया जाए। जनता उसका निर्णय नहीं कर सकती। उसमें वह प्रतिभा कहाँ, जो पूर्णात्मा राम में है। वह तो स्वभावतः, अनायास ही निर्णय करके तुलसी के हृदय को देख कर, उस पत्रिका पर अपनी स्वीकृति की सूचना देने वाला हस्ताक्षर कर सकता है। पंचों से यदि परामर्श करना हो, तो हस्ताक्षर के बाद भी यह कार्य हो सकता है। अन्तर्यामी के निर्णय को सीमित दृष्टि वाले कैसे टाल सकेंगे। वे उसके पक्ष में ही राय देंगे। अनंत-व्यापिनी दृष्टि वाला राम अपना निर्णय देने के पहले ही यदि सीमित दृष्टि वालों से परामर्श करता है, तो बहुत सम्भव है कि वे ठीक राय न दें और न्याय पाने में विलम्ब हो जाए। प्रेम की स्वीकृति के इस विलम्ब को गोस्वामी जी का आतुर राम-प्रेमी हृदय नहीं सह सकता, इसीलिए वह शीघ्र तथा प्रामाणिक निर्णय राम से ही चाहता है। 'हिये हेरि तुलसी लिखी, सो सुभाय सही करि, बहुरि पूंछिए पाँचो †' से गोस्वामी जी अपनी भक्ति की उपयुक्त गम्भीरता और कोमलता को अनजान में ही व्यक्त कर देते हैं। यही है प्रेम का आवेश जो अनंत के अनंत जीवन-सौन्दर्य के साक्षात्कार से गोस्वामी जी को प्राप्त हुआ है।

भक्त का यह पावन आवेश उपास्य के सम्मुख सब कुछ भूल जाता है। अपने हृदय की सम्पूर्ण आनन्दधारा से वह उसी के चरणों का अभिषेक कर देता है। राम की सभा में हनुमान्, शत्रुघ्न, भरत तथा लक्ष्मण भी हैं। पर अपने आवेश में गोस्वामी जी ने उन्हें महत्त्व नहीं दिया। राम के लिए जो भक्ति-धारा भक्त के हृदय में बहती है उसमें कोई दूसरा स्थान नहीं पा सकता। इस स्थिति में भी किनारे के लोगों के लिए भक्त के हृदय में कृतज्ञता रहती है, यदि इस आनन्दधारा तक पहुँचाने में किसी ने सहायता की है, तो भक्त कृतज्ञतापूर्ण प्रणति से उनका भी सम्मान करता है।

‡ विनयपत्रिका, पद २७७। † विनयपत्रिका, पद २७७।

इसी कृतज्ञ बुद्धि को ले कर गोस्वामी जी हनुमान्, शत्रुघ्न, भरत, तथा लक्ष्मण को भी सम्मान देते हैं। उनसे वे कहते हैं—"निज निज अवसर सुधि किये वलि जाउं, दास आस पूजि है खास, खीन की ‡" 'आप लोगों ने अपने-अपने अवसर पर मेरा ध्यान रखा है, मैं आप पर निछावर हूं। आप लोगों की सहायता से इस क्षीण, दुर्बल-दास की भी खास आशा पूरी हो जाएगी।' साधु और समीचीन लोगों के लिए तो राजसभा में सव लोग अच्छी बातें कहते ही हैं—"राज-राजदार भली सब कहैं साधु समीचीन की †।" लेकिन 'गतिविहीन' $ के 'गति, सुकृत, सुजस, स्वारथ और परमारथ' 'साहिबकृपा भए' * ही सम्भव हैं—"समय संभार सुधारिवी तुलसी मलीन की। प्रीति रीति समुझाइवी नतपाल कृपालुहिं परमिति पराधीन की §।" अपनी इस विनम्र उक्ति से कृतज्ञता प्रकट करके, भक्ति की उच्चतम अवस्था में रहते हुए भी गोस्वामी जी निरभिमान हो कर लक्ष्मण से सहायता माँगते हैं। उनसे कहते हैं कि मुझ मलिन की ग़लतियों को सुधार कर 'नतपाल', 'कृपालु' को इस पराधीन की सीमित शक्ति और प्रीति समझा दें।

भक्त के पवित्र हृदय में भावना की कितनी पावन और सुन्दर छायाएं उत्पन्न होती हैं। वह अपने हृदय के भीतर की राम-सभा में यह सब भाव-निवेदन कर रहा है। उसका भावुक हृदय प्रेम की इस समाधि में देख लेता है कि हनुमान् और भरत की रुचि देख कर लक्ष्मण, राम से कहते हैं कि इस कलियुग में भी स्वामी के नाम से प्रेम और उस पर विश्वास एक दास के हृदय में सफल हो गया है। गोस्वामी जी का भक्त हृदय अपनी भावना के भीतर यह भी देख लेता है कि राम के नतपालक और कृपालु स्वभाव को जानने वाली पूरी सभा एक साथ कह उठती है—ग़रीब के रक्षक, आपकी कृपा हो, ग़रीब को देखते ही आप उसकी बाँह पकड़ लेते हैं। इसके वाद गोस्वामी जी की कल्पना में राम की मन्द मुसकान खिल उठती है और वे उन्हें यह कहते हुए सुनते हैं कि यह सच्ची वात है। मुझे भी तुलसी की भक्ति का समाचार मिला है। इसके वाद गोस्वामी जी ने कहा है कि भगवान् राम की स्वीकृति से प्रोत्साहित हो कर जब आनन्दमग्न अनाथ तुलसी ने अपना मस्तक भक्तिविह्वल हो कर झुका लिया, तव उसकी विनय पत्रिका पर भगवान् राम ने अपना हस्ताक्षर कर दिया ×।

इस तरह गोस्वामी जी ने अपनी भक्ति की तन्मयता में भगवान् राम से अपनी विनय-पत्रिका पर हस्ताक्षर प्राप्त कर लिया। विनय के जो गीत राममय हों, उन पर राम का हस्ताक्षर तो हो ही जाता है। विनय-पत्रिका में तुलसी की भक्ति वड़ी भावप्रवण हो गयी है और शक्ति, शील तथा सौन्दर्य की जिस अनुपम तेजस्विता का दर्शन उन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम में करके उनके चरणों को प्रक्षालित करने के लिए अपनी भक्ति-सरिता इस ग्रंथ के गीतों में प्रवाहित की है, उसमें अनंत काल तक मनुष्य के हृदय को पवित्र और पावन बनाने की अपरिमित शक्ति अविछिन्न गति से प्रवाहित होती रहेगी।

---

‡ विनयपत्रिका, पद २७८। † वही, पद २७८। $ वही, पद २७८। * वही, पद २७८। § वही, पद २७८। × वही, पद २७९।

अध्याय १०

तुलसी की भक्ति-साधना : अवशेष

डा० मैक मैकनिकॉल ने अपने इंडियन थीइज़्म में तुलसी पर एक संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया है। उसके आधार पर इस अध्याय में तुलसी की भक्ति-साधना के कुछ और पक्षों पर प्रकाश डाला जाता है। डा० महोदय ने यह स्वीकार किया है कि राम को केन्द्र बना कर गोस्वामी जी ने भक्ति के सिद्धान्तों तथा ईश्वरप्रेम और ईश्वर के अनुग्रह का रहस्य घर-घर पहुँचा दिया‡। डाक्टर महोदय ने यह भी स्वीकार किया है कि भारत में सर्वास्तिवाद और एकेश्वरवाद के सम्पूर्ण संघर्ष का संक्षेप और भक्ति-सिद्धान्त की नित्यता सप्तम कांड में कागभुशुंडि और लोमश के संवाद में व्यक्त हुई है†। डा० मैकनिकॉल के मत के अनुसार चौदहवीं से ले कर सत्रहवीं शताब्दी तक व्यक्तित्वहीन निर्गुण की उपासना के प्रति अरुचि की एक धारा उत्तरी-पश्चिमी और पूर्वी भारत में बह चली थी। भारत में सबसे सच्ची भक्ति की धारा का यही युग था$। डा० मैकनिकॉल का यह मत चिन्त्य है। पुराणों में इससे भी पहले भारत में सगुण भक्ति का युग आया था जिसमें परम शक्तिवान् की नररूप में भावना और उपासना की गयी थी। डा० मैकनिकॉल यह भी मानते हैं कि इस युग में धर्म, जीवन के शील से एक हो रहा था तथा परमात्मा और उसकी उपासना का रूप आदर्श के साँचे में ढला। पर इस आदर्श को डा० मैकनिकॉल आदिम या असंस्कृत युग का मानते हैं। मौलिक अध्ययन से डा० महोदय का यह मत उचित नहीं प्रतीत होता। वर्णाश्रम धर्म की ओर इस युग में झुकाव था और उसकी उपयुक्तता पर आगे प्रकाश डाला जाएगा। डा० महोदय के अनुसार भी भक्तिमय और प्रेममय हृदय की उपासना को ज्ञान और कर्म से उच्चस्थान प्राप्त हुआ। हम भी इस बात पर उनसे सहमत हैं। फिर भी डा० मैकनिकॉल इसे जंगली स्तर का इसलिए मानते हैं कि यहाँ बहुदेववाद है। उनके अनुसार एकास्तित्व-वाद भक्ति का सांस्कृतिक और सर्वोच्च स्वरूप है। इसी ढंग के कुछ आक्षेप डा० मैकनिकॉल ने गोस्वामी जी की भक्तिसाधना पर किये हैं। उन आक्षेपों का अध्ययन एवं समाधान तुलसी की भक्तिसाधना के कुछ और पक्षों पर प्रकाश डालता है।

डा० मैकनिकॉल रामायण को सहस्ररजनी कथा, दार्शनिक ग्रंथ और भक्तिग्रंथ का मिला-जुला रूप मानते हैं—"दैट पोयम एपीयर्स, इनडीड, लाइक ए ब्लेंड ऑफ़ दि अरेबियन नाइट्स, ए फिलॉसफ़िकल ट्रैक्टेट एंड ए बुक ऑफ़ डिवोशन *"

‡ उत्तरकांड, दोहा २० से ५१ तक। † उत्तरकांड, दोहा ११० से ले कर ११३ के बाद तक। $ इंडियन थीइज़्म, पृष्ठ ११६। * वही, पृष्ठ ११७।

उन्होंने कहा है कि यद्यपि रामायण ने सब देवताओं और अर्धदेवताओं को राम के अंश की तरह मान कर उन्हें राम से निम्न श्रेणी का माना है तथापि इन पर विश्वास रखने के कारण ही उसे एकास्तित्ववादी उच्च प्रकार का भक्ति-सम्प्रदाय नहीं मान सकते—"वी कैनॉट, फ़ॉर एक्ज़ाम्पल, कॉल दैट मोनोथीइज़्म व्हिच स्टिल फ्रीली एक्नॉलेजेज़ ए होस्ट ऑफ़ गॉड्स एंड डेमी-गॉडस्, दो दीज़ आर प्लेस्ड अपॉन ए लोअर लेवेल दैन दि सुप्रीम लॉर्ड, 'दि अनअटरेबल', ऑफ़ हूम दे आर पार्ट्स ‡।"

सहस्रजनी कथा की कपोलकल्पित घटना-वैचित्र्य-पूर्ण कहानियों की श्रेणी में रामायण को ला देना डा० मैकनिकॉल के समान प्रतिभाशाली विद्वान के लिए सम्मान की बात नहीं है। वेद, उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र की समग्र परंपरा में पुनर्जन्म का सिद्धान्त भारत के ऋषियों ने स्वीकार किया है और आज तक के, वैदिक धारा के चिन्तनशील मनीषी उसे सत्य मानते हैं। राजा सत्यकेतु के पुत्र प्रतापभानु और अरिमर्दन के जीवन की उन विचित्र तथा दुःखद घटनाओं का वर्णन, जिनके कारण वे राक्षस शरीर में रावण और कुंभकर्ण के रूप में पैदा होने को बाध्य हुए, देख कर, सम्भवतः डा० मैकनिकॉल को सहस्रजनी कथाओं की याद आयी हो। पर जिस दार्शनिक गम्भीरता से तुलसीदास जी ने इस घटना की चर्चा की है और उसमें नियति और मानव स्वभाव के चित्र को प्रस्तुत किया है उसे देखते हुए रामायण के लिए ऐसा भद्दा उपमान चुन कर अपनी स्वाभाविक गम्भीरता को डा० मैकनिकॉल ने विकृत कर लिया है। उन्होंने कहा है: "बट दीज़ कैरेक्टरिस्टिक्स्, सो ट्रूली दोज़ ऑफ़ ए जेनुइन थीइस्टिक रिलीजन, व्हाइल वी रेकग्नाइज़ देम एज़ प्रेज़ेन्ट इन पोटेन्सी एंड प्रॉमिज़, बेयर स्टिल मिंगल्ड विद मच दैट गिव्ज़ दि रिलीजन ऐज़ वी स्टडी इट ईवन इन दि 'लेक ऑफ़ रामाज़ डीड्स', ए स्ट्रेंज एंड सेवेज कैरेक्टर †।"—'पर तुलसी की भक्ति-साधना के ये स्वभाव, जो एक सच्चे आस्तिक धर्म के होते हैं, और जिनकी उपस्थिति उनकी शक्ति और सम्भावनाओं के साथ हम तुलसी-साहित्य में स्वीकार करते हैं, तिस पर भी जब हम उनका अध्ययन रामचरित मानस में भी करते हैं तब वे बहुत कुछ ऐसी बातों से मिश्रित दिखाई पड़ते हैं जिनके कारण उन्हें एक विचित्र और बर्बर स्वभाव प्राप्त हो जाता है।' डा० मैकनिकॉल ने कहा है—"इट गेव ए फ़ॉर हायर प्लेस दैन डिड दि स्पेकुलेशन ऑफ़ दि फ़िलॉसफ़र्स टु मॉरल क्वालिटीज़ बोथ इन दि गॉड्स एंड इन देयर वरशिप, दो इट्स मॉरैलिटी इज़ स्टिल दि क्रूड मॉरैलिटी ऑफ़ ए बारबैरिक एज. ऐनदर कैरेक्टरिस्टिक्स ऑफ़ इट इज़ दैट इट ब्रॉट ए मेसेज़ ऑफ़ ए गॉड ऑफ़ ग्रेस. इट ऑल्सो सॉट टु प्लेस ऐबव ज्ञान एंड कर्म, दि वरशिप ऑफ़ दि डिवाउट एंड लविंग हार्ट $."—'दार्शनिक चिन्तन ने नैतिक गुणों को जितना गौरवपूर्ण स्थान दिया उससे कहीं अधिक ऊंचा स्थान उन्हें तुलसी की भक्ति-साधना में मिला। यह गौरव देवताओं और उनकी उपासना, दोनों के भीतर तुलसी ने उत्पन्न किया है। इतना होने पर भी तुलसी की भक्ति-साधना की नैतिकता बर्बरतापूर्ण युग की भोंडी नैतिकता है।

‡ इंडियन थीइज़्म, पृष्ठ ११७। † वही, पंक्ति १५। $ वही, पृष्ठ- ११७, पंक्ति ७।

तुलसी की भक्ति-साधना का एक दूसरा स्वभाव यह भी है कि उसने कृपामय परमात्मा का सन्देश दुनिया को दिया। उसने पवित्र और स्नेहमय हृदय की उपासना को ज्ञान और कर्म से ऊँचा स्थान देने का भी प्रयत्न किया।'

राजा भानुप्रताप की कथा की सांस्कृतिक ऊँचाई की सहस्रजनी की विस्मयपूर्ण कथाओं से कोई तुलना नहीं की जा सकती। राजा भानुप्रताप को गोस्वामी जी ने जीवन के बड़े ऊँचे आदर्श पर गीता के अनासक्तियोग से अनुप्राणित करके चित्रित किया है। इतने ऊँचे शील में भी लोभ के पैदा हो जाने की सम्भावना होती है और लोभ ही जीवन के विनाश का कारण होता है। मानव-जीवन के इसी दर्शन को साकार करने के लिए गोस्वामी जी ने रावण और कुंभकर्ण इत्यादि के पूर्वजन्म की चर्चा की है और उसी से सम्बद्ध रामजन्म के प्रयोजन को समझाया है।

इतने उदार लक्ष्य को ले कर जो आख्यान रामायण में सम्मिलित कर लिया गया है उसमें विचित्रता रहते हुए भी सहस्रजनी का नाम उसके साथ लेना उसका अपमान करना है। कभी-कभी जीवन कल्पना से भी अधिक विचित्र होता है और इस बात को सब चिन्तनशील विद्वान् मानते हैं। केवल जीवन की विचित्रता को देख कर कोरी कल्पना की कहानियों से रामायण की तुलना डा० मैकनिकॉल को नहीं करनी चाहिए थी। उनके साथ हम इस बात पर बिलकुल सहमत हैं कि रामायण भक्ति और दर्शन दोनों से पूर्ण है। इन दोनों का समन्वय यहाँ अवश्य हुआ है।

डा० मैकनिकॉल ने तुलसी की भक्ति को निम्न स्तर का अनुभव किया है। उनकी यह धारणा भी भ्रान्त है। डा० मैकनिकॉल ने तुलसी की भक्ति को जिन कारणों से निम्न स्तर पर लाकर आदिम वर्बर जीवन के तत्त्वों से युक्त पाया है, हम उनसे भी सहमत नहीं हैं। यह तो प्रत्यक्ष बात है कि मनुष्य चाहे वर्बर युग में रहे या सभ्य युग में, अपने प्रतिदिन के साधारण जीवन में वह भेद को ही ले कर चलने को बाध्य रहता है। अभेद उसका आदर्श होता है और भेद उसका यथार्थ। एकत्व उसका लक्ष्य होता है, द्वैत उसका व्यावहारिक क्षेत्र। इस व्यावहारिक क्षेत्र के संघर्षपूर्ण भेद को वह आध्यात्मिक क्षेत्र के शान्तिमय अभेद में विसर्जित कर देना चाहता है। तुलसीदास जी ने भी यही किया है। लोक के भीतर, लोकानुभूति में जमी हुई वासनाओं और संज्ञाओं को वे राममय बना देना चाहते थे और उन्होंने किया भी यही। जिस भेद को जगत् देखता है उसे सहानुभूतिपूर्ण हृदय से देख कर उन्होंने उसमें राम का दर्शन किया।

देवताओं, दैत्यों, मनुष्यों, पक्षियों, प्रेतों, पितरों, गंधर्वों, किन्नरों और निशाचरों में राम को देखते हुए तुलसी ने उन्हें प्रणाम किया है। यदि हम यह स्वीकार भी कर लें कि केवल वर्बर युग ही इस तरह के देवताओं और दैत्यों की कल्पना करता है तब भी तो तुलसी की भक्ति-पद्धति में वर्बर तत्त्व नहीं बाक़ी रह जाते, क्योंकि वे तो वर्बरों की अनुभूति में राम की अनुभूति कर लेते हैं। इस प्रकार उनकी अनुभूति एकास्तित्व-प्रधान उच्च कोटि की

भक्ति के स्तर पर ही आ कर रुकती है। मनुष्यों के जंगली युग को उन्होंने परमोच्च सम्यता का युग बना लिया है। लेकिन हम तो यह मानते हैं कि हमारी चेतना विगत सम्यता की जिन भावनाओं को जंगली कह कर स्वीकार करती है, वे सबकी सब जंगली भावनाएँ नहीं हैं। यदि ये सब जंगली भावनाएँ होतीं तो व्यास, वाल्मीकि और वेद के मेधावी ऋषि इन्हें स्वीकार न करते। गीता इनका नाम विश्वास के साथ न लेती।

तुलसी की भक्ति में जीवन की स्वाभाविकता आदर्श के परमोच्च शिखर पर स्थापित है। भारत का गौरव यही है कि जीवन के सत्य पर सम्यता की दुहाई दे कर उसने पर्दा नहीं डाला है, पर जो भेददर्शन मनुष्य को संघर्ष की ओर ले जाता है उसे अभेद की ओर मोड़ कर शान्ति के आनन्दमय लोक की ओर मानवता को ले जाने का प्रयत्न उसने बराबर किया है और दुनिया के सब महात्माओं ने यही किया है—चाहे वे ईशू रहे हों या मुहम्मद, राम रहे हों या कृष्ण, महावीर रहे हों या बुद्ध।

परमात्मा का अनुग्रह अवतार का कारण होता है। डा० मैकनिकॉल ने तुलसी के विषय में अपना मत देते हुए यह कहा है कि तुलसी ने यह बार-बार दुहराया है कि राम का अवतार भक्तों के उद्धार के लिए अनुग्रहपूर्ण स्वीकृति का परिणाम है‡। इसे डा० मैकनिकॉल भक्ति की भावना के लिए आवश्यक भी मानते हैं। यहाँ पर किसी का विरोध नहीं हो सकता। ईसाई और हिन्दू दोनों तरह की भक्ति-साधना में यह बात प्रायः इसी प्रकार स्वीकार कर ली गयी है।

डा० मैकनिकॉल तुलसी की भक्ति पर ग्रामीणता और असभ्यता का अभियोग लगाते हैं। वे कहते हैं कि तुलसी के भगवान् का अवतार कुछ ऐसे कारणों से भी होता है जो कम आदर्शपूर्ण तथा ग्रामीणता का परिचय देते हैं. तब हमें उनसे सहमत होने के लिए कोई आधार उचित नहीं दिखाई पड़ता। तुलसी के राम के अवतार का एक कारण मनुष्यों के हृदय में, तथा मूर्ति के रूप में बाहर भी, देवताओं की स्थापना करना है। अनेक देवताओं की कल्पना करना, डा० मैकनिकॉल के अनुसार असभ्यता और ग्रामीणता का लक्षण है ही। इसी सम्बन्ध में डा० मैकनिकॉल ने रामेश्वर की स्थापना की चर्चा की है†।

हम डा० मैकनिकॉल के इस मत से भी सहमत नहीं हैं। भारतीय धर्मक्षेत्र में ईश्वर-चिन्तन की धारा इस बात पर विश्वास करती है कि जिस प्रकार अदृश्य आत्मा कारणवश दृश्य शरीर में रहती है, ठीक उसी प्रकार अलक्ष्य परमात्मा भी अलग-अलग कार्यों के लिए ब्रह्मा, विष्णु और शिव के रूपों में अपने को व्यक्त करता है तथा स्वयं भी अवतार लेता है। एक के अनेक होने का, अव्यक्त के व्यक्त होने का यही रहस्य है। असीम सीमा के भीतर इसीलिए आता है कि मनुष्य की सीमित बुद्धि अपनी शक्ति के अनुसार उसे कुछ पहचान कर उसके पूर्णरूप को देखने की दिशा में प्रगति कर

‡ इंडियन थीइज़्म, पृष्ठ ११७, नीचे से पंक्ति २ से ४ तक। † इंडियन थीइज़्म, पृष्ठ ११८, प्रथम आठ पंक्तियाँ।

सके। देवताओं और अवतारों के पीछे यही विराट् का, परमात्मा का रहस्य है। मूर्ति को माध्यम बना कर उसी अचिन्त्य के ध्यान का अभ्यास भारतीय साधक अपनी साधना की प्रथमावस्था में करता है और उस असीम का अनुभव कर लेंने के बाद भी बहुत से साधक मूर्ति-पूजा इसीलिए करते हैं कि प्रारम्भिक अवस्था में रहने वाले साधकों को अपने ठीक कर्त्तव्य के प्रति भ्रम न हो जाए। पर अंत में ब्रह्मा, विष्णु और शिव के इन रूपों के पीछे छिपी हुई अद्वैतशक्ति की ओर इशारा कर दिया जाता है। तुलसीदास जी ने भी विष्णु और शिव में यही समन्वय राम के द्वारा कराया।

इतनी विराट् योजना के पीछे डा० मैकनिकॉल को ग्रामीणता, असभ्यता, विचारहीनता या उथलापन नहीं दिखाई पड़ना चाहिए था, जबकि इसी के बाद तुरन्त वे स्वीकार करते हैं कि सीता, राम के साथ, आदिशक्ति, सौन्दर्य की खान और जगदम्बा की तरह दिखायी गयी हैं‡। एक विराट् लक्ष्य को ले कर कोई भी विचारक या भावना का साधक अशक्ति के उथलेपन का प्रदर्शन नहीं करता। जब भेदग्रस्त हो कर एक ही विराट् के अलग-अलग विष्णु और शिवरूप के विकास में भेददर्शन करके वैष्णव और शैव सम्प्रदाय को मानने वाले अंधे मनुष्य आपस में एक दूसरे के रक्त के प्यासे बन रहे थे उसी युग में गोस्वामी तुलसीदास जी ने इन दोनों की प्राचीन-एकता की ओर, अपने रामचरितमानस के प्रायः प्रत्येक कांड की सहायता से लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। एकत्व का जो प्राचीन दार्शनिक या प्राचीन भक्ति-प्रवाह लोगों के भीतर सूख गया था उसे तुलसी ने पुनः प्रवाहित किया।

डा० मैकनिकॉल ने सर्ववाद, अद्वैतवाद तथा जातीय पक्षपात के आधार पर तुलसी की भक्ति को निम्नकोटि का माना है। इस दिशा में डा० मैकनिकॉल की लेखनी तुलसी के प्रति फिर उग्र हो गयी है। यदि थोड़ी गम्भीरता से वे विचार करते तो उन्हें कटु आलोचना की आवश्यकता न दिखाई पड़ती। उन्होंने कहा है कि सच्ची आध्यात्मिक भक्ति की ऊंचाई से तुलसीदास अपने जातीय पक्षपात के कारण गिर गये हैं। उनकी भक्ति बहुदेववाद और सर्ववाद को अस्वीकार करने में समर्थ नहीं है; इसीलिए उनके अवश्यम्भावी परिणाम सामाजिक भेदभाव को भी वे नहीं छोड़ पाये हैं। उनके राम ब्राह्मणों, गायों और देवताओं के लिए पृथ्वी पर आये हैं। गुरु को भी वे ब्राह्मण के रूप में ही स्वीकार करते हैं। उन्होंने सब तरह से हीन ब्राह्मण को सम्मान देने तथा सब विद्याओं और गुणों से युक्त शूद्र को सम्मान न देने का उपदेश दिया है†।

गीता-धर्म और तुलसी की भक्ति-पद्धति में साम्य है। इस आधार पर डा० मैकनिकॉल के इस आक्षेप का उत्तर बहुत ही स्पष्ट है। सर्ववाद और अद्वैतवाद, जिनकी जड़ से वे जातिभेद का जन्म देखते हैं, आज भी विश्व के मनीषियों द्वारा सम्मानित हो रहा है। जाति-व्यवस्था अद्वैतवाद से या सर्ववाद से नहीं निकली, मनुष्य के भिन्न-भिन्न स्वभावों के कारण ही उसकी उत्पत्ति हुई है$।

---

‡ इंडियन थीइज्म, पृष्ठ ११८, पंक्ति ९ से ११ तक। † इंडियन थीइज्म, पृष्ठ ११८ अनुच्छेद २, पंक्ति १ से १० तक। $ गीता, अध्याय १८, श्लोक ४१।

पुनर्जन्म और नियतिवाद के सिद्धान्त गणित के सिद्धान्त की तरह सत्य हैं और मनुष्य स्वयं अपने पुनर्जन्म और नियति का कारण बनता है। जो मनुष्य देश और काल के भीतर के जिन आकर्षणों से आसक्त रहता है, उसकी आत्मा उन्हीं आकर्षणों की वासनाओं से बँधी रहती है। एक शरीर के नष्ट हो जाने पर दूसरे शरीर में फिर उन्हीं स्वभावों और वासनाओं को ले कर वह संसार में आता है। भारतीय दार्शनिक यही मानते हैं कि अपने पूर्व जन्मों के कर्मों के अनुसार जीव अलग-अलग वर्णों में पैदा होते हैं और एक जन्म की अवधि तक उन्हें एक ही वर्ण में रहना पड़ता है। यदि कर्म अच्छे हुए तो शूद्र भी दूसरे जन्मों में वैश्य, क्षत्रिय या ब्राह्मण कुल में जन्म ले सकता है। यहीं तक नहीं—अपने कर्मों को, आसक्त हो कर भला या बुरा, उच्च या नीच न समझ कर, शूद्र यदि करता चला जाए तो सन्यास और वैराग्य प्राप्त हो जाने के कारण जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो सकता है‡।

यदि एक ब्राह्मण भी अपने कार्यों को उच्च समझ कर अभिमान से करता है तो उसका शील पतित हो जाता है और दूसरे जन्म में वह शूद्र कुल में जन्म ले सकता है।

गीताधर्म इसी बात का प्रचार करता है। उसके अनुसार स्वभाव के अनुसार जातियों की व्यवस्था का नियम परमात्मा के द्वारा बनाया गया है। प्रजा जिस प्रकार राजा के बनाये हुए नियमों का पालन करके पुरस्कृत और उनका उल्लंघन करके दंडित या तिरस्कृत होती है, उसी प्रकार जगत् का राजा परमेश्वर भी नियम की व्यवस्था करके सम्पूर्ण जगत् पर अधिकार रखता है। जगत् का अपने को एक अविभाज्य अंश समझ कर अपने कार्यों को विराट् की सेवा समझ कर करने वाला मनुष्य परमात्मा की निरन्तर उपासना करता रहता है। अनासक्त हो कर विश्व की सेवा की भावना से अपना काम करने वाला मनुष्य अपने कार्यों को ही उपासना बना लेता है†।

अपने सहज नियत कर्म को, दोषयुक्त रहने पर भी, मनुष्य को नहीं छोड़ना चाहिए। प्रत्येक नियत कर्म को परमात्मा का आदेश मान कर करना चाहिए। गीता के अनुसार सब कर्म ऊपर से दोषयुक्त हैं, जिस तरह आग धुएँ से घिर कर मलिन मालूम पड़ती है, उसी प्रकार वासना और आसक्ति से घिरे हुए मस्तिष्क और हृदय को कर्म सदोष प्रतीत होते हैं, मलिन अनुभव होते हैं। यदि वासना और आसक्ति से अलग हो कर मनुष्य ईश्वर की आज्ञा समझ कर अपने-अपने कर्मों को करता जाए तो वासना के धुएँ से मुक्त हो कर उन कार्यों में उपासना की उज्ज्वल ज्वाला चमकने लगेगी$। ब्राह्मण से ले कर शूद्र तक के कर्मों के साथ यही नियम लागू होता है।

गोस्वामी तुलसीदास जी भी इसी गीताधर्म का उपदेश देते हैं। कर्म और विचार का यही सन्तुलन गोस्वामी जी का भी लक्ष्य है। इसी सन्तुलन को प्राप्त करके आर्य जातियाँ निष्काम और निरहंकार भाव से विराट् की उपासना करती थीं। अनार्य मनुष्यों में ही

---

‡ गीता, अध्याय १८ श्लोक ४९। † वही, श्लोक ४६। $ वही, श्लोक ४७ से ४९ तक।

भेद और अहंकार पैदा होता है। मनुष्य को अनार्य होने से बचाने के लिए महात्मा लोग बराबर प्रयत्न करते रहे हैं। गीता में जिस प्रकार सब प्राणियों के लिए ईश्वर के हृदय में समभाव की ओर संकेत किया गया है और स्त्री, वैश्य तथा शूद्र सब भक्ति और मुक्ति के अधिकारी माने गये हैं‡, वही दृष्टिकोण तुलसी का भी है। इसी पृष्ठभूमि पर तुलसी-साहित्य का मूल्यांकन न कर सकने के कारण डा० मैकनिकॉल को गोस्वामी जी के सम्बन्ध में भ्रम रह गया है।

डा० मैकनिकॉल का तुलसी पर एक और अभियोग है। उन्होंने कहा है कि अपने आवेश के क्षणों में तुलसी कभी-कभी बहुदेववाद और सर्ववाद के ऊपर उठे हुए दिखाई देते हैं, पर वे वैसे न हो कर उन्हीं की बग़ल में खड़े हुए हैं—"दज़ इट एपियर्स दैट एलांग विथ व्हाट इज़ इन मेनी रेस्पेक्ट्स ए नोबल रेवेरेन्स फ़ॉर वन एग्ज़ाल्टेड पर्सनल सुप्रीम, हू इज़ फुल ऑफ़ लव एंड पिटी फ़ॉर हिज़ वरशिपर्स, देयर गोज़ मच दैट मार्स दि पिक्चर। दिस थीइज़्म हैज़ नॉट येट इन इट दि स्ट्रेंग्थ टु रिजेक्ट आइदर पॉलीथीइज़्म ऑर पैनथीइज़्म, ऑर दि सोशल कन्डीशन्स दैट एकम्पनी देम। ऑल इट हैज़ अटेन्ड टु, इज़ ए प्लेस बिसाइड देम व्हिच समटाइम्स, इन अवर्स ऑफ़ एक्ज़ाल्टेशन, सीम्स ए प्लेस एबव देम†।" 'इस तरह यह प्रतीत हो रहा है कि सर्वोपरिस्थित सर्वशक्तिमान् एकेश्वर जो अपने भक्तों के लिए प्रेम और करुणा से परिपूर्ण है, उसके लिए कई प्रकार से उच्च और स्वार्थरहित आदर के साथ-साथ तुलसी की भक्ति-साधना में बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जो पूरे चित्र को ही नष्ट कर देती हैं। तुलसी के इस आस्तिकवाद में इतनी शक्ति नहीं है कि यह बहुदेववाद और सर्ववाद को तथा उनके साथ रहने वाली सामाजिक अवस्थाओं को अस्वीकार कर सके। तुलसी की साधना अपने लिए केवल उनकी बगल में स्थान बना सकी है यद्यपि उनके भावावेश के समय यह साधना सर्ववाद, बहुदेववाद तथा उनके द्वारा उत्पन्न की गयी सामाजिक स्थितियों के ऊपर उठी हुई आभासित होती रहती है।'

इस अभियोग का उत्तर भी बहुत ही स्पष्ट है। भारत में बहुदेववाद और सर्ववाद दोनों अद्वैतवाद से अनुप्राणित हैं। उस प्रकाश में रहने के कारण अभेद दृष्टि से वे पवित्र हो रहे हैं। उनमें यदि दोष आया है तो मनुष्य की दुर्बलता के कारण। सिद्धान्त रूप में ऋषियों ने प्रायः बराबर अद्वैत और अभेद का ही उपदेश दिया है। मनुष्य ने जब उसका उल्लंघन किया है तभी विश्व आपत्तियों में पड़ा। भारत मूल में अद्वैतवादी है, पश्चिम मूल में द्वैतवादी। इसी कारण आज भी जिस सच्ची शान्ति का उपदेश भारत दे सक रहा है वह यूरोप और अमेरिका में खोजने से भी नहीं मिल रही है। अतएव हम तो अभेद से अनुप्राणित बहुदेववाद और सर्ववाद को संसार के कल्याण का पथ ही निर्मित करते हुए पाते हैं§। इसी पर चल कर गीताधर्म की दृष्टि से गोस्वामी जी ने जाति-व्यवस्था को भी देखा है। उनके यहाँ गुह, निषाद, कोल, शबर, किरात, पशु, पक्षी,

‡ गीता, अध्याय ९, श्लोक ३२। † इंडियन थीइज़्म, पृष्ठ ११८, अंतिम ४ पंक्तियाँ, पृष्ठ ११९, आरंभ की ४ पंक्तियाँ। § गीता, अध्याय १०।

मनुष्य, महात्मा, दुरात्मा, सती तथा वेश्या सब भक्ति के अधिकारी हो गये हैं। आशावादी भारत हर तरह के मनुष्य में परिवर्तन पर विश्वास रखता है। यह दृश्य हमें तुलसी में उनकी आवेश की अवस्था के कारण नहीं दिखाई पड़ता वरन् वह तो उनके द्वारा किये गये ईश्वरीय न्याय के नियम के साक्षात्कार के परिणाम का अनुसरण करता हुआ दिखाई पड़ता है। अपनी-अपनी जाति के लिए निर्धारित कर्म करने वालों के प्रति वाल्मीकि, तुलसी तथा राम-साहित्य के सब संतों को राम के भीतर स्नेह और कृपा दिखाई देते हैं। विराट् के द्वारा (परमात्मा के द्वारा) प्रवर्तित कर्म-चक्र का जो अनुसरण नहीं करते वे गीता के कृष्ण के द्वारा तथा राम-साहित्य के राम के द्वारा व्यर्थ जीवन बिताने वाले माने गये हैं ‡। तुलसी क्या, सब तरह के भक्तों और संतों ने जहाँ जातियों में भेद नहीं देखा है वहाँ इसी दृष्टि से सब जातियाँ अपना-अपना कर्तव्य पालन करके परमात्मा की उपासना कर रही हैं। जहाँ-जहाँ अपनी जाति के कर्म को अभिमानवश छोड़ कर लोग पथभ्रष्ट हो गये हैं वहाँ संतों ने उन्हें फटकारा है। स्वयं कबीर ने अपने को जुलाहा माना है †। रैदास चमार होते हुए भी अपना हल जोतने का कार्य करते हुए ही ज्ञानी और मुक्त हो गये। जगत् उनकी उपासना इसलिए नहीं करता कि वे बड़े भारी विद्वान् थे। उनमें गुरुता इसलिए है कि ज्ञानी होने के कारण वे इतने अनासक्त थे कि हल चलाने का अपना काम उन्होंने नहीं छोड़ा था, और ज्ञान का लक्षण भी तो गीताधर्म के अनुसार यही है $। यही पुरस्कार देने के लिए तुलसी के राम ने गुह इत्यादि शूद्रों को अपने हृदय से लगा लिया, पर ब्राह्मण रावण का वध किया; क्योंकि उसने अपना धर्म छोड़ कर जगत् को पीड़ा पहुँचाना शुरू कर दिया था। तुलसी सब वर्णों और आश्रमों को बिना भेदभाव फटकारते हैं *।

अवतार के प्रयोजन में डा० मैकनिकॉल ने तुलसी के भीतर ब्राह्मण जाति के लिए पक्षपात देखा है। उन्होंने तीसरे सोपान के तेंतीसवें दोहे के बाद की चौपाई "पूजिय बिप्र सीलगुण हीना सूद्र न गुन-गन ज्ञान प्रबीना" को उद्धृत करते हुए कहा है कि ब्राह्मणों को तुलसी ने सम्मान के उसी सिंहासन पर बिठा रखा है। वर्णों में वे भेद देखते हैं। इसीलिए भक्ति के पूर्ण आध्यात्मिक धर्म से वे नीचे गिर जाते हैं। उनके राम गो, ब्राह्मण और देवताओं के लिए ही जन्म लेते हैं—"दि ब्राह्मण इज़ नॉट येट डीपोज़्ड फ्रॉम हिज़ प्लेस ऑफ़ प्रिविलेज। इट इज़ स्पेशली फ़ॉर दि सेक ऑफ़ ब्राह्मन्स्, काउज़ एंड गॉड्स दैट राम हैज़ टेकेन ह्यूमन फ़ार्म §।"

हम नहीं समझ पाते कि डा० मैकनिकॉल को गो और ब्राह्मणों का नाम ले देने से ही उच्च भक्ति के स्थान से गिरते हुए तुलसी क्यों दिखाई पड़ते हैं। "जग निवास

‡ गीता अध्याय ३, श्लोक १६ तथा रामचरितमानस, उत्तरकांड दोहा ४४। † कबीर ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ १८१, पद २७०। $ गीता अध्याय ३, श्लोक ३ से ३५ तक। * रामचरितमानस उत्तरकांड, दोहा ९७ से १०२ तक। § इंडियन थीइज़्म, पृष्ठ ११८ पंक्ति १३ से १६ तक।

प्रभु प्रगटे अखिल-लोक-विस्राम" ‡। तुलसी ने अखिल लोक के विश्राम को अवतार का कारण माना है। 'विप्र-धेनु-सुर-संत हित लीन्ह मनुज अवतार†' में संत शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सबके लिए लागू होता है। संत जहाँ-जहाँ होंगे जिस जाति में होंगे, जिस देश में होंगे उन सबकी रक्षा के लिए अवतार होता है। यहाँ 'संत' शब्द ब्राह्मण से अलग हट कर दूसरी सब जातियों के शीलवान् लोगों को सूचित करता है और ब्राह्मणों के भीतर गिने जाने वाले असंतों को अलग कर देता है। रावण को उदाहरण की तरह हम पहले ही सूचित कर चुके हैं।

'पूजिय विप्र शीलगुन हीना...§' में तुलसी का एक निश्चित दृष्टिकोण है। उसे समझ लेने की आवश्यकता है। प्रायः सम्पूर्ण भारतीय विचारधारा इस बात को स्वीकार करती है कि अपने पूर्व जन्मों के कर्मों के अनुसार ही इस जन्म में मनुष्य को कोई एक खास कर्म करने को बाध्य होना पड़ता है। कर्म का यह बन्धन कभी तोड़ा नहीं जा सकता। यह ईश्वरीय नियम है। भारतीय दर्शनों की यह विचारधारा सम्पूर्ण विश्व पर लागू होती है। इस देश में जातियाँ जन्म से ही मानी जाती हैं। मनुष्य जिस जाति में पैदा होता है उसी जाति के कर्म करता है और यह माना जाता है कि पूर्वजन्म के कर्मों की प्रवृत्तियों के अनुसार ही उसे उस जाति में उसी तरह का कर्म करने के लिए जन्म लेना पड़ा है। जिन देशों में जाति जन्म से नहीं मानी जाती वहाँ भी नियम यही लागू होता है। लोग अलग-अलग पेशों की तरफ़ पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार ही झुकते हैं। जाति को जन्म से मानने में भारतीय दर्शन को कोई अनौचित्य नहीं दिखाई पड़ता। क्योंकि वह समझता है कि उस जाति में वही व्यक्ति उत्पन्न होगा जिसे पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार उस जाति के लिए निश्चित कर्म करने हैं। दूसरे जन्म में शूद्र ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हो सकता है यदि वह ईश्वरीय नियम का पालन करते हुए अपने कर्म को ईश्वर की आज्ञा समझ कर करता जाए, उसके प्रति राग या द्वेष पैदा करके उस कर्म को भला या बुरा, उच्च या नीच न समझे।

मन की आसक्ति के कारण ही कर्मों में अच्छाई और बुराई मालूम पड़ती है। जब व्यक्ति समझता है कि मैं शूद्र कुल में उत्पन्न हो कर एक अधम कार्य कर रहा हूँ तब वह उस कार्य से अपने मन को आसक्त कर लेता है। इसी तरह जब ब्राह्मण भी यह समझता है कि मैं उच्च कुल में पैदा हुआ हूँ और उच्च और पवित्र कर्म करने के कारण उच्च और पवित्र हूँ तब वह अपने आसन से मन की आसक्ति के कारण गिर जाता है। ब्राह्मण से ले कर शूद्र तक को भारतीय दर्शनों ने यही उपदेश दिया है कि अपने मन को वे कर्मों से न जोड़ें, परमात्मा से जोड़ें और यही समझें कि परमात्मा का एक अटल नियम ही उन्हें अलग-अलग जातियों में जन्म देता है और उसकी आज्ञा का पालन करके यदि वे विराट् का कार्य करेंगे तभी उनकी आत्मा उदार होगी और उन्हें मुक्ति प्राप्त होगी। परमात्मा के इस नियम को स्वीकार

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १९१। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १९२।
§ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ३३ के बाद।

करना ही भक्ति है। इस नियम का पालन करने वाला ही परमात्मा को प्रिय है। यदि अभिमान के कारण ब्राह्मण अपने को उच्च समझ लेता है तो वह भी शील की दृष्टि से पतित हो जाता है और अभिमान के कारण अपने कर्म को नीच समझ कर छोड़ने वाला शूद्र भी शील की दृष्टि से पतित होता है। इसलिए महात्मा कबीर जीवन भर जुलाहे का काम करते रहे और रैदास हल चलाने का। जब अभिमान छोड़ कर मनुष्य अपने को उच्च नहीं समझता तब परमात्मा की दृष्टि में वह उच्च हो जाता है। उसका शील स्वार्थ की क्षुद्रता को छोड़ कर विराट् हो जाता है। एक शूद्र भी अपने कर्म से विराट् की ही सेवा करता है। उस कर्म को त्याग कर वह अनंत की सेवा से अपने को दूर रखता है।

जन्म से नियत इसी वर्णव्यवस्था को अलग-अलग नियत कर्मों से बँधी हुई मान कर अधिकांश भारतीय दर्शन इसे अनंत का नियम मानते हैं और वे यह भी मानते हैं कि इस वर्णव्यवस्था को बदल कर अनंत के नियम का जब दुनिया उल्लंघन करती है तब उस पर आपत्ति आती है। वर्ण और उस वर्ण से बँधे हुए कर्त्तव्य जब तक एक साथ दिखाई पड़ते हैं तभी तक अनंत के नियम के अनुकूल आचरण भारतीय दर्शन मानते हैं। वर्ण, सम्मान और मुक्ति के भी अधिकारी तभी होते हैं जब वे अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करते रहते हैं। 'पूजिय विप्र शीलगुन हीना। सूद्र न गुन-गन-ज्ञान-प्रवीना' इसी दृष्टिकोण से कहा गया है‡।

इस कथन से एक घटना संबद्ध है। इन्द्र के यहाँ एक गन्धर्व ने गाना गाया। दुर्वासा उससे प्रसन्न न हुए। गंधर्व ने उन्हें अनभिज्ञ कह कर तिरस्कृत किया और उनका परिहास किया। दुर्वासा ने उसे शाप दिया। शाप के कारण वह 'कवंध' राक्षस हो गया। सीताहरण के बाद उन्हें ढूँढते हुए अपने मार्ग पर राम ने कवंध को मारा। वह फिर से गंधर्व हो गया और उसने अपनी कहानी सुनायी। उसी को शिक्षा देते हुए राम ने कहा—

सापत ताड़त परुष कहंता। विप्र पूज्य अस गावहिं संता।
पूजिय विप्र शीलगुन हीना। सूद्र न गुन-गन-ज्ञान-प्रवीना।

यहाँ किसी जाति के लिए पक्षपात नहीं किया गया है। भगवान् राम ने गन्धर्व से केवल यही बताया है कि जातियाँ अपने वर्ण के अनुसार कर्म करने पर ही सम्मान योग्य होती हैं। यदि ब्राह्मण विद्या और ज्ञान का अर्जन करके विप्र हो जाता है तब उसे क्रोधी और रूखा समझ कर या उसमें अन्य कलाओं का अभाव देख कर उसका अपमान नहीं करना चाहिए। वह तो शाप देते हुए भी, डराते-धमकाते और कड़ी बातें करते हुए भी पूज्य है; क्योंकि उसने अपनी जाति के कर्त्तव्यों के अनुसार विद्या और ज्ञान-सम्पादन कर लिया है। कला न जानने के कारण उसमें गुणशून्यता नहीं देखनी चाहिए। उसके क्रोध और रुखाई के व्यवहार में शील की कमी न समझनी चाहिए। इतना होते हुए भी अपना मुख्य कर्तव्य कर लेने के कारण वह पूज्य हो जाता है। इसी के अनुसार यदि कोई शूद्र कई कलाएँ जानता है, विद्वान् और ज्ञानी है और इसी कारण अभिमान से अपनी पूजा कराना चाहता

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ३३ के बाद।

हो, तो उसे कभी सम्मान नहीं देना चाहिए। वह तो सम्मान तभी प्राप्त कर सकता है जब अपनी जाति के अनुसार निरभिमान हो कर कर्म करता हो।

तुलसी के राम का ठीक अभिप्राय यही है। इसका प्रमाण तुरन्त इन पंक्तियों से तीन पंक्तियों के बाद ही शबरी-प्रकरण में मिल जाता है। अपनी जाति की सीमाओं के भीतर रह कर ही शबरी त्याग और तपोमय राम के आदर्श जीवन-दर्शन की साधना करती हुई उनके दर्शन के लिए रुकी हुई थी। राम को सामने पा कर नम्रता से ओत-प्रोत शब्दों में उसने कहा—"केहि विधि अस्तुति करउं तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़ मति भारी‡।" इसके उत्तर में राम ने कहा है—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउं एक भगति कर नाता।
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बलु परिजन गुन चतुराई।
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जलु बारिद देखिय जैसा†।

आदर्श विश्व-जीवन तुलसी की भक्ति का लक्ष्य है। विश्व-जीवन का आदर्श रूप ही तुलसी की भक्ति-पद्धति का मूलमंत्र है। वह आदर्श रूप रामप्रेम या विश्वप्रेम है। 'सिया राममय सब जग'§ की अनुभूति में इसकी परिणति होती है। भक्ति के इतने बड़े विराट् आयोजन को लक्ष्य बना कर चलने वाला साधक आवेश के समय भक्त और उसके समाप्त होते ही बहुदेववादी, भेदोपासक हो कर जातिभेद और उसके अभिशापों के पास ही खड़ा हुआ दिखाई दे—ऐसा हो ही नहीं सकता।

विशिष्टाद्वैती जीवन-दर्शन भेद के भीतर अभेदानुभक्ति का विश्वव्यापी जीवनदर्शन है। तुलसी साहित्य भर में विशिष्टाद्वैती जीवनदर्शन है, जो जगत् के भीतर ही ब्रह्म की साधना पर विश्वास रखता है। वह साधना भेद के भीतर अद्वैत की अनुभूति से हो जाती है। सम्पूर्ण जगत् अद्वैत ब्रह्म के भीतर ही दिखाई पड़ता है—इस साधना के भीतर। इस भक्ति को प्राप्त कर लेने के बाद भक्त व्यापक अद्वैत के भीतर ही सबको देखने लगता है। उच्च-नीच सब इस भक्ति की धारा में एक हो जाते हैं। वहाँ सब जातियों में पावनत्व की झाँकी दिखाई पड़ने लगती है, यदि उनमें संत लक्षण पैदा हो जाएँ।

सावधान मानद मद हीना। धीर भगति पथ परम प्रबीना।
गुनागार संसार-दुख-रहित बिगत संदेह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय जिन्ह कहुँ देह न गेह*।

जातिगत कर्मों की वासनाओं से ऊपर उठ जाने वाला निरभिमानी संत सब जातियों में सम्भव है। उस विराट की माया को सत्य मान कर उसके शुद्ध-पावन रूप की जीवन में आदर्श झाँकी प्राप्त करके उस आदर्श के प्रति अपने को निछावर कर देना ही तो राम के चरणकमल का प्रेम है। अनंत आदर्श की झाँकी जिनके जीवन में मिली उन्हीं राम के चरणों में निछावर हो कर तुलसी विदेह और विगेह हो गये।

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ३४ के बाद। † वही। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७ के बाद। * रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ४५।

अवतार का लक्ष्य ही जातिवैषम्य का विरोधी है :—

ग्यान गिरा गोतीत अज माया-मन-गुन-पार ‡ ।
सोइ सच्चिदानन्दघन कर नर चरित उदार ।

अनन्त ब्रह्म, माया के उदार लोकमंगलविधायक रूप को स्वीकार करके, विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के अनुसार आदर्श की स्थापना करने को अवतरित होता है । यदि तुलसी की रामभक्ति के भीतर जातिवैषम्य की गन्ध भी रह जाती तो तुलसी के राम यह कैसे कहते—

भगतिवंत अति नीचउ प्रानी । मोहि प्रान-प्रिय असि मम बानी † ।

यह एकत्व-भावना चिन्तन के आधार पर स्थापित है, आवेशजन्य नहीं । जहाँ कहीं भी भक्ति के प्रकाश में तुलसीदास जी ने इस एकत्व के दर्शन की ओर इशारा किया है वहाँ कहीं भी उनकी आवेश की अवस्था नहीं है । सर्वत्र वह इशारा चिन्तन, तर्क और आदर्श के मनन की पद्धति से ही दिया गया है । भुशुंडि से राम कहते हैं :—

मम माया संभव परिवारा । जीव चराचर विविध प्रकारा ।
सब मम प्रिय सब मम उपजाये । सब तें अधिक मनुज मोहि भाये ।
तिन्ह महँ द्विज, द्विज महँ स्रुतिधारी । तिन्ह महँ निगम धरम अनुसारी ।
तिन्हमहँ प्रिय विरक्त पुनि ज्ञानी । ज्ञानिहुँ तें अति प्रिय विज्ञानी ।
तिन्ह तें पुनि मोहि प्रिय निज दासा । जेहि गति मोरि न दूसरि आसा $ ।

यहाँ जीवन के आदर्शों की विकासोन्मुख अवस्थाओं के वैज्ञानिक चिन्तन पद्धति के अन्त में ही—भगतिवंत अति नीचउ प्रानी, मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी ।—बात कही गयी है । राम ने आवेश की अवस्था में, भावना के प्रवाह में ऐसा नहीं कहा है । वे भुशुंडि से पुनः कुछ कहेंगे और उसे सुनने के लिए उन्हें सावधान हो जाने को कहते हैं—

सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग ।
स्रुति पुरान कह नीति असि सावधान सुनु काग * ।

इसके बाद की जो पंक्तियाँ हैं, उनमें सावधानी बिलकुल स्पष्ट हो गयी है । उनमें आवेश की गंध भी नहीं है । अतः विद्वान् डा० मैकनिकॉल के इस मत को हम कभी नहीं मानते कि उदार जीवन की ऊँचाई पर दिखाई पड़ने वाली भक्ति तुलसी में नहीं है । वे आवेश के ही क्षणों में ऐसे प्रतीत भर होते हैं, पर सत्यतः वे ऐसे नहीं हैं । हमारा तो यह मत है कि उच्च भक्ति की साधना में जीवन के भीतर जो उदारता प्राप्त होती है, वह तुलसी के स्वभाव की वस्तु बन गयी है । वह तुलसी का आवेश न हो कर उनके चिन्तन के फल के रूप में जीवनदर्शन बन कर पैदा हुई है । कागभुशुंडि को सावधान करने के बाद इसी तर्कयुक्त चिन्तन-पद्धति को आधार बना कर राम फिर कहते हैं—

एक पिता के विपुल कुमारा, होहिं पृथक गुन सील अचारा ।
कोउ पंडित कोउ तापस ज्ञाता, कोउ धनवंत सूर कोउ दाता ।

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा २५ । † रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ८६ ।
$ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ८५ के बाद । * रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ८६ ।

कोउ सरबग्य धरमरत कोई, सब पर पितहि प्रीति सम होई।
कोउ पितु भगत वचन मन करमा, सपनेहु जान न दूसर धरमा।
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना, जद्यपि सो सब भाँति अयाना।
एहि विधि जीव चराचर जेते, त्रिजग देव नर असुर समेते।
अखिल विस्व यह मम उपजाया, सब पर मोहि बराबरि दाया।
तिन्ह मह जो परिहरि मद माया, भजइ मोहि मन बच अरु काया।

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्व भाव भजि कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ।

सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।
अस विचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब ‡।

अनन्य भक्ति वाले पुत्र को पिता अपने प्राण के समान मानता है। इस तथ्य तक पहुँचने के लिए तर्कयुक्त चिन्तन की पद्धति ही तुलसी के राम ने अपनायी है। यहाँ आवेश का दर्शन ही नहीं होता और न भेद-वाद का। 'अखिल विस्व यह मम उपजाया। सब पर मोहि बराबरि दाया †' में जातिभेद कहाँ बच गया। यही तो हृदय और मस्तिष्क की पूर्ण विकसित अवस्था में प्राप्त तुलसी की भक्ति-पद्धति है। इसे केवल आवेश के समय प्रातिभासिक रूप में प्राप्त होने वाली कह कर विद्वान् डाक्टर महोदय ने तुलसी के साथ न्याय नहीं किया है।

दुनिया के धर्म के इतिहास में मनुष्य के शील के विकास के लिए जितने महान् प्रयास हुए हैं उनमें उच्चतम प्रयासों की श्रेणी में गोस्वामी जी की शील-विकास की योजना रखी जा सकती है। "तिन्ह मह जो परिहरि मद माया। भजइ मोहि मन बच अरु काया $।" आवेश के समय की प्रातिभासिक भक्ति नहीं है। जीवन के पके हुए चिन्तन के भीतर से हृदय को शील की पवित्रता का जो प्रकाश मिलता है वही राम का भजन है। मर्यादापुरुषोत्तम का भजन तभी पूरा होता है जब अभिमान और मोह को छोड़ कर साधक स्वार्थ की संकीर्ण सीमा को लाँघ जाता है। इस अवस्था को प्राप्त हुए साधक के मन, वाणी और शरीर अपने को विश्व से अभेद सम्बन्ध से सम्बद्ध कर लेते हैं। उसकी इच्छाएँ विश्व की इच्छाओं के साथ एक स्वर में बजती रहती हैं। उसकी वाणी विश्व की वाणी बन जाती है और उसका शरीर उन्हीं कर्मों की ओर झुकता है जिससे विराट् की सेवा होती है। ये सब साधनाएँ झूठे आवेश में नहीं, हृदय और मस्तिष्क के परमोच्च समाहित सन्तुलन में ही हो सकती हैं। जीवन की यह ऊँचाई, चिन्तन और भावना के आदर्श सन्तुलन में प्राप्त होती है। इसे आवेश नहीं कहा जाता। तुलसी साहित्य के भीतर जीवन की इस ऊँचाई की तरफ़ विद्वान् डा० महोदय की दृष्टि ही नहीं गयी, नहीं तो वे तुलसी की भक्ति-साधना की ऊँचाई को प्रातिभासिक और आवेशजन्य न मानते।

कपटरहित हो कर सर्वभाव से अनंत विश्व की सेवा ही तुलसी के अनुसार परमोच्च शील है। कपट छोड़ कर सर्वभाव से भजने वाला ही राम को प्रिय होता है। तुलसी के

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ८६ के बाद से सोरठा ८७ तक। † वही। $ वही।

राम अनंत हैं। उन्हें भजने वाला अनंत का ही भजन करता है। सर्वभाव से अनंत को कपटरहित हो कर भजना शील की परमोच्च साधना है। हृदय के सब भावों से अनंत की सेवा करना ही राम का भजन है। यही जीवन की पवित्रता है, जिसमें पैदा हुआ क्रोध विश्व को पीड़ा पहुँचाने वाले को दंड देने के लिए होता है, जिसके भीतर की करुणा मनुष्य को जगत् भर की पीड़ा को देख कर द्रवित करने के लिए होती है, जिसके भीतर पैदा हुआ उत्साह संसार की उत्पीड़क शक्तियों पर आक्रमण कर उनके दमन के लिए उत्पन्न होता है, जिसके भीतर की घृणा इसलिए उत्पन्न होती है कि विश्वजनीन शील को पतन की ओर ले जाने वाली बुराइयों से वह साधक को दूर रख सके। ऐसी ऊँचाई पर पहुँचे हुए साधक के भीतर प्रेम भी इसीलिए पैदा होता है कि वह 'सियाराममय सब जग'‡ की अनुभूति करके अपना हृदय उसे समर्पित कर दे। वह उस तरह के विनोद की भी साधना करता है जो विश्व भर के पीड़ित हृदय को सहला कर भारमुक्त कर सके। उसे भय भी होता है, जब वह देखता है कि कलियुग रूपी हिरण्यकशिपु आदर्शरूपी प्रह्लाद को नष्ट करने पर तुला हुआ है†। यह भय भी उसे प्रेरित करता है विश्व के आदर्श की रक्षा के लिए। यह कार्य वह मर्यादा का प्रचार करके करता है। यह भी उसकी रामभक्ति ही है। उसके भीतर आश्चर्य भी पैदा होता है—"राम अनंत अनंत गुन अमित कथा विस्तार। सुनि आचरजु न मानिहहिं जिनके विमल विचार।" पर यह आश्चर्य भी उसे अनंत जगत् के भीतर निवास करने वाले राम तक पहुँचा देने के लिए ही है। इस आश्चर्य को ले कर वह विमल विचार के पास पहुँचने की साधना करता है और उसे ज्ञान हो जाता है कि राम सम्पूर्ण विश्व की अनंतता में समाया हुआ है। तब उसका आश्चर्य विराट् जगत् में 'एक' का साक्षात्कार करके 'विमल विचार'* वाली भक्ति में लीन हो जाता है।

इसी साधना को सर्वभाव की साधना कहते हैं। जहाँ हृदय के सब भाव अनंत की सेवा की ओर मुड़ पड़ते हैं। यहाँ पहुँच कर सीमा की क्षुद्रता में रहने वाला अज्ञानजन्य प्रेम अपनी असीमता को प्राप्त कर लेता है। तुलसी की भक्ति-साधना में जीवन की इसी पवित्रता को प्राप्त करने का प्रयास प्रारम्भ हो कर अपनी सिद्धि तक पहुँचता है। इसी पवित्रता की ओर संकेत करते हुए तुलसी के राम कागभुशुंडि से कहते हैं—"सत्य कहउँ खग तोहि, सुचि सेवक मम प्रान प्रिय§।"

ज्ञानाग्नि में तपी हुई अनासक्ति से इस पवित्रता की उत्पत्ति होती है। जीवन की इस पवित्रता को वही साधक प्राप्त करता है जो ज्ञानाग्नि में अपने कर्मों को तपा कर उन्हें पवित्र कर लेता है, जिसके कर्म, स्वार्थवश अपने स्वार्थ की साधना में योग देने वालों या बाधा पहुँचाने वालों के प्रति स्नेह या द्वेष से उन्मुख रह कर कलुषित नहीं रहते, अपितु संपूर्ण विश्व की ओर निष्काम सेवा की भावना से उन्मुख रहते हैं।

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७ के बाद। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २७। $ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३३। * वही। § रामचरितमानस, उत्तरकांड, सोरठा ८७।

इतनी बड़ी योजना को कागभुशुंडि के सामने रख कर तुलसी के राम कहते हैं—

अस बिचारि भजु मोहि, परिहरि आस भरोस सब ‡।

अपने द्वारा प्रस्तुत शीलविकास की योजना पर ठीक-ठीक विचार करके जगत् की अनासक्त सेवा के भीतर अपनी भक्ति का दर्शन करने का उपदेश राम ने कागभुशुंडि को दिया है।

यही शीलविकास की परमोच्च परिणति तुलसी की भक्ति-पद्धति का लक्ष्य है। इसी शील की अन्तिम सीमा का अंकन तुलसी ने अपने राम के भीतर करके उनके इसी कर्म और रूप-सौन्दर्य में अपने मन को खो दिया है।

इतनी उदार और विश्वोन्मुखी भक्ति-साधना को निम्न श्रेणी की भक्ति कह देना और उसे आवेश की अवस्था की केवल प्रातिभासिक ऊँचाई मान लेना हमें उचित नहीं प्रतीत होता। अतः विद्वान् विचारक के इस मत से हम सहमत नहीं हैं।

डा० मैकनिकॉल के मत से गोस्वामी जी के हृदय में ब्राह्मणों के लिए अनुचित पक्षपात है। तुलसी के विरुद्ध डा० मैकनिकॉल ने यह एक और अभियोग लगाया है। उन्होंने कहा है—अभी भी ब्राह्मण अपने सम्मानित स्थान से पदच्युत नहीं किया गया है—"दि ब्राह्मण इज़ नॉट येट डीपोज़्ड फ्रॉम हिज़ प्लेस ऑफ़ प्रिविलेज †." तुलसी के इस पक्षपात के कारण डा० मैकनिकॉल महोदय ने तुलसी को भक्त के ऊँचे आसन पर से ढकेल दिया है और उनकी भक्ति को घटिया दर्जे की सिद्ध किया है।

यहाँ भी डा० महोदय ने तुलसी का मूल्यांकन करने में शीघ्रता की है। इसीलिए वे तुलसी को ठीक नहीं समझ पाये। जीवनदर्शन के परमोच्च आधार पर स्थापित गोस्वामी जी की भक्ति-पद्धति कभी पक्षपात नहीं करती। भारतीय विचार-परम्परा समय के प्रवाह को चतुर्युग के चक्रों की सतत गति मानती है। आदर्श की श्रेष्ठता के ह्रासोन्मुख क्रम से सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग एक चक्र में रखे जाते हैं। सत्ययुग में सब वर्ण अपनी स्थिति से सन्तुष्ट रह कर अनासक्त मन से अपना काम करते हैं, उसे परमात्मा की आज्ञा और सेवा मान कर। समाज की यही अवस्था भारतीय दार्शनिकों और भक्तों ने आदर्श मानी है। बाद के युगों में इस आदर्श अवस्था में दोष पैदा होने लगते हैं। कलियुग में समाज की हालत बहुत बिगड़ जाती है $।

धर्मपथ से भ्रष्ट ब्राह्मण और शूद्र में गोस्वामी जी के अनुसार, कोई अन्तर नहीं रहता। राम-जन्म की कथा त्रेतायुग की है। उस युग में अधिकांश ब्राह्मण पवित्र आचरण वाले थे। रावण के समान कुछ लोग पापासक्त हो गये थे। इसीलिए रामायण के जितने पात्र ब्राह्मणों की प्रशंसा करते हैं वे ब्राह्मण के उसी उच्च शील के कारण। रावण ब्राह्मण होते हुए भी पतित हो गया इसीलिए उस ब्राह्मण को दंड देने के लिए राम को अवतार लेना पड़ा। धर्मपथ से भ्रष्ट ब्राह्मण और शूद्र में कोई अन्तर परमात्मा नहीं देखता। वह

---

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, सोरठा ८७। † इंडियन थीइज़्म, पृष्ठ ११८, पंक्ति १३–१४। $ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १०३ के बाद।

उनके साथ समान न्याय करता है। परमात्मा केवल संत और असंत को ही पुरस्कार और दंड देता है। उसकी दृष्टि में जाति नहीं रहती।

शीलवान् ब्राह्मण ही तुलसी के द्वारा सम्मानित किया गया है। जब-जब तुलसीदास जी ने ब्राह्मणों को सम्मान प्रदान किया है तब-तब ब्राह्मण के उच्च शील के कारण ही। उनके युग में भी कुछ ब्राह्मण आदर्श शील वाले रह गये थे। उन्हीं की उन्होंने वन्दना की है।

गोस्वामी जी के अनुसार आदर्श से गिर कर कोई सम्मान का पात्र नहीं रह सकता। उनके कागभुशुंडि ने एक कलियुग के समाज का वर्णन करते हुए पक्षिराज गरुड़ से कहा है—

कलिमल ग्रसे धरम सब लुप्त भये सदग्रंथ।
दंभिन्ह निज मति कलपि करि प्रगट किये बहु पंथ ‡।

यहाँ तुलसी के कागभुशुंडि ने कलियुग के झूठे सम्प्रदायों की निन्दा की है—

बरन धरम नहिं आस्रमचारी। श्रुति-विरोध-रत सब नर नारी।
द्विज सुत बेंचक भूप प्रजासन, कोउ नहिं मान निगम-अनुसासन †।

यहाँ वर्ण और आश्रम के धर्म का ह्रास देख कर ब्राह्मणों को वेद से व्यापार करने वाला और राजा (क्षत्रिय) को भुशुंडि ने प्रजा का भक्षक बताया है।

'मिथ्यारम्भ दम्भ रत जोई, ता कहँ संत कहहिं सब कोई$।' में झूठे संतों की निन्दा की गयी है। "जाके नख अरु जटा विसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला *' में झूठे तपस्वियों को फटकारा गया है। इसी तरह झूठे योगियों, सिद्धों, गुप्तचरों तथा वक्ताओं की भी कटु आलोचना की गयी है§। 'गुरु सिष बधिर अंध कर लेखा। एक न सुनहिं एक नहिं देखा ×' में गुरु को बहरा और शिष्य को अंधा कहा गया है—ऐसे गुरुओं को जो शिष्य की कठिनाई नहीं सुनते और ऐसे शिष्यों को जो आदर्श गुरु के जीवन को देख कर अपने जीवन को नहीं सुधारते।

'हरइ सिष्य धन सोक न हरई, सो गुरु घोर नरक महँ परई +' में झूठे गुरु की कितनी भर्त्सना की गयी है।

बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्हतें कुछ घाटि।
जानहि ब्रह्म सो विप्र बर आँखि देखावहिं डाँटि ✢।

में अभिमान से अपने जातिगत कर्तव्य को छोड़ने वाले शूद्र की चुटकी ली गयी है, तथा 'विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृपली स्वामी ¶।' में दुराचारी ब्राह्मण की स्पष्ट निन्दा की गयी है।

तुलसी की भक्ति केवल संत-धर्म की उपासना है। उनकी भक्ति-पद्धति पक्षपात-रहित है तथा संत धर्म की ही उपासना करती है। यहाँ किसी से राग-द्वेष नहीं है।

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ९७। † वही, दोहा ९७ के बाद। $ वही। * वही। § वही, दोहा ९८। × वही, दोहा ९८ के बाद। + वही। ✢ वही, दोहा ९९। ¶ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १०० के पहले।

इस पद्धति के भीतर राग-द्वेष तभी दिखाई देंगे, जब हम शीघ्रता में ऊपर-ऊपर ही देखेंगे। तुलसी के समान, धर्म की साधना करने वाले, व्यापक और गम्भीर योजना की सिद्धि में जुटे हुए, साधक को देखने के लिए धैर्य और गम्भीरता की आवश्यकता होती है। यदि हमने तुलसी का मूल्यांकन करने में तनिक भी शीघ्रता की तो ग़लत रास्ते पर हमारे चले जाने का भय बराबर बना रहेगा। एक विराट्, सर्वतोन्मुखी, सर्वव्यापिनी योजना का मूल्यांकन करने के लिए सर्वव्यापिनी अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता होती है। डा० मैकनिकॉल के समान विद्वान् भी ज़रा-सी शिथिलता के कारण तुलसी का मूल्यांकन करने में चूक गया है।

तुलसी की बुद्धि जातीय पक्षपात से मुक्त है। उनकी बुद्धि जातीय पक्षपात और जातिभेद की संकीर्ण सीमाओं में बँधी हुई नहीं है। वह सर्वभेदिनी और विराट् का दर्शन करने वाली है। वह आवेश से परिचालित नहीं होती। उसके भीतर अपनी एक योजना है, जिसमें दुर्बलता का विकल्प कहीं नहीं आता। हनुमान से तुलसी के राम ने कहा है—

सुनि कपि जिय मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन तैं दूना।
समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ।
सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर, रूप राशि भगवन्त‡।

तुलसी के राम कहते हैं कि मुझे तो लोग समदर्शी कहते हैं, पर मुझे सेवक अधिक प्रिय है, और वही सेवक जो मुझे छोड़ और किसी का सहारा नहीं लेता, जो अनन्य गति होता है, जिसकी ऐसी धारणा में कभी अन्तर नहीं पड़ता कि मैं भगवान् का सेवक हूँ और सम्पूर्ण जड-चेतन जगत् के रूपों का समुदाय ही भगवान् है।

तुलसी की उपासना आवेशप्रधान नहीं, बुद्धि और हृदय की सन्तुलित साधना की नींव पर वह आधारित है। जहाँ-जहाँ उन्होंने आध्यात्मिक प्रेम की चर्चा की है वहाँ-वहाँ वह प्रेम केवल आवेशजन्य नहीं, ज्ञान के प्रकाश से आलोकित है। वह ऐसी धारणा का अविच्छिन्न प्रवाह है, जिसमें चराचर के भीतर भगवान् का दर्शन होता है। भक्त जब अपने को भगवान् का सेवक कहता है, तब वह अपने को चराचर का सेवक समझता है, क्योंकि उसकी धारणा है कि 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म†'—यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का ही रूप है। अनन्यगति भक्त में यह मति कभी नहीं टलती; अटल हो कर उसके भीतर निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। वह क्षणिक आवेश की तरह कभी नहीं आती। वह भक्त का स्वभाव हो कर उसके साथ निरन्तर साधना के पथ का दीपक बन कर चलती रहती है।

भक्ति-साधना की इतनी बोधपूर्ण विराट् योजना को कार्यान्वित करने वाले साधक तुलसी की ऊँचाई को क्षणिक और आवेशजन्य मानना भूल है। साधना की वह ऊँचाई तुलसी का क्षणिक आवेश नहीं, तुलसी के समान 'अनन्य गति' भक्त का स्वभाव है।

---

‡ रामचरितमानस, किष्किंधाकांड, दोहा ३ और उसके पहले। † छांदोग्य उपनिषद्, अध्याय ३, खंड १४, श्लोक १।

यदि तुलसी के राम के, यहाँ के शब्दों को भी समझने में भूल या जल्दबाज़ी की जाए, तो भ्रम पैदा हो सकता है। 'समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ ‡।' में राम की भेददृष्टि दिखाई पड़ सकती है। पर ध्यान से देखा जाए तो यह भेददृष्टि नहीं, वक्रोक्ति के ढंग से यह अभेददृष्टि की ओर ही संकेत किया गया है। चराचर को अभेददृष्टि से ब्रह्म का स्वरूप मान कर उसकी सेवा करने वाला भक्त ही भगवान् को प्रिय होता है। इसका अर्थ इसके सिवा और क्या हो सकता है कि अभेददर्शन ही तुलसी के राम को प्रिय है। यदि वे समदर्शी न होते तो उन्हें समदर्शी भक्त प्रिय कैसे होता।

समदृष्टि के अविरल प्रवाह की सिद्धि में तन्मय तुलसी के समान साधक का मूल्यांकन करने में बड़ी सतर्कता की आवश्यकता है। अपनी सिद्धावस्था में पहुँचे हुए तुलसी भक्ति की ऊँचाई को छोड़ कर जगत् की व्यावहारिक निम्नता की ओर कभी लौट ही नहीं सकते।

गुरु के सम्बन्ध को ले कर भी डा० मैकनिकॉल ने तुलसी पर आक्षेप किया है। उन्होंने कहा है कि धार्मिक उपदेशों की सब धाराओं में बाद के युगों में गुरु का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। पर कबीर के अनुयायियों में गुरु का स्थान किसी जाति के लिए सुरक्षित नहीं है। इसके विरुद्ध तुलसी की गुरुभक्ति तो ब्राह्मणभक्ति के रूप में ही परिणत हो गयी है—"दि रेवेरेन्स फ़ॉर गुरु दैट हैज़ ए प्रौमिनेंट प्लेस इन ऑल दि स्पिरिचुअल टीचिंग ऑफ़ दिस लैटर पीरियड रिज़ॉल्व्स् इटसेल्फ हीयर ·····इन्टु रेवेरेन्स फ़ॉर ब्राह्मण †।"

डा० मैकनिकॉल के इस कथन का स्पष्ट उद्देश्य और अभिप्राय तो यही है कि तुलसी ने गुरु का पद ब्राह्मण के लिए ही सुरक्षित कर रखा है। ब्राह्मण की अपनी परिभाषा के अनुसार यदि तुलसी ने ऐसा किया भी तो अनुचित नहीं प्रतीत होगा, पर रामायण के प्रारम्भ में चराचर जगत् के भीतर राम के रूप का दर्शन करते हुए तुलसी ने सबकी वन्दना की है। डा० मैकनिकॉल को रामायण और तुलसी-साहित्य का गहराई से अध्ययन करने का अवसर नहीं मिला। यदि ऐसा होता तो उनकी सूक्ष्म दृष्टि इस तरह की भूल न करती।

यदि गंभीरता से चिन्तन किया जाए तो गोस्वामी जी के द्वारा प्रयुक्त 'गुरु' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक सिद्ध होगा। रामायण के मंगलाचरण में गोस्वामी जी ने भवानी को श्रद्धारूपिणी और शंकर को विश्वास-स्वरूप मान कर नमस्कार किया है। तुलसी-दर्शन के अनुसार यही विश्वास नित्य गुरु है। सब देशों की धार्मिक साधनाएँ इस विश्वास को ही साधना के पथ का गुरु मानती हैं। गुरु की इससे बढ़ कर उदार कल्पना हो ही नहीं सकती। यह विश्वास ही शाश्वत गुरु है। इसीलिए 'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वास

‡ रामचरितमानस, किष्किंधाकांड, दोहा ३ के पहले। † इंडियन थीइज़्म, पृष्ठ ११८, अनुच्छेद २, पंक्ति १० से १४ तक।

रूपिणौ' ‡ कहने के बाद ही इस विश्वासरूपी शिव को उन्होंने 'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्' † में नित्य गुरु के रूप में घोषित किया। साधना के पथ पर सिद्धि प्राप्त करके मंगलमयी सम्पूर्णता का दर्शन साधक के लिए तभी सम्भव होता है जब विश्वासरूपी गुरु (शिव) और श्रद्धारूपिणी उनकी सहयोगिनी (भवानी) उसका साथ देती हैं। 'याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाःस्वान्तस्थमीश्वरम्' $ में गोस्वामी जी ने इसी की घोषणा की है। 'संशयात्मा विनश्यति' * साधना के पथ का संशय, अविश्वास, साधक की सिद्धि का विनाश कर डालता है। शिव को गोस्वामी जी ने बोधमय इसीलिए कहा है कि भक्ति-पथ पर जो विश्वास होता है वह अन्धा नहीं होता। वह बोधमय होता है। जगत् का प्रेम अन्धा कहलाता है, इसीलिए वासना का अन्धकार सांसारिक प्रेम के बन्धन में साधक को बाँध कर भयानक और दुर्गम संसार-सागर में उसे डुबा देता है। पर परमात्मा की विराट् योजना का बोध उसे वासना के ऊपर उठा कर परमात्मस्थिति तक पहुँचाता है। इसीलिए शिव बोधमय विश्वास हैं। परमात्मा के अस्तित्व का विश्वास बोधमय होता है। जगत् के अस्तित्व पर विश्वास अज्ञानमय होता है। अज्ञानमय विश्वास अन्धा होता है और ज्ञानमय विश्वास जागरूक। वह साधक को परमात्मस्वरूप का दर्शन करा देता है। वह स्वरूप जीवन के अंतिम विकास को छोड़ कर और कुछ नहीं है। उस परमात्मा की प्राप्ति परमोच्च शील की साधना से ही होती है। जिसे इस शील की सिद्धि प्राप्त हो जाती है वह परमात्मा के सगुण-निर्गुण स्वरूप को देख लेता है। क्योंकि परमात्मा भी जगत् में आ कर इसी परमोच्च शील की (धर्म की) स्थापना करता है§।

जीवन के इस अंतिम विकास तक ले जाने वाला बोधमय विश्वास शिव है। जीवन का अंतिम विकास अभेद का दर्शन है, एकत्व की प्राप्ति है तथा समदृष्टि की साधना है। यही ईश्वर-प्राप्ति है। इसे सम्भव बनाने वाले शिव (बोधमय विश्वास के मूल अधिदेव) नित्य गुरु हैं।

इन नित्य गुरु के अतिरिक्त तुलसीदास जी ने इस लक्षण से युक्त और लोगों को भी गुरुत्व की कोटि में स्वीकार किया है और उनकी वन्दना की है। 'वाणी-विनायक'×, 'भवानी-शंकर'+, 'वाल्मीकि'*, 'हनुमान्'¶, उद्भव स्थिति और संहार करने वाली, क्लेशों को शान्त करने वाली, सर्वश्रेयस्करी, रामवल्लभा सीता ‡⊕ और 'अशेष कारणों के कारण' राम ‡‡ की वन्दना गोस्वामी जी ने इसीलिए की है। ये सब एक-एक तरह से गुरु-कोटि के ही हैं। शब्द और अर्थ की सिद्धि देने वाले वाणी-विनायक, श्रद्धा और विश्वास की स्फूर्ति देने वाले भवानी-शंकर, जीवन के आदर्शों के प्रथम साधक, लोक के बीच में अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् के सामंजस्य के प्रथम आदर्शशिल्पी वाल्मीकि, निश्छल भक्ति के

‡ रामचरितमानस, बालकांड, मंगलाचरण, श्लोक २। † वही, श्लोक ३। $ वही, श्लोक २। * गीता, अध्याय ४, श्लोक ४०। § गीता, अध्याय ४, श्लोक ८। × रामचरितमानस, बालकांड, मंगलाचरण, श्लोक १। + वही, श्लोक २। * वही, श्लोक ४। ¶ वही, श्लोक ५। ‡⊕ वही, श्लोक ५। ‡‡ वही, श्लोक ६।

आदर्श हनुमान्, नारी के आदर्शों की सीमा सीता और पुरुषों की मर्यादा की उच्चतम भूमि का दर्शन कराने वाले राम—ये सब तुलसी के उन्नायक हैं। तुलसी के जीवन की साधना के विकास में इन सब ने प्रकाश दिया है। 'मैं पुनि निज गुरु सन सुना कथा सो सूकर खेत। समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत। स्रोता बकता ज्ञाननिधि कथा राम कै गूढ। किमि समुझउँ मैं जीव जड कलिमल ग्रसित विमूढ। तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा ‡।' में इसी साधना के विकास-क्रम की ओर इशारा है। इसके बाद अपने गुरु बाबा नरहरिदास जी की वन्दना तुलसीदास जी ने की है †। यह पता नहीं कि बाबा नरहरिदास जी ब्राह्मण थे या किसी दूसरी जाति के वैरागी। स्व० पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने कहीं से यह पता लगाया था कि गांगरौन गढ के अधिपति पीपा, रामानन्द जी के अनुयायी हो कर विरक्त हो गये। अतएव रामभक्ति शाखा के भक्तों में भी सब जातियों के लोग थे और इन सब संतों को तुलसीदास जी ने गुरु होने का अधिकारी मान कर सामान्य रूप से नमस्कार किया है।

सच्चे ब्राह्मण-गुरु के लक्षण स्थापित करने के लिए अपने गुरु बाबा नरहरिदास को नमस्कार करने के बाद तुलसीदास जी ने कहा है—"बन्दउँ प्रथम मही-सुर-रचना। मोह-जनित-संशय सब हरना §।" इससे तो यही अनुमान करने को जी चाहता है कि बाबा नरहरिदास ब्राह्मण नहीं थे। यदि वे ब्राह्मण होते और ब्राह्मणों के लिए गोस्वामी जी के भीतर व्यर्थ का पक्षपात होता तो अपने गुरु को ब्राह्मणत्व के कारण तथा गुरुत्व के कारण दोनों रूपों में नमस्कार करने से वे न रुकते। संन्यासी की कोई जाति नहीं होती। इस पर भी यदि ब्राह्मण के लिए अंधपक्षपात तुलसी में होता और नरहरिदास जी ब्राह्मण होते तो तुलसीदास जी अवश्य कहते कि ब्राह्मण जाति ने हमारे गुरु के समान आदर्श व्यक्ति को पैदा किया। स्थिति चाहे जो रही हो, यह बात तो सन्देहरहित है कि तुलसी के भीतर ब्राह्मण के लिए अंध पक्षपात नहीं था। उन्होंने बुद्धिपूर्वक ब्राह्मण की धारणा अपने भीतर पैदा की और जागरूक हो कर ब्राह्मण की प्रशंसा की। वे स्वयं ब्राह्मण थे, इसलिए अपनी श्रेष्ठता के अभिमान के मोह में सो कर उन्होंने अंधपक्षपातपूर्ण प्रशंसा ब्राह्मण की नहीं की है।

'बन्दउँ प्रथम महीसुर चरना' में तुलसीदास जी ने ब्राह्मण शब्द के साथ जुड़ी हुई अपनी अभ्रान्त धारणा के आधार पर ब्राह्मण की परिभाषा की है, तब उसे नमस्कार किया है। ब्राह्मण वही है जो अज्ञानजन्य भ्रम को दूर कर सके। तुलसी ऐसे ही ब्राह्मण को नमस्कार करते हैं और नमस्कार करके यह सन्देश देते हैं कि इसी प्रकार के ब्राह्मण गुरु होने के योग्य है। पहले यह बताया जा चुका है कि पथभ्रष्ट ब्राह्मणों की तुलसी ने निन्दा की है।

तुलसी का यह आदर्श-ब्राह्मण, शिव की, मंगल की, बोधमय विश्वास की साधक के भीतर लहर पैदा करता है। वह शिष्य के हृदय को एक ऐसे बोधमय परमात्म-विश्वास

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३० और उसके बाद। † वही, सोरठा ५ से दोहा १ और उसके बाद की दो पंक्तियों तक। § वही, दोहा १ के बाद की तीसरी पंक्ति।

से आलोकित करता है, जिसे प्राप्त कर मोह की भेददृष्टि बंद हो जाती है और अभेद-ब्रह्म की झाँकी उसे दिखाई पड़ जाती है। भारतीय दर्शन की बड़ी गहराई में उतर कर तुलसीदास जी ने इस बोधमय विश्वास की चर्चा छेड़ी है। यह बिलकुल स्पष्ट है कि यह बोधमय विश्वास योगियों की समाधि के बाद की अवस्था है। समाधि में ज्ञान प्राप्त होता है। उसमें चित्त या आत्मा सम्यक् प्रकार से परमात्मा में रख दी जाती है। यही योग है—आत्मा का परमात्मा से मिल जाना। योगीश शंकर आत्मा के आनन्द में तन्मय करने वाली समाधि में उस आनन्द का अनुभव कर लेने के बाद इस बोधमय विश्वास को प्राप्त करते हैं। अज्ञान को दूर करके ज्ञान के प्रकाश को प्रज्ज्वलित करने वाला, अज्ञानजन्य संशय को दूर करके ज्ञान के आलोक से शिष्य के हृदय को आलोकित करने वाला ब्राह्मण ही सच्चा ब्राह्मण है। इसी ब्राह्मण की वन्दना तुलसी ने की है। ऐसे ब्राह्मण की वन्दना का रहस्य डा० मैकनिकॉल तक पहुँच सका होता तो तुलसी पर जातीय पक्षपात का अभियोग वे न लगाते। यह तो हो गयी ब्राह्मण गुरु की बात।

अब तुलसी के और गुरुओं पर विचार किया जाए। "सुजन समाज सकल गुन खानी। करउँ प्रणाम सप्रेम सुबानी ‡।" ब्राह्मण को प्रणाम करने के बाद तुलसी ने 'सकल गुन खानी सुजन समाज' की वन्दना कर 'सप्रेम' इस बात को स्वीकार किया है कि ब्राह्मणों के अतिरिक्त भी सज्जनों का समाज भी गुरु की श्रेणी में आता है। उन्होंने यह इसलिए स्वीकार किया है कि सज्जनों के समाज में उन सब गुणों का अस्तित्व रहता है, जिन्हें गुरु अपने शिष्य में पैदा करता है। सज्जनों के इस समाज में ब्राह्मण भी रह सकता है और उसके अतिरिक्त और सब लोग। गुह, शबरी, दशरथ, वसिष्ठ, सुमन्त, सुग्रीव, मन्दोदरी इत्यादि सब इस सज्जन समाज में आ सकते हैं। आदर्श ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री, पुरुष सब इसमें समा जाते हैं। आदर्श व्यक्तियों के इस व्यापक समाज को गुरुता का स्थान दे कर तुलसीदास जी ने मुक्त कंठ से और बोधमय विश्वास के साथ इसकी प्रशंसा की है, केवल क्षणिक आवेश में नहीं। तुलसी के अनुसार इन सबको गुरु होने का अधिकार है। संतों की इस श्रेणी के लोगों की तुलसीदास जी ने बड़े आदर से प्रशंसा की है। उन्होंने कहा है—"साधुओं का चरित धवल कपास की तरह है। वह ऊपर से नीरस पर धवल गुणमय होता है। नीरस कपास धवल सूत पैदा करता है, हर तरह के कष्ट सह कर वस्त्र का रूप धारण करता है और दूसरों की लज्जा के लिए आवरण बनता है। संत भी सब प्रकार के कष्ट सहने के बाद भी किसी की दुर्बलता का प्रकाशन नहीं करते। किसी के द्वारा प्राप्त कष्ट की चर्चा तक नहीं करते। ये वन्दनीय लोग संसार में यश प्राप्त करते हैं। आनन्द और मंगलमय संतों का समाज जंगम प्रयाग के समान होता है। राम की भक्ति वहाँ गंगा की धारा है। ब्रह्मचिन्तन का प्रचार सरस्वती है। विधि-निषेध का ज्ञान कराने वाली कलि के दोषों को दूर करने वाली, कर्तव्याकर्तव्य की चर्चा ही यमुना के समान है। इसी संत-समाज की त्रिवेणी हरि और हर-सम्बन्धिनी कथाओं

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १ के बाद।

से सुशोभित रहती है। उन आदर्शपूर्ण कथाओं के सुनने से सब तरह के आनन्द और मंगलों की व्यक्ति के शील में सृष्टि होती रहती है। अपने-अपने धर्मों पर अचल विश्वास ही अक्षय वट है। अपने कर्तव्यों का आदर्श ढंग से पालन करने वाला समाज ही तीरथराज प्रयाग है। यह समाज सबको हर जगह सुलभ है। इसकी सादर सेवा करने से, इसके आदर्शों का आदरपूर्वक पालन करने से जीवन के सब क्लेश शान्त हो जाते हैं। संत-समाज के रूप में यह तीर्थराज अनिर्वचनीय और अलौकिक है। इसका साधक पर सद्यःप्रभाव दृष्टिगोचर होता है। मेरे शब्दों को सुन कर उन पर प्रसन्न चित्त से विचार करके संत-समाज के तीर्थराज के आदर्शों में अपार अनुराग ले कर जो अवगाहन करेंगे वे इस शरीर के रहते हुए भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की परिणति अपने जीवनकाल में कर सकेंगे ‡।"

तुलसी संत को गुरु का स्थान देते हैं और सावधानी से चिन्तन के परिणामस्वरूप ही संत-समाज के लिए ये आदर-सूचक शब्द गोस्वामी जी के हृदय से निकले हैं। वे संत-समाज के सम्मुख इतने नम्र हैं कि वे सच्चे हृदय से यह स्वीकार करते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कवि और पंडितों की वाणी साधु की महिमा को अभिव्यक्ति प्रदान करने में संकुचित हो जाती है। उस गौरव को व्यक्त नहीं कर पाती। वह गौरव व्यक्त करने में मैं उतना ही असफल हूँ जितना साग बेचने वाला मणियों के गुणों को प्रकाशित करने में असफल रहता है †।

समदर्शी चित्त वाले ऐसे संतों की गोस्वामी जी ने वन्दना की है, जिनके कोई शत्रु और मित्र नहीं होते। सुगन्धित पुष्प जैसे अंजलि के दोनों हाथों को सुरभित कर देता है, उसी तरह तुलसी के अनुसार संत लोग शत्रुता और मित्रता रखने वाले दोनों तरह के लोगों को अपने आदर्शों की सुगन्ध से सुरभित बना देते हैं $।

सरल चित्त तथा जगत् के हितेच्छु संतों के सम्मुख बालक की तरह अपने को प्रस्तुत करके तुलसी उनसे राम के चरणों का प्रेम माँगते हैं *। गुरु भी यही देता है। इन संतों को, जिनकी कोई जाति नहीं होती, तुलसी ने अपना गुरु माना है। इसी तरह की एक संत शबरी है जिसके सामने तुलसी के राम ने कहा—"मानउँ एक भगति कर नाता §।"

जगत् भर के संतों के सामने भक्ति-प्रवण हृदय से इस तरह झुकने वाले संत को, डा० मैकनिकॉल का, ब्राह्मण जाति का पक्षपाती कहना उचित नहीं प्रतीत होता।

इस उच्च और नीच के भेद के विष में से, अपने चिन्तन के द्वारा जिस तरह अमृत को निकाल कर गोस्वामी जी ने पान कर लिया है, उस पर यदि मेधावी डाक्टर महोदय की दृष्टि पड़ी होती तो वे तुलसी के लिए ऐसे विचार कभी भी न बनाते। तुलसी ने कहा है—"दानव, देव, उच्च और नीच, जीवन-दाता अमृत और मृत्यु देने वाला विष, माया,

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १ के बाद से दोहा २ तक। † वही, दोहा २ के बाद की चौपाई, अंतिम २ पंक्तियाँ। $ वही, दोहा ३, आरम्भिक २ पंक्तियाँ। * वही, दोहा ३, अंतिम दो पंक्तियाँ। § रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ३४ के बाद, पंक्ति चौथी।

ब्रह्म, जीव और जगदीश, लक्ष्मी और दरिद्रा, रंक और राजा, काशी और मगहर, गंगा और कर्मनाशा, मरुदेश और मालवा, ब्राह्मण और चाण्डाल; स्वर्ग और नरक, अनुराग और विराग, ये सब गुणदोषों के अनंत विभाग शास्त्रों ने बताये हैं। विधाता ने जडचेतन विश्व को गुण-दोषमय निर्मित किया है। उसका यह सृजन पूर्णगुणयुक्त या पूर्णदोषयुक्त कहीं भी नहीं है। गुण-दोष के इन द्वन्द्वों में से संत लोग दोष को छोड़ कर गुणों की ओर ही दृष्टि रखते हैं। वे गुणों को ले लेते हैं, दोषों को ध्यान में ही नहीं रखते, जिस तरह हंस जल को छोड़ देता है, दूध को ले लेता है ‡।"

इसी प्रकरण में गोस्वामी जी ने कहा है—"जब इस तरह का विवेक परमात्मा दे देता है तब मन दोषों को छोड़ कर गुणों का अनुरागी बन जाता है †।" इसी अन्तर्दृष्टि को ले कर सम्पूर्ण विश्व में गुण (राम) का दर्शन करते हुए गोस्वामी जी ने कहा है—

जड़-चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
वंदउँ सबके पदकमल सदा जोरि जुग पानि।

सम्पूर्ण जड-चेतन की वन्दना करके तुलसी कहते हैं—

जानि कृपा करि किंकर मोहू, सब मिलि करहु छाँडि छल छोहू।
निज बुधि बल भरोस मोहि नाहीं, तातें विनय करहुँ सब पाहीं *।

इतना जागरूक संत जो भक्ति के कारण इतना कोमल हो गया है कि सम्पूर्ण जडचेतन का किंकर (दास) बन जाना चाहता है, जातिभेद और जाति-पक्षपात से ऊपर उठ गया है, वह गुरु के बहाने ब्राह्मण-जाति का पक्षपात नहीं कर सकता। समदर्शी के भीतर पक्षपात कहाँ ?

तुलसी के भीतर जातीय पक्षपात का सर्वथा अभाव है। अज्ञ लोगों के द्वारा किये जाने वाले ऐसे ही विरोधों की कल्पना करके गोस्वामी जी ने कहा है—

लोग कहैं पोच, सो न सोच न संकोच मेरे
ब्याह न बरेखी जाति-पाँति न चहत हौं।
तुलसी अकाज-काज राम ही के रीझे खीझे
प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हौं §।

राम के प्रेम का कितना अटल विश्वास है—राम की प्रसन्नता से तुलसी के शील का निर्माण और राम के रोष से उस शील का पतन। साधना की ऊँचाई पर जब केवल प्रेम का ही सहारा मिल गया है तब जातिपाँति के बन्धन उसे क्यों बाँधने चले और क्यों वह करे जातीय पक्षपात।

तुलसी-साहित्य का कुछ और गम्भीरता से अध्ययन यदि सम्भव हुआ होता तो डा० मैकनिकॉल के समान निष्पक्ष आलोचक का तुलसी-विषयक भ्रम बिल्कुल दूर हो जाता। कई स्थल और हैं जहाँ दृष्टिपात करने से यह भ्रम नितान्त उन्मूलित हो जाता है।

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ६ तथा उसके पूर्व की ४ पंक्तियाँ। † वही, दोहा ६ के बाद। § वही, दोहा ७, पंक्ति ५। * वही, दोहा ७ के बाद, पंक्ति ३।
§ विनयपत्रिका, पद ७६ अंतिम चार पंक्तियाँ।

रामायण की भूमिका में तुलसीदास जी ने कुछ और वन्दनाएँ की हैं। उनका क्रम निम्नांकित है—

व्यास आदि कवि पुंगव नाना, जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना।
चरन कमल बन्दउँ तिन्ह केरे, पुरवहु सकल मनोरथ मोरे।
कलि के कविन्ह करउँ परनामा, जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा।
जे प्राकृत कवि परम सयाने, भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने।
भये जे अहहिं जे होइहहिं आगे, प्रनवउँ सबहिं कपट सब त्यागे ‡।

व्यास को प्रणाम करना तो ब्राह्मण को प्रणाम करना हो सकता है, पर 'कलि के कविन्ह कर परनामा' में तो सामान्य कथन है। क्या कलि के सब कवि ब्राह्मण ही हैं? लोक भाषा के माध्यम से हरि चरित का प्रचार करने वाले 'परम सयाने प्राकृत कवियों' को तुलसीदास जी ने प्रणाम किया है। इस प्रणाम की दृष्टि सब संत कवियों पर है जिनमें से ब्राह्मण बहुत कम हैं। इसके बाद जो कदम तुलसी ने उठाया है उस पर पहुँच कर तो सन्देह के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता। 'भये जे, अहहिं, जे होइहहिं आगे' में तो तुलसीदास जी ने अतीत, वर्तमान और भविष्य के सब कवियों को प्रणाम किया है। क्या तुलसी के पूर्व तथा उनके समय में सब ब्राह्मण थे, और उनके बाद भी सब ब्राह्मण ही हुए और होंगे? इस पर भी एक पवित्र हृदय का संत शपथ ले कर कहता है कि उसके इस नमस्कार में कोई छल नहीं है। वह निष्कपट हो कर सबको नमस्कार करता है।

गुरुता की यह उदार स्वीकृति आवेशजन्य नहीं; तुलसी की साधना में ज्ञान और प्रेम का सन्तुलन है। केवल प्रेम आवेश हो सकता है; पर ज्ञानयुक्त प्रेम आवेश न हो कर संयत रहता है। ये सब नमस्कार हृदय के केवल क्षणिक आवेश से नहीं किये गये हैं। तुलसी में आवेश कम और जागरूकता अधिक है। मर्यादा पुरुषोत्तम के शील के प्रकाश से विश्व को आप्लावित कर जो आदर्शों की एक क्रान्ति पैदा करना चाहता है उसका काम आवेश में आने से नहीं चलता। सामाजिक आदर्शों के भवन के निर्माण की योजना आवेश से नहीं बनती। उसके तो एक-एक कोने की सार्थकता पर विचार करके ही योजना प्रस्तुत करना सम्भव होता है। और उसकी हर ईंट को सोच-समझ कर, नाप-जोख कर, उसकी निर्दिष्ट दिशा के कोणों को परख कर ही रखना पड़ता है। मस्तिष्क और हृदय का एक आदर्श सन्तुलन तुलसी-काव्य की और खास कर रामचरितमानस की विशेषता है, जिसमें हृदय और मस्तिष्क दोनों एक दूसरे के कार्य को कभी विकृत न करके परिमार्जित ही करते हैं। सन्तुलन की यह अवस्थिति भी एक योजना के फलस्वरूप ही तुलसी साहित्य में आयी है। इस सन्तुलन पर बराबर दृष्टि रखने वाले तुलसी के शब्द बड़े सारगर्भित और मननीय हैं—

हृदय सिंधु मति सीपि समाना, स्वाती सारद कहहिं सुजाना।
जौं बरखइ बरबारि बिचारू, होहिं कवित मुकुता मनि चारू।

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १२ के बाद।

जुगुति बेधि पुनि पोहिअहि रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन विमल उर सोभा अति अनुराग‡।

कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ, मति अनुरूप रामगुन गावउँ।
कहँ रघुपति के चरित अपारा, कहँ मति मोरि निरत संसारा†।

सरल कवित कीरति विमल सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान।
सो न होइ बिनु बिमल मति मोहि मतिबल अति थोरि।
करहु कृपा हरिजस कहउँ पुनि-पुनि करउँ निहोरि§।

ऊपर की पंक्तियों में हृदय और मस्तिष्क के इसी आदर्श सन्तुलन की तुलसी की मर्यादा दिखाई पड़ती है। हृदय सिन्धु के समान है, और मति सीपी के समान। ज्ञानी लोग सरस्वती को स्वाती कहते हैं। सरस्वतीरूपी स्वाती जब सुन्दर विचारों के पवित्र जल की वर्षा करती है तब कवित्तरूपी सुन्दर मोती पैदा होते हैं। युक्ति से इस मोती को बेध कर राम के आदर्श चरितरूपी सुन्दर तागे में पिरोया जाता है, तब सज्जन लोग इस हार को अपने पवित्र हृदय पर पहन लेते हैं और राम के अनुराग से उस हृदय की शोभा बहुत अधिक बढ़ जाती है। इससे बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी हृदय, मति, विचार और युक्ति के सन्तुलन को ही कविता मानते हैं। इस कविता के प्रभाव से राम के आदर्श चरित के प्रति सज्जनों के हृदय में अनुराग पैदा हो जाता है। तुलसी इस पर विश्वास करते हैं कि उनकी कविता के मोती के हार का निर्माण करने वाला सूत्र राम का आदर्श चरित्र ही है। तुलसी के अनुसार कविता क्रान्तिकारिणी और आकर्षक तभी होती है जब उसमें हृदय, मति, विचार और युक्ति की तपःपूत अवस्था का सम्मिलन होता है। ऐसे ही प्रकार के सन्तुलन से हृदय, मति, विचार और युक्ति आदर्श के प्रचार और आदर्श समाज के निर्माण में सफल होते हैं।

रामायण के इसी प्रकरण में उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने कहा है—"मैं अपनी मति के अनुरूप राम के गुण गाता हूँ। कहाँ रघुपति के उदार चरित और कहाँ संसार में डूबी हुई मेरी मति।"

कवि के इस कथन से उसके विनय की ही व्यंजना समझी जानी चाहिए। ऐसा कहने में भी उसकी मति ही जागरूक है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि कवि ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसकी मति संसार के भेदों में डूबी हुई है। जिसमें सत्यतः सांसारिक दुर्बलताएँ रहती हैं वह तो उन्हें स्वीकार ही नहीं करता। यह तो महात्मा का निर्मल स्वरूप है जो राम की अनंत पवित्रता का साक्षात्कार करके उसके सामने विनय प्रदर्शित करने के लिए अपनी मति को बहुत हीन कहता है।

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ११ और उसके पहले। † वही, दोहा ११ के बाद।
§ वही, दोहा १४, प्रथम चार पंक्तियाँ।

इसी विनम्रता का परिचय हमें फिर होता है, जब हम कवि को ऊपर की पंक्तियों में यह कहते हुए सुनते हैं—"उसी सरल कविता और विमल कीर्ति का ज्ञानी लोग आदर करते हैं जिसे सुन कर शत्रु भी अपना स्वाभाविक बैर भूल जाता है और प्रशंसा करने लगता है। ऐसी कविता बिना विमल मति के नहीं होती और मति का बल मुझमें बहुत कम है। सब सज्जन लोग मुझ पर कृपा करें। उनका आभार निरन्तर स्वीकार करते हुए मैं राम का यशोगान करता हूँ।" यहाँ फिर तुलसीदास जी उसी बात को दुहराते हैं कि क्रान्ति को जन्म देने वाली कविता बिना विमल मति के नहीं होती। यह मति, हृदय और बुद्धि के सन्तुलन से ही प्राप्त होती है।

अपने गुरु की वन्दना करते हुए भी तुलसीदास जी ने कहा है—

बन्दउँ गुरु-पद-कंज कृपासिन्धु नररूप हरि।
महा-मोह-तम-पुंज जासु बचन रवि-कर-निकर‡।

यहाँ भी उन्होंने अपने गुरु के शब्दों को अज्ञान के अंधकार की अपार राशि को नष्ट करने वाली सूर्यरश्मियों का समूह ही माना है। यहाँ भी तुलसी की दृष्टि ज्ञान पर ही लगी हुई है। गुरु के प्रति भक्ति के भाव में डूब कर भी, आविष्ट हो कर भी, तुलसी की दृष्टि ज्ञान को सामने से नहीं हटाती। पवित्र हृदय और पावन बुद्धि का यही योग तुलसी का अभीष्ट है। ऐसा साधक आवेश में या आवेश के बाद, कभी भी सन्तुलन नहीं खोता। यहीं तुलसी ने फिर कहा है—

श्रीगुरु-पद-नख-मनि-गन जोती, सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।
दलन मोह-तम सो सुप्रकासू, बड़े भाग उर आवइ जासू।
उघरहिं विमल बिलोचन ही के, मिटहिं दोष दुख भव रजनी के।
सूझहिं राम-चरित मनि-मानिक, गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक†।
गुरु-पद-रज-मृदु-मंजुल-अंजन, नयन अमिअ दृग-दोष विभंजन।
तेहि करि विमल विवेक-बिलोचन, बरनउँ राम-चरित भवमोचन$।

'दिव्य दृष्टि हिय होती' में अंधे हृदय को ज्ञान की अलौकिक दृष्टि की प्राप्ति की ओर ही तुलसी की दिव्य दृष्टि देख रही है। उसका इंगित इसी ओर है कि सामाजिक क्रान्ति करने वाला साधक हृदय के अंधे आवेश के साथ कभी नहीं चलता। वह तो समाज के आदर्शरूप की दिव्य धारणा की ज्योति से प्रफुल्लित रहता है। आदर्शरूप की धारणा उसके मस्तिष्क की दिव्यता से सम्पन्न होती है तथा उस धारणा को समाज के भीतर क्रियान्वित हो कर प्रवाहित होते हुए देखने की कल्पना का आनन्द उसके हृदय को आलोकित रखता है। मस्तिष्क और हृदय के इसी प्रकार के सन्तुलित आलोक को गोस्वामी जी हृदय की दिव्यदृष्टि कहते हैं। इसी प्रकाश के सन्तुलन को लक्ष्य करके तुलसीदास जी ने कहा है—"यह सुन्दर प्रकाश अज्ञान के अंधकार को समाप्त कर देता है। उसके भाग्य जाग

‡ रामचरितमानस, बालकांड, सोरठा ५। † वही, सोरठा ५ के बाद। $ वही, दोहा १ के बाद।

जाते हैं, जिसके हृदय में यह प्रकाश आ जाता है ‡।" हृदय और मस्तिष्क के इस सन्तुलित प्रकाश के सम्बन्ध में तुलसी के विचार बिलकुल स्पष्ट हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि हृदय के आवेश के प्रकाश में मस्तिष्क का आलोक और मस्तिष्क के प्रकाशमय पावन चिन्तन के समय हृदय के पवित्र प्रेम का प्रकाश तुलसी की साधना के पथ पर छाया रहता है। इसको इन शब्दों में भी व्यक्त किया जा सकता है कि रामचरितमानस का कवि साधक ही नहीं, वह तो सिद्ध हो चुका है। आदर्श समाज के सम्पूर्ण स्वरूप को उसने सिद्ध कर लिया है। इस सिद्धि की परिपक्वता को ले कर ही उसने मर्यादा पुरुषोत्तम तथा अपने सब आदर्श पात्रों की भावना की है। यही उसकी भक्ति का निचोड़ है।

स्वार्थ के ऊपर उठ कर विश्व भर को अपने हृदय में स्थान दे कर उसी सर्वतोमुखी रक्षा करने की भावना की सिद्धि ही तुलसी की भक्ति की परिपूर्णता है। ऐसे ही राम और इन्हीं भावनाओं के सिद्ध भरत की तुलसी ने उपासना की है। भारतीय आर्यवीरता अपनी सिद्धि की अवस्था पर आदर्श की इसी उच्चतम भूमि पर रहती है। इसी की झाँकी भगवान् राम में पा कर गोस्वामी जी मुग्ध हुए हैं। यह मुग्धता श्रद्धा और प्रेम के योग के कारण बौद्धिक और हार्दिक दोनों है। भारतीय भक्तिसाधना में श्रद्धा और प्रेम के इसी सन्तुलित योग के कारण अंधा आवेश कभी नहीं रहता।

ज्ञान और प्रेम के इसी विराट् योग की सिद्धि प्राप्त करके तुलसी ने समाज के सम्पूर्ण चित्र को संजोना चाहा है। उनमें पक्षपात देखना भूल होगी।

ऊपर की उद्धृत पंक्तियों में तुलसीदास जी ने कहा है—"जिसे यह प्रकाश प्राप्त हो जाता है उसके हृदय की आँखें पवित्र और उदार हो कर खुल पड़ती हैं। संसाररूपी रजनी के दुःख और दोष सब मिट जाते हैं। उसे मणि और माणिक्य के समान ज्योतिष्मान् राम के सब चरित जिस-जिस खान में जहाँ-जहाँ गुप्त या प्रकट रहते हैं, दिखाई पड़ जाते हैं।"

तुलसीदास जी के ये शब्द स्पष्ट इंगित देते हैं कि खुली हुई आँखों से जगत् के सम्पूर्ण आदर्शशील को जगत् के भीतर से तथा भारतीय आदर्श की साधना में डूबे हुए अतीत के सब साधकों और कवियों से प्राप्त करके गोस्वामी जी ने अपने राम के शील को संजोया है। आदर्श व्यक्तियों के चरित के मौन व्याख्यानों को तुलसी के साधक ने बड़े ध्यान से सुना था, अपने हृदय और मस्तिष्क के कानों से। जहाँ-जहाँ आदर्श शील है वहीं राम रहता है। यह भारतीय विचारधारा का सर्वस्वीकृत प्राचीन सूत्र है। तुलसी को यह प्रकाशवान् सूत्र सहजगम्य था। इसीलिए जगत् के कोने-कोने के शील में जहाँ-जहाँ राम दिखाई पड़े वहाँ-वहाँ से गोस्वामी जी ने उन्हें अपनी पलकों से उठाया और उस सम्पूर्ण शील के आलोक में अपने राम का दर्शन करके वे धन्य हो गये। विश्व की खान के आदर्श के वे रत्न जो साधारण साधक के लिए गुप्त रह जाते, तुलसी को स्पष्ट दिखाई पड़े।

पवित्र स्नेह से भेदज्ञान का नाश हो जाता है। भेद के आधार पर टिके हुए अज्ञान के कारण जो दुःख और संताप मनुष्य अनुभव करता रहता है और जिसके कारण उसका

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, सोरठा ५ के बाद, पंक्ति ६। वही पंक्ति ७ और ८।

जीवनपथ ईर्ष्या, दम्भ, अभिमान, राग और द्वेप इत्यादि से ऊबड़-खावड़ रहता है वह राजमार्ग की तरह समतल सुदृढ तथा पवित्र स्नेह से चिकना हो जाता है।

तुलसीदास जी ने अपने गुरु की वन्दना में ऊपर की उद्धृत पंक्तियों में कहा है—"गुरु के चरणों की धूल मृदु और मंजुल अंजन की तरह है। वह आँखों के लिए अमृत की तरह है। आँखों के दोषों को वह नष्ट कर देती है। उसी धूल के अंजन के विवेक से अपनी आँखों को उदार, निर्मल और पवित्र बना कर संसार के दोषों को नष्ट करने वाले रामचरित का मैं वर्णन करता हूँ ‡।"

ऐसा विवेक-सम्पन्न सिद्ध क्या पक्षपात कर सकता है? वह तो अपने, प्रत्येक पग पर सजग है। संसार के समग्र दोषों को नष्ट करने वाले राम के चरित्रों की सिद्धि प्राप्त कर लेने वाला साधक पक्षपात के दोष में डूब नहीं सकता। इसीलिए उसके राम ऐसे हैं, जिनके भीतर सच्चाई के लिए प्रेम, बुराई के लिए घृणा और जातीय पक्षपात का अभाव है। इस राम की सिद्धि करने वाला सर्वदर्शी महात्मा जातीय पक्षपात कर ही नहीं सकता उसे समझने में बड़ी सतर्कता की आवश्यकता है।

यहीं तक नहीं, तुलसी ने अपने मानस में एक गुरु-शिष्य परम्परा भी दी है। वह परम्परा है राम साहित्य के गुरु-शिष्यों की। इसके प्रथम आचार्य शिव हैं—"संभु कीन्ह यह चरित सोहावा †।" उनकी शिष्या, स्वयं जगदम्बा बनीं—"बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा $।" शंकर के दूसरे शिष्य कागभुशुंडि हैं—"सोइ शिव कागभुशुंडिहि दीन्हा *।" कागभुशुंडि के शिष्य याज्ञवल्क्य ऋषि हैं—"तेहि सन जागवलिक पुनि पावा §।" याज्ञवल्क्य के शिष्य भरद्वाज हुए—"तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा ×।"

इस मुख्य परम्परा की सरिता के प्रवाह की अविच्छिन्न धारा की ओर इशारा करने के लिए तुलसीदास जी ने कह दिया है—"अउरउ जे हरिभगत सुजाना, कहहिं सुनहिं समुझहिं विधि नाना +।" इसके बाद उन्होंने कहा है—"मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत *।"

इस गुरु-शिष्य-परम्परा में कागभुशुंडि और याज्ञवल्क्य का गुरु-शिष्य-सम्बन्ध डा० मैकनिकॉल के सन्देह के प्रकरण में बहुमूल्य है। यहाँ गुरु पक्षी है और शिष्य ब्राह्मण। ये पक्षी कागभुशुंडि पहले शूद्र, फिर दूसरे जन्म में ब्राह्मण और उसके बाद पक्षी हो गये। कर्मानुसार पुनर्जन्म मानने वाला भारत जन्म के अनुसार इस प्रकार के विकास को मानता है। शूद्र, कर्म के अनुसार ब्राह्मण और फिर कर्म के अनुसार ही ज्ञानी कौआ हो गया। यही कौआ याज्ञवल्क्य ऋषि का गुरु है। गोस्वामी जी के गुरु शब्द की व्यापकता पक्षपात से दूर है। गुरु वही है जिसके भीतर ज्ञान की गुरुता हो। इस पक्षी में ज्ञान की गुरुता थी; इसीलिए यह ब्राह्मण का भी गुरु हो सका।

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १ के बाद की दो पंक्तियाँ। † वही, दोहा २९ के बाद, पंक्ति ३। $ वही। * वही, पंक्ति ४। § वही, पंक्ति ५। × वही। + वही, पंक्ति ८। * वही, दोहा ३०।

यही कागभुशुंडि गरुड़ के भी गुरु हैं। इनसे उपदेश पा कर तुलसी के गरुड़ ने कहा है—

मोह जलधि बोहित तुम्ह भयेऊ। मो कहँ नाथ विविध सुख दयेऊ ‡।
मोपहिं होइ न प्रतिउपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा।
पूरन काम राम अनुरागी। तुम्ह सम तात न कोउ बड़भागी।
जीवन जन्म सुफल मम भयऊ। तव प्रसाद सब संशय गयऊ †।
जानेहु सदा मोहि निज किंकर। पुनि-पुनि उमा कहइ बिहंगवर।

यहाँ भी तुलसी के गरुड़ की दृष्टि ज्ञान और प्रेम, हृदय और मस्तिष्क के सन्तुलन पर ही है। जो हृदय असीम आनन्द को प्राप्त करके पूर्णकाम हो जाता है, जिसके भीतर स्वार्थ के सांसारिक सुख की इच्छाएँ नहीं पैदा होतीं, जो परमात्म-आदर्श में तन्मय रहता है वही अज्ञान के समुद्र की नाव हो सकता है। गरुड ने अपने गुरु कागभुशुंडि में इन्हीं लक्षणों का दर्शन किया है। इन्हीं लक्षणों से युक्त व्यक्ति गुरु होने का अधिकारी है, फिर वह चाहे ब्राह्मण हो चाहे शूद्र, पशु हो चाहे पक्षी, पुरुष हो या स्त्री। ब्राह्मण के भीतर इन्हीं गुणों की अपेक्षा करके तुलसी के शिव ने इसी कागभुशुंडि प्रकरण में कहा है—

छमासील जे पर उपकारी। ते द्विज मोहि प्रिय जथा खरारी §।

जो द्विज क्षमाशील और परोपकारी होते हैं वे मुझे राम के समान प्रिय हैं। तुलसी के शिव भी राम को इन्हीं गुणों के कारण प्रेम करते हैं, क्योंकि राम क्षमाशील और परोपकारी हैं।

जीवन के इस संतुलन की सिद्धि प्राप्त कर लेने वाला साधक कैसे पक्षपात करेगा। वह जहाँ कहीं भी ब्राह्मण की बात करता है वहाँ उसकी दृष्टि में ब्राह्मण संत ही है, असंत नहीं।

बार-बार ब्राह्मण की चर्चा करके संत की स्तुति गोस्वामी जी के द्वारा इसलिए की गयी है कि संत में ब्राह्मण स्वभाव पैदा हो जाता है और सच्चे ब्राह्मण में संतस्वभाव रहता है।

सुनु मम बचन सत्य अति भाई। हरि तोषन व्रत द्विज सेवकाई।
अब जनि करहि विप्र अपमाना। जानेसु संत अनन्त समाना *।

यह उपदेश स्वयं शंकर ने उस शूद्र को दिया जो कई जन्मों के बाद ज्ञानी कागभुशुंडि हुआ। यहाँ भी शूद्र का गुरु ब्राह्मण था और उसका संत स्वभाव था। इसीलिए उसकी अवज्ञा का परिणाम शिव का शाप हुआ, जिसके कारण उसे सर्प से प्रारंभ करके विभिन्न शरीरों में एक हजार बार जन्म लेना पड़ा और अंतिम शरीर ब्राह्मण का मिला। गुरु के

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १२४ के बाद पंक्ति ३ से ? तक। † वही, पंक्ति ९ से १०। § रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १०८ के बाद, पंक्ति ५। * रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १०८ के बाद, पंक्ति ११–१२।

कोमल स्वभाव से प्रेरित शिष्य के लिए क्षमा की प्रार्थना का परिणाम यह हुआ कि इस लम्बी अवधि में उसे ज्ञान का प्रकाश मिलता रहा। ब्राह्मण शरीर से राम की सगुण भक्ति का रहस्य जान लेने के लिए प्रयत्न के सिलसिले में लोमश ऋषि से भेंट हुई। उन्होंने निर्गुण भक्ति का निरूपण किया। सगुण भक्ति के लिए बार-बार हठ करने पर क्रोध में आ कर ऋषि ने उसे कौआ हो जाने का शाप दिया। इस शाप को ब्राह्मण ने नम्रता और प्रेम से स्वीकार कर लिया। ब्राह्मण की दैन्यवृत्ति को देख कर ऋषि को दया आ गयी। वे अपने शाप पर बहुत पछताने लगे और उसे बुला कर सगुण उपासना का रहस्य समझाया।

यही कागभुशुंडि के विकास का इतिहास है। इस इतिहास में ब्राह्मण गुरु की प्रशंसा केवल उसके संत स्वभाव के कारण की गयी है, जातीय पक्षपात के लिए नहीं। इसी तरह ब्राह्मण की प्रशंसा तुलसी-साहित्य में जहाँ-जहाँ की गयी है वहाँ-वहाँ संत-स्वभाव की ऊँचाई को गौरवान्वित करने के लिए ही, जाति के प्रति मोहजनित पक्षपात के कारण नहीं।

बिना अपवाद सब संत अपने आदर्श शील के कारण प्रशंसनीय होते हैं। तुलसी की भक्तिपद्धति के भीतर विराट् शील से आलोकित जो कोई व्यक्ति संत-धर्म की सीमा के भीतर आ जाता है वही प्रशंसनीय है। इस प्रशंसा का पात्र होने के लिए किसी जाति या लिंग की आवश्यकता नहीं। संत-धर्म के भीतर आ जाने के कारण जनकपुर के सब नर-नारी तुलसी की प्रशंसा के पात्र बने—

पुर-नर-नारि सुभग सुचि संता। धरमसील ज्ञानी गुनवंता ‡।

अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करने वाले ज्ञानी, गुणवान् और पवित्र आचरण वाले व्यक्ति ही संत हैं। इन्हीं लक्षणों के कारण तुलसी ने उन सबकी प्रशंसा की। इसी प्रकार संतस्वभाव केवट में था जिसके रामप्रेम का वर्णन करते हुए तुलसी ने कहा है—

अति आनन्द उमगि अनुरागा। चरन-सरोज पखारन लागा।
बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं। एहि सम पुन्य पुंज कोउ नाहीं †।

भगवान् राम के प्रति तथा उनके आदर्शों के प्रति अनुराग रखने वाले केवट को सर्वोच्च स्थान देने में तुलसी को संकोच नहीं हुआ। वह तो ब्राह्मण नहीं था।

हर जगह तुलसीमत की परीक्षा करने पर यही ज्ञात होता है कि राम का आदर्श, संत धर्म है, और उसे जो प्राप्त कर लेता है वही तुलसी की प्रशंसा प्राप्त करता है, चाहे वह किसी जाति का हो। तुलसी ने यह स्पष्ट घोषणा की है—

सुद्ध सच्चिदानन्दमय कंद भानु-कुल-केतु।
चरित करत नर अनुहरत संसृति-सागर-सेतु $।

राम का चरित भवसागर के लिए सेतु है। उस आदर्श चरित का अनुसरण करके संत स्वभाव वाले मनुष्य जगत् के स्वार्थमय प्रलोभनों से दूर हो जाते हैं। इन्हीं संत स्त्री-पुरुषों की वन्दना गोस्वामी जी ने की है, किसी एक जाति की नहीं।

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २१२ के बाद, पंक्ति ६। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, सोरठा १०० के बाद, पंक्ति ७–८। $ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा ८७।

कहाँ तक कहा जाए, तुलसी के राम भी ब्राह्मण नहीं, क्षत्रिय हैं। इस क्षत्रिय अवतार को ही तुलसी ने चुना। यदि जाति पक्षपात ही तुलसी का लक्ष्य होता तो विष्णु के ब्राह्मण-अवतार परशुराम का ही आकर्षक चित्र खींचने के लिए वे अपनी प्रतिभा से एक काव्य लिखने की क्षमता रखते थे और उन्होंने ऐसा कर लिया होता। परन्तु उन्होंने ऐसा न करके परशुराम को भी राम के शील से प्रभावित दिखाया है और राम के अवतार को परशुराम के अवतार से अधिक व्यापक और जीवन के सब आदर्शों का आश्रय होने के लिए उपयुक्त सिद्ध किया है। अतः इस प्रसंग से भी हमें यही स्पष्ट प्रतीत होता है कि तुलसी ने जातीय पक्षपात पर कभी दृष्टि ही नहीं डाली है।

डा० मैकनिकॉल के आक्षेप का आधार ही भ्रान्त है। जिस आधार पर डा० मैकनिकॉल ने ब्राह्मण के लिए तुलसी के पक्षपात को देखा है वह आधार भी हमें शून्य ही दिखाई पड़ता है। डा० मैकनिकॉल का मानस का अध्ययन ग्राउज़ के अनुवाद पर आधारित है। उन्होंने अपने इस मत की पुष्टि में ग्राउज़ के अनुवाद को उद्धृत किया है। वह निम्नांकित है—

"दि गुरु कैन सेव फ्रॉम दि ब्राह्मन्स ऐंगर, बट इफ़ दि गुरु हिमसेल्फ़ वी राथ, देयर इज़ नन इन दि वर्ल्ड दैट कैन सेव...माई सोल इज़ डिस्टर्ब्ड बाई वन फीयर, दि कर्स ऑफ़ दि ब्राह्मण इज़ समथिंग मोस्ट टेरिबिल‡" गोस्वामी जी की मूल चौपाई निम्नांकित है—

सत्य नाथ पद गहि नृप भाखा, द्विज-गुरु-कोप कहहु को राखा।
राखइ गुरु जो कोप विधाता, गुरु बिरोध नहिं कोउ जग त्राता†।

एकहि डर डरपत मन मोरा। प्रभु महि देव साप अति घोरा§।

पहले तो ग्राउज़ का अनुवाद ही अशुद्ध मालूम पड़ता है। "राखइ गुरु जो कोप विधाता" का अनुवाद तो यह होगा 'इफ़ दि गॉड् ऑफ़ फ़ेट बिकम्स ऐंग्री, दि गुरु कैन प्रोटेक्ट'.

यदि डा० मैकनिकॉल के उपर्युक्त अनुवाद को ठीक भी मान लिया जाए, तब भी गुरु का महत्त्व ब्राह्मण से अधिक हो जाता है। पर यह अनुवाद ठीक नहीं है। यहाँ जो ठीक अनुवाद दिया गया है उससे गुरु का महत्त्व ब्रह्मा से भी अधिक हो जाता है, ब्राह्मण की तो कोई बात ही नहीं।

स्थिति है भी ऐसी ही। ब्राह्मण के क्रोध से गुरु के बचाने की बात गोस्वामी जी ने नहीं कही है। उन्होंने तो यही कहा है कि भाग्य के विधाता ब्रह्मा भी यदि कुपित हो जाएँ तो गुरु रक्षा कर सकते हैं। यहाँ गुरु को बहुत उच्च सम्मान दिया गया है, पर यह गुरु ब्राह्मण नहीं है; गुरु ही है, चाहे ब्राह्मण हो या न हो। 'गुरु का विरोध करने से संसार में कोई रक्षक नहीं मिल सकता*' में गुरु की अनंत महिमा की ओर इशारा है।

---

‡ इंडियन थीइज्म, पृष्ठ ११८, पंक्ति २० से २८ तक। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १६५ के बाद, पंक्ति ५–६। § वही, पंक्ति ८। * रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १६५ के बाद, पंक्ति ६।

सच्चे ब्राह्मण में भी वही गुण होते हैं जो सच्चे गुरु में होते हैं; अतः ब्राह्मण भी गुरु के समान ही होता है, इसलिए 'द्विज-गुरु-कोप कहहु को राखा' ‡ में तुलसीदास जी ने कहा है कि ब्राह्मण और गुरु के कोप से कौन रक्षा कर सकता है। यहाँ पर ब्राह्मण अलग है और गुरु अलग। यहाँ ब्राह्मण केवल इसलिए प्रशंसनीय नहीं हुआ है कि वह ब्राह्मण जाति में पैदा हुआ है, पर उसकी प्रशंसा इसलिए की गयी है कि उसमें शील की गरिमा होती है। यहाँ तुलसीदास जी ने जानबूझ कर गुरु और ब्राह्मण कहा है, गुरु या ब्राह्मण नहीं। यहाँ 'द्विज-गुरु' में कर्मधारय समास नहीं है। यदि ऐसा होता तो 'द्विज' 'गुरु' का विशेषण हो जाता। यहाँ 'द्विज-गुरु' में द्वन्द्व समास है। द्विज और गुरु के शाप से कहो किसने रक्षा की है। यही चौपाई का अर्थ होता है। शील के गौरव से आलोकित ब्राह्मण के कोप से भी कभी किसी ने रक्षा करने में सफलता नहीं प्राप्त की तथा संतधर्म से युक्त गुरु के कोप से भी कभी किसी ने रक्षा नहीं की है। यह गुरु किसी भी जाति का हो सकता है। इस सिद्धान्त पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है।

यह चौपाई तुलसी के रावण ने अपने पूर्वजन्म में भानुप्रताप के अपने रूप से कपट मुनि से कही थी। इस प्रकरण में प्रतापभानु के गुरु की बात तो कही नहीं गयी थी। ब्राह्मण के शाप की बात अवश्य कही गयी थी। कपट मुनि ने कहा था कि ब्राह्मण के शाप से तुम्हारा नाश हो सकता है। इसका उतर देने के लिए गुरु को भी ब्राह्मण के साथ जोड़ कर एक नीति की बात राजा भानुप्रताप ने कपट मुनि से कही थी कि गुरु और ब्राह्मण कें शाप से कोई रक्षा नहीं कर सकता। ब्राह्मण के शाप की कपट मुनि ने चर्चा की थी इसीलिए सामान्य नीति से अलग हट कर भानुप्रताप ने उत्तर दिया था कि ब्राह्मण का शाप बड़ा भयानक होता है। अतः यहाँ गुरु और ब्राह्मण एक हो ही नहीं सकते कि गुरु की प्रशंसा से केवल ब्राह्मण की ही प्रशंसा हो जाए और यह सिद्ध हो सके कि सदा ब्राह्मण ही गुरु हो सकता है। अतएव भ्रान्त धारणा के कारण ही डा० मैंकनिकॉल ने गोस्वामी जी पर यह आक्षेप किया है। यह बात अवश्य सत्य है कि गुरु के लिए गोस्वामी जी के भीतर अपार श्रद्धा और भक्ति है; इसीलिए उनके भानुप्रताप ने ब्राह्मण की चर्चा चलने पर गुरु की अनंत महिमा की ओर भी इशारा कर दिया और अन्त में ब्राह्मण के शाप की भयानकता को भी स्वीकार किया। यहाँ गुरु के बहाने ब्राह्मण की प्रशंसा नहीं की गयी है प्रत्युत ब्राह्मण की चर्चा के प्रसंग में गुरु की प्रशंसा के लिए अवसर निकाल लिया गया है,। "जननि जनक गुरु बन्धु हमारे, कृपानिधान प्रान तें प्यारे †।" यह चौपाई प्रजा के द्वारा भगवान् राम के लिए कही गयी है। राम क्षत्रिय थे पर आदर्श शीलवान् होने के कारण तुलसी की प्रजा ने उन्हें गुरु का सम्मान दिया।

तुलसी पर इस आक्षेप के लिए डा० मैकनिकॉल का दूसरा आधार भी भ्रान्त है। डा० मैकनिकॉल को तुलसीदास जी ब्राह्मण जाति के पक्षपाती दिखाई पड़े। इसके लिए

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १६५ के बाद, पंक्ति ५। † रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ४१ के बाद।

कारण ग्राउज़ का मानस का अनुवाद भी है। अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए डा० मैकनिकॉल ने अरण्यकांड के मंगल श्लोक का ग्राउज़ का अनुवाद उद्धृत किया है। श्लोक में शंकर की प्रार्थना की गयी है। ग्राउज़ ने उस प्रार्थना को ब्राह्मण की प्रार्थना समझ कर अनुवाद किया है। ग्राउज़ का यह भ्रम स्वाभाविक ही था। तुलसी की दृष्टि बड़ी रहस्यभेदिनी थी। इसीलिए उनकी वस्तुयोजना भी बड़ी सूक्ष्म हुई है। भ्रम की अवस्था में बुद्धिमान विचारक संस्कृत के श्लोकों को अपने विचार के अनुसार तोड़-मरोड़ सकता है। यह संस्कृत साहित्य की विशेषता का परिणाम है। प्रार्थना का श्लोक निम्नांकित है—

मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः पूर्णेन्दुमानन्ददं
वैराग्याम्बुजभास्करं ह्यघघनध्वान्तापहं तापहम्।
मोहाम्भोधरपूगपाटनविधौ श्वासं भवं शंकरं
वन्दे ब्रह्मकुलं कलंकशमनं श्रीरामभूपप्रियम्‡।

इस श्लोक में 'ब्रह्मकुल' को देख कर ग्राउज़ के लिए यह बिलकुल स्वाभाविक बात थी कि वे उसे ब्राह्मण का कुल समझ लेते, क्योंकि एक विदेशी विद्वान् के लिए यह जान लेना कि ब्रह्मकुलं शंकर का विशेषण हो सकता है, इतना सरल नहीं है। तुलसी की वस्तुयोजना के रहस्य को भी यदि वे जानते तो यह भूल उनसे न होती। इस 'ब्रह्मकुल' को ब्राह्मण कुल समझ कर उन्होंने 'भव' और 'शंकर' शब्दों को ब्राह्मण का विशेषण बना लिया। ग्राउज़ को उद्धृत करते हुए डा० मैकनिकॉल ने कहा है—

"वी सी, अगेन, हाउ फ़ॉर दि थीइज़्म ऑफ़ तुलसीदास फ़ाल्स शॉर्ट ऑफ़ ए फ़ुल्ली स्पिरिचुअल रिलीजन इन दि पावर दैट स्टिल रिमेन्स विदिन इट ऑफ़ दि ओल्ड एण्ड डीपली रूटेड कास्ट डिस्टिंक्शन्स. दि ब्राह्मण इज़ नॉट यट डीपोज़्ड फ्रॉम हिज़ प्लेस ऑफ़ प्रिविलेज. इट इज़ स्पेशली फ़ॉर दि सेक ऑफ़ ब्रह्मन्स, काउज़ एन्ड गॉड्स दैट राम हैज़ टेकेन ह्यूमन फ़ॉर्म, फ़ॉर दि ब्राह्मण इज़, 'दि वेरी रूट ऑफ़ दि ट्री ऑफ़ पायटी...दि डेस्ट्रॉयर ऑफ़ सिन'†.

इस उद्धरण के उल्टे विरामों के भीतर के शब्द ग्राउज़ के हैं। डा० मैकनिकॉल की इन सब आपत्तियों का उत्तर तो पहले दिया जा चुका है। यहाँ केवल यही देखना है कि डा० मैकनिकॉल के आक्षेप का आधार वस्तुतः कोई अस्तित्व रखता है या नहीं। यदि यह प्रार्थना ब्राह्मण की न हो कर शिव की सिद्ध हो जाए तो उनके इस आधार का अस्तित्व ही नहीं रह जाता।

इसे शंकर की स्तुति मानने के पक्ष में सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि तुलसीदास जी ने मानस के प्रायः सब कांडों के प्रारम्भ में राम और शंकर की प्रार्थना की है। सुन्दरकांड ऊपरी दृष्टि से देखने में अपवाद प्रतीत होगा, पर ध्यान से देखने में वहाँ भी एक प्रकार से शंकर की स्तुति हो जाती है। मंगलाचरण की भारतीय पद्धति में किसी भी बहाने

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, मंगलाचरण, श्लोक १। † इंडियन थीइज़्म, पृष्ठ ११८, पंक्ति ११ से १७ तक।

देवता का नाम ले लेने से उसकी स्तुति हो जाती है। राम की स्तुति करते हुए तुलसीदास जी ने उन्हें 'ब्रह्माशंभुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुम्' ‡ कहा है। यहाँ शंभु का नामस्मरण हो जाता है। इसके अतिरिक्त यहीं पर गोस्वामी जी ने हनुमान् की स्तुति की है। यह स्तुति तुलसी की विचारधारा में तथा अन्य प्राचीन भारतीय विचारधाराओं की परम्परा के अनुसार भी शिव की स्तुति हो सकती है। तुलसीदास जी मारुति को शिव का अवतार मानते हैं। विनय पत्रिका में गोस्वामी जी ने हनुमान की स्तुति करते हुए उन्हें रुद्रावतार, महादेव, कपाली, वानराकारविग्रह पुरारी, रुद्राग्रनी, कुंजरारी, वामदेव तथा सूलपानी इत्यादि नामों से और सम्बोधनों से सम्बोधित किया है†।

सुन्दरकांड के नायक महावीर हैं। इसीलिए उनकी स्तुति गोस्वामी जी ने कर ली और उसके बाद उन्हें अलग से शिव की स्तुति करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। प्रत्येक कांड में शिव की स्तुति गोस्वामी जी ने इसलिए की है कि उनके अनुसार शिव रामकाव्य के प्रथम देवकवि हैं—'संभु कीन्ह यह चरित सोहावा $।' दूसरा कारण यह भी है कि शैव-वैष्णव द्वेष को मिटाने के लिए 'अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्' तथा 'तस्मिन् ब्रह्मण्यद्वितीये केवले परमात्मनि, ब्रह्मरुद्रौ च भूतानि भेदेनाज्ञोऽनुपश्यति' * की प्राचीन अभेदानुभूति की परम्परा को फिर से जागृत करना उनके जीवन का एक बड़ा भारी लक्ष्य था। जातीय जीवन में ऐक्य की स्थापना करने के लिए और पारमार्थिक अभेद के सत्य को पुनः प्रकाशित करने के लिए मानस में उन्होंने राम और शिव के अभेद पर बार-बार ज़ोर दिया है। इसी अभेदानुभूति के अपने साक्षात्कार को भारतीय हिन्दू जनता के भीतर जागृत करने के लिए प्रत्येक कांड के प्रारम्भ में भी उन्होंने राम और शिव दोनों की स्तुति की है।

इस दृष्टिकोण से देखने पर अरण्यकांड की यह स्तुति ब्राह्मण की न हो कर शिव की ही सिद्ध होती है। अपनी एक सामान्य योजना के अनुसार गोस्वामी जी ने अरण्यकांड के प्रारम्भ में शिव की स्तुति तो की ही है, इसके अतिरिक्त भी यहाँ गोस्वामी जी की यह शिवस्तुति और अधिक स्वाभाविक है। अरण्यकांड की प्रायः पूरी कथा शंकर ने उमा से कही है। यह पूरा कांड शंकर जी का है। इसीलिए गोस्वामी जी ने यहाँ शिव की प्रार्थना पहले ही की है। अयोध्याकांड कवि का अपना है। उसके ३२५ दोहों के लम्बे प्रवाह के बाद जब शिव-उमा-संवाद उन्हें अरण्यकांड के प्रारम्भ से फिर से शुरू करना पड़ा तब उन्होंने पहले शिव की स्तुति की और कांड के प्रारम्भ ही में "उमा रामगुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति §" शंकर से कहलवा कर वक्ता के बदल जाने का संकेत दिया।

साभिप्राय विशेषण का प्रयोग तुलसी-साहित्य की विशेषता है। ऐसे विशेषणों और शब्दों का तुलसी-साहित्य में बहुत बड़ा स्थान है। प्रत्येक कांड के मंगलाचरण में

---

‡ रामचरितमानस, सुन्दरकांड, मंगलाचरण, श्लोक १। † विनयपत्रिका, पद २४ से २९ तक। $ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २९ के बाद। * श्रीमद्भागवत, चतुर्थस्कंध, सर्ग ७, श्लोक ५० और ५२। § रामचरितमानस, अरण्यकांड, आरंभिक सोरठा।

तुलसीदास जी ऐसे विशेषणों और अभिप्राययुक्त शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनसे आगे आने वाली घटनाओं की प्रकृति का संकेत मिल जाता है। प्रथम सोपान बालकांड का नाम तुलसीदास जी ने 'विमल सन्तोष सम्पादन' रखा है। इस विमल सन्तोष सम्पादन के इशारे उन्होंने मंगलश्लोकों में दिये हैं। विमल (पवित्र) सन्तोष आत्मज्ञान से ही होता है। इसी के स्वरूप की ओर इंगित करते हुए उन्होंने कहा है—

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वास रूपिणौ
याभ्यांविना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।
वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्
यमाश्रितोहि वक्रो पि चन्द्रः सर्वत्र वंद्यते ‡।

'भवानी' के 'भव' शब्द से सृष्टि (लोक) का ज्ञान होता है और शंकर शब्द से मंगल का। श्रद्धा और विश्वास से ही लोकमंगल सम्भव हो सकता है। श्रद्धा और विश्वास को अपने भीतर जगा कर जो लोकमंगल की भावना का दर्शन कर लेता है वही नर से नारायण (उदार) हो जाता है। वही स्वान्तःस्थ ईश्वर को, शील की विराटता को देख लेता है। इसी को देख कर परम सन्तोष की अवस्था साधक को प्राप्त होती है।

दूसरे श्लोक में भी इसी परम विमल सन्तोष की ओर इंगित किया गया है। बिना बोधमय, ज्ञानमय अभेददर्शन के जीवन में मंगल का विधान हो ही नहीं सकता। भेददृष्टि से संघर्ष और अभेद दृष्टि से विश्रान्ति, मंगल और पवित्र सन्तोष की अवस्था प्राप्त हो जाती है। भेददृष्टि ही सब अमंगलों की जड़ है। अभेद दृष्टि को प्राप्त करके अपूर्ण जीवन पूर्ण हो जाता है, वन्दनीय हो जाता है। जब जीवन की दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करके अभेदमय मंगल की ऊँचाई पर साधक पहुंच जाता है तब उसे विमल सन्तोष प्राप्त हो जाता है। यही सिद्धान्त बोधमय शंकर का आश्रय पा कर वक्र चन्द्र की वन्दनीयता से लक्षित किया गया है।

अयोध्याकांड: (द्वितीय सोपान) का नाम 'विमल विज्ञान वैराग्य संपादन' गोस्वामी जी ने रखा है इसी विमल वैराग्य और विज्ञान की साधना इस कांड में हुई है। इसकी विवेचना आगे हो गयी है। यहाँ केवल यही देख लेना है कि मंगल श्लोकों में इसका इशारा गोस्वामी जी ने कर दिया है। श्लोक निम्नांकित हैं—

वामाङ्के च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके
भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट्।
सोयं भूतिविभूषणः सुरवरः सर्वाधिपः सर्वदा
शर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशंकरः पातुमाम्।
प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः
मुखाम्बुजश्रीरघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मंजुलमंगलप्रदा †।

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, मंगलाचरण, श्लोक २ और ३। † रामचरितमानस, अयोध्याकांड, मंगलाचरण, श्लोक १ और २।

प्रथम श्लोक में पूर्ण चन्द्र की कान्तिवाले शिव बालचन्द्र को अपने मस्तक पर रखे हुए हैं। उनके वामांक में पार्वती, सिर पर गंगा, गले में विष और हृदय पर सर्पराज वासुकी हैं। सबका अधीश्वर, देवताओं में श्रेष्ठ होने पर भी भस्म से शिव ने अपना श्रृंगार किया है।

पवित्रविज्ञान (अभेददर्शन) और वैराग्य का यही लक्षण है। वहाँ सब विरोधों का सामंजस्य हो जाता है। विष और अमृत (चन्द्रमा) दोनों एक समानता में लीन हो जाते हैं।

दूसरे श्लोक में राम की उस मुखाकृति की स्तुति की गयी है जो अभिषेक का समाचार पा कर विकसित भी नहीं हुई और वनवास के दुःख से मुरझायी भी नहीं। दोनों अवस्थाओं में अभेद देखना विमल विज्ञान है और उनसे प्रभावित न होना विमल वैराग्य है।

किष्किधा कांड (चतुर्थ सोपान) का नाम 'विशुद्ध सन्तोष सम्पादन' है। इस विशुद्ध सन्तोष की चर्चा कांड भर में हुई है। उसकी ओर यहाँ भी मंगल श्लोकों में ही इशारा हो गया है। इसका भी विस्तृत विवेचन हो चुका है। यहाँ विशुद्ध सन्तोष के इंगित मात्र देख लिये जाएँ। श्लोक निम्नांकित हैं—

कुन्देन्दीवरसुन्दरावतिबलौ विज्ञानधामावुभौ
शोभाढ्यौ वरधन्विनौ श्रुतिनुतौ गोविप्रवृन्दप्रियौ
मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ सद्धर्मवर्मौ हितौ
सीतान्वेषणतत्परौ पथिगतौ भक्तिप्रदौ तौ हि नः

ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं कलिमलप्रध्वंसनं चाव्ययं
श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुन्दरवरं संशोभितं सर्वदा
संसारामयभेषजं सुखकरं श्रीजानकीजीवनं
धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम् ‡।

मुकुति जनमु महि जानि ग्यानखानि अघहानिकर।
जहँ बस संभुभवानि सो कासी सेइय कस न।
जरत सकल सुर बृंद विषमगरल जेहि पान किय।
तेहि न भजसि मन मंद को कृपाल संकर सरिस †।

यहाँ 'कुन्देदीवरसुन्दरौ', 'अतिवलौ' और 'विज्ञानधामौ' विशेषणों में तथा 'शोभाढ्यौ', 'वरधन्विनौ' और 'श्रुतिनुतौ' विशेषणों में राम और लक्ष्मण के भीतर क्रम से सौन्दर्य शक्ति और शील का दर्शन करके कवि को विशुद्ध सन्तोष हुआ है। 'श्री रामनामामृत' का पान करने वालों की पवित्र प्रवृत्ति का ध्यान करके भी गोस्वामी जी को विशुद्ध सन्तोष हुआ है। जिस तरह भेषजपान से रोगमुक्ति के कारण सन्तोष उत्पन्न होता है। उसी तरह 'रामनामामृत' के सतत पान से भवरोग (संसार की आसक्ति से पैदा हुए

‡ रामचरितमानस, किष्किधाकांड, मंगलाचरण, श्लोक १ और २। † रामचरितमानस, किष्किधाकांड, मंगलाचरण का सोरठा।

कष्ट) से मुक्ति हो जाने के कारण स्वार्थों के प्रति अनासक्ति के भीतर विशुद्ध सन्तोष उत्पन्न होता है। इस विशुद्ध सन्तोष को प्राप्त कर लेने वालों के लिए साधुवाद का 'धन्य' शब्द प्रयुक्त करके गोस्वामी जी ने अपना भी अनासक्तिमय विशुद्ध सन्तोष व्यक्त किया है। काशी की पवित्रता को जान कर वहाँ निवास करने से शंकर और पार्वती को भी विशुद्ध सन्तोष हुआ है। उनको विशुद्ध सन्तोष इसलिए प्राप्त हुआ है कि उन्होंने इस सत्य का साक्षात्कार कर लिया है कि काशी ज्ञान की जन्मभूमि, पापनाशिनी तथा विश्व भर के प्राणियों को जन्म और मरण के चक्र से मुक्ति दे सकती है। विश्व भर की मुक्ति की भावना के आधार पर जो सन्तोष शिव और पार्वती के भीतर पैदा हुआ है वह स्वार्थ मुक्त होने के कारण अनासक्तिमय विशुद्ध सन्तोष ही है। विष की ज्वालाओं से देवताओं और जगत् की रक्षा करके शिव को विशुद्ध सन्तोष हुआ है तथा उनकी कृपालुता को अपने भीतर अंकित करके कवि को भी विशुद्ध सन्तोष हुआ है। इस कांड में राम, सुग्रीव, बलि, तारा, हनुमान् इत्यादि को भी विशुद्ध सन्तोष की उपलब्धि हुई है। उसी की भूमिका मंगलश्लोकों में है। मानसदर्शन के प्रकरण में इस जीवन-दर्शन का पूर्ण विवेचन किया गया है। यहाँ केवल इतना ही देख लेना पर्याप्त होगा कि तुलसी के मंगलश्लोक अभिप्रायगर्भित होते हैं।

इसी तरह सुन्दरकांड (पंचम सोपान) का नाम 'विमल ज्ञान सम्पादन' है। इस विमल ज्ञान की ओर संकेत का भी स्पष्ट अनुभव हमें मंगलश्लोकों में होता है। श्लोक इस प्रकार हैं—

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाणशान्तिप्रदं
ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुम्।
रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं
वन्देऽहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूडामणिम्।
नान्यास्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च।
अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि ‡।

ऊपर के 'शान्तं', 'शाश्वतं', 'अप्रमेयं', 'अनघं', 'निर्वाणशान्तिप्रदं', 'वेदान्तवेद्यं', 'विभुम्', 'नान्यास्पृहा', 'अखिलान्तरात्मा', 'कामादिदोषरहितं मानसं', 'ज्ञानिनामग्रगण्यं' इत्यादि शब्द 'विमल ज्ञान' की ओर ही संकेत करते हैं। इस कांड के भीतर की घटनाएँ भी इसी 'विमलज्ञान' की सिद्धि करती हैं।

लंका कांड (षष्ठ सोपान) का नाम 'विमल विज्ञान सम्पादन' है। इस कांड में खल रावण का भी वध होता है। इन दोनों परिस्थितियों की तरफ़ संकेत मंगलश्लोकों में है। श्लोक नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

‡ वही, सुन्दरकांड, मंगलाचरण, श्लोक १ से ३ तक।

रामं कामारिसेव्यं भवभयहरणं कालमत्तेभसिंहं
योगीन्द्रं ज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितं निर्गुणं निर्विकारम् ।
मायातीतं सुरेशं खलवधनिरतं ब्रह्मवृन्दैकदेवं
वन्दे कन्दावदातं सरसिजनयनं देवमुर्वीशरूपम् ‡ ।

शंखेन्द्वाभमतीवसुन्दरतनुं शार्दूलचर्माम्बरं
कालव्यालकरालभूषणधरं गंगाशशांकप्रियम् ।
काशीशं कलिकल्मषौघशमनं कल्याणकल्पद्रुमं
नौमीड्यं गिरिजापतिं गुणनिधिं कंदर्पहं शंकरम् ।
यो ददाति सतां शम्भुः कैवल्यमपि दुर्लभम् ।
खलानां दण्डकृद्योऽसौ शंकरः शं तनोतु मे।
लव निमेष परवानु जुग बरस कल्प सर चंड ।
भजसि न मन तेहि रामु कहँ कालु जासु कोदंड † ।

'भवभयहरणं', 'कालमत्तेभसिंहं', 'अजितं', 'खलवधनिरतं', 'शार्दूलचर्माम्बरं', 'खलानां दण्डकृत्', 'सरचंड' और 'कोदंड' इत्यादि से रावण के वध की ओर तथा 'कामारिसेव्यं', 'योगीन्द्रज्ञानगम्यं', 'निर्गुणं', निर्विकारं', 'मायातीतं', 'कलिकल्मषौघशमनं', 'कल्याणकल्पद्रुमं', 'कंदर्पहं', 'कैवल्यं' इत्यादि से विमल विज्ञान की ओर स्पष्ट इंगित है। रावण वध के लिए अपेक्षित विश्वमंगल विधायिनी शक्ति की व्यंजना प्रथम आठ विशेषणों से हो रही है तथा समत्वपूर्ण अद्वैत दर्शन के विमल विज्ञान का स्पष्ट संकेत बाद के नौ विशेषणों से मिलता है।

उत्तरकांड (सप्तम सोपान) का नाम गोस्वामी जी ने 'अविरल हरिभक्ति सम्पादन' रखा है। वहाँ के मंगलश्लोक निम्नांकित हैं—

केकीकण्ठाभनीलं, सुरवरविलसद्विप्रपादाब्जचिह्नं
शोभाढ्यं पीतवस्त्रं सरसिजनयनं सर्वदा सुप्रसन्नम् ।
पाणौ नाराचचापं कपिनिकरयुतं बन्धुना सेव्यमानं
नौमीड्यं जानकीशं रघुवरमनिशं पुष्पकारूढरामम् ।
कोशलेन्द्रपदकंजमंजुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ
जानकीकरसरोजलालितौ चिन्तकस्य मनभृंगसंगिनौ।
कुन्दइन्दुदरगौरसुन्दरं अम्बिकापतिमभीष्टसिद्धिदम्
कारुणीककलकंजलोचनं नौमि शंकरमनंगमोचनम् $ ।

इन श्लोकों में 'चिन्तकस्य मनभृंगसंगिनौ' में 'स्मरण', 'जानकीकरसरोजलालितौ' में 'पादसेवन', 'अजमहेशवन्दितौ' में 'वन्दन', 'कपिनिकरयुतं' से 'सख्य', 'बन्धुनासेव्यमानं' से 'अर्चन' इत्यादि भक्ति के प्रकारों की ओर इंगित किया गया है।

---

‡ रामचरितमानस, लंकाकांड, मंगलाचरण, श्लोक १। † वही, श्लोक २, ३ और बाद का दोहा। $ रामचरितमानस, उत्तरकांड, मंगलाचरण, श्लोक १ से ३ तक।

अतएव हमने यह स्पष्ट देख लिया कि तुलसी की वस्तुयोजना में साभिप्राय शब्दों का बड़ा महत्त्व है। हमें यह भी ज्ञात हो गया कि इन उद्धृत छः सोपानों में उन्होंने शंकर की भी स्तुति की है। अब इन दोनों आधारों को ले कर हम अरण्यकांड के मंगल-श्लोकों की परीक्षा कर यह सिद्ध करेंगे कि उनमें से प्रथम श्लोक ब्राह्मण की स्तुति का श्लोक न हो कर शिव की स्तुति का ही श्लोक है।

अरण्यकांड के साभिप्राय शब्दों की परीक्षा के लिए भी हम इस कांड के नाम को ही आधार बनाएँगे। इस कांड का नाम गोस्वामी जी ने 'विमल वैराग्य सम्पादन' रखा है। इस नाम के अनुकूल शब्द मंगल-श्लोक में हैं। वह है शिव का विशेषण 'वैराग्यांबुज भास्कर' ‡। इस स्तुति के बाद ही राम की निम्नांकित स्तुति है—

सान्द्रानंदपयोदसौभगतनुं पीतांबरं सुन्दरं
पाणौ बाणशरासनं कटिसत्तूणीरभारं वरम्
राजीवायतलोचनं धृतजटाजूटेन संशोभितं
सीतालक्ष्मणसंयुतं पथिगतं रामाभिरामं भजे †।

यहाँ 'धृतजटाजूटेन संशोभितम्' विमल वैराग्य का लक्षण है। पत्नी और भाई को साथ ले कर, सब राजकीय सुखों का विसर्जन करके मुनिवृत्ति स्वीकार कर लेना विमल वैराग्य का लक्षण है। जगज्जीवन के बीच में रहते हुए जो अनासक्तिपूर्ण प्रवृत्ति मनुष्य में रहती है वही विमल वैराग्य का लक्षण है।

इन अभिप्राययुक्त शब्दों के आधार पर जब 'मूलं धर्मतरोः §' से प्रारम्भ होने वाले तृतीय सोपान के मंगल श्लोक की हम परीक्षा करते हैं तब हमें यह बात स्पष्टतः ज्ञात हो जाती है कि श्लोक शिव की स्तुति के लिए ही लिखा गया है। इस सोपान के प्रारम्भ का ही शिव के द्वारा कहा हुआ सोरठा निम्नांकित है—

उमा रामगुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धरमरति *।

इस सोरठे में 'पंडित,' 'बिरति', 'मोह' और 'धरम' शब्द सार्थक हैं। शिव की स्तुति में गोस्वामी जी ने उन्हें 'मूलं धर्मतरोः',§ 'विवेक जलधेः पूर्णेन्दुं',× 'वैराग्यांबुज-भास्करं' + और 'मोहाम्भोधरपूगपाटनविधौ श्वासं' ✱ कहा है। इन चारों विशेषणों की सार्थकता गोस्वामी जी ने शिव की एक ही उक्ति से सिद्ध कर दी है। उपर्युक्त सोरठे में शंकर का ध्यान विवेक, विरति (वैराग्य), मोह और धर्म इन चारों वस्तुओं पर पड़ा है। 'पंडित', 'बिरति', 'मोह' और 'धरम' शब्द क्रम से इन चारों की सूचना देते हैं। जिस बुद्धि में सत् और असत् का विवेक पैदा हो जाता है उसे पंडा कहते हैं। यह पंडाबुद्धि जिसे प्राप्त हो जाती है वही पंडित कहलाता है। अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि विवेक,

---

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, मंगलाचरण, श्लोक १। † रामचरितमानस, अरण्यकांड, मंगलाचरण, श्लोक २। वही, श्लोक १। * वही, मंगलाचरण के बाद का सोरठा। § वही, श्लोक १। × वही। + वही। ✱ वही।

वैराग्य, मोह और धर्म से सम्बन्ध रखने वाले विशेषणों को स्तुति में शिव के लिए दे कर गोस्वामी जी ने शिव के व्याख्यान के प्रारम्भ ही में उनका ध्यान इन चारों की ओर आकर्षित दिखाया है। इस कारण से भी हमें यह विश्वास हो जाता है कि स्तुति शंकर की ही है, ब्राह्मण कुल की नहीं। मानस का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत करते समय ग्राउज़ को इस श्लोक में एक स्वाभाविक भ्रम रह गया है। यह भ्रम इसलिए भी हुआ कि 'श्रीरामभूपप्रियम्' ‡ विशेषण भी धोखा देने के लिए श्लोक में बैठा है। ब्रह्मकुल रामभूप को प्रिय है, पर शंकर भी रामभूप को उससे कम प्रिय नहीं है। अब शंकर के साथ इस 'ब्रह्मकुल' † शब्द की सार्थकता पर विचार किया जाए।

महाभारत के आदिपर्व के अध्याय ६६ के प्रारम्भ में वैशम्पायन ने जनमेजय को बताया है कि ब्रह्मा के छः मानसपुत्रों के अतिरिक्त एक स्थाणु नामक पुत्र भी थे। उस स्थाणु के ग्यारह पुत्र उत्पन्न हुए। वही प्रतापी एकादश रुद्र हैं। उनके नाम मृगव्याध, साम्ब निर्ऋति, अजैकपात्, अहिर्बुध्न्य, पिनाकी, दहन, ईश्वर, कपाली, स्थाणु और भग थे। ये एकादश रुद्र शिव के ही स्वरूप हैं। ये रुद्र ब्रह्मा के कुल के थे, इसीलिए गोस्वामी जी ने शंकर की स्तुति में उन्हें ब्रह्मा के कुल का मान लिया है।

अतएव हर दृष्टि से विचार करने पर सिद्ध यही होता है कि अरण्यकांड के प्रथम मंगल श्लोक में शिव की ही स्तुति की गयी है, ब्राह्मण कुल की नहीं। अतः श्री एफ़० एस्० ग्राउज़०, सी० आई० ई० का 'वन्दे ब्रह्मकुलं' $ का अनुवाद —"आइ रेवेरेन्स दि ब्राह्मनिक रेस" ठीक नहीं है। "आई रेवेरेन्स शंकर, ऑफ़ दि फ़ेमिली ऑफ़ ब्रह्मा" अनुवाद का ठीक स्वरूप होता।

इस निष्कर्ष पर पहुँचने के बाद अब यह स्पष्ट हो जाता है कि डा० मैकनिकॉल का भ्रम भी स्वाभाविक था। पर उनके द्वारा किया गया तुलसी पर आक्षेप तो आधार-रहित होने से नहीं बच सकता और यह बात हमने पहले ही सिद्ध कर दी है कि तुलसी के द्वारा किया गया ब्राह्मणों का सम्मान किस प्रकार उचित था। पक्षपातरहित हो कर ब्राह्मण-गुणों का ही सम्मान तुलसी ने किया था केवल ब्राह्मण-जाति का ही नहीं।

श्री ग्राउज़ के अनुवाद में कमी रह जाने के कारण डा० मैकनिकॉल को एक बार और धोखा खाना पड़ा है। भ्रान्ति के उस अन्धकार में मार्ग भूल जाने के कारण उन्होंने तुलसीदास की भक्ति के लिए कहा है—

"इट इज़ समव्हाट विस्टफ़ुल सेन्स ऑफ़ नीड दैट क्रियेट्स दिस थीइज़्म, नॉट येट दि एश्योरेन्स ऑफ़ ए डीप कनविक्शन। सो इट इज़ डिक्लेयर्ड ऑफ़ ए ग्रेट सेज हू हैज़ फ़ॉलोड दि पाथ ऑफ़ डिवोशन दैट ही वाज़ नॉट एब्ज़ॉर्ब्ड् इनटु दि डिविनिटी फ़ॉर दिस रीज़न दैट ही हैड ऑलरेडी रिसीव्ड दि मिस्टीरियस गिफ़्ट ऑफ़ फ़ेथ (भक्ति) *"

---

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, मंगलाचरण, श्लोक १। † वही। $ रामचरितमानस, अरण्यकांड, मंगलाचरण, श्लोक १। * इंडियन थीइज़्म, पृष्ठ ११९, पंक्ति ७ से ११ तक।

अनातोले फ्रांस के इस कथन में सजीवता है। वे मनुष्य को एक सौम्य, सात्त्विक तथा गत्यात्मक परामर्श देते हैं।

सैमुएल लवर ने परिस्थितियों की शक्ति पर निम्नांकित प्रकार से अपना मत व्यक्त किया है—"सरकमस्टैंन्सेज आर दि रूलर्स ऑफ़ दि वीक; दे आर वट दि इंस्ट्रूमेंट्स् ऑफ़ दि वाइज ‡।" 'परिस्थितियाँ दुर्बल पर ही शासन करती हैं; पर बुद्धिमान के हाथ में तो उन्हें एक जड यन्त्र की तरह ही रहना पड़ता है।' सैमुएल लवर ने भी परिस्थितियों को एक दार्शनिक की आँखों से देखा है। वे उस शक्ति पर भी विश्वास करते हैं जो मनुष्य के चरित्र में रह कर परिस्थितियों पर शासन कर सकती है।

नेपोलियन ने कहा है—'परिस्थितियाँ, मैं परिस्थितियों को बनाता हूँ †'। नेपोलियन की यह उक्ति एक दार्शनिक की नहीं, अभिमान से भरे हुए एक योद्धा की है।

बहुजन्मवादी भारत ने इन परिस्थितियों पर बड़ी गम्भीरता से विचार किया है। एकजन्मवादी यूरोप ने परिस्थितियों को मनुष्य से पृथक् एक शक्ति की धारा माना है। वह इसलिए कि जन्म से ही ये उसे घेरे रहती हैं। किसी यूरोपीय विचारक ने उनसे पराजय स्वीकार नहीं भी की है, तब भी वह एकजन्मवादी होने के कारण इन परिस्थितियों को एक पृथक् शक्ति प्रवाह मानने को बाध्य हैं। वह यह विचार ही नहीं सकता कि जन्म के समय से मनुष्य के साथ परिस्थितियों के स्वाभाविक सम्बन्ध का कोई ऐसा भी कारण हो सकता है जो जन्म के पूर्व का है। इन परिस्थितियों को वह प्रायः अकारण-प्राप्त ही मानता है।

भारत बहुजन्मवादी है। परिस्थितियों के कारणों को वह पूर्व के अनंत जीवनों का परिणाम मानता है और परिस्थितियों से घबराता नहीं। वह उन्हें स्वयंसंभवा न मान कर आत्मजा मानता है। वह यही समझता है कि अपने भले या बुरे कर्मों के द्वारा ही अपने लिए अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों का जन्मदाता वह स्वयं बनता है। ये परिस्थितियाँ उसी ने पैदा की हैं और जिस तरह अपनी बोयी हुई फ़सल को अंकुरित और विकसित होते हुए देख कर कृषक प्रसन्न होता है उसी तरह अपने कर्मों के विकास के रूप में फैलने वाली अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों को देख कर उसे उल्लसित और निराश नहीं होना चाहिए। उसे एक तटस्थ दर्शक या वैज्ञानिक की तरह उसके विकास की प्रक्रिया के अद्भुत स्वरूप को चिन्तन में देख कर बौद्धिक आनंद में मग्न हो जाना चाहिए; उस आनंद में, जो हृदय को बुद्धि अपने चिन्तन के द्वारा देती है।

भारतीय दार्शनिकों ने केवल इस निष्क्रिय आनंद में ही जनता को मग्न होने का आदेश नहीं दिया है; आगे के कर्तव्यों की ओर भी बढ़ने के लिए कहा है। पर उन्होंने फल की ओर से अनासक्त हो जाने को कहा है। अनासक्ति से सुखदुख के भोगों में चक्कर काटने का कार्य बन्द हो जाता है और यही जीव की मुक्ति है। 'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् $' गीता की यह उक्ति इसी बात की घोषणा करती है कि परिस्थितियों

‡ डिक्शनरी ऑफ़ थॉट्स, पृष्ठ ८२। † डिक्शनरी ऑफ़ थॉट्स, पृष्ठ ८३। $ गीता, अध्याय ६, श्लोक ५।

पर विजय प्राप्त करके मनुष्य स्वयं अपना उद्धार कर सकता है। अनिवार्य और दुःखपूर्ण परिस्थितियों से प्रभावित न हो-कर वह उन्हें निष्क्रिय कर सकता है तथा सुखद परिस्थितियों का भी अनासक्ति से उपयोग करके जगज्जीवन में अपना कर्तव्य कर जाता है, पर अनासक्त रहने के कारण पुण्य कर्म उसके लिए भावी जन्म के सुखभोग की सृष्टि भी नहीं कर सकते।

भक्तों ने और चिन्तनशील दार्शनिकों ने भी इन परिस्थितियों को विराट् सौन्दर्य के दृष्टिकोण से देखा है। आदर्श परिस्थितियाँ जगत् के बीच मंगल का विधान और विकास करने का वातावरण व्यक्ति के लिए बना कर रखती हैं। इनसे आनन्द की वृद्धि होती है। अधोगामी स्वार्थमय प्रवृत्तियों को ले कर चलने वाली प्रवृतियाँ दुःख और अमंगल की सृष्टि के लिए वातावरण प्रस्तुत करती हैं। सच्चिदानन्द का आनन्दस्वरूप आदर्श चित्त (आदर्श-चेतना) तथा उसी के परिणाम आदर्श सत् (आदर्श अस्तित्व या परिस्थितियों) के निर्माण से होता है। आदर्श चेतना, आदर्श परिस्थितियों का निर्माण तथा उनके आधार पर पैदा हुए आनंद का वातावरण जगत् में फैल जाता है तब भक्त हृदय को जैसे चारों तरफ़ सच्चिदानन्द के सगुण-निर्गुण रूप की उपलब्धि होती रहती है। रामराज्य और ईश्वरीय जीवन इसी वातावरण को कहते हैं। इस वातावरण का जब ह्रास होने लगता है तब जैसे भगवान् का स्वरूप भक्त की आँखों के सामने से ओझल होने लगता है। तब इसी स्वरूप का जगत् के बीच में दर्शन करने के लिए वह आदर्शों का प्रचार करने में दत्त-चित्त हो जाता है। पवित्र जीवन का यह प्रचार ही उसकी रामभक्ति है।

डा० मैकनिकॉल ने जिस आवश्यकता की ओर इशारा किया है वह स्वार्थसिक्त निम्न श्रेणी की आवश्यकता नहीं है। वह परमार्थ की सिद्धि करने वाली आवश्यकता है। वह ऐसी परिस्थिति है जिसे देख कर भक्त का हृदय भगवान् का, सच्चिदानन्द का, उसके आदर्शों का लोक-जीवन के भीतर दर्शन करने के लिए व्यथित होता है। तभी उसके भीतर से राम के चरित्र का समुद्र उमड़ पड़ता है और जगत् भर को आप्लावित कर लेता है। उसकी पवित्रता का क्षीर-समुद्र जब जगत् की आसुरी प्रवृत्तियों का वातावरण और पवित्र जीवन के मनोरथ मिल कर मथ डालते हैं तब जीवन के आदर्शों की लक्ष्मी (सौन्दर्य) और जीवन की व्याधि (शील का ह्रास) के लिए धन्वन्तरि (पवित्र विचारों के रत्न) इत्यादि रत्न पैदा हो जाते हैं। इसी मंथन में इन्द्र को श्वेत ऐरावत, संसार के शासकों को पवित्र शासन-नियम (शासन के वाहन) मिलते हैं। यही मंथन ज्ञान का दूध पिलाने वाली सुरभि को जन्म देता है। यह वही बुद्धि है जो पवित्र ज्ञान का उज्ज्वल दूध पिला कर सब इच्छाओं की पूर्ति कर देती है। पवित्र हृदय के इसी मंथन के भीतर से ज्ञान का और प्रेम का कौस्तुभ पैदा होता है जो नारायण (उदार व्यक्ति) के हृदय को आलोकित करता है। इसी हृदय के प्रभाव में तलवार, बाण और गदा में तामसी संहार शक्ति नहीं रहती, वरं विश्व रक्षा के लिए प्रवृत हो कर ये शक्तियाँ रत्न के नाम से घोषित होती हैं। इस वातावरण में जीवन के सब भाव रत्न हो जाते हैं, ज्ञान के प्रकाश से चमक उठते हैं। जब कवि का मानस रामचरित से आलोकित हो उठता है तब उसमें इतनी शक्ति पैदा

प्रायः आवश्यकता के उत्सुकतापूर्ण ज्ञान ने इस भक्ति को जन्म दिया। इसमें गम्भीर विश्वास के प्रमाण नहीं मिलते। एक बहुत बड़े ऋषि के विषय में, जिन्होंने भक्तिमार्ग का अनुसरण किया था, मानस में कहा गया है कि "वे भगवान् में इसी कारण लीन नहीं हुए कि उन्होंने पहले ही अचिन्त्य गुप्त भक्ति का वरदान ले लिया था।"

यह मत भी अरण्यकांड (तृतीय सोपान) की एक घटना के आधार पर बनाया गया है। यह बात सरभंग ऋषि के लिए कही गयी है। विराध का उद्धार करके राम सरभंग ऋषि से मिले। इस सम्बन्ध में गोस्वामी जी की कुछ पंक्तियाँ निम्नांकित हैं—

देखि राम-मुख-पंकज मुनिवर लोचन भृंग।
सादर पान करत अति धन्य जनम सरभंग।
कह मुनि सुनु रघुवीर कृपाला। संकर-मानस-राज-मराला।
जात रहेउँ बिरंचि के धामा। सुनेउँ स्रवन बन अइहहिं रामा।
चितवत पंथ रहेउँ दिन राती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती।
तब लगि रहहु दीन हित लागी। जब लगि मिलउँ तुम्हहिं तनु त्यागी।
जोग जग्य जपु तपु जत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति वर लीन्हा।
इहि बिधि सर रचि मुनि सरभंगा। बैठे हृदय छाँडि सब संगा।
सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम।
मम हिय बसहु निरंतर सगुनरूप श्रीराम।
अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। रामकृपा बैकुंठ सिधारा।
तातें मुनि हरिलीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद-भगति-वर लयऊ ‡।

विद्वान् डा० मैकनिकॉल का पहला आक्षेप यही है कि तुलसी में, ईश्वरभक्ति के भीतर जो गम्भीर विश्वास आवश्यक होता है, उसके प्रमाण कम मिलते हैं। तुलसी के भीतर भक्ति का सच्चा प्रकाश नहीं है। संसार को आदर्शों की जरूरत है; इसीलिए उन आदर्शों को ईश्वर के भीतर रख कर वे जगत् के भीतर प्रचारक की तरह काम करते हैं। जगत्-जीवन को सुधारने की उत्कट अभिलाषा ही उनकी भक्ति में प्रधान है; ईश्वरीय प्रेम की गहराई और उसके अस्तित्व पर अचल विश्वास गौण हो कर ही तुलसी की भक्ति में स्थान पाते हैं। इनका अस्तित्व केवल इन्हीं के लिए ही नहीं है; केवल जगत् की आवश्यकता के लिए है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए तुलसी ने भक्ति को केवल बहाना बनाया है।

डा० मैकनिकॉल के संक्षिप्त आक्षेप का कुछ अधिक विश्लेषित रूप ऊपर रखा गया है। तुलसी-साहित्य को सामने रख कर इस आक्षेप की परीक्षा करनी चाहिए। संसार में मनुष्य के मस्तिष्क और हृदय के भीतर जितने भाव-कम्पन और विचार-कम्पन पैदा होते हैं, वे सब जरूरत के लिए ही। विराट् अस्तित्व परिस्थितियों को इस प्रकार परिचालित करता है कि विचारवान् और विवेकी मनुष्य के भीतर उनके अनुकूल या

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ७ से ले कर दोहा ८ के बाद तक।

प्रतिकूल लहरें पैदा होती हैं, पर ये अनुकूल और प्रतिकूल—दोनों प्रकार की लहरें प्रारम्भ और परिणाम में समान स्वभाव वाली ही होती हैं। परिस्थिति यदि गिरावट और अधर्म की है तो आदर्श की लहरें उसके प्रतिकूल चल कर जीवन के भीतर धर्म की सृष्टि करती हैं। यदि परिस्थिति धार्मिक और ऊर्ध्वगामिनी है, तो विवेकी मनुष्य के भीतर अनुकूल आदर्शों के कम्पन पैदा हो कर धर्म का विकास करते हैं। जगज्जीवन के भीतर आदर्शों के आरम्भ और विकास की यही प्रक्रिया होती है। विवेकी मनुष्य आदर्श परिस्थितियों का उपयोग करता है, आदर्श के विकास के लिए। मानवता के स्तर से निम्न श्रेणी की परिस्थितियाँ अपने भीतर और जगत् के भीतर जब विवेकी को दिखाई पड़ती हैं तब आदर्श के प्रकाश से गिरावट के अन्धकार को दूर करने के लिए वह जागरूक हो जाता है।

एक जन्मवादी होने के कारण यूरोप के विचारकों ने इन परिस्थितियों को उतनी गहराई से नहीं सोचा है जितनी गहराई से भारत के दार्शनिकों ने इन पर विचार किया है। ह्यूम ने परिस्थितियों पर विचार करते हुए कहा है—"ही इज़ हैपी हूज़ सरकम्स्टैन्सेज़ सूट हिज़ टेम्पर; बट ही इज़ मोर एक्सेलेंट हू कैन सूट हिज़ टेम्पर टु एनी सरकम्स्टैन्सेज़।" 'जिसकी परिस्थितियाँ उसके स्वभाव के अनुकूल होती हैं, वह सुखी रहता है; पर वह अधिक धन्य है जो अपनी चित्तवृत्ति को किसी भी परिस्थिति के अनुकूल बना ले ‡।' चित्तवृत्ति को अपनी परिस्थितियों के अनुकूल बना लेने की जो बात ह्यूम ने कही है वह गोस्वामी जी के 'यथालाभ सन्तोष' † के समान ही है। ह्यूम और गोस्वामी जी के ये कथन परिस्थितियों पर मानव के विजय की सूचना देते हैं।

बाइरन ने कहा है—"मेन आर दि स्पोर्ट ऑफ़ सरकम्स्टैन्सेज़ व्हेन दि सरकम्स्टैन्सेज़ सीम् दि स्पोर्ट ऑफ़ मेन §।" बाइरन यहाँ निराशावादी दिखाई पड़ते हैं। उनका यह कथन कि जब परिस्थितियाँ मनुष्य को खिलौनों की तरह दिखाई पड़ती हैं तब मनुष्य ही परिस्थितियों के हाथ का खिलौना बना रहता है, मनुष्य को परिस्थितियों का दास स्वीकार कर लेना है। इस कथन को यदि अन्तिम सत्य मान लिया जाए तो भारतीय दर्शन का मुक्ति का सिद्धान्त ही व्यर्थ हो जाएगा। पर बाइरन का यह दृष्टिकोण, जिसने यूरोप तथा उसकी नक़ल पर भारत के भी साहित्यिक चिन्तन के स्तर को वर्तमान काल के कुछ कलाकारों के भीतर बहुत हलके दर्जे पर ला कर छोड़ दिया है, अन्तिम सत्य नहीं है। मानवता का अन्तिम परिणाम परिस्थितियों की दासता नहीं है।

अनातोले फ्रांस ने कहा है—"वन मस्ट फ़ॉलो सरकम्स्टैन्सेज़, यूज़ दि फ़ोर्सेज़ एबाउट अस, डू इन ए वर्ड व्हाट वी फाइंड टु डू *।" 'मनुष्य को परिस्थितियों का अनुसरण अवश्य करना चाहिए, उसे अपने चारों तरफ़ की शक्ति-धाराओं का उपयोग करना चाहिए और जो कर्त्तव्य उसके सामने आये उसे सद्यः पूर्ण कर लेना चाहिए।'

‡ डिक्शनरी ऑफ़ थॉट्स, पृष्ठ ८२। † विनयपत्रिका, पद १७२। § डिक्शनरी ऑफ़ थॉट्स, पृष्ठ ८२। * वही।

हो जाती है कि अपने चारों तरफ़ राम की सृष्टि करके वह उनके सौन्दर्य का दर्शन करने लगता है। तब वह कहने लगता है—"सूझहिं रामचरित मनिमानिक, गुपुत प्रगट जहं जो जेहि खानिक ‡।"

डा० मैकनिकॉल की दृष्टि 'आवश्यकता के औत्सुक्यपूर्णज्ञान' 'विस्टफ़ुल सेंस ऑफ़ नीड †' की तरफ़ तो गयी, पर उसी ज्ञान के भीतर भक्तों की इस लगन की ऊँचाई को वे न देख सके। राम के प्रेम से आलोकित हृदयों ने तुलसी के भीतर रामप्रेम का दीपक जलाया था। इस दीपक में स्नेह अधिक और इसकी वत्ती बड़ी अच्छी थी। इसीलिए इसका प्रकाश बड़ा विस्तृत हुआ। आदर्श शक्ति, आदर्श शील और सौन्दर्य के भीतर भगवान् के दर्शन करने की जो योजना तुलसी ने बनायी उसको डा० मैकनिकॉल ने मामूली आवश्यकता की पूर्तिमात्र मान लिया। जगज्जीवन के बीच सच्चिदानन्द की झाँकी विकसित करने का जो प्रयास वेद, उपनिषद् तथा पुराण काल के ऋषियों ने किया, जो पवित्र प्रयत्न मध्यकाल के संतों ने तुलसी के ही युग में किया, वही सफल प्रयत्न तुलसी का भी है। वस्तुतः उनमें और कबीर में कोई अन्तर नहीं। इसकी सूचना 'भगतिहि ज्ञानहि नहि कछु भेदा। उभय हरहिं भवसंभव खेदा $।' कह कर उनके कागभुशुंडि ने दे दी है।

मनुष्य के हृदय के भीतर जिस रामराज्य की स्थापना गोस्वामी जी करना चाहते थे उसी की स्थापना का प्रयास कर्मयोगी महात्मा गान्धी जी ने और ज्ञानयोगी महात्मा अरविन्द ने किया।

इस प्रकरण में हमने कर्म की चर्चा की है। ईसाइयत के भीतर भक्ति के क्षेत्र में भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता ही मुख्य समझी जाती है। डा० मैकनिकॉल को यह अनुभव हुआ कि कर्म की यह शक्ति जीव की नियति पर असीम नियन्त्रण रखने के कारण सर्वशक्तिमती हो जाएगी और इसके सामने भगवान् की शक्ति नगण्य हो जाएगी और भक्ति का मूल आधार ही समाप्त हो जाएगा। सर्वशक्तिवान् भगवान् को केन्द्र बना कर चलने वाली भक्ति समाप्त हो जाएगी—उस केन्द्र के अशक्त हो जाने पर *। लेकिन यह बात भारतीय भक्ति के लिए नहीं कही जा सकती। यहाँ कर्म को प्रधानता दी गयी है, पर इस प्रधान कर्म के ऊपर राम रहता है। भगवान् ही इन कर्मों का फल देने वाला, इन कर्मों के स्वभाव के अनुसार इनके परिणाणों के स्वभाव का निर्माण करने वाला सर्वतन्त्रस्वतन्त्र शक्ति है। अतएव इन कर्मों के परिणामों के भीतर—चाहे यह सुखद हो या दुखद—भारतीय भक्त प्रिय के हाथों का दर्शन कर अलौकिक आनन्द में मग्न हो जाता है और इन परिणामों को रोक देने के लिए ईश्वर से, उस प्रिय से प्रार्थना करता है। उसकी भक्ति तो इस सबल कर्म पर अपने प्रभु के हाथों को देख कर और उल्लास-दायिनी बन जाती है और तुलसी के समान साधक आनन्द के अतिरेक में कह उठता है

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १ के पहले। † इंडियन थीइज़्म, पृष्ठ ११९ पंक्ति ७। $ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ११४ के बाद, पंक्ति १३। * इंडियन थीइज़्म पृष्ठ १०८, अंतिम ९ पंक्तियाँ।

कि क्या हुआ कि कलिकाल ने हमें घेर रखा है। हमारे राम से वह बड़ा नहीं। वह तो उसी का अनुचर है। मुझे उसी परम सुन्दर, परम शक्तिवान् पुरुषोत्तम का सहारा मिला है, "वड़े ठेकाने ठोर को हौं" ‡, वह मेरी रक्षा अवश्य करेगा "नाम लेत भव-सिन्धु सुखाहीं" † कहने वाले साधक को भक्ति से अलग हट कर केवल परिस्थितियों और जरूरतों के इशारे पर नाचता हुआ कहना उचित नहीं प्रतीत होता। सब दृष्टियों से देखने पर तुलसी-साहित्य का अक्षर-अक्षर भक्ति के आलोक से आलोकित होता हुआ दिखाई पड़ता है। उसका हर वर्ण राम का यशोगान करके भक्त के हृदय को आनन्दविभोर करते हुए उसकी आत्मा के भीतर से पैदा होता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

तुलसी की भक्ति में पूर्ण तदाकारता का अभाव डा० मैकनिकॉल ने इसलिए देखा है कि श्री ग्राउज़ ने पूर्वोद्धृत 'तातें मुनि हरिलीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद-भगति-वर लयऊ' $। का अनुवाद "ही वाज़ नॉट एब्ज़ॉर्ब्ड इन्टु दि डिविनिटी फ़ॉर दिस रीज़न दैट ही हैड ऑलरेडी रिसीव्ड् दि मिस्टीरियस गिफ़्ट ऑफ़ फ़ेथ" * किया है।

यहाँ ग्राउज़ महोदय ने 'भगति-वर' का अनुवाद 'गिफ़्ट ऑफ़ फ़ेथ' तो ठीक किया, पर 'भेद-भगति-वर' का अनुवाद 'मिस्टीरियस गिफ़्ट ऑफ़ फ़ेथ' ठीक नहीं हुआ। अंग्रेज़ी कोषों में 'मिस्ट्री' का एक अर्थ 'हिडेन' होता है। हिन्दी में भी 'भेद का एक अर्थ 'छिपा हुआ' होता है। इसी अर्थ को ले कर ग्राउज़ महोदय ने 'भेद-भगति-वर' का अनुवाद मिस्टीरियस गिफ़्ट ऑफ़ फ़ेथ' किया है। भेद-भगति-वर का ठीक अनुवाद 'गिफ़्ट ऑफ़ सेपरेटिंग फ़ेथ' हो सकता है। यह भक्त को भगवान् से अलग रखती है। इस भक्ति का वरदान भक्त भगवान् से इसलिए माँगता है कि अपना अस्तित्व सुरक्षित रख कर भगवान् की सगुण लीला का, जगत् के भीतर अवतीर्ण हो कर जिस आदर्श मानव चरित्र का वे प्रदर्शन करते हैं, उसका साक्षात्कार करके, उनकी नरझाँकी के भीतर शक्ति, शील और सौन्दर्य के अनुपम सामंजस्य का दर्शन करके आनन्दविभोर हो सके। इसी लिए सरभंग ने कहा था—

सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम।
मम हिय वसहु निरंतर सगुन रूप श्रीराम§।

मुक्ति के सालोक्य, सामीप्य और सारूप्य प्रकार इसी भेदभक्ति के प्रकार हैं। इनमें भक्त सगुण भगवान् के लोक में जा कर, उनके समीप रह कर या उन्हीं के समान रूप पा कर उनकी आदर्श लीला के आनन्द में मग्न रहता है, तथा जब-जब भगवान् का अवतार होता है तब-तब वह पृथ्वी पर जन्म ले कर उनकी आदर्श नर-लीला देखना चाहता है। इस प्रसंग में भेदभक्ति के भीतर मिलने वाली सालोक्य मुक्ति सरभंग को मिली।

अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। राम कृपा वैकुंठ सिधारा×।

---

‡ विनयपत्रिका, पद २२९। † रामचरितमानस, वालकांड, दोहा २४ के वाद। $ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ८ के वाद। * इंडियन थीइज़्म, पृष्ठ ११९ पंक्ति १०–११। § रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ८। × वही, दोहा ८ के बाद।

इस प्रकार की मुक्ति से सरभंग विष्णु में लीन न हो कर उनके लोक बैकुंठ चले गये। पता नहीं क्यों ग्राउज़ महोदय ने 'भेद-भगति-बर' का अनुवाद 'मिस्टीरियस गिफ़्ट ऑफ़ फ़ेथ' किया, क्योंकि अंग्रेज़ी के इन्हीं शब्दों पर अनुवाद की टिप्पणी में वे लिखते हैं—

"दि रिवार्ड ऑफ़ फ़ेथ (भक्ति) इज़ दि ऐडमिशन टु दि ऐक्चुअल प्रेज़ेन्स ऑफ़ दि डिविनिटी इन दि स्फ़ीयर व्हेयर ही स्पेशली रेन्स्। ऐबज़ॉरबॅशन इन्टु दि डिविनिटी इम्प्लाइज़ दि एक्सटिंक्शन ऑफ़ दि इन्डिविजुअल एग्ज़िसटेन्स् ऐण्ड इन्डिविजुअल कौन्शस्नेस, एंड देयरफ़ोर, दो दि समम् बोनम् ऑफ़ मेनी हिन्दू सेक्ट्स्, इट इज़ नॉट सो ऑफ़ दोज़ हू चेरिश ए पर्सनल लव फ़ॉर एनी पर्टीकुलर इन्कारनेशन, ए लव व्हिच कैन ओन्ली बी सैटिस्फ़ाइड बाई ए कॉन्शस्नेस ऑफ़ दि प्रेज़ेन्स ऑफ़ दि बिलवेड‡।"

"भक्ति का वरदान उपास्य के विशेष शासन में रहने वाले लोक में उसके सम्मुख रहने की अनुमति है। उपास्य में लीन होने में वैयक्तिक अस्तित्व और वैयक्तिक चेतना का लोप हो जाता है, और इसीलिए यद्यपि यह अवस्था बहुत से हिन्दू सम्प्रदायों में परम मंगलमयी मानी जाती है, पर किसी अवतार के लिए वैयक्तिक प्रेम की अभिलाषा रखने वाले की यह स्थिति नहीं रहती। यह प्रेम तो उसी अवस्था में सन्तुष्ट रहता है जब उपासक के भीतर उपास्य के अस्तित्व की, प्रिय की उपस्थिति की चेतना बनी रहती है।"

ऐसा मालूम पड़ता है कि श्री ग्राउज़ ने 'भेद भगतिबर' का तो पूरा अर्थ न समझ कर उसका अनुवाद 'मिस्टीरियस गिफ़्ट ऑफ़ फ़ेथ' कर दिया, पर 'लीन न भयऊ' का ठीक अर्थ समझने के कारण और 'रामकृपा बैकुंठ सिधारा' को भी साथ ले कर उन्होंने टिप्पणी में कुछ ऐसे शब्द लिखे हैं जो उनके अनजान में 'भेद-भगति-बर' का अभिप्राय व्यक्त कर देते हैं। भक्त की यह स्थिति ग्राउज़ महोदय को भक्ति-सम्प्रदाय के ग्रंथों में मिल गयी होगी, पर 'भेद भगति' पर उनका ध्यान ठीक तरह से न जम सका।

डा० मैकनिकॉल ने इसी तरह के अनुवाद का सहारा ले कर गोस्वामी जी के लिए कहा है कि उनकी भक्ति में गम्भीर विश्वास की कमी है। उन्होंने सबल परिस्थितियों की शक्ति को स्वीकार करके अपनी भक्ति को किसी प्रकार उनके भीतर बिठाया है। युग-युग से चली आती हुई ग्राम्य-प्रवृत्तियों के सबल प्रभाव को वे न टाल सके; उन्हीं के भीतर अपनी भक्ति को किसी तरह निबाहा है†।

डा० मैकनिकॉल के कहने का तात्पर्य यही है कि सर्व शक्तिवान् के प्रति जो विश्वास और प्रबल प्रेम, संसार की सब निम्न श्रेणी की विचार धाराओं को लाँघ कर उनसे ऊपर उठ कर सब भेदों के परे उस प्रेम के आनन्द में मग्न होता है वह तुलसीदास जी में नहीं है। ऐसा मालूम पड़ता है कि राजा राम के प्रति सगुण भक्ति तथा बहुत से देवताओं के प्रति झुकाव के भीतर अतीतकाल के सब ग्राम्य देवताओं के प्रति तुलसी का

‡ दि रामायण ऑफ़ तुलसीदास, एफ़्० एस्० ग्राउज़ द्वारा अनूदित पृष्ठ ४०६ की पाद टिप्पणी। † इंडियन थीइज़्म, पृष्ठ ११९, पंक्ति १२ से १४ तक।

आत्मसमर्पण ही डा० मैकनिकॉल को दिखाई पड़ता है। वे तुलसी के भीतर एकेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता की भावना और उनके प्रति उनके हृदय का विश्वास और प्रेमनिवेदन नहीं देख पाते। उनके अनुसार सगुण की कल्पना ही ग्राम्य और पिछड़ी हुई निम्न श्रेणी की चेतना का और धारणाशक्ति का परिणाम है। पर 'सियाराममय सब जग' ‡ की अनुभूति कर लेने वाला साधक इस श्रेणी में नहीं आ सकता और इस सीताराम के लिए भी 'कहियत भिन्न न भिन्न' † की धारणा रखने वाला भारत का वह साधक एक ही चिरन्तन सत्य को जगज्जीवन के भीतर अवतीर्ण होता हुआ देख रहा था इसमें भी कोई सन्देह नहीं।

अब रही बात बहुदेववाद की। इसमें दो मत हो सकते हैं। चेतना के उच्चस्तर पर पहुंचा हुआ मानव व्यक्त जगत् के अनंत रूपों के भीतर उस परम सत्य का दर्शन करके उसी को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारता है और निम्न स्तर की चेतना से कम विकसित मानव उन नामों के भीतर छिपी हुई गहराई और ऊँचाई को न समझ सकने के कारण अपनी भावना का रंग चढ़ा कर इन नामों की ओर इन शक्ति-केन्द्रों को अपनी बुद्धि और अपने हृदय के विकास के स्तर पर उतार लाता है। यह एक पक्ष हुआ। 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते' $ यह गीता का सिद्धान्त है। श्रेष्ठ पुरुषों के देशों में नदी कभी उलटी नहीं बहती। श्रेष्ठ के आचरण का मामूली लोग अनुसरण करते हैं तथा अपनी योग्यता के अनुसार उसे विकृत भी कर लेते हैं। इसी विकार को दूर करने के लिए श्रेष्ठ लोगों का फिर से अवतार होता है। श्रेष्ठों के द्वारा कही हुई बातों में ग्रामीण लोग विकार पैदा कर देते हैं। उन विकारों का नाश करने के लिए अपनी ही श्रेणी के लोगों के द्वारा उच्चरित नामों के खोये हुए महत्त्व को दूसरे युग के श्रेष्ठ पुरुष उन्हें फिर से दे देते हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना कि उन पर ग्रामीण प्रभाव पड़ गया, ठीक नहीं है। भारत के समान दर्शन-प्रधान देश में ग्राम की गिरावट का प्रभाव श्रेष्ठ पुरुषों पर नहीं पड़ता। किसी ऐसे देश में जहाँ का दार्शनिक चिन्तन इतना ऊँचा और गहरा न हो, ऐसा होना संभव है। वहाँ के लिए इस उलटे प्रभाव के सिद्धान्त का विरोध नहीं किया जा सकता।

तुलसी की भक्ति साधना में भगवान् पर पूर्ण विश्वास का अस्तित्व है। डा० मैक-निकॉल महोदय ने तुलसी के भीतर जो गम्भीर विश्वास की कमी देखी है उसका कारण है ग्राउज़ महोदय के 'तातें मुनि हरि लीन न भयऊ' * के अनुवाद के एक दूसरे संभावित अर्थ को समझ लेना। इसका अनुवाद श्री ग्राउज़ ने "दि सेज वाज़ नॉट ऐब्ज़ॉर्ब्‌ड इनटु दि डिविनिटी" कह कर ठीक ही किया है। 'ऐब्ज़ॉर्ब' का अर्थ होता है—स्वालो अप, इनकॉरपोरेट, एनग्रॉस दि अटेन्शन ऑफ़, सक इन, टेक इन।" सायुज्य मुक्ति का अंगरेज़ी में अर्थ होगा—"इन्‌टिमेट यूनियन, आइडेन्टिफ़िकेशन, ऐब्ज़ॉर्ब्‌शन—स्पेशली इन्‌टु ए डीटी।"

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७ के बाद। § रामचरितमानस, बालकांड, दोहा १८।
$ गीता, अध्याय ३, श्लोक २१। * रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ८ के बाद।

सरभंग ऋषि ने भेदभक्ति का वरदान प्राप्त कर लिया था, इसीलिए उनकी सालोक्य मुक्ति हुई, सायुज्य नहीं। सायुज्य मुक्ति में (ऐब्ज़ॉर्प्शन् स्पेशली इन्टु ए डीटी) भक्त अपने भगवान् के सगुण रूप में समा जाता है, एकाकार हो कर अलग नहीं रह सकता। इस प्रकरण में सरभंग ऋषि का शारीरिक अस्तित्व अलग ही रह गया और वे बैकुंठ चले गये। इसीलिए श्री ग्राउज़ ने 'मुनि हरि लीन न भयऊ' का ठीक अनुवाद "दि सेज वाज़ नॉट ऐब्ज़ॉर्व्ड् इन्टु डिविनिटी" किया है। यहाँ डा० मैकनिकॉल ने "ऐब्ज़ार्व्ड्" का दूसरा अर्थ "एग्रॉन्स्ड दि अटेन्शन ऑफ़" किया और यह अनुमान लगाया कि सरभंग ऋषि भगवान् के ध्यान में मग्न न हुए (लीन न भयऊ)। इस अनुमान के बाद डा० मैकनिकॉल इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जिस भक्ति-सम्प्रदाय में भक्त भगवान् के ध्यान में मग्न नहीं होता उसमें उनके प्रति विश्वास की गहराई और प्रेम की ऊँचाई नहीं रहती। इसी स्थिति के आधार से डा० मैकनिकॉल ने सोचा होगा कि इस प्रकार की भक्ति की संभावना को स्वीकार करने वाले साधक में भी विश्वास और प्रेम की गहराई नहीं हो सकती। अतः सरभंग के ऐसे चित्र को प्रस्तुत करने के कारण डा० मैकनिकॉल ने तुलसी के भीतर प्रेम और विश्वास से शून्य, कामचलाऊ भक्ति की कल्पना कर ली है, क्योंकि सरभंग के जिस चित्र की झाँकी तुलसी ने प्रस्तुत की है उसे अनुवाद की भाषा के दोष के कारण डा० मैकनिकॉल नहीं समझ सके हैं और भ्रान्ति में स्वयं रह कर उन्होंने तुलसी को भी भ्रान्त समझ लिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'भेदभगतिवर लयऊ' ‡ का 'रिसीव्ड दि मिस्टीरियस गिफ़्ट ऑफ़ फ़ेथ' † अनुवाद भी डा० मैकनिकॉल को भ्रम की ओर ले गया है। अँगरेज़ी में 'मिस्ट्री' का एक अर्थ होता है—'एनीथिंग आर्टफ़ुली मेड डिफ़िकल्ट' 'ए रूड मेडीव्हल ड्रामा फ़ाउन्डेड ऑन दि हिस्टॉरिकल पार्ट्स ऑफ़ दि बाइबिल ऐण्ड दि लाइव्ह्ज़ ऑफ़ दि सेन्ट्स।' अँगरेज़ी के मध्यकालीन भोंडे धार्मिक नाटकों पर ग्रामीण प्रभाव पड़ा होगा और उनमें बाइबिल के ऐतिहासिक अंश और संतों के जीवन विकृत हुए होंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि 'मिस्टरी' के इस अर्थ को ले कर भी जीवन की गहराई में उतरे हुए गोस्वामी जी के समान साधक के भीतर ग्रामीण अज्ञान और उथलापन डा० मैकनिकॉल ने देखा है। 'एनीथिंग आर्टफ़ुली मेड डिफ़िकल्ट' के आधार पर उन्होंने सोचा होगा कि भाव-प्रचुर तन्मयता की अवस्था में हृदय, प्रेम के माधुर्य में इतना विभोर हो जाता है कि बुद्धि से पैदा होने वाली कारीगरी वहाँ टिक ही नहीं सकती। वहाँ तो विगलितवेद्यान्तर प्रेमरस का ही आनन्द रहता है; कला की कल्पना के बौद्धिक, दुरूह और जटिल तथा भड़कीले चित्र वहाँ पैदा ही नहीं हो सकते। वहाँ तो कारीगरी की ओर ध्यान ही नहीं जाता। अपनी इस प्रकार की धारणा के वातावरण में डा० मैकनिकॉल ने श्री ग्राउज़ के 'मिस्टीरियस फ़ेथ' शब्द का यह अर्थ लगा लिया होगा की सरभंग प्रकरण में भक्ति का प्रदर्शनमात्र है। वहाँ का वातावरण बौद्धिक-कल्पना-प्रसूत है अतः उसमें विश्वास और प्रेम की गहराई नहीं है। इसी आधार पर तुलसी के प्रति उनका यह भ्रम बना होगा कि

‡ रामचरितमानस, अरण्यकांड, दोहा ८ के बाद। † दि रामायण ऑफ़ तुलसीदास, एफ़्० एस्० ग्राउज़ का अनुवाद, पृष्ठ ४०६, पंक्ति १ और २।

तुलसी में भी विश्वास और प्रेम की गहराई नहीं है; केवल वुद्धि की चतुरता से उन्होंने परिस्थितियों के ढाँचे में अपनी भक्ति को विठाने का प्रयत्नमात्र किया है और प्रयत्न की दशा सिद्धावस्था नहीं होती, साधनावस्था ही होती है। इस साधनावस्था में प्रयत्न की जटिलता ही होती है, प्रेम और विश्वास के दर्शन के वाद की तन्मयता, विभोरता और सहज सरलता नहीं।

यह वात पहले ही वतायी जा चुकी है कि अभाव की प्रतिकूल परिस्थितियों में, अध्ययन-सामग्री की अपूर्णता के कारण डा० मैकनिकॉल के सामने जटिलता और कठिनाइयाँ अधिक थीं, इसीलिए गोस्वामी जी के सम्बन्ध में वे ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचे। यदि उन्हें नागरी लिपि और अवधी भाषा का ज्ञान होता तो उन्होंने तुलसी के सम्वन्ध में यह निर्णय न किया होता। लेकिन खोजी मस्तिष्क सत्य की झलक तो पा ही जाता है। कठिनाइयों के बादलों के भीतर से भी सत्य के सूर्य का प्रकाश चाहे वह क्षीण ही क्यों न हो, उसे मिलता अवश्य है। यह मन्द ज्योति डा० मैकनिकॉल को भी मिली, क्योंकि इन आक्षेपों के वाद ही उन्होंने कहा है—

"ऐट दि सेम टाइम मैन इज़ सेड टु बी 'इन गॉड्स हैन्ड्स'। हिज़ हू इज़ ऐटवन्स 'इनऐक्सेसिबिल ऐण्ड ऐक्सेसिबिल', हू, इनस्पाइट ऑफ़ ऑल दीज़ राइव्हल प्रिंसिपैलिटीज़ ऐण्ड पावर्स', इज़ कनसीव्ड टु वी इन सम रीयल सेन्स गॉड् ओवर ऑल। 'ब्रह्मा, विष्णु एण्ड शिव, दि सन, दि मून, दि गार्जियन ऑफ़ दि स्फ़ीयर्स; डेल्यूजन, लाइफ़, फ़ेट, ऐण्ड दिस आयरन एज; दि सावरेन्स् ऑफ़ हेल, दि सावरेन्स ऑफ़ अर्थ, ऐण्ड ऑल दि पावर्स दैट वी; मैजिक ऐण्ड सोरसरी, ऐण्ड एवरी स्पेल इन दि वेदाज़ ऐण्ड दि तन्त्राज़...ऑल आर ओबीडियेन्ट टु रामस् कमैन्ड्स‡।"

यह उद्धरण चित्रकूट की सभा के प्रारम्भ में वसिष्ठ के व्याख्यान का वहुत कुछ ठीक ही अंगरेज़ी अनुवाद है। मूल चौपाइयाँ निम्नांकित हैं—

बोले मुनिवरु समय समाना, सुनहु सभासद भरत सुजाना।
धरम धुरीन भानुकुल-भानू, राजा राम स्ववस भगवानू।
सत्यसंध पालक स्रुतिसेतू, रामजनमु जग मंगल हेतू।
गुरु-पितु-मातु-बचन-अनुसारी, खल-दल-दलन देव-हित-कारी।
नीति प्रीति परमारथ स्वारथु, कोउ न राम सम जान जथारथु।
विधि हरि हरु ससि रवि दिसिपाला, माया जीव करम कलिकाला।
अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई, जोगसिद्धि निगमागम गाई।
करि विचार जिय देखहु नीकें, राम रजाइ सीस सबही कें†।

ऊपर की उद्धृत चौपाइयों में सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र 'स्ववस' भगवान् ही राजा राम के रूप में अवतीर्ण वताया गया है। इस 'स्ववस' भगवान् से ईसाइयत के भगवान्-सम्बन्धी सिद्धान्त

‡ इंडियन थीइज़्म, पृष्ठ ११९, पंक्ति १४ से २६ तक। † रामचरितमानस, अयोध्या-कांड, दोहा २५२ के वाद।

तुष्ट होते हैं। इसीलिए डा० मैकनिकॉल को तुलसी की इन पंक्तियों से सन्तोष प्राप्त हुआ है। सर्वशक्तिवान् का यह मर्यादापुरुषोत्तम अवतार 'भानुकुल का भानु' इसीलिए है कि वह 'धर्मधुरीन' है। वह धर्म कर्तव्य और शील—की उच्चतम भूमि को अपने जीवन का सत्य बना कर भानुकुल के सम्मुख और समस्त जगत् के सम्मुख रख सका है। उसकी प्रतिज्ञा सत्य होती है—रामो द्विर्नैव भाषते—इसीलिए वह 'सत्यसन्ध' है। वेदों के द्वारा निश्चित किये हुए वर्णाश्रम धर्म को राम मानते हैं। यह वही धर्मव्यवस्था है जो ब्राह्मी स्थिति को अपने सब वर्णों और आश्रमों में देखती है। जो सम्पूर्ण विश्व को साथ ले कर चलने की क्षमता रखती है। इसी कारण इस धर्म को पालन करने वाले राम 'पालक स्रुतिसेतू' हैं। उनका जन्म किसी एक जाति, एक वर्ण, एक आश्रम और एक देश के लिए नहीं हुआ है। वे जगन्मंगल के लिए अवतीर्ण हुए हैं—'राम जनमु जग मंगल हेतू'। उनकी दृष्टि में केवल संसार में दो तरह के मनुष्य हैं—एक खल और दूसरा देव। एक उनसे दण्ड प्राप्त करता है और दूसरा पुरस्कार। "खल दलदलन देव हितकारी"। नीति, प्रीति, परमोच्च धर्म और स्वार्थ के आदर्श रूप का रहस्य राम के सिवा दूसरा और कोई नहीं जानता—"नीति, प्रीति परमारथ स्वारथु, कोउ न राम सम जान जथारथु।" तुलसी के इन्हीं राम का अनंत रूप ब्रह्मा, विष्णु, शिव, चन्द्रमा, सूर्य, दिशाओं के रक्षक देवताओं, माया, जीव, कर्म, कलियुग, सर्पों के राजा वासुकी, पृथ्वी के राजाओं, वेदों और शास्त्रों के द्वारा वर्णित योग-सिद्धियों पर एकछत्र राज्य करता है। बड़े विश्वास से गोस्वामी जी कहते हैं—"अपने मन में अच्छी तरह से विचार करके देखो, राम की राजाज्ञा सबके सिर पर है। अनंत शक्तिवान् इन सबमें व्याप्त हो कर इन सब पर राज्य तो करता ही है, पर अपनी नरलीला के क्षेत्र से भी अपरिसीम पवित्रता की मर्यादा से वह सम्पूर्ण विश्व को अपने वश में कर सकता है। राम के रूप में तो तुलसी के अनुसार नारायण ही नर हो गया है, पर तुलसी और प्राय: सम्पूर्ण विचारधाराओं के क्षेत्रों में यही विश्वास बना हुआ है कि प्रत्येक नर में नारायण की संभावना छिपी हुई है। अपने शील के विकास से नर भी नारायणत्व को प्राप्त करके विश्व पर शासन कर सकता है। पुराणों में इस शील की महिमा से नर, विश्वशक्तियों पर राज्य करता हुआ बराबर दिखाया गया है और उन सब स्थानों में भगवान् की परम शक्ति की उपासना से ही नर इस शक्ति को प्राप्त करता है। यह बिलकुल सत्य बात है कि नर और नारायण के इस व्यापक सम्बन्ध के सत्य को डा० मैकनिकॉल ने ध्यान से समझा होता तो तुलसी पर उन्होंने ऐसे आक्षेप न किये होते—"जानत तुम्हहिं तुम्हहि होइ जाई‡"।

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड, सोरठा १२५ के बाद।

अध्याय ११

अन्य कवि : साधना और सिद्धान्त

रामभक्ति शाखा के जीवनदर्शन और अध्यात्म-दर्शन का अध्ययन, गोस्वामी जी को आधार मान कर, कर लेने के बाद प्रायः कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता, पर रामभक्ति शाखा के पल्लवित होने में जिन और साधकों ने योग दिया है उनकी भी चर्चा, शाखा के सामान्य ज्ञान के लिए कर लेना अनुपयुक्त न होगा। हमारा क्षेत्र-विस्तार केवल भक्तिकाल की सीमा तक ही सीमित है, इसलिए इस क्षेत्र के भीतर आने वाले कुछ और साधकों की साधना का परिचय यहाँ दिया जाता है। ऐसे साधकों में सूरदास सर्वप्रथम माने जा सकते हैं।

गोस्वामी जी के शिष्य बाबा बेनीमाधवदास ने 'गोसाईं चरित्र लिखा' तथा उनके दूसरे शिष्य महात्मा रघुवरदास जी ने 'तुलसी चरित' लिखा ‡। इन दोनों चरित्रों में गोस्वामी जी का जन्म संवत् १५५४ दिया गया है। बाबा बेनी माधवदास की पुस्तक में श्रावण शुक्ला सप्तमी तिथि भी दी गयी है †। सूरदास जी का जन्म संवत् १५४० के आसपास का माना जाता है $। संवत् १५९० में गोस्वामी जी ने अपना घर छोड़ा *। जगन्नाथ, रामेश्वर, द्वारका तथा बदरीनारायण की यात्रा करने के लिए उन्होंने देशभ्रमण किया और इस कार्य में उन्हें १९ वर्ष से अधिक लगे §। अन्त में गोस्वामी जी चित्रकूट में आ कर बहुत दिनों तक रहे और वहीं संवत् १६१६ में सूरदास जी उनसे मिलने चित्रकूट आये थे। रामचरितमानस की रचना संवत् १६३१ में अयोध्या में आरम्भ की गयी और २ वर्ष ७ महीने में ग्रंथ समाप्त हुआ। किष्किंधाकांड काशी में लिखा गया। गोस्वामी जी देश भर में एक बड़े महात्मा की तरह अपने जीवनकाल में ही प्रसिद्ध हो गये थे ×।

जन्म संवतों के आधार पर सूरदास जी गोस्वामी तुलसीदास जी से चौदह-पंद्रह वर्ष आयु में बड़े थे। इस तरह तुलसीतर हिन्दी के रामभक्त कवियों में सूर का स्थान प्रायः सर्वप्रथम मान लिया जा सकता है। सूरदास जी अग्रज होते हुए भी गोस्वामी जी से मिलने चित्रकूट गये। इससे गोस्वामी जी की भक्ति-साधना का महत्त्व निश्चित ही व्यक्त होता है। सूर और तुलसी दोनों एक-दूसरे से प्रभावित हुए होंगे इसमें भी सन्देह नहीं है। इन

---

‡ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, संवत् १९९३ संस्करण, पृष्ठ १०३। † वही, पृष्ठ १०४। $ वही, पृष्ठ १२७। * वही, पृष्ठ १०६। § वही, पृष्ठ १०६। × वही, पृष्ठ १०६।

सब महात्माओं में से एक भी एकाग्रही नहीं था। इनकी उपासना में इनके युग तक विकसित सब उपासना-पद्धतियों के उपादेय तत्त्व मिलते हैं। इन सब संतों ने चारों तरफ़ से सत्य और पवित्रता का संग्रह कर लिया था तथा असत्य और अपवित्रता का परित्याग कर दिया था। इसी पद्धति के आधार पर सूर की समन्वय साधना में कृष्ण की प्रधानता रहते हुए भी राम, विष्णु, शिव इत्यादि देवता संगृहीत हो गये हैं। राम और विष्णु को कृष्णभक्ति शाखा में भी महत्त्व अधिक दिया गया है; क्योंकि राम और कृष्ण दोनों विष्णु के अवतार माने जाते हैं।

महात्मा सूरदास जी का निर्वाण संवत् १६२० के आसपास माना जाता है। रामचरितमानस की रचना संवत् १६३३ या ३४ तक पूर्ण हो गयी होगी। आचार्य वल्लभ के कहने पर संत सूरदास ने श्रीमद्भागवत के आधार पर 'सूरसागर' के पदों की रचना की। श्रीमद्भागवत में राम-जन्म की कथा नवम स्कंध में है। महात्मा सूरदास ने भी नवम स्कन्ध में रामावतार की कथा के आधार पर गेय पदों की रचना की है। रामावतार के ये पद नवम स्कंध की पद संख्या १५ से पद संख्या १७२ तक हैं। राम के राज्याभिषेक तक की घटनाएँ इन पदों में वर्णित हैं। दशम स्कन्ध के पद १९८ और १९९ में भी राम की बड़ी सारगर्भित चर्चा है। उस पर बाद में प्रकाश डाला जाएगा।

सूरदास जी ने सूरसागर में राम और कृष्ण की अभेदोपासना के आधार पर उपासना की है इसमें कोई सन्देह नहीं। नवम स्कन्ध में तो श्रीमद्भागवत की योजना का अनुसरण करते हुए सूरदास जी ने रामावतार का वर्णन किया है; पर अन्यत्र भी उन्होंने राम को अपने हृदय से दूर नहीं होने दिया है। नवम स्कन्ध के पद १५ से १७२ तक के १५८ पदों को छोड़ कर भी सूरसागर में प्रायः ९८ पदों में राम की चर्चा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हो जाती है‡।

रामचरितमानस के दूसरे, पाँचवें और छठे सोपान के आधार, क्रम से विमल-विज्ञान-वैराग्य, विमल-ज्ञान और विमल-विज्ञान हैं और पहले, तीसरे तथा चौथे सोपान के आधार, क्रम से विमल सन्तोष, विमल वैराग्य और विशुद्ध सन्तोष हैं। उसका अंतिम सातवाँ सोपान अविरल हरिभक्ति पर आधारित है।

---

‡ सूरसागर, पदसंख्या ३, ११, १३, १८, २५, २६, २८, ३४ से ३६ तक, ३९, ४३, ५४, ५७, ५९, ६१, ६६, ७१, ८९, ९०, ९२, ९४, १०५, ११९, १२३, १३२, १३५, १४५, १५१, १५८, १७६, १७८ से १८० तक, १८२, १८८, १९३, २१५, २१९, २३२, २३३, २३५, २५५, २६३, २६४, २९६, २९७, ३०६, ३०८, ३१०, ३११, ३१८, ३३०, ३४०, ३४६, ३५१, ३७९, ४२१, ४२२, ८१६, ८१७, ८३९, ९२०, ११८६, १५९९, १६०१, १८३१, ३४१०, ३४३३, ३४३४, ३४४६, ३६९९, ३७४९, ३७५१, ३७५३, ३७५७, ३७८१, ३७८६, ३८४७, ३८८१, ३९०१, ३९७९, ४०१६, ४१३३, ४२७९, ४४३१, ४४५७, ४६२७, ४७१२, ४८२९, ४८३३, ४९३४; परिशिष्ट १—पद संख्या २, ३, १३६, १३७; परिशिष्ट २—पद संख्या २०५ और २४०।

सूरदास जी का भक्ति-सिद्धान्त भी चतुःश्लोकी भागवत के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए ज्ञान, विज्ञान तथा भक्ति के समन्वय के आधार पर निर्मित है।

प्रथम ज्ञान, विज्ञानक द्वितियमत तृतिय भक्ति कौं भाव
सूरदास सोई समष्टि करि, व्यष्टि दृष्टि मन लाव ‡

ज्ञानमत ब्रह्म के अद्वैत को मानता है। ज्ञानमत की अभिव्यक्ति "पहिले हौं ही हो तव एक। अमल, अकल, अज, भेदविर्बजित सुनि विधि विमल विवेक" से होती है†। ज्ञानमत विमल विवेक के द्वारा ब्रह्म के एक, अमल, अकल, अज और भेद-विर्वजित रूप को देखता है। विज्ञानमत समत्व दर्शी है। वह वहुत्व में समत्व का दर्शन करता है। उसकी अभिव्यक्ति "सो हौं एक अनेक भाँति करि सोभित नानाभेष" के रूप में होती है $।

विज्ञानमत त्रिगुण तथा पंचमहाभूतों के विस्तार को माया का प्रपंच मानता है और इन सब के भीतर ब्रह्म का ही दर्शन करता है। त्रिगुण और पंचमहाभूतों के विस्तार को परिणाम और परिवर्तन से वाध्य हो कर परिणमित और परिर्वातित होते हुए देख कर विज्ञानमत इस प्रक्रिया में ब्रह्म के अपरिणमित और अपरिर्वातित अस्तित्व का दर्शन करता है। मणियों और उनको ग्रथित रखने वाले सूत्र की तरह वह मायाप्रपंच और ब्रह्म को देखता है। उसके अनुसार शरीर और जीव का सम्बन्ध मशक और जल के सम्बन्ध की तरह है *।

भक्तिमत इसी अज, अद्वैत, सर्वव्यापी तथा निर्गुण ब्रह्म की सगुण लीला का गान करता है। इस मत की अभिव्यक्ति "सोई जस सनकादिक गावत। नेति-नेति कहि मानि" के रूप में होती है। ब्रह्म को अनन्त कह कर और मान कर भी भक्ति मत उसकी सगुण लीला का गान करता है§। इस भक्ति का रस गूंगे के मीठे फल के आस्वाद के रस की तरह है। वह हृदय को अनुभूत होता है; पर व्यक्त नहीं किया जा सकता। वह साधारण स्वाद नहीं; स्वादराज 'परमस्वाद' है। उससे 'अमित तोष' उत्पन्न होता है। मन और वाणी के लिए वह अगम और अगोचर है। उसे वही जानता है जिसने उसे प्राप्त कर लिया है। इसीलिए सूरदास जी ने कहा है—

अविगत-गति कछु कहत न आवै।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-विनु निरालंव कित धावै।
सव विधि अगम विचारहि तातैं सूर सगुन-पद गावै ×।

अनंत को वाणी व्यक्त नहीं कर सकती। उसे रूप, रेखा, गुण, जाति और तर्क अपनी सीमा में नहीं ला सकते। साधारण मनुष्य का मन निरालंब हो कर किसका ध्यान करेगा। रूप, रेखा, गुण और प्रकारों को अपने सम्मुख देखने वाला मन परमात्मा के सगुण रूप का आलंब चाहता है। इसीलिए सूर ने 'सगुन-पद' गाये। अतएव भागवत के चतुःश्लोकी सिद्धान्त के आधार पर सगुण ब्रह्म के व्यष्टि ध्यान के भीतर ज्ञान का अद्वैत,

‡ सूरसागर, पद संख्या ३८१। † वही। $ वही। * सूरसागर, पद ३८१। § वही।
× सूरसागर, पद २।

विज्ञान की समत्वगत, स्वार्थों के प्रति अनासक्ति तथा ब्रह्म की सर्वव्यापकता और भक्ति का अनंत आनन्दमय रसास्वाद, सब एक समष्टि में रहते हैं। "सूरदास सोई समष्टि करि, व्यष्टि दृष्टि मन लाव" में सूर की साधना का यही अनुभूत्यात्मक भक्ति पक्ष है‡। अतः ज्ञानमत, विज्ञानमत और भक्तिमत में सूर को भक्ति ही प्रिय है। उनकी भक्ति में त्रिमत-समष्टि है। उनके व्यष्टि कृष्ण का ध्यान त्रिमत का समाहित रूप है। चिन्तन और अनुभूति की इसी सरसता को ले कर सूर ने उस एक, अनादि अनाम, अज तथा सर्वगत के सगुण रूप-माधुरी में अपनी दृष्टि तथा मन को लीन कर दिया है। सर्वत्व और समत्व के इसी महाभाव की सरसता को ले कर उन्होंने रामकृष्णैक्य की मधुर साधना की है। यद्यपि उस साधना में कृष्ण प्रमुख हैं पर वे राम के ही दूसरे रूप हैं; कोई अन्य नहीं। इस बात की ओर सूरसागर के उपलब्ध पाँच हज़ार दो सौ छह पदों में सूर ने साधकों का मन, बड़ी कोमल भाव-पद्धति के द्वारा, सैकड़ों बार आकृष्ट किया है।

सूरदास जी ने 'सूरसागर' की रचना के लिए 'श्रीमद्भागवत' को आधारमात्र बनाया है। 'श्रीमद्भागवत' के अनुसार ही 'सूरसागर' भी बारह स्कन्धों में विभाजित है। उसमें वर्णित कथाक्रम भी श्रीमद्भागवत के क्रम का ही अनुसरण करता है; पर पद की गेय शैली के भावात्मक प्रवाह में सूर का भावुक हृदय जगह-जगह पर बह गया है। इन पदों में कई जगह इतिवृत्तात्मकता भी आ गयी है। जहाँ की शैली इतिवृत्तात्मक है वहाँ सूर ने श्रीमद्भागवत के घटनावर्णन की इतिवृत्तात्मकता का अनुसरण किया है। ऐसे स्थलों पर उन्होंने "कहे कछुक गुरु कृपा तें श्रीभागवतऽनुसार†" "सूर कह्यौ भागवतऽनुसार $" "सुक जैसें नृप कौं समुझायौ। सूरदास त्यौंही कहि गायौ *", "व्यास जु कह्यौ पुरानमैं, सूर कह्यौ सो गाइ§" तथा "याविधि भयौ बुद्ध अवतार सूर कह्यौ भागवतनुसार×" इत्यादि ढंगों से पदों की समाप्ति करके अपने द्वारा श्रीमद्भागवत की इतिवृत्तात्मक शैली के अनुसरण की सूचना दी है।

जिन पदों में श्रीमद्भागवत की इतिवृत्तात्मकता नहीं है, उनमें सूर का भाव-प्रवाह तरंगित हो उठा है तथा उन पदों की समाप्ति में श्रीमद्भागवत का हवाला न हो कर भावतरंग की उच्चतम सीमा ही चित्रित हुई है। "हा जगदीस! राखि इहिं अवसर, प्रगट पुकारि कह्यौ। सूरदास उमगे दोउ नैना, सिन्धु-प्रवाह बह्यौ+" इत्यादि पदान्त सूर के भावात्मक मौलिक पदों के लक्षण हैं।

उपर्युक्त नियम के अनुसार जब हम सूरसागर के नवम स्कंध के रामावतार सम्बन्धी पदों का परीक्षण करते हैं, तो यह ज्ञात होता है कि रामावतार से संबद्ध प्रथम पद को छोड़ शेष एक सौ सत्तावन पद भावात्मक हैं।

---

‡ सूरसागर, पद संख्या ३८१। † वही, पद संख्या ३७९। $ वही, पद संख्या ४०१। * वही, पद संख्या ४४६। § वही, पद संख्या १७९३। × वही, पद संख्या ४९३३। + वही, पद संख्या २४७।

विष्णु के पारिषद जय और विजय ब्राह्मण के द्वारा अभिशप्त हुए। वे हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु के रूप में अवतीर्ण हुए। वे दोनों क्रम से वराह और नृसिंह के द्वारा मारे गये। वे ही रावण और कुंभकर्ण के रूप में पुनः अवतीर्ण हुए। उनके वध के लिए दशरथ के घर में राम अवतरित हुए। रामावतार से संबद्ध, सूरसागर के प्रथम पद में इन घटनाओं की इतिवृत्तात्मिका सूचना श्रीमद्भागवत के अनुसार दी गयी है। इसका हवाला देते हुए सूर ने पदान्त में कहा है, "नृप सौं ज्यौं सुकदेव सुनायी। सूरदास त्यौंही कहि गायी ‡।"

श्रीमद्भागवत के नवम स्कंध के दसवें अध्याय में राम के अवतार से ले कर राज्याभिषेक तक की घटनाएं कुल पचपन श्लोकों में प्रायः इतिवृत्तात्मक ढंग से ही संक्षेप में वर्णित हैं। यह इतिवृत्त सूर के हृदय में भाव तरंगों में परिवर्तित हो कर एक सौ अट्ठावन पदों में प्रवाहित हुआ है। बालकांड की घटनाएं पन्द्रह पदों में, अयोध्याकांड की छब्बीस पदों में, अरण्य की बारह पदों में, किष्किंधा की छह पदों में, सुन्दरकांड की बत्तीस पदों में, लंका की अट्ठावन तथा उत्तर की नौ पदों में, प्रायः सर्वत्र भावात्मक चित्रों में अंकित की गयी हैं। गोस्वामी जी की गीतावली में तीन सौ अट्ठाईस पद हैं तथा सूर के रामावतार वर्णन में एक सौ अट्ठावन। अतः सूर की इस राम-भावात्मिका प्रलयावस्था को तुलसी की रामरस की तन्मयता के सम्मुख जब हम प्रस्तुत करते हैं तो दोनों अपने-अपने सौन्दर्य और माधुर्य की अनंत परिणति को सँजोये हुए हमें एक ही सात्त्विक शक्ति से अपनी ओर आकर्षित करती हैं। अंधा सूर जगत् की ओर से अपनी आँखों को विश्रान्ति दे कर पवित्र और मधुर प्रेम की अनंत मधुरिमा में लीन हो गया था, तो अपनी दोनों आँखों की दर्शनशक्ति को अनंत बना कर तुलसी भी अनंत भाव के महामाधुर्य में लीन हो गया था। अनंतदर्शी इन दोनों साधकों में तारतम्य खोजना समय और शक्ति का अपव्यय ही होगा। आलोचक की ऐसी प्रवृत्ति सहृदयता की प्रतिगामिनी ही होती है।

राम के प्रथम जन्मोत्सव के दिन सूर ने दशरथ के आँगन की भीड़ को अपनी अन्तर्दृष्टि से देख लिया है। उनके अनुसार 'स्याम-सरीर' राम भू भार उतारने के लिए प्रकट हुए हैं। अयोध्या के निवासी आनंद की तन्मयता में 'फूले फिर' रहे हैं। हँस-हँस कर वे एक-दूसरे का आलिंगन कर रहे हैं। उनकी आँखों से आनंदाश्रु प्रवाहित हो रहे हैं। देवता, देवराज तथा ऋषि लोग आकाश से इस दृश्य को देख कर आनंद-विभोर हो उठे हैं। 'दयालु त्रिभुवन नाथ' ने दर्शन दे कर सबकी पीड़ा हर ली है। इस आनंद की तन्मयता में राजा दशरथ ने याचकों को दान दे कर अपना घर ही खाली कर दिया है †। आनंदातिरेक के अनुभावों की कितनी सुन्दर योजना रससिद्ध सूर ने की है। जब अनंत पृथ्वी पर उतर आया हैं, तब उसको पा कर धरती आनंदातिरेक में क्यों न डूब जाए, स्वर्ग भी सीमा के अपने बन्धन को तोड़ कर क्यों न आनंद की अनंतता का अनुभव करने लगे। इसीलिए सूर ने स्वर्ग और पृथ्वी दोनों को अनंत आनंद की उपलब्धि की दशा में विभोर होते हुए देखा

‡ सूरसागर, पद संख्या ४५९। † सूरसागर, पद संख्या ४६०।

है। स्वर्ग और पृथ्वी, दोनों का रक्षक आज धरती पर उतर आया है, इसीलिए सूर ने उन दोनों में अनंत उल्लास की तरंगों का दर्शन किया है।

सर्वेश का अवतरण मंगल भी अनंतशक्ति के धरातल पर होता है। जब अयोध्या में सर्वेश अवतीर्ण हो गया है तब तो वह विश्व की राजधानी बन गयी; इसीलिए आज दशरथ के दरबार में देश-देश से टीका आया है। आनंद में मग्न हो कर सब लोग डोल रहे हैं। किसी को अपने शरीर का भी ज्ञान नहीं है। विश्व की रक्षा करने वाला रणधीर रामचन्द्र जब अवतीर्ण हो गया है, तब उसके लिए हृदय-हृदय से आशीर्वाद क्यों न फूट पड़े ‡।

अंधे सूर की सौन्दर्यभावना बड़े मार्के की है। उसने दशरथ के कनकमय आँगन में माता-पिता के सम्मुख फूल के पेड़ों की छाया में, फूलों के नीचे लाल 'पनहियाँ' पहने हुए धनुषबाण ले कर चार अनुपम बालकों को खेलते देखा है। धवल शील वाले ये चार बालक उसे चार हंसों की तरह दिखाई पड़े हैं। हंस की धवलता के स्थान पर उनमें परमोज्ज्वल शील है तथा हंस का विवेक प्राप्त करके वे आत्मस्थ परमहंस भी हैं। वे तो रघुकुल को कान्ति प्रदान करने आये हैं, इसीलिए सब लोगों को वे आनंद की निधि के समान दिखाई पड़ते हैं। सूरदास के ये राम, बाँह पकड़ कर भक्त का उद्धार करते हैं, उसके जीवन-नाटक को वे सफल निर्वहण की ओर ले जाते हैं †।

सूर के वे चारों बालक अनुपम हैं। वे शक्ति, शील और सौन्दर्य के अनंत कोष हैं। वे कठोर और मृदु दोनों हैं। वे धर्म, अर्थ और मोक्ष की निवासभूमि हैं। छोटे-छोटे धनुप-बाण ले कर घूमते हुए इन बालकों की शोभा अनिर्वचनीय है। सुन्दर लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न तथा कमलनयन राम सुकुमारता की पराकाष्ठा हैं। उनके स्निग्ध कुंतल और आकर्षक पीतांबर विश्व को मोह लेते हैं। उनकी बाण-लीला को देखने नारद तथा तैंतीस करोड़ देवता नित्य आते हैं। इन बालकों की बाण-लीला को देख कर शिव को संकोच होता है; क्योंकि उनके भक्त, पर अविवेकी, राक्षस उसी कला से मारे जाएँगे। यह बाण-लीला इन्द्र को आनंद प्रदान कर रही है; क्योंकि इसकी परिणत कला से इन्द्र के शत्रु दैत्य मारे जाएँगे। ब्रह्मा को इस बाण-लीला से सुख और दुख दोनों समान रूप से मिल रहे हैं; क्योंकि सुर और असुर दोनों की उन्होंने सृष्टि की है। इस बाण-लीला को देवताओं के सुख का कारण समझ कर वे सुखी हो रहे हैं और राक्षसों के विनाश का कारण समझ कर दुखी हो रहे हैं। चारों बालकों के अचूक संधान को देख कर दिति अत्यन्त दुर्बल हो गयी है तथा अदिति हृष्टचित्त। अंधे सूर ने शक्ति, शील और सौन्दर्य की इस मौलिक झाँकी को इसीलिए सफलता पूर्वक प्रस्तुत किया है कि उसकी अनुभूति सच्ची और मौलिक है $।

सूरदास के प्रभु राम का 'पतित-उधारन-विरद' तो विश्वविश्रुत है। अहिल्या का उद्धार उसके लिए कोई कठिन काम नहीं है *। सूर की सीता अपना मन राम से बाँध

‡ सूरसागर, पद संख्या ४६२। † वही, पद संख्या ४६३। $ वही, पद संख्या ४६४।

* सूरसागर, पदसंख्या ४६६।

लेती है। लेकिन उसे एक अंदेशा है। वह यह कि किशोर राम धनुष कैसे तोड़ेंगे। उसके इस उत्पीड़क संदेह को दूर करने के लिए राम ने उंगलियों की नोक से ही धनुष को तोड़ दिया और उनके तेज के सूर्य के सामने सब राजा लोग तारों की तरह लुप्तश्री हो गये ‡।

सूर ने कंकण-मोचन के समय सीता और राम के बड़े कोमल दाम्पत्य का अंकन किया है। सीता के हाथ का स्पर्श करके राम स्नेह के आवेश में मग्न हो गये। सात्विक अनुभाव का कंप उनके हाथों में पैदा हो गया। वे कंकण नहीं छोड़ सके। जुआ खेलने के समय भी उनके हृदय की कोमलता सीता को विजय दिला देती है। राम हार जाते हैं। सूर ने भी पृथ्वी की पुत्री सीता और अनंत राम के विवाह-महोत्सव के समय जनकपुर के आनंद को अपरिसीम ही अनुभव किया है †।

राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न जब सीता, उर्मिला, माण्डवी और श्रुतिकीर्ति के साथ नव-परिणय के मंगलमय कोमल वेश से अयोध्या में प्रवेश करते हैं, तब अवधपुरी का सुख भी असीम हो जाता है। सुर-नर-मुनि सब मुदित हो जाते हैं; पर सूर तो उस सुख पर निछावर ही हो जाता है $।

वात्सल्य के भीतर आने वाला वियोग तो दशरथ को पा कर यों ही धन्य हो गया था; पर सूर के दशरथ में उस वियोग को और भी स्वाभाविक और मार्मिक अंकन प्राप्त हुआ है। वे कम से कम एक दिन के लिए भी राम को रोक लेना चाहते हैं। चार प्रहर रोक कर राम के मीठे वचन वे सुनना चाहते हैं। उन्हें इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि राम से विछुड़ कर प्राण शरीर से भी विछुड़ जाएँगे। राम के दुर्लभ दर्शन को वे कम से कम एक दिन के लिए और सुलभ बना लेना चाहते हैं *।

सूर के राम ने सीता को वन जाने से रोकते हुए जनकपुर जाने की सलाह दी और कहा कि पति की आज्ञा मानना ही सच्चा पातिव्रत है। उनका उत्तर सीता के हृदय की कोमलता और कोमल कर्तव्य-निष्ठा को व्यक्त करता है। सूर की सीता ने कहा है कि आपका रूप देख कर ही मैं अपने जन्म को सफल मानती हूँ। तुम्हारे चरणकमलों के पास रह कर ही मैं पातिव्रत का पालन करना उचित समझती हूँ। अपने सब सुखों को छोड़ कर मैं आपके साथ वन की विपत्तियों को भी अपनी सखियों की तरह अपने साथ रख सकती हूँ §।

सूर के राम भी लक्ष्मण को अयोध्या में ही छोड़ना चाहते हैं। यह जान कर सूर के लक्ष्मण की आँखें जल से भर गयीं। वे कुछ न बोल सके। राम के चरणों में लिपट जाने के सिवा उन्हें और कुछ न सूझा। अन्तर्यामी राम ने लक्ष्मण की प्रीति की गुरुता को समझ कर उन्हें भी साथ ले लिया ×।

सूर की ग्राम-वधुएँ जब राम, लक्ष्मण और सीता की त्रिमूर्ति को वन-पथ पर देखती हैं, तो उनके त्रिविध ताप नष्ट हो जाते हैं। जब उन्हें सीताराम और लक्ष्मण की

---

‡ सूरसागर, पद संख्या ४६७। † वही, पद संख्या ४६९। $ वही, पद संख्या ४७३। * वही, पदसंख्या ४७७। § सूरसागर, पद संख्या ४७८–४७९। × वही, पद संख्या ४८१।

स्थिति का पता चलता है, तब वे नेत्रों से अश्रु की वर्षा करने लगती हैं और उन्हें अतिथि की तरह अपने घर ले जाना चाहती हैं। कितना स्वाभाविक और कोमल वर्णन है। अनन्त पवित्रता के सम्मुख विश्व-हृदय पवित्र हो कर एक अटूट बन्धन में उससे बँध जाना चाहता है। विश्व-हृदय सीताराम और लक्ष्मण में त्रिलोक की शोभा का दर्शन करके नर-नारी के भीतर उमड़ पड़ा है। अपने-अपने गाँवों और घरों को छोड़ कर वे सब बहुत दूर तक उन लोगों के साथ-साथ चलते हैं और बिछुड़ने के समय उन्हें बड़ा कष्ट होता है। ऐसे राम को सूरदास ने अपना स्वामी मान लिया है‡।

सत्य के लिए सूर के राम ने अपनी भुजा दशरथ से छुड़ा ली, पिता के सबल स्नेह-बन्धन को तृण की तरह उन्होंने तोड़ डाला और अपने हृदय को निष्ठुर बना कर वन-पथ पर बढ़ गये। यह समाचार पा कर दशरथ ने प्राणों को तुरन्त त्याग दिया। अयोध्या के सब लोगों ने जीवन की इच्छा छोड़ दी। राम की स्मृति की ज्वाला उनके हृदय को झुलसाने लगी। ऐसा लगा मानो आग पी रहे हों। पशु और पक्षियों ने तृण और कण छोड़ दिया। बालकों ने माता का दूध तक पीना छोड़ दिया। सबने राम के बिना जीवन को मिथ्या समझ लिया†।

सूर की कौसल्या तथा उनके भरत दोनों सजीव चरित्र-निर्मिति के बड़े अच्छे उदाहरण हैं। कौसल्या विलाप करती हुई कहती हैं—कोई जा कर राम को रोके। जब तक भरत अयोध्या लौट न आएँ तब तक के लिए राम रुक जाएँ। भरत भी जब आते हैं तो यही कहते हैं—माता कैकेयी ने यह क्या किया। मैं तो त्रिभुवनपति राम का सेवक हूँ। सिंह की बलि को कुत्ता कैसे खा सकता है। मैं अयोध्या में जल भी न पिऊँगा तथा माता का मुख भी नहीं देखूँगा। राघव से बिछुड़ने से तो वन की आग में जल मरना अच्छा है§।

भरत के समान सात्विक शील वाले व्यक्ति की उस ग्लानि से सूर सर्वथा परिचित हैं, जो उसे किसी पाप से सम्बद्ध हो जाने पर होती है। राम के समान मर्यादा पुरुषोत्तम को भरत के कारण वन-वन भटकना पड़े, इससे बढ़ कर दूसरा पाप भरत अपने लिए समझते ही नहीं। राज्य उन्हें आग की तरह लग रहा था। वे कहते हैं—'इस तरह की आग में पड़ कर कौन जी सका।' पश्चात्ताप की जो आग उनके भीतर उत्पन्न हो गयी है उससे उनके प्राण संकट में हैं। सूरदास जी ने अपने भरत और शत्रुघ्न की दशा का वर्णन इस संकटकालीन स्थिति में किया है। उन्होंने लिखा है—दोनों भाई धरती पर इस तरह लोट रहे थे मानो उन्होंने शरीर को जला देने वाला कोई भयानक विष पी लिया हो*।

सूरदास जी के भरत का जीवन और अस्तित्व, तुलसी के भरत के समान ही, राममय है। गोस्वामी जी को अपने भरत को प्रस्तुत करने के लिए 'मानस' में पर्याप्त स्थान और अवकाश मिला है। सूर को कुल एक सौ अट्ठावन पदों में पूरी भावात्मक

‡ सूरसागर, पद संख्या ४८७ से ४८९ तक। † वही, पद संख्या ४९०। § वही, पद संख्या ४९१। * वही, पद संख्या ४९२।

रामायण प्रस्तुत करना है। सूर ने 'मानस' के हृदय को पूर्णतः अंकित कर लिया है। उसका कोई स्पन्दन सूर के हृदय से अननुभूत नहीं रह पाया है।

अपना राममय हृदय व्यक्त करते हुए सूर के भरत ने कहा है—सेवक को राज्य और स्वामी को वन, विधाता ने यह उलटी बात कब लिख दी। जिस तरह चकोर चन्द्रमा के प्रेम में डूबा रहता है उसी तरह हम भी राम के मुख-कमल को देख कर जीते थे। अब राम के अभाव में हमारा अयोध्या से क्या नाता रह गया ‡।

गोस्वामी जी के 'मानस' में राम को दशरथ की मृत्यु का समाचार वसिष्ठ ने दिया। वृद्ध पिता की मृत्यु का समाचार औचित्य की दृष्टि से वृद्ध गुरु ने दिया। उसका वर्णन करते हुए गोस्वामी जी ने लिखा है—

कहि जगगति मायिक मुनिनाथा। कहे कछुक परमारथ गाथा॥
नृप कर सुर-पुर-गवन सुनावा। सुनि रघुनाथ दुसह दुख पावा॥
मरन हेतु निज नेहु विचारी। भे अति विकल धीर-धुर-धारी॥
कुलिस कठोर सुनत कटु बानी। बिलपत लषन सीय सब रानी †॥

मुनिवेश में अनासक्त वृत्ति से रहने वाले मर्यादापुरुषोत्तम के भीतर आवेश के संयम में भी एक नियन्त्रित क्षोभ का चित्र राम के भीतर गोस्वामी जी ने अंकित किया है। 'दुसह दुख पावा' और 'भे अतिविकल' में क्षोभ नियन्त्रित ही है। राम के अतिरिक्त जितने लोग हैं उनके विलाप का चित्र प्रस्तुत करते हुए गोस्वामी जी ने 'बिलपत लषन, सीय, सब रानी' कहा है। इसमें शोक का आवेग नियन्त्रित न रह कर विलाप के रूप में फूट पड़ा है।

इसी अवस्था का चित्रण जब भावुक सूर करने लगते हैं तब सब नियन्त्रण और मर्यादाएँ टूट जाती हैं। भरत को मुंडितकेस देख कर उनके राम विह्वल हो कर उन्हें भावावेश के कारण कंठ से लगा लेते हैं, पिता की मृत्यु का समाचार पा कर मुरझा जाते हैं और ज़मीन पर गिर पड़ते हैं। प्रेम में मग्न राम की आँखों से जल की धारा प्रवाहित होने लगती है, और शोक उनके हृदय में समा नहीं सकता। सीता पृथ्वी पर शोक की पीड़ा से लोटने लगती हैं। समझाने पर भी उन्हें धीरज नहीं होता $।

गोस्वामी जी के चित्र में मुनि-धर्म की मर्यादा शोक में भी आवेश पर कुछ नियन्त्रण रखती है, पर सूर की भावुकता किसी बन्धन को नहीं स्वीकार करती। शोक में वह उन्मुक्त हो कर बह पड़ती है।

अपने परिवार और समग्र विश्व के लिए राम के नेत्रों में अश्रुजल का दर्शन करके सूर राम पर निछावर हो जाते हैं *। सूरदास ने राम को अपना प्रभु इसलिए भी बना लिया है कि वे एकपत्नीव्रत हैं §।

‡ सूरसागर, पद संख्या ४९३। † रामचरित मानस, अयोध्या कांड, दोहा २४५ के बाद। $ सूरसागर, पद संख्या ४९६। * सूरसागर, पद संख्या ४९९। § वही, पद संख्या ५००।

चरण की आराधना करने से भगवान् 'अति सुगम' हो जाता है। सीता ने चरण की आराधना की और उसके लिए राम मृग के पीछे-पीछे दौड़े। जीव के भीतर की अनन्त पवित्रता, अनन्त पवित्र भगवान् को भी अपने वश में कर लेती है। यह सिद्धान्त सूर को अत्यन्त प्रिय है ‡।

सीता-हरण के बाद राम के वियोग की गुरुता को देख कर सूर को भी आश्चर्य हुआ है। उन्होंने कहा है—जगद्गुरु राम की गति अद्भुत है। विचार अपनी सीमा के भीतर उस गति को बाँध नहीं सकता। अनंत राम भी कामवश हो कर करुणा से इस प्रकार पीड़ित हो सकते हैं, यह बात कल्पना में भी नहीं आ सकती; पर राम में देखी अवश्य जाती है। सूर इसी को देख कर विस्मयान्वित होते हैं †।

सूर भी लक्ष्मण को शेष का अवतार मानते हैं। क्योंकि जब सीता के वियोग से व्याकुल हो कर राम आवेश में सहारा पाने के लिए लक्ष्मण के हृदय से लग जाते हैं, उस चित्र को प्रस्तुत करने के लिए सूरदास जी ने कहा है—

लगत सेप-उर बिलखि जगत गुरु§।

भक्त के प्रेम के वश में हो कर भगवान् अपनी महिमा को भी भूल जाता है। सूर के हृदय ने इस भावात्मक सत्य का अनुभव कर लिया है*।

राम में कर्तव्य-निष्ठा और अपार कृपा का दर्शन सूर ने भी किया है। जटायु को आहत अवस्था में राम-राम कहते हुए जब सूर के राम सुनते हैं, तब अपनी विपत्ति भूल कर जटायु की ओर दौड़ पड़ते हैं। राम के इस स्वभाव को व्यक्त करते हुए सूर ने कहा है—कृपानिधान नाम हित धाये, अपनी बिपत्ति बिसारि§।

सूर के दूर-दृष्टि संपाती ने जांबवान, अंगद और हनुमान के समक्ष अशोक वाटिका की वियोगिनी सीता का बड़ा मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। संपाती ने कहा—"हरिण से बिछुड़ी हुई हरिणी की तरह चकित हो कर वह चारों ओर देखती रहती हैं। विरह का संताप उनके भीतर उत्पन्न हो गया है। वृक्ष के नीचे दुःख में मग्न हो कर वह अकेली खड़ी हैं। उनके वस्त्र मलिन तथा केश जटिल हो गये हैं। उनकी विपत्ति का वर्णन मैं नहीं कर सकता। नेत्रों में जल भर-भर के वे लम्बी साँसें लेती रहती हैं। कभी-कभी गिर कर पृथ्वी को पकड़ लेती हैं। नीच निशाचर की दुष्टता की उन्हें बड़ी चिन्ता है। उन्होंने केवल रामनाम को अपना आश्रय बना लिया है×। निस्तब्धता, अनन्यता, कृशता, संतप्तता, चिन्ता तथा प्रेम की पीड़ा का यह संवलित चित्र बड़ा मार्मिक है। इस चित्र में भक्त ने अपने को मिटा कर भगवान के अखंड प्रेम की साधना की है।

सीता के इस सत्य-प्रेम की साधना का मुक्तकंठ से यशोगान करते हुए सूर अघाते नहीं। सूर के हनुमान को प्रथम प्रयास में जब सीता नहीं मिलतीं, तब उन्हें बहुत धक्का

---

‡ सूरसागर, पद संख्या ५०२। † वही, पद संख्या ५०६। § वही। * वही, पद संख्या ५०७। § वही, पद संख्या ५०९। × वही, पद संख्या ५१७।

लगता है। वे अनुमान करने लगते हैं कि सीता ने प्रेम की पीड़ा के कारण अपना शरीर ही छोड़ दिया होगा। दुर्बल, दीन, क्षीण सीता को राम का नाम जपती हुई पा कर हनुमान झुके हुए सिर से उनकी वन्दना करना चाहते थे। अंत में इसी रूप में सीता अशोक वाटिका में मिलीं। वहाँ राक्षसियाँ सीता को रावण के अनुकूल बनाने का प्रयत्न कर रही थीं। उनके उत्तर में सूर की सीता ने कहा है—"रावण के मुख को तो मैं तभी देख सकती हूँ जब वे सिर रक्त की नदी में कट कर स्नान करते रहें। इस शरीर को अग्नि पा सकते हैं या राम; तीसरा कोई नहीं।" सूर की सीता को अपने पातिव्रत पर विश्वास है; वह पातिव्रत जो पति को पत्नी से अलग नहीं होने देता ‡।

आदर्श की पवित्रता के प्रति जागरूक सूर ने पतिव्रता सीता के सत्य और शील की बड़ी मार्मिक रुझान से उपासना की है। सूर की राक्षसी रावण से कहती है—"सीता तो मेरे शब्दों को सुनने के लिए मेरी तरफ़ उन्मुख तक नहीं होती। धर्मराज के मन, वाणी और शरीर चाहे अपवित्र हो जाएँ, विस्मयजनक सिन्धु के गंभीर हृदय में चाहे विस्मय का मोक्ष उत्पन्न हो जाए, अचला चाहे चलने लगे, चंचल ग्रह-नक्षत्र चाहे थक कर खड़े हो जाएँ, विश्व के चिरंजीवी † चाहे मर जाएँ; पर रघुनाथ के प्रताप से सीता का सत्य और पातिव्रत नहीं टल सकता। ऐसी स्त्री का तुमने क्यों हरण किया? मन, वाणी और कर्म से उनका सत्यभाव राजा राम को छोड़ कर किसी दूसरे को अपने भीतर स्थान नहीं दे सकता। उनके क्रोध से तुम भस्म हो जाओगे। सीता की प्राप्ति की इच्छा छोड़ दो। इस कुमार्ग पर तुम्हारी कौन रक्षा करेगा?" राक्षसी का उत्तर देते हुए सूर के रावण ने कहा है—"सीता यदि सत्य से विचलित हो जाए तो नारायण रक्षा किस वस्तु की करेगा। वह तो सत्य की ही रक्षा करता रहता है। इसी सत्य की रक्षा करने के लिए मेरे समान महापापी को वह क्रोध करके तार देता है। सीता मेरी माता हैं. रघुनन्दन मेरे स्वामी हैं और मैं उनके द्वार का प्रहरी। सीता और राम के मिलन के विना मुझे कौन पार उतार सकता है $।"

सत्य की यही उपासना है, जिसकी साधना करने के लिए श्रीमद्‌भागवत की इतिवृत्तात्मिका संक्षिप्त शैली को छोड़ कर रामावतार वर्णन के लिए, सूर हृदय की पवित्र और वेगवती गंगा की लहरों से खेलने लगे हैं।

सूर की सीता में बली रावण के सम्मुख भी वही सत्य का तेज है। उस तेज के सम्मुख त्रिलोक-विजयी रावण नगण्य और अवस्तु हो कर धूल में मिला हुआ-सा प्रतीत होने लगता है *।

सूर के भी इस राम-साहित्य में हरि और हर की समन्वित उपासना-पद्धति है। त्रिजटा से वार्तालाप के बीच में सूर की सीता कहती हैं कि वह दिन कब आएगा, जब रावण को मार कर राम उसके दसों सिरों को शिव को चढ़ा देंगे। यहाँ राम को सीता

---

‡ सूरसागर, पद संख्या ५२१। † अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान, विभीषण, कृपाचार्य और परशुराम। $ सूरसागर, पद संख्या ५२२। * वही, पद संख्या ५२३।

शिव के उपासक की तरह प्रस्तुत करती हैं तथा उनके सत्य के भास्वर तेज़ की उपासना सूर भी कर लेते हैं‡।

सूर की सीता त्रिजटा से कहती हैं—"मैंने राम के चरणों में अपना चित्त दे दिया है; मन, वाणी और कर्म से मैंने ऐसा आचरण किया है कि उसके परिणाम में राम का मिलन फिर से होगा ही। अचल सुमेरु चाहे डोलने लगे, शेष का अडिग मस्तक चाहे कंपित होने लगे, वासरपति चाहे पश्चिम में उदय होने लगे, तब भी मधुर मूर्ति राम का प्रेम मैं नहीं छोड़ सकती†।" अन्धे सूर की वाणी सत्य के इस मधुर रूप का स्वाद पा कर मुखर हो गयी है।

सूर की सीता में भी यह विशेषता है कि उसका राम-प्रेम संकीर्ण न हो कर राम के ही समान उदार है। सुख और दुख दोनों समय उसे लक्ष्मण, कौसल्या, कैकेयी तथा सुमित्रा का पवित्र स्मरण होता रहता है। उसका राम-प्रेम मिलन और वियोग दोनों समय परिवार के प्रेम को साथ ले कर चलता है यही स्वभाव राम का भी है$।

राम के चरणों के प्रताप से ही सब कुछ होता है यह सिद्धान्त सूर को भी प्रिय है। राम के चरणों के प्रताप से लंका जली, राम की चरणपादुका सिर पर रहने के कारण ही भरत भरत हो सके, राम के पद-प्रताप से ही हनुमान सीता को खोज सके, रघुपति के चरण-प्रताप का ही देवता लोग यशोगान करते हैं, उन्हीं चरणों को पकड़ कर विभीषण लंका के राजा हो जाते हैं, उन्हीं चरणों की धूल ले कर हनुमान शत्रुओं के रक्त में स्नान करते हैं और उन चरणों की धूल से ही अहिल्या का उद्धार हो गया*।

शरणागत की रक्षा का भाव सूर के राम में भी है। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर विलाप करते हुए सूर के राम कहते हैं, "यदि मैं अपने प्राण छोड़ दूँ तो सीता भी शरीर त्याग देगी। परन्तु विभीषण के भविष्य की चिन्ता मेरे प्राणों को संकट में डाल रही है।" सूर के राम भी अपना सब कुछ, यहाँ तक प्राण भी दे सकते हैं; पर शरणागत की रक्षा का भाव नहीं छोड़ सकते। उन्हें वह प्राणों से भी अधिक प्रिय है§।

सूर ने अपने प्रभु राम की कृतज्ञता के भाव को भी बड़े मौलिक ढंग से व्यक्त किया है। लक्ष्मण के लिए विलाप करते हुए वे हनुमान से कहते हैं कि मुझ पर तुम्हारे अनंत आभार हैं। उन्हें मैं तभी व्यक्त कर सकता हूँ, जब कि मेरा हर रोम जीभ हो जाए×।

सूर की सुमित्रा भी सत्य की कठोर परीक्षा में खरी उतरी हैं। हनुमान से अपने पुत्र लक्ष्मण के आहत होने का समाचार पा कर कहती हैं, "राम के काम आ कर लक्ष्मण धन्य हो गये। शूर यदि जीता है तो जग में उसे यश प्राप्त करना चाहिए और मरे तो वीरता से मर कर स्वर्ग का राज्य भोगना चाहिए। अपार धैर्य है सुमित्रा का+।

---

‡ सूरसागर, पद संख्या ५२५। † वही, पद संख्या ५२६। $ वही, पद संख्या ५२७, ५३१, ५३२, ५३४। * वही, पद संख्या ४८५, ५४२, ५४६, ५६३, ५६७, ५९१, ५९९। § वही, पद संख्या ५९०। × वही, पद संख्या ५९१। + सूरसागर, पद संख्या ५९५।

सूर की कौसल्या तो यह समाचार पाते ही वात्सल्य से वाध्य हो कर अपना सिर पीटने लगीं। निस्तब्धता ने उन्हें अवाक् कर दिया ‡। पारिवारिक प्रेम की विश्वरक्षिका यह गंगा-धारा संतों ने अनंतधा बना कर प्रवाहित की थी। उन धाराओं के ये ही नमूने हैं। जो प्रेम पहले परिवार में पुष्ट न होगा वह विश्व की रक्षा कैसे कर सकेगा।

सूर की सुमित्रा में इतना धैर्य है कि अपने दुख को भूल कर वह कौसल्या को बड़ी तत्परता से सम्हालती है और कहती है कि शस्त्र-धारण करने पर प्राणों का मोह क्यों होना चाहिए। भाई के लिए यदि लक्ष्मण काम आया तो उससे धन्य और कौन हो सकता है †।

सुमित्रा के इस पावन धैर्य और रक्षक साहस का पुरस्कार कौसल्या देती हैं। हनुमान से कौसल्या कहती हैं कि राम से कह देना कि लौटेंगे तो लक्ष्मण के साथ, अन्यथा नहीं। उनके चरणों के स्नेह के कारण उसने राज-काज तथा माता का स्नेह छोड़ दिया। ऐसे भाई को छोड़ कर जीना धिक्कार है। लक्ष्मण और वैदेही के साथ राम यदि सकुशल लौटें तो आ कर अयोध्या का राज्य करें; अन्यथा लक्ष्मण पर स्वयं निछावर हो जाएँ $। बलिदानपूर्ण पारिवारिक स्नेह के लिए जो जागरूकता अंधे सूर में है, उसी के कारण उसके शब्द-भाव बोझिल हो गये हैं।

पारिवारिक प्रेम की अनुपम झाँकी सूर ने रामावतार-वर्णन में प्रस्तुत की है। उसकी कौसल्या जब कहती हैं कि बिना लक्ष्मण के राम वापस आये तो मुझे लज्जित होना पड़ेगा। इस तरह लौटने की बिलकुल आवश्यकता नहीं। इस पर सूर की सुमित्रा कहती हैं कि सेवक यदि युद्ध में मारा जाता है, तब भी स्वामी तो घर लौटता ही है। राम से कह देना कि जब से तुम गये हो तब से भरत ने सब भोगों को तिलांजलि दे दी है। तुम्हारे दर्शन की अभिलाषा से उसने अपने हृदय में दुःखों के समूहों को पाल रखा है। राम से कहना कि वे अवश्य शीघ्र लौटें *।

हृदय के इस सौन्दर्य की आलोचना करने के समय मुखर वाणी भी मूक हो जाती है। इस सौन्दर्य की थाह लगाने की शक्ति शब्दों में कहाँ से आ सकती है।

लक्ष्मण के जागने पर राम के भीतर जो उत्साह फूट पड़ता है, उसमें उनकी समन्वयात्मिक शिव-भक्ति पुनः जागृत हो उठती है और उसी को अपना संबल बना कर वे दुष्टों के वध के द्वारा देव, द्विज और विभीषण के समान संतों की रक्षा का संकल्प करते हैं §।

इसी के बाद सूर ने अपने गेय पद में एक सबल हृदयद्रावक रूपक का प्रयोग किया है। उन्होंने कहा है कि सीता के विरहोच्छ्वास के समीर से प्रेरित हो कर राम की प्रचंड क्रोधाग्नि ने रावण के कुल और कुंभकर्ण के वन रूपी शरीर को इस तरह क्षण भर में भस्म कर दिया, जिस तरह ज्वाला वस्त्रों को तत्काल भस्म कर देती है ×।

---

‡ सूरसागर, पद संख्या ५९५। † वही, पद संख्या ५९६। $ वही, पद संख्या ५९७। * वही, पद संख्या ५९८। § वही, पद संख्या ६०१। × वही, पद संख्या ६०२।

सूर की कौसल्या राम और लक्ष्मण, अपने दो अनमोल मोतियों को प्राप्त करने के लिए कौए से शकुन विचारती हैं। सुनते ही मंगलमय कौआ हरी डाल पर उड़ कर बैठ गया और मंगल की सूचना दी। कौसल्या ने आँचल में गाँठ लगा ली। उनका दुःख दूर हो गया। सुख ने उनके हृदय में प्रवेश किया। वह कौए से कहती हैं—"मैं जब तक जिऊँगी, जीवन भर तेरा नाम निरन्तर जपती रहूँगी। दोना भर-भ के दही-भात तुझे दूँगी और भाइयों के बीच में तुझे बिठाऊँगी। तेरे मंगलमय इंगित का इस बार यदि मंगलमय परिचय मिला और अपने बच्चों को भर आँख मैं देख सकी तो तुम्हारी चोंच और पंखों को सोने के पानी से मढ़वा दूँगी ‡।" कितना पावन और स्वाभाविक जीवन सूर ने अपने हृदय से निकाल कर विश्व के सामने रख दिया है। सत्य के इसी निश्छल और नैसर्गिक रूप की उपासना भक्तों ने अपने हृदय की पवित्रता से की है। सत्य के मधुमय साक्षात्कार की यही उनकी प्रक्रिया है।

सूर के राम के हृदय में अपनी जन्मभूमि के लिए जो पावन-प्रेम है वह भी अनंत मधुर हो कर व्यक्त हुआ है। सुग्रीव और विभीषण इत्यादि को अयोध्या को दिखाते हुए उन्होंने कहा—"पृथ्वी पर अयोध्या नाम का यह नगर धन्य है। वनों, पर्वतों, नदियों और सरोवरों से सजी हुई यह भूमि परम मनोहर है। अपनी प्रकृति का रहस्य खोलते हुए मैं तुमसे कह रहा हूँ कि मैं सुरपुर में नहीं रहना चाहता। यहाँ के निवासियों को देख कर मेरे हृदय मे आनंद समा नहीं पाता। यदि ब्रह्मा मुझे संकोच में डाल कर बाध्य न करें, तो मैं बैकुंठ न जाऊँ। ब्रह्मा के आग्रह से सूने बैकुंठ को बसाने के लिए ही मैं जाता हूँ †।" जन्मभूमि का कितना निश्छल प्रेम है, वह प्रेम जो परमात्मा को भी बाँध कर धन्य हो गया है।

परमात्मा की इस अतुल सफलता का साक्षात्कार करके उसके लिए जयध्वनि से अयोध्या गूँज उठी है। उस अनिर्वचनीय आनंद की अभिव्यक्ति केवल इस जयध्वनि से ही हो सकती है। जयघोष के अतिरिक्त कोई शब्द नहीं है जो उस अनंत आनन्द को व्यक्त कर सके। उसी आनन्द में अपने हृदय को लीन करके सूर ने कहा है "जै-जै-जै सूर, न सब्द आन §" यह 'जै' शब्द ही सब कुछ है, अन्य शब्द हृदय के भाव को व्यक्त करने के लिए मिलता ही नहीं। इस 'जय' शब्द में विश्व-हृदय पर राम के प्रेम-विजय का अनंत शक्तिवान प्रेम-मंत्र है।

अयोध्या के निवासियों ने सीता, राम और लक्ष्मण को देख कर सुख के सिन्धु में स्नान कर लिया। भरत का सुख तो अनिर्वचनीय और अनंत था। सीता, राम और लक्ष्मण को हृदय की आँखों से देख कर सूरदास ने भी अंतर्नयन शीतल कर लिये *:

सूर ने अपने राम को उनके परिवार और विश्व के प्रत्येक प्राणी के हृदय के सिंहासन पर अभिषिक्त कर दिया है।

‡ सूरसागर, वही, पद संख्या ६०८। † वही, पद संख्या ६०९। § वही, पद संख्या ६१०।
* वही, पद संख्या ६१२।

रामावतार वर्णन का सूर का अन्तिम पद विनयपत्रिका के पद के समान अत्यन्त मधुर है। राम राजा हो गये। अब बड़े व्यस्त हैं। सूर दर्शन कैसे पाएँ। अपनी प्रार्थना उनके सामने कैसे रखें। कोई अनुकूल समय मिलता ही नहीं। धीरोदात्त नायक को सब लोग घेरे रहते हैं। रात बीतने को एक प्रहर बाकी रहता है तभी सूर दौड़ कर जाते हैं। उस समय भगवान् को सुकुमार नींद से जगाने में संकोच होता है। सूर्य के उदय होते ही ब्रह्मा, रुद्र तथा देवताओं और मुनियों की अपार भीड़ वहाँ लग जाती है। सूर को स्थान ही नहीं मिलता। दिन के मध्य में राजसभा के विसर्जन के समय सेनापतियों की भीड़ देख कर सूरदास लौट आते हैं। नहाते, खाते और विश्राम लेते हुए राजा राम को सूर का कोमल हृदय कष्ट नहीं देना चाहता। संध्या के समय नारद और तुंबुरु यशोगान करते रहते हैं। अब हार कर अपना मामला कृपानिधि राम पर ही सूर छोड़ देते हैं। वे कहते हैं कि इन महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की धारा में मेरी गिनती कैसे की जा सकती है। वे राम से कहते हैं कि आप कहें तो एक उपाय अपने उद्धार का आपको कह कर समझा दूँ। आप सूर के प्रभु हैं। 'पतित-उधारन' आपका नाम है। मैं आपसे मिलने का कोई अनुकूल समय न पा सका, इसीलिए यह पत्र आपके पास भेज दे रहा हूँ‡। अपनी आत्मा को अतीत में भेज कर सूर ने राम की कितनी सुन्दर भावात्मिका उपासना की है।

कितना स्वाभाविक वर्णन है राजा की व्यस्तता का और अपनी नगण्यता का। मिलने का समय जब किसी प्रकार भी संभव न हो सका, तब रुक्का ही भेज दिया गया।

इस प्रक्रिया के द्वारा सूर ने राम की अभेदोपासना की है। दशम सर्ग में दो बड़े कोमल स्थल हैं जहाँ कृष्ण ही राम हो गये हैं। बाल कृष्ण को माता सुला रही है। वह कहानी कहने लगती है। बच्चा हुँकारी भरने लगता है। माता कहती है—"रघु के वंश में दशरथ एक राजा थे। उनके चार पुत्र प्रकट हुए। उनमें मुख्य राम थे। उनकी पत्नी सुन्दरी सीता थीं। पिता की आज्ञा से घर छोड़ कर वे वन चले गये। उनके छोटे भाई और सीता भी साथ गये। उदार राजीवलोचन सुवर्ण मृग के पीछे गये। इसी बीच में रावण सीता को चुरा ले गया।" इतना सुनते ही नंदनंदन की नींद उचट गयी। वे बोल उठे—लक्ष्मण! धनुष लाओ, धनुष लाओ। माता ने समझा बच्चे को कुछ हो गया†।

एक दिन माता ने बच्चे को सुलाने के लिए फिर वही कहानी कही: "रामचन्द्र दशरथ के पुत्र थे। उनका विवाह जनक-पुत्री सीता से हुआ था। पिता के कहने से राजधानी छोड़ कर ये लोग पंचवटी के वन में रहने लगे। अभिमानी राक्षस ने वहाँ सीता को चुरा लिया।" बालक इतना सुनते ही तुरन्त उठ कर कहने लगा—"लक्ष्मण, धनुष दो"। यशोदा डर गयी कि बालक को कुछ हो गया$।

इस तरह बड़े कोमल ढंग से महात्मा सूर ने राम-कृष्ण की अभेदोपासना यत्र-तत्र की है। उनका सूरसागर जीवन के इसी समन्वयात्मक प्रबन्ध से भरा पड़ा है। सूरसागर

‡ सूरसागर, पद संख्या ६१६। † वही, पद संख्या ८१६। $ वही, पद संख्या ८१७।

में कृष्ण का प्रथम महत्त्व है; पर श्रीमद्भागवत के आनुषंगिक कथानक के रूप में रामोपासना भी कम महत्त्वपूर्ण ढंग से चित्रित नहीं हुई है।

मंगलमय की परममंगलमयी प्रेमोपासना की अनन्त लहरें सूरसागर में तरंगित हो रही हैं।

सूरदास जी के बाद स्वामी अग्रदास का नाम लिया जा सकता है। इनका उल्लेख पहले किया गया है। संवत् १६३२ के आस-पास इनका समय माना जाता है। संवत् १६३१ में गोस्वामी जी ने रामचरित मानस का साक्षात्कार करके उसे लिखना आरम्भ किया था। "सम्वत् सोलह सौ इकतीसा। करौं कथा हरि पद धरि सीसा। नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा।" से यह बात स्पष्टत: सिद्ध है। अत: अग्रदास जी तथा तुलसीदास जी समसामयिक ही सिद्ध होते हैं। स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार इनके चार ग्रंथ (१) हितोपदेश उपरखाणाँ बावनी (२) ध्यानमंजरी (३) रामध्यान-मंजरी तथा (४) कुंडलियाँ हैं‡। इनके अतिरिक्त (१) अष्टयाम और (२) पदावली ग्रंथ भी इनके माने जाते हैं†। रामभक्ति साधक के नाते अग्रदास जी की साहित्यिक साधना भी महत्त्वपूर्ण है। इनके "कुंडल ललित कपोल जुगल अस परम सुदेसा। तिनको निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा। मेचक कुटिल विसाल सरोरुह नैन सुहाए। मुख पंकज के निकट मनो अलि-छौना आए।" से इनके भीतर एक उन्नत प्रकार की सौन्दर्य-भावना परिलक्षित होती है। यद्यपि सौन्दर्य चित्रण की यह शैली परम्परा-पोषित है तथापि कवि के रुझान की गवाही तो इससे निश्चित ही मिल जाती है। इसके अतिरिक्त भक्त की तन्मयता भी एक और वस्तु है जो इस सौन्दर्य-वर्णन के द्वारा दृष्टिगोचर होती है। बिना तन्मयता के इस तरह के वर्णन की ओर इतना सुन्दर झुकाव कवि का हो ही नहीं सकता।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा उद्धृत, स्वामी अग्रदास जी का एक पद भी जीवनदर्शन और अध्यात्मदर्शन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वह निम्नांकित है:

पहरे राम तुम्हारे सोवत। मैं मतिमंद अंध नहिं जोवत।
अपमारग मारग नहिं जान्यो। इन्द्री पोषि पुरुषारथ मान्यो।
औरनि के बल अनत प्रकार। अगर दास के राम अधार$॥

इस पद में मर्यादा पुरुषोत्तम के आदर्शों का अपने को सेवक मानता हुआ भी अग्रदास जी का भक्तहृदय अपनी नम्रता प्रदर्शित करने के लिए बड़े निश्छल भाव से कह उठता है कि आदर्शों का सच्चा पहरेदार तो हमें होना चाहिए था, पर हम आदर्श के सच्चे रक्षक नहीं सिद्ध हुए। हमारी ज्ञान की आँखें बन्द हैं इसलिए मर्यादा पुरुषोत्तम के आदर्शों का सच्चा मार्ग हमें नहीं दिखाई पड़ता। अज्ञान के अन्धकार ने हमारी आँखों को अन्धी बना दिया है और इसलिए हमारी बुद्धि मन्द पड़ गयी है। इस पृथ्वी पर आदर्शहीनता को

---

‡ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १४६। † भागवत संप्रदाय, पृष्ठ २७८। $ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १४६।

ही हम आदर्श समझ बठे । कुमार्ग ही हमें सन्मार्ग की तरह दिखाई पड़ा और हम उसी पर चल पड़े। इन्द्रियों को पालने-पोसने में ही हमने जीवन के अंतिम लक्ष्य का दर्शन किया। पर अब हमें यह ज्ञात हो गया है कि दूसरे मनुष्य तो अपार और अनंत वस्तुओं को अलग-अलग अपनी शक्ति अनुसार पहचानते हैं, पर अग्रदास को तो राम को ही अपना आधार बनाना होगा।

इस पद की पंक्तियों में आदर्शहीनता और आदर्श का विवेक अग्रदास जी के साधक के भीतर निश्चित ही दिखाई पड़ता है और यह भी दिखाई पड़ता है कि जीवन की दुर्बलताओं को त्याग कर यह साधक रामभक्त, मर्यादा पुरुषोत्तम के आदर्शों का सच्चा और जागरूक पहरेदार बन जाना चाहता है। अग्रदास जी का व्यक्तित्व था भी ऐसा ही।

स्वामी अग्रदास जी के बाद, क्रमानुसार नाभादास जी का उल्लेख किया जा सकता है। पहले बतलाया जा चुका है कि नाभादास जी अग्रदास जी के शिष्य थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'ये संवत् १६५७ के लगभग वर्तमान थे और गोस्वामी तुलसीदास जी की मृत्यु के बहुत पीछे तक जीवित थे ‡।' इनका भक्तमाल संवत् १६४२ के बाद बना। अतः इस ग्रन्थ का समय रामचरित मानस के ग्यारह वर्ष बाद आता है। तुलसीदास जी के विषय में नाभादास जी ने अपने भक्तमाल में निम्नांकित छप्पय लिखा है :

त्रेता काव्य-निबंध करी सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्महत्यादि परायन।
अब भक्तन सुख देन बहुरि लीला विस्तारी।
राम-चरन-रसमत्त रहत अह निसि व्रतधारी।
संसार अपार के पार को सुगम रूप-नौका लियो।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित वालमीकि तुलसी भयो।

'लीला के विस्तार' के भीतर भक्तों के स्वान्तःसुख का दर्शन करके नाभादास जी ने जीवन-दर्शन के परमोच्च रहस्य की ओर ही अपना ध्यान केन्द्रित कर रखा है। मर्यादा पुरुषोत्तम के लीला-विस्तार के साथ भक्तों के सुख के विस्तार को देख कर नाभादास जी ने अपने द्वारा की हुई गोस्वामी जी की इस प्रशस्ति में इस बात की पुष्टि की है कि मर्यादा पुरुषोत्तम के जीवन में आदर्शों की ऊँचाई का साक्षात्कार करके भक्तों का हृदय प्रफुल्लित होता है। नाभादासकृत गोस्वामी जी की इस प्रशस्ति में भक्त नाभादास का भी वही स्वान्तःसुख व्यक्त हो रहा है, जिसका अनुभव लीला-विस्तार के भीतर उन्होंने किया है।

'राम-चरन-रसमत्त-रहत अहनिसि व्रतधारी' के भीतर गोस्वामी जी के 'रामचरन' के रस से मतवाला बना रहने का रात-दिन का व्रत देख कर नाभादास जी ने अपने भीतर भी इस अखंड व्रत की स्थिति की सूचना अनजान में ही दे दी है। 'शूर एव विजानाति शूरस्य हि विचेष्टितम्' के अनुसार यह बात बिलकुल सिद्ध हो जाती है कि राम के चरणों के

‡ हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १४७।

रस में निरन्तर सराबोर रहने वाला, भक्त नाभादास स्वभावतः अपनी इसी रससिक्त दृष्टि से, गोस्वामी जी के भीतर अखंड आवेग से प्रवाहित होने वाली रामरस की धारा को देखने की स्वभावसिद्ध क्षमता, अपने भीतर अवश्य रखता है।

कलि के कुटिल जीवों की कुटिलता के पारावार को लाँघ कर अनंत जीवन की निश्छल सीमा के भीतर पहुँच जाने की अपार शक्ति, संसार के साधक को देने के लिए ही भक्त नाभादास जी ने रूप को सुगम नौका के रूप में स्वीकार किया है। सगुणोपासना के सम्बन्ध में अपनी इसी धारणा के अनुसार नाभादास जी ने गोस्वामी जी के जीवन-सिद्धान्त और लक्ष्य का मूल्यांकन किया है। जीवन के कलुप को मिटा कर समाप्त कर देने वाला, मर्यादा पुरुषोत्तम के जीवन के द्वारा व्यक्त हुआ, परमोच्च जीवन-आदर्श रूप के आधार से ही अभिव्यक्त होता है। जीवन को, विकास की पूर्णता तक पहुँचा देने वाली यह प्रक्रिया सगुणोपासना की भक्ति के भीतर ही सम्भव है। सगुण जीवन की सब अनुभूतियों को राममय बना देने वाली यह भक्ति-पद्धति सगुण उपासना के क्षेत्र में ही व्यवहृत होती है। इसी पद्धति को अपना स्वीकृत मापदण्ड बना कर भक्त नाभादास जी ने गोस्वामी जी का मूल्यांकन किया है।

अतः पूर्ण आदर्शों के जीवनदर्शन के द्वारा नर को नारायण बना देने वाले अध्यात्म-दर्शन की ओर नाभादास जी ने भी अपनी विशिष्टाद्वैती रामभक्ति को निरन्तर उन्मुख रखा है।

रामचरित सम्बन्धी इनके पदों का एक छोटा-सा संग्रह भी मिला है‡। नाभादास जी के दो अष्टयाम भी मिलते हैं। उनमें से एक ब्रजभाषा गद्य में तथा दूसरा रामचरित मानस की दोहा-चौपाइयों की पद्धति पर लिखा गया है।

ब्रजभाषा गद्य-अष्टयाम का उदाहरण इस प्रकार है—"तब श्री महाराज कुमार प्रथम श्री वसिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिरि अपर वृद्ध समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिरि श्री राजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेन्द्र नाथ दशरथ जू के निकट बैठत भए†।"

ब्रजभाषा के इस अष्टयाम के द्वारा भी राम के विनम्र शील की भावना ही, नाभादास जी की व्यक्त होती है।

दोहा-चौपाइयों की शैली का नमूना इस प्रकार है—

अवधपुरी की शोभा जैसी। कहि नहिं सकहिं शेप श्रुति तैसी॥
रचित कोट कलधौत सुहावन। विविध रंग मति अति मनभावन॥
चहुँ दिसि विपिन प्रमोद अनूपा। चतुर बीस जोजन रस रूपा॥
सुदिसि नगर सरजू सरि पावनि। मनिमय तीरथ परम सुहावनि§॥

---

‡ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १४८। † आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १२१। § वही, पृष्ठ १२१-१२२।

अयोध्या के प्रति कवि के इस अनुराग के भीतर से अवतारी राम के प्रति भी उनका अनुराग व्यंजित होता है। पुरी की जिस शोभा को शेष और श्रुतियाँ भी नहीं कह सकते, वह राम के प्रभाव से ही तो अयोध्या को प्राप्त है? इसी भावना के द्वारा कवि की बुद्धि और उनका मन अयोध्या के सौन्दर्य को अपनी कल्पना में देख कर तृप्त हो जाता है। अयोध्या को चारों ओर से घेरे हुए प्रमोदोद्यान भक्त नाभादास जी को चौबीस योजन तक रसरूप प्रतीत होते हैं।

इस तरह नाभादास जी ने हिन्दी के माध्यम से राम-रस की धारा को पर्याप्त बल प्रदान किया है।

क्रमानुसार प्राणचन्द चौहान नाभादास जी के बाद आते हैं। गोस्वामी जी के मानस की सृष्टि के छत्तीस वर्ष बाद संवत् १६६७ में प्राणचन्द चौहान जी ने रामायण महानाटक लिखा। इनके इस ग्रन्थ की शैली नाट्य शैली की समग्र आवश्यकताओं को साथ ले कर नहीं चली है। केवल संवाद के तत्त्व को ले कर ही प्राणचन्द जी ने अपने इस प्रयास को नाटक का नाम दिया है।

अपने इस महानाटक के आरम्भ में चौहान जी ने भगवान् राम के निर्गुण-सगुण रूप का ही ध्यान किया है—

जो सारद माता करु दाया। बरनौं आदि पुरुष की माया।।
जेहि माया कह मुनि जगमूला। ब्रह्मा रहें कमल के फूला।।
निकसि न सक माया कर बाँधा। देषहु कमलनाल के रांधा।।
आदि पुरुष बरनों केहि भाँती। चाँद सुरज तहँ दिवस न राती।।
निरगुन रूप करे सिव ध्याना। चार बेद गुन जोरि बषाना।।
तीनों गुन जानै संसारा। सिरजै पालै भंजन हारा‡।।

इस तरह निर्गुण-सगुण राम का ध्यान करके चौहान जी ने अपना यह महानाटक लिखा है। अपने 'निरगुन रूप करै सिव ध्याना' के द्वारा गोस्वामी जी के शिव से चौहान जी कुछ दूर हो गये-से प्रतीत होते हैं, क्योंकि गोस्वामी जी के शिव तो 'राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पराना। पुरुष प्रसिद्ध प्रकाश निधि, प्रगट परावर नाथ। रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायउ माथ†' के अनुसार सगुण-निर्गुण राम का ही ध्यान करते हैं। 'संकर सहज सरूप संभारा। लागि समाधि अखंड अपारा'§ में सांख्य-योग दर्शन की समाधि और उसके पूर्व की ध्यानावस्था की चर्चा है। 'सहज सरूप संभारा' में प्रकृति से अनासक्त निर्गुण पुरुष के ध्यान की बात कही गयी है और 'लागि समाधि अखंड अपारा में' योग की निर्गुण समाधि की अवस्था की ओर संकेत है। पर गोस्वामी जी के शंकर दोनों तरह के ध्यानों में मग्न होते हैं। उनका एक ध्यान आदर्शों के आधारभूत रूप का ध्यान है और दूसरा ध्यान निर्गुण सच्चिदानन्द का। गोस्वामी जी इन दोनों प्रकार के ध्यानों को आनन्द की समाधि का पूर्वरूप मानते हैं, पर उनका अधिक झुकाव उसी ध्यान और

‡ रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १२२। † बालकांड, दोहा २२१।
§ वही, दोहा ६२ के बाद।

समाधि की ओर है जिसमें रूपानन्द की ही अनुभूति होती है और मन स्वार्थों के ऊपर उठ कर अहं के बोध को खो देता है। मन की इसी राममय परिणति को गोस्वामी जी अधिक महत्त्व देते हैं।

'चार वेद गुन जोरि बखाना। तीनों गुन जानै संसारा। सिरजै पाले भंजन हारा' ‡ में चौहान जी गोस्वामी जी की धारणा के साथ ही खड़े हुए दिखाई पड़ते हैं।

प्राणचन्द चौहान के बाद हृदय राम का उल्लेख किया जा सकता है। 'हृदयराम पंजाब के रहने वाले और कृष्णदास के पुत्र थे †'। मानस की रचना के ३९ वर्ष बाद, गोस्वामी जी के साकेतवास के ही वर्ष, सम्वत् १६८० में संस्कृत के हनुमन्नाटक के आधार पर इन्होंने भाषा में हनुमन्नाटक की रचना की।

गोस्वामी जी ने अपने युग तक प्रचलित और सब -पद्धतियों में राम-साहित्य की सृष्टि की। केवल नाटक की शैली को आधार बना कर उन्होंने अपना कोई ग्रन्थ नहीं प्रस्तुत किया। नाटक की शैली को अपना कर गोस्वामी जी के युग में ही राम सम्बन्धी कई नाटक लिखे गये। उनमें से हृदयराम का हनुमन्नाटक सबसे प्रसिद्ध है।

अपने इस नाटक में हृदयराम ने शक्ति और शील की बड़ी मार्मिक झाँकी प्रस्तुत की है। शक्ति, शील और सौन्दर्य की भावना यदि राम-साहित्य के इस साधक में न होती तो संस्कृत का आधार मिलने पर भी वह इतना सुन्दर ग्रन्थ हिन्दी में न प्रस्तुत कर सका होता।

शक्ति की भावना की व्यंजना से सम्बन्ध रखने वाला एक छंद निम्नांकित है—

सातों सिंधु, सातों लोक, सातों ऋषि हैं ससोक,
सातों रवि-घोरे थोरे देखे न डरात मैं।
सातों दीप सातों ईति कांप्योई करत और
सातों मत रातदिन प्रान है न गात मैं।
सातों चिरजीव बरराइ उठे वार-बार,
सातों सुर हाय-हाय होत दिनरात मैं।
सातहूँ पताल काल सबद कराल, राम,
भेदे सात ताल, चाल परी सात-सात मैं§।

बालि के विरुद्ध अपनी शक्ति के प्रयोग की सफलता का निश्चय सुग्रीव के भीतर उत्पन्न करने के लिए भगवान् राम ने जब सप्त तालों को एक साथ ही काट डाला, उसी की ध्वनि का वर्णन करते हुए, हृदयराम ने अपने हनुमन्नाटक में त्रिलोक के भीतर रहने वाले समस्त चराचर के भीतर उस ध्वनि से उत्पन्न हुए आतंक का बड़ा ही सुन्दर वर्णन इस कवित्त में किया है। राम की शक्ति की अनंतव्यापिनी प्रभुता की झाँकी बड़ी सफलतापूर्वक

---

‡ हिन्दी साहित्य का इतिहास; आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, संवत् १९९३ संस्करण, पृष्ठ १२२। † वही। § वही, पृष्ठ १२४।

कवि ने यहाँ प्रस्तुत की है। अनंत की इस शक्ति के लिए कवि के भीतर इस छंद में पूज्यभाव अवश्य व्यंजित होता है।

लक्ष्मण के शील से प्रभावित हो कर हृदयराम का यह छंद भी प्रायः मौलिक-सा ही प्रतीत होने लगता है—

जानकी को मुख न विलोक्यो ताते कुंडल,
न जानत हौं, वीर पायँ छुवै रघुराइ के।
हाथ जो निहारे नैन फूटियो हमारे,
ताते कंकन न देखे बोल कह्यो सतभाइ के।
पायँन के परिवे को जाते दास लक्ष्मन,
यातें पहिचानत है भूषन जे पायँ के।
बिछुआ हैं एई, अरु झाँझ हैं एई जुग,
नूपुर है तेई राम जानत जराइ के‡।

सीताहरण के बाद किष्किंधा में सीता के आभूषणों की पहचान करने के समय लक्ष्मण की इस स्थिति को यद्यपि वाल्मीकि से प्रारम्भ करके हृदयराम तक के कई कवियों ने व्यक्त किया है तथापि हृदयराम जी ने अपनी मौलिकता की रक्षा कर ही ली है। सीता के केवल चरणों का दर्शन करने वाले लक्ष्मण के शील की भावना कवियों ने बराबर की है, पर शपथ के रूप में लक्ष्मण के शील की पवित्रता की जो पावन आकुलता हृदयराम ने व्यंजित की है वैसी अन्यत्र प्रायः नहीं ही देखने को मिलती।

वियोगकाल में रावण की अशोक वाटिका में रहने वाली वन्दिनी सीता के शील की भी बड़ी मार्मिक व्यंजना हृदयराम ने की है। सीता का समाचार ले कर हनुमान के लौट आने के बाद का दृश्य है। उसका वर्णन कवि इस प्रकार करता है—

एहो हनू, कह्यौ श्री रघुवीर कछू सुधि है सिय की छिति मांहीं?
है प्रभु लंक कलंक विना सुवसै तह रावन बाग की छांहीं।
जीवति है? कहिवेई को नाथ, सु क्यों न मरी हमतें विछुराहीं?
प्रान बसै पदपंकज में जम आवत है पर पावत नाहीं†।

राम के वियोग के समय हृदयराम की सीता केवल कहने मात्र को जीवित हैं। उनके प्राणों को सहारा देने वाला राम के चरण-कमलों का ध्यान है। उन्हीं चरण-कमलों में निवास करने वाले प्राणों को यमराज नहीं पा सकता, इसीलिए सीता जीवित हैं। राम के अनुपम शील की उपासिका सीता केवल इसीलिए जीवित है कि उनका दर्शन उसे फिर से मिल जाए। यदि दर्शन की आशा न होती तो वह प्राणों को त्याग देती। जिस भक्तिमय प्रेम की दृष्टि में प्राणों का मोह भी छूट जाता है वह धन्य है। ऐसे ही पावन प्रेम के प्रति हृदयराम का हृदय तन्मय हो कर झुका हुआ है, इसीलिए सीता का इतना गौरवमय और सुन्दर चित्र वे अंकित कर सके हैं।

---

‡ हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १२३। † वही, पृष्ठ १२४।

हृदयराम के वाद केशवदास का क्रमानुसार स्थान हो सकता है। गोस्वामी जी के समकालीन ही केशवदास थे। इनका जन्म-संवत् १६१२ और मृत्यु-संवत् १६७४ के आसपास माना जाता है। इनकी 'रामचन्द्रिका' अपने युग की प्रसिद्ध कृतियों में से है। यद्यपि केशव को भक्त कवियों में स्थान नहीं मिल सकता तथापि राम-साहित्य के स्रष्टा के रूप में केशव का स्थान निश्चित ही महत्त्वपूर्ण हो गया है।

'रामचन्द्रिका' के निर्माण में इस कवि ने प्रसन्नराघव, हनुमन्नाटक, अनर्घराघव, कादम्बरी और नैपध की कई पंक्तियों का अनुवाद करके उनका उपयोग कर लिया है। तथापि इतना तो अवश्य ही कहना पड़ेगा कि कवि की रुचि का परिचय इन ग्रंथों की पंक्तियों के चुनाव से ही मिल जाता है। अपनी प्रवृत्ति के अनुसार ही इन पंक्तियों का अनूदित चयन केशवदास ने रामचन्द्रिका में किया है।

जीवनदर्शन को दृष्टि में रख कर केशवदास का अध्ययन किया जाए तो यह पता चलता है कि वे अपने युग की रामभक्ति शाखा के साधकों की प्रवृत्ति के अनुसार ही आदर्शवादी साधक हैं।

रामचन्द्रिका के मंगलाचरण में ही केशव के गणेश, दुःख और विपत्तियों को तो दूर करते ही हैं, पर साथ ही साथ वे लोकमंगल विधान के कार्य को कलुपनाश के द्वारा भी करते हैं। पापों के नाश के भीतर से ही आदर्शों का वीज अंकुरित होने लगता है‡। आदर्श का यही अनंत विकास केशवदास ने रामभक्ति के साधक के भीतर देखा है। राम की वन्दना के भीतर ही रूप, गुण, भक्ति और नाम के आधार पर, श्लेप की सहायता से उन्होंन अणिमा, गरिमा, महिमा और मुक्ति के साथ आत्मा की प्रफुल्लता, उसके गौरव, महिमामय महत्त्व तथा स्वार्थ से मुक्ति का चित्र अपने भीतर अंकित कर लिया है। 'रूपदेहि अणिमाहिं' से उनका लक्ष्य केवल अणिमा की योग-सिद्धि ही नहीं है, वरन् दुःख के भार से मुक्त हुई आत्मा की वह तरल पवित्रता भी है जिसका अनुभव कर लेने के वाद जीव का भार हल्का हो जाता है तथा अपने सब कलुपों के अभाव में वह अपने को अति सूक्ष्म और कलुपों की स्थूलता से मुक्त अनुभव करने लग जाता है। राम के रूप के साथ इतनी पवित्रता जुड़ी हुई है कि उसका दर्शन कर लेने पर जीव सब स्वार्थों की स्थूलता को त्याग कर वासना के अभाव में अति सूक्ष्म हो जाता है। पिपीलिका मार्ग से भी योग सम्प्रदाय के भीतर प्रायः इसी सत्य का वोध कराया जाता है। जब जीव स्वार्थों की स्थूलता को त्याग कर चिउँटी की तरह सूक्ष्म हो जाता है तभी विना वाधा के वह जीवन की ऊँचाई पर, हृदय की उन्नतावस्था तक पहुँच जाता है।

'गुण देहि गरिमाहिं' में राम के गुणों के गौरव की अनुभूति के वाद क्षुद्रता को त्याग कर जीव के गौरवमय हो जाने का स्पष्ट संकेत है। राम के निःस्वार्थ शील का अनंत गौरव रामभक्त को भी उसी गौरव की ऊँचाई तक पहुँचा देने की क्षमता रखता है। यही उसका

‡ रामचन्द्रिका, प्रकाश पहला, छन्द १।

गुण है। राम के शील का यही गुण भक्त के भीतर अनंत गौरवमय राम को जगा देता है और भक्त स्वयं गरिमामय हो जाता है।

'भक्ति देहि महिमाहि' के भीतर भी महामहिम राम की भक्ति की महिमा का ही स्वरूप बताया गया है। गुणों के गौरव के साथ ही राम का उदार शील अपने भीतर विश्वमंगल को देखता हुआ महान् या महत्तम बना रहता है। इस शील के कारण ही राम महत्तम हैं, मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। राम के इस उदार शील की भावना ही रामभक्ति है। गोस्वामी जी का भी यही सिद्धान्त है। इसी की व्यंजना 'तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परि है' की भावना के भीतर भी होती है। स्वार्थों की ओर से जब मन फिर पड़ता है तभी भक्त को यह अनुभव होने लगता है कि भगवान् ने उसे अपना लिया। जीवन के आदर्शों का यही विश्वमंगल विधायक रूप भक्त की महिमा का विधान करता रहता है। इन्हीं सब तथ्यों की सूचना केशव ने 'भक्ति देहि महिमाहि' के द्वारा दी है। स्वार्थों से मुक्त हुई आत्मा जब सूक्ष्मता की अणिमा-शक्ति को प्राप्त कर लेती है तब वह गौरवमयी हो जाती है। उसकी लघुता नष्ट हो जाती है और वह महान् हो कर महिमामयी हो जाती है। इसके बाद की अवस्था ही मुक्ति की अवस्था है। इस अवस्था की सूचना देने के लिए केशवदास ने 'नाम देहि मुक्ति' कहा है। राम के रूप से भी बढ़ कर काम उनका नाम करता है। रूप और नाम के महत्त्व को समझाने के लिए गोस्वामी जी ने भी नाम को अधिक व्यापक या अनंत क्षेत्र में उद्धार-कार्य करते हुए देखा है। 'रामु न सकहिं नाम गुन गाई' के द्वारा गोस्वामी जी ने इसी सत्य की ओर संकेत किया है‡। नाम की इसी अनंतता का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद मनुष्य का सीमित स्वार्थों से बद्ध, सीमित अहं अनंत हो जाता है और वह 'अहं ब्रह्मास्मि'† कह उठता है। अपनी इसी अनंतता का ज्ञान कर लेने के बाद जीव ब्रह्म हो जाता है। वह सीमित स्वार्थों की सीमा को लाँघ कर मुक्त हो जाता है§।

एक छंद के एक छोटे से टुकड़े के द्वारा केशवदास इतने व्यापक सत्य की ओर संकेत करने की क्षमता रखते हैं। जीवन-दर्शन की इस उच्चतम ऊँचाई को ही अध्यात्म-दर्शन कहते हैं। यही उच्चतम जीवन केशव का लक्ष्य है। इसी की सिद्धि और इसी के प्रचार के लिए उन्होंने रामचन्द्रिका लिखी है। इस उच्चतम जीवन-दर्शन के संकेत रामचन्द्रिका में भरे पड़े हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी शृंगारी साहित्य-साधना से ऊब कर ही केशव ने रामचन्द्रिका लिख कर आत्मतुष्टि का अनुभव किया है।

अपनी सनाढ्य जाति का परिचय देते हुए भी कवि के सामने से 'शुद्ध सुभाव' का जीवन-दर्शन लुप्त नहीं होने पाता; सनाढ्यों में इस 'शुद्ध सुभाव' का वह दर्शन करता है। शास्त्रों के चिन्तन के द्वारा साधुमत तक पहुँच जाने की सम्भावना का इंगित भी केशव ने अपने पूर्वज काशीनाथ के द्वारा, शास्त्र-चिन्तन के मार्ग से इस साधुमत की प्राप्ति का उल्लेख किया है*।

---

‡ बालकांड, दोहा २१ के पहले। † बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय १, ब्राह्मण ४, कंडिका १०। § रामचन्द्रिका, प्रकाश १ छन्द ३। * वही, छन्द ४।

'रामचन्द्र की चन्द्रिका' का केशवदास के जीवन में एक विशिष्ट महत्त्व है, क्योंकि इस चन्द्रिका के अवतार के बारे में केशवदास खास ढंग से सूचना देते हैं। उनके अनुसार यह साधारण ग्रंथ नहीं, अपितु उनकी आत्मा के भीतर से इसका अवतार हुआ है। संवत् १६१२ में संसार में जन्म लेने वाले साधक ने लम्बे अनुभव के भीतर से अपनी आयु के छियालिसवें वर्ष में संवत् १६५८ में इस चन्द्रिका के आलोक को अपनी आत्मा के भीतर से प्रकाशित किया था। रामचन्द्रिका अनुभव-प्रसूत थी। युग की सहज प्रवृत्ति के कारण अलंकारप्रियता का दर्शन होना रामचन्द्रिका में स्वाभाविक है, पर काव्य के प्रकृत धर्म, उसकी आत्मा रस की भी कमी इस चन्द्रिका में नहीं है। चन्द्रिका का कोमल आलोक हृदय की अनुभूतियाँ भी बड़े कोमल ढंग से प्रसारित करता है।

ग्रंथ-रचना का कारण देते हुए केशव का साधक अपने भीतर की अशान्ति का परिचय देता है। आत्मा के विकास की भूख उसके भीतर है। वाल्मीकि मुनि का स्वप्न में प्राप्त दर्शन कवि को सुन्दर प्रतीत होता है। उस चारुता में सौन्दर्यानुभूति की कवि की सहज बुभुक्षा की प्रवृत्ति स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो जाती है।

आदिकवि को स्वप्न में देख कर इस साधक का तड़पता हुआ हृदय ऋषि से 'सुख-सारु' ‡ प्राप्त करने का मार्ग ही तो पूछता है ? परमानन्दमयी आत्मसिद्धि की प्रेरणा से प्रेरित हो कर ही केशव ने इस चन्द्रिका के आलोक से अपने हृदय को आलोकित कर लिया है।

केशवदास की रामचन्द्रिका अपने मूल में ही आत्मप्राप्ति का सन्देश देती है। उन्होंने ऋषि से जब 'सुखसार' को प्राप्त करने का मार्ग पूछा है, तब उनकी भावना का आदिकवि उन्हें 'सीधी-रीधी' के महामंत्र की ओर बढ़ जाने का संकेत देता है। यह सिद्धि और ऋद्धि और कुछ नहीं है; इसमें आत्मसिद्धि और आत्मविकास के बीजमंत्र निहित हैं। इन मंत्रों को दे कर ही आदिकवि सत्य के प्रकाश के केन्द्र तारक-मंत्र 'राम नाम' की ओर राम-चन्द्रिका के साधक को ले जाते हैं। सम्पूर्ण जगत् को आत्मा का क्रीडामय सहजानन्द प्रदान करने वाले राम की विश्वमंगल विधायिनी रक्षाशक्ति को अपनी आत्मा के भीतर स्थान दे कर विश्ववेदना के शाश्वत प्रकाश में आत्मदर्शन कर लेने का संदेश ही केशव ने अपनी भावना के भीतर प्राप्त किया है। आत्मा के अखंड विकास की अनन्तता की जिस प्राप्ति के बीज को ले कर आदि कवि ने रामायण का निर्माण किया †, वही आत्मविकास का बीज केशव का भी प्रेरक मंत्र है, इसमें सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं बच रहता।

अपने स्वप्न ही में जब केशव आदि कवि से पूछते हैं कि दुःख कैसे टलेगा, तब वाल्मीकि यही सन्देश देते हैं कि हरि स्वयं तुम्हारी आत्मा के भीतर की अशांति को हर लेगा। हरि शब्द की व्युत्पत्ति को केशव के आदिकवि ने केवल 'हरि जू हरिहै§' के चार शब्दों में बड़ी कुशलता से व्यक्त कर दिया है। जगत् की शरण का विधान करने वाले

‡ रामचन्द्रिका, प्रकाश १ छन्द ७। † वाल्मीकि रामायण, बालकांड, सर्ग १, श्लोक २।
§ रामचन्द्रिका, प्रकाश १, छंद ११।

राम के चरित्र का वर्णों में वर्णन करने का आदेश केशव के आदिकवि ने उन्हें दिया है। इस तरह विश्वमंगल विधान की योजना का, मानव के शील के उच्चतम विकास की योजना का चित्र आचार्य केशव की भावना के भीतर भी स्पष्टतः दिखाई पड़ रहा है।

केशव की रामचन्द्रिका हृदय-प्रसूत है। अलंकार के सौन्दर्य से आकृष्ट होने वाला युगवाणी को भी अलंकृत करके उसके द्वारा आत्मविकास का सन्देश देता है। केशव के अलंकारों का यही रहस्य है। उनकी आत्मा में बैठ कर राम उनकी वाणी को माध्यम बना कर स्वयं व्यक्त हुए हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। रामचन्द्रिका में इस सत्य की घोषणा कवि की वाणी ने कई बार की है।

'मुनिपति यह आदेश दे अब ही भये अदृष्ट, केशवदास तहीं कर्यो रामचन्द्र जू इष्ट ‡' के द्वारा अपने हृदय में राम के अनन्तशील को बिठा लेने का स्पष्ट संकेत केशव का कवि देता है। राम को ही अपनी इष्ट वस्तु बना कर उनकी यश-चन्द्रिका की धवलिमा से जगत् के हृदय को प्रक्षालित कर देना केशव का अभीष्ट है। केशवदास ने अपनी मति को भूतनया सीता बना कर रामचन्द्र के चरणों की उपासना की है। उन्होंने अपने लोचनों को 'रामचन्द्रपद पद्म' का भ्रमर बना दिया है †।

केशव राम की पूर्णता को सगुण-निर्गुण ध्यान के भीतर देखते हैं। राम के जगत्-प्रशंसित धवल यश का हंस जो मुनियों के पवित्र हृदय में बराबर क्रीडा करता रहता है और जिसके आधार राम की, नीलमेघ और नीलाकाश की-सी श्यामता को संतों ने अपनी आँखों का अंजन बना लिया है, उसी की प्रशंसा केशव जी ने भी रामचन्द्रिका में की है। सुन्दरतम यश और उसके आधार, सुन्दरतम रूप की उपासना ही केशव का अभीष्ट है। उनके राम कालत्रयदर्शी हैं, तथा निर्गुण होते उन्हें देरी नहीं लगती। 'कालत्रय दरशी निर्गुण-परशी होत विलंब न लागै' के द्वारा राम के सहज निर्गुण रूप की भावना केशव ने की है। इसी सगुण-निर्गुण का गुणगान करके अपने पुरातन पापों को भगा देने की योजना बना कर केशव ने रामचन्द्रिका को पृथ्वी पर अवतरित किया है। इस ग्रंथ के अवतार ने उन्हें निश्चित ही आत्मसन्तोष और आत्मानन्द प्रदान किया है $।

केशव ने राम की ज्योति को, एकरूप हो कर, अभेद के वायुमंडल में स्वच्छंद हो कर, जगत् पर छायी हुई देखा है *। 'सूरज कुल' में शुभद शील का दर्शन करने के लिए उनकी आँखें निरन्तर जागरूक रहती हैं, इसीलिए जीवन के पवित्रतम आदर्शों के आधार पर ही दशरथ को उन्होंने 'शुभ-सूरज कुल-कलश' के रूप में देखा है। दशरथ पुत्र राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न के भीतर भी विश्वमंगल विधायक शील का दर्शन ही केशव का मनोवांछित अभीष्ट है। अयोध्या को वे 'यशधाम' के रूप में तथा पुरवासियों को अघओघ-विनाशी' शील से विभूषित देखते हैं §। विश्वामित्र की पवित्रता की ओर उनका ध्यान है। ऋषि के वशित्व की ऊँचाई पर विकसित हुई उनकी स्वार्थहीनता का दर्शन

‡ रामचन्द्रिका प्रकाश १ छंद १८। † वही, छंद १९। $ वही, छंद २०। * वही, छंद २१। § वही, छंद, २२–२३।

करना केशव नहीं भूलते ‡ । विश्वामित्र के शिष्यों को भी शील की तेजस्विता से आलोकित होते हुए वे देखते हैं। पवित्र अयोध्या की तपोमयी स्थिति उनकी कल्पना के भीतर से हटने नहीं पाती † । उनके विश्वामित्र अयोध्या के पशु-पक्षियों तथा नर-नारियों को 'रामचन्द्र गुन गनत' देख कर मुग्ध हो जाते हैं$ ।

'नागर नगर अपार महा मोह तम मित्र से । तृष्णालता कुठार लोभ समुद्र अगस्त्य से'* के द्वारा राम के शील के प्रभाव से उत्पन्न, अयोध्या के भद्र पुरुषों की भद्रता का वर्णन करके केशव ने अपनी आदर्शप्रियता और रामभक्ति का पर्याप्त परिचय दिया है।

यद्यपि अपने वर्णन की सामग्री के रूप में केशव ने संस्कृत के साहित्य-ग्रन्थों की भाव-छाया स्वीकार कर ली है तथापि उनका वर्णन अनुभूतिशून्य नहीं है। अपने आनन्द को अभिव्यक्ति प्रदान करने में यदि अपने पूर्वजों की भाव-छाया से ही उन्हें संतोष मिला है तो उन्होंने उनकी छाया का आश्रय ले लेने में अपना कोई अपमान अनुभव नहीं किया है। अपनी पूर्वपरम्परा को कई जगह प्रायः अविकल रूप में ले कर भी उन्होंने अपने व्यक्तित्व की रक्षा बराबर की है। उधार लेने की अपनी प्रवृत्ति के भीतर भी केशव ने अपनी निजी सौन्दर्यानुभूति की प्रेरणा को रक्षित रख लिया है। कर्म-सौन्दर्य और रूप-सौन्दर्य की अपनी मौलिक भावना की प्रेरणा से प्रेरित हो कर उसके अनुकूल जो सामग्री उनको अपने पूर्वज साहित्य-साधकों में मिली उसे ले लेने का लोभ वे संवरण न कर सके।

उच्चतम जीवनदर्शन और अध्यात्मदर्शन के आधार पर केशव की रामचन्द्रिका का अध्ययन करने से हमें कवि के समन्वयात्मक दृष्टिकोण का एक विराट् परिवेश दृष्टिगोचर होता है। केशव भी अपने शिव को राम के आदर्शों के उपासक के रूप में प्रस्तुत करते हैं। राम के आदर्शों के कारण ही महादेव उस अनन्त शीलवाले राम का ध्यान निरन्तर किया करते हैं। ब्रह्मा राम के उन्हीं गुणों को देखते रहते हैं, सरस्वती उन्हीं के गुणों की गिनती करती रहती हैं, शेष अपने सहस्र मुखों से उन्हीं के गुणों का वर्णन करते हैं, पर अंत नहीं पा सकते § ।

केशव के वाल्मीकि स्वप्न में उनसे कहते हैं—तुझे भले-बुरे का ज्ञान नहीं है। तू निरर्थक चर्चा करता और सुनता रहता है। जब तक तू रामदेव की चर्चा न करेगा तब तक तुझे देवलोक न प्राप्त हो सकेगा। मानव जीवन का यही उच्चतम विकास है और यह विकास राम के परमोच्च शील के चिन्तन से ही प्राप्त होता है × ।

इसी राम के शील की चर्चा करते हुए केशवदास के वाल्मीकि ने कहा है—'राम एक बार बोल कर उसे नहीं बदलते। वे इतने बड़े दानी हैं कि जिसे एक बार दे देते हैं, उसे फिर से माँगने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जिस शत्रु को वे एक बार पराजित कर लेते हैं वह अपना सिर कभी नहीं उठाता। मरे हुए शत्रु के प्रति वे वैरभाव नहीं रखते। राम का क्रोध कभी निरर्थक नहीं होता। एक बार शत्रु का सामना कर लेने पर वे उसे

‡ रामचन्द्रिका, प्रकाश १, छंद २४। † वही, छंद ३८। $ वही, छंद ४४। * वही, छंद ५०। § वही, छंद १४-१५। × वही, छंद १६।

पीठ नहीं दिखाते। वे अपने वैयक्तिक जीवन के भीतर लोक-जीवन के आदर्शों को कभी नहीं छोड़ते। उनके दान, सत्य, सम्मान और सुयश सब दिशाओं में व्याप्त हो जाते हैं; क्योंकि उनके इन सब गुणों का उपयोग विश्व भर के मंगल-विधान के लिए होता रहता है राम का मन, लोभ, मोह, मद और काम के वश में कभी नहीं होता। अवतारों में श्रेष्ठ यही श्रीराम परब्रह्म हैं‡।'

केशवदास के वाल्मीकि के ये शब्द इस बात की प्रत्यक्ष गवाही देते हैं कि उनकी उपासना इन्हीं आदर्शों की उपासना है। उनके चारों दशरथ-पुत्र सुन्दर मति और सुन्दर चित्त वाले आदर्श-प्रिय व्यक्ति हैं। उनके राम पृथ्वी पर आदर्शों की शीतल ज्योत्स्ना का आलोक फैलाने वाले भुवचन्द्र हैं। उनके भरत अपने आदर्शों के आभूषणों के कारण भारत की भूमि के भूषण हैं तथा लक्ष्मण और शत्रुघ्न भी विश्व की पीड़ा को शान्त करके विश्व-मंगल विधायक 'दीह दानवदल दूषण' हैं†।

सरयू के वर्णन में केशव उस नदी के पावन जल में जीवन की पवित्रता को उत्पन्न करने की शक्ति का दर्शन करते हैं। उनकी सरयू 'शुद्ध गति' देने वाली, 'ऊरधफल' फलने वाली, जीवन के उच्चतम परिणामों की जन्मदात्री और पतित शील वालों के भीतर पावन विचार उत्पन्न करने की क्षमता रखती है$।

जीवन के आदर्शों का दर्शन करने वाले केशव का कवि पंडितों को गुणों से सुशोभित, क्षत्रियों को धर्मप्रवर, वैश्यों को सत्य सहित तथा शूद्रों को ब्राह्मणों के पवित्र शील के प्रेमी के रूप में देखता है*। जीवन के आदर्शों का यह उपासक कवि हरिश्चन्द्र के जगद्वन्द्य सत्यप्रेम को नहीं भूलता§। इसी हरिश्चन्द्र की याद दिला कर केशव के विश्वामित्र उनके दशरथ को 'सनातन सत्य' की उपासना करने की राय देते हैं और मोह छोड़ कर राम को यज्ञ-रक्षा के लिए वन भेज देने का उपदेश देते हैं×। केशव के वसिष्ठ, विश्वामित्र को आदर्श राजा और आदर्श मित्र की तरह देखते हैं। उनके 'अमित चरित्र' को वे 'रामचन्द्रमय' मानते हैं+। इस छंद की गवाही से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि राम का उच्चतम जीवन-आदर्श केशव की उपासना का विषय था और विश्व भर में उन्हीं आदर्शों की उपासना वे प्रत्येक व्यक्ति के शील में करना चाहते थे। विश्वमंगल विधायक शील के भीतर केशव ने लोभ, क्षोभ, मोह, गर्व, काम, कामना और यहाँ तक कि निद्रा, भूख, प्यास, त्रास और सब वासनाओं के अभाव का दर्शन किया है*। इन सब पर विजय प्राप्त करके विश्वमंगल विधायक शील विश्वमंगल-विधान के कार्य मे लगा रहता है।

आश्रमों की सभ्यता का वही वातावरण केशव को मुग्ध करता है, जिसमें सत्साहित्य का अध्ययन होता रहता है, सिंह और हरिण एक साथ रहते हैं, जहाँ किसी को दुःख नहीं

---

‡ रामचन्द्रिका, प्रकाश १, छंद १७। † वही, छंद २१-२२। $ वही, छंद २६-२७। * वहीं, छंद ४३। § वही, प्रकाश २, छंद २१। × वही, छंद २२। + वही, छंद २५। * वही, छंद २८।

दिया जाता तथा सबके सुख का प्रबन्ध किया जाता है। जिस वातावरण में दीनों को दण्ड नहीं दिया जाता, पर गर्व के लिए दण्ड और भेद की अवश्य व्यवस्था होती है, वैसा ही ऋषि-आश्रम केशव जी को अपनी ओर आकृष्ट करता है‡। ब्राह्मण के आदर्श शील के विरोधी राक्षसों के संहार में, संहर्ता के आदर्श-शील की विभूति का दर्शन करके केशव मुग्ध होते हैं†।

रामचन्द्रिका अपने नाम से ही शील की अविरल उपासना का संकेत देती है और इस ग्रन्थ में प्रारम्भ से ले कर अंत तक विराट् शील की उपासना ही हुई है। केशव के परशुराम पर भी राम के विनम्र और पवित्र शील का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वे उन्हें 'शील-समुद्र' मान लेते हैं§।

जीवन के समग्र आदर्शों के प्रति केशव पूर्ण जागरूक दिखाई पड़ते हैं। चन्द्रिका के नवें प्रकाश में वन-गमन के समय उनके राम ने पिता के प्रति पुत्र के धर्म पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला है। पति के प्रति नारी के कर्तव्य तथा विधवा स्त्रियों के धर्म का भी, अपनी माता कौशल्या के समक्ष, उन्होंने बड़ा सुन्दर विवेचन किया है।

व्यक्ति के शील के भीतर देशप्रेम और राष्ट्रप्रेम का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। 'भारत-भूमि' की केशव ने कई बार चर्चा की है और इस चर्चा के भीतर इस भूमि के लिए उनकी रक्षा-भावना स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है तथा उनके राम और लक्ष्मण 'भारत भूमि' की रक्षा में प्रवृत दिखाई पड़ते हैं*। 'भारत खंड' को राजा के रूप में भी केशवदास ने देखा है§। उनके भरत 'भारत-भुव-भूषन' हैं×। इन साक्ष्यों से यह सिद्ध हो जाता है कि केशव के भीतर एक अखण्ड राष्ट्र के रूप में भारत की कल्पना थी और इस राष्ट्र का श्रृंगार वे राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के समान आदर्श वीरों के द्वारा, संपन्न होते हुए देखना चाहते थे। 'कवि प्रिया' में भी ओरछा-नरेश भारतिचंद को केशव ने 'भरथखंड-मंडन' कहा है तथा रसातल में जाते हुए देश की उनके द्वारा रक्षा की बात कही है+। 'कविप्रिया' के पहले ही प्रभाव में केशव ने दूसरे ओरछा-नरेश भारती शाह को भरतखंड भूषण कहा है*।

दाम्पत्य जीवन की पवित्रता के चित्र का, केशव जी ने सीता और राम के संयोग और वियोग की स्थितियों में, बड़ा ही सुन्दर अंकन किया है। केशव जी के इन अंकनों में विश्व के शील की रक्षा की उनकी भावना स्पष्टतः परिलक्षित होती है और इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास की योजना केशव की कल्पना के भीतर अपने निश्चित और स्पष्ट रूप में विद्यमान थी। वर्णाश्रम विभाजन के आधार पर बने हुए आदर्श समाज की बड़ी पवित्र कल्पना केशव जी के मस्तिष्क में जागरूक हो कर बैठी हुई थी। सामन्तयुगीन समाज की जितनी पवित्र,

---

‡ रामचन्द्रिका, प्रकाश ३, छंद २-३। † वही, छंद ९। § वही, प्रकाश ७, छंद २७। * वही, प्रकाश १४, छंद ३८। § वही, प्रकाश २०, छंद ३०। × वही, प्रकाश १, छंद २२। + कविप्रिया, प्रभाव १, छंद १९। * वही, छंद ३७।

सुन्दर और सूक्ष्म कल्पना संभव हो सकती है उसका एक स्पष्ट चित्र केशव जी ने अपनी प्रतिभा से देख लिया था।

शुक्रनीति के आधार पर केशवदास ने रामचन्द्रिका में राजनीति का वर्णन किया है। आदर्श के विकास-क्रम की दृष्टि से रावण के मन्त्री महोदर ने उसे शुक्रनीति के आधार पर चार प्रकार के राजाओं के लक्षण बताये हैं। शुक्रनीति के अनुसार एक तरह का राजा केवल ऐहिक और भौतिक उन्नति पर विश्वास करता है और राजा बेन की तरह अपने को ही ईश्वर मानता है। हरिश्चन्द्र की तरह दूसरे प्रकार का राजा केवल परलोक की ही सिद्धि करता है। इस लोक की उन्नति की उसे विशेष चिन्ता नहीं रहती। विदेह के समान तीसरे तरह के राजा को केशव जी आदर्श मानते हैं, जो ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की सिद्धियों को अपनी साधना का लक्ष्य बनाता है। शील की दृष्टि से त्रिशंकु की तरह चौथे प्रकार के राजा हीनतम होते हैं जो ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की सिद्धियों को नष्ट कर देते हैं‡।

शुक्रनीति के अनुसार ही केशव ने रावण के मंत्री महोदर के द्वारा चार प्रकार के मंत्रियों के लक्षण प्रस्तुत किये हैं। शील-विकास की दृष्टि से ही मंत्रियों के भी शुक्राचार्य के द्वारा प्रदर्शित चार प्रकार केशव भी स्वीकार करते हैं। एक प्रकार का मंत्री अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए राजा के कार्य को नष्ट कर देता है। दूसरे प्रकार का मंत्री राजा के कार्य की सिद्धि के लिए अपने स्वार्थों की बलि दे देता है। तीसरे प्रकार का मंत्री अपने स्वार्थों की सिद्धि के साथ राजा के स्वार्थ की भी सिद्धि करता चलता है। आदर्श की दृष्टि से सबसे हीनतम आदर्श वाला चौथे प्रकार का मंत्री अपना और अपने स्वामी का भी लक्ष्य नष्ट कर डालता है†।

व्यक्ति और समाज के आदर्शमय विकास के लिए केशवदास चार वर्ण, चार आश्रम तथा चार पुरुषार्थों को आवश्यक समझते हैं। उनके अनुसार समाज का चार वर्णों में विभाजन करने वाला सिद्धान्त ही समाज-विज्ञान का उच्चतम सिद्धान्त है। व्यक्ति के शील के उच्चतम विकासक्रम में चार आश्रम तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चार पुरुषार्थों के समुचित सन्तुलन को केशवदास आवश्यक मानते हैं। अर्थ और काम को धर्मबुद्धि के द्वारा संचालित करके स्वार्थ को परमार्थ तक पहुँचा देने के क्रम में ही उन्होंने मुक्ति के विकास का दर्शन किया है$।

शील की दृष्टि से केशवदास ने राजा, युवराज, पुरोहित, मंत्री और मित्र के आदर्श रूप का दर्शन कुछ दोषों के अभाव की भावना के भीतर किया है। काम, कुटिलता, कृपणता, कृतघ्नता और शत्रुभाव ही वे दोष हैं जिनका सर्वथा अभाव केशवदास समाज के उपर्युक्त व्यक्तियों में देखना चाहते हैं। राजा, युवराज, पुरोहित और मंत्री—ये सामन्त-युगीन समाज के चार प्रमुख स्तम्भ हैं। 'मित्र' के भीतर पूरा समाज ही आ जाता है। इस

---

‡ रामचन्द्रिका, प्रकाश १७, छंद २० से २२ तक। † वही, प्रकाश १७, छंद २५।
$ वही, प्रकाश १८, छंद ८।

तरह प्रत्येक व्यक्ति से संवद्ध पूरे समाज के आदर्शरूप को केशव निःस्वार्थता, निश्छलता, उदारता, कृतज्ञता और मैत्रीभाव के वातावरण से प्रकाशित देखना चाहते हैं‡।

केशवदास की जागरूक दृष्टि ने रामचन्द्रिका में मनुष्य के जीवन के भीतर उत्पन्न होने वाले सब कष्टों को, वाल्यावस्था से ले कर वृद्धावस्था तक देख लिया है। अपनी विरक्ति में उनके राम, जीवन का यही सिंहावलोकन करते हैं। काम, क्रोध, मोह, लोभ और अभिमान में जलते हुए मानवमन का दर्शन केशव जी के राम ने किया है और इन सबका कारण, उन्होंने हृदयकमल में तृष्णारूपिणी भ्रमरी के निवास को ही माना है†।

कष्ट के निवारण का उपाय भी केशवदास ने रामचन्द्रिका में वताया है। अभिमान को छोड़ कर जो विश्व भर में अपने को देखने लगता है उसे अभेद-दर्शन प्राप्त हो जाता है और वह जगत् के सन्तापों से अस्पृष्ट हो जाता है। परम्परा-पुष्ट इस अद्वैतवादी सिद्धान्त को केशवदास ने भी स्वीकार किया है$। अतः जीवन के पूर्ण विकास का ऐसा कोई पक्ष नहीं है जिसके लिए केशवदास जागरूक न हों।

केशवदास के अध्यात्मदर्शन और साधना-सिद्धान्त पर दृक्पात करने पर यह ज्ञात होता है कि वे अभेदवादी तथा समन्वयात्मिका प्रवृत्ति के साधक हैं। हरि और हर का जो समन्वय गोस्वामी जी ने किया है वही उनका भी अभीष्ट है*। ब्रह्मानन्द की अभेद-भावना में तल्लीनता पर भी उनका विश्वास है। पूर्णपुरुष परमात्मा संसार की रक्षा करता रहता है। रक्षा का यह सिद्धान्त केशव को भी मान्य है§। सर्वव्यापी अनन्त पुरुष की आदिशक्ति ही जगन्माता सीता के रूप में अवतरित होती है। परम्परा से चले आये हुए इस सिद्धान्त को वे भी मानते हैं×।

अवतारी ब्रह्म के पुरुषोत्तम और शीलमय दर्शन को केशव भी पावन मानते हैं+। ब्रह्म की पूर्ण ज्योति का ज्ञान और उसका अनुभव प्राप्त करके जीव भी ब्रह्म के समान हो हो जाता है। केशव भी इस स्थिति को स्वीकार करते हैं*! असंख्य शीलवान् व्यक्तियों के कष्टों को दूर करने के लिए ही निर्गुण, सगुण हो जाता है। इस सिद्धान्त को श्लेष के बड़े सुन्दर आवरण से केशव ने व्यक्त किया है¶:

अनन्त जब अनन्तशील को ले कर अवतरित होता है, तब उसके दर्शनमात्र से संसार के जीवों के मन पवित्र हो जाते हैं और उनकी सब स्वार्थमयी कामनाएँ शान्त हो जाती हैं। इस सिद्धान्त को रामचन्द्रिका के छठवें प्रकाश में केशवदास ने व्यक्त किया है। वे इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं कि जिस शक्ति को योगी अपनी समाधि में भी नहीं देख सकता, जो रुद्र के 'चित्त-समुद्र' में निवास करती है, जिसका वर्णन ब्रह्मा भी नहीं

---

‡ रामचन्द्रिका, प्रकाश १८, छंद ९। † वही, प्रकाश २४, छंद १ से २० तक। $ वही, प्रकाश २५, छंद १८। * वही, प्रकाश ३, छंद २। § वही, प्रकाश ४, छंद १४ और १५। × वही, प्रकाश ४, छंद २८। + वही, प्रकाश ५, छंद ५। * वही, प्रकाश ५, छंद २२। ¶ वही, प्रकाश ५, छंद ४२।

कर सकते, जो अनादि और अनन्त ज्योति रूप, रंग और रेखाओं की सीमा को लाँघ जाती है, वही मूर्तिमती हो कर सगुण हो जाती है‡। केशवदास अपनी भावना के भीतर इस बात को स्पष्टतः देख लेते हैं कि अनन्त शीलवती सीता को अपनी पुत्री के रूप में प्राप्त करने के कारण ही, 'अखिल भुवनभर्ता', ब्रह्म, रुद्र इत्यादि को जन्म देने वाले, अग-जग के भीतर सुन्दर हो कर बैठे हुए राम को अपने जामाता के रूप में जनक प्राप्त कर सके†।

केशवदास के अनुसार मर्यादा पुरुषोत्तम पूर्णपुरुष होता है और अपने रूप और गुणों के कारण वह शत्रु को भी अपनी ओर आकृष्ट करके मुग्ध कर लेता है$। साधना के क्षेत्र में समन्वयवादी केशव ने राम और परशुराम को शंकर के उपासक की तरह चित्रित किया है। अविकारी शील में ही लोकमंगल विधान की शक्ति होती है। वह हर तरह से सन्तुष्ट रहता है। इसी सन्तोष का दर्शन करके मंगलमय शिव भी सन्तुष्ट होता है। केशवदास के सामने विराट् जीवन की यह परमोच्च परिणति बिलकुल स्पष्ट है। वे भी तुलसी इत्यादि की परम्परा में राम और परशुराम को नारायण का अवतार मान कर उन दोनों के प्रति पूज्यभाव और अभेद बुद्धि रखते हैं।

केशवदास जी भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं कि अवतारी ब्रह्म के भीतर शत्रु-मित्रभाव का द्वंद्व नहीं रहता*। जीवन के विकास को स्वार्थमयी वासना काट देती है। इस सिद्धान्त को भी वे स्वीकार करते हैं§। अध्यात्मदर्शन के आधार पर वे ईश्वर की मायाशक्ति के द्वारा सम्पूर्ण जगत् को मुग्ध और परिचालित होता हुआ देखते हैं। ब्रह्म के इसी जगद्-शासन-सिद्धान्त के अनुसार उनकी गंगा भरत को, कैकेयी के निर्दोषत्व से परिचित कराती हैं। केशवदास जी इस सत्य के प्रति भी जागरूक हैं कि अभेद दर्शन की श्रेष्ठ विद्या ही ज्ञान बन कर जीव को सच्चा और अहैतुक आनन्द प्रदान करती है।

भक्ति साधना के भीतर भक्त के दैन्य का सिद्धान्त केशव भी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यह दैन्य निरभिमानता की पवित्रता से सब पापों को भस्म कर देता है×। सेतुबंध के प्रकरण में उन्होंने राम की शिवभक्ति का बड़ा कोमल चित्र प्रस्तुत किया है तथा भवसागर में जीव के जहाज़ का उन्हें मल्लाह माना है+। रघुनायक के व्यापक रूप को उन्होंने जल और स्थल के सम्पूर्ण प्रसार पर व्याप्त देखा है*। और राम को नारायण से भी अधिक महत्त्व दिया है¶। ब्रह्मा और विष्णु से भी अधिक महत्त्व रुद्र को केशव के रावण ने प्रदान किया है‡⊕।

केशवदास के अनुसार केवल राम ही काम के लायक हैं। बाक़ी सब व्यर्थ हैं‡‡। उनके अनुसार अनन्त शक्तिवान् भी मर्यादा को भंग नहीं करता। ब्रह्मा के नाग-पाश में

---

‡ रामचन्द्रिका, प्रकाश ६, छंद १७ और १८। † वही, प्रकाश ६, छंद २७। $ वही, प्रकाश ७, छंद १४। * वही, प्रकाश ७, छंद ४४ से ४६ तक। § वही, प्रकाश ७, छंद ५०। × वही, प्रकाश १५, छंद २४। + वही, प्रकाश १५, छंद ३४-३५। * वही, प्रकाश १५, छंद ३७। ¶ वही, प्रकाश १६, छंद ३१। ‡⊕ वही, प्रकाश १६, छंद १०। ‡‡ वही, प्रकाश १६, छंद २५।

बँधे हुए राम की इसी दृष्टि से केशव ने कल्पना की है ‡। उन्होंने अति निर्गुणता के भीतर भी सगुणता का दर्शन किया है†। अवतारी राम को उन्होंने आदर्शों के प्रति निरन्तर जागरूक दिखलाया है $।

लक्ष्मण को शक्ति लगने के बाद राम के क्रोध के द्वारा, केशव ने अनन्त की अनन्त शक्ति का विकास उनके भीतर चित्रित किया है। राम की अनन्त शक्ति की उपासना की उनकी भावना इस स्थिति में व्यंजित हो जाती है *। उन्होंने भी वानरों को देवताओं की सगुण परिणति के रूप में तथा रघुनाथ राम को जगन्नाथ के रूप में देखा है§। केवल भाग्यवाद को केशवदास हेय मानते हैं×। उन्होंने राम को योगीश शिव के स्वामी की तरह तथा सीता को योगमाया की तरह देखा है+।

केशवदास के राम भी अन्तर्यामी, निर्गुण, सगुण, ज्योतिःस्वरूप, अनिर्वचनीय, असीम, अनादि, अनन्त और अरूप हैं। गुण और गुण वाले सब वही हैं। एक होते हुए भी वे अनेक रूप धारण कर सकते हैं। रजोगुण भी उन्हीं का रूप है, जिससे जगत् की सृष्टि ब्रह्मा किया करता है। उसी राम का सत्त्वरूप जगत् की रक्षा करता रहता है। उसी को जगत् विष्णु कहता है। उसी का तमोगुण रूप शिव बन कर जगत् का संहार करता है। वही संसार है और संसार उसी में है। जब वह संसार को मर्यादाविहीन देखता है तब सगुण हो कर उसे मर्यादित कर जाता है। कच्छप, मीन, बाराह, नृसिंह वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि, सब उसी के रूप हैं। उनके 'श्री रघुवर' 'गननायक' हैं ✤।

त्रिवेणी को केशवदास भी ब्रह्म का द्रवरूप शरीर मानते हैं¶। अतः उनके अनुसार भी उसके स्पर्श से अनन्त जन्मों के कलुषों का नाश हो जाता है। सत्य के रूप में ब्रह्म की उपासना भी उनका अभीष्ट है ‡⊕। लक्ष्मण को वे भी शेषावतार मानते हैं ‡‡। केशवदास के राम भी आदिदेव और सर्वज्ञाता हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य और चन्द्र इत्यादि सब उन्हीं के अंशावतार हैं। ब्रह्म से ले कर परमाणु तक अज, अनन्त रघुवर को ही वे व्याप्त देखते हैं ‡† वैदिक विधियुक्त आनुष्ठानिक क्रियाओं की ओर उनका झुकाव था ‡$।

केशवदास नर-रूप शीलवान् ब्राह्मण को नारायण का रूप मानते थे ‡*। वाणी, मन और शरीर की पवित्रता पर उनका ध्यान था ‡§। सत्य की उपासना भी उनकी जागरूक दृष्टि से ओझल नहीं होती ‡×।

‡ रामचन्द्रिका, प्रकाश १७, छंद १३। † वही, प्रकाश १७, छंद ४३। $ वही, प्रकाश १७, छंद ४६। * वही, प्रकाश १७, छंद ४९। § वही, प्रकाश १८, छंद ११। × वही, प्रकाश १८, छंद १०। + वही, प्रकाश २०, छंद १२। ✤ वही, प्रकाश २०, छंद १५ से २४ तक। ¶ वही, प्रकाश २०, छंद ३३। ‡⊕ वही, प्रकाश २०, छंद ४९। ‡‡ वही, प्रकाश २० छंद ५२। ‡† वही, प्रकाश २०, छंद ५४–५५। ‡$ वही, प्रकाश २१, छंद ३। ‡* वही, प्रकाश २१ छंद ५। ‡§ वही, प्रकाश ६, छंद ५२। ‡× वही, प्रकाश ६, छंद ५१।

श्रद्धापूर्वक अपने हाथ से दिये हुए दान को केशव सात्विक मानते हैं, आलस्य के कारण दूसरे के हाथ से भेजे हुए दान को वे राजस मानते हैं तथा हीन विधान से दिये हुए दान को तामस। विनयपूर्ण शील का जीवन-दर्शन, इस तरह, केशवदास की दृष्टि में बराबर बना रहता था। केशव के अनुसार दान, पहले अपने आश्रितों को, उसके बाद नगर के लोगों को, नगर के लोगों के बाद देश के लोगों को और शक्ति के अनुसार अवशेष विदेशियों को देना चाहिए ‡। यहाँ भी जीवनदर्शन के भीतर मनुष्य के हृदय के स्वाभाविक और उत्तरोत्तर विकास पर केशव का ध्यान केन्द्रित है।

ब्राह्मण के घर में जा कर विधियुक्त और श्रद्धापूर्वक दिये गये दान को केशव जी उत्तम दान मानते हैं। केशव के अनुसार, ब्राह्मण को घर पर बुला कर दिया हुआ दान मध्यम है तथा माँगने पर, अपनी कृपा करने की अहंमन्यता को ध्यान में रख कर दिया हुआ दान 'अति हीन' है †। यहाँ भी उत्तम दान में शील की उच्चतम विनम्रता की ओर केशव का ध्यान बराबर बना हुआ है।

सद्भावना और कर्तव्यबुद्धि के आदेश से दिये हुए दान को केशवदास दक्षिणदान मानते हैं, तथा दुर्भावना और स्वार्थबुद्धि से दिये हुए दान को वे वाम दान कहते हैं। दुष्ट दानी को वे आँखों से देखना भी नहीं चाहते। उनका यह सिद्धान्त है कि सात्विक दान.से मनुष्य के हृदय में विश्वमंगल विधान की पवित्र भावना का विकास हो जाता है और परमात्मा भी उसके वश में हो जाता है। ऐसा व्यक्ति तो तत्वतः नारायण ही हो जाता है। अनन्त प्रकार के दानों के भीतर उन्होंने भूदान यज्ञ को श्रेष्ठ माना है $।

केशवदास के अनुसार जीव जब लोभ, मद, मोह और काम के वश में हो जाता है, तब वह अपने सहज रूप को भूल जाता है. वह दुर्बल हो कर इन्हीं भीतरी शत्रुओं से शासित होता रहता है*। उनके अनुसार मुक्ति रूपिणी नगरी के द्वार के चार कुशल रक्षक हैं, वे हैं—(१) साधुओं की संगति (२) समता की भावना (३) संतोष और (४) विवेक §।

केशव इस जगत् को अज्ञान के अंधकार से घिरे हुए चक्रव्यूह की तरह मानते हैं। इसमें प्रवेश करके निष्कलंक बाहर निकल जाने वाले को वे साधु मानते हैं। विषयों के भीतर बैठे हुए भी जो उनसे अनासक्त रहते हैं, उन्हीं की द्वन्द्वविहीन समता केशवदास को सुन्दर प्रतीत होती है। वासनाओं से अनासक्त रह कर जो सुख और दुःख से प्रभावित नहीं होता, वही परमोच्च आनन्द में मग्न होता है और इसी स्थिति को केशवदास संतोष कहते हैं। पूर्णता और अपूर्णता के बोध, आत्मा के हित और अहित के ज्ञान तथा पूर्णता की ओर बढ़ने वाली जागरूक अन्तर्दृष्टि को वे विचार या विवेक कहते हैं ×।

सत्संग, समत्व, सन्तोष और विवेक में से एक की भी सिद्धि हो जाने से नारायणत्व की प्राप्ति को केशवदास सम्भव मानते हैं। ब्रह्म की अनन्त शक्ति के भीतर निरीहता और

‡ रामचन्द्रिका प्रकाश २१, छन्द ३ से ७ तक। † वही, प्रकाश ३, छंद ९। $ वही, प्रकाश, २१, छंद ११ से १३ तक। * वही, प्रकाश २५, छंद ३। § वही, प्रकाश २५ छंद ९। × रामचन्द्रिका, प्रकाश २५, छंद १० से १३ तक।

निरंजनता के साथ वे इच्छा की स्थिति स्वीकार करके ब्रह्म में माया की स्थिति स्वीकार कर लेते हैं। इसी स्वीकृति के कारण वे विशिष्टाद्वैत के चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म को मान लेते हैं। अवतार तभी सम्भव और सत्य हो सकता है‡। कर्म और हृदय की शुद्धि के भीतर जिसका मन स्वार्थों से अनासक्त हो जाता है, वही केशव के अनुसार जीवन्मुक्त होता है। अहंभाव से मुक्ति को ही वे सच्ची मुक्ति मानते हैं। विवेक के द्वारा गुण-दोषों से अनासक्त हो जाने वाले व्यक्ति को वे जीवन्मुक्त कहते हैं†। जिसका मन राम के चरणों में लीन हो जाता है वही वासनाओं से अनासक्त होता है। मृत्यु उसे छू नहीं सकती। अनन्त आनन्द उसी के भीतर उदित होता है। अत: केशवदास के अनुसार भक्ति ही मुक्तिदायिनी है। अनंत आनन्द का उदय उसी के भीतर होता है। हठयोग की प्राणायाम इत्यादि विधियों को वे भक्ति के साधन की तरह स्वीकार करते हैं$।

निर्गुण उपासना को केशवदास एक ऐसी अद्भुत अग्नि की तरह स्वीकार करते हैं, जिससे शुभाशुभ वासनाएँ भस्म हो जाती हैं*। राग और द्वेष से मुक्त आत्मा को धर्म और अधर्म नहीं छू सकते। ऐसी आत्माओं के भीतर केशव हर्ष और शोक का अभाव मानते हैं§।

सब दृश्यों को झूठा समझने वाला ही केशवदास के अनुसार महात्यागी है। सब भोगों को स्वीकार करके भी जो उनसे अनासक्त रह सकता है उसी को केशव महाभोगी कहते हैं। भोग जिन पर राज्य करने लगें, वह भोगों का दास होता है। जो भोगों को अपने नियन्त्रण में रख कर, उनसे अनासक्त रह कर, अपने पास रखता है, वही भोगों का शासक, उनका राजा तथा महाभोगी होता है। भोग और योग को इस तरह अपने साथ रखने वाला ही केशवदास के अनुसार राम को प्राप्त कर सकता है। अत: केशवदास के अनुसार विवेक, सत्य, करुणा, निग्रह, आदर्श जीवन की कथाओं का अपने भीतर संग्रह, साधुओं का संग्रह, हृदय में योग, शरीर के स्वाभाविक धर्मों का योग जिनके साथ है वे गृहस्थ जीवन और ऋषि जीवन को सदा अपने साथ रखते हैं। राम के नाम को केशवदास सब गुणों का उद्गम स्थान मानते हैं×। वे जीव और ब्रह्म की एकता का अद्वैतवादी सिद्धान्त भी मानते हैं+। सीता के जीवन की अनंत पवित्रता को, अनंत शक्ति बन कर उनके भीतर बैठी हुई, केशवदास ने देखा है*। इस तरह उनकी 'रामचन्द्रिका' भी, जीवनदर्शन को पराकोटि पर ले जा कर, अध्यात्म दर्शन की आत्मनिष्ठता की अनासक्ति तक पहुँचा देती है।

'रामचन्द्रिका' के पहले प्रकाश में मंगलाचरण और राम के जीवन का आरम्भ है। दूसरे प्रकाश में विश्वामित्र आ कर राम को यज्ञरक्षा के लिए ले गये हैं। तीसरे प्रकाश में

---

‡ वही, प्रकाश २५, छंद १४-१५। † वही, प्रकाश २५, छंद १७ से १९ तक। $ वही, प्रकाश २५, छंद २१ से २३ तक। * वही, प्रकाश २५, छंद २९ से ३३ तक। § वही, प्रकाश २५, छंद ३५। × वही, प्रकाश २५ छंद ३६ से ४० तक। + वही, प्रकाश ३७, छंद ११। * वही, प्रकाश ३९, छंद १०।

यज्ञरक्षा हुई है और सीता-स्वयंवर का समाचार मिला है। चौथे प्रकाश में रावण, बाणासुर तथा सब राजाओं की धनुर्भंग में असमर्थता की चर्चा है। पाँचवें प्रकाश में अहल्या का उद्धार तथा धनुर्भंग है। छठवें प्रकाश में रामविवाह है। सातवें प्रकाश में परशुराम के मानभंग का प्रकरण है। आठवें प्रकाश में अयोध्या आगमन तथा नवें प्रकाश में सीता और लक्ष्मण के साथ वनगमन है। दसवें प्रकाश में दशरथ की मृत्यु, भरत का चित्रकूट से राम की पादुका के साथ वापस आना तथा नंदिग्राम में उनका निवास वर्णित है। ग्यारहवें में शूर्पणखा दंडित हुई है। बारहवें प्रकाश में खर इत्यादि का वध तथा सीताहरण हुआ है। तेरहवें प्रकाश में बालिवध, हनुमान् का लंका जाना और अक्षवध के बाद ब्रह्मपाश में इंद्रजीत के द्वारा उनका बाँधा जाना वर्णित है। चौदहवें प्रकाश में लंका-दहन से ले कर समुद्र तट तक राम के आने की घटनाएँ हैं। पन्द्रहवें प्रकाश में विभीषण राम के पास आते हैं और सेतु-निर्माण होता है। सोलहवें प्रकाश में अंगद-रावण संवाद तथा रावण के मुकुटों को ले कर अंगद के उड़ जाने की चर्चा है। सत्रहवें में संजीवनी के प्रयोग से लक्ष्मण की रक्षा तक की घटनाएँ वर्णित हैं। अट्ठारहवें प्रकाश में कुंभकर्ण और मेघनाद का वध हुआ है। उन्नीसवें प्रकाश में रावण-वध तथा बीसवें प्रकाश में प्रयाग में भरद्वाज के आश्रम तक राम आये हैं। इक्कीसवें प्रकाश में भरद्वाज ऋषि ने राम से दान-विधि की चर्चा की है तथा नंदिग्राम में आ कर राम भरत से मिलते हैं। बाईसवें प्रकाश में अयोध्या में आ कर राम अपने हृदय के अपार स्नेह के साथ नागरिकों और माताओं से मिलते हैं।

इस तरह आदर्शप्रियता का वातावरण 'रामचन्द्रिका' में आद्योपान्त बना रहता है। तेईसवें प्रकाश में राम स्वयं राज्यश्री की निन्दा करते हैं। चौबीसवें प्रकाश में मर्यादा पुरुषोत्तम की पावन विरक्ति का वर्णन है। पच्चीसवें प्रकाश में वसिष्ठ ने राम को जीव के उद्धार के उपाय बताये हैं। छब्बीसवें प्रकाश में राम-नाम का तत्त्व समझाया गया है। गोस्वामी जी के 'चहुंजुग चहुँ स्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेखि नहिं आन उपाऊ' ‡। 'नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम-नाम अवलंबन एकू' † और 'कलियुग केवल हरि-गुन गाहा। गावत नर पावहिं भवथाहा।। कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार रामगुन गाना।। सब भरोस तजि जो भज रामहिं। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहिं। सोइ भव तर कछु संसय नाहिं। नामप्रताप प्रगट कलि माहिं § ।।' का पूरा चित्र केशव के 'जब सब वेद पुराण नसैहैं। जप तप तीरथ हू मिटि जैहैं। द्विज सुरभी नहिं कोउ विचारे। तब जग केवल नाम उधारे' * में मिलता है। सत्ताईसवें प्रकाश में राज्याभिषेक के बाद ब्रह्मा इत्यादि के द्वारा की गयी राम की स्तुतियाँ हैं। इन सब स्तुतियों में मर्यादा पुरुषोत्तम के महामानवत्व और परमोच्च देवत्व पर एक साथ ही प्रकाश पड़ता है। अट्ठाईसवें प्रकाश में रामराज्य का वर्णन है। यहाँ भी वही मर्यादा पुरुषोत्तमत्व अपने परमोच्च शिखर पर पहुँचा हुआ दिखाई पड़ता है। उन्तीसवें प्रकाश में राम के चौगान का खेल तथा शृंगारशाला, मंत्रशाला और

---

‡ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २२ के पहले। † वही, दोहा २७ के पहले। § वही, उत्तरकांड, दोहा १०३ से पहले। * रामचन्द्रिका, प्रकाश २६, छंद ८।

जलशाला में राम का वर्णन है। रंगमहल की ओर सीता के साथ जाते हुए राम की सगुणता और निर्गुणता का बड़ा सुन्दर और संक्षिप्त परिचय 'जाके रूप न रेख, गुण जानत वेद न गाथ। रंगमहल रघुनाथ गे राजश्री के साथ' द्वारा दिया है ‡। तीसवें प्रकाश में रंगमहल, संगीत और शयन इत्यादि का वर्णन है। एकतीसवें प्रकाश में सीता और उनकी दासियों का वर्णन है। बत्तीसवें प्रकाश में उपवन वर्णन तथा राम की जलक्रीडा का वर्णन है। तैंतीसवें प्रकाश में ब्रह्मा के द्वारा राम की प्रार्थना, शम्बूक-वध, सीता-परित्याग और लवकुश-जन्म का वर्णन है। इस प्रकाश में राम के मर्यादा पुरुषोत्तमत्व के गौरव पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। चौतीसवें प्रकाश में लवणासुर के वध इत्यादि से सम्बद्ध घटनाएँ हैं। पैंतीसवें प्रकाश में अश्वमेध यज्ञ तथा लव-शत्रुघ्न युद्ध का वर्णन है। छत्तीसवाँ प्रकाश पैंतीसवें की घटनाओं का विकास मात्र प्रस्तुत करता है। लक्ष्मण और शत्रुघ्न इत्यादि के पराजय के बाद भरत और अंगद इत्यादि वाल्मीकि के आश्रम में बालकों से युद्ध करने जाते हैं। सैंतीसवें प्रकाश में भरत पराजय का वर्णन है। अड़तीसवें प्रकाश में अंगद-लव के युद्ध का वर्णन तथा राम का आश्रम में आना तथा लव-कुश के द्वारा, उस दिन के युद्ध में भी, सफलता-प्राप्ति का वर्णन है। उन्तालिसवें प्रकाश में सीता-राम मिलन, यज्ञ-पूर्ति और पुत्रों में राज्य के विभाजन का वर्णन है। 'रामचन्द्रिका' यहीं पूरी हो जाती है मर्यादा पुरुषोत्तम के जीवन के पूर्ण चित्र को प्रस्तुत करके।

इस प्रकाश के अन्त में राम ने अपने पुत्रों और भतीजों को मर्यादा का उपदेश देते हुए कहा है—

राजश्री वश कैसहूँ होहु न उर अवदात,
जैसे तैसे आपु वश ताकहँ कीजै तात †।

इस तरह मर्यादा पुरुषोत्तम अपने जीवन की पावन अनासक्ति को अपने पुत्रों को दे कर उन्हें लोकमंगल विधान के निस्स्वार्थमय कार्य में लगा देते हैं।

इस ग्रंथ को सम्पूर्ण करते हुए केशवदास ने कहा है—

'अशेष पुन्य पाप के कलाप आपने बहाय। विदेह राज ज्यों सदेह भक्त राम को कहाय। लहै सुभुक्ति लोक लोक अन्त मुक्ति होहि ताहि। कहै सुनै पढै गुनै जु रामचंद्र चन्द्रिकाहि §।'

इस तरह लोकमंगल-विधान करने वाले, पूर्णपुरुष, मर्यादा पुरुषोत्तम के शील की उपासना के आधार पर केशव ने रामचन्द्रिका के रूप में एक पावन भक्तिग्रंथ को पृथ्वी पर अवतरित कर लिया है। अपने इस ग्रंथ की सहायता से, प्रत्येक मनुष्य के भीतर, पुरुषोत्तम के शील का विकास, केशवदास ने देखना चाहा है।

आचार्य केशव के बाद खानखाना रहीम का क्रम, साधना की दृष्टि से रखा जा सकता है। अब्दुर्रहीम खानखाना का जन्म लगभग सम्वत् १६१३ में तथा मृत्यु ७० वर्ष

---

‡ रामचन्द्रिका, प्रकाश २९, छंद ४५। † चन्द्रिका प्रकाश ३९, छंद ३६। § वही, प्रकाश ३९, छंद ३९।

की आयु में सम्वत् १६८३ में हुई थी। मुसलमान होते हुए भी तुलसी के समसामयिक उदार हृदय रहीम रामभक्ति की ओर झुके हुए थे।

मुगलों के शासनकाल में धार्मिक समन्वय के लिए युग आ चुका था। भाषा, भाव तथा विचार और शैलियों का समन्वय हो चला था। उसी समन्वयात्मक काल की एक विभूति रहीम भी थे। इनमें उपर्युक्त सब गुण मिलते हैं। रहीम की कृष्ण-भक्ति तो प्रसिद्ध ही है। वे राम, भक्त भी थे। उनका मनचकोर एक ओर 'निसि-बासर', 'कृष्णचन्द्र की ओर लगा रहता था‡ तो दूसरी ओर वे 'खल-दानव-वन-जान प्रिय रघुवीर' का भी ध्यान करते थे।

बरवै नायिका भेद में मंगलाचरण करते हुए रहीम जी ने लिखा है—"बंदौं देवि सरदवा, पद कर जोरि। बरनत काव्य बरैवा, लगै न खोरि"†। अपने 'बरवै' के मंगलाचरणों में तो रहीम जी ऋद्धि-सिद्धि के पति गणेश की वन्दना करते हैं, मन दृढ़ करके 'वृषभानु कुँवरि' के 'प्रान-अधार' नन्दकुमार का स्मरण करते हैं, 'चराचर नायक' सूर्य का भजन करते हैं, 'सोच, बिमोचन गिरिजा ईस त्रिलोचन' का ध्यान करते हैं और 'विपद-बिदारन सुवन समीर' हनुमान का स्मरण करते हैं*। गोस्वामी जी के साथ उनकी जनश्रुत मैत्री ही रहीम की रामभक्ति का कारण हो सकती है।

नीति और शील की पवित्रता के उपासक रहीम पवित्र रसिकता के भी उपासक थे। आचार्य वल्लभ के मार्गनिर्देशन में जो निश्छल और पवित्र प्रेम-रस मधुर हो कर कृष्णभक्ति में पुनः अवतीर्ण हुआ और आध्यात्मिक प्रणय के सिद्ध तथा परम रसिक कलाकर सूर जिस प्रेम-साधना के रस-सिद्ध शिल्पी बने, उससे रहीम का भी कोमल रसिकता-सम्पन्न हृदय प्रभावित हुआ। वे भी लीलाप्रिय के महारस की लहरों में तरंगित होने लगे। राधा-कृष्ण का परमपावन निश्छल प्रेम उनके हृदय में अनुराग की लाली बन कर समा गया। हृदय की यही अवस्था रहीम की काव्यसाधना के भीतर कविता के मधुर माध्यम के द्वारा राधा-कृष्णमयी हो कर उनके ग्रंथों में अभिव्यंजित हो गयी है।

हृदय की इसी विश्वव्यापिनी प्रेमात्मिका अवस्था ने महात्मा रहीम को जाति, कुल, धर्म और देश की सीमा के ऊपर उठा लिया था। इसी हृदय ने उन्हें विश्वरूप राधा-कृष्ण के प्रेम को सौंप दिया था। इसी प्रेम की अवस्था ने उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम विश्वप्रेमी राम का भी सेवक बना दिया था।

'बरवै' के १०५ छंदों में लगभग ४८ बार किसी न किसी नाम से नन्दकिशोर का स्नेहात्मक और शृंगारात्मक ध्यान किया गया है। मदनाष्टक' के आठ छंद मदनमोहन कृष्ण के शृंगार के लिए तो रहीम ने लिखे हैं पर अन्य फुटकल छंदों और पदों में भी उन्होंने कृष्ण का शृंगारात्मक ध्यान किया है§। उनकी 'रास पंचाध्यायी' भी कृष्णभक्ति से संबद्ध ग्रंथ है।

---

‡ रहिमन विलास, दोहावली, दोहा १। † वही, बरवै, छंद ५। § वही, बरवै नायिका भेद, छंद २। * वही, बरवै, छंद १ से ५ तक। § वही, पृष्ठ ६८ से ७२ तक।

नीति के दोहे लिखने वाले रहीम शील के अन्तर्द्रष्टा हैं। उनकी १४२ दोहों वाली 'नगर शोभा' शीर्षक वर्णनात्मिका रचना में ब्राह्मण के पवित्र शील के प्रति उनका पूज्यभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है "उत्तम जाति है ब्राह्मनी, देखत चित्त लुभाय। परम पाप पल में हरत, परसत वाके पाय ‡" में सच्चाई के प्रति रहीम के उदार हृदय का स्वाभाविक अनुराग स्पष्टतः दिखाई पड़ता है।

उदार हृदय के भीतर समग्र सच्चाइयाँ आ कर बस जाती हैं। रहीम जी का जीवन इसी तरह का था। आदर्शमय जीवन ही राममय जीवन है। रहीम का जीवन करुणामय आदर्श जीवन था और अपने नीति के दोहों में रहीम जी ने राममय आदर्शों की ही उपासना की है। आदर्शों की उपासना में राममय जीवन-दर्शन के प्रति रहीम की जागरूकता की गवाही उनकी रचनाओं से स्पष्टतः मिल जाती है।

रघुनाथ राम को भी वे इसीलिए चाहते हैं कि सत्य के लिए राम ने अपने जीवन के चौदह वर्ष वनों के यातनापूर्ण वातावरण में बिताये। पर रहीम की दृष्टि में भरत का शील अधिक महत्त्वपूर्ण है। पिता की आज्ञा मान कर राम ने तो राज्य को त्याग दिया; पर उसी आज्ञा का अनुसरण करके भरत ने राज्य करने के कार्य को अपने लिए अनुचित समझा और राम के एक कर्मचारी सेवक की तरह ही उनके राज्य की रक्षा की। इसीलिए रहीम कहते हैं कि गुरुओं की कितनी भी बड़ी आज्ञा का अनुसरण नहीं करना चाहिए, यदि वह अनुचित हो।

शील को कलाकार रहीम एक ओर तो भरत को राम से अधिक यशस्वी मानते हैं; पर दूसरी ओर राम के कार्य को अनुचित नहीं कहते। राम का राज्य छोड़ देना अनुचित नहीं था; पर यदि भरत राज्य करते तो उनकी यह प्रवृत्ति अनुचित होती। जीवन-सौन्दर्य के मर्म को समझने वाले भरत ने राज्य नहीं किया। इसी कारण उनके जीवन का सौन्दर्य राम के जीवन-सौन्दर्य से अधिक आकर्षक हो गया †।

त्याग पवित्र है। पिता के सत्य के लिए राम ने राज्य त्याग कर पवित्र जीवन के आदर्श की स्थापना की। आसक्त भोग अपवित्र है। आसक्ति से कैकेयी ने यह राज्य-भोग भरत के लिए माँगा था, इसीलिए इस अधर्म की ओर न जा कर भरत ने भी त्याग के आदर्श की अनुपम झाँकी प्रस्तुत की। इसीलिए वे रहीम को राम से भी अधिक आकर्षक प्रतीत हुए।

रहीम इस बात को पूरी तरह से हृदय और मस्तिष्क से ग्रहण कर चुके हैं कि राम सत्य से ही मिलता है; क्योंकि उसने अपने को एकमात्र सत्यानुरोधी बना लिया था। सदा सत्य जीवन से जगत् की बातें सिद्ध नहीं होतीं और झूठ से राम नहीं मिलता। राम और जग दोनों की सिद्धि एक साथ करना, रहीम के अनुसार बड़ा कठिन काम है ‡। लेकिन रहीम का यह विश्वास है कि भवसागर की नाव अपने गन्तव्य को प्राप्त कर

---

‡ रहिमन विलास, दोहावली, नगरशोभा, दोहा ३। † वही, दोहावली, छंद ६। $ वही, छंद ७।

लेती है यदि मनुष्य राम की शरण में चला जाए। राम ने सत्य की साधना के द्वारा अपनी भवसागर की नाव को लक्ष्य तक पहुँचा दिया था। आदर्श पुरुष का लक्ष्य यश का ब्रह्मानन्द होता है, सांसारिक सुख का विषयानन्द नहीं। अतः वह यशःसिद्धि ही करता है तथा सांसारिक सुखों से अनासक्त रह जाता है। उनकी चिन्ता सच्चे कर्मयोगी को नहीं होती। सच्चा कर्मयोगी केवल कर्तव्य की पूर्ति को ही अपना जीवन और यश समझता है।

स्वार्थों के प्रति आसक्ति ही जीवन में संघर्ष उत्पन्न करती है। वही भव को दुस्तर सागर बना देती है। राम स्वार्थों से अनासक्त हैं। उनकी शरणागति का स्वरूप स्वार्थों से अनासक्ति ही है। शरणागत शरण देने वाले के शील को अपना शील बना लेता है। शरण देने वाला इतना महान् होता है कि शरणागत उसके आकर्षण से प्रभावित हुए बिना रह ही नहीं सकता। इसी प्रक्रिया के अनुसार रहीम स्वीकार करते हैं कि स्वार्थों से अनासक्त राम की शरण में जा कर मनुष्य स्वार्थों से अनासक्त हो जाता है। अनासक्ति की इस नौका पर चढ़ कर मनुष्य आसक्ति-स्वरूप भव को पार कर जाता है। इस भव को पार करने के लिए और कोई दूसरा उपाय नहीं है‡।

रघुवीर राम के आदर्शों ने खानखाना को बहुत प्रभावित किया था। रघुवीर राम दुखियों का सहायक था। रघुवीर राम ने अपने नारायण रूप से दुखी गजेन्द्र की रक्षा ग्राह से की थी। अपने पूरे जीवनकाल में रघुवीर राम ने गाढ़े दिनों में पड़े हुए लोगों की सहायता की थी। बढ़े हुए दिनों के लिए तो तमाम मित्र मिलते हैं; पर गाढ़े दिनों के मित्र रघुवीर राम ही हो सकते हैं। रघुवीर राम की भक्ति से रहीम को गाढ़े दिनों में कभी सहारा मिला होगा; इसीलिए उन्होंने इस तरह की चर्चा की है†।

साधारण मनुष्य और पुरुषोत्तम राम में अन्तर बतलाते हुए रहीम ने कहा है — "साधारण आदमी दुखी के दुख को सुन कर हँसी करता है. दुखी का मन और अधीर हो जाता है, पर पुरुषोत्तम रघुवीर तो कही हुई पीड़ा को सुनता है और सुन-सुन कर उन पीड़ाओं को दूर करता है।" राम का शील रहीम के लिए जीवन का सहारा था। राम को अपना आश्रय बना कर रहीम भी आदर्श की दृष्टि से राम बन गये थे§।

पवित्र राम के चरणों की पवित्र धूल से अहल्या तर गयी थी। यह बात रहीम के हृदय में बड़े मधुर आलोक में बैठी हुई थी। हृदय के इस माधुर्य को व्यक्त करने के लिए रहीम ने लिखा है—"गजराज बार-बार पृथ्वी की धूल को उठा-उठा कर अपने सिर पर इसलिए रखता है कि शायद कभी वह धूल मिल जाए, जिससे गौतम की पत्नी अहल्या तर गयी*।" राम के पवित्र शील के आलोक में रहीम का शील भी पवित्र हो गया था। कहा जाता है कि एक बार एक स्त्री ने रहीम से उन्हीं के समान पुत्र माँगा। स्त्री की इस प्रवृत्ति का कारण वासना थी। रहीम ने अपना मस्तक उसके आँचल में रख कर कहा,

---

‡ रहिमन विलास, दोहावली, छंद ५०। † वही, छंद ७३। § वही, छंद १०२।
* वही, छंद ११२।

आज से मैं ही आपका पुत्र हूँ। रघुनाथ के आदर्शों से प्रभावित साधक के लिए यह कोई बड़ी बात नहीं थी। राम के इसी पवित्र शील की आत्मानुभूति को व्यक्त करते हुए रहीम ने कहा है—"मुनि की पत्नी पत्थर थी, बन्दर लोग पशु थे, गुह चांडाल जातियों में से था। राम ने अपने पवित्र हृदय की पवित्रता दे कर तीनों को तार दिया। पत्थर की कठोरता और जड़ता, बन्दरों का पशुत्व और चाण्डाल जातियों का दुष्ट स्वभाव मुझमें भी है। राम मुझे भी तार देगा ‡।" रहीम का वह विश्वास अचल हो चुका था। राम की पावन शक्ति को वे अपने जीवन में अनुभव कर चुके थे। उन्होंने कहा है—"काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद और मत्सर से भरा हुआ आदमी यदि धोखे से भी राम का नाम ले ले तो उसे पूर्ण और परम गति अवश्य प्राप्त हो जाएगी †।" राम की अतुल पावन शक्ति की जो अनुभूति रहीम को हो गयी थी, उसकी व्यंजना उनके इन शब्दों से हो जाती है। राम से मन लगा कर उसे उन्होंने वश में कर लिया था। तभी तो उन्होंने कहा है—"मन लगाने पर नारायण भी वश में हो जाता है $।"

रहीम के अनुसार उपासना उसी की सार्थक है जो राम के नाम के साथ संबद्ध आदर्शों की सार्थकता को समझ कर उन आदर्शों को अपने जीवन में उतार कर उपासना करता है। आखिर उपासना का अर्थ भी तो समीप पहुँचना है। जो राम के आदर्शों के समीप न पहुँच सकेगा, उसकी रामोपासना निरर्थक है। उससे किसी भी प्रकार के अर्थ की सिद्धि नहीं होती। जो राम के नाम को ठीक तरह से नहीं समझता और केवल उपाधियों में व्यस्त रहता है, वह अपने जीवन को व्यर्थ नष्ट करके शील के पतन के कारण अपने को यम को सौंप देता है। उसे मृत्यु घसीट कर ले जाती है; राम की अमरता, उनका अमर यश उसका वरण नहीं करता *।

राम के आदर्शों की पवित्र शक्ति को, उनके ईश्वरत्व को रहीम पहचान चुके थे। रहीम ने यह समझ लिया था कि राम के आदर्शों की ओर जाने से ही नर की क्षुद्रता मिटती है, वह नारायण का रूप प्राप्त कर सकता है। इसीलिए उन्होंने अपने जीवन के पर्याप्त अंश को नर के लिए खर्च कर दिया। यह सब इसीलिए कि वह नारायण बन जाए। रहीम स्वयं नारायण बने, सब धर्मों के सत्यांश से अपने शील का शृंगार करके, उन्होंने दूसरों को भी नारायण बनाने का प्रयास किया। एकपत्नीव्रत राम से उन्होंने वासना पर विजय प्राप्त करने का स्वभाव प्राप्त किया तथा दानी राम के स्वभाव को आत्मसात् करके वे दानी बन गये। राम के लिए उन्होंने कहा है—"माँगने पर सब लोग नाहीं कर देते हैं। विपत्ति में साथी का साथ भी सब लोग छोड़ देते हैं; लेकिन रघुनाथ तो माँगने से पहले ही दे देता है और एक बार जिसे स्वीकार कर लेता है, उसका साथ कभी नहीं छोड़ता §।" जो आदमी रघुनाथ के इस शील को प्राप्त कर लेता है वह रघुनाथ हो जाता है। इसी पूर्णपुरुष रघुनाथ की प्राप्ति की ओर अपने मन को मोड़ते हुए रहीम ने उससे कहा है—

‡ रहिमन विलास, दोहावली, छंद १५९। † वही, छंद २०७। $ वही, छंद २२२।
* वही, छंद २४५-२४६। § वही, छंद १५०।

भज मन राम सियापति, रघु-कुल-ईस।
दीन बन्धु दुख टारन, कौसलधीस‡ ।

रहीम के बाद रामभक्त कवियों के अनुक्रम में सेनापति रखे जा सकते हैं। सेनापति का जन्म संवत् १६४६ के आसपास माना जाता है†।

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि, 'कवित्त रत्नाकर' के कवित्तकार सेनापति भी रामभक्त कवि हैं। 'सेनापति सोई, सीतापति के प्रसाद जाकी, सब कवि कान दे सुनत कविताई हैं$' से इनकी रामभक्ति स्पष्टतः व्यक्त हो रही है। 'चिंता अनुचित तजि, धीरज उचित सेनापति ह्वै सुचित राजाराम जस गाइये'* को पढ़ कर तो सेनापति के रामभक्त होने में कोई सन्देह ही नहीं रह जाता। राम के साथ ही विष्णु के ही अवतार कृष्ण की भी भक्ति सेनापति ने की थी। 'हरिजन पुंजनि में वृंदावन कुंजनि में'§ निवास करने की उनकी इच्छा से यही प्रतीत होता है कि अपने उदार हृदय से सेनापति ने राम और कृष्ण दोनों की अभेदोपासना की थी।

'संवत सत्रह से छ मैं सेइ सियापति पाइ। सेनापति कविता सजी, सज्जन सजौ सहाइ'× से इनकी सीताराम की भक्ति पुनः व्यंजित होती है। 'कवित्त रत्नाकर' की चौथी और पाँचवीं तरंगें क्रम से रामायण वर्णन और रामरसायन वर्णन प्रस्तुत करती हैं। इनके द्वारा तो सेनापति ने अपनी रामभक्ति की उन्मुक्त अभिव्यक्ति की ही है; इनके अतिरिक्त पहली तरंग 'श्लेष वर्णन' के छ्यानवे कवित्तों में से लगभग सोलह-सत्रह कवित्तों में सेनापति की रामभक्ति अभिव्यक्त हुई है। 'शृंगार वर्णन' और 'ऋतु वर्णन' की दो तरंगों से राम के मर्यादित जीवन को स्पर्श करने में सेनापति ने भी अनौचित्य का अनुभव कर कवित्त-रत्नाकर की उपर्युक्त दो तरंगों से मर्यादापुरुषोत्तम के जीवन को अस्पृष्ट ही रखा है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सेनापति के हृदय में राम के लिए सच्ची भक्ति थी और सेनापति ने सच्चे हृदय से आत्मनिवेदन करके अपना सब कुछ राम को, और उन सबका कारण भी राम को ही माना था। यदि ऐसी बात न होती तो सेनापति की रामभक्ति से संबद्ध कविता में मौलिकता न उत्पन्न हो सकती। सेनापति के युग में रामभक्ति के आकाश में तुलसी का चन्द्रोदय हो चुका था और उस पूर्णचन्द्र के सम्मुख सेनापति एक साधारण तारक के समान ही प्रतीत होते हैं; पर पूर्णचन्द्र की उपस्थिति में आकाश अपने वक्ष पर चन्द्रमा के साथ केवल उन्हीं तारकों को धारण करता है जो कान्तिमान् होते हैं। इसी नियम के अनुसार भक्ति के आकाश में पूर्णचन्द्र तुलसी के रहते हुए भी सेनापति एक उज्ज्वल नक्षत्र की तरह दिखाई पड़ते हैं; ऐसे नक्षत्र की तरह जो पूर्णकान्तिमान् तारापति के सम्मुख भी अपने मौलिक व्यक्तित्व में स्वतन्त्र रहता है।

---

‡ रहिमन विलास, दोहावली, बरवै छंद ९१। † आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १८८। $ कवित्त रत्नाकर, पहली तरंग, कवित्त ५। * कवित्त रत्नाकर, पाँचवीं तरंग, कवित्त ३२। § कवित्त रत्नाकर, परिशिष्ट, कवित्त ७। × कवित्त रत्नाकर, पाँचवीं तरंग, कवित्त ८६।

मर्यादा पुरुषोत्तम के भव्य तथा महामहिम व्यक्तित्व का हृदय की आँखों से दर्शन करके सेनापति का कवि पहले उनके चरणों की वन्दना नहीं करता। उसकी सर्जनात्मिका सर्वग्राहिणी प्रतिभा के नयन राम के चरणों के नीचे रहने वाली चरणपादुका का दर्शन करने के लिए बड़ी कोमलता से झुक जाते हैं। जो पादुका भरत के आदर्श-प्रेमी प्राणों की रक्षिका बन कर अयोध्या की रानी बनी थी और एक उदार सपत्नी की तरह राम की राज्यलक्ष्मी को प्रिय के भावी आगमन की सूचना देने अयोध्या आयी थी उसी चरणपादुका को 'रामायण वर्णन' के मंगलाचरण में सेनापति ने नम्र और विह्वल हृदय से नमस्कार किया है। यह चरणपादुका जब विश्वाधिपति नारायण के चरणों की है, तब उसका निर्माण कल्पतरु के सारभाग से न हो कर और किस लकड़ी से हो सकता है! और कोई लकड़ी उसके योग्य नहीं हो सकती। विश्व भर की कामनाओं की पूर्ति करने वाले विश्वपालक नारायण के चरणों में अनंत शक्ति है; अतः उसके लिए चरणपादुका सब कामनाओं की पूर्ति करने वाले कल्पतरु की लकड़ी से ही बनायी जानी चाहिए और उसके लिए शिल्पी का कार्य भी वही कर सकता है जो विश्व भर का निर्माण करने वाला है। अतः सेनापति ने राम के चरणों की पादुका का निर्माता स्वयं ब्रह्मा को बनाया है। अनंत जब अवतारी होता है तब अलौकिक रीति से उसके जीवन के समग्र उपादानों और उपकरणों का विधान हो जाता है; पर उस रहस्य को कोई जान नहीं पाता। भक्ति के सम्प्रदाय इस बात को निरन्तर दुहराते हैं। देवता स्वयं मानव रूप में आ कर अनंत की उस नर प्रतिकृति की सेवा करते हैं। अतः कल्पतरु की लकड़ी से विधाता ने यह पादुका स्वयं बनायी है। सोने के काम पर, सब कामनाओं को साकार करने वाली चिन्तामणि ही उस पादुका पर जड़ी जाने के योग्य है और सेनापति ने उस ओर संकेत भी किया है। नारायण के पैरों में गंगा का निवास है और यह पादुका भी उनके चरणों की सेवा करती है; अतः दोनों को सेनापति की कल्पना के नयन सखी की तरह देखते हैं। यह पादुका उन चरणों की है, जो विश्व के स्वामी हैं अतः यह पादुका भी विश्व की स्वामिनी है। इसी की सहायता से सेनापति को भक्त और कवि बन जाने में सफलता प्राप्त हुई है।

राम के चरणों की इसी पादुका ने देवताओं के उत्पीड़क राक्षसों को दंड दिया है, अनंत आदर्शों के केन्द्र के चरणों की इसी पादुका को मस्तक से लगा कर भरत ने अपने मस्तक को परमोच्च शोभा से आलोकित कर लिया है, हृदय से उस आदर्श की भावमयी उपासना करके। जो व्यक्ति अपने सीमित अभिमान का विसर्जन करके अनंत के पवित्र चरणों की पादुका पर अपना मस्तक रख देगा वह स्वयं अनंत आदर्शों का केन्द्र हो जाएगा, अनंत हो जाएगा। उसके भीतर के, स्वार्थ से संबद्ध सब कलुष नष्ट हो जाएँगे। अनंत के अनंत आदर्शों को चिन्तन के पथ से जो बुद्धि में उतार लेते हैं और अनुभूति के मार्ग से जिनके हृदय अनंत के आदर्शगत सौन्दर्य की माधुरी में लीन हो जाते हैं, उनके सीमित अहं का विसर्जन हो जाता है और उसी स्थान पर अनंत बैठ जाता है। ऐसे उपासकों के भीतर कलुष कहाँ से अवशिष्ट रह सकता है। परन्तु यह अभिमान-शून्यता तब प्राप्त हो सकेगी जब राम की चरणपादुका के नीचे मनुष्य का मस्तक झुक कर समा जाएगा।

सेनापति भी गोस्वामी जी के 'राम तें अधिक राम कर दासा' ‡ सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। इस चरणपादुका के सम्मुख वे इसलिए भी झुक गये हैं कि वह राम के चरणों की दासी है : "प्रभु पाइ की सुख दैनी है†"।

अनंत के अनंत आदर्शों को ही अपने हृदय और मस्तिष्क की आँखों के समक्ष रख कर सेनापति ने राम की उपासना की है। सहज प्रकृति से वे राम की तरफ़ झुके हुए हैं; इसीलिए रामभक्ति को उनकी वाणी का सहज सुन्दर परिधान प्राप्त हो गया है।

चरणों की दासी पादुका को अपने हृदय की भक्ति अर्पित करके सेनापति राम के चरणों के सौन्दर्य को देख कर मुग्ध हुए हैं। राम के चरणों के सौन्दर्य में मग्न हुए सिद्धों की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है—'जिस तरह कमल में भ्रमर लीन हो जाता है उसी तरह सिद्धों के हृदयों के भ्रमर राम के चरण कमलों में ध्यान की निश्चल मूकता के साथ लीन हो जाते हैं। निर्गुण ज्योति के ध्यान के स्थान पर सगुण के सुन्दर चरण-कमलों में लीन हो जाने वाली तन्मयता का दर्शन ही सिद्ध योगियों के हृदय भ्रमरों के भीतर सेनापति ने किया है। योग सम्प्रदाय की निर्गुण उपासना के भीतर, इसी प्रक्रिया से, सगुणोपासक भक्तों ने सगुण ब्रह्म के अनंत सौन्दर्य की झाँकी के आकर्षण को स्वीकार कर लिया है। यह स्वीकृति बौद्धिक न हो कर अनुभूतिमय तन्मयता की सहज समाधि है। इसी समाधि के सौन्दर्य का दर्शन सेनापति को हुआ है। देव नदी के अमृतमय जल के मकरन्द का कोष विष्णु के चरणों में है, अतः राम के चरण-कमलों में भी विश्वरक्षक गंगाजल के इस मकरन्दकोष का साक्षात्कार सेनापति ने किया है $।

विश्वमंगल विधायक के चरण जहाँ पड़ेंगे वहीं अनंत सुखों की सृष्टि हो जाएगी। सेनापति के विश्वमंगल विधायक राम के चरण भी 'सब सुखमाज' हैं। वे आदर्श देव और आदर्श राजा हैं। इसलिए उनके चरण सब देवताओं और राजाओं के मस्तकों की शोभा बढ़ाने वाले मुकुट की तरह हैं, 'सुर-राजन के सिरताज' हैं *।

व्यक्ति से सम्बद्ध मगलभावना को विश्व से सम्बद्ध करके मनुष्य के हृदय को विश्व-हृदय बना कर जो आनन्दमयी सक्रिय मुक्ति राम ने प्रदान की वह बेजोड़ थी; इसीलिए उनके चरण सेनापति को 'मंगल मुकुति रूप कंद के भाजन' की तरह दिखाई पड़े। इसी धरती पर स्वर्ग के उतरे हुए जीवन का साकार रूप राम के चरण एक तरफ़ सेनापति को धरती पर बहने वाली सरयू की धारा में 'सरजूविहारी' की तरह दिखाई पड़ते हैं तो दूसरी तरफ़ ज्ञान की पवित्र साधना की नदी के शीतल रूप में बहते हुए 'ऋषिनारी तापहारी' की तरह भी दृष्टिगोचर होते हैं। 'मतिमंद सेनापति' को उन चरणों ने ज्ञान-दान भी किया और उसका हित-साधन भी उन्हीं चरणों की कृपा से हुआ §।

विश्वरक्षक नारायण के अवतार राम के चरण एक तरफ़ लोकजीवन का स्वाथ सिद्ध करते हुए विश्व के 'भरन' हैं तो दूसरी ओर सनकादि के 'सरन' भी हैं। परम ज्ञानियों

‡ रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १२० से पहले। † रामायण वर्णन, मंगलाचरण कवित्त १। $ वही, कवित्त २। * वही, कवित्त २। § वही, कवित्त २।

को भी उन चरणों में झुक कर ज्ञान की प्राप्ति होती है। उन्हें ज्ञान के लिए भी उन्हीं चरणों में जाना पड़ता है। अतः राम और उनके चरणों को सेनापति ने भुक्ति और मुक्ति दोनों के समन्वित केन्द्र की तरह देखा है। भारतीय भक्ति-साधना केवल मुक्ति की रुक्षता में कभी नहीं गयी। भोग और मोक्ष दोनों की समन्वित-साधना करके उसने भोग में भी योग का दर्शन कर लिया। जब राम कण-कण-व्यापी हैं तब जीवन का वैध अनुभव भी योग है यदि 'घट-घट व्यापी राम' का उसमें दर्शन किया जा सके‡।

विश्वमंगल विधान के जितने आवश्यक उपादान हैं, उन सबसे युक्त रामचन्द्र को सेनापति ने देखा है। विश्वमंगल-विधान उसी व्यक्तित्व से सम्भव है, जिसके द्वारा सामान्य शील की उच्चतम साधना से वह परिवार आलोकित हो गया हो, जिसमें उसने जन्म लिया। जब तक कोई व्यक्ति परिवार का श्रेष्ठ व्यक्ति पहले न हो ले, तब तक वह विश्व-श्रेष्ठ कैसे हो सकता है। परिवारश्रेष्ठ हो कर व्यक्ति अपने भीतर विश्वश्रेष्ठ होने की सम्भावना उत्पन्न कर लेता है। विश्वश्रेष्ठ शील वाले व्यक्तियों के परिवार में जन्म लेने वाला व्यक्ति परिवारश्रेष्ठ होने के साथ-साथ ही विश्वश्रेष्ठ भी हो जाता है। विश्वश्रेष्ठ व्यक्तियों का परिवार रघुवंश था। सेनापति के राम 'रघुबरवंस भूपित हैं'। विश्वश्रेष्ठ शील को धारण करने वाले रघुवर लोगों के वंश को अपने उच्चतम शील से उन्होंने और अधिक विभूषित करके विश्वश्रेष्ठ शील वाले व्यक्ति का स्थान प्राप्त कर लिया था†।

सेनापति के अनुसार लोकमंगल-विधायक को भक्तवत्सल होना चाहिए। भक्त का अपना कोई स्वार्थ नहीं रहता। वह अनंत आदर्शों के केन्द्र, भगवान्, में अपने को खो देता है। राम विश्व-मंगल विधायक हैं। भक्त इसी विश्वमंगल विधायक के हाथों बिक जाता है। वह विश्वमंगल विधायक का उपासक होता है; इसीलिए उसके रंग में सराबोर हो कर स्वयं विश्वमंगल विधायक हो जाता है। इस विश्वमंगल विधायक को भगवान् अपने हृदय में रखता है। उसकी भक्तवत्सलता विश्वमंगल विधान का एक रूप है$।

सेनापति ने विश्वमंगल-विधायक राम को 'भव-खंडन' भी कहा है। विश्वमंगल-विधायक वैयक्तिक स्वार्थों के ऊपर उठ कर अपने को विश्व के स्वार्थों में लीन कर देता है। वह पहले अपने भव को खंडित कर लेता है और अपने शील के प्रकाश से भक्त के भव को भी खंडित कर देता है, उसके स्वार्थ और अभिमान को समाप्त करके। आसक्तियों के ऊपर उठे हुए राम का ध्यान करने वाला साधक भी आसक्तियों के ऊपर उठ जाता है और उसका भव खंडित हो जाता है*।

सेनापति के राम 'मुनि-जन-मानस हंस' हैं। विश्वमंगल-विधायक का शील इतना उज्ज्वल होता है कि मुनिलोग भी उसे अपने मानस का उज्ज्वल हंस बना लेते हैं। वे भी अपने को उस धवल आदर्श के सम्मुख हीन अनुभव करके उस विवेकपूर्ण आदर्श को अपने मानस का हंस बना कर उसकी उपासना करते हैं§।

---

‡ रामायण वर्णन कवित्त २। † वही, कवित्त ३। $ वही, कवित्त ३। * वही, कवित्त ३। § वही, कवित्त ३।

विश्वमंगल विधायक का शील सबके लिए अमृत बन जाता है। घर या बाहर, हर जगह वह अमृतमय हो कर ही रहता है। जो राम सेनापति को 'मुनिजनमानस हंस' की तरह दिखाई पड़ता है, वही 'विहित सीता-मुख-मंडन' की तरह भी दिखाई देता है। सीता भी तो विश्वमंगल विधायक के अनंत शील पर निछावर हो कर उसी अनंतशील की सिद्धि अपने भीतर भी प्राप्त कर चुकी थी। उसके मुख का शृंगार करने वाला राम उसके मुख की ज्योति था। उसकी पवित्रता सीता के मुख पर प्रकाश बन कर दमक रही थी। सीता का शृंगार राम के पवित्र शील से चमक उठा था। मर्यादा पुरुषोत्तम के सुन्दरतम शील का ध्यान सीता के मुख पर सौन्दर्य बन कर चमक रहा था। इतने पर भी राम जब अपने प्रेम से सधे हुए हाथों से उसके मुख का शृंगार करते थे तब उन पवित्र हाथों का स्पर्श पा कर उसके मुख की शोभा अनंत हो जाती थी‡।

सेनापति के विश्वमंगल विधायक राम 'त्रिभुवन-पालन-धीर हैं'। विश्वमंगल विधायक, त्रिभुवन के सब प्राणियों का पालन करता है तथा इस कार्य के लिए मन को अपनी चंचलता छोड़ कर धैर्य की निश्चल समाधि में डूब जाना पड़ता है। तभी वह वैयक्तिक स्वार्थों के ऊपर उठ कर विश्व के स्वार्थ में लीन होता है। राम का शील इसी तरह का था†।

सेनापति का ध्यान राम की उस सात्त्विक शक्ति पर भी केन्द्रित है जो त्रिलोक विजयी रावण के मद को भी धूल की तरह उड़ा सकी। सात्त्विक शक्ति विश्व के उत्पीड़कों को उत्पीड़ित करती है। इसीलिए रावण की तामसी शक्ति और उसके अभिमान को राम ने अपनी सात्त्विक शक्ति की विश्वरक्षिका वृत्ति से चूर-चूर कर दिया§।

सेनापति ने राम की सम्पूर्ण मर्यादाओं की सौन्दर्यमयी भावनाओं से अपने हृदय को सजा लिया है। उनके राम जब उदित होते हैं तब विभीषण के समान लोगों के भाग्य बन कर ही वे उदित होते हैं। राम का एकमात्र 'धेय निज-परिजन-रंजन' ही है। राम का निजी परिजन विश्वरक्षा के आलोक को देख कर आनंदित होता है। विश्वरक्षा के कार्य से उसका रंजन होता है। विभीषण के समान परिजनों का भाग्य तो तभी उदित होता है जब राम अपने विश्वरक्षा के कार्य में सफल होते हैं। इसीलिए अपने ऐसे परिजनों का रक्षण और रंजन राम नित्य किया करते हैं। यह रक्षण और रंजन उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य होता है। उन्होंने जीवन भर यही किया था। उनके इसी शील से प्रभावित हो कर 'सुरपति, नरपति तथा भुजगपति' के साथ सेनापति भी अपनी भावना के भीतर राम के चरणों की वन्दना कर लेते हैं। वे अपने राम को 'राजाधिराज' तथा 'विस्वमंगलकरन' रूप में देखते हैं। रामभक्ति की मर्यादावादी परंपरा के एक उज्ज्वल घटक सेनापति जी भी हैं; इसीलिए मर्यादापूर्ण, पूर्णपुरुष राम के विश्वमंगल-विधायक रूप का ही उन्होंने दर्शन किया है। विश्वमंगल विधायक राम के 'वज्रादपि कठोर' तथा 'कुसुमादपि मृदु' व्यक्तित्व पर सेनापति का ध्यान पूर्णतः केन्द्रित है*।

---

‡ रामायणवर्णन, कवित्त ३। † वही, कवित्त ३। § वही, कवित्त ३। * वही, कवित्त ३।

निराली मौलिकता को साथ ले कर सेनापति ने अपने उपास्य की वन्दना की है। पहले उनकी चरणपादुका पर वह झुकता है, तब चरणों को नमस्कार करता है। अंत में अपने उपास्य का बड़े नम्र भाव से दर्शन करता है।

अपने इस सान्त और अनंत उपास्य की इयत्ता का वर्णन करती हुई सेनापति की वाणी मौन हो जाती है। पहले तो वे राम की मुसकान को करोड़ों चन्द्र के प्रकाश से भी धवल, शीतल तथा दीप्तिमान कह लेते हैं, उनके तेज को करोड़ों सूर्यों से भी अधिक प्रभावशाली स्वीकार करते हैं, उनकी शक्ति को करोड़ों कामदेवों से भी अधिक बताते हैं, उनकी दानशक्ति को करोड़ों कामधेनुओं से भी अधिक अनुभव करते हैं; पर अंत में हार कर बैठ जाते हैं। वे कहने लगते हैं कि यह सब वर्णन झूठा हो गया। राम के लिए और अधिक उपमानों की आवश्यकता है। मुझे कोई ऐसी उक्ति और युक्ति बता दे जिससे त्रिलोक नायक राजाराम का मैं वर्णन कर सकूँ ‡।

गोस्वामी जी की तरह ही सेनापति भी इसी सिद्धान्त को मानते हैं तथा इसी भाव-दशा का उन्होंने भी अनुभव किया है कि जब अनिर्वचनीय अनंत, सान्त हो जाता है तब भी वह अनिर्वचनीय और अनंत ही रह जाता है, उसे पूर्णतः जान लेना असंभव-सा ही प्रतीत होता रहता है। गोस्वामी जी को भी मानस के पग-पग पर यही अनुभव हुआ है। धनुप भंग के समय राम और लक्ष्मण के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए वे भी कहते हैं—

"कोटिकाम-उपमा लघु सोऊ" † करोड़ों कामदेवों का समाहित रूप उपमान की तरह लाया जा सकता है; पर वह भी राम और लक्ष्मण के सौंदर्य का वर्णन नहीं कर सकता; उस अनन्त सौंदर्य के सामने नगण्य प्रतीत होने लगता है। अन्त में उस सौंदर्य के प्रभाव में अपने हृदय की अनुभूति की दशा की ओर इंगित करने के लिए वे यही कह देते हैं— "भावत हृदय जात नहिं बरनी" $ कि राम-लक्ष्मण का सौंदर्य हृदय को तो अच्छा लगता है. पर उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

राम को रिझा लेने का आवेग सेनापति के भीतर हृदय का बन्धन लाँघ जाना चाहता है, पर वह आवेग वाडव ज्वाला की तरह प्रेम के उमड़े हुए समुद्र के तल में ही रह जाता है। इस मनोदशा की ओर स्पष्ट इंगित मिल जाता है, जब वे कहते हैं —"जिसका वर्णन करते हुए ब्रह्मा भी थक जाता है और उसके रहस्य को नहीं समझ पाता उसे किस प्रयास से रिझाया जा सकता है। ऐसी दशा में तो यही अच्छा है कि मौन हो कर ही बैठ जाया जाए * ।" पर कवि के हृदय की दशा बड़ी विचित्र है। वह राम के सौंदर्य का वर्णन किये विना रह भी तो नहीं सकता। वह कहता है—'वाणी को प्राप्त करके बोलने की शक्ति रहते हुए, यदि राम का यशोगान न किया जाए तब भी मन अकुलाता है।' § वह सोचने लगता है कि लोग सूर्य को जलता हुआ दीपक अर्पित नहीं करते। कोई दीपक उसे आलोकित नहीं करता। इसलिए दीपक प्रस्तुत करके बिना जलाये जल को अर्पित कर सूर्य

‡ रामायण वर्णन, कवित्त ४। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २४२ के बाद। $ वही। * कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग, रामायण वर्णन, कवित्त ५। § वही।

को अपने हृदय के भाव अर्पित कर दिये जाते हैं, इसी तरह वाणी की सीमा के भीतर सीमित उपायों से त्रिलोक-तिलक राम को रिझाने का उपाय किया जाए‡। राम को रिझाने का यह आवेग सेनापति के हृदय में अपने सहज रूप में उत्पन्न हुआ है; अतएव उसे व्यक्त करने वाली वाणी भी सहज सुन्दर और शैली मौलिक हो गयी है।

सेनापति ने भी रामकथा की एक परम्परा का निर्देश किया है। गोस्वामी जी रामकथा के आदि आचार्य शिव को मानते हैं। गोस्वामी जी की आचार्य-परम्परा क्रमशः शिव-उमा तथा शिव-कागुभुशुंडि, याज्ञवल्क्य और भरद्वाज की है†। सेनापति जी की आचार्य-परम्परा में क्रमशः ब्रह्मा, नारद तथा वाल्मीकि हैं$। गोस्वामी जी भी 'रामायन सत कोटि अपार।' कह कर 'रामकथा कै मिति जग नाहीं' का सिद्धान्त ही स्वीकार करते हैं*। उनके शिव भी गिरिजा से 'रामचरित सत कोटि अपारा' ही कहते हैं§। सेनापति भी 'संख्या सत कोटि जाकी कहत प्रवीने हैं'× के द्वारा उसी सत्य का समर्थन करते हैं। इस अनंतता के सम्मुख अपनी असमर्थता की सूचना देते हुए सेनापति कहते हैं 'एती राम-कथा ताहि कैसे कै वखानै नर, जातैं ए बिमल बुद्धि बानी के बिहीने हैं"+ रामकथा लिखने के लिए विमल वाणी और विमल बुद्धि की आवश्यकता असंदिग्ध है। गोस्वामी जी ने भी 'विमल कथाकर कीन्ह अरंभा" ⁑ कह कर रामचरित के मानस के लिए 'सुमति भूमि"¶ की आवश्यकता की चर्चा की है तथा इस कथा को समझने के लिए 'विमल विचार' को आवश्यक माना है‡⊕। इसीलिए रामकथा के सम्मुख अपना मस्तक झुका कर सेनापति उस अनंतता के शरणागत बन जाते हैं। वह अनंतता कैसे सीमा में बँध सकती है। इस परिस्थिति में सेनापति ने कहा है कि उस अनंत क्रम को प्रणाम करके केवल कुछ प्रकरणों से सम्बन्ध रखने वाले छन्दों की ही सृष्टि कर रहा हूँ : "सेनापति यातैं यथा-क्रम कौं प्रनाम करि, काहू काहू ठौर के कवित्त कछू कीने हैं‡‡।"

सेनापति के राम महाबली, वीर, धीर, धर्म की धुरा को धारण करने वाले, दानवों की सेनाओं का नाश करने वाले, कलि के कलुष के विध्वंसक, देवताओं द्विजों तथा दीनों की पीड़ा के संहारक, विश्व भर में अभिराम, वैदिक तथा लौकिक साहित्य में प्रसिद्ध, महाराजमणि, सुखधाम, तेजराशि पूर्ण पुरुष ब्रह्म के पूर्णावतार हैं‡†।

दशरथ के चारों कुमारों की अनंत शक्ति, उनके अनंत शील तथा अनंत सौंदर्य का दर्शन भी सेनापति ने अपने मानस चक्षुओं से किया है। उन्हें वे चार कुमार, साम, दाम,

---

‡ कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग, रामायण वर्णन, कवित्त ५। † रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २९ के बाद। $ कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग, रामायण वर्णन, कवित्त ६। * रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३२ के बाद। § रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा ५१ के बाद। × कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग, रामायण वर्णन, कवित्त ६। + वही। ⁑ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ३४ के बाद। ¶ वही, दोहा ३५ के बाद। ‡⊕ वही, दोहा ३३। ‡‡ कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग, रामायण वर्णन, कवित्त ६। ‡† वही, कवित्त ७।

दण्ड और भेद के चारों उपायों; भूमि, पशु, विद्या तथा धन की चार संपत्तियों; धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के चार पुरुषार्थों; ऋग्, यजु:, साम तथा अथर्व वेद के इन चार प्रकारों; क्षीर, मधु, लवण और जल के चार समुद्रों; इन्द्र, वरुण, कुबेर तथा यम इन चार दिक्पालों के समाहित रूप की तरह दिखाई पड़ते हैं‡।

राम के तेज और प्रतापयुक्त व्यक्तित्व के बड़े अनुपम चित्र सेनापति ने प्रस्तुत किये हैं। उनके अनुसार यदि मन्दार, पारिजात, सन्तान, कल्पवृक्ष और हरिचन्दन ये पाँच सुरतरुओं का सौंदर्य वसन्त और कामदेव का समाहित माधुर्य, पूर्णिमा के बीते हुए तथा आगे आने वाले सब पूर्णचन्द्रों की एकीकृत कान्ति, इन्द्र, अग्नि, यम, सूर्य, वरुण, वायु, कुबेर, सोम, ब्रह्मा और अनन्त की पुंजीभूत दीप्ति तथा बारहों सूर्यों का आलोक यदि एक स्थान में एकत्रित किया जा सके तब राम के तेज, प्रताप तथा सौंदर्य युक्त व्यक्तित्व का थोड़ा-सा आभास मात्र दिया जा सकता है†।

विश्व-मंगल-विधायक राम के लोकरक्षक भुजों में भी अपूर्व शक्ति, शील और सौंदर्य का दर्शन सेनापति ने किया है। धनुष और बाण को धारण करने वाले उन भुजों की तुलना में किसके भुज ठहर सकते हैं। सेनापति के राम के दोनों भुज शक्ति के कोष हैं। उनसे सीता के समान साध्वी पत्नी के लिए शिरोपधान बनता है। वे परम कृपालु हैं तथा दिक्पालों की भी रक्षा करते हैं। वे स्वर्ग और पाताल लोकों की रक्षा करके उनके लिए विशाल आधार-स्तम्भ बने रहते हैं। सम्पूर्ण विश्व की पीड़ा को नष्ट करने की क्षमता उनमें है। सम्पूर्ण विश्व के भक्तों की कामनाओं को पूर्ण करने की उनमें शक्ति है। समर में सज्जित हो कर वे विश्व भर पर नियंत्रण रखते हैं$।

अपने इस विश्वव्यापी रक्षाविधान के कार्यों से सेनापति के राम भी सान्त और अनंत दोनों प्रतीत होते हैं। सीतास्वयंवर के समय जब जनक की सभा की कान्ति देव सभा की कान्ति को भी पराजित कर रही थी, जहाँ विश्व भर के राजा और स्वर्ग के सब देवता उपस्थित थे, इसी सभा में राम के आते ही सुर और असुर सबकी कान्ति छिप गयी। सब लिखित चित्र की तरह हो कर राम को ही देखने लगे। 'तेजपुंजधारी' राम रूपी सूर्य के उदित होते ही कोई दूसरा तेज और अंधकार बाकी न रह गया। इस विश्वव्यापी तेज के परिवेश में अपने राम को रख कर सेनापति ने उन्हें लौकिक और अलौकिक शक्तियों के मूल केन्द्र के रूप में अनुभव किया है*।

सेनापति के राम में अपार ईशित्व शक्ति है। जनक की सभा में इन्द्र तथा पृथ्वी के सब राजा, यौवन, कुल, भुजबल तथा सम्पत्ति के गर्व से गर्वित हो कर बैठे हुए थे। राम के आते ही अनजान में उन सब का अभिमान दूर हो गया और वे सब अपने सिंहासनों से उतर कर नीचे खड़े हो गये। इस ईशित्व शक्ति के कारण सेनापति के राम भी नरभूप होते हुए विश्वनियन्ता परमात्मा की छाया भी अपने साथ निरन्तर बनाये रखते हैं§।

‡ कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग, रामायण वर्णन, कवित्त ८। † वही, कवित्त ९। $ वही, कवित्त १०। * वही, कवित्त ११। § वही, कवित्त १२।

जब सेनापति के राम धनुष चढ़ाने के लिए प्रस्तुत होते हैं तब अगणित देवता, सिद्ध तथा चारण उनके प्रभाव से खिंच कर स्वतः चले आते हैं। प्रभाव की उसी समाधि में चारण लोग उनका यशोगान करने लगते हैं। राम का यह अनंत व्यापी प्रभाव उन्हें नर और नारायण की एक अलौकिक समाहित शक्ति से सम्पन्न करके विश्व के सामने प्रस्तुत करता है। सेनापति का हृदय नर-नारायण की इसी समाहित सौन्दर्य-झाँकी का दर्शन राम के व्यक्तित्व में करता है ‡।

अपने राम के भीतर सौन्दर्य और शक्ति के अतुलित सन्तुलन का दर्शन सेनापति ने किया है। धनुर्भंग की तैयारी में उनके 'दीरघ, प्रचंड, महापीन, जुगभुजदंड' सर्पराज शेष के समान सेनापति जी को दिखाई पड़ते हैं। उनके विशाल लोचन और राजदीप्ति से दीप्त भाल की शोभा के संमुख रति-पति भी लज्जित हो जाता है। मत्त गजराज की गति से जब चाप चढ़ाने के लिए सेनापति के राम आगे बढ़ते हैं तब दसों दिक्पालों के स्वामी की तरह दिखाई पड़ते हैं †।

अपने भक्ति-प्रवण हृदय में सेनापति जी ने राम की शक्ति उनके शील तथा सौन्दर्य के बड़े सजीव चित्रों का दर्शन किया है। उनके 'दशरथ सुत' ने अपने समर्थ हाथों में पिनाक को खींचने के लिए उठा लिया, तब विश्व भर में खलबली मच गयी। ब्रह्मा के मुख सूख गये। उन्होंने कच्छप, शेष, दिग्गजों, पृथ्वी तथा सुमेरु—सब दिशाओं में विश्व की समग्र शक्तियों के हृदयों में साहस का संचार किया। पृथ्वी को लुढ़क न पड़ने की चेतावनी दी, मेरु को न डगमगाने के लिए आगाह किया तथा कच्छप और शेष को पृथ्वी का भार योग्यता से सँभालने का आदेश दिया। राम के इस अनंत प्रभाव का अनुभव करके सेनापति कहते हैं कि ऐसी स्थिति में मेरा हृदय प्रफुल्लित हो कर राम की विरुदावली क्यों न गाए। सेनापति के ये भावसिक्त शब्द हृदय प्रसूत हैं। राम के विश्वरक्षक प्रभाव को हृदय से अनुभव करके सेनापति भावविभोर हो गये हैं। उनका 'रामायण वर्णन' इसी भाव-समाधि का परिणाम है $।

यद्यपि सेनापति की पूर्व परम्परा में इस प्रकार के वर्णनों का अभाव नहीं है, तथापि सेनापति ने राम के प्रभाव का हृदय से अनुभव करके उस प्रभाव को अभिव्यक्ति दी है; इसीलिए ये चित्र पुराने होते हुए भी सेनापति की अनुभूति के भीतर से नये संस्करण का रूप ले कर अंकित हुए हैं। प्राचीन शब्द चित्रों के अनुवाद मात्र न रह कर ये चित्र उनके परिमार्जित और संस्कृत प्रतिरूप हैं।

धनुष के टूटने का वर्णन भी परम्परा प्राप्त वर्णनों की अपेक्षा अधिक चित्रात्मक है। जब अपने 'उद्दंड चंड भुजदंड' में उस प्रबल धनुष को भर के रामने उसे खींचा, तब राम के उद्दंड, चंड भुजदंडों की प्रबलता को वह पिनाक नहीं सह सका और टूट गया। उसके टूटते ही दिगंतों के दिग्गज व्याकुल हो कर लुढ़क पड़े। विष्णु का हृदय काँप उठा,

‡ कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग, रामायण वर्णन, कवित्त १३। † वही, कवित्त १४।
$ वही, कवित्त १५।

घबराहट के कारण उनके हृदय का धैर्य छूट गया। अचल ध्रुव भी काँप उठे, सुमेरु पृथ्वी में धँस कर विलीन हो गया। शेष की आँखों के सामने अँधकार छा गया। वह तत्क्षण पृथ्वी में चिपक गया और सिद्धों ने राम की बुद्धि तथा उनके बल की प्रशंसा की।

राम की प्रवल शक्ति के आतंक से स्वभावत: आतंकित और सहज पराजित विश्व शक्तियों की आतंकित स्तब्धता और नगण्यता के बड़े प्रभावशाली शब्द-चित्र इस वर्णन में हैं। इसमें परम्परा के चित्रों को सेनापति ने अपनी उद्भाविका शक्ति का योग दे कर और अधिक प्रभावशाली बना दिया है‡।

सेनापति ने सीता के प्रेम के पवित्र आवेग के चित्र भी अपनी मौलिक भावनाशक्ति से बड़ा आकर्षक बना कर प्रस्तुत किया है। राम के चरणों को देखने के बहाने केवल नेत्रों से ही उसने प्रिय की वन्दना की, उनके वक्ष को केवल देख कर नेत्र मात्र से आलिंगन कर लिया तथा उनके मुखचन्द्र के सौन्दर्य को देखा और आनन्द के उस केन्द्र को अपनी आँखों में सम्हाल कर रख लिया। जब सेनापति की सीता ने राम को अपने नेत्रों में बन्द कर एक क्षण के ध्यान में विलीन हुई तो प्रेम की समाधि की उस पवित्रता के भीतर सेनापति ने राम के एक पत्नीव्रत के पवित्र बीज का, सीता के मंगलमय पातिव्रत का तथा सीता के द्वारा राम को तन मन अर्पण की पावनता की सीमा का दर्शन किया और कहा है कि जयमाला पहनाने के बहाने त्रैलोक्य के सौन्दर्य को राई नमक बना कर सीता ने राम के सौन्दर्य पर निछावर कर दिया†।

सेनापति के भक्त-हृदय ने अत्यन्त पावन और अनंत आकर्षक सौन्दर्य का दर्शन राम में किया है और उसकी ओर सम्पूर्ण विश्व को भक्ति से आकर्षित होते हुए देखा है। सीता के सौन्दर्य का भी पवित्र और भव्य आकर्षण. भक्तिप्रवण हृदय से सेनापति ने अनुभव किया है। और कहा है कि विश्व, राम के सौन्दर्य की ओर खिंचता है तथा राम का पवित्र हृदय सीता के सौन्दर्य से आकृष्ट होता है। यह स्थिति इस बात को स्पष्ट कर देती है कि राम की पवित्रता का अपनी ओर आकर्षित करने वाला सीता का सौन्दर्य परम पावन तथा त्रैलोक्य के सौन्दर्य को पराहत करने वाला है। इस पावन सौन्दर्य के प्रभाव से प्रभावित हो कर सेनापति ने विनोद और श्रद्धा से सिक्त शब्दों के द्वारा यहाँ तक कह दिया है कि सीता के जिस सौन्दर्य पर देवसुन्दरियों का सौन्दर्य निछावर हो गया उसी के प्रताप से राम एक पत्नी व्रती हो सके। यह उनके वशित्व की बड़ाई नहीं, सीता के सौन्दर्य की गरिमा का प्रभाव है। इन दो पवित्र आत्माओं की पवित्रता का मूल्यांकन बड़े कोमल और रसभरे शब्दों में सेनापति ने अपने हृदय के निर्णय के द्वारा किया है$।

राम के भीतर अपार शक्ति के साथ अनंत धैर्य और संयम की जो कोमलता थी उसकी ओर भी भक्त सेनापति का हृदय श्रद्धात्मक स्नेह के साथ आकर्षित हुआ है। परशुराम की उद्दंडता तथा राम की स्नेहसिक्त सहिष्णुता में जिस सुन्दर सामंजस्य की शोभा सेनापति

---

‡ कवित्तरत्नाकर, चौथी तरंग, रामायण वर्णन, कवित्त १६। † वही, कवित्त १८।
$ वही, कवित्त २३।

ने देखी उससे वे मुग्ध हो गये। परशुराम की उद्दंडता पर किसी भी शक्तिशाली व्यक्ति को क्रोध हो जाता; पर राम के धैर्य के महासागर में परशुराम की उद्दंडता क्रोध की एक रेखा भी न उत्पन्न कर सकी; उस महासागर को क्षुब्ध करने का तो प्रश्न ही नहीं था। राम की इस गौरवपूर्ण धैर्यशालिता से प्रभावित हो कर सेनापति ने कहा है—राम तो वज्र को भी चूर-चूर कर सकते हैं। महाकाल का भी संहार कर सकते हैं। प्रलयाग्नि को भी जला कर भस्म कर सकते हैं। झंझा के पवमान को भी बाँध कर उसके अभिमान को नष्ट कर सकते हैं। वे स्थल को जल और जल को स्थल बना सकते हैं। मेरु और मंदर पर्वतों को चूर्ण कर के धूल में परिणत कर सकते हैं। दानवों की तमाम सेनाओं को तहस-नहस कर डालते हैं। पर ब्राह्मण परशुराम को आदर देने के लिए उन्होंने अपनी अनंत शक्ति का संवरण कर लिया और परशुराम के क्रोध से तनिक भी विचलित न हुए ‡।

राम के विश्वमंगल विधायकत्व और मर्यादा पुरुषोत्तमत्व से सेनापति पूरी तरह प्रभावित `। उन्होंने राम के शील के भीतर दो बातों का दर्शन निरंतर किया है। एक इसका कि राम विश्व को सुधारने के लिए पृथ्वी पर स्वयं उतर आये थे तथा इसका भी कि काम की आसक्ति के प्रसार को भी मानव हृदय के भीतर रोक देने के लिए अपना धाम छोड़ कर राम धरती पर अवतीर्ण हो गये थे। स्वर्ग के अपने राज्य को धरती के लिए उन्होंने जब छोड़ दिया तब पिता का धरती का राज्य उन्हें किस तरह आकर्पित कर सकता है। वे तो केवल अपने दासों की इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए पृथ्वी पर उतर आये थे। राम के पृथ्वी पर के राज्य का यही सहज स्वरूप है कि वे निरभिमान दासों की इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए सिंहासन को छोड़ कर वन में निवास कर सकते हैं। सेनापति ने कहा है कि उनके पृथ्वी के राज्यादर्श को और अधिक सुन्दर ढंग से कैसे व्यक्त किया जा सकता है। वह आदर्श तो स्वयं सुन्दर है; उसे सजा कर व्यक्त करने की आवश्यकता नहीं है। उनके जीवन का मौन व्याख्यान अभिव्यक्ति के लिए वाणी की अपेक्षा ही नहीं रखता। उनका जीवन मौन हो कर भी मुखर है। वह सब पर अनायास ही अपने आलोक को फैलाता रहता है। सेनापति ने कहा है कि इतने सुन्दर आदर्श शील को सामने पा कर चुप भी तो नहीं रहा जा सकता; इसीलिए सज्जनों के कानों तक राम के मधुर आदर्शों की मधुर वाणी को पहुँचाने के लिए सेनापति केवल इतना ही कहता है कि उदारशील देवों की उद्दंडशील राक्षसों से रक्षा करने के लिए नारायण नर हो गया और दशरथ के महल को छोड़ कर पैदल ही वनों के पथों का पथिक बन गया †।

मारीचवध के समय भी राम की शक्ति की बड़ी ओजमयी उद्भावना सेनापति ने की है। इस समय भी सेनापति के भक्त हृदय ने सीमा में अवतरित हुए असीम के भीतर अनंत शक्ति का दर्शन किया है। उन्होंने कहा है कि मारीचमृग को देख कर राम ने सीता की रक्षा का भार लक्ष्मण को दे दिया। वीर रघुपति ने क्रोध के प्रचंड वेग से धनुष हाथों

‡ कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग, रामायण वर्णन, कवित्त २८। † कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग, रामायण वर्णन, कवित्त २९।

में ले लिया। अभियान के पथ पर राम के पैर पड़ते ही पृथ्वी की दशा ही दयनीय हो गयी। क्रोध के समय सेनापति के राम के पद-चाप को पृथ्वी कैसे सह सकती है। वीर राम के पद-चाप से पृथ्वी काँप उठी। समुद्र का जल अपनी मर्यादा के बाहर छलक पड़ा। सब पर्वत डोलने लगे। पाताल तक इस पदचाप का भार पहुँचा और इसे न सह सकने के कारण सर्पराज शेष भाग खड़े हुए। कच्छप ने हठ करके उस कठिन भार को जब अपनी पीठ पर साधना चाहा तो उसकी पीठ चटक कर टूट गयी। राम के अनंत क्रोध और उनकी शक्ति के इस विश्वव्यापी आतंक का दर्शन सेनापति जी ने अपनी भक्ति रंजित आँखों से किया है‡।

औचित्य का पल्ला पकड़ कर कुछ आलोचक कह सकते हैं कि सेनापति ने वीर रस की घिसी-पिटी लीक ही पीटी है; वीर रस का उनका वर्णन उचित नहीं हुआ है। एक साधारण से राक्षस को मारने के लिए इतने क्रोध की क्या आवश्यकता थी, जिससे सारी पृथ्वी काँप उठी। साधारण तौर से देखने पर ऐसा ही प्रतीत होगा। पर ध्यान से विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि मारीच स्वयं इस क्रोध का लक्ष्य नहीं था। इस क्रोध का लक्ष्य विश्वविजेता रावण और उसका यह कुचक्र था। मारीच तो इस षड्यन्त्रपूर्ण योजना का अंग मात्र था। जिस रावण के क्रोध से विश्व काँप उठता था उसी रावण को लक्ष्य करके राम का यह विश्वव्यापी क्रोध उत्पन्न हुआ था। राम ने अपनी शक्ति की एक विराट् अभिव्यक्ति उसके सम्मुख की थी। यह पहला अवसर था जब कि रावण रामके इतने निकट आया था। इसलिए अपने शक्तिमय रूप का अविर्भाव करके राम ने रावण को विश्वोत्पीडनसे विरत करने का ओजमय प्रयत्न किया था। एक तरह से सेनापति के अनुसार राम का यह विश्वव्यापी क्रोध रावण के लिए अनंत के शक्तिमय रूप का दर्शन था।

इस दृष्टिकोण की सार्थकता तब प्रतीत होती है जब हम सेनापति के रावण के शील का विवेचन करते हैं। सेनापति ने भी रावण को राम के तामसी भक्त की तरह देख कर संतोष अनुभव किया है। उन्होंने भी यही कहा है कि रावण ने अपनी राम-भक्ति और रति को हृदय में छिपा रखा था। अपने तमोगुणी स्वभाव के कारण वह भगवान् से मैत्रीभाव से नहीं मिल सकता था, इसीलिए शत्रुभाव से अपने को राम के भावमय ध्यान में मग्न कर देने के लिए उसने यह बृहत् योजना बनायी थी। राम-लक्ष्मण को धोखे में डाल कर, सुवर्णमृग की माया की सर्जना के द्वारा वह राघव की जाया के छाया-शरीर को चुरा सका†।

सच्ची सीता के हरण के सिद्धान्त को न मान कर सेनापति जी ने छाया-सीता के हरण का सिद्धान्त ही स्वीकार किया है। मर्यादावादी भक्त और कलाकार होने के कारण सेनापति भी सीता के पातिव्रत की रक्षा चाहते हैं; इसीलिए उन्होंने भी रावण के द्वारा सच्ची सीता के हरण को न स्वीकार करके छाया सीता के हरण के सिद्धान्त को ही स्वीकार किया है।

---

‡ कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग, रामायण वर्णन, कवित्त २०। † वही, कवित्त ३१।

अपने 'रामायण वर्णन' में सेनापति ने इस वर्णन के कुल छिहत्तर कवित्तों के द्वारा रामायण के उन्हीं कथासूत्रों और घटनाओं का वर्णन किया है जिनसे राम के शील सौंदर्य और शक्ति का प्रभाव व्यक्त होता है और उनके पूर्णजीवन पर ओज, माधुर्य तथा सौंदर्य युक्त प्रकाश पड़ता है। अपनी इस संक्षिप्त योजना के द्वारा उन्होंने अपने भक्तिपूर्ण भावों की सुमनांजलि राम के चरणों में अर्पित की है। इन छिहत्तर छन्दों के सब रस सेनापति की रामभक्ति के ओज, माधुर्य और सौंदर्य से आप्लावित हैं। सेनापति के हनुमान लंका जाते समय रामवाण की तीव्र गति से यात्रा करते हैं। राम के चरण छू कर तथा उन्हीं की शक्ति से ओज सम्पन्न हो जाने के कारण ही उनमें यह शक्ति उत्पन्न हुई। राम के चरणों के स्पर्श से ही सेनापति के हनुमान में तेज का आविर्भाव हुआ है। अनंत शक्तिवान् राम के चरणसेवक में भी अनन्त शक्ति आ जाती है। इस बात को हनुमान इत्यादि के व्यक्तित्व की आलोचना करते हुए सेनापति ने निरन्तर ध्यान में रखा है। इसी के कारण हनुमान के द्वारा लंकादहन का दृश्य बड़ा आतंकमय चित्रित हुआ है। उसकी विभीषिका इतनी भयानक है कि राक्षसों का उद्दंड तथा कठोर साहस भी उसके सम्मुख नगण्य-सा प्रतीत होने लगता है ‡।

सेनापति का भक्त हृदय राम को निरन्तर परम कृपालु तथा विश्वरक्षक के रूप में देखता है। राम की दयावीरता और दानवीरता के बड़े मार्मिक चित्र सेनापति ने प्रस्तुत किये हैं। विभीषण से राम का जो सम्बन्ध-सूत्र स्थापित हुआ था उसकी चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है—जिससे कोई पूर्व परिचय न था, जो सहायता करने न आ कर सहायता माँगने ही आया था, प्रथमदर्शन के समय जब शत्रु के भाई के रूप में यह परिचित कराया गया और एक क्षण में ही झुक कर जब उसने राम के चरणों की वन्दना की तभी केवल पाँच क्षणों में ही राम ने उसे दशों दिशाओं का स्वामी बना दिया। उनकी इस दया वीरता और दानवीरता का वर्णन शब्द कैसे कर सकते हैं †।

इसी दान-वीरता का एक और चित्र प्रस्तुत करते हुए सेनापति ने कहा है—रावण के भाई विभीषण ने उस मदांध का साथ छोड़ कर जब राम को शरणागति स्वीकार की तब मिलते ही राम ने अपूर्व दान वीरता का परिचय दिया। उन दुर्जन-दलन और दीन-बन्धु ने विभीषण के भय का दान रावण को दे दिया और रावण की लंका का दान विभीषण को दे दिया। एक ही दान में सत्यप्रतिज्ञ राम ने दो दानों के सत्य का अवतरण कर लिया। उनकी दान-वीरता का वर्णन कौन कर सकता है $।

मनुष्य के शील के भीतर जिन गुणों के कारण मानवता विकसित हो कर नारायणत्व को प्राप्त कर लेती है वे सब गुण मर्यादापुरुषोत्तम राम में थे। भक्त उन्हीं गुणों का दर्शन भगवान् में करके आत्मविभोर होता है। भक्तों का यही स्वभाव सेनापति में भी है। राम के शील के विश्व-मंगल-विधायक सब गुणों का साक्षात्कार सेनापति के हृदय और प्रतिभा की आँखों ने किया है।

---

‡ कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग, रामायण वर्णन, कवित्त ३१ से ३८ तक। † वही, कवित्त ३९। $ वही, कवित्त ४०।

राम के भीतर शील और सौंदर्य की झाँकियाँ तो सेनापति ने देखी ही हैं; पर अपने राम के अनुकूल ही उन्होंने उनमें अनन्त शक्ति की बड़ी ओज-भरी तीव्रता का दर्शन किया है। उनके राम जितने ही अधिक कोमल, दीन-बन्धु और विश्वमंगल विधायक हैं, उतना ही प्रचंड उनका क्रोध भी है। सेनापति की दृष्टि में राम की वीरता अपने अपूर्व शक्तिमान् ओज के साथ निरन्तर झूलती रहती है। राम से प्रभाव प्राप्त करके जब राम-दूत ने लंकादहन का भयानक कांड सुवर्णपुरी के ऊपर रच डाला तब भी व्याज से राम की ही शक्ति की व्यंजना की गयी थी और अन्य घटनाओं में भी राम की अनन्त शक्ति ही साक्षात् दृष्टिगोचर होती है। मारीच-वध उसका एक नमूना है। दूसरा स्थल समुद्र नियन्त्रण की घटना है। उसका वर्णन करते हुए सेनापति ने कहा है—राम के बाणों की प्रचंड आग का वर्णन नहीं किया जा सकता। उस आग की विश्व तापिनी ज्वाला अनिर्वचनीय है। क्रोध करके राम सिन्धुराज को जिस तरह नियन्त्रण में लाये वह स्थिति शब्दों के द्वारा अभिव्यक्ति नहीं प्राप्त कर सकती। राम की बाणाग्नि से निकला हुआ ज्वाला-जाल पाताल तक प्रविष्ट हो गया। पाताल में आग लग गयी। उन ज्वालाओं ने आकाश को आत्मसात् कर लिया। सूर्य भी उन्हीं में विलीन हो गया। बड़े-बड़े भयानक जलजन्तु भी तड़फड़ा कर मूर्छित हो गये। देवताओं में नदी-पति की रक्षा का प्रश्न ले कर हाहाकार मच गया। कोई ऐसी शक्ति नहीं थी जो राम की बाणाग्नि को व्यर्थ करके नदी-नायक को बचा सकती। जिस तरह जल-बिन्दु तप्त तवे पर छनछनाकर जल जाता है उसी तरह तप्त कमठ-पृष्ठ पर समुद्र का जल जला चला जा रहा था ‡।

सेनापति के राम के हृदय में विश्वमगल विधान की पवित्र आकांक्षा बड़ी तीव्र और दुर्दमनीय है। विश्व के पीड़ितों के लिए जितनी कोमल दयालुता उनके हृदय में है उतनी ही कठोर निर्दयता विश्व के पीड़कों के लिए उनके भीतर है। विश्व के उत्पीड़कों को नियन्त्रित करके विश्वमंगल विधान की उनकी प्रवृत्ति के पथ पर जो गति-विघातक की तरह आ कर अड़ जाता है उसके लिए राम का क्रोध अपना अपरिसीम भयानक रूप धारण कर लेता है। विश्वोत्पीड़क रावण के लिए जो दंडविधान होने वाला था उसके पथ में समुद्र गतिविघातक की तरह उपस्थित हुआ था। इस गतिविघातको दूर कर पथ देने के लिए राम के द्वारा प्रार्थित होने पर भी जब समुद्र नहीं पसीजा तब उसके लिए भी जो दंडविधान हुआ वह बहुत ही भयानक था। उसी की विभीषिका का वर्णन करते हुए सेनापति ने आगे और कहा है कि अपने शत्रु-शासक बाणों से राम ने जब अग्नि की वर्षा आरम्भ कर दी तब आग की ज्वाला आकाश में न समा सकी। महामत्स्य भी घबरा कर दीन हो गया। बहुत से जलचर जीवहीन हो कर चुरने लगे। जल देव वरुण हाथमल कर पछताने लगे। वे कहने लगे—अभिमानी नदीपति ने आरम्भ में ही राम की विनम्र प्रार्थना न सुनी। अब तो पता नहीं कौन-सा उत्पात और कब हो जाए। रावण की राजधानी लंका भयभीत हो गयी है। जल के प्रज्ज्वलित होते चले जाने से जलधि धूलि का कोष बनता चला जा रहा है †।

---

‡ कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग, रामायण वर्णन, कवित्त ४१। † वही, कवित्त ४२।

राम की वाणाग्नि बड़ी विषम है। उसके आगे पारावार का गर्व भी चूर हो गया। उस जलराशि के तापमान का वर्णन कैसे किया जा सकता है जहाँ से उठी हुई ज्वाला से आकाश तक जल गया है और सूर्य जिसमें विलीन हो गया है। जो जल-जन्तु वड़वानल को छोड़ कर शीतल जल की ओर आ गये थे उन्हें वाणाग्नि से जलते हुए समुद्र में अब वड़वानल ही शीतल मालूम पड़ रहा है और वे उसी ओर भाग कर चले जा रहे हैं। जल उवल रहा है, सूर्य तक उस ताप से विचलित हो कर तड़फड़ा रहे हैं। समुद्र का जल ज्वालाओं से ढँक गया है। मछलियाँ और कछुए उछल पड़ते हैं। शेष का हृदय कम्पित दिखाई पड़ रहा है। लपटों के लगने से पर्वत प्रज्ज्वलित हो गये हैं और चटक-चटक कर उनके पत्थर फूट रहे हैं। विद्याधर लोग राम की विजय-कामना करके उनका यशोगान कर रहे हैं। समुद्र को चारों ओर से घेर कर ज्वालाएँ जला रही हैं। उन ज्वालाओं से घवरा कर प्रचंड वाड़वाग्नि तक समुद्र को छोड़ कर भाग जाना चाह रही है। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि राम के बाणों की प्रबल और प्रचंड अग्नि पाताल को फोड़ कर प्रकट हुई है†।

इन सब वर्णनों में सेनापति की मौलिकता स्पष्टतः झलकती है और यह भी अनुभव होता है कि कवि का हृदय शौर्य की भावना में बिलकुल तन्मय हो गया है और राम के इस पावन शौर्य के माध्यम से उसने उनके लिए अपने हृदय में श्रद्धात्मक प्रेम की पद्धति बना ली है। राम की इसी भक्ति के प्रवाह में उसका हृदय 'कवित्तरत्नाकर' के हर छंद में उन्मुक्त हो कर बह पड़ा है।

अन्त में समुद्र शरणागत हो जाता है और राम उसके बन्धन की आज्ञा देते हैं। यहाँ राम के प्रभाव का फिर एक भव्य चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है। वाणाग्नि के शान्त होते ही ब्रह्मा स्वयं वेद-पाठ करने लगते हैं, इन्द्र राम की प्रार्थना करने लगते हैं, समुद्र स्वयं अपने तटों पर ऋतु के अनुकूल पुष्पों की वर्षा करता है, मंगलमय स्वरों में संगीत की वर्षा होने लगती है, अर्धनारीश्वर स्वयं आनंदमत्त हो कर वहाँ आ जाते हैं और नारद तथा सरस्वती की वीणाओं की स्वर-माधुरी विश्व भर के मन को मुग्ध कर लेती है। इसी स्वस्त्ययन समारम्भ के मध्य में राम ने समुद्र पर सेतु निर्माण की आज्ञा दी। वानरों के द्वारा सेतु-निर्माण की चर्चा करते हुए सेनापति ने कहा है कि राम के चरणों की धूल का स्पर्श करके सब वानर वज्रांग हो गये थे; इसीलिए उन्होंने पर्वतों को उखाड़-उखाड़ कर समुद्र को पाट दिया‡।

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार अनंत और अद्वैत ब्रह्म माया विशिष्ट हो कर नर होने पर भी अनंत शक्तिवान् ही रहता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार सेनापति ने भी अपने अवतारी राम को अनंतशक्ति सम्पन्न नर के रूप में अंकित किया है। उनके अनुसार राम का प्रताप अद्भुत है। वेद उनके यश का गान करने का प्रयत्न करते हैं, पर उन्हें पूरी सफलता नहीं मिलती। राम की शक्ति से समुद्र का जल भी स्थल के रूप में परिणत हो जाता है।

---

‡ कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग, रामायण वर्णन, कवित्त ४३–४४। † वही, कवित्त ४५ और ४७।

जलनिधि की अनंत जलराशि राम की बाणाग्नि से तेल के समान जलने लगती है। जिन पर्वतों की जड़ें पाताल तक पहुँची हुई हैं ऐसे पर्वत भी राम के प्रताप से समुद्र के जल के ऊपर रुई के फूल की तरह तैरने लगे। अतः सेनापति का अनंत शक्तिमान्, नर रूपी नारायण, अपनी अनंत शक्तियों के कोप के साथ उनकी भक्ति का आलंबन बना हुआ है। उसका अनंत प्रभाव इतना अमोघ है कि उसके वरद हाथों की छाया में वानर तक निर्भय हो कर काल को भी चुनौती देते हैं। राम के इसी स्वामित्व की छाया में अंगद अपने को अनंत शक्तिमान् अनुभव करने लगते हैं। वे वज्र को धूल बना सकते हैं, मेरु को चूर्ण कर सकते हैं तथा सूर्यों को धूल में मिला सकते हैं‡।

अंगद के भीतर राम के इसी अनंत प्रभाव की व्यंजना करने के लिए सेनापति ने लिखा है कि शत्रु-दल के बीच, क्रोधित हो कर, जब अंगद ने अपना पैर जोर से पृथ्वी पर पटका तो शेप का अनंत बल फूल की तरह नगण्य हो गया, पर्वत धूल-धूल हो गये, दिग्गज भी धूल में मिल गये तथा पाताल के सप्त आवरण एक क्षण में पापड़ की तरह फूट गये। राम के प्रभाव को हृदय में सम्हाल कर अपने पद-चाप से जब अंगद ने विश्व को कम्पित कर दिया, तब दश शीश ने उनके पैरों को अपने मस्तकों पर पड़े हुए से अनुभव किया और शिवके वरदान का उसका अभिमान लुप्त हो गया। अनंत शक्तिमान् राम के सेवक की तरह जब अंगद ने अपने को अनुभव किया तब उनके भीतर भी राम की अनंत शक्ति आ कर बैठ गयी। उनके पैरों के भार से कच्छप व्याकुल हो उठा। शेष, धरा के भार-धारण का अपना काम छोड़ कर भाग खड़े हुए। उस भार से दब कर पाताल के सप्तावरण एक ही आवरण स्तर के रूप में परिणत हो गये।

इन वर्णनों में अत्युक्ति और अतिशयोक्ति का आभास दिखाई पड़ सकता है; पर जब इस प्रभाव के पीछे अनंत शक्ति के हाथों का दर्शन हो जाए तो अतिशयोक्ति के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। अनंत शक्तिमान् राम क्या नहीं कर सकता। उसके प्रभाव के लिए विश्व में कोई कार्य दुष्कर नहीं है। इस अनंत शक्ति की अनुभूति करके सेनापति ने उसकी व्यंजना भी घटनाओं के अनंत मापदंड पर रख कर ही की है। बिना किसी योजना के हृदय की भक्ति का यह प्रभाव अनंत को अनंत रूप में अभिव्यक्त करने के लिए अनजान में सेनापति के हृदय से प्रवाहित हो गया है†।

अनन्त सत्य और अनन्त पवित्रता का प्रभाव राम के आदर्श शील का प्रभाव है। राम और लक्ष्मण में पवित्रता की वह अनन्त शक्ति है जिसके विरुद्ध शूलधर शिव को भी सफलता नहीं मिल सकती। देवता, सिद्ध और विद्याधर सब उस अनन्त पवित्रता के चारण हैं। वे सब राम और लक्ष्मण की वन्दना करते हैं। सेनापति के अंगद के अनुसार रावण तभी जीवित रह सकता है जब कि वह इस पवित्रता का हृदय से उपासक बन जाए और सीता को वापस करके अपने विश्वोत्पीड़क शील में परिवर्तन कर ले। विश्वोत्पीड़क शक्ति

‡ कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग, रामायण वर्णन, कवित्त ४९ और ५२। † वही, कवित्त ५३ से ५५ तक।

का सहारा लेन वाला व्यक्ति तभी सुरक्षित रह सकता है जब अपनी अपवित्रता को राम की पवित्रता में परिवर्तित कर ले; अन्यथा राम की अनन्त पवित्र शक्ति उसका नाश कर देगी‡।

सेनापति के अनुसार राम-रावण का युद्ध अनन्त आदर्श और अभिमान के समुद्र के बीच का युद्ध था। राम अनन्त पवित्रता के प्रतीक थे और रावण मदान्धता का महा सागर था। इनका युद्ध अनन्त सात्त्विकता और अनंत तमोगुण के बीच का भयानक संघर्ष था। राम की सात्त्विकता की शक्ति से देवशील प्रोत्साहित हो रहा था और रावण के तमोगुण से निशाचरों का तमोगुण तरंगित हो रहा था†।

इस युद्ध के अंत में तमोगुण का महासागर सूख कर गतप्राण हो गया। उसके श्मशान पर सत्त्वगुण का पवित्र आलोक उदित हुआ और विश्वभर पर छा गया। विश्व का भय त्रस्त हो गया और विश्व को छोड़ कर भाग गया तथा देवराज के दरबार में नगाड़े बजने लगे। मंगलमय शंकर ने अत्याचार के उसी श्मशान में विश्व मंगल विधायक राम का स्वागत किया। सेनापति की भक्ति साधना में शक्ति-शील और सौन्दर्य की उपासना की यही शब्दमयी प्रक्रिया है$।

इसी प्रक्रिया में कवि ने सीता की अग्नि परीक्षा की झाँकी देखी है। उसकी सीता का यहाँ का चित्र एक शक्तिमती मानवी का चित्र है। वह अपने परम पावन पातिव्रत के शील की पवित्रता की शक्ति के कारण प्रचंड पावक में प्रवेश के समय भय से छू तक नहीं जाती। उसके सत्य के समक्ष अग्नि भी शीतल हो गया तथा दर्शक देवताओं की सभा भाव-विभोर हो कर अपना अस्तित्व तक भूल जाती है। सेनापति की सीता का तेज आग में तप कर सुवर्ण की कान्ति को भी लज्जित कर देता है*।

अत्याचार पर विजय प्राप्त करके सीता की अनुपम पवित्रता के साथ पुष्पक पर सेनापति के राम का तेज ऐसा प्रभावशाली है कि उस पर करोड़ों इन्द्र और सूर्यों का तेज निछावर किया जा सकता है। इसी पवित्रता को सेनापति ने निश्छल भाव से अपना हृदय अर्पित कर दिया है। चौदहों भुवनों को जिस विश्व मंगल विधायक ने आनन्द में मग्न कर दिया उसे हृदय अर्पित कर देना स्वाभाविक ही है। इसीलिए सेनापति के समान संवेदनशील भक्त ने अपना हृदय राम को दे दिया§।

हृदय के इसी पवित्र आनंद को मापदण्ड बना कर सेनापति ने भक्त के हृदय की गहराई की थाह लगायी है। स्वार्थ के ऊपर उठ कर जो हृदय भजन के रस में डूब जाए, विश्व रूप भगवान् की सेवा में जो अपने स्वार्थों को खो दे, वही सेनापति के अनुसार भक्त है। अपने स्वार्थों की दुनिया को विवेक के प्रकाश में जो स्वप्न समझ ले वही सच्चा भक्त है। भक्त विश्वरूप भगवान् की सेवा के बल को अपना बल समझता है। वह

‡ कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग, रामायण वर्णन, छंद ५६। † वही, छंद ५८। $ वही, कवित्त ६६। * कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग, रामायण वर्णन, कवित्त ६७। § वही, कवित्त ६८।

विश्वरूप भगवान् की सेवा करता है और सारा विश्व उसकी सेवा करता है। भक्त रूपी भगवान् की सेवा करके सब लोगों को अपनी-अपनी वांछित वस्तु प्राप्त हो जाती है। सेनापति भजन के इस अद्भुत प्रभाव को जानते हैं। इस भजन के भीतर तन और मन का जो अर्पण होता है, भगवान् की सेवा में लय होता है उसका माधुर्य सेनापति के अनुसार अनिर्वचनीय होता है। उन्होंने कहा है कि भजन के इस रस को हनुमान ने अनुभव कर लिया था; इसीलिए भजन करने के योग्य शरीर रहने के समय तक ही उन्होंने अपने जीवन की अवधि भगवान् से माँग ली ‡।

अवतारी राम के मर्यादापुरुषोत्तमत्व पर सेनापति रीझ गये हैं। इस रूप के प्रति उन्हें अपार श्रद्धा है, पर दूसरे अवतारों के रूपों को भी वे सम्मान देते हैं। जाम्बवान या जामवन्त की चर्चा करते हुए सेनापति जी ने कहा है—'जिस समय वामन बलि को छल रहे थे उस समय जामवन्त ने उनकी परिक्रमा की। जामदग्नि परशुराम का दर्शन भी उन्होंने किया। लंकाधिप का अभिमान चूर करने वाले राम के भी दास हुए। उन्होंने अपनी कन्या जामवन्ती का विवाह कृष्ण से करके उन्हें भी सम्मानित किया। इसी तरह जामवन्त और अवतारों से भी मिले, परन्तु सीतापति के सेवक के रूप में ही वे अधिक प्रसिद्ध हुए। सीतापति के व्यक्तित्व के इस आकर्षण का अनुभव मैंने भी किया; इसीलिए उन्हीं गुणधाम का मैंने अधिक यशोगान किया है।' अतएव सब अवतारों के प्रति सेनापति भक्ति को ले कर उन्मुख हुए; पर मर्यादापुरुषोत्तम के मर्यादित रूप-सौन्दर्य और कर्म-सौन्दर्य की अनुभूति में उनका भक्ति-प्रवण हृदय पूर्णतः लीन हो गया †।

अयोध्या नगरी की मुक्ति के सम्बन्ध में सेनापति की अनुभूति बड़ी अद्भुत और स्नेहसिक्त है। उन्होंने कहा है—"विश्व में अनेक राजा हुए तथा बहुत-सी राजधानियाँ भी बनीं, पर राजाराम को पति को तरह पा कर जिस अनुपम सोहाग को अयोध्या ने प्राप्त किया उसकी तुलना तो किसी दूसरी राजधानी और राजा के प्रेम से नहीं की जा सकती। अयोध्या और राजाराम के प्रेम का नियम ही दूसरा था। अपने जीवन भर अयोध्या राजाराम की भुजाओं की छाया में रही। उसने किसी दूसरे राजा के ध्यान को अपने हृदय में स्थान नहीं दिया। अन्त समय में पृथ्वी पर की अपनी लीला समाप्त करके राम अयोध्या को भी अपने साथ लेते गये और त्रिलोक के उस नायक ने इन चौदहों भुवनों में अनेक देव-लोकों के दिव्य समूहों को छोड़ कर अयोध्या को एक शाश्वत दिव्य धाम की तरह पन्द्रहवाँ भुवन बनाया और स्वर्ग लोकों में उसी के साथ रहने लगे।" यह कितनी मधुर अनुभूति है जिसमें राम के प्रेम में मग्न चेतन ही शाश्वत राम के साथ रहने का अधिकार मुक्ति की अवस्था में नहीं प्राप्त करते वरन् जड़ पुरी भी अपने पति राम के साथ अनंतकाल तक निवास करने के लिए दिव्य लोकों में चली जाती है और भव-बन्धन से मुक्त हो जाती है। यद्यपि यह अनुभूति परम्परागत है; क्योंकि जड़ता में भी भारतीय साधक हृदय ने चिन्मय का मानवरूप वेदों के समय से ही देखा है; पर सेनापति ने

‡ कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग, रामायण वर्णन, कवित्त ६९। † वही, कवित्त ७०।

अयोध्या के हृदय में अपने पति राम के लिए जिस मधुर प्रेम का दर्शन किया है, वह बड़ा ही आकर्षक है। अयोध्या और राम के शाश्वत मधुर भाव की यह अनुभूति प्रेमालोक से सिंच कर पावन गौरव की अनंतता के श्रृंगार से सज्जित हो गयी है

सेनापति की संवेदनशील अनुभूति ने अयोध्या और राम के मधुर भाव का दर्शन तो इस रूप में किया; पर राम के हृदय में जगत् में रहने वाली अपनी प्रजा के लिए, जो प्रेम था उसकी भी अन्तिम परिणति की बड़ी ही भव्य और मधुर अनुभूति सेनापति ने प्राप्त की है। उन्होंने कहा है—"अयोध्या में रहने वाले सब लोगों की सब कामनाएँ पूरी हो गयीं! अपने परम ऐश्वर्यवान् स्वामी की भुजाओं की छाया में ही वे बढ़े। अनाथों की तरह स्वामियों की भीड़ में उन्हें स्वप्न में भी नहीं भटकना पड़ा। इन्द्र और यमराज से भी वे नहीं डरते थे।" ऐश्वर्यवान् देवराज और शक्तिमान् काल की शक्ति के बाहर वे चले गये थे। राजा राम अनंत ऐश्वर्यवान् और अनंत शक्तिमान् हैं। उनका सहारा ले लेने पर साधक अन्य दूसरी शक्तियों की पहुँच के बाहर हो जाता है :—"राम ने अपने जिन प्रेमियों को जगत् में कारण वश छोड़ दिया उन्हें अमर बना दिया और बाक़ी लोगों को अपने साथ लेते गये और उन्हें शाश्वत काल तक अपने साथ रहने की मुक्ति दे दी। साकेत में रहने वाले जीव ही सच्चे सनाथ हैं और केवल राजा राम की स्वामिता ही सच्ची स्वामिता है।" हनुमान्, विभीषण और परशुराम अमर माने जाते हैं। इन्हीं की ओर सेनापति ने इशारा करने के लिए कहा है कि राजा राम ने जिन लोगों को यहाँ रख दिया उन्हें अमर बना दिया। स्वामी के हृदय में सेवक के लिए जो वात्सल्य रहना चाहिए उसकी बड़ी मधुर अनुभूति सेनापति के भक्त हृदय ने अपने उपास्य राम के शील के भीतर की है‡।

इसी राम के लिए सेनापति के भीतर अनन्य भक्ति है। उन्होंने कहा है—"राम तो सब राजाओं के राजा हैं। उनका राज्य जगत् पर निरंतर स्थिर रहता है। पीड़ाओं को नष्ट करने वाले वे परम समर्थ और बलवान वीर हैं। कोई देवता या देवेश उनकी बराबरी नहीं कर सकता। सूर्य के उदय होने पर कोई दूसरा तारा अपने प्रकाश की कैसे रक्षा कर सकता है। उनके सहारे को छोड़ कर दूसरे का आश्रय स्वीकार करना अमृत के समुद्र को छोड़ कर कूओं का सहारा लेने के समान है। जो चौदहों भुवनों का राजा है, जिसके सहारे पर रहने से मनुष्य दुःखों से बच जाता है, चित्त जिसकी ओर स्वतः ही आकृष्ट हो जाता है, वही राजा राम मेरा सहायक है।" इसी सर्वशक्तिमान् राम के चरणों में सेनापति ने अपने अनन्य हृदय को अर्पित कर दिया है§।

राम की यह कथा जिस पद्धति से कविता बन जाती है उसकी प्रक्रिया भी बड़ी सरल और पवित्र है। सेनापति ने बड़े सहजभाव से इस काव्यकला-दर्शन को प्रस्तुत किया है। राम के पवित्र और धवल शील का आलोक निर्दोष और सूर्य की ज्योति की तरह भास्वान है। ऐसा शील जब कवि के हृदय में कविता बनने लगता है तब उसके लिए

‡ कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग, रामायण वर्णन, कवित्त ७१। वही, कवित्त ७२।
§ वही, कवित्त ७३।

किसी सजावट की आवश्यकता नहीं पड़ती। परमसुन्दर तो स्वयं सहज सुन्दर है। उसे सजाने के लिए किसी वस्तु की क्या आवश्यकता। राम का सुन्दर शील कवि के हृदय में पहुँच कर जब कविता बन जाता है, तब शील के उस काव्यमय रूपान्तर में दोष रह ही नहीं सकता। वह कविता सहज सौन्दर्य की अनुभूति से विभूषित रहती है। खरदूषण के तमोगुण का विनाश करने वाला शील जिस कविता का विषय बन जाएगा, वह कविता सत्त्व के तेज से दीप्तिमती सुन्दरी का रूप धारण कर लेगी। उसके अक्षर अक्षर में सत्त्व के तेजोवान परमाणु बैठे होंगे। उसके अक्षर में दूषण की संभावना कहाँ से हो सकती है ‡।

राम-नाम के अनंत महत्त्व की पहचान भी सेनापति ने थोड़े ही शब्दों में बड़े मार्मिक ढंग से व्यक्त कर दी है। उनके अनुसार राम के नाम को शिव अपनी नवनिधियों के समान समझते हैं। विभूति धारण करने वाला दिगम्बर शिव राम-नाम के प्रभाव से नवनिधियों का स्वामी होता है। इसी नाम के प्रभाव से हनुमान् अष्टसिद्धियों पर पूर्णाधिकार रखता है। राम के नाम ने ही विभीषण को समृद्धि दी। बाल्मीकि ने भी इसी नाम का यशोगान किया। ब्रह्मा ने भी इसी नाम को अपना सहारा बनाया। आदर्श शील का प्रचार करने वाले वेदों के लक्ष्य भी वे ही आदर्श हैं जो राम के नाम के साथ सम्बद्ध हैं। जप और यज्ञ को सौन्दर्य तभी प्राप्त होता है जब जप और यज्ञ करने वालों के भीतर राम के नाम के साथ जुड़े हुए आदर्श शील की भावना उत्पन्न हो जाती है। इसी कारण सनकादि ऋषियों ने शीलवान राम के इस नाम को अपने हृदयों में बिठा लिया है। राम का यह नाम अमृत के समान है। इस नाम में बैठे हुए शील की सिद्धि जो प्राप्त कर लेता है उसका यश राम के ही यश की तरह अमर हो जाता है। इस नाम से भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त होते हैं। राम के जीवन में भोग और योग दोनों एक साथ निवास करते थे; इसीलिए उनके नाम के स्मरण से आदर्श भोग और योग मनुष्य के शील बन जाते हैं। परम मंगल के उद्गम इस नाम को सेनापति ने पहचान लिया है। राम का नाम सेनापति के अनुसार कामनाओं की पूर्ति के लिए कामधेनु के समान है। इस पवित्र शक्ति की सिद्धि के बाद कोई भी कामना अपूर्ण नहीं रह जाती। राम के शील में विरोध विश्रान्त हो गया था। राम अजातशत्रु थे। उनके व्यक्तित्व में शान्ति सिद्ध हो चुकी थी; इसीलिए उनके शील की स्मृति शान्तिदायिनी है, उनका नाम जिह्वा का विश्राम है, वह नाम विश्व के समग्र पूर्ण धर्मों का केन्द्र है। मर्यादा पुरुषोत्तम के नाम की इसी अमोघ शक्ति को सेनापति ने पहचान लिया था †।

राम की कहानी स्वर्गीय जीवन की कहानी है। इस स्वर्गीय कहानी को सेनापति ने मर्म तक पहचान लिया था। राम की कहानी में गंगा की धारा की पवित्रता है। रामकथा की इस गंगा-धारा को स्वर्ग से पृथ्वी पर उतार लाने के लिए अनेक लोगों ने शील की साधना की। इस गंगा की धारा के मधुर रस का स्वाद लव और कुश ले चुके थे। राम के

‡ कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग, रामायण वर्णन, कवित्त ७४। † वही, कवित्त ७५।

शील से वे परिचित थे; इसीलिए मुक्त हृदय और मुक्तकंठ से शील के सौन्दर्य के रस का उन्होंने यशोगान किया। संतों को राम-कहानी की इस गंगा के सौन्दर्य और माधुर्य ने मोह लिया था। इस गंगा-धारा को स्वर्ग से पृथ्वी पर उतार लाने के लिए देवताओं ने पवित्र साधनाओं के प्रयत्न किये। इस राम-कहानी का प्रत्येक वर्ण उज्ज्वल और मधुर है। देवताओं की शील-साधना से प्रसन्न हो कर अनंत शीलवान परमात्मा पृथ्वी के राजा के रूप में उतर आया। उसकी कहानी की गंगा जब धरणी पर उतर आयी तब पृथ्वी शीतल हो गयी। सेनापति ने राम-कहानी की इस गंगाधारा में ऐसी पवित्रता का दर्शन किया है जो किसी तीर्थ में संभव नहीं है। स्वर्गीय जीवन को पृथ्वी पर उतार लेने की पवित्र प्रक्रिया का दर्शन सेनापति ने निश्चित ही कर लिया था और वे उस स्वर्गीय जीवन के सौन्दर्य को राम के शील में अनुभव करके मुग्ध हो गये थे ‡।

'रामायण वर्णन' में सेनापति ने जीवन की प्रबंधात्मकता के भीतर राम के शील का विकास देख कर उस अनंत पवित्रता पर उन्होंने अपने को निछावर कर दिया है। 'कवित्त रत्नाकर' की पाँचवीं तरंग 'रामरसायन-वर्णन' है। यह तरंग रामभक्ति के स्फुट छंदों का संग्रह है तथा इसमें कृष्ण और विष्णु की प्रशस्तियों के भी छन्द हैं। छियासी छन्दों में से सोलह छन्दों में देवनदी गंगा की प्रशस्ति है। कुछ छन्दों में शिव की भी प्रशस्तियाँ हैं।

इस 'रामरसायन वर्णन' में राम के उन्हीं सगुण और निर्गुण रूपों के ध्यान के स्फुट चित्र तथा भक्तवत्सल राम के सौन्दर्य, शील और शक्ति के प्रभावों की अभिव्यक्तियाँ हैं। इस तरंग के मंगलाचरण में सेनापति ने सगुण-निर्गुण राम की वन्दना की है। अपनी मौलिक उद्भावना से वन्दना की अभिव्यक्ति करते हुए उनके कवि ने कहा है—"सेनापति उस राम की वन्दना बार-बार करता है जिसने जीव, ज्ञान, प्राण, तन, मन और मति दे कर इस अनंत रचना वाले जगत् को देखने की शक्ति दी। आँखों से देखने पर उसका अनुपम विश्वरूप दिखाई पड़ता है; पर बुद्धि से विचार करने पर वह निराकार और निराधार प्रतीत होता है। उस राम का तेज, नीचे, ऊपर, आकाश में, दसों दिशाओं में तथा प्रत्येक हृदय में व्याप्त हो रहा है। वही तेज तीनों लोकों का आधार है। वह राम, पूर्ण पुरुष, इन्द्रियों का स्वामी तथा गुणों का उद्गम स्थान है।" परमात्मा की सगुणता को दृष्टि का परिणाम तथा निर्गुणता को चिन्तन का परिणाम मान कर सेनापति ने प्रायः मौलिक उपस्थापना ही की है †।

चौथी तरंग की भक्तिधारा के ही स्फुट रत्न इस पाँचवीं तरंग में किंचित् परिवर्तित छाया में संगृहीत किये गये हैं। यहाँ भी सेनापति के राम की वन्दना सनकादि करते हैं। वेद चारण बन कर उसी का यशोगान करते हैं। शेष, रवि, शशी और पवन सेवा करके उसी को रिझाना चाहते हैं। उसी रघुवीर को सेनापति अधीर हो कर अपनी पीड़ा सुनाना चाहते हैं और अन्य लोगों को भी यही परामर्श देते हैं। उनके अनुसार बन्धुओं की भीड़

‡ कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग, रामायण वर्णन, कवित्त ७६। वही, कवित्त १।

के आगे तो मौन रह जाना ही श्रेयस्कर है। श्यामवर्ण, 'सारंगधनु' को धारण करने वाले राम के बिना कोई दूसरा भव-पीड़ा से मुक्ति नहीं दे सकता‡।

सेनापति का अभिमानी साधक 'मानधन' है। वह तो केवल 'कपटविहीन, परवीन, जगत-भरन, जनरंजन, बारिद-बरन, दारिद-हरन' राम के सामने ही अभिमान छोड़ कर झुकता है। राम का-सा शील जहाँ हो, सेनापति वहीं झुकेगा, अन्यत्र नहीं। वह कभी चिन्ता नहीं करता, मन को दुर्बल नहीं बनाता। वह, निरन्तर राम की भक्ति के घने आनंद में डूबा रहता है। वह 'आदर के भूखे' सूखे वृक्ष से भी अधिक रूखे स्वभाव वाले, परपीड़क दुर्जनों से सहायता के लिए एक शब्द भी नहीं कहता। भक्ति के भीतर उत्पन्न होने वाला भगवान् के प्रति यह अटल विश्वास भक्त को एक अपूर्व शक्ति प्रदान करता रहता है। यह शक्ति सेनापति में स्पष्टतः परिलक्षित होती है†।

विश्वासपूर्ण भक्ति से ओत-प्रोत बड़े निश्छल शब्दों में सेनापति ने राम को पुकारा है और प्रेमपूर्ण उलाहने भी दिये हैं। उन्होंने राम से कहा है—"तुम दयासिन्धु और दीनबन्धु हो। तुम अपने सम्मान को कैसे भूल जाते हो। तुम्हीं हमारे धन हो। तुम्हीं से मैंने प्रेम की प्रतिज्ञा कर ली है। किसी दूसरे से हमारा मन नहीं मानता। मैं तो निरन्तर तुम्हारा ही स्मरण करता रहता हूँ। तुम्हीं से हमारा वश चलता है। दूसरा कोई सहायक मुझे नहीं सूझता; इसी से व्याकुल हो कर हम तुम्हारे चरणों पर लोट जाते हैं। तुम चाहे मानो या न मानो तुम्हें जो रुचे वही करो, हम तो पुकार तुम्हीं से करेंगे।" अनन्यता में रहने वाला विश्वास इसी तरह निश्छल हो कर भगवान् को अपना केन्द्र बना लेता है और उसी के प्रेम में लीन हो जाता है$।

सेनापति के 'सियकंत भगवंत राम' की 'महिमा अनंत' है। लक्ष्मी उसकी पत्नी है सरस्वती उसकी जिह्वा है वह महामाया का भी पति है। सूर्य और चन्द्र उसके सुन्दर नेत्र हैं। ब्रह्मा उसके पुत्र, शिव उसके नाती चार दिक्पाल उसकी चार भुजाएँ हैं। वह शेष की सुख शय्या पर सोता है। उसका तेज त्रिलोक पर छाया हुआ है। अनंत नारायण ही सेनापति के अनुसार राम के रूप में अवतीर्ण हुए हैं*।

भारतीय भक्ति-क्रान्ति के भीतर एक बलिष्ठ आशावाद को जन्म मिला था। भगवान् की अनंत शक्ति भक्त को निरन्तर सहायता देती रहती है। यदि निश्छल हो कर वह भगवान् की ओर चला जाए तो उसके सब अपराध क्षमा कर दिये जाते हैं। महा पापी भी पाप मुक्त हो कर भगवान् के पथ पर पुण्यात्मा हो जाता है। इसी विश्वास और आशा की व्यंजना सेनापति ने भी बड़े मौलिक ढंग से की है। उन्होंने राम से कहा है—"कुपथ को छोड़ कर बिभीषण इत्यादि तुम्हारे रास्ते पर चले आये और तुमने उन सबको तार दिया। उन्होंने मनचाहा काम कर लिया। सन्मार्ग को छोड़ कर ऋषि पत्नी वन में कुमार्ग पर चली गयी। उसे भी तुमने तार दिया और उसके

‡ कवित्त रत्नाकर, पाँचवीं तरंग, रामरसायन वर्णन, कवित्त ३। † वही, कवित्त ४।
$ वही, कवित्त ५। * वही, कवित्त ६।

किसी दोष पर ध्यान न दिया। तुम कुमार्ग गामियों को ही तारते हो यह जान कर हमने सन्मार्ग को छोड़ दिया है और कुमार्ग पर ही चल रहे हैं, यह समझ कर कि तुम हमें भी तार दोगे। हम अपार कल्मष के भार से भरे हुए हैं। जब तुम अपने मार्ग के सब लोगों को तार देते हो तब हम भी तो तुम्हारे पथ पर तरने के लिए ही पड़ गये हैं। हमें भी तार दो।" यह निश्छल आत्म-निवेदन और शरणागति का भाव अपार आशा और विश्वास को साथ ले कर ही चलता है। यही विश्वास भक्त का बल बनता है‡।

विष्णु, राम और कृष्ण के अभेद का दर्शन करते हुए सेनापति ने इन पूर्ण पुरुषों में मर्यादा की पवित्र निश्छलता का अनुभव किया है। व्याजस्तुति अलंकार के सहारे विष्णु राम और कृष्ण के भीतर के अभेद के प्रति अपनी भक्ति की व्यंजना करते हुए सेनापति ने बड़े कोमल और सुन्दर शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने कहा है—"जो धीवर का सखा, वन्य जातियों का स्नेही, गिद्ध का बन्धु और शबरी का मेहमान है, जो पांडवों का दूत और अर्जुन का सारथी है, जो पादाघात का दंड पा कर भी निर्लज्ज हो कर ब्राह्मण के चरण-चिह्न को अपने हृदय पर धारण करता है, जो व्याध के अपराध की चिन्ता नहीं करता, जो मूर्ख कुत्ते की भी शिकायत सुनता है, जो बलि का द्वारपाल है, उसी 'अवगुनी' की सेवा करने के लिए सेनापति तरसता है। उसके समान मूर्ख कौन होगा।" सेनापति के ये शब्द, विष्णु, राम और कृष्ण की निन्दा करते हुए प्रतीत होते हैं; पर वस्तुतः इन शब्दों को सहारा बना कर सेनापति ने उन पूर्ण पुरुषों की बड़ी मधुर स्तुति की है। इस समन्वयोन्मुखी स्तुति में आदर्श और विश्वमंगल विधायक निश्छल शील की उपासना है†।

सेनापति की भक्ति में विश्वास पूर्ण अनुभूति का अपार बल है। राम का कृपापात्र हो जाने का अपार विश्वास सेनापति के भीतर है। उसी विश्वास के साथ वह कलियुग को डाँटते हुए कहता है—"महाराज रामचन्द्र मुझे अच्छी तरह पहचानते हैं। लक्ष्मण कुमार से मेरा प्रेम है इसीलिए महारानी जानकी भी मुझे जानती हैं और लक्ष्मण कुमार के समान ही मुझे मानती हैं। 'बड़ी सरकार' के हृदय में मेरे लिए कृपा पूर्ण स्नेह को जान कर विभीषण और हनुमान भी अभिमान छोड़ कर मुझे सम्मान देते हैं। हे कलियुग! काल भी मुझे अपमानित नहीं कर सकता। तू अपना प्रभाव मुझ पर डालने के प्रयत्न कर रहा है। तेरे समान मूढ़ मति, कायर और गँवार कौन होगा। मैं निश्चित ही राजा रामचन्द्र जी के दरबार का जूता उठाने वाला सेवक हूँ। मुझ पर तेरा प्रभाव कैसे पड़ सकता है$।"

एक तरफ़ राम के लिए इतना विनम्र शरणागति का सेवाभाव और दूसरी तरफ़ मदान्ध बलवान कलियुग के लिए इतनी ओजभरी फटकार के लिए शक्तिपूर्ण साहस। भक्ति के भीतर पलने वाले दैन्य में यही पवित्र ओज रहता है। भक्त के हृदय में अनौचित्य के लिए पवित्र और शक्तिमान क्षोभ तथा आदर्शों के सम्मुख श्रद्धा से झुक जाने

---

‡ कवित्त रत्नाकर, पाँचवी तरंग, रामरसायन वर्णन, कवित्त ७। † वही, कवित्त १९। $ वही कवित्त २३।

वाला दैन्य—ये दोनों साथ-साथ ही रहते हैं। वह राक्षस के तामसी शील को भस्म करने वाली शक्ति और भगवान् के सात्त्विक शील के सामने दैन्य की विनम्रता से झुक जाने वाली भक्ति को अपने व्यक्तित्व में एक साथ ही विकसित करता रहता है। शक्ति और भक्ति के इस जोड़े में कार्य-कारण सम्बन्ध होता है। भक्ति के विकास के अनुपात के साथ भक्त के हृदय में भगवान् की सात्त्विक शक्ति भी बढ़ती जाती है।

सेनापति की उपरि निर्दिष्ट भक्ति की व्यंजना से यह स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि राम का सान्निध्य उन्हें प्राप्त हो गया था और राम लक्ष्मण तथा सीता के अनंत पवित्र शील की अनुभूति उन्होंने प्राप्त कर ली थी। राम-सिद्धि आखिर यही तो है। यदि भक्त शील की इस सिद्धि को प्राप्त करले तो उसने राम को प्राप्त कर लिया। यद्यपि धार्मिक साधना के भीतर सगुण साक्षात्कार का सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है तथापि यदि राम-के शील की सिद्धि भी साधक कर ले तो वह राम तुल्य हो जाता है। सेनापति जी ने राम लक्ष्मण तथा सीता की पवित्रता की सिद्धि प्राप्त कर ली थी; इसीलिए उन्हें त्रिमूर्ति का सान्निध्य अनुभूत हो रहा था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कर्मब्रह्म की पवित्रता की साधना सेनापति जी ने अपने जीवन के विकास-क्रम में पूरी कर ली थी। इस पवित्र जीवन का स्वाद उन्हें मिल चुका था। यदि इस पवित्रता का अनुभव करके इसका अनुवर्तन वे जीवन में न करते होते तो उनके शब्दों में इतनी शक्ति न पैदा होती। 'कवित्त रत्नाकर' के भीतर भक्तिपूर्ण शब्दों में जो शक्ति है वह सेनापति की रामभक्ति तथा उनके जीवन की राममय परिणति की स्पष्ट गवाही देती है।

राम की उपासना के साथ रामभक्तों की उपासना भी आवश्यक है। इसी तरह की उपासना से रामभक्ति पूर्ण होती है। यह सिद्धान्त स्वामी रामानन्द जी ने स्थिर किया था। इसकी चर्चा इसी ग्रंथ के प्रथम अध्याय में की गयी है। इसी के आधार पर गोस्वामी जी ने रामभक्त हनुमान इत्यादि की भी उपासना की है। 'हनुमान बाहुक' इसी उपासना का अंग है। वाल्मीकि के हनुमान् के शब्द 'जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः‡' भी राम के साथ रामभक्तों के ध्यान के महत्त्व को रामभक्ति की सिद्धि के पथ पर स्वीकार करते हैं। इसी परम्परा में सम्वत् १६९६ में, गोस्वामी जी के 'साकेतवास' के सोलह वर्ष बाद रायमल्ल पांडे ने हनुमच्चरित लिखा†। गोस्वामी जी के बाद और कई लोगों के रामायण ग्रंथ हैं पर रामचरित मानस के सर्वांगपूर्ण सौष्ठव के सामने उन्हें प्रसिद्धि न मिल सकी। स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'विक्रम की १९वीं और बीसवीं शताब्दी में अयोध्या के महन्त बाबा रामचरणदास, बाबा रघुनाथदास, रीवां के महाराज रघुराज सिंह आदि ने रामचरित सम्बन्धी विस्तृत रचनाएँ कीं जो सर्वप्रिय हुईं§।

---

‡ वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकांड, सर्ग ४२, श्लोक ३३। † आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १३९ संवत् २०१४ संस्करण। § वही, पृ० १३९।

बाबा रामचरणदास 'स्वसुखी' रामभक्ति शाखा के प्रवर्तक थे। आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल ने इस स्वसुखी शाखा के विषय में रामभक्ति के खोजी विद्वानों को सतर्क रहने का परामर्श दिया है। शुक्ल जी के अनुसार इस शाखा ने उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में कृष्णभक्ति के माधुर्य भाव से होड़ लगाने के लिए रामभक्ति को शृंगार प्रधान ऐसे साँचे में ढाल दिया कि वाल्मीकि के द्वारा प्रारम्भ की हुई आदर्शप्रधान रामोपासना के लिए यह शाखा कलंक सी दिखायी पड़ने लगी। इस शाखा ने राम को अपना पति मान कर उन्हें 'लालसाहब' की उपाधि दे डाली। सोलह शृंगार करके राम की पत्नी बन कर इस सम्प्रदाय के साधकों ने अपने को सीता की सपत्नी कहना प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि कबीर ने भी अपने को राम जी की बहुरिया कहा है तथापि वह केवल आध्यात्मिक प्रेम का मधुर संकेतमात्र है। इस स्वसुखी शाखा वालों ने तो कृष्णभक्ति के माधुर्यभाव को भी मात कर दिया। "रामचरण-दास जी ने अपने मत की पुष्टि के लिए अनेक नवीन कल्पित ग्रंथ, प्राचीन बता कर, अपनी शाखा में फैलाये, जैसे लोमश-संहिता, हनुमत्संहिता, अमररामायण, भुशुंडिरामायण, महारामायण (५ अध्याय) कोशलखंड, राम नवरत्न, महारासोत्सव सटीक (सं० १९०४, प्रिंटिंग प्रेस, लखनऊ में छपा ‡)।"

'कोशलखंड' में राम की रासलीला, विहार आदि के अनेक अश्लीलवृत्त कल्पित किये गये हैं और कहा गया है कि रासलीला तो वास्तव में राम ने की थी। रामावतार में ९९ रास वे कर चुके थे। एक ही शेष था, जिसके लिए उन्हें फिर कृष्ण रूप में अवतार लेना पड़ा †।"

इस शाखा के प्रति आचार्य शुक्ल जी ने बड़ा क्षोभ व्यक्त किया है और उनका क्षोभ कुछ अंश तक स्वाभाविक भी है।। उनके अनुसार राम के मर्यादित अवतार के भीतर गोपीकृष्ण के माधुर्यभाव की पवित्रता को विकृत करके जोड़ लेना और गड़बड़ झाला मचाना उचित नहीं प्रतीत होता। वाल्मीकि तथा उनसे भी प्राचीन युगों से चले आते हुए मर्यादा पुरुषोत्तम के स्वरूप को विकृत करने की अनधिकृत चेष्टा करना महापाप है। ऐसे साधकों ने गोपी-कृष्ण के माधुर्यभाव को भी ठीक नहीं समझा और अपनी नासमझी के कारण उन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम के जीवन को भी विकृत कर लिया।

आचार्य शुक्ल के अनुसार चिरान, छपरा के जीवाराम जी की 'तत्सुखी' शाखा ने पति-पत्नी भाव के स्थान पर 'सखीभाव' का रंग चढ़ा कर रामभक्ति के पवित्र रूप को और अधिक अश्लील और विकृत बना डाला। आचार्य शुक्ल जी के अनुसार, 'इस सखीभाव की उपासना का खूब प्रचार लक्ष्मण किला (अयोध्या) वाले युगलानन्य शरण ने किया $।' आचार्य शुक्ल ने यह सूचना, अपने साहित्य के इतिहास के द्वारा दी है कि रीवा नरेश रघुराज सिंह युगलानन्य शरण को बहुत मानते थे और इन्हींकी सम्मति से उन्होंने चित्रकूट में प्रमोदवन आदि कई स्थान बनवाये *'। इस तरह चित्रकूट वृन्दावन बन गया। परन्तु

‡ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास, पृष्ठ० १४१, संवत् २०१४ संस्करण। † वही।
$ वही। * वही।

यह हर्ष की बात है कि यह रहस्यात्मक प्रचार सीमित ही है। गोस्वामी जी के सूर्य के तेज के सामने यह अंधकार कभी भी घनीभूत नहीं हो सका; प्रत्युत यह सम्प्रदाय भी उससे आलोकित हो कर अधिकांशतः उज्ज्वल ही बना रहा। मर्यादित रामभक्ति शाखा की अतीत परम्परा जो रसिक सम्प्रदाय से प्राचीन प्रतीत होती है और प्रायः है भी, ऋग्वेद से आरम्भ हो कर रसिक सम्प्रदाय के आविर्भाव के पूर्व तक और अद्यतन काल तक भी अपने मर्यादित स्वभाव को बड़ी ही सफलतापूर्वक अक्षुण्ण बनाये रख सकी है। मर्यादोपासना की इतनी लंबी परम्परा के बाद माधुर्यभाव की रसिकोपासना राम के जीवन के आदर्शों के परिवर्तन का इतिहास निर्मित नहीं करती वरन् उस युग के कुछ साधकों के हृदयों की प्रवृत्ति का चित्र अवश्य प्रस्तुत करती है।

मर्यादा के आदर्शों से हटी हुई इस उपासना को देख कर क्षोभ व्यक्त करने की अपरिहार्य आवश्यकता नहीं है। मनुष्य के हृदय में जितनी वासनाएँ हैं उन सबको कालक्रम से वह परमात्मा को अर्पित करता चला आया है। कबीर ने परमात्मा के पतिरूप और मातारूप तथा पिता और बन्धुरूपों का ध्यान किया है। रसिक सम्प्रदाय के साधक राम की पत्नी बन कर उसी रूप में रहने लगे। कुछ साधक सीता की सखी बन कर राम की सेवा में लीन हो गये। आत्मनिवेदन के सच्चे भाव से उन्नीसवीं शताब्दी के रामोपासक कुछ साधकों ने राम की उपासना उसी भाव-साधना से आरंभ कर दी, जिस भाव-समाधि से कृष्णोपासक साधक आत्मविलोपन कर कृष्ण के माधुर्यभाव में विभोर हो गये थे। सर्वभाव की उपासना के भीतर पत्नीभाव या सखीभाव की उपासना भी स्थान पा सकती है।

अनासक्त परमात्मा किसी भाव से आसक्त नहीं होता; पर भक्त अपने हृदय का जो भाव उसे अर्पित करता है वह भाव वह अवश्य स्वीकार कर लेता है। "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥" 'जो जिस भाव को ले कर मेरे पास आते हैं उनके उसी भाव को मैं स्वीकार कर लेता हूँ। अपने हर कार्य से मनुष्य मेरे ही पथ का अनुसरण कर रहे हैं‡' गीता में भगवान् की यह उक्ति भक्त के सर्वभाव की उपासना का समर्थन करती है। अनेक प्रकार के मनुष्य अपने हृदय की प्रवृत्ति के अनुसार अनेक प्रकार से उपासना करते हैं और परमात्मा उन सब प्रकार के अर्पणों को स्वीकार कर लेता है। रसिक सम्प्रदाय की उपासना का भी यही रहस्य है। अपने हृदय के जिन-जिन भावों को ले कर संसार का मनुष्य स्वार्थ से जगत् की ओर प्रवृत्त होता है; उन्हीं भावों से परमात्मा की ओर निःस्वार्थ से प्रवृत्त हो कर वह शरणागत भक्त हो जाता है। भक्ति का यही रहस्य है। स्वार्थ मनुष्य की प्रवृत्तियों को वासनामयी और निःस्वार्थ उन्हें उपासनामयी बनाता रहता है। पहले से जीव संसारी रहता है और दूसरे से आध्यात्मिक सोपानों पर वह आरूढ़ होने लगता है। निःस्वार्थ सिद्धि जब उसे प्राप्त हो जाती है, तब वह अनंत प्रिय का दर्शन प्राप्त कर लेता है। भक्ति के क्षेत्र की मुक्ति का यही स्वरूप है।

---

‡ गीता, अध्याय ४, श्लोक ११।

कृष्ण भक्ति शाखा के आचार्यों ने नायिका आश्रय की दृष्टि से मधुरा रति के तीन भेद बताये हैं (१) · साधारणी—आत्मतर्पणैकतात्पर्या—जिसमें अपनी ही तृप्ति मुख्य है—जैसे कुब्जा का प्रेम। यह रति प्रेमावस्था तक जाती है। (२) समञ्जसा—उभयनिष्ठा रति—जिसमें अपना सुख और कृष्ण का सुख समान रूप से अपेक्षित है—जैसे रुक्मिणी की रति। यह अनुराग अवस्था तक जाती है। (३) समर्था—केवल कृष्णार्थ-जैसे गोपियों की रति। यह महाभाव अवस्था तक जाती है। रामभक्ति के रसिक सम्प्रदाय में इन्हीं को क्रम से (१) स्वसुखी (२) चित्सुखी और (३) तत्सुखी नाम से अभिहित किया गया है जो वस्तुतः और भावतः कृष्णभक्ति की उपर्युक्त रतियों से अभिन्न हैं ‡।

इन रतियों में और गीता के 'चतुर्विधाः भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ"—'हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी—ये चार प्रकार के सुकृती लोग मेरी उपासना करते हैं' में कुछ साम्य अवश्य है। भगवान् ने स्वसुखी आर्त और अर्थार्थी लोगों को भी ईश्वरोन्मुख होने के कारण सुकृती कहा है †।

रामभक्ति शाखा में जो सम्प्रदाय रसिक लोगों के लिए प्रचारित हो कर स्वसुखी, चित्सुखी और तत्सुखी नाम से अभिहित हुए उनके प्रवर्तक साधक सच्चे महात्मा थे और उन्होंने अपने हृदय के मधुर भावों को भगवान् को अर्पित किया था तथा साधारण प्रेमी जीवों के लिए भी उन्होंने उपासना का सहज रूप प्रदर्शित किया था।

समग्र उपासनाएँ अपने मौलिक रूप में अनंतगामिनी होती हैं। उनके प्रवर्तक साधक महान् होते हैं। वे चराचर के अन्तःस्थ भावों में परमात्मा के अस्तित्व का दर्शन करते रहते हैं। उपासना के क्षेत्र में घोर स्वार्थी लोगों के कारण अन्धकार का युग आता है। ऐसा युग मर्यादित या रसिक दोनों उपासना-क्षेत्रों में आ सकता है और आता है।

रसिक सम्प्रदाय के साधकों ने मर्यादा और अनासक्ति को ध्यान से ओझल नहीं होने दिया है। शृंगार रस के महाभावत्व की महिमा को प्रस्तुत करने वाली स्वामी अग्रदास की अग्रतः प्रस्तुतः कुंडलिया उपर्युक्त दृष्टि से मननीय है :—

रस शृंगार अनूप है तुलवे को कोउ नाहिं।
तुलवे को कोउ नाहिं सोई अधिकारी जग में॥
कंचन कामिनी देखि हलाहल जानत तन में।
जावत जग के भोग रोग सम त्यागेउ द्वन्दा।
पिय-प्यारी रससिंधु मगन नित रहत अनंदा॥
नहिं अग्र सम संत के सर लायक जग माहिं।
रस शृंगार अनूप है तुलवे को कोउ नाहिं॥

सीता और राम की रति जगद्रक्षिका है। उस रति की आत्मविलोपिका पवित्रता जगत् भर की रक्षा करती है। इसी पवित्र महाभाव के 'पिय-प्यारी-रस-सिंधु' में आनंद

---

‡ भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' लिखित 'राम-भक्ति-साहित्य में मधुर उपासना', पृष्ठ ३०।
† गीता, अध्याय ७, श्लोक १६।

से मग्न हो कर रसिक संप्रदाय के संतों ने कंचन और कामिनी को हलाहल की तरह अनुभव किया था तथा जगत् के द्वन्द्वात्मक भोगों को रोग के समान अनुभव करके त्याग दिया था। ऐसे अनासक्त हृदय जो विश्वरक्षा-विधान में अपने को खो कर सीता-राम के महाभाव की उपासना कर रहे थे, वन्दनीय हैं। यह मर्यादित मधुर भाव गोस्वामी जी की उपासना में भी स्थान पा सका था। पर अपने सब अंगों और उपांगों को ले कर जब सीता-रामोपासना उन्नीसवीं शताब्दी में राधा-कृष्णोपासना के रूप में परिणत हो गयी, तब मर्यादा प्रेमी स्वर्गीय आचार्य शुक्ल का सात्विक क्षोभ भी उसके प्रति स्वाभाविक ही प्रतीत होता है।

रीति काल के शृंगारी कहलाने वाले आचार्यों ने भी शृंगार के लक्षण-लक्ष्य प्रस्तुत करने के लिए राधा-कृष्ण की रति के चित्रों का उपयोग किया। सीता-राम के जीवन के मर्यादित रूप को उन्होंने धक्का नहीं देना चाहा; पर उसी युग के भक्तों के कुछ सम्प्रदायों को सीता-राम को राधा-कृष्ण का रूप देते हुए देख कर आचार्य शुक्ल के आलोचक की विवेचनात्मिका लेखनी उग्र हो उठी। समाज की मर्यादाओं के भंग हो जाने की संभावना से रसिक सम्प्रदाय की रामभक्ति शाखा के साधकों के प्रति आचार्य शुक्ल का क्षोभ उद्दीप्त हो उठा था; पर जैसा कि ऊपर बताया गया है हृदय के सब भावों को ईश्वरोन्मुख कर लेना ही मनुष्य का पूर्ण विकास है। जीव का अनंत विकास ईश्वरोन्मुख हो जाने पर ही होता है। इसी सत्य को अर्जुन को समझाते हुए भगवान् ने कहा था—"तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतं"—'अपने हृदय के सब भावों को ले कर ईश्वर की शरण में चले जाओ। उसी की कृपा से तुम्हें पराशान्ति, उच्चतम सन्तोष और शाश्वत स्थान प्राप्त होगा‡।' यह शाश्वत स्थान ही मनुष्य का अनन्त विकास है। अनन्त आदर्शों की उसकी उपलब्धि ही यह शाश्वत स्थान है। मनुष्य के हृदय की शृंगार-भावना को भगवान् को अर्पित कराके उसके शृंगार को विश्व-प्रेम और विश्व वेदना के रूप में परिवर्तित कर लेने का रामभक्ति शाखा के रसिक संप्रदाय का उपक्रम स्तुत्य है और वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक अध्ययन के लिए इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त उपयुक्त हैं। राधाकृष्ण की उपासना ने भी समाज को ऊर्ध्वमुखी प्रेरणा दी है और रामभक्ति के रसिक सम्प्रदाय ने भी। उपासना के विभिन्न पथों से विभिन्न प्रकृति के साधकों के लिए ऊर्ध्वगामिनी प्रवृत्ति प्राप्त होती है। पतित होने वाला हृदय तो मर्यादा के दृश्य सामने रहते हुए भी पतित होगा। उसकी रक्षा परमात्मा भी नहीं कर सकता।

संस्कृत तथा हिन्दी में भी रसिकोपासना का साहित्य प्रचुर मात्रा में मिलता है। प्रथम अध्याय में रामभक्ति के संस्कृत ग्रंथों की चर्चा है। यहाँ भी कुछ अवशेष दिया जा रहा है।

(१) श्री विश्वंभरोपनिपद् अथर्ववेदीय है। इसमें शाण्डिल्य मुनि और महाशंभु के प्रश्नोत्तर में रामभक्ति के रहस्य समझाये गये हैं। इसमें सगुण-निर्गुण राम अयोध्या में रासलीला करने वाले माने गये हैं†।

---

‡ गीता, अध्याय १८, श्लोक ६२। † विश्वंभरोपनिपद् ५।

(२) श्री राम रहस्योपनिषद् में साकेत पुरी से अनंत वैकुण्ठों के उद्गम का रहस्य निर्दिष्ट किया गया है‡।

(३) श्री हनुमत्संहिता में हनुमान अगस्त्य संवाद के द्वारा भगवान् राम की रास-लीला, जलविहार, सीता के शरीर से अट्ठारह हज़ार एक सौ आठ सखियों की सृष्टि तथा रस प्रकरण का वर्णन है। इसमें कुल साठ श्लोक हैं।

(४) श्री शिवसंहिता बीस अध्यायों का विशाल ग्रंथ है। इसमें शिव-पार्वती-संवाद तथा अगस्त्य-हनुमान संवादों के द्वारा साधु-समागम की महिमा, श्रीराम के अनेक गुणों और विभूतियों का वर्णन, ध्यान, वन-दर्शन, वन-केलि का वर्णन तथा रास-विलास की वही भव्यता वर्णित है जो कृष्ण की रासलीला में मिलती है। उससे सम्पूर्ण चराचर मुग्ध हो गया है। इसमें 'मान', 'मनुहार' तथा प्रेम-प्रसंग के वर्णनों में सीता राम के शृंगार के अनुपम चित्र हैं। इस ग्रंथ के अनुसार 'अन्तर्दृष्टि के खुल जाने पर सारा ब्रह्माण्ड ही अयोध्या-सा प्रतीत होने लगता है और वहाँ अशोक वन में रस-स्थान में नित्य लीला विहार में मग्न श्री सीता-राम के दर्शन होते हैं†।' यह सगुण रसिकोपासना की अनंत-निर्गुणोपासना की झाँकी है।

(५) श्री लोमशसंहिता केवल पंद्रहवें से बाइसवें अध्याय तक प्राप्त है। इसमें पिप्पलाद-लोमश संवाद के द्वारा 'कोटिकंदर्पलावण्य रसमूर्ति भगवान् श्रीराम का सीता जी के साथ और सीता जी की अनेक सखियों के साथ नानाविध रासविलास का वर्णन है। यूथेश्वरियों में चन्द्रकला, विमला, सुभगा, मदनकला, चारुशीला, हेमा, क्षेमा, पद्मगंधा, लक्ष्मणा, श्यामला, हंसी, सुगमा, वंशध्वजा, चित्ररेखा, तेजोरूपा और इन्दिरावली जी, ये सोलह मुख्य यूथेश्वरी सखियाँ हैं। इनमें चंद्रकला की प्रमुखता है$।' अन्त में युगल-मिलन महोत्सव का वर्णन है। 'इस संहिता के अंतिम भाग में ऋषि ने बार-बार मना किया है कि जो लोग रुक्षज्ञानी हैं, शुष्क हृदय हैं, महामूढ़ता वश कुतर्क करने वाले और रस खंडन करने वाले हैं, निन्दक हैं, रस की कथा में लौकिक विषय-वासना की दुर्गन्ध लाते हैं, ऐसे पुण्य हीनों को रास्य-रहस्य की यह कथा और चरित्र कभी नहीं सुनाना चाहिए*।' वे लोग धन्य हैं जिनके हृदयों ने सांसारिक रस को छोड़ कर आध्यात्मिक रस की अभिव्यक्ति में अपने को खो दिया। अपना शृंगार भूल कर भगवान् के शृंगार में मग्न हो गये।

(६) वृहद् ब्रह्म संहिता में दस अध्याय हैं। वैष्णव मधुर-साधन का यह आधार-ग्रंथ राधाकृष्ण और सीताराम की युगल उपासना का पक्षपाती है§।

(७) श्री अगस्त्य संहिता में तेंतीस अध्याय और पत्रात्मक एक सौ एकतीस पृष्ठ हैं। यह श्री वैष्णवों का परमादरणीय ग्रंथ है। इसमें अगस्त्य-सुतीक्ष्ण संवाद के द्वारा

---

‡ सत्यनाम प्रेस, मैदागिन, काशी से संवत् १९८२ में मुद्रित। † श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' लिखित रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना पृष्ठ १४८। $ वही। * वही।
§ वृहद् ब्रह्मसंहिता, अध्याय ७, श्लोक ५९।

वर्णाश्रम धर्म का वणन तथा राममंत्र के उपासनात्मक रहस्यों का उल्लेख है। इसके बाद इक्कीसवें अध्याय तक ब्रह्मविद्या का निरूपण है। तदनन्तर उपासना-विधियाँ हैं। इस ग्रंथ में सर्वत्र सीताराम की आलिंगित युगलमूर्ति का ध्यान है। "अन्योन्याश्लिष्टहृद् बाहुनेत्रं पश्यन्तमादरात्" के समान आश्लेष युक्त मूर्ति का ध्यान इस ग्रंथ में "सर्व संपत्करविधायक" माना गया है ‡।

(८) श्री वाल्मीकि संहिता में कुल पाँच अध्याय हैं †। यह रामानंदी वैष्णवों का मान्य ग्रंथ है। इसमें भी साम्प्रदायिक उपासना पद्धतियों का बृहस्पति के द्वारा सब मुनियों को उपदेश दिया गया है। इसमें राम ने हनुमान से कहा है कि मेरे भक्त ऊर्ध्व पुण्ड्र में श्री नहीं धारण करते और सीता के भक्त बीच में बिन्दु श्री लगाते हैं §।

(९) शुक संहिता में राम, पुरुषोत्तम और सनातन ब्रह्म दोनों हैं। इस ग्रंथ के अनुसार राधा-कृष्ण उनके शरीर से प्रकट हो कर पुनः उसी में विलीन हो जाते हैं। चित्रकूट ही में भगवान् रामचन्द्र ने सीता को वृन्दावन, यमुना, गोवर्धन, विभिन्न वनोपवन एवं विहार स्थलों को प्रकट करके राधा-कृष्ण की नित्य रासलीला का दर्शन कराया और पुनः यह दृश्य भगवान् राम के शरीर में प्रविष्ट हो गया तथा कृष्ण राम में और राधा सीता में अंतर्हित हो गयीं। इस ग्रंथ के अनुसार चित्रकूट में नित्य सीताराम का रास-विलास होता रहता है। इस रास में करोड़ों ब्रह्मा, विष्णु और शिव अपनी शक्तियों के साथ गोपी रूप में रूपान्तरित हो कर सम्मिलित होते हैं। साठ हज़ार दंडकारण्य वासी ऋषि, काल और श्रुतियाँ सब गोपी रूप धारण करके नृत्य करते हैं। सीता की अभिलाषा-पूर्ति के लिए दिव्य चित्रकूट की रचना हुई। सीता की इच्छा पूर्ति के लिए ही विश्वनिर्माता राम ने साकेत लोक के अंश से दिव्य गोलोक की सृष्टि की। सरयू से यमुना, मणिपर्वत से गोवर्धन, कल्पवृक्ष से वंशीवट, दशरथ से नन्द, कौसल्या से यशोदा, लीला के सब सहायक गोप, जानकी से राधा, अशोकवन की देवी से वृन्दा तथा रामचन्द्र कृष्ण हो कर रासलीला करते हैं। इस ग्रंथ के अनुसार सीताराम राधाकृष्णमय और राधाकृष्ण सीताराममय हैं और उनकी अनंत रासलीला नित्य, अखंड और अनंत आकर्षणमय है। सीताराम का यह अनंत मधुरभाव ही अनंत विश्व की सृष्टि और स्थिति का कारण है। प्रलयावस्था में भी यह अव्यक्त रासलीला अखंड चलती रहती है। इस प्रकार शुकसंहिता भी रामभक्ति में अनंत के मधुर शृंगार की अवतारणा करती है।

(१०) श्री वसिष्ठसंहिता में दिव्य अयोध्या का वर्णन है। इस ग्रंथ के अनुसार वैकुंठ सबके ऊपर है। उसके ऊपर गोलोक और गोलोक के मध्य में साकेत लोक है। साकेत लोक के पूर्व में मिथिला, दक्षिण में चित्रकूट, पश्चिम में वृन्दावन और उत्तर में महावैकुंठ में चौबीस अवतारों के कारण, रामचरित के मुख्याचार्य सृष्टिकर्ता श्रीमन्नारायण अपने पार्षदों के साथ रहते हैं। इस संहिता के अनुसार सप्त आवरणों से वेष्टित साकेतलोक में

---

‡ अगस्त्यसंहिता, अध्याय २२। † आदर्श प्रिंटिंग प्रेस, अहमदाबाद (गुजरात) में वि. संवत् १९७८ में छपी। § वाल्मीकिसंहिता, अध्याय ४, श्लोक २३।

शृंगारवन, विहारवन, तमालवन, रसालवन, चम्पकवन, चन्दनवन, पारिजातवन, अशोकवन, विचित्रवन, कदंबवन, कामवन तथा नागकेसर वन—ये बारह वन हैं। उसी में चारों दिशाओं में शृंगार पर्वत, मणिपर्वत, लीलापर्वत तथा मुक्ता पर्वत चार शक्तियों से अधिष्ठित हैं।

वसिष्ठसंहिता के अनुसार, प्रमोदवन इत्यादि दिव्य सृष्टियों तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश इत्यादि के आदिकारण परात्पर ब्रह्म रामचन्द्र सीता के साथ इस वन में नित्य विहार करते हैं।

(११) सदाशिवसंहिता नाममहिमा का प्रतिपादन करने वाला ग्रंथ है‡।

(१२) श्री महासंभुसंहिता भी राममंत्र के प्रभाव-विस्तार का विवेचन करती है†।

(१३) हिरण्यगर्भ संहिता§। (१४) महा सदाशिव संहिता * तथा (१५) ब्रह्मसंहिता§ :—तेरहवें में राम का अद्वैत चिंतन, चौदहवें में सीताराम मंत्र, महान् गुरु हनुमान् तथा सीताराम के प्रति मुक्तिदायक सख्यभाव और पन्द्रहवें में राम के पूर्णावतार का महत्त्व वर्णित है।

(१६), (१७), (१८), (१९) :—"पुराणसंहिता, आलमंदार संहिता, बृहत्सदाशिव संहिता तथा सनत्कुमार संहिता श्री राधाकृष्ण की लीलाओं के सम्बन्ध में होते हुए भी श्री सीताराम की मधुर उपासना को हृदयंगम करने के लिए परम उपयोगी हैं×।"

(२०) रामस्तवराज सनत्कुमार संहिता का एक अंश है। इस महिमामय स्तोत्र में निन्नानवे श्लोक हैं। इस स्तोत्र का हरिदास कृत भाष्य वैष्णव साधना के प्रमुख आधार-ग्रंथों में माना जाता है। रसिक-सम्प्रदाय की उपासना का भी यह आधार ग्रंथ है। इसमें सगुण-निर्गुण राम की उपासना है। इस स्तोत्र के तिरपनवें श्लोक में राम को "प्रेमदा मनोहर-गुणग्राम"—'युवतियों के मन को हर लेने वाले गुणों का समूह' कह कर नमस्कार किया गया है। इसकी टीका में हरिदास जी ने लिखा है—"पुंसामपि स्त्रीभावेन श्रीरामभजनमुपपद्यते किमुत स्त्रीणाम्? न रामरूपादीनां केवलं स्त्रीपुरुषाणामेव दृष्टिचित्तापहारकत्वमुपपद्यते, किन्तु स्थावरजंगमात्मकस्य सर्वजगतोऽपि"—'यह निश्चित है कि पुरुष भी सुन्दर राम की उपासना स्त्रीभाव से करने लगता है, फिर स्त्रियों का तो कुछ कहना ही नहीं। राम का सर्वतोमुख सौन्दर्य केवल स्त्रीपुरुषों की ही दृष्टि और चित्त को आकर्षित नहीं करता वरन् उससे संपूर्ण स्थावरजंगम जगत् आकृष्ट हो जाता है। रामस्तवराज के राम अनंत सौन्दर्य के केन्द्र, सर्वात्मा, सर्वगत, निरंजन, निरीह, निरामय, नित्य, ध्रुव, निर्विषय, भानुकुलप्रदीप, भवरोगवैद्य, सर्वाधिप, समरांगधीर, सत्य, चिदानन्दमय, शिव, शान्तिमय, शरण्य तथा सनातन ब्रह्म हैं। वे कुत्सित वासनाओं को नष्ट करने वाले "कुमारवैद्य हैं+"।

---

‡ स्वामी रामचरणदास 'करुणासिंधु' का 'रामनवरत्न सार संग्रह' द्रष्टव्य। † वही, गोकुल प्रेस, अयोध्या, सं० १९८५, संस्करण, पृष्ठ ११। § वही, पृष्ठ ४१। * वही, पृष्ठ ५७ से ५९ तक। § वही, पृष्ठ २६। × श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' लिखित 'रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना' पृष्ठ १५७। + रामस्तव राज, श्लोक ५४ से ५८ तक।

वे नारायण, निर्मल, आदिदेव, जगदेकनाथ, आदित्यवर्ण, विश्वस्रष्टा, राजेंद्र, ईश, रघुवंश-नाथ, अचिन्त्य, अव्यक्त अनंतमूर्ति, ज्योतिर्मय, अशेपसंसारविहारहीन, परिपूर्णकाम, कलानिधि, कलुषनाशक तथा परमपवित्र परात्पर ब्रह्म हैं‡। इसी विश्वरूप राम की प्रार्थना रामस्तवराज में की गयी है। रसिक संप्रदाय के अर्वाचीन विकास की दृष्टि से हरिदास का भाष्य अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(२१) श्री जानकी स्तवराज अगस्त्यसंहिता में उन्हत्तर श्लोकों का जानकी स्तोत्र है। विश्वरूप रामकी शोभा के सर्वथा अनुकूल सौन्दर्य का चित्रण इस स्तोत्र में है तथा राम-भक्ति की सिद्धि के लिए सीता के चरणों की सेवा इसमें आवश्यक मानी गयी है।

(२२) श्री जानकी गीत के प्रणेता गालवाश्रम, गलता के पीठाधीश्वर श्री हर्याचार्य हैं। वह ग्रंथ रसिकसंप्रदाय का गीतगोविन्द है। इसमें छह सर्गों में क्रम से वसन्तवर्णन, सीता का प्रणय-कलह, राम के द्वारा कोप-शान्ति के लिए उपायों का चिन्तन, चन्द्रकला की सहायता से कोप शान्ति, जलक्रीडा तथा रासलीला का भव्य और मधुर वर्णन है†।

(२३) प्रमुख आलवार सन्त शठकोप मुनि की ग्यारह सौ तेरह आर्याओं वाली सहस्र गीति में भी लक्ष्मी नारायण की भक्ति की आर्याओं में एक-दो आर्याएँ सीताराम की मधुर भक्ति की भी हैं§।

(२४) गलता गद्दी के स्वामी मधुराचार्य ने वाल्मीकीय रामायण की शृंगारात्मिका व्याख्या की है। मधुराचार्य ने सती स्त्री के पवित्रभाव को ही रामोपासना के उपयुक्त माना है। संसार-बीज को जीर्ण करने वाले भगवान् राम को उन्होंने 'जार' माना है। उपासकों का पालन करने वाला राम ही उनके अनुसार 'उपपति' है। मधुराचार्य नें वाल्मीकीय रामायण को रसिक सम्प्रदाय का आधार ग्रंथ माना है।

(२५) आनंदरामायण रसिक सम्प्रदाय का एक प्रमुख ग्रंथ है। बारह हज़ार दो सौ बावन श्लोकों और नौ कांडों का यह ग्रंथ पन्द्रहवीं शताब्दी का माना जाता है। सारकाण्ड, यात्राकांड, यागकांड, विलासकांड, जन्मकांड, विवाहकांड, राज्यकांड, मनोहरकांड तथा पूर्णकांड, आनंदरामायण के नौ कांड हैं। प्रथम में रामजन्म से सीताहरण तक, दूसरे में राम की तीर्थयात्रा, तीसरे में रामाश्वमेध, चौथे में विलास, पाँचवें में लव-कुश का जन्म तथा राम की सेना से युद्ध, छठवें में आठ पुत्रों का विवाह, सातवें में विजय यात्राएँ हैं तथा सोलह हज़ार एक सौ आठ स्त्रियों को कृष्णावतार में पत्नीभाव का वरदान है। रसकांड के इक्कीसवें सर्ग में राम का ताम्बूल-रस उनकी एक दासी पी जाती है और उसे राधा होने का वरदान मिलता है। आठवें में रामोपासना विधि है तथा पूर्णकांड में कुश का अभिषेक और रामादि का स्वर्गारोहण है।

---

‡ रामस्तव राज, श्लोक ६४ से ६७ तक। † रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना पृष्ठ १६१। § सहस्रगीति श्लोक २ श्लोक ३ और १०—गलता कुंज, प्रयाग-घाट मथुरा द्वारा प्रकाशित।

आनंदरामायण में एक पत्नीव्रती राम ही चित्रित हुए हैं। अतः विलासकांड में देवपत्नियों को गोपीरूप में अवतीर्ण होने का तथा गुणवती और पिंगला को क्रमशः सत्यभामा और कुब्जा होने का वरदान मिलता है। इस रामायण में भी राम के भीतर अनंत आकर्षण वाले सौन्दर्य का तथा उनके असीम वशित्व का चित्रण किया गया है।

(२६) श्री रामदास गौड़ ने अपने 'हिन्दुत्व' नामक ग्रन्थ में तीन लाख पचास हज़ार श्लोक वाले महारामायण की सूचना दी है। इसकी एक खंडित प्रति पाँच सर्गों और दो सौ बहत्तर श्लोकों वाली प्राप्त है‡। इसमें राम के चरणचिह्न, रामभक्ति की प्राप्ति के उपाय, रामभक्तों के लक्षण, धनुष्बाण धारण की विधि, परात्परतम ब्रह्मराम, एकमात्र सखीभाव से उपासना की संभावना, सीता की आह्लादिनी इत्यादि तैंतीस शक्तियाँ तथा उनमें से प्रत्येक की एक-एक सहस्र उपशक्तियाँ वर्णित हैं। इसमें भी राम की रासलीला का वर्णन है। 'हिन्दुत्व' में 'महारामायण' की निन्नानवे रासलीलाओं की चर्चा है।

(२७) आदिरामायण† में राम की सखियों इत्यादि का वर्णन है। कामिल बुल्के के अनुसार इंडिया ऑफ़िस में प्राप्त 'चित्रकूट माहात्म्य' इसी का अंश है$। इस माहात्म्य में चित्रकूट के सांतानक वन के एक सरोवर का वर्णन है जिसके मध्य में बने हुए मंडप में वेदिका पर राम, सीता तथा उनकी सखियों की शाश्वत रासलीला की चर्चा है।

(२८) छत्तीस हज़ार श्लोकों में वसिष्ठ-अरुन्धती संवादात्मक 'रामायण मणिरत्न' की चर्चा भी रामदास गौड़ के 'हिन्दुत्व' में है। इसके विषय, मिथिला तथा अयोध्या में राम के वसन्तोत्सव हैं।

(२९) 'हिन्दुत्व' के अनुसार मैन्द-कौरव संवादात्मक 'मैन्दरामायण' में बावन हज़ार श्लोक हैं। इसका मुख्य विषय जनकपुर की वाटिका में सीता राम का लीला-विलास है।

(३०) 'हिन्दुत्व' ने सुतीक्ष्ण के 'मंजुलरामायण' में राम के द्वारा शबरी को दिये गये नवधा भक्ति, रागमयी प्रीति तथा पराभक्ति के उपदेश का उल्लेख किया है। संवृत-रामायण, लोमशरामायण, अगस्त्यरामायण, रामायण महामाला, सौहार्द रामायण, सौर्य-रामायण, चान्द्ररामायण, स्वायंभुव रामायण, सुब्रह्मण्य रामायण, सुवर्चस रामायण, देव रामायण, श्रपण रामायण, दुरंत रामायण तथा चंपूरामायण की चर्चा भी 'हिन्दुत्व' में है।

(३१) छत्तीस हज़ार श्लोकों वाला भुशुंडिरामायण भी रसिकसम्प्रदाय का प्रमुख ग्रंथ है*। इसमें भी राधा को जानकी का अंश और कृष्ण को राम का अंश माना गया है।

(३२) महाकवि हनुमान का महानाटक या हनुमन्नाटक रसिक संप्रदाय का प्रिय ग्रंथ है§। इसके द्वितीय अंक में राम-जानकी विलास के बड़े भव्य तथा रसिक चित्र हैं×।

---

‡ जानकीजीवनदास कृत भाषातिलक के साथ अयोध्या से वि० सं० १९८५ में प्रकाशित।
† हस्तलिखित प्रति मणिपर्वत, अयोध्या में है। $ रामकथा, पृष्ठ १७१, अनुच्छेद १९०।
* हस्तलिखित प्रति श्रावणकुंज, अयोध्या में प्राप्त। § गिरीश प्रिंटिंग वर्क्स, कलकत्ता, सन् १९३९ तथा वैभव-मुद्रण-यंत्रालय, बंबई, संस्करण १९८१। × हनुमन्नाटक, अंक २, श्लोक ४५ से ५२ तक।

इसमें मानव मनोविज्ञान के नग्न काम-चित्र अंकित हुए हैं और यह बात व्यक्त की गयी है कि जो विलास राम ने सीता के साथ किया वह त्रिभुवन में त्रिकाल में भी संभव नहीं‡।

(३३) जयदेव का सात अंकों वाला प्रसन्नराघव नाटक बारहवीं या तेरहवीं शताब्दी का माना जाता है। इसके भी दूसरे अंक में जनकपुर की वाटिका में सीताराम के प्रथम दर्शन तथा शृंगारसिक्त आकर्षण के रमणीय चित्र हैं। भवभूति के 'उत्तररामचरित' तथा 'महावीरचरित' नाटकों के सीता-राम के मधुर शृंगार इस बात को स्पष्टतः परिलक्षित करते हैं कि मधुरोपासना का इतिहास आठवीं शताब्दी से आरंभ किया जा सकता है। यों तो ईसा पूर्व के वाल्मीकीय रामायण के युग से भी यह इतिहास आरंभ किया जा सकता है।

(३४) तेरहवीं शताब्दी के जैन कवि हस्तिवल्लभ का 'मैथिलीकल्याण' नाटक भी राम-सीता के रसमय शृंगार की सुन्दर झाँकियाँ प्रस्तुत करता है।

(३५) चौदहवीं शताब्दी के साकल्यमल्ल के 'उदारराघव' महाकाव्य में सीताराम के वन-विलास में मधुरशृंगार की आकर्षक शोभा के भव्य चित्र अंकित हैं। इसके अठारह सर्गों में से नौ सर्ग ही उपलब्ध हैं।

(३६) कुमारदास के जानकीहरण में राम-सीता के संभोग शृंगार के सुन्दर चित्र अंकित किये गये हैं।

(३७) सत्योपाख्यान में राम विष्णु के लक्ष्मण शेष के भरत सुदर्शन के तथा शत्रुघ्न शंख के अवतार हैं। इसमें भी राम-सीता के जलविहार, वनविहार, सीता की मानलीला तथा होलिकोत्सव इत्यादि के सरस सुन्दर वर्णन हैं। इस ग्रंथ में लीला चिन्तन से पापनाश और विमलभक्ति की प्राप्ति का परिणाम निर्दिष्ट है।

(३८) वृहद् कोशलखंड राम-जानकी के विलास को अंकित करने वाला व्यास-रचित, सूत-शौनक-संवादात्मक अपूर्व ग्रंथ है। इसकी 'रसवर्धिनी' टीका पंडित रामवल्लभाशरण ने लिखी है। इसे केवल अंतरंग प्रचार के लिए लाहौर के सेठ रोशनलाल अग्रवाल और रामप्रियाशरण ने प्रकाशित कराया है। अवांछित प्रभाव ग्रहण करने वाले सर्वसाधारण लोगों में इसका प्रचार नहीं किया जाता। इस ग्रंथ में सूत ने शौनक को राम-जानकी (प्रिया-प्रीतम) की लीला का भेद समझाया है। इसमें युगल ध्यान, जल-विहार, मृगया-विहार, सखाओं के रस-विहार, देवकन्याओं, गोपकन्याओं, नाग कन्याओं, गंधर्वकन्याओं तथा राजकन्याओं के साथ भगवान् के रास-विहार तथा विवाह के बाद देवकन्याओं, गंधर्व-कन्याओं, किन्नर कन्याओं, विद्याधर कन्याओं, सिद्धकुमारियों, राजकुमारियों, साध्यकुमारियों, गुह्यक कन्याओं, यक्षकुमारियों तथा नागकुमारियों के साथ राम की रासलीलाओं के बड़े अनुपम तथा रम्य चित्र इस ग्रंथ में अंकित किये गये हैं। रसिकोपासक इस ग्रंथ को "वेदवत् पूज्य एवं परम गुह्य मानते हैं। श्री हनुमत् निवास के सतत प्रिया-प्रीतम की अष्टयाम

‡ हनुमन्नाटक, अंक २, श्लोक ६०।

सेवा में परायण, अनन्योपासक, मधुररस के परमरसिक एवं रसज्ञ मर्मज्ञ महात्मा रामकिशोर शरण जी महाराज की कृपा से यह दुर्लभ ग्रंथ उपलब्ध हुआ है ‡।"

(३९) मधुराचार्य द्वारा रचित 'माधुर्य केलि कादम्बिनी' का सार्थक नाम ही रसिक सम्प्रदाय का सम्मान प्राप्त करने के लिए पर्याप्त है। 'शिवसंहिता' की 'रसबोधिनी' टीका में पं० रामवल्लभ शरण ने इसके कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं। उनका छायानुवाद इस तरह है:—'परमहंस यतीन्द्रमुख्य ऋषिलोग विमोहवश राम को देख कर जब नारी हो गये, जब वे राक्षस लोग मुग्ध हो गये तब उस रसराजमूर्ति को देख लेने पर साधारण पुरुष और स्त्रियों की क्या बात। उनका मुग्ध होना तो स्वाभाविक ही है। कोटि कन्दर्प के समान कान्ति वाले मेघश्याम राम जब वृक्षों और पक्षियों को देखते हैं तो वे सब भी प्रेमविभोर हो जाते हैं। एक बार सुवर्ण की कान्ति के सामन चमकने वाली शिला पर अपने अद्भुत और सुरम्य रूप को देख कर राम भी मुग्ध हो गयं और सीता के समान उनके हृदय में भी उस रूप का आलिंगन कर लेने की इच्छा जाग पड़ी और वे सोचने लगे कि जो परम मनोहर रूप मुझे भी मोह लेता है वह कितना विस्मयकारक है। मुझे तो ऐसा लगता है कि प्रिया का भाग्य ही अप्रतिम गौरवशाली है, क्योंकि उसे इस रूप का दुर्लभ और दृढ आलिंगन प्राप्त होता है। लतिकाओं के समान जड वस्तुओं को मोह लेने वाले अपने मनोज सुन्दर आकर्षक रूप को देख कर जब स्वयं रघुनंदन ही मुग्ध हो गये, तब उन प्रमदाओं की क्या बात जिनके हृदय में मन्मथ का निवास स्वभावतः ही रहता है।' इस तरह 'माधुर्य केलि कादम्बिनी' रसिक सम्प्रदाय का रसानुभूति मय ग्रंथ है। अब तक यह ग्रंथ अपने अविकल रूप में प्राप्त नहीं है।

(४०) रामलिगामृत की रचना सोलह सौ आठ ईस्वी में काशी के अद्वैत नामक कवि ने की थी। इसकी हस्तलिपि इंडिया ऑफ़िस पुस्तकालय, लंदन में है†। तुलसी के युग के इस कवि ने मानस की कथा के प्रायः अनुसार ही इस ग्रंथ की रचना की थी। इस ग्रंथ के अट्ठारह सर्गों में रस-तत्त्व, घटना-तत्त्व अध्यात्म तत्त्व और समन्वय तत्त्व का सुन्दर सन्निवेश है।

(४१) श्री सुन्दरमणि संदर्भ के प्रणेता मधुराचार्य जी थे। रामावत रसिक सम्प्रदाय का यह हृदय-रूप सिद्धान्त ग्रंथ है। मधुराचार्य, परमहंस रामचरण तथा स्वामी युगलानन्द शरण इस सम्प्रदाय के रससिद्ध रसिक और आचार्य दोनों थे। इन्होंने सम्प्रदाय को सिद्धान्त-पुष्ट करके प्रमाण-सिद्ध कोटि में पहुँचा दिया। मधुराचार्य जी ने सम्प्रदाय को प्रमाणपुष्ट करने के लिए छह विशाल संदर्भ ग्रंथों की रचना की थी। उनमें से 'सुन्दरमणि संदर्भ' संपूर्ण तथा 'वैदिकमणि संदर्भ' कुछ अंश प्राप्त है। शेष अब तक प्राप्त नहीं हो सके हैं। 'सुन्दरमणि संदर्भ' एक तरह से वाल्मीकीय रामायण का श्रृंगारमय भाष्य है। इस ग्रंथ का मंगलाचरण छायानुवाद के रूप में इस तरह है—

'अयोध्या के मध्य में, प्रमोदशुभ्र वन में उदय होते हुए सूर्य के समान कान्ति वाले रत्नों के समूहों से चमकने वाले दिव्य महामण्डप के नीचे अपार आनंद के वातावरण में

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ १७१। † इंडिया ऑफ़िस सूची, संख्या ३९२०।

अति दिव्य और कोमल रमणीय आकृति वाली वनिताओं के समूहों से नित्य सेवित तथा रासोल्लास के सुख से प्रफुल्लित सीता के साथ विहार करने वाले राम की मैं वन्दना करता हूँ' । यह मंगलाचरण ही 'सुन्दरमणि संदर्भ' के मधुरभाव के प्रकाशकेन्द्र की तरह है ।

'सुन्दर मणि संदर्भ' में मधुराचार्य जी ने राम में 'परत्व' और 'सौलभ्य' गुणों की स्थिति का विवेचन किया है । परत्व में उनकी अनंत महानता और सौलभ्य में अनंत उदारता है । वाल्मीकीय रामायण को मधुराचार्य ने 'निरतिशय निर्दोष नित्य रसमय' माना है । 'सुन्दरमणि संदर्भ' में सीता का स्थान सर्वप्रमुख है । इसीलिए इसकी आत्मा के मूल में श्रृंगार और संपूर्ण शाखा प्रशाखाएँ भी श्रृंगारात्मिका हो गयी हैं । इस संदर्भ ग्रंथ के अनुसार राम पूर्णावतार तथा अन्य अवतार अंशात्मक हैं । स्वकीया भाव की उपासना मधुराचार्य को अभीष्ट है; क्योंकि उसमें मर्यादा, परिवार-सेवा तथा प्रच्छन्न रति का मधुर बलिदानात्मक आत्मविलोपन का भाव रहता है । परकीया की रति में मधुराचार्य किसी सौन्दर्य का दर्शन नहीं करते । वह रति उनके अनुसार अति नग्न और रस-हीन रहती है । स्वकीया की रति प्रच्छन्न, अनभिव्यक्त तथा पति के परिवार भर की सेवा के माधुर्य से सिक्त रहती है । अतः भक्त को भगवान् की स्वकीया बन जाने में ही मधुराचार्य रति का पूर्ण परिपाक स्वीकार करते हैं ‡ । उनके अनुसार 'जारत्व' संसार-बीज को नष्ट करने वाला भाव तथा 'उपपतित्व' प्रच्छन्न रूप से प्रीतिप्रदातृत्व है $ । स्वकीया का पति भी अपना प्रेम संयत और मूक रख कर ही भीतर ही भीतर आत्मा की अनिर्वचनीय गहराई के भीतर से प्रदान करता रहता है । इसीलिए मधुराचार्य भगवत्प्रीति को शृंगाररस की स्वार्थमयी जागतिक भूमिका पर न अनुभव करके दिव्य आनंद रस के रूप में अनुभव करते हैं । उनके अनुसार शरीर-सुख घृणित वस्तु है । मर्यादा के लिए आत्मबलिदान को मधुराचार्य जी ने श्रृंगारात्मिका भक्ति का प्राण माना है । श्रुतियों में वर्णित 'सच्चिदानन्द' का 'आनंद' तत्त्व ही रसभक्ति की रति में मिलने वाला परमप्रीति रूप, ब्रह्मावगाही आनंद है $ । मधुराचार्य के द्वारा प्रतिपादित श्रृंगारात्मिका भगवत्प्रीति में शरीरभाव की विश्रान्ति तथा मन की अनंत मधुरात्मिका पवित्र परिणति है । रामायण के सब पात्रों को मधुराचार्य जी ने स्वकीया कामिनी की तरह तथा भगवान् को कान्त की तरह अपने 'सुन्दरमणि संदर्भ' ग्रंथ में चित्रित किया है ।

मधुराचार्य ने 'सुन्दरमणि संदर्भ' में राम के विश्वमोहन सौन्दर्य की चर्चा करते हुए कहा है कि कृष्ण तो वंशीवादन के द्वारा केवल नारियों को मुग्ध कर सके पर राम ने तो केवल अपने रूप से सिद्ध मुनियों तथा चराचर जगत् को मोह लिया और सब नारी हो कर उनकी सेवा करना चाहते थे ‡ । मधुराचार्य ने मर्यादावादियों को 'लोकवेदकिंकर' कहा है और कहा कि मर्यादा का ढिंढोरा पीटने वाले लोक और वेद के दास ये मर्यादावादी मधुर-रस के बलिदानमय आनंद को नहीं समझ सकते ।

---

‡ सुन्दरमणि संदर्भ, पृष्ठ ३९–४० । † वही, पृष्ठ ४४ । $ वही, पृष्ठ ५९ ।
* सुन्दरमणि संदर्भ पृ० १०६ ।

मधुराचार्य के अनुसार अयोध्या के कामद, केलि, कल्हार, कला, कौशिक, कौमुद, कौंभ, कौशेय, कालिक, तालिक, सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध, दीर्घ, शौक, सौरभ, शांभव, श्री सदन, बार्हस्पत्य, वसिष्ठ, शाण्डिल्य, कात्यायन, गणेश्वर आदि अनेक वनों में राम सीता के साथ विहार करते हैं। चन्द्रा, चन्द्रकला, चांद्री, चन्द्रकान्ता आदि सीता की सहस्रों सखियाँ हैं। ये सब रूप, वय तथा सौंदर्य में सीता के समान हैं। इनसे कम गुणवाली दासियाँ हैं। इनके सौ गण हैं। गणमुख्य सखियों के नाम से गणों के नाम रखे गये हैं। शान्ता गण, कृष्णागण, धृतिगण, प्रकीर्तिगण, ज्ञानागण, क्रांतिदागण, विशारदागण, बुधागण भाववेत्रीगण इत्यादि कुछ गणों के नाम हैं‡।

इस नारीरत्नसमूह के भीतर रह कर भी राम एक पत्नीव्रत हैं। इसका रहस्य अपने पिता जनक को समझाते हुए सीता ने कहा है—राम के रसात्मक व्यक्तित्व की प्राणात्मिका शक्ति मैं ही हूँ और मैं ही उनकी मधुरात्मिका सेवा के लिए शुद्ध सत्त्वरूपा तथा विकाररहित सखियों का रूप धारण कर लेती हूँ†।

मधुराचार्य के अनुसार लौकिक जीवन के स्वरूप का मूल्यांकन करने के लिए ही लोकमर्यादा का नियम लागू होता है। असीम ब्रह्म राम के आनंदात्मक, अनंत मधुर रस के महाभाव को लौकिक मर्यादा की दृष्टि नहीं समझ सकती। सीमा का व्याकरण असीम पर लागू नहीं हो सकता। वह इस व्याकरण-नियम से नहीं पहचाना जा सकता। अनंत विश्व के हृदय में रमण करने वाले पति के लिए सीमा वाले पति के क्रीडाभाव का व्याकरण कैसे अनुकूल और मूल्य-मापक हो सकता है§।

अतः वाल्मीकि के रामायण को सहारा बना कर लिखा गया यह संदर्भ ग्रंथ सीमा के भीतर असीम के शाश्वत शृंगार का ही भव्य रहस्य प्रस्तुत करता है। ऐसे ही प्रयासों से रसिक साधना के मार्ग के भ्रम तथा पतनभय नष्ट हो जाते हैं।

(४२) मधुराचार्य जी का तेरह उल्लास वाला 'रामतत्त्व प्रकाश' भी रसिकोपासना का आधार ग्रंथ है। इसमें भी शाश्वत माधुर्य रसरास की महिमा गायी गयी है। इस ग्रंथ पर अखिलेश्वरदास की 'उद्योता' टीका भी है। इसमें रामजानकी के अखंड संयोग-शृंगार का प्रतिपादन किया गया है और सगुण राम ही अनंत निर्गुण राम की तरह प्रतिपादित हुए हैं। सीताराम का सगुण-निर्गुण अनिर्वचनीय विभुत्व ही 'रामतत्त्वप्रकाश' में प्रतिपादित किया गया है।

(४३) श्रीरामनवरत्नसार संग्रह परमहंस स्वामी रामचरणदास 'करुणासिंधु' द्वारा संगृहीत नौ अध्यायों वाला ग्रंथ है। पंडित रामवल्लभाशरण की 'रत्नप्रभा' इस ग्रंथ की टीका है। अन्यान्य शास्त्रों के उद्धरणों को बड़ी योग्यता से रामचरण दास ने विषय-क्रम से जमा कर इस सुन्दर ग्रंथ का प्रणयन किया है। रसिकोपासना के मूलभूत आधारों, पक्षों और अंगोपांगों को पुष्ट बना कर समझाने के लिए हनुमन्नाटक, वाराह पुराण, पद्मपुराण, अध्यात्म

---

‡ सुन्दरमणि संदर्भ पृ० १०६ † वही, पृष्ठ ४३२-३३। § डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'मधुराचार्य और उनका संदर्भ' शीर्षक निबन्ध।

रामायण, नृसिंहपुराण, ब्रह्मयामल, काशीखंड, सनत्कुमारसंहिता, हिरण्यगर्भसंहिता, महाशंभुसंहिता, अध्यात्म रामायण, भरद्वाज संहिता, हनुमत्संहिता, अगस्त्य संहिता इत्यादि ग्रंथों की सहायता स्वामी रामचरणदास ने ली है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस ग्रंथ में एक ही राघव के रूप में कृष्ण का रूप मिला कर प्रदर्शित किया गया है। यहाँ राम की रासलीला में राधा तथा चन्द्रावली, गोपकन्याएँ, गोपबाल, गोकुल, वसुदेव तथा हनुमान् इत्यादि सब एक साथ सम्मिलित हैं‡। अभेदोपासना की बड़ी दिव्य झाँकी रामचरण दास जी ने अपने ग्रंथ में इस रामकृष्णैक्य के द्वारा प्रस्तुत की है। इस मधुर रस की ब्राह्मी उपासना के द्वारा संतों ने संसार के मिठास की आसक्ति को समाप्त करके परमात्मा की भक्ति का मधुमय आस्वाद प्राप्त किया था। "नखसिख सीताराम छवि जब लगि हृदय न बास। 'रामचरण' सब साधना तब लगि लखब निरास†।" रामचरणदास जी का यह दोहा उपर्युक्त मत की पुष्टि करता है। राम जानकी के अनंत श्रृंगार का दर्शन करके ये संत जीवन के आसक्तिमय श्रृंगार को भूल गये थे।

(४४) 'श्री सीताराम नाम प्रताप प्रकाश'$ स्वामी युगलानन्द शरण द्वारा संगृहीत ग्रंथ है। इस संग्रह ग्रंथ में दो सौ अट्ठारह पृष्ठों में श्रुति, स्मृति, पुराण, उपपुराण, संहिता, तंत्र, नाटक, रहस्य और रामायण इत्यादि ग्रंथों से सामग्री संगृहीत करके नाम-रहस्य पर व्यापक प्रकाश डाला गया है। रसिकोपासना के प्रतिष्ठित आचार्य युगलानन्द-शरण का यह ग्रंथ रसिक सम्प्रदाय के तथा सामान्य उपासकों के भीतर भी इतना लोकप्रिय हुआ कि इसके कई संस्करण हो चुके हैं। युगलानन्द शरण ने अपने को सीताराम के 'नाममहा-रस' का 'मीन' बना लिया था।

(४५) श्री हरिहर प्रसाद के 'रामतत्त्व भास्कर' के पूर्वार्द्ध में परमतखंडन तथा स्वमत स्थापन है। परार्द्ध में राम का 'परत्व' तथा 'अन्य-श्रेष्ठत्व' सिद्ध किया गया है। नामतत्त्व पर प्रकाश डालते हुए ग्रंथकार ने विष्णु, नारायण, हरि, गोविन्द, वासुदेव, जगन्नाथ, कृष्ण तथा राम आदि नामों का रहस्य बड़े प्रभावशाली ढंग से समझाया है*।

(४६) श्री सरयूदास का 'उपासनात्रय सिद्धान्त' भी रामोपासना के क्षेत्र में बड़ा सम्मानित और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। अनेक ग्रंथों और शास्त्रों के आधार पर लिखा गया यह ग्रंथ उपासकों के समक्ष उपासना की अतीत परम्परा का अच्छा परिचय प्रस्तुत करता है§। इसमें रामानुजीय नारायणोपासना, वृन्दावन की पद्धति वाली कृष्णो-पासना तथा अयोध्यासंप्रदाय की रामोपासना का रहस्य सप्रमाण प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रंथ, ग्रंथकार की निश्छल समन्वय बुद्धि का बड़ा पवित्र दृष्टिकोण उपासकों के समक्ष रख कर उन्हें भी समन्वय साधना की स्वस्थ प्रेरणा देता है। इस ग्रंथ में रामानंद राम के, अनंतानंद ब्रह्मा के, सुरसुरानंद नारद के, सुखानंद शंकर के, नरहर्यानंद सनत्कुमार के,

---

‡ श्रीराम नवरत्न, पृष्ठ २६। † वही, अन्तिम अध्याय के आरम्भ में। $ लखनऊ स्टीम प्रेस से सन् १९२५ में मुद्रित। * लक्ष्मीनारायण प्रेस, मुरादाबाद से सं० १९७२ में मुद्रित। § प्रकाशक—छोटेलाल लक्ष्मीचन्द अयोध्या।

योगानंद कपिल के, पीयानंद मनु के, कबीर प्रह्लाद के, भावानंद जनक के, सेना भीष्म के, गालवानंद शुकदेव के तथा रमादास या रैदास यमराज के अवतार माने गये हैं और पद्मावती लक्ष्मी का अवतार मानी गयी हैं‡। इस ग्रंथ ने राधा को सीता का तथा कृष्ण को राम का अंश माना है। इसके अनुसार राम जब रासलीला करते हैं तब कृष्ण का स्वभाव धारण कर लेते हैं और सीता राधा की प्रकृति पर आ जाती हैं तथा सारा गोलोक उतर कर रास में सम्मिलित हो जाता है। उपासनात्रय सिद्धांत के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और शिव राम के आवेशावतार हैं।

(४७) श्री रामपटल में वैष्णवों के आचार-विचार, पंच संस्कार, दस लक्षण, मुद्रा जपविधि, षोडशोपचार पूजापद्धति, नाम संस्कार, तिलक धारण आदि का विस्तृत विवरण है। चारों वैष्णवमतों की भक्ति साधना की सम्पूर्ण प्रक्रिया और विधा का इस ग्रंथ में विवरण है†।

रामभक्ति के मधुर भाव से संबद्ध खण्डकाव्य भी हैं। तेरहवीं शताब्दी के वेदान्त देशिक का हंस सन्देश या हंसदूत, रुद्र वाचस्पति का दो सौ अट्ठासी छन्दात्मक भ्रमर दूत, वासुदेव का भ्रमरसंदेश, कपिदूत, सत्रहवीं शताब्दी के वेंकटाचार्य का छह सौ छन्दों वाला कोकिल संदेश, कृष्णचंद्र तर्कालंकार का चंद्रदूत इत्यादि ग्रंथ रामभक्ति के मधुरभाव के दूत काव्य हैं।

जयदेव का रामगीतगोविन्द, हरिशंकर और प्रभाकर के गीतराघव, हर्याचार्य की जानकीगीता, हरिनाथ का रामविलास, विश्वनाथ सिंह जू का अट्ठारहवीं शताब्दी का संगीत-रघुनन्दन, साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का राघवविलास, सोमेश्वर का रामशतक, मुद्गलभट्ट का समार्याशतक, कृष्णेनु का आर्यारामायण इत्यादि रामोपासना के मधुर भाव के गीतकाव्य हैं।

हिन्दी साहित्य के परिवेश में भी रसिकभक्ति से संबद्ध रामकाव्यों की संख्या बहुत बड़ी है। आठ प्रहरों की उपासना से संबद्ध अष्टयाम साहित्य की रचना भी पर्याप्तमात्रा में हुई है। अष्टयामी उपासना आज भी अयोध्या के राममंदिरों में होती हैं। सबसे पहला (१) अष्टयाम श्रीकृष्णदास पयहारी के शिष्य श्री अग्रस्वामी का है$।

(२) अग्रस्वामी के अनुसार (१) सुलोचनमणि, (२) सुभद्रमणि, (३) सुचन्द्रमणि, (४) जयसेनमणि, (५) वलिष्ठमणि, (६) शुभशीलमणि, (७) अनंगमणि और (८) रसकेतुमणि, आठों मंत्रियों के ये आठ पुत्र राम के समान शील और सौंदर्य वाले उनके आठ सखा हैं। (१) श्री लक्ष्मणा जी, (२) श्री श्यामला जी, (३) श्री हंसी जी, (४) श्री सुगमा जी, (५) श्री वंशध्वजा जी, (६) श्री चित्ररेखा जी, (७) श्री तेजोरूपा जी तथा (८) श्री इन्दिरावली जी—राम की ये आठ सखियाँ हैं। सेवा कार्य के प्रकार के

‡ उपासनात्रय सिद्धान्त, पृष्ठ १२०। † प्रकाशन संवत् १९७९, मुद्रक आनंद प्रेस बनारस, प्रकाशक—छोटेलाल लक्ष्मीचंद, अयोध्या। $ अमावा-टेकारी राजराजेश्वरी श्रीमती रानी भुवनेश्वरी कुँवरि द्वारा चैत्र शुक्ला षष्ठी, संवत् १९९५ में प्रकाशित।

अनुसार ये पुरुषरूप भी धारण कर लेती हैं। (१) निगमा जी, (२) सुरसा जी, (३) वाग्मी जी, (४) शास्त्रज्ञा जी, (५) बहुमंगला जी, (६) भोगज्ञा जी, (७) धर्मशीला जी तथा (८) विचित्रा जी—राम की ये शाश्वतकालीन दासियाँ हैं।

अशोकवन में विशाल कल्पवृक्ष के नीचे मणिमय मण्डप में चार द्वार वाले विशाल मंदिर की रत्नवेदी के मध्य में सिंहासन है। उसके मध्य में रत्नकमल की पंखड़ियों पर राम परिवार के चौबीस सदस्यों के आवास कुंज हैं। कर्णिका में सीताराम, आठ सखियों तथा भरत इत्यादि के द्वारा सेवित होते हैं।

लक्ष्मणा, श्यामला, हंसी, सुगमा, निगमा, सुरसा, वाग्मी तथा शास्त्रज्ञा के कार्य, क्रम से, ताम्बूल सेवा, गन्धमोदक, चन्दनलेप, चन्द्रवासक, चामरसेवा, वस्त्रक, पादाब्जसेवा तथा वाद्यमंगल हैं। बहुमंगला, भोगज्ञा, धर्मशीला के कार्य, क्रम से, वार्तालाप, गायन तथा पादसेवा और नित्य शयाह्निक सेवा हैं। मधुरभाव का उपासक राम के इसी मधुमय जीवन के विराट् माधुर्य का ध्यान करता है।

अग्रस्वामी के अनुसार (१) स्नान, (२) नासाग्रमुक्ता, (३) नील कौशेयवस्त्र, (४) सुवर्णसूत्र से सुशोभित वेणी, (५) अंगराग, (६) कांची से सुशोभित नीवी, (७) मणिमाला, (८) कर्णाभूषण, (९) हाथ का कमल, (१०) तांबूल, (११) सिंदूर तिलक, (१२) चिबुक पर की कस्तूरी, (१३) अंजन, (१४) कंकण, (१५) महावर तथा (१६) नूपुर—ये सीता के सोलह शृंगार हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस शृंगार से शरीर का प्रसाधन आदर्श और पूर्ण हो जाता है।

(३) स्वामी अग्रदास की 'ध्यानमंजरी' में उपर्युक्त ऐश्वर्य के परिवेश में करोड़ों सूर्यों को लज्जित करने वाला सच्चिदानंद राम का, सुन्दरता की सीमा सीता के साथ प्रस्फुटित होने वाला सौन्दर्य वर्णित है। इस युगल स्वरूप की शोभा के वर्णन के लिए अग्रदास जी को कोई उपमा नहीं मिलती। सब उपमाएँ सीमित सौंदर्य वाली हैं। उनका अनंत रूप सीता-राम में प्रकट हुआ है। स्वामी अग्रदास के अनुसार इस ध्यान से ब्रह्मा और शिव भी अपने को पवित्र करते हैं। इस ध्यान से साधक का जन्म सफल हो जाता है। बिना रसिक भक्त के यह ध्यान किसी के भीतर स्वप्न में भी जागृत नहीं हो सकता।

(४) नाभादास जी के रामाष्टयाम में (१) शृंगार, (२) विहार, (३) तमाल, (४) रसाल, (५) चंपक, (६) चन्दन, (७) पारिजात, (८) अशोक, (९) विचित्र, (१०) कदंब, (११) अनंग तथा (१२) नागकेसर वनों के सुवर्णमणिमय, प्रासादों और सरयू के मणिमय घाटों, सुवर्णमय परकोटों, नगमय गोपुरों की दिव्य अद्भुत ज्योति का वर्णन है। राम परिवार की चहल-पहल तथा अन्तःपुर के अनिर्वचनीय सौभाग्य और ऐश्वर्य के बीच 'नेह निबाहनहार' राम के शृंगार का वर्णन भी नाभादास जी ने किया है†।

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, लेखक भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव', पृष्ठ १९४।
† वही, पृष्ठ १९७।

अन्त:पुर में नाभादास जी की उद्भावना में आयी हुई राम की सखियाँ सेवा के समय उनकी छवि को देख कर सनाथ हो जाती हैं‡ । भोजन के समय भी सीता-राम के अपार स्नेह की धारा युगल छवि से फूटी पड़ती है। नाभादास जी ने क्षुधा तृप्ति के बहाने प्रेमक्षुधा की अतृप्ति का चित्र ही अंकित किया है† । नाभादास जी ने राम के अंतःपुर के नृत्य-संगीत तथा शयन शोभा के सम्मुख इन्द्रपुरी के ऐश्वर्य को भी रसहीन अनुभव किया है$ ।

(५) महात्मा बाल अली जी ने एक सौ अड़तालीस बेजोड़ दोहों में 'नेह प्रकाश' की रचना की है। यह रसिक सम्प्रदाय की रामभक्ति का अद्भुत ग्रंथ है। इसे नायिका प्रधान एक खंडकाव्य की शोभा प्राप्त है। वेद वेदान्त के गूढ़ सिद्धान्तों की आत्मा, शक्ति समूहों के स्वामी राम की आह्लादिनी शक्ति की तरह सीता का चित्रण इस काव्य में हुआ है* । सीताराम का प्रेमाद्वैत और आत्माद्वैत इस ग्रंथ में चित्रित किया गया है। इसके अतिरिक्त सखियों की नामावली और सेवा, सखी और दासी का भेद, राम का प्रेमालाप, रस-विलास, प्रेमविलास, रूपविलास, सखियों द्वारा सीताराम के परस्पर प्रेम का उन दोनों को बारी-बारी से निवेदन, सीता-सौन्दर्य वर्णन तथा सीता प्रभाव वर्णन इत्यादि विषय भी 'नेह प्रकाश' के द्वारा आलोकित किये गये हैं। सीता के प्रति भक्त की भक्ति का आलोक इस ग्रंथ में प्रधान हो गया है। योग, यज्ञ, तप, नियम और व्रत को छोड़ कर सीता के चरणों की धूल की सेवा ही बाल अली जी के अनुसार भक्त का मुख्य लक्ष्य होना चाहिए। सब सुकृत मिल कर भी सीता के चरणों की धूल की सेवा की समता नहीं प्राप्त कर सकते। बाल अली ने राम की इसी आह्लादिनी शक्ति की भक्ति से अपने हृदय का श्रृंगार कर लिया है।

(६) अली जी का दूसरा ग्रंथ 'सिद्धान्त तत्त्व दीपिका' है। इसके छत्तीस प्रकाश हैं और जीवन के प्रबंधों को प्रतीक बना कर इस ग्रंथ में रामभक्ति के सिद्धान्तों की व्याख्या की गयी है। राजाविश्वकाय की कन्या प्रभावती पति रूप में 'परमभजनीय' को प्राप्त करती है। इस प्राप्ति के पथ पर बाधा रूपिणी 'सुसंभ्रमा' उसे 'विश्वप्रपंच' के प्रेम की ओर घसीट ले जाती है। 'परमभजनीय' को मन से वरण कर लेने वाली प्रभावती 'कृपावती' की सहायता से पुनः 'परम भजनीय' की ओर उन्मुख होती है और 'विश्वप्रपंच' के माया-जाल से छुटकारा पा जाती है। अन्त में साधना की सिद्धि के रूप में प्रभावती 'परम-भजनीय' राम को प्राप्त कर लेती है। इसी प्रतीकात्मिका कथा के भीतर रसिक भक्ति का सम्पूर्ण सिद्धान्त यथास्थान विवेचित हुआ है§ ।

(७) महात्मा बाल अली का तीसरा ग्रंथ 'ध्यान मंजरी' रसिक संप्रदाय के आधार ग्रंथों में मुख्यस्थान प्राप्त कर चुका है× । संवत् सत्रह सौ छब्बीस, फाल्गुन शुक्ल पंचमी को

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, लेखक भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव', पृष्ठ १९७ । † वही, पृष्ठ १९८ । $ वही । * रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २०१ । § वही, पृष्ठ १९७ से पृष्ठ २०१ तक । × ई० सन् १९०८ में जैन प्रेस, लखनऊ में मुद्रित, प्रकाशक—सेठ छोटेलाल लक्ष्मी चन्द, बम्बई वाले ।

यह ग्रंथ पूर्ण हुआ। इस ग्रंथ में कुल दो सौ तिहत्तर छन्द हैं; पर हैं सब के सब सर्वथा बेजोड़। राम की शुद्ध सच्चिदानन्दमयी शोभा का तथा सीता के अनिर्वचनीय अनंत पवित्र सौन्दर्य का भव्य वर्णन इस ग्रंथ में है ‡।

(८) कृपा निवास की चालीस पदों और उन्तीस पृष्ठों वाली 'लगन पचीसी' रामप्रेम की मधुर पीड़ा का बड़ा अनोखा ग्रंथ है। यह पुस्तिका संवत् १९५७ में लिखी गयी †। उर्दू शैली की स्वाभाविकता इस लेखक की मौलिक प्रवृत्ति मालूम पड़ती है। 'इश्क की कहानी' को वह इश्क की जबान में बड़ी मीठी पीड़ा के साथ कहता है। उनका 'दरदी दिल' 'दिलदार दरश बिन' दीवाना हो गया है। वह 'पर हाथ बिक गया है'। 'रामसजन की सूरति' देख कर वह खो गया है। उसकी तो 'बेदरदी सों लगन लगी है'। उसने इस लगन से उठते-बैठते, दिन और रात के लिए दर्द मोल ले लिया है। उसका बोलना, देखना सब दर्द भरा है। दर्द का अनुभव करके वह मुसकाता है। उसने दर्द की फक़ीरी मेखला पहन ली है, अब उसे सुख कहाँ से हो। यदि यह दर्द मिट जाए तो उसका दिल दो कौड़ी के मोल भी न बिके। उसके लिए तो 'दरदहि भरे कुशलात' है। दर्द ही उसका धन है और दर्द ही उसका जीवन। 'निगोड़ी लगन' उसके 'पैड़े' पड़ गयी है। ऐसे 'नेही जन' का न्याय कौन कर सकता है। उसका मन 'लगन के फंदे में' बँधा हुआ है। वह प्रेम के कारागार में बंदी हो गया है। उसके 'दृग' 'पीतम' के सौन्दर्य पर अटक गये। प्रिय को मन सौंप कर वह उसके हाथ बिक गया। प्रिय उसका सिर काट कर गेंद खेल ले तो वह अपना भाग्य सराहेगा। जब प्यारे का नेह मिल गया तो लाज का दाग़ उस पर क्यों पड़े। लाल-रतन जब उसने पा लिया तो कौड़ी के मोल के प्राण भी दे देने पड़ें तो घाटा क्या है। उसके दिल पर लगन की चोट लग गयी है। वह दीवाना फक़ीर हो गया है। वह 'इश्क अमल' का 'दो प्याला' पी लेता है और 'आठ पहर मस्ताना' हो कर घूमता रहता है। लगन की ग़रीबी ने उसके गर्व को समाप्त कर दिया है। उसकी मति हार मान कर दीन हो गयी है। सुख और दुख की इच्छाओं को वह भूल गया है। काम, क्रोध, मद और मोह सब विस्मृत हो गये हैं। कुल के काज और लाज अब वह छोड़ चुका है। वह अपने दिल की पीड़ा में डूब कर कर्म, योग और भोग के ऊपर उठ चुका है। वह जने-जने से प्रेम न कर एक के प्यार में डूब गया है। वह दूसरों से मिले हुए आदर को विष और प्रिय की फटकार को अमृत समझता है। घर पर दौड़ कर आये हुए लोगों से वह नहीं मिलता; पर प्रीतम के द्वार पर जा कर उसे पुकारता है। राम-सिया के लिए उसने तन, मन, धन सब हार दिये हैं। उसके भीतर "दिन रतियाँ राम की बतियाँ लगी हैं।" वह तो राम से मिलना ही नहीं चाहता; प्रेम की इस पीड़ा में डूब कर ही रहना चाहता है। उसे तो पीड़ा में ही सब कुछ मिलता है, मिलन में क्या प्राप्त होना है। जब दिल दिलदार से मिल गया तब मिलन में और अधिक क्या मिलेगा। जब लाखों को खाक़ की

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २१० से २१५ तक। † प्रकाशक—सेठ लक्ष्मीचन्द छोटेलाल, बंबई वाले। सन् १९०१ में लखनऊ प्रिंटिंग प्रेस में मुद्रित।

तरह छोड़ कर उसने अपने मन को पाक बना लिया तब अब दूसरी कौन-सी इच्छा उसके भीतर उत्पन्न हो सकती है. जब वह राम का आशिक हो गया तो दुनिया की अब किस वस्तु से प्रेम करे‡। इस तरह प्रेम की पीड़ा का यह अनुपम गुलदस्ता है। लगन पचीसी के शब्दों में हृदय में प्रेम का घाव पैदा कर देने वाली मधुर तीक्ष्णता है। अपनी जगह पर कृपा निवास की 'प्रेम पचीसी' अनुपम है।

(९) 'अनन्य चिंतामणि' कृपानिवास का दूसरा ग्रंथ है। रसिकसंप्रदाय का यह सर्वांग सम्पूर्ण सिद्धान्त ग्रंथ है। योग, ज्ञान, वैराग्य और प्रेम की सैद्धान्तिक विवेचना के भीतर इसमें मधुर उपासना का सर्वोपरि महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। बाक़ी सब उपासनाएँ मधुर उपासना की परिचारिकाओं की तरह उपयोगी मानी गयी हैं। इस ग्रंथ के अनुसार मधुर रसात्मिका भक्ति के गुरु हनुमान माने गये हैं। इस ग्रंथ में छह प्रकार की अनन्यता की चर्चा है। नाम, वेश, इष्ट, वाक्, प्रसाद और वृत्ति की अनन्यताएँ यहाँ विवेचित की गयी हैं†।'

(१०) 'रामरसामृत सिंधु' सोलह प्रवाहों वाला, कृपानिवास जी का तीसरा ग्रंथ है। प्रत्येक प्रवाह का विभाजन विभिन्न तरंगों में हुआ है। इस ग्रंथ के अनुसार योगमाया के प्रभाव से सब देवता सखी हो कर चित्रकूट की रासलीला में सम्मिलित हुए थे। यहाँ भी मधुरोपासना के गुरु हनुमान् ही माने गये हैं। कृपानिवास द्वारा रचित, रामरस के अमृत का यह समुद्र अद्‌भुत है $।

(११) 'रास पद्धति' कृपानिवास का, पचपन पृष्ठों और एक सौ पचास पदों का चौथा ग्रंथ है*। 'राम-रस-रंग' का भावात्मक साक्षात्कार कृपानिवास ने अवश्य किया था; अन्यथा उनके शब्दों में इतनी मधुर शक्ति न उत्पन्न हो सकती। रास के शोभालोक से आपूरित 'जानकी वल्लभ' कृपानिवास की आँखों से कभी ओझल नहीं होते। वह उन्मुक्त हृदय से कह उठता है—"निरपि छवि अटकि रहे दृग मेरे'। वह 'राम रसिक' को पुकार कर कहता है—"अब सुधि लीजै बिरहन की"। राम रसिक ने उसके मन को हर लिया है और रमणीभाव से उसने अपने हृदय को उस रसिक को लुटा दिया है। उसके "उरमें उठत रैन दिन हूकैं" और 'राम रसिक' को अपनी कूकें सुनाने के लिए उसकी विरहिणी आत्मा पुकार उठती है। "हेली रसिक साँवरे चोर" ने उसके मन को हर लिया है और वह "राम छैला के फेल में" बुरी तरह से फँस गया है। जानकी वल्लभ की युगल छवि को देख कर वह फूला नहीं समाता§।

(१२) 'भावना पचीसी' कृपानिवास की पाँचवीं रचना है। इसमें जानकी की सखियों और मधुरोपासनामय उनके कार्य, राम की सखियों और उनकी मधुरोपासनामय

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २१५ से २१९ तक। † वही, पृष्ठ २२०। $ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २२०–२२१। * देशोपकारक प्रेस, लखनऊ में सन् १९१० में मुद्रित, प्रकाशक, सेठ छोटेलाल लक्ष्मीचंद। § रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २२१ से २२४ तक।

राम की सेवा तथा हृदयगम्य मानस-मधुरोपासना की सुन्दर तरंगों का यह ग्रंथ मधुर संग्रह है। साधना और सिद्धान्त का यह मधुर ग्रंथ रसिक भक्त के हृदय का सुन्दर परिचय देता है। कृपानिवास का हृदय सीता की अष्ट सखियों की आत्मा में अपनी आत्मा को एकाकार परिणत कर "सिय लाल की रहस-माधुरी" की क्रीड़ा में खो जाना चाहता है। इन सखियों की आत्मा में प्रविष्ट हो कर वह राम के 'महल' में 'सहल' प्रवेश पा जाना चाहता है, अपने हृदय में राम के प्रेम-रहस्य की माधुरी को स्फुरित करके। इसी तरह राम की आठ मुख्य सखियों की प्रीति प्राप्त करके उनकी रसात्मिका साधना के द्वारा कृपानिवास राम के महल का निवास तथा उनके महल की माधुरी का पान अपने लिए प्राप्त कर लेना चाहते हैं। यह सब रसमयी साधना हृदय के भीतर ही हो रही है‡।

(१३) 'पदावली' कृपानिवास जी की छठवीं उपलब्ध रचना है†। इसमें चार सौ पद हैं तथा जागरण से ले कर शयन तक की राम की दिनचर्या के मधुर चित्र हृदय प्रसूत हैं। भगवान् राम के जीवन के माधुर्य की भावना में कृपानिवास को अपने "प्राणों के लिए पारसनिधि" प्राप्त होती है। प्रातःकाल नींद से उठे हुए राम को इस साधक का हृदय शयनसुख के लिए बधाई देता है। तुरंत जागे हुए राम की शोभा में वह अनिर्वचनीय आकर्षण का अनुभव करता है। उस "रंगभरी जोड़ी" को वह चिरजीवी होने का आशीर्वाद देता है। किशोरी सीता और किशोर राम को रंग मंदिर में सदा विहार करने की अपनी आकांक्षा का पवित्र वरदान-सा देता है। राम और सीता सुख के रस में जितना अधिक सरसेंगे उतना ही अधिक कृपानिवास को अपने नयन और प्राणों का सर्वस्व महासुख प्राप्त होगा। इस महासुख को कृपानिवास राम के "महल का टहल" मानते हैं और शाश्वत काल के लिए वे इस टहल को अपने लिए प्राप्त कर लेना चाहते हैं। वे अपनी सुमति को राम की इस "खास टहल" में हमेशा के लिए लगा देना चाहते हैं। राम के सुख-ऐश्वर्य का ध्यान ही भक्त अपनी शक्ति के द्वारा की गयी राम की भावनात्मिका टहल समझता है और इस टहल में सदा के लिए खो जाना चाहता है। राम और सीता की "नवल तरुनाई" का ध्यान उसे जगत् के द्वंद्वों, उसकी वासनाओं से मुक्ति दे देता है। राम और सीता के मिलन को प्रेमाद्वैत की परिणति की पवित्रता में जब वह देखता है, तब उसके नयन निहाल हो जाते हैं। सीता और राम के हृदय में जो प्रेम का अद्वैत बैठा हुआ है उसे देख लेने पर हृदय में वासना का द्वैत कैसे अवशिष्ट रह सकता है। भक्त इसी अद्वैत की परिणति की कामना करता है। इसीलिए वह "युगल-रस की रति" को गाता है। कृपानिवास इस बात का अनुभव करते हैं कि "सिय-पिय-सुख" में अनंत प्रेम का निवास है और इस अनंत प्रेम का भाव हृदय में अनुभव करके भक्त का हृदय भी प्रेम की अनंतता का आत्मविलोपक भाव प्राप्त कर लेता है, वह राम की 'अलबेली अली' बन जाता है तथा उसमें कलुष के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। कृपानिवास की आँखें जब एक बार इस अनंत प्रेम और

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २२४ से २२६ तक। † प्रकाशक—सेठ छोटेलाल, लक्ष्मीचंद, बम्बई वाले।

सौंदर्य का दर्शन कर लेती हैं, तब 'मोड़ने से भी नहीं मुड़तीं', उनमें से वह सौंदर्य एक क्षण के लिए भी नहीं टलता। यह छवि जिसकी आँखों में समा जाती है, उससे 'काम डरने लगता है'। उसकी क्षुद्रता का प्रभाव इस तरह के अनंत के साधक पर कैसे पड़ सकता है। उसकी 'संपत्ति की राशि तो अनंत विलासी के अनंत प्रेम से समृद्ध है'। उस पर क्षुद्रता का प्रभाव कैसे पड़ सकता है। उसके मन ने इस अनंत प्रेम के विलास को देख कर अपनी अनंत 'सफलता प्राप्त कर ली', अब वह खंडित सफलता की ओर नहीं आकृष्ट हो सकता। इस संभावना को सदा के लिए समाप्त करना ही कृपानिवास का लक्ष्य है; इसीलिए सीता-राम के समान अनंत प्रेम के विलासी दंपति को उन्होंने सदा के लिए 'अपने नयनों में पिरो लिया ‡'। कृपानिवास जी 'इश्क के दर्द' की उर्दू शैली तथा 'प्रेम की पीर' की हिन्दी शैली पर समान अधिकार रखते थे। उर्दू और हिन्दी दोनों भाषाओं में उनका हृदय निर्बाध गति से प्रेम की धारा प्रवाहित कर रहा था।

(१४) 'सिद्धान्त मुक्तावली' स्वामी जनकराजकिशोरीशरण 'श्री रसिक अली' का रसिकोपासक सम्प्रदाय का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है†। इस ग्रंथ में केवल बावन पृष्ठ और एक सौ सत्तावन दोहों, सोरठों में रसिकोपासना की प्रायः सब मान्य बातें सजा कर रख दी गयी हैं। रसिक अली के अनुसार रसिकोपासना की तुलना में ज्ञान और योग व्यर्थ हैं। उनके अनुसार रसमयी भक्ति पावन गंगा की धारा है और ज्ञान तथा योग सूखे गड्ढे। पुरुष राम के अद्‌भुत सौंदर्य को देख कर दंडकारण्य के पुरुष ऋषियों के मुग्ध हो जाने की घटना की विचित्रता के आधार पर रामरूप की अनिर्वचनीय मोहकता को जनकराज किशोरी शरण ने भी स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है कि विष पिलाने वाली पूतना पर कृष्ण के सौन्दर्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ा; पर राम के मोहक सौन्दर्य से आकर्षित हो कर शत्रु की भी बहिन शूर्पणखा ने उनसे प्रेम का प्रस्ताव किया। खरदूषण भी मुग्ध हो कर उनसे युद्ध नहीं करना चाहते थे; पर वीरधर्म का निर्वाह करने के लिए ही उन्होंने युद्ध किया। जनकराज किशोरी शरण ने कहा है कि जब सौन्दर्य निधि राम भी सीता के सौन्दर्य से मुग्ध हो गये तो सीता के सौंदर्य का वर्णन कैसे किया जाए। ऐसे सीता-राम के पावन प्रेम को ही वे जीव की मुक्ति मानते हैं। सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों का सहारा ले कर उन्होंने कहा है कि प्रकृति तथा उसके तत्त्वों में उलझा हुआ जीव अपने आत्म रूप को न पहचान कर परमात्मा राम से अलग हो गया। रसिक उपासना की पद्धति से सीताराम के प्रेम को प्राप्त करके वह अपने मूल रूप को पहचान लेता है।

भक्ति के शरणागति-धर्म को 'रसिक अली' तीन प्रकार का मानते हैं—(१) साधन (२) भाव और (३) प्रेम। साधन के भीतर वे (१) श्रद्धा, (२) विश्वास और (३) सत्संग को स्वीकार करते हैं। भजन की प्रक्रिया के लिए वे (१) धारणा, (२) निष्ठा और (३) अभंग रुचि को आवश्यक मानते हैं। साधक के लिए सब अनर्थों-अनावश्यक चिंतनों—

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २२६ से २३४ तक। † प्रकाशक—सेठ छोटेलाल लक्ष्मीचंद, बंबई वाले। जैन प्रेस, लखनऊ में १९०७ में मुद्रित।

के परित्याग को वे अनिवार्य मानते हैं। (१) क्रियारंभ के आनंद (२) मार्ग के कष्टों की सहिष्णुता तथा (३) आलस्य के अभाव को वे श्रद्धा के अनुभाव मानते हैं। उसके अनुसार मनुष्य का हृदय जब श्रद्धा की सम्पत्ति से भर जाता है तब राम रूपी वस्तु की चाह उत्पन्न हो जाती है। जब मन लौकिक वस्तुओं को देख और सुन कर उनकी ओर आकृष्ट नहीं होता तथा परमात्मदर्शन ही उसका शास्त्र बन जाता है और इस परमात्मादर्शन को, सुनते ही, अपने चित्त में वह सच्चाई से ग्रहण कर लेता है तब उसके भीतर भक्ति पथ का स्वाभाविक 'विश्वास' उत्पन्न हो जाता है‡। रसिक अली के इसी विश्वास का समकक्ष 'विश्वास' गोस्वामी जी की "भवानीशङ्करौवन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ" पंक्ति में मिलने वाला मंगलमय शिवस्वरूप विश्वास है†।

जिस उपास्य का स्नेह हृदय में उत्पन्न हो जाए यदि वही परीक्षा के लिए कई प्रकार के कष्ट दे और फिर भी उपासक का मन उस इष्ट का परित्याग न करे तब वह रसिक अली के अनुसार निष्ठावान् साधक हो जाता है। रसिक अली जी के अनुसार सात्त्वि आग्रह पूर्ण स्नेह ही 'निष्ठा' का अनुभाव है$। वे यह स्वीकार करते हैं कि इसी निष्ठा के उत्पन्न हो जाने पर सीता-राम की उपलब्धि साधक को निश्चय ही हो जाती है। भगवान् के दर्शन और स्पर्श से जब सुख बढ़ने लगे और उनके अदर्शन से जब वियोग जन्य पीड़ा का अनुभव साधक को होने लगे तब उसके भीतर भगवान् के प्रति 'रुचि' उत्पन्न हो जाती है। रुचि-सिद्ध साधक, अली जी के अनुसार, 'रघुवर' को अपने से दूर कभी नहीं रखता। अली जी यह मानते हैं कि 'भाव भक्ति' स्वभावगत 'रुचि' के बाद उत्पन्न होती है। भाव-भक्ति के वे नौ लक्षण मानते हैं—(१) क्षमा, (२) विरक्ति, (३) अमानता, (४) समय का सदुपयोग, (५) मिलन की आशा की डोरी से चित्त का बँध जाना, (६) मिलन की उत्कंठा, (७) प्रिय के गुण कीर्तन के प्रति आसक्ति, (८) प्रिय के स्थान में निवास करना ही रुचिकर प्रतीत होना तथा (९) प्रिय की नामावली से स्नेह। उनके अनुसार ऐसा ही व्यक्ति 'सिय रघुनंदन' के मिलन का अधिकारी होता है। अनेक विघ्नों के होते हुए भी जब 'प्रीति की रीति' न छूटे और आसक्ति नित्य नयी हो कर बढ़ती जाए तब रसिक अली के अनुसार प्रेम की अवस्था प्राप्त होती है*।

राम को देख कर जिनका चित्त द्रवित हो जाता है, जो अपने तन और धन को राम से अलग नहीं मानते और राम से अलग होने पर वियोग की पीड़ा का अनुभव करते हैं उन्हें राम का 'सुलक्षण स्नेह' सिद्ध हो जाता है। 'सिय रघुवर' के लिए सहा हुआ दुःख जिनके के लिए सुख हो जाता है तथा बिना सीताराम के सम्बन्ध से मिला हुआ सुख, दुख हो जाता है वे रसिक अली के अनुसार राम के 'अनुराग' के सिद्ध अनुरागी हैं। उनकी संगति से अनुराग प्राप्त कर लेने का परामर्श रसिक अली जी देते हैं। जिसके भीतर प्रणय के ये लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं उन्हें राम की सख्यता प्राप्त हो जाती है§।

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २३७। † रामचरित मानस, बालकांड, मंगलाचरण, श्लोक २। $ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २३७। * वही। § रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २३७।

रसिक अली जी उपासना के दो प्रकार मानते हैं : (१) पहली ऐश्वर्याशया उपासना है तथा (२) दूसरी माधुर्याशया। रुचि के अनुसार साधक को अपना पथ निश्चित करना चाहिए। 'द्विभुज परात्पर रामसिय' को गोलोक में रासलीला-रत देखने वाले ऐश्वर्याश्रयी उपासक हैं‡। अवध के रासक्षेत्र में लीला के रंग से अनुरंजित राम-सीता का ध्यान करने वाले माधुर्याश्रयी उपासक हैं। माधुर्याश्रयी साधक चारों भाइयों का मिथिला में रंग-रास भी ध्यानगम्य करते हैं†।

(१५) रसिक अली ने 'अन्दोल रहस्य दीपिका' की भी रचना की है§। यह कुल सोलह पृष्ठों का ग्रंथ माधुर्य का बड़ा भव्य रंगस्थल है। राम-सीता की, सखियों के साथ, झूला-लीला का वर्णन करने में, अली जी का हृदय भी उन्हीं के साथ झूल उठा है। इस 'ललित लीला' में रसिक अली ने 'लालसिय' का 'त्रिगुन मायापार' साक्षात्कार किया है। अली जी ने कहा है कि पुरुष भाव वाला हृदय इस निस्त्रिगुणात्मिका लीला का रहस्य नहीं समझ सकता; अली-हृदय के भाव को साथ ले कर ही इसका साक्षात्कार किया जा सकता है। 'पुरुष तहँ पहुँचे नहीं केवल अली अधिकार।' रसिक अली 'दिन रैन' जीवन भर इसी ध्यान की आवृत्ति करते रहते हैं। "विनु जुगल रस लीला लखे" उनके हृदय को क्षण-पल भर भी किस तरह चैन मिल सकता है। भगवान् के रसरंग से शक्ति प्राप्त करके भक्तों ने दुनियावी रसरंग की आसक्ति को इसी प्रक्रिया से पराजित कर दिया था*।

(१६) रामचरणदास 'करुणा सिन्धु' का 'पंचशतक' (१) विवेक, (२) वैराग्य, (३) उपासना, (४) विरह तथा (५) नाम के पाँच शतकों का अद्‌भुत संग्रह है। यह श्रृंगारोपासना का आधार ग्रंथ तथा संप्रदाय में सार्वत्रिक प्रतिष्ठा प्राप्त ग्रंथ है। चिंतनगत सिद्धान्तों तथा हृदय की रसिक साधना की अनुभूतियों का सुन्दर समारोह इस ग्रंथ में देखने को मिलता है। 'हिय लगे राम विरह सर' का अनुभव राम के इस दास ने किया है। राम के मिले विना उसका 'विरह अनल' नहीं उतरता। राम चरण का हृदय 'विरह-अन्ध' हो गया है। उसे 'तन-धाम-धन' कुछ नहीं दिखाई पड़ता। उसका विरह बहरा हो हो गया है। उसे 'कर्म-धर्म-श्रुति टेर' नहीं सुनाई देती। उसकी आत्मा 'प्रभु विरह' के श्रृंगार से सौभाग्यवती रहती है। 'ज्ञान, ध्यान, जप, जोग, तप' के श्रृंगार के रहते हुए भी 'राम विरह' के विना उसकी आत्मा अपने को विधवा समझती है। वह राम को जल बना कर अपने को मीन बना लेता है, राम को दीपक बना कर स्वयं पतंग बन जाता है, वह रामरूपी सूत्रधार के हाथ की कठपुतली बन के नाचना चाहता है, रामरूपी मेघ के लिए वह चातक बन जाना चाहता है तथा 'रामलला' के विना 'वसन्त-फूल-सुख' उसके लिए 'अगिन लूक सम' हो जाता है§।

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २३७। † वही, पृष्ठ २३८। $ जैन प्रेस, लखनऊ में मुद्रित, मुद्रण-सन् १९०७। * रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २४०। रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २४१–४२।

(१७) रामचरण दास की 'रसमालिका‡' रसिकोपासना की रसानुभूति का हृदय-ग्रंथ है। इसमें उन्होंने लिखा है कि गोस्वामी तुलसीदास ने दास्य रस को प्रकट तथा शृंगार रस को गुप्त रख दिया। यही चोट उनके दिल में रह गयी। दाम्पत्य के अद्वैत रस को दास्य के विभक्त रस के कारण वे न प्राप्त कर सके। इसीलिए वे अग्रस्वामी के रस-शरीर को धारण करके राम के दाम्पत्याद्वैत को प्राप्त कर सके और अपने 'मानस' की शृंगारात्मिका टीका लिख कर उन्होंने रास-रस के आनंद का अनुभव किया†। रामचरण दास को अपने पति के नाम का उच्चारण करने के समय वही संकोच होता है जो पत्नी को पति का नाम लेने के समय होता है। इस ग्रंथ में भी सिद्धान्त, सीमा-राम शोभा वर्णन, वन विहार, वसन्त विहार, सखियों का नृत्य, शृंगार, नृत्य विहार, जल-क्रीडा तथा हिंडोला इत्यादि का वर्णन है। लीला वर्णन में रामचरण जी ने भी यही कहा है कि जग को छोड़ कर इस लीला को देख राम की सखी वन जाने से भुवन-भय नष्ट हो जाता है ।

(१८) रामचरण दास जी की 'अष्टयाम पूजाविधि' अगस्त्य संहिता के मूल श्लोकों का पद्यमय भाष्य है*। इसमें भी सखियों और सीता का शृंगार, राम का शृंगार, सखियों द्वारा सीता और राम का शृंगार, आरती तथा शयन इत्यादि वर्णित हैं।

(१९) जीवाराम 'जुगल प्रिया' की 'युगल प्रिया पदावली' एक सौ सात पदों का संग्रह है। (२०) 'शृंगार रहस्य दीपिका' और (२१) 'अष्टयाम' की रचना भी युगल प्रिया जी ने की है। 'पदावली' में माधुर्य और ऐश्वर्य का भव्य वर्णन है। राम-सीता के शृंगार में उलझा हुआ भक्त का रसमत्त हृदय इस ग्रंथ के प्रत्येक पद में अनावृत हो गया है। राम-सीता के शृंगार का ध्यान करके यह साधक भी 'सव मन काम' भूल गया है। मिथिला में सीताराम के शृंगार वर्णन में कवि ने हृदय में छिपे हुए सब रसिक भावों को राम-सीता के रसरंग को अर्पित कर दिया है§। सीता-राम के मधुर रसरंग का प्रवाह भक्त के हृदय में पहुँच कर पावन आवेश बन गया है और इस पदावली के रसरंग के चित्रों में अंकित हो उठा है। पदावली के रससिक्त शब्दचित्र इस बात की गवाही देते हैं कि युगल प्रिया जी ने अपने हृदय के कुंज में वस्त्र, आभूषण, वाद्य, संगीत, आलिंगन, पुष्प, रंग, अबीर, गुलाल, वीणा, नृत्य, गान, मेवा तथा फूलों के शृंगार-संभार के बीच, सीता-राम और उनकी सखियों के साथ फाग खेल लिया है तब दूसरों के भीतर उसी पावन आवेश को उत्पन्न करने के लिए शब्दब्रह्म की आनंदात्मिका मधुरा शक्ति को उसे सौंप कर अभिव्यक्ति प्रदान किया है×।

---

‡ प्रकाशक-श्री भरत शरण जी (श्री विश्वंभर प्रसाद जी माथुर, भूतपूर्व प्रोफ़ेसर गवर्नमेंट कालेज, अजमेर)। † रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २४१–४२। $ वही, पृष्ठ २४७। * प्रकाशक सेठ छोटेलाल, लक्ष्मीचन्द, बम्बई वाले, सन् १९०१, लखनऊ प्रिंटिंग प्रेस में मुद्रित। § 'राम-भक्ति-साहित्य में मधुर उपासना', पृष्ठ २५५। × वही, पृष्ठ २५९।

(२२) युगलानन्यशरण 'हेमलता' का 'उज्ज्वल उत्कण्ठा विलास ‡' तीन सौ पंचानवे दोहों का, पावन उत्कंठा की स्निग्ध मणियों का कोष है। रसिकोपासना का हृदयरहस्य, इस ग्रंथ में मधुर-मुखर हो उठा है। इसमें नामोत्कंठा, रूपोत्कंठा, गुणोत्कंठा, धामोत्कंठा तथा लीलोत्कंठा क्रम से व्यक्त हुई हैं। सीताराम के नाम, रूप, गुण, धाम और लीला के माधुर्य में इस साधक का हृदय उत्कंठित हो कर लीन हो गया है। 'नाम सुख सागर' की 'महामधुरता' को उसकी रसना ने चख लिया है। उस महामधुर रस के आस्वाद के सामने वह भुक्ति और मुक्ति की अभिलाषा को तृण और धूल के समान मानता है। वह 'नाम-लगन' के लिए अपने 'अंतर' में 'लोभ' उत्पन्न करना चाहता है—ऐसा लोभ जिसके आवेश में एक क्षण के भी नाम-वियोग से वह शरीर छोड़ देगा, जिस तरह मीन जल के वियोग के कारण। इसी तरह राम के रूप की शोभा के जल से वह अपने 'कलंक' को धो लेना चाहता है और राम के प्रत्येक अंग के लावण्य को देख कर वह युगों को निमेष के समान विता देना अपना अभीष्ट बना लेता है। राम के नाम, रूप, गुण, धाम और लीला के सौन्दर्य को युगलानन्यशरण ने द्वंद्वविनिर्मुक्त हृदय से पान किया है।

(२३) 'अर्थपंचक †' युगलानन्यशरण का दूसरा ग्रंथ है। इसके विषय हैं (१) जीवस्वरूप विवेचन (२) ईश्वरस्वरूप विवेचन (३) उपाय तथा संबंध-भावना विवेचन (४) फल तथा पुरुषार्थ तत्त्व विवेचन तथा (५) विरोधी विवेचन और कालक्षेप विवेचन हैं। इन पाँच आधारों पर युगल उपासना का महत्त्व इस ग्रंथ में संक्षेप में प्रतिपादित किया गया है। इस ग्रंथ में भी 'परमप्रमोद की अथाह उमंगों' को ले कर साधक का हृदय 'संतत टहल-सुधा-निधि' की कामना करता है। वह अपने सब 'भोगों को प्रभु-अनुकूल' अनुभव करता है और युगल स्वरूप के सौन्दर्य में मग्न हो कर 'तत्सुख-सुखी' रहता है। "यद्यपि सब सम्बन्ध अनूपा तद्यपि पति-पत्नी सुख रूपा॥ याहिमाहि अति प्रीति प्रकासे। निरावरन प्रीतम रस भासे" इस साधक का सिद्धान्त है। वह सब सम्बन्धों को अनुपम मानते हुए भी पति-पत्नी भाव को सुखरूप मानता है; क्योंकि केवल इसी भाव में अतिशय प्रीति के प्रकाश में प्रीतम का रस निरावरण हो कर अनुभूत होता है। इस साधक को यह अनुभव हो रहा है कि प्रिय के वियोग में उठने वाला हाहाकर नित्य हृदय में रहता है और उसके प्रभाव से नयनों से नीर की वर्षा होती रहती है। खान, पान तथा मान को छोड़ कर उसका हृदय 'निशिदिन नाह-मिलन-अनुराग' में लीन रहता है। उसने 'स्वर्ग मोक्ष अभिलाष' को विस्मृत करके 'केवल ललन मिलन पन' धारण कर लिया है। उसने इस तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है कि चौवीस तत्त्वों के शरीर को छोड़ कर अनुरागी साधक प्रभु को हृदय से समझ लेता है। सियाराम से मिलन की अभिलाषा के कारण वह माया और गुणों की गति को अनायास ही नष्ट कर देता है। ऐसा साधक सुषुम्णा द्वार से प्राणों को निकाल कर

---

‡ संवत् १९७२, भाद्रशुक्ल अष्टमी भौमवार को रचना पूर्ण हुई। प्रकाशक—पुस्तकभंडार, लहेरियासराय (दरभंगा)। † मुद्रक, सेठ वंशीधर लड़ी वाले, रामायण प्रेस लिमिटेड, अयोध्या, प्रकाशक—रामबहादुर शरण, मुजफ्फरपुर।

ब्रह्मरन्ध्र खोल कर 'खरारी' के धाम चला जाता है। अर्चिरादि पथों का जानकार ऐसा साधक झीने रविमंडल को अनायास ही भेद डालता है। प्रकृति के आवरण को उतार कर यह साधक प्रेम के रंग में डूबी हुई विरजा नदी का दर्शन कर लेता है। इस अनुराग का दर्शन करके जगत् के समस्त संस्कार उसे छोड़ने को बाध्य हो जाते हैं। कारण शरीर की वासनाओं से मुक्त हो कर वह अमल अमानव पद का स्पर्श पा लेता है और उसके भीतर महाप्रेम का शुद्ध सागर तरंगें मारने लगता है। यहाँ उसे त्रिगुण रहित शरीर प्राप्त हो जाता है। वह विरज, भव्य तथा दिव्य आनंद में प्रविष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह राम के उस 'सदा प्रकास सुचि सुन्दर रूप' का अधिकारी हो जाता है, जिसे देख कर 'अमित पुरंदर लज्जित' हो जाते हैं। 'सियवर' के 'सोहावन रूप प्रकास' की छवि से आलोकित हो कर प्रिय के 'मणिसोपान द्वार' का स्नेह प्राप्त कर लेता है। यहाँ से वह 'अदेह हर्ष' को ले कर आगे बढ़ता है और युगल छवि की अनुपम शोभा का दर्शन प्राप्त करके शाश्वत आनंद में लीन रहता है। योग और भक्ति का बड़ा सुन्दर सामंजस्य 'अर्थ-पंचक' में स्थापित किया गया है। यहाँ भक्ति साधनात्मिका हो गयी है‡।

(२४) 'श्री जानकी सनेह हुलास शतक' युगलानन्यशरण का तीसरा ग्रंथ है। इस ग्रंथ में राम से अधिक जानकी को महत्त्व दिया गया है। इसके अनुसार अपना नाम करोड़ों बार सुन कर राम उतने प्रसन्न नहीं होते जितना सीता का नाम एक बार ही सुन कर वे सन्तुष्ट होते हैं। जो संसार के 'अनेक अरसों' को छोड़ कर 'रस-राज-रस' में डूब जाते हैं उनके लिए केवल जानकीवल्लभ नाम ही सहारा बनता है और यह सहारा युगला-नन्यशरण सीता की प्रसन्नता का परिणाम समझते हैं†।

(२५) 'संतसुख प्रकाशिका पदावली§' युगलानन्यशरण जी के पदों का संग्रह है। सूफ़ियों की मँजी हुई उर्दू शैली में इस पदावली में इश्क का दर्द व्यक्त हुआ है। पैरों में नूपुर और भक्ति के गेय पदों में नेह का नूपुर बाँध कर यह साधक पराप्रीति से नाच उठा है। वह सीतावर से 'रहस-भावना' माँग चुका है। उसे दर्द है और वह यह अनुभव करता है कि 'बेदरदी' संसार उसका 'दरद' किसी प्रकार नहीं जान सकता। उसका वियोग वही जानता है और उसे व्यक्त करने के लिए उसके पास शब्द हैं। 'अचल दरद' से उसका हृदय दग्ध हो चुका है। पदावली के बहुत से पद बेजोड़ हैं*। स्वामी युगलानन्य शरण ने सीताराम के मधुर शृंगार की भावना में अपने को खो दिया है। उसकी आँखों ने "सब में परिपूरन राम न तिलभर खाली" के रहस्य को देख लिया है। उसकी अनुभूति के भीतर राम के विलास, प्रकाश और रूप से सब विश्व उज्ज्वल दिखलाई देता है। इस संत के भीतर 'छैल छबीले' राम से 'मिलन का मनोरथ छन-छन' जाग उठता है। उसकी आँखें प्रिय को देखने के लिए 'दरद दिवानी' हैं। उनको प्रिय की 'लाली तन, मन, बन और

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २६५ से २६७ तक। † रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २६८-२६९। § सन् १९१७ में लखनऊ स्टीम प्रिंटिंग प्रेस से मुद्रित। * रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना पृष्ठ २७० से २७२ तक।

पर्वतों' में फैली हुई दिखाई पड़ती है। इस लाली के अद्वैत में उसकी आत्मा विषमता को खो कर 'सुचि समता' के समग्र सुखों से सज कर उसी में निवास करती है‡। रस के इस माधुर्य का अनुभव करने वाला उसका हृदय कह उठता है: "नगारा नेह का नित बाजत आठो याम।" हृदय में बजते हुए प्रेम के इस नगारे की अनाहत ध्वनि वह अपने हृदय के कानों से सुन कर रसमग्न हो जाता है। यही रस उसका सुख है, उसका यश है। इस रस को छोड़ उसके व्यक्तित्व में कुछ भी शेष नहीं रह गया है। इस नेह के संगीत के सरगम 'केकी, कोकिल, बीन के सुधामय स्वर से अधिक मधुर' हैं। उसकी लगन रघुबीर से लग गयी है; इसीलिए वह अपने 'घायल दिल' से 'सरयू नीर निरखता' हुआ अपना समय काटता है।

नारी के हृदय का स्वभाव अपना कर युगलानन्यशरण जी राम की सखी हेमलता जी में अपने को अन्तर्भावित कर चुके हैं। वे राम को उलाहना देते हैं कि मेरे लिए तूने अपना स्वभाव ही बदल लिया। तू तो सब जीवों को उनके गुणों और गतियों की चिन्ता किये बिना दया के दृगों से देखता है। मैं तो तेरी हूँ और तूही मेरा पति है, इस दृढ़ प्रतीति से मेरी 'छाती छक' चुकी है। उसके भीतर यश और जाति की भावना स्थान नहीं पाती, रुचती ही नहीं; फिर तू मुझे क्यों नहीं अपनाता, मेरे लिए अपना सर्वजनवत्सल स्वभाव तू कैसे भूल गया†।

इस पुरुष साधक ने अपने हृदय को नारी बना कर 'रसीले लाला' से प्रीति लगा ली है। वह प्रिय को अपने प्राणों से पहचान चुका है, जान चुका है और विरहिणी की 'रतिरुचिरीति' को अपने हृदय में पालता रहता है। उसके चित्त में निरंतर अथाह चाह बढ़ रही है। विपरीत जगत् उसे नहीं रुचता। उसने नीति-अनीति सब छोड़ दी है। किसी के साथ उसका रंग नहीं जुड़ता। यह प्रबल प्रतीति उसके भीतर बढ़ चुकी है कि प्रिय मिलेगा। वह इस बात को अनुभव कर चुका है कि "अब हम भई सोहागिनी साँची।" 'विषयों की विभूति की वासना' वह भूल गया है। कच्ची 'जगमति' उसके भीतर नष्ट हो चुकी है। राम के रंग में रँग कर यह साधक विरह की दर्दभरी आकुलता का अनुभव करता है और उसके अंग शिथिल रहने लगे हैं। 'बेहोश देवानी' हो कर वह औचक उठ जाता है और 'पिय पिय' कह कर बिलख उठता है। इस रंग में डूब कर वह 'ललन ललित गुन' गाता रहता है। 'पिय गुन से घायल' उसकी आत्मा प्रौढ़ा नायिका की स्थिति प्राप्त कर चुकी है। प्रीतम रस का स्वाद वह प्राप्त कर चुकी है। वह अपने प्रेम को छिपाने के लिए मौन हो गयी है। उसे अपनी रसमयी दशा का वर्णन करने में अपार शर्म और संकोच का अनुभव होता है। इसी तरह के रससिक्त पद युगलानन्यशरण की 'संतसुख प्रकाशिका पदावली' में हैं। इन पदों में संत का नवनीत कोमल हृदय जगन्मोहन, परम सुन्दर राम की विरहाग्नि में जल उठा है। उसकी दशा विचित्र हो गयी है। सब ऋतुओं में व्याप्त राम के

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २६९। † रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २७०।

रूप को देख कर उसका हृदय हार जाता है। वर्षा की बूँदों में बैठा हुआ .राम जब उसकी आँखों को दिखलाई पड़ जाता है, तब उसकी आँखों में विरह जल का प्रवाह उमड़ पड़ता है। बादल के गरजने में, बिजली के चमकने में, मयूर की केका में, चारों तरफ़ वह राम को देख कर 'सियपिय' के विरह को 'अकथ और अपार वेदना' में डूब जाता है। वर्षाऋतु "पल पल पिय मृदु मधुर मोहनी मूरति हित" उसे ललचाती है। यह ऋतु रस की वर्षा करती है और हेमलता की विरहिणी के हृदय में 'हाय' बस जाती है। मन्द-मन्द गर्जन करने वाले बादल उसके प्रिय का 'गुणगान' करके उसके यश को प्रकट करते हैं। चपला चमक कर अपने 'दिलदाह' को दिखा देती है तो हेमलता जी को दूना दर्द प्राप्त हो जाता है। युगलानन्यशरण जी ने हेमलता की आत्मा में प्रविष्ट हो कर अनंत व्यापी घनश्याम रघुनंदन की शोभा का कोमल साक्षात्कार किया था और प्रेमिका के हृदय में प्रिय के मधुमय प्रेम के जितने प्रकार के आवेग उत्पन्न होते हैं उन सबको अपने हृदय में अनुभव करके प्रियतम रामघनश्याम को अर्पित कर दिया है। भक्तों के हृदय की यह रसमयी साधना धन्य थी जिसमें जगदानंद ब्रह्मानंद के रूप में परिणत हो गया था‡।

(२६) 'श्री सीता-राम नाम परत्व पदावली†' भी स्वामी युगलानन्यशरण जी के नाम-संबंध सिद्धान्तों का अनुपम तथा मधुर कोष है। इस कोष में नाम की अनंत शक्तिमत्ता अपनी अनंत माधुरी के साथ व्यक्त हुई है। इसमें 'नाम-नेम' से 'प्रेम-छेम' की उत्पत्ति का रसमय सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। 'नाम नेम' ही हेमलता जी के प्रेम को 'हेम झलक' प्रदान करता है। नाम-रटन से वियोग की आहें उत्पन्न होती हैं और उनसे 'मोह-पटलकाई' फट जाती है। इसी 'नाम नेम' से 'अटल-पद में प्रवेश' संभव है। इसी के द्वारा 'जटिल-जीवन-घन' के भीतर से मधुमय प्रेम की उज्ज्वल ज्योति उदित होती है। इसी के प्रभाव से मन और बुद्धि की चंचल गति रुद्ध हो जाती है, हृदय 'नूर पूर' हो जाता है और 'हजूर के रहस्य के लाखों पवित्र रूप' आँखें देख लेती हैं। 'नाम-नेम' से प्रिय की परम प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है, मन और बुद्धि की चंचलता भूल जाती है, जगत् के शूल शान्त हो जाते हैं और प्रिय के प्रेम का 'संतत सरस स्वाद' मिलने लगता है।

'रामनाम का मधुर सुरस' जो लोग पी लेते हैं उन्हें राम पति रूप में मिल जाता है। 'युग-युग' तक 'प्रभापुंज संयुत' उसका जीवन सरस हो जाता है। निश्छल प्रेम की पवित्रता हृदय को आलोकित कर रोम-रोम को प्रभापुंज से प्रदीप्त कर देती है। महात्माओं के शरीर का यह तेज अनादि काल से लोक विख्यात है। इस आत्म तेज और देहोद्दीप्ति का सर्जन युगलानन्यशरण 'श्री हेमलता जी' ने अपने व्यक्तित्व में कर लिया था। आत्मानुभूति के सत्य से आलोकित महात्मा युगलानन्यशरण के शब्दों में सत्य का सहज आकर्षण है। भगवान् राम के 'सद्‌विलास' का आलोक, खास प्रकाश है। उसकी 'सुछबि' की छटा जब भक्त के भीतर-बाहर छा जाती है तब उसे 'ललाम लहरों के लय' में 'आग' भी

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २७१-२७२। † प्रकाशक—लखनऊ स्टीम प्रिंटिंग प्रेस, समय—कार्तिक शुक्ल १९६९ विक्रम।

'खास' हो कर अनुपम अनुभावित होता है‡। उस ललित ललाम राम की लाली से जब सारा विश्व भक्त को आलोकित अनुभूत होने लगता है तब आम जगत् उसे खास राम की तरह प्रतीत होने लगता है। 'निज प्रभुमय देखहिं जगत'† की अवस्था उसमें उत्पन्न हो जाती है। ऐसी अवस्था में उसे 'युगल रूप' नित्य निकट ही शोभित होते हुए दिखाई देता है। यही अवस्था 'सीय राम मय सब जग'$ की अनुभूति की अवस्था है जो महात्मा युगलानन्यशरण को प्राप्त हो गयी थी। उसने नाम का 'जाम' पी लिया है। वह नाम विश्व भर में समाया हुआ है, इसलिए नाम में खो कर वह विश्व का हो गया। उसे न अपना खयाल है न अपनी तकलीफ़ों का। उसने अपने को नाम के स्वाद में खो दिया है। वह 'नाम रटन रस का रसिया' हो गया है। 'नाम सुख' ही उसका 'प्रान अधार' हो गया है। वह अगुन सगुन युग रूप' को ऐसे सौन्दर्य के आवरण से सजा हुआ देखता है जो 'अलेख और अनिर्वचनीय है। उसने राम-नाम के 'विमल बरन' को 'हिय हरन हार' बना लिया है। राम-नाम के विमल वर्णों के हारने उसके हृदय को हर लिया और उसका हृदय हार बन गया*। नाम के जपने से ही परात्पर ब्रह्म राम उसे मिला और उसकी 'अकथ छवि से छक' कर उसका हृदय 'अटल' प्रेमी हो गया। नाम स्मरण से उसे 'रंग-रस' मिलता है और उसका हृदय राम के सरस सौन्दर्य और दिव्य गंध से युक्त हो कर पूर्णानन्द से खिल उठा है। वह निरन्तर रामरस ही पीता है। इस रस की 'मदहोशी के जोश में छक कर' उसकी मति राम की पराप्रीति में डूब गयी है। उसका यह प्रेम 'विमल विराग' सच्चा और शुद्ध शौक है। 'प्यार से सज कर' वह 'मंत्रसार राम नाम' का उच्चारण करता रहता है। 'अपने पिया का नाम' उसे 'अनुपम रंगभरा' दिखाई देता है। इसे छोड़ किसी दूसरी वस्तु के लिए उसका प्यार नहीं बढ़ता। यही उसके हृदय को 'छन छन हरता' रहता है। यह नाम ही हर वस्तु की शोभा है। 'रंग ला नाम' स्मरण करते हुए उसकी मति नाम के सौन्दर्य भार से दब गयी है। 'प्रिय-पीयूप' की माधुरी को नाम के प्याले से पी कर वह सब रसों से विरक्त हो गयी है§। 'जानकी जीवन' के नाम रस की विह्वलता से व्याकुल हो कर नूतन आनंद और मंगलमय जीवनदान करने वाले राम को उसकी मति ने प्राप्त कर लिया है। अब उसकी रातें सरस हो गयी हैं। उसकी अज्ञान निशा प्रिय के प्रेम से आलोकित हो कर ज्ञानानन्द से मधुर संयोग का अनुभव कर रही है। प्रेम के माधुर्य का सहज शृंगार प्राप्त करके युगलानन्य शरण के हृदय ने नाम को अनिर्वचनीय स्वाद के कोमलतम आवरण से सिक्त पाया है और इस महात्मा की प्यासी आत्मा 'प्रीतम के पुनीत रस' से 'निहाल' हो गयी है×।

(२७) 'श्री प्रेमपरत्व प्रभा दोहावली+' महात्मा युगलानन्य शरण के द्वारा लिखे गये, पर-प्रेम के सर्वोच्च और सर्वतेजोभिभावी आलोक को प्रसारित करने वाले दोहों का

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २७३। † रामचरितमानस, उत्तर कांड, दोहा ११२। $ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७ के बाद। * रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना पृष्ठ २७३। § वही, पृष्ठ २७३–२७६ तक। × वही, पृष्ठ २७६। + नवम्बर २२, सन् १९१६ में चर्च मिशन प्रेस, गोरखपुर में मुद्रित।

संग्रह है। यह संग्रह लवकुश शरण ने किया है। इस संग्रह के आरम्भ में अग्रतः प्रस्तुत गुरु परम्परा मिलती है :—

श्री जीवाराम—'युगल प्रिया' जी।

श्री युगलानन्यशरण जी—'हेमलता जी'

श्री जानकीवर शरण—'प्रीतिलता जी'

श्री रामवल्लभा शरण—'युगल विहारी जी ‡'

'प्रेम परत्व प्रभा दोहावली' में भी शैली का वही सूफ़ियाना ढंग है। प्रेम की पीर को अभिव्यक्ति करने वाले इन दोहों में भी वही कोमलता शब्दों में है जो हमें महात्मा युगलानन्य शरण के और ग्रंथों में अनुभूत होती है। इस दोहावली में विरह ज्वर, अष्टयाम उपासना तथा रूप-सुषमा अभिव्यक्त हुई है। यहाँ भी 'विरह' की चोट महात्मा के 'अन्तर' में लग गयी है, जिसके कारण उसे 'प्रभु सुख' प्रत्यक्ष प्राप्त हो रहा है। 'रैन दिन' उसके भीतर किसकी पीड़ा है वह किसे बताए। 'सिया वर के बिना दिल दरद बूझन हार' भी तो कोई नहीं है। श्याम का स्मरण कर करके उसका विरहिणी रूप 'पल पल करक' रहा है। उसी पीड़ा में वह 'हर हमेश मद मस्त' है। इस पीड़ा का 'महान् ज्ञान' उसे गुरु से प्राप्त हो गया है। 'जब दरद उठता है, तब उसका तन हरद बराबर जरद' हो उठता है। 'देखे विना, वियोग ज्वर ज्वाल' से उसके 'सब अंग जले' जा रहे हैं। 'जुगल अंग छवि' जब उसे देखने को मिले तब उसके 'दृग शीतल' हों। उसकी 'दशा दिवानी' हो गयी है, 'रात-दिन बहकते बैन' बोलता है तथा अपने 'छन-छन टपकत नैन' साथ लिये 'होस बिना' घूमता फिरता है †।

'जाति पाँति कुल वेद पथ' को छोड़ कर यह विरहिणी अनियम, नियमों के बन्धन से मुक्त हो कर 'निसदिन पिय के कर बिक' चुकी है। 'प्रीतम प्रेम' से बाध्य हो कर वह रुक न सकी। वह 'प्रभु दरवाजे' सो गयी है। 'सिय वर हाथन' बिक जाने के बाद उसे होनी की चिन्ता नहीं। वह कहती है, 'होनी होय सो होय'। प्रभु के द्वार को छोड़ इस साधक का विरहिणी रूप इधर-उधर कहीं नहीं झाँकता।

सिद्धों की सिद्धाई उसे 'सहस शूली' की तरह, हज़ारों शूलियों की तरह पीड़ा देती है। उसमें प्रिय को भूल कर सिद्धि का अभिमान जो जाग पड़ता है। यह अभिमान प्रेमी को कहाँ प्रिय होता है! वह तो अपने को भूल कर प्रिय-प्रेम के अद्वैत में मस्त हो जाना चाहता है। इसीलिए 'ज़हान वितान' को, संसार के मंडल बद्ध प्रपंच को छोड़ कर वह 'नाम के अमल' से मतवाला हो जाता है।

अष्टयाम की सेवा में भी इसी तरह की भावमयी अष्टयामिनी उपासना है। 'रूप सुषमा' भी सरस हृदय की मनोहारिणी सौन्दर्य-भावना की उच्चतम परिणति है। अनंत युगल की शोभा का यह रससिद्ध महात्मा अपने को मनोहर युगल के अंग-अंग की शोभा पर निछावर कर चुका है। इस आत्म-विसर्जन योग ने उसकी 'चपल चाह' का 'चूरन' बना

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २७६। † वही, पृष्ठ २७७–२७८।

डाला है और काम के अंधकार को उसके हृदय से निर्वासित कर दिया है। 'नित्य निरमल नेह' की आकांक्षा को ले कर वह परमसुन्दर युगल छवि में लीन हो गया है। वह 'राममहल' में प्रवेश पा चुका है, अब दुनिया के 'बाजार' में नहीं आएगा। इस परम सुन्दर का नाम ही उसके लिए 'मुख्य' है शेष सब 'गौण'। इसी मुख्य की माधुरी में लीन हो कर वह कोमलतम मुक्ति का अनुभव करता रहता है ‡।

(२८) 'श्री युगलविनोद विलास' 'श्रीराम नवरत्न सार-संग्रह' के पंचम अध्याय का हिन्दी अनुवाद है। दोनों ग्रंथ स्वामी रामचरण दास 'करुणा सिंधु' द्वारा निर्मित हैं। द्वितीय, संस्कृत का संग्रह-ग्रंथ और प्रथम उसके पाँचवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद। 'किसोर किसोरी के विनोद और विलास के बड़े कोमलतम रस-सिक्त चित्र इस ग्रंथ में हैं। जल-केलि और रासलीला के मधुर तरंगों ने एक अनिर्वचनीय शोभावाली 'ब्रह्मरैन' की सृष्टि कर दी है। यह क्रीडा 'सकल जीव' के भीतर की परमानन्दमयी अवस्था है। राम की सखियों की चर्चा करते हुए रामचरण दास जी ने कहा है कि मैंने केवल गण नायिकाओं के नाम गिनाये हैं। इनमें से प्रत्येक के अनुशासन में दो-दो हजार किंकरियाँ रहती हैं। यह रास लीला महारसोत्सव का एक अनुपम संभार है, जिसमें राग, रागिनियाँ, स्वर, ताल इत्यादि सब सखी रूप धारण करके किसोर राम के साथ नृत्य कर रहे हैं † ।

(२९) 'उभय प्रबोधक रामायण $' महात्मा वनादास की रचना है। इन महात्मा में मर्यादा की उपासना-तरंगिणी के गंभीर तल में रसिकोपासना निमग्न रहती है। ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, नामस्मरण और पवित्र जीवन की मर्यादाओं के ये प्रचारक हैं। पर हृदय के गुप्ततम तल में उन्होंने अपने भीतर मधुरा रति को स्वीकार किया है, अन्यथा व्यक्ततः ये दास्यभाव के उपासक हैं। मूलखंड, गुणखंड, नामखंड, अयोध्याखंड, विपिनखंड, विहारखंड ज्ञानखंड और शान्तिखंड इनके ग्रंथ के सात कांडों के नाम हैं। विहारखंड में वन से लौटने के बाद राम जनकपुर एक बार और जाते हैं और काशी नरेश के अतिथि भी, वापसी यात्रा में रहते हैं। यहाँ काशी नरेश के द्वारा किया हुआ सत्कार बड़ा भावमय और मधुर चित्रित हुआ है।

पुष्पवाटिका का प्रसंग वनादास जी ने बड़ी मधुरता से अंकित किया है। मृगों, पक्षियों और विटपों की ओर सीता देखती भर है पर आँखों में राम की मूर्ति समा गयी है। उस मूर्ति पर से उसका ध्यान तनिक भी नहीं हटता। तरुओं और लताओं के नाम सखियों से पूछती हुई वह अधिक समय तक वाटिका में ही रुकी रह जाती है, प्रिय के वियोग को कुछ और देर तक टाल देने के लिए। वनादास जी कहते हैं कि राम के वाम कर से धोखे से फूल भूमि पर गिर गये, पूजा के योग्य नहीं रह गये, इस तरह दूसरे फूलों को चुनने में व्यस्त राम ने सीता के भाव को समझ कर दर्शन की अवधि को लम्बी बना दिया। अन्तर्यामी राम सदा अपने सब जनों की रुचि रखते हैं *। राम के सौन्दर्य में वना

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २७८ से २८३ तक। † वही, पृष्ठ २८४ से २८६ तक। $ दिसम्बर सन् १८९२ इस्वी में नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ में मुद्रित।
* रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २८७।

दास जी ने 'कैवल्य' का दर्शन किया है। इस महात्मा को भी सीता के सौन्दर्य का वर्णन करने के लिए 'टटोलने' पर भी उपमा नहीं मिलतीं। 'नृप. की किशोरी' उनसे 'अधिक' हो जाती है। इसीलिए 'कहनी' को छोड़ कर वह सीता के आदर्शों के अनुसार अपनी 'रहनी' को बदल कर उनके 'चरणों पर कुर्बान' हो जाता है; क्योंकि सीता के सौन्दर्य का वर्णन करने के समय 'वचन के ज्ञान की झलकी' अन्धीकृत हो कर अपना सम्मान खो देती है‡।

(३०) 'सीतारामझूला विलास†' श्री रसरंग मणि का एक सुन्दर तथा अल्पकाय ग्रंथमणि है। इसमें २५ झूले के तथा ५ नौका विहार और जलविहार के पद हैं। इन चित्रों की शोभा रसरंग मणि के हृदयागार को 'छल' कर उसमें निवास कर गयी है§।

(३१) 'श्रीरामनाम यश विलास श्री रामरूप यशविलास*' भी रसरंग मणि जी की रचना है। शरणागति, दास्य और माधुर्य के बड़े सुन्दर चित्र इस ग्रंथ में अंकित है। सर्वभाव की उपासना रसरंग जी में दृष्टिगोचर होती है।

(३२) 'श्री सरयू रसरंग लहरी तथा अवध पंचक'—इस ग्रंथ में रसरंग मणि का हृदय सरयू की शोभा तथा अवध के ऐश्वर्य में लीन हो गया है। सरयू के तट पर झाऊ की झाड़ियों में कवि ने ऋद्धि, सिद्धि, भुक्ति और मुक्ति के झुंडों को झूलते हुए देखा है§।

(३३) 'श्री सीताराम शोभावली प्रेम पदावली×'—रसरंगमणि का यह ग्रंथ अस्सी पष्ठों में पूरा हुआ है। शोभा वर्णन का बड़ा उच्च और ललित स्तर इस ग्रंथ ने प्रस्तुत किया है। सीताराम की शोभा पर, उनके हिंदोल विहार पर वासनाओं की बलि दे कर रसरंगमणि ने अपना तन, मन निछावर कर दिया है। 'रसिक वर हरि' ने उसका मन हर लिया है, 'रूपघनी वीर' उसके 'उर' में 'बर जोरी बस गया है।' प्रेम में डूब कर उस युगल छवि के अमृत को रसरंग के प्यासे हृदय ने पी लिया है। राम के मुखचंद्र के लिए उसकी आँखें चकोरी बन गयी हैं+।

(३४) 'श्री रामशत बन्दना' में रसरंगमणि का हृदय अपने प्रेम को राममय बना कर उनकी भक्ति में लीन हो गया है। उसका मन रघुनन्दन के मन्दहास के पाश में बद्ध हो गया है, उनके 'जुलुफ जंजीरन में' जकड़ गया है*।

(३५) 'श्री रामरसरंग विलास' में कुल १८५ कवित्तों में रसरंग मणि ने सीताराम की मधुर उपासना के सब उपादानों को एकत्र निचोड़ कर रख लिया है। मंगलाचरण, इष्ट वंदना, गुरुवंदना, आचार्य वन्दना, रामनाम का यश, राम का रूपरस, राम की

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २९०। † प्रकाशक, छोटेलाल लक्ष्मीचंद, सन् १८९९ में जैन प्रेस, लखनऊ में मुद्रित। § रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २९१। * पंडित घासीराम के देशोपकारक प्रेस, लखनऊ, में संवत् १९६५ में मुद्रित। § रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २९३। + देशोपकारक प्रेस, लखनऊ में सन् १९०२ में मुद्रित। × रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ २९४ से ३०१ तक। * वही, पृष्ठ ३०३।

कृपाभिलाषा, रामायण की कथा, राम के प्रति अनन्यता, राम का माधुर्य, पुनः नाम प्रभाव, राम का नखशिख वर्णन, श्री सीता का गुण-प्रभाव-वर्णन इत्यादि विषय इस ग्रंथ में सजे हुए हैं‡। इस ग्रंथ में भी रसरंग ने अपने 'हृदय की शैया पर समतुल्य युगल को बसा लिया है।' 'कनक भवन में प्रिया-प्रीतम की झाँकी' पर उसने अपने को वार दिया है†।

(३६) 'रामझाँकी विलास-$' की छोटी-सी काया में रसरंगमणि ने राम के जन्म से ले कर राज्याभिषेक तक की सुन्दर झाँकियों को बड़ी कोमल आकृतियों में अंकित कर लिया है। इस ग्रंथ में भी उन्होंने अपने 'बुद्धिकमल के बोध के बीच में विश्व-वीर राम की विमल, बाँकी झाँकियों' को बसा लिया है*।

(३७) 'सियवर केलि पदावली§' ज्ञाना अली सहचरी जी की चार सौ आठ पदों की रचना है। सहचरी जी में ज्ञान और प्रेम का गरिमापूर्ण कोमल आलोक अपने सम्पूर्ण माधुर्य के साथ निवास कर रहा है। 'लाड़ली-लाल' के यश की इस गायिका ने अपने को 'लाड़िली जी' की चेरी बना दिया था। सीता की आठ मुख्य सखियों में से ज्ञाना एक हैं। उन्हीं की सहचरी ज्ञाना अली ने अपने को बना लिया था। ज्ञाना जी ने अपनी माता का नाम चन्द्रकान्ति, पिता का नाम राजा शत्रुजित तथा बड़ी बहिन का नाम चारुशिला बताया है। अपने नाम के अक्षरों की सार्थकता सिद्ध करते हुए ज्ञाना जी ने 'ज्ञा' का अर्थ गोप्य-रस और 'ना' का अर्थ निश्चय बताया है। रसिकों के गोप्य मधुर रस को निश्चय पूर्वक स्वीकार करके ज्ञाना जी ने उस रस को छक कर पी लिया। 'ज्ञाना ज्ञान न जान कछु' कह कर उन्होंने ज्ञान को गौणता प्रदान कर दी है। केवल 'जनकलली' के प्रिय को ही 'ज्ञान, अखण्ड, अनादि, अज' समझ कर उन्हीं के प्रेम को अपने हृदय में ज्ञाना जी ने धारण कर लिया और जनक लली की आत्मा बन कर मिथिला को 'नैहर' तथा अवध को 'सासुर' मान लिया। इन्हीं दो स्थानों में ज्ञाना जी बारी-बारी से रहा करती थीं। गुरु की कृपा से उन्होंने 'विश्वमूर्ति, विश्वनिवास अज, अखंड, श्रीराम को अपना 'वर' बना कर उन्हीं को अपने 'ज्ञान का प्रकाश' मान लिया×। ज्ञाना अली का यह विश्वास है कि 'सियचरण उपासी' हो जाने से ही 'पिय छवि प्यास' मिट सकती है। सीता अनादि और अनंत शक्ति है, जिसका यशोगान नवरस, छह शास्त्र, चार वेद, अट्ठारह पुराण तथा चौदह विद्याएँ करती हैं+। 'सियवर केलि पदावली' में ज्ञाना अली ने 'लाड़िली जी' की 'लगन' में अपने को खो दिया है और सीताराम के मधुरभाव में तन्मय हो गयी हैं। षट्ऋतुओं, बारह महीनों तथा अन्य प्रकार के हास-विलास और हिन्दोलोत्सवों की बड़ी कोमल माधुरी के बीच में ज्ञाना जी ने 'लाल-लाड़िली' के मधुररस का अनुभव किया है। उन्होंने मूक

‡ हितचिंतक प्रेस, रामघाट, बनारस, में संवत् १९६७ में मुद्रित। † रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३०४-३०५। $ संवत् १९६६ विक्रम, ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी को यह ग्रंथ पूरा हुआ। * रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३०६। § नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, में सन् १९१४ ई० में मुद्रित। × रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३०७-३०८।' + वही, पृष्ठ ३०९।

हो कर 'दम्पति विलासरस' का पान किया है; क्योंकि वह अनिर्वचनीय रस कहा कैसे जा सकता है। 'रूपमाधुरी, गुणकथन, अभिरामयुगल नाम', अवध के निवास तथा 'मिथिला की कथा' को ज्ञाना अली जी ने अपने 'जीवन का विश्राम' बना लिया था ‡।

(३८) 'जानकी नीरत्न माणिक्य †' रामसखे जी की रचना है। इसमें कुल ३७ पद हैं। दानलीला के बारह पद और कवितावली में पच्चीस कवित्त हैं। 'दशरथ कुमार' के मधुर शृंगार का दर्शन कर रामसखे भी अपने को भूल गये हैं। इन्होंने भी 'गोलोक लीला को चित्रकूट' में उतरी हुई देखा है। चित्रकूट की सुषमा को देख कर रामसखे का मन योगस्थ हो जाता है। राम के जीवन के जिस विलास प्रसार को रसिक सम्प्रदाय ने अपनी अनुभूति का विषय बनाया है उसके संपूर्णपरिवेश की ओर बड़े कोमल और मधुर इंगित रामसखे ने दिये हैं। 'अवध कुँवर' के समग्र 'छविघन' को रामसखे ने अपने 'मन के परम कुटीर में गोप्य' कर रखा था। 'दम्पति के सुन्दर-छवि बदन' को निहार कर यह साधक उस सौन्दर्य पर बलि हो गया था। रामसखे हर दृष्टि से रसिक संप्रदाय के उज्ज्वलतम साधकों में से हैं तथा अपनी अनुभूति को वाणी देने के लिए वागर्थ की बड़ी सिद्ध प्रतिपत्ति इनमें दृष्टिगोचर होती है $।

(३९) 'नृत्य राघव मिलन *' भी रामसखे की एक परम सशक्त रचना है। इसका सर्जन चैत्र शुक्ल तृतीया संवत् १८०४ को हुआ। सब रसों के बीजों का वपन इस ग्रंथ में साधक रामसखे ने किया है। इस ग्रंथ का कलेवर १५० दोहों, १४६ चौपाइयों तथा २० कवित्तों से संघटित किया गया है। इसमें भक्ति का स्वरूप, शरणागत धर्म, नाम, रूप, गुण, प्रभाव, धाम, परत्व, अवध, प्रमोदवन, माधुर्य लीला, रामावरण, अवधावरण, जीव-ईश्वर-सम्बन्ध, नर्म सखाओं के रहस्य, रसिक साधकों के लक्षण तथा रसिकों की अनन्य रीति इत्यादि प्रस्तुत किये गये हैं§। चित्त सन्तोष का महाधन, रघुवर लीला में मग्नता, अनन्य रसिकों से मिलने का लोभ, और उनकी सेवा में मन को लीन कर देना, सखा या सखी भाव की आसक्ति, मधुर-चरित्र-गान, सर्व कर्म त्याग, रघुपति छवि की आसक्ति, राम की अनन्य भक्ति, जागतिक सम्बन्धों का विसर्जन, जगत्-स्रष्टा के रूप में राम का ध्यान, समता की साधना, हर्ष-('शोक') राहित्य, ब्रह्मलोक को भी तृणवत् समझना, अरसिक नृप और रंक दोनों का त्याग एक गुदड़ी का सहारा, तुलसीमाला ही आभूषण, श्रीराम को अर्पित किये हुए चंदन का तीन ऊर्ध्व रेखाओं वाला तिलक, बीच की रेखा लाल उसके नीचे हल्दी का बिन्दु, तिलक के दोनों पार्श्वों में भवों के ऊपर उठी हुई चन्दन की ललाट पर्यंत महीन रेखाएँ, भुजाओं पर हल्दी में डुबा कर छापी गयी धनुष, बाण और राम नाम की मुद्राएँ,

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३२२। † डायमंड जुबली प्रेस, कानपुर, में सन् १८९९ में मुद्रित। $ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३२२ से ३२७ तक। * प्रथम संस्करण की द्वितीयावृत्ति सन् १८९६ में नवलकिशोर प्रेस लखनऊ मे मुद्रित। एक संस्करण के प्रकाशक बंबई के सेठ छोटेलाल लक्ष्मीचन्द। अप्रैल १८९७ में लखनऊ प्रिंटिंग प्रेस में मुद्रित। § रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३२८।

शरीर पर पीत वस्त्र, कान में रामषडक्षर मंत्र तथा इसी का औरों को उपदेश देना रामसखे के अनुसार रसिक का लक्षण है। उनके अनुसार रसिक को दयावान्, मधुरभाषी, त्यागी, विवेकी, रामनाम का अनन्यव्रती होना चाहिए। उन्होंने कहा है कि रसिक को कोपीन और कमंडल धारण करना चाहिए तथा प्रमोदवन के कुंजों में विचरण करते रहना चाहिए। राघव की रासलीला का वर्णन करते हुए जो रसिक माधुर्य के आवेश में डूब जाए, रास लीला के ग्रंथों में ही मन को मग्न किये रहे और प्रेम में लीन हो कर औरों को भी रासलीला का मधुर वर्णन सुनाए, जो अहर्निश मनसा, वाचा, कर्मणा रासलीला के अलौकिक रस का ही अनुभव करता रहे राम और सीता के रूपों को देख कर निछावर हो जाए वही सब रसों के बीच रास-रस के शृंगार को अनुभव करने वाला सच्चा रसिक, रामसखे के अनुसार है। रामसखे के अनुसार ज्ञान और वैराग्य के सूर्य का उदय होने पर उसी प्रकाश में भक्ति का दर्शन होता है और रघुपति का मिलन-सुख प्राप्त होता है‡।

जो लोग राम के रूप के बिना और कुछ नहीं देखते, छवि की आसक्ति में डूबे हुए एक पल के लिए भी राघव से नहीं बिछुड़ते, सुन्दर नर-नारियों को देख कर राम-सीता के अपार वियोग में डूब जाते हैं, राजकुमारों के सुन्दर वेश में घोड़ों पर सवार हो कर आते हुए राम को अपने ध्यान में निरंतर देखते रहते हैं, उन्हीं को रामसखे अनन्य सुख के अनुरागी मानते हैं†।

कोयल की कूक और मयूरों के नर्तन जिनके मन को राम की छवि के सरोवर का मीन बना देते हैं, अरुण और पीत रंगों को देख कर जो लोग विकार रहित हो कर 'अवध-विहारी' की स्मृति में खो जाते हैं; नग-जटित नूपुरों को देख कर 'अवध-लाल' का रूप जिनके मन में चुभ जाता है; सिन्धु, सुगन्ध और रंग की ध्वनि का साक्षात्कार करके जो लोग अपने नयनों में राम को बिठा लेते हैं, सावन के घन, बिजली की तड़प और शरद के चंद्र से जिनका चित्त रघुनन्दन के विरह में सराबोर हो जाता है, फूलों और वसन्त की शोभा को देख कर जिनके हृदय में राम प्रेम की मंजरियाँ झूम उठती हैं, वे ही राम-सखे के अनुसार राम के प्रगाढ़ प्रेम के अनन्य रसिक हैं$।

राम सखे के अनुसार ऐसा अनन्य रसिक किसी भी योनि में हो, सुरपूज्य होता है। देवता भी उसके उच्छिष्ट की कामना करते हैं। ऐसे रसिकों के उच्छिष्ट के प्रताप से बिना जप-तप के ही जीव को मुक्ति प्राप्त हो जाती है। रामसखे जी के अनुसार वह शबरी की अनन्य रसिकता का ही प्रभाव था, जिसकी कोमलता से बाध्य हो कर रघुनाथ राम ने मुनियों का साथ छोड़ कर उसके जूठे फल खा लिये*।

राम के नर्म सखाओं का वर्णन करते हुए रामसखे जी ने कहा है कि नृप कुमार राम के चरित जिन्हें भाते हैं वे ही उनके नर्मसखा हो सकते हैं। रास-माधुरी में डूबा हुआ मन ही नर्म-सखा पद की प्राप्ति कर सकता है। ये नर्म-सखा राम-रस में छक कर प्रमोद

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ.३३०–३३१। † वही, पृष्ठ ३३१।
$ वही पृष्ठ ३३१–३२। * वही, पृष्ठ ३३२।

वन में रस-छन्दों की सृष्टि करते रहते हैं। जीव और ईश्वर दोनों को अपने ही भीत पा कर ये नित्य 'द्वैतमत' की ही चर्चा और उसी का समर्थन करते रहते हैं‡।

इस तरह विश्व की प्रत्येक सुन्दर वस्तु में राम के सौंदर्य का दर्शन कराने वाला, रामसखे का 'नृत्य राघव मिलन' एक सशक्त, चुस्त, प्रांजल तथा कला संवलित ग्रंथ है। रसिक संप्रदाय का यह परम मान्य ग्रंथ रामसखे की कीर्ति को अमर बनाये रखने के लिए पर्याप्त है।

(४०) 'सीतायन' रामप्रियाशरण 'प्रेमकली' जी का ग्रंथ है। इसके दो कांड प्रकाशित हैं—पहला बालकांड और दूसरा मधुर मालकांड†। रहस्य प्रमोदवन, श्री जानकी-घाट, अयोध्या, में सीतायन की हस्तलिखित प्रति प्राप्त है। इस प्रति में बालकांड मधुरकांड, जयमालकांड, रसमालकांड, सुखमालकांड, रसालकांड और चन्द्रिकाकांड के इन सात खंडों का विस्तार छह सौ चौंतीस पृष्ठों में है$।

प्रेमकली जी के सीतायन की सीता अनुपम सुन्दरी तथा तीस मंजरियों के द्वारा सेवित होती रहती है। उसका पार वेद भी नहीं पाते, वे नेति नेति कह कर रह जाते हैं और प्रफुल्लित चित्त से जनक के भाग्य को सराहते हैं। सीता के 'छमछम छननन' बजते हुए, नूपुरों की ध्वनि में प्रेमकली जी का मन मग्न हो गया है। चार प्रकार की सायुज्य, सारूप्य, सामीप्य और सालोक्य मुक्तियों का अवतार चार सुताओं के रूप में जनक के घर में हो गया है। रानियाँ जब इन रूपों को देखती हैं तब उन्हें जगत् भूल जाता है। प्रेमकली जी के अनुसार जिनके हृदय और आँखों में ये चार कन्याएँ बस गयी हैं, उनके लिए ब्रह्मात्मक सुख नगण्य हो गया है। जिस सीता के अंश से अमित रमा और रति उत्पन्न होती हैं, अमित उमा, शारदा और शची जिसके शरीर की कांति से फूट-फूट कर प्रकट होती रहती हैं, वही सीता माता-पिता की भृकुटि के इशारे पर, उनकी इच्छा के अनुसार उनकी सेवा में निरंतर लगी रहती है*। मूल प्रकृति जिस सीता का अंश है, जगत् जिसकी भृकुटि का विलास है, विधि, हरि और हर जिसके गुणों के सहारे सर्जन, पालन और संहार के कार्य करते रहते हैं, जिस सीता के चरणकमल के चिह्नों से अनंत अवतार होते रहते हैं, मत्स्यावतार से ले कर समस्त अवतार जिसकी लीला के अंग हैं, वही सीता जनक और सुनयना की गोदी में समा गयी है और उनकी चुटकी के ताल पर नाच कर उन्हें रिझाती रहती है। वही अनंत महिमामयी कभी अपना प्रतिबिम्ब देख कर नाचती है, कभी लड़खड़ा कर गिर पड़ती है; क्योंकि उसे अभी चलना नहीं आता। प्रेमकली की इसी सीता की राधा आह्लादिनी शक्ति है। यही सीता करोड़ों रतियों की रास-आचार्या है, इसी की शोभा से रूप, गुण और शील के अमित सौन्दर्य प्रकट होते रहते हैं, इसके विमल अंगों को देख कर गौरांग बाल रवि भी लज्जित हो जाता है, इसी ने नंद-नंदन के साथ गो लोक में

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३३५। † प्रकाशक—सेठ छोटेलाल लक्ष्मीचंद, बंबई वाले। प्रकाशन, सन् १८९७। $ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३३६। * वही, पृष्ठ ३३७।

विविध रासलीलाएं कीं तथा ब्रजगोपियाँ, रमा, शारदा और शची सब इसी के अंश से उत्पन्न होती हैं। सीता का यही भव्यरूप प्रेमकली जी की उपासना का केन्द्र है‡। 'कुँअरि-कुँअर' की इसी 'महाछवि' में प्रेमकली ने अपने मन को खो दिया है। प्रेमकली जी के श्रीराम परमपुरुष हैं। सीता और उनमें अभेद सम्बन्ध है। प्रेमकली की सीता के शब्द 'हमते उनते नहिं कछु भेदा। रूपभेद पुनि तत्त्व अभेदा' पिता जनक को इसी सत्य का परिचय देते हैं†।

साकेत धाम का वर्णन भी संप्रदाय की मान्यताओं के आधार पर प्रकृति पार गोलोक के हृदय प्रदेश में उसे अवस्थित करके किया गया है।

अनादि राम, अनादि सीता, अनादि अवध, अनादि मिथिला, अनादि जनक, अनादि दशरथ तथा अनादि लीला के ध्यान में प्रेमकली जी मग्न रहते थे। उनके पररूप सीता-राम, भक्तों के साथ विहार करते रहते हैं। वे श्याम गौर युगल, भक्तों के आधार और शरण हैं। प्रेमकली जी की 'सिया उर्मिला', 'नेह' और 'प्रेम' हैं। वे नियम पूर्वक आँठों याम एक साथ रहतीं हैं। इस नियम का व्यतिक्रम नहीं होता$।

श्री काष्ठजिह्वा स्वामी के भी कुछ ग्रंथ हैं, जिनका रसिकोपासना से सम्बन्ध है। वे हैं—श्री जानकीमंगल, श्री राममंगल, भूषण रहस्य, हनुमत विन्दु, श्यामलगन, श्यामसुधा, जानकी विन्दु तथा कृष्ण सहस्र परिचर्या इत्यादि। इन नामों से पता चलता है कि रामावत और कृष्णावत संप्रदाय के महात्माओं ने अपरिहार्य रूप से राम और कृष्ण की अभेदोपासना की थी*।

(४१) 'वृहद् उपासना रहस्य§' प्रेमलता जी की सर्जना है। इसमें भी रसिक संप्रदाय की सब मान्यताएँ बड़े मधुर और सशक्त ढंग से प्रस्तुत की गयी हैं। यह ग्रंथ बड़ा सारगर्भित और उपासना के परमोच्च और परमगुह्य मर्म को स्पर्श करता है। इसमें भी नाम, रूप, धाम, उपासक, उपासना, पंचसस्कार, सम्बन्ध महत्त्व, रासकुंज और गुह्य प्रसंगों पर बड़ी मार्मिक बातें कही गयी हैं। प्रेमलता जी ने सूचित किया है कि हनुमान, चारुशिला सखी के रूप में तथा शिव सुशीला सखी के रूप में भगवान् राम की उपासना करते हैं। बाहर से व्यक्ततः दास और सखा भाव से तथा अन्तर्हृदय से पत्नीभाव से ये दोनों भक्त उपासना करते हैं।

रूप प्रसंग में भी बड़ी मर्म की बातें प्रेमलता जी ने अवतरित की हैं। राम ही अकेला पुरुष है, बाक़ी सब शरीरधारी नारी हैं। सब में वही राम रमण करता है, इसीलिए उसे आत्माराम कहते हैं। हम सब लोग सीता की शक्ति हैं। इसीलिए हम सबके पति श्रीराम ही हैं। अपने को पुरुष मानना ही भ्रम है। सबके भीतर सीता की ही शक्ति समायी हुई है। प्रेमलता जी के अनुसार इस तरह का विवेक जिसे प्राप्त हो गया हो वही

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३३७। † वही, पृष्ठ ३३८। $ वही, पृष्ठ ३३९। * वही, पृष्ठ ३३९। § वही, पृष्ठ ३४०।

आत्मज्ञानी है। ज्ञान की इस अवतारणा को अनुभव कर लेने के बाद रसिक संप्रदाय की उपासना का रहस्य समझ में आ जाता है तथा रसिकोपासना में अनौचित्य का लेश भी नहीं दिखाई देता।

रसिकोपासना का रहस्य समझाते हुए प्रेमलता जी ने कहा है—विश्व ही विलास निकुंज है। इसमें जो यथार्थ नाटक हो रहा है वह बड़ा मोहक है। इसके नित्य और अनित्य प्रसार के बीच में प्रत्येक क्षण में नवीनता है। सृष्टि और विनाश, प्रभात और संध्या इस रंगमंच पर प्रत्येक क्षण में होते रहते हैं। सीता ने अपनी शक्ति से विद्यामाया और अविद्या माया की सृष्टि की। यह केवल लीला के लिए ही हुआ‡।

अविद्यामाया नराकार और नारीरूप मोहक जड वन के रूप में विस्तृत हो गयी। इन नर-नारियों में कोई भेद नहीं। ये सब रूप जड अविद्या माया के ही विस्तार हैं। इसी मोहक जड वन के विस्तार में प्रविष्ट हो कर विद्यामाया अविद्या के आवरण में विलीन हो गयी—अपने को भूल गयी। जडता के साथ खो कर उसने अपने चैतन्य को भी खो दिया। जडता की रूप-सीमा के भीतर बद्ध हो कर उसका सीमित अहं जड माया के जाल में फँस गया। विवश हो कर मोहमद जन्य अपने कर्मों का फल वह भोगने लगा। यह विद्यामाया भाग्य से कभी जब जडता के ऊपर उठती है तब शक्ति रूपिणी सीता को सन्मुख पा कर उसी का भजन कर मुक्त हो जाती है। अविद्या-ग्रस्त अहंकार सीमित हो कर सीता के अनन्त चरणों के ध्यान से विमुख हो स्वर्ग और नरक की शृंखलाओं में बारी-बारी से जकड़ा जाता है और जन्म-मृत्यु के चक्र पर घूमता रहता है। इसी सर्व-शक्तिमती, सर्वेश्वरी, जनरक्षिका, जनसुखदात्री, समर्था, आह्लादिनी, शक्ति-शील-गुण की खान, स्वतन्त्र, सकल-घट-वासिनी सीता के चरणों के ध्यान में प्रेमलता जी मग्न हैं†।

प्रेमलता जी की सीता राम ब्रह्म के प्राणों का आधार हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव अपने पुरुष भाव को अज्ञान समझ कर नारी भाव से सीता की सखी बन कर उसके चरणों की सेवा करते हैं तथा पुरुष भाव के अज्ञान के लिए सीता से क्षमा याचना करते हैं। यही सीता, रामरूप हो कर प्रकट होती है और युगल रूप से विहार कर जगत् के लिए आदर्श की सृष्टि कर जाती है। उसमें और राम में अनेक सम्बन्ध हैं। यही अनादि सीता-राम 'जनक दुलारी' और 'दशरथ सुत' हो कर प्रकट होते हैं। इसीलिए इन सशक्त युगल-चरणों में 'प्रेमलता' ने अपने को बाँध दिया है§।

प्रेमलता जी के द्वारा प्रस्तुत किया गया साकेत धाम का प्रसंग भी बड़ा सारगर्भित और मार्मिक है। गोलोक के हृदय में स्थित उस धाम में कर्म, धर्म, तप, ध्यान, योग, यज्ञ, जप, ज्ञान, पूजा, पाठ, जादू, टोना, तीर्थ, व्रत, मौन साधना, जन्म, मरण, रोग, वियोग, पाप, पुण्य, अहंकार, काम, प्राकृत विषयों के विहार, हठ, शठता, अविचार, रोष, कपट, दंभ, पाखंड, दोष, नानामत, शठता, वेश, राग, विराग, ईर्ष्या, द्वेष, जाति, वर्ण, आश्रम,

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३४१। † वही, पृष्ठ ३४१। § वही, पृष्ठ ३४२–३४३।

वेद, पुराण, चन्द्र, सूर्य, पंचतत्त्व, दुःख तथा द्वंद्व का नाम तक नहीं है। वह केवल 'सिय-सिय-वर-केलि-प्रधान' लोक है। वह स्वतः उद्भासित अनिर्वचनीय आनंद का अनुपम सौन्दर्य युक्त धाम है‡।

प्रेमलता जी की भावना का युगलोपासक वही है जिसके भीतर धाम के उपर्युक्त सब लक्षण हों। युगलोपासक, मन, कर्म और वाणी के सब विकारों को छोड़ कर 'सियराम' की उपासना करता है। इन उपासकों में भरत 'चन्द्रकला' सखी तथा लक्ष्मण 'लक्ष्मणा' सखी के रूप में उपासना करते हैं। सखी भाव से 'जनक दुलारी' की सेवा करने से, प्रेमलता जी के अनुसार, राम-पति की उपलब्धि होती है†।

प्रेमलता जी के अनुसार भजन, भाव, रति, भक्ति और ध्यान, उपासक के पाँच संस्कार हैं। इनसे संस्कृत हो कर वह राम-पति को प्राप्त करता है। वात्सल्य, शृंगार, शान्त, सख्य और दास्य भावों की परिणति रसिक भाव में ही, प्रेमलता जी के अनुसार होती है§।

प्रेमलता जी ने बड़ी रोचक और सशक्त-मधुर शैली में विश्व-कुंज के भीतर विश्व रूप सीता राम के शृंगार का दर्शन किया है और उस विराट् रासलीला की तरफ़ सब लोगों के मन को आकर्षित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है।

(४१) 'रघुराज विलास*' महाराजा रघुराज सिंह का ग्रंथ है। इस ग्रंथ में राम और कृष्ण के सावन के झूलोत्सव तथा अन्य विहार-विलासों का वर्णन है। यह ग्रंथ भी हृदय प्रसूत है और प्रकृतिमाधुरी का नैसर्गिक शोभा-सुषम संभार है। प्रकृति के परिवर्तित होते हुए रंगीन अंचलों पर सीता राम के विलास की बड़ी मधुर झाँकियाँ इस ग्रंथ में मिलती हैं। मानव और मनुष्येतर प्रकृति की उभय सुषमाएँ इस ग्रंथ में अनुपम सौन्दर्य के शृंगार से मूर्तिमती हो गयी हैं। इस कवि की कल्पना की जनकपुर की ललनाएँ रघुवर राम के अनंत सौन्दर्य का पान कर रही हैं और उनके साथ कवि का हृदय भी उस भाव-सौन्दर्य की समाधि का अधिकारी हो गया है। 'जनक कशोरी-अवध किशोर' उसके लिए 'सरस सनेह सरस सर-सावन' हो गये हैं। सावन का महीना युगल किशोरी-किशोर को इसी रस में डुबा कर कवि को भी ब्रह्मानन्द में डुबा जाता है। रघुराज सिंह के 'रघुवर' की मनोहर आँखें जिस पर एक बार भी पड़ गयीं वह अपने को भूल जाता है। इस 'सलोने सियावर' की शोभा पर निछावर हो कर जनकपुर की ललनाएँ 'फ़क़ीरनी' बन गयी हैं। इस तरह पावस और वसन्त में 'मध्य सखि मंगलहिं निरखि रघुनन्दनहिं बारहिं बार रघुराज बलिहार' हो गये हैं। इस माधुर्य का वर्णन करते हुए रघुराजसिंह का कोमल-कान्त हृदय जयदेव की कोमलकान्त पदावली की रस-धारा को आत्मसात् करके 'रघुवर विलास में' निर्वाध प्रवाहित हो रहा है§।

---

‡ रामभक्ति-साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३४३। † वही, पृष्ठ ३४६। § वही।
* नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ में मुद्रित। मुद्रण वर्ष सन् १९२४। § रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३५१ से ३५४ तक।

(४२) 'भजन रत्नावली ‡' के रचयिता अयोध्या के पंडित रामनारायण दास हैं। इस भजन रत्नकोष में भक्त हृदय की अनुपम निधियाँ अपने सहज प्रकाश में आलोकित हो रही हैं। 'जनक-राजलाड़िली' की ललित शोभा तथा 'घनश्याम राम' के 'सुघट सुशील' युक्त सौन्दर्यावरण का साक्षात्कार करके भक्त रामनारायण धन्य हो गये हैं। अनंत सौन्दर्य की अनुभूति में समाधिस्थ हो कर वह भक्त हृदय 'सिया रघुबर' के चरणों में लीन हो गया है। यह ग्रंथ अपनी पवित्र साधना-दृष्टि के कारण रसिकोपासकों की रस-साधना का एक विशिष्ट केन्द्र-विन्दु बन गया है†।

(४३) श्रृंगार प्रदीप §' श्री हरिहर प्रसाद की रचना है। यह केवल ११६ पदों के शरीर में उपलब्ध होने वाला ग्रंथ दोहे और पदों का मणिप्रबाल हार है। हरिहर प्रसाद ने भी 'श्यामल गौर किशोर बयस दोउ' युगल 'सियसियवल्लभ' को अपने 'जानहु की जान' बना लिया है। हरिहर प्रसाद के अनुसार इस अनन्य युगल अनंत के 'रहस्य-सुख-रस को' देवताओं की मति भी नहीं पहचान सकती। वेद और पुराण भी उसकी गहराई और व्यापकता को खोज-खोज कर थक जाते हैं। हरिहर प्रसाद के राम का स्मरण 'विधि और हरि-हर' भी 'सब काम त्याग' कर करते रहते हैं; पर वे ही राम, सीता के नाम का स्मरण निरन्तर करते रहते हैं। उनकी यह सीता 'रानिन में महारानी' है। उसे इन्द्राणी और ब्रह्माणी भी कर जोड़ कर एकटक देखती रहती हैं। पार्वती उसके लिए पान लगाती है और रमा पान खिलाती है। आठों सिद्धियाँ कर जोड़ उसके सामने खड़ी रहती हैं। नव निधियाँ उसके हाथों बिक गयी हैं। करोड़ों ब्रह्मांडों का ऐश्वर्य उसके रोम-रोम में उलझा हुआ है। जो माया एक ही घाट पर सबको पानी पिलाती है वह भी बार-बार उसका सम्मान करके उसकी करुणा की भिक्षा चाहती है। वह घट-घट व्यापिनी है तथा उसके बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता। जगत् के प्राणों में निवास करने वाली वही रामप्रिया संत जनों की इष्ट देवता है। इस तरह की भव्य भावना सीता की अनंत शक्ति की हरिहर प्रसाद ने की है। हरिहर प्रसाद की सौन्दर्य भावना ने 'सिय रघुबर' को अनंत सौन्दर्य के परिवेश के बीच में देखा है। उनके अनुसार रति और रतिपति के अभिमान को भंग करने वाले 'सिय-सियवल्लभ' का भक्त काम के आक्रमण से कैसे प्रभावित हो सकता है। हरिहर प्रसाद के अनुसार अनंत शील, शक्ति और सौन्दर्यवती सीता और अनंत शक्ति, शील और सौन्दर्य युक्त राम के योग से ही राम की रामता का निर्माण होता है; इसीलिए उसके समक्ष कलिकाल का झकोरा टिक ही नहीं सकता। राम चरण के अनुसार सोलहों शृंगारों की शोभा सीता के निसर्ग सुन्दर अंगों में स्वतः निवास करती है। उसके निसर्ग सुरभित अंगों को देख कर गंध लगाने वाली दंग रह जाती है। सीता के नीलकमल के समान नेत्रों को देख कर अंजन लगाने वाली अंजन लगाना भूल जाती है। 'पिय के सनेह

‡ प्रकाशक सेठ छोटेलाल लक्ष्मीचन्द बम्बई वाले। प्रकाशन तिथि दिसम्बर सन् १८९९।
† रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३५५ से ३५८ तक। § नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, में सन् १८८६ में मुद्रित।

भरे सिय के नित चिक्कन कच' देख कर तेल लगाने वाली सखी को यह संदेह हो जाता है कि तेल लगा हुआ है। पान की लाली से अधिक लाली सखियों को सीता के ओठों में दिखाई पड़ती है। सीता के चरणों की 'लहलह लहकत लाली' को देख कर नाउन महावर लिए हुए भी नहीं लगा पाती। वह सोचती है कि फिर वह उस नैसर्गिक लाली की शोभा को न देख सकेगी। सीता के चरणों को धोने की आवश्यकता नहीं है। वे पावन चरण स्वतः ही गंगा तरंग के समान उज्ज्वल हैं। वे केवल जनकी पवित्र उमंगों से धोये जा सकते हैं। इसी सुन्दर जोड़ी पर हरिहर प्रसाद ने अपने 'तन-धन-प्राण' निछावर कर दिये हैं। उन्होंने कहा है—"सांख्य योग वेदांत को छाँड़ि छाँड़ि सब जंग। चरण शरण सिय त्वँ रहहु करि मन माँह उमंग।" इस तरह हरिहर प्रसाद के मन की उमंगें युगल किशोर के अनंत सौंदर्य की बड़ी कोमल भावना की समाधि प्राप्त कर सकी हैं‡।

(४४) 'सियाराम चरण चंद्रिका†' के स्रष्टा कविराज लछिमन हैं। युगल चरण के माहात्म्य का बड़ा भव्य साक्षात्कार इस ग्रंथ में हुआ है। अनंत विश्व अपने अनंत रूपों से उन चरणों का झुक कर अभिषेक करता रहता है। सीता राम के धवलकांति से परिवेष्टित चरणकमलों पर श्वेत पद्मासना सरस्वती का कविराज को दर्शन होता है। वे सुरंग चरण-कमल उन्हें योग बल की कला से आलोकित तथा उनके तलवे भुवन के भूषण की तरह दिखाई पड़ते हैं। अमृत और गंगा के आवास उन चरणों के नखों में कविराज को मंजु मोती की लड़ियों की तरल तरंगें दिखाई देती हैं। जो प्रभा कविराज को 'रामचन्द्र मैथिली के चरणाम्बुज' पर दिखाई देती है, वह दान, कीर्ति, विद्युत् के घन भार, अपार महासागर, अनंत रत्नराशि तथा पारस के पर्वत में भी नहीं दिखाई देती। उन चरणकमलों पर देव वधूटियाँ लाजाञ्जलियों की वर्षा करती हैं, किन्नरियाँ आनंदमग्न हो कर उन चरणों की शोभा का मंगलगान करती हैं, शची और शारदा उन चरणकमलों का पराग अपने मस्तकों पर लगाती हैं, नागपत्नियाँ, अन्य देवियाँ तथा दिगंगनाएँ उन चरणकमलों में झुक कर प्रणाम करती हैं, श्रद्धा से उन चरणों में लीन हो जाती हैं और अभयवर प्राप्त करती हैं। भक्तों के प्राण और जगत् के आधार ये चरणकमल कविराज को अपनी भक्ति में तन्मय कर चुके हैं$।

(४५) 'रामचंद्र विलास*' नवलसिंह 'श्रीशरण' युगल अली की सर्जना है। इसमें बारह अध्याय हैं। उनमें राम की बारात से ले कर अयोध्या आगमन और पुनः मिथिला गमन तक की घटनाएँ बड़े विलास संभार के साथ वर्णित हैं। रसभोगी युगल 'पिय प्यारी' को युगल अली ने भी अपनी 'दृग निधि' बना लिया है। सीता के अंगों की सुषमा भी युगल अली के 'हिय-नैन' में 'निसि-बासर सनी' हुई है§।

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३५८ से ३६१ तक। † जैन प्रेस लखनऊ में मार्च सन् १८९८ में मुद्रित। प्रकाशक—सेठ छोटेलाल लक्ष्मीचंद, बंबई वाले। $ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३६२। * संवत् १९०७ में झाँसी में लिखित। श्री हनुमत् निवास, अयोध्या के महात्मा रामकिशोर शरण के निजी पुस्तकालय में एक खंडित हस्तलिखित प्रति सुरक्षित। § रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३६३-३६४।

(४६) 'भावनामृत कादम्बिनी ‡' युगल अली की रचना है। इस ग्रंथ में केवल पचपन पन्ने हैं। 'सिय-लाल' के रस भरे शृंगार का अपने हृदय की आँखों से साक्षात्कार करके युगल मंजरी जी का हृदय भी विवश हो गया है। पिय को न देखने के कारण युगल अली जी का जीवन भार हो गया है। वे प्रिय के 'अलसाते सुदृग' और 'मदन सुभाते बैन' देखना और सुनना चाहते हैं। उनके 'रसिक हीय दृग संग, यार झूम' कर सदा के लिए बस गये हैं। उस दिन की शोभा, युगल अली जी को कभी नहीं भूलती, जिसने दण्डकारण्य के मुनिजनों को भी स्त्री बनने को बाध्य किया। 'श्री नृपराज कुमार' के 'दीरघ दृग' युगल अली जी को 'घायल' कर चुके हैं। उनकी जगन्मोहिनी शोभा को वे कभी नहीं भूलते †।

(४७) 'समय-रस-वर्धिनी $' सियाअलीकृत कवित्त सवैयों में कुल पंचानवे पन्नों का ग्रंथ है। इसमें नाम माहात्म्य, मिथिला माहात्म्य और सीता-सौन्दर्य का वर्णन है *।

(४८) 'नित्य रासलीला §' भी सिया अली की रचना है। कवित्त दोहे और चौपाइयों में लिखे हुए इस ग्रंथ में कुल इकतालीस पन्ने हैं। सिया अली जी ने भी केलिरस में डूबे हुए रंगीले सिया-लाल की छवि को अपने हृदय पर धारण कर लिया है। सीताराम को अपने नयनों में बिठा कर सियाअली ने उनके अनंत सुन्दर शृंगार का दर्शन किया है। यह ग्रंथ ज्येष्ठ वदी १, संवत् १९२९ में लिखा गया।

(४९) श्याम सखे की पदावली चार सौ पैंतालीस पदों का एक वृहत् संग्रह है×। रामायण की सम्पूर्ण घटनाएँ समस्त राग-रागिनियों में इस ग्रंथ में आबद्ध हैं। इस रसिक भक्त ने भी 'सिय राम नवीना' को अपने दृगों में बसा लिया है। वह घनश्याम राम की बाँकी चितवनों पर बिना मोल बिक गया है। श्याम सखे का ध्यान भी सीता और सीतापति के शृंगार-रहस्य की अनंतता पर टिका हुआ है—वह अनंतता जिसे जानने के अधिकारी शिव और सनकादि ही हो सकते हैं। गेंद खेलने के समय की युगल माधुरी को अपने हृदय की आँखों से देख कर श्याम सखे यह अभिलाषा करते हैं कि वह युगलमूर्ति तनिक उनकी ओर भी देख कर मुसकाये।

सगुणोपासना का यह रसिक साधक निर्गुणोपासना के भी रसिक गीत गाता है। नैहर के पाँचों यार बैरी हो गये हैं। नायिका ससुराल में जा कर सैंया के साथ उनकी प्यारी बन कर रहना चाहती है। पचीसों सखियों ने साथ छोड़ दिया, पिया-पिया की रट लगी हुई है। सुहाग तो मिल ही गया है। इस बार ससुराल जा कर उसे फिर नैहर की जतसारी में आटा न पीसना पड़ेगा।

नायिका से 'सैंया की अटरिया' पर चढ़ा नहीं जाता। दस और पाँच थान का उसका लहँगा है। उसमें बीस और पाँच लड़ियाँ मोतियों की लगी हुई हैं। पिया की अटारी

---

‡ हस्तलिखित प्रति हनुमत् निवास, अयोध्या में सुरक्षित। † रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३६४। $ हस्तलिखित प्रति हनुमत् निवास, अयोध्या, में प्राप्त। * रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३६५। § हनुमत् निवास, अयोध्या में प्राप्त। × सन् १९३८ ईस्वी में प्रकाशित। प्रकाशक; सेठ छोटेलाल लक्ष्मीचन्द।

बड़ी ऊँची है। उसकी कमर कसक उठती है। पर उसके हृदय में रस की विवशता और उल्लास है वह सैयाँ से यारी तो जोड़ के ही रहेगी।

नायिका कहती है—अटारी पर कैसे चढ़ूँ। तिमंजले पर लाल की अटारी है, सैयाँ की सेज पर जाने में लज्जा भी है। पाँच सखियाँ बैर पड़ी हैं। उनको देख कर भय लगता है। मैं अभी वारी सुहागिनी हूँ। खड़ी-खड़ी पछता रही हूँ।

इस तरह पंच महाभूत तथा सांख्य के पच्चीस तत्त्व, दस इन्द्रियाँ, त्रिलोक की दुर्गमता इत्यादि आत्मा के पथ के बाधक हैं। परमात्मा से मिलने नहीं देते। पंच महाभूत, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच तन्मात्राएँ, महत्, अहंकार, मन, बुद्धि और चैतन्य ये सब त्रिलोक की ओर ही जीव को खींचते हैं। त्रिलोकातीत के तिमंजले पर नहीं जाने देते इसी से आत्मा अपने प्रिय परमात्मा से नहीं मिल पाती।

अपनी रसिक प्रक्रिया से निर्गुन उपासना के प्रेमगीतों को बड़े सरस ढंग से श्याम सखे जी ने गाया है‡।

(५०) 'श्री सीताराम शृंगार रस†' जानकी घाट, अयोध्या के महन्त महावीर दास, उपनाम जन महाराजदास की कृति है। 'महारामायण' के आधार पर इस लघुकार्थ ग्रंथ का प्रणयन दोहे और चौपाइयों में हुआ है। इसमें युगल दम्पति का परत्व, चरण-चिह्न, दिव्य साकेत धाम, दिव्य लीला विहार और प्रणय निवेदन अंकित हैं। महाराज दास की छन्दः साधना सिद्ध हो चुकी है। सधे हुए छन्दों के निर्बाध प्रवाह में भाषा बड़ी शक्तिमती बन पड़ी है।

जिस तरह कामियों को नारी, प्यासे को जल, भौंरों को फूल, कमल को सूर्य, मुनियों को ज्ञान, रंकों को निधि, कोयल को वसंत, माताओं को पुत्र, सम्बन्धियों को गोत्र-प्रेम, हंस को मानस, पतंग को दीपक, कुरंग को राग, भुजंग को मणि, पावक को घृत, नीर को क्षीर, प्राण को शरीर, पलक को नयन, मोर को घन-रव, चातक को स्वाति-जल, पातकी को पाप, सती को शिव, रति को कामदेव प्रिय होता है, उसी तरह जन महाराज को 'सिया-कोसिला कुमार प्रिय हैं' $।

(५१) 'रामप्रेम मंजरी *' भी महाराज दास के पदों का संग्रह है। गुरु हुजूरी जी की वन्दना, गोस्वामी जी की वन्दना, सरयू की वन्दना, अन्तर्गृही की परिक्रमा, सरयू की बधाई, हनुमान् जन्म की बधाई, सीताराम के युगल सौन्दर्य का ध्यान तथा लीला-रस इस ग्रंथ के विषय हैं।

इस ग्रंथ के पदों में भी वही प्रेम की तन्मयता व्यक्त हुई है। कवि के लिए 'सिया छवि, नयना सुखकारी' है। उसके रूप को देख कर रति भी मन मार कर बैठ जाती है।

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३६८ से ३७४ तक। † राजपाली प्रेस, मुट्ठीगंज इलाहाबाद; से सन् १९१५ में मुद्रित। $ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३७४-३७५। * देशोपकारक यंत्रालय में सन् १९०७ में मुद्रित।

प्रेम से सिक्त सीताराम की युगलमाधुरी को कवि ने अपने प्राणों और नयनों में बिठा लिया है। युगल छवि का नख-सिख दर्शन पा कर उसके ज्ञान का नयन खुल गया है। युगल छवि के चितवन से उसके हृदय में प्रेमामृत भर गया है। उसके हृदय के दो ही फल हैं—राम और सीता। वे दोनों प्रेमरस में पक कर उसके हृदय में आनंद बन कर छा गये हैं। 'अलबेले कुँवरों' की 'परम प्रकाशित छवि' उसके नयनों के लिए 'मेला' बन गयी है। इस रंग से उसके नयन भर गये हैं ‡।

(५२) 'युगलोत्कंठ प्रकाशिका †' जयपुर चन्देली के श्री सीतारामशरण 'शुभशीला' जी की रचना है। इसमें आरंभ में दोहे और बाद में गेय पद हैं। शुभशीला जी ने 'परिकरि युत श्री स्वामिनी' की वन्दना की है। 'पद पंकज देखे बिना' उनके क्षण-पल कल्प के समान बीतते हैं और 'श्री स्वामिनी' जी को सीतावर के साथ देखना चाहते हैं। 'नृपनन्दिनी' के दर्शन के बिना उनका चित्त व्याकुल रहता है. तनिक भी नहीं सम्हलता। अपने पुरुषत्व को भूल कर वे सीता की सखी 'शुभ शीला' हो गये हैं। सीता को देखे बिना वे उदास हो गये हैं 'असन बसन कुल कान' सब उन्होंने 'तज' दिया है। उनके विरह की आग बढ़ गयी है। तप्त उच्छ्वास शरीर और आत्मा को तपा रहे हैं। 'नयन-नीर टपकते' हुए उस विरहाग्नि के लिए घी का काम कर रहा है। विरहाग्नि बढ़ती चली जा रही है। "को जानै यह पीर।" वे घर में, बाहर, वनों में फिरते हैं। चित कहीं नहीं शान्त होता। जी घबराता है। दुख नहीं सहा जाता। घर के एकान्त स्थान में नयन बन्द करके बैठ जाते हैं। रूप-दर्शन होने लगता है। नयन खुलते ही वह दर्शन समाप्त हो जाता है। विरह का विलाप फिर जारी।चित्त को सहारा देने के लिए भगवान् की लीला करते हैं। 'प्रिय-प्रीतम की कान्ति' हृदय को कुछ शीतल कर देती है। फिर भी चित नहीं मानता। विरह-ज्वाला जोर पकड़ लेती है। 'श्यामल-गौर किशोर' का दर्शन 'घन-बिजुली' की तरह प्रत्यक्ष हो उठता है। प्रिय के वदन की माधुरी गरज उठती है। वचनामृत युक्त वह माधुरी हृदय में पीड़ा उत्पन्न कर देती है। मिलन का नीर बरसने लगे तो विरह की आग बुझे। "हे विधु-वदनी जानकी! हे सीतावर श्याम! कब दिखाइहो विधु-वदन, पद-पकज अभिराम।" आँखें चकोर हो गयी हैं। मन भ्रमर हो गया है। रसना नाम रूपी मेघ के लिए चातक बन गयी है। "कब देखें प्रीतम-प्रिया, सुख विलास के धाम।" क्या वह दिन होगा, जब 'प्रिय-प्रीतम' को एक साथ भाव-सहित उसी तरह देखूंगा जिस तरह चकोर चन्द्रमा को देखता है। 'पद-पंकज की माधुरी' में 'मन मधुकर' हो कर लीन हो गया है। मिलन के बिना व्याकुल रहता है। विरह की व्यथा से शरीर क्षीण हो गया है। "हे श्री सीते स्वामिनी! रसना रटत सुनाम। चातक सम गति हो रही, सुनिए करुणाधाम।" दृगों में

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३७५ से ३७७ तक। † रहस्य प्रमोद भवन, जयपुर मंदिर, अयोध्या से दूसरी बार संवत् १९९४ में प्रकाशित। प्रकाशक—राजकिशोरीवर शरण—परमानन्द। प्रथम, संस्करण के प्रकाशक, सीतारामशरण भगवान प्रसाद। प्रथम संस्करण का शीर्षक 'रसिक उर हार'।

'छबीली छवि' बस गयी है--समुद्र के जल में मीन की तरह। तुम परम प्रवीण हो। उस छवि को विलग न करना। हे रघुवीर! जिस तरह 'प्रीतम नीर' से बिछुड़ कर मीन के हृदय में पीड़ा होती है, उसी तरह की मेरी दशा देख कर मुझ पर कृपा करें। जगत् में मधुरता को देखते ही, सुन्दरियों और सुन्दरों के रूपों के देखते ही तुम्हारे 'अनूप रूप' को देखने की भूख जाग पड़ती है और बिना देखे तन व्याकुल हो जाता है। अपना 'अनूप रूप' दिखा कर नयनों को सनाथ कीजिए। रहते हुए भी आप ऐसा क्यों कर रहे हैं। प्रिया को अपना साथ दीजिए। 'कोकिल की मृदु कुहुक' सुन कर हृदय में हूक उठती है। सिसक-सिसक कर हाथ मीजती रहती हूँ। चूक क्षमा कर दर्शन दीजिए। हम तो सब अवगुणों से भरी हुई हैं और तुम गुणों की खान हो। अपने गुणों की माला हमारे हृदय पर डाल कर आप अपने ही गुणों से रीझिए ‡।

आध्यात्मिक विरह की व्यथा हृदय के बन्धन खोल कर सरलवाणी के परिधान में 'शुभशीला' जी की लेखनी में उतर आयी है। वे कहते हैं—मयूरी को नाचते देख कर मुझे तुम्हारा वियोग सताने लगता है। केकी का नीलकंठ और उसके तन की नील 'सुद्युति' (सुन्दर कान्ति) देख कर मुझे तुम्हारे सुन्दर श्याम भुजों का भ्रम हो जाता है। 'हे नृप राज किशोर तुम यह भ्रम कब' मिटाओगे। मेरे नयन तुम युगल 'गौर-श्याम चित चोर' को परस्पर गल-बाहीं दिये हुए कब देखेंगे। जगत् में हम 'नृप तनया' को 'प्राकृत राजकुमार' के साथ देखते हैं। इस लौकिक व्यवहार की तरह आप हमसे कभी मिलेंगे ?

आध्यात्मिक व्यथा के कोमल ताप से तपते हुए 'शुभ शीला' जी ने कहा है—सब जग अपने मित्रों के साथ दिन रैन सुख भोग रहा है; पर हमको प्रतिदिन बढ़ता हुआ दुःख ही मिलता है। 'छिनपल कबहुं न चैन।' हे करुणाअयन सीते, हमसे एक भी प्रयत्न नहीं करते बनता, केवल तुम्हारे कृपा-कटाक्ष के लिए हमने चातक की-सी टेक कर ली है। मेरे जी की आशा के लिए प्रिय के साथ तुम्हारा दर्शन ही स्वाती की बूंद है। जब तक इस घट में सांस है, तब तक क्या हमारी यह आशा आप कभी पूरी कर देंगी ? कृपा करके यह वरदान भी दीजिए कि जब तक इस तन में प्राण हैं, तब तक यह मन अभिमान को छोड़ कर 'प्राण नाथ' के साथ तुम्हारा नाम रटता रहे। चाहे चातक की रट घट जाए, पर मेरा 'नेह' न घटे। मैं अपने को तुम्हारे 'चरण-कमल-मकरंद' की भ्रमरी बना कर रखूँ।

'शुभ-शीला' जी कहते हैं—ज्यों-ज्यों तुम्हारा स्नेह बढ़ता जा रहा है त्यों-त्यों विरह मुझे अधिक से अधिक तपाता जा रहा है। तपे हुए सोने की तरह मेरी यह देह निर्मल होती जा रही है। ये काम, क्रोध, मद, लोभ जग से ही नेह करते हैं। तुम्हारे स्नेह के ये शत्रु अब मेरे शरीर को छू भी नहीं सकते †।

परम सुन्दर युगल मूर्ति के स्वर्गीय प्रेम की वर्षा का अपने हृदय में अनुभव करके 'शुभ शीला' जी कहते हैं—तुम्हारी 'अरुण प्रीति' की 'छवि की घटा' मुझे अपने हृदय की अट्टालिका पर दिखलाई पड़ रही है। आँसुओं की झड़ी लग गयी है। मेरा रोम-रोम भीग

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३७८-३७९। † वही, पृष्ठ ३७९—३८०।

गया है। मैं शिथिल हो गयी हूँ, चल नहीं सकती, शीतल श्वास का समीर मेरे शरीर को कँपा कर व्याकुल कर रहा है। हे रघुबीर, आप शीघ्र मिलिए।

'शुभ शीला' जी जब विविध प्रकार के नग जड़ित आभूषणों को देखते हैं तब उनकी विरह व्यथा बढ़ने लगती है 'देखि चढ़त है पीर'। यह कामना जागृत होने लगती है कि 'सुन्दर श्याम शरीर' को अपने हाथों से ऐसे आभूषणों को कब पहनाऊँगा। इसी तरह बहुमूल्य वस्त्र देख कर उनका मन धैर्य खो देता है और सोचने लगते हैं कि यह मणि-जड़ित चीर 'प्रिय प्रीतम के' योग्य है। उनके 'सुन्दर कमनीय' पुष्प से भी अधिक कोमल शरीर पर रुचि के साथ सम्हाल-सम्हाल कर मैं इन वस्त्रों को कब पहनाऊँगा।

इसी तरह रामसीता के शरीर-प्रसाधन और उनकी ललित क्रीड़ाओं का विवरण देते हुए उन तमाम शोभाओं का अपने नेत्रों से साक्षात्कार करने की बड़ी कोमल और सरस कामना शुभ शीला जी ने की है। रसिक संप्रदाय के विभिन्न साधकों ने रामसीता की जिस रसमयी दिनचर्या की भावना की है उसकी सम्पूर्ण झाँकियों का विवरण देते हुए 'शुभ शीला' जी ने उन सब का साक्षात्कार करने की बड़ी मधुर उत्कण्ठा अपने सहज सरस तथा कोमल शब्दों में व्यक्त की है। 'श्याम सलौना' उनके चित्त को हर ले गया है। उस सलोने का 'रूप अद्भुत' और हर तरह से 'अनूप' है। वह 'कोशलेश सुत सुजनों का खिलौना' है। वह छवि देखे बिना उनका जी अकुलाता है; पर पिता और गुरुजनों के डर से वे उस रूप को नहीं देख सकते‡।

जगत् की मर्यादाओं और बन्धनों को तोड़ लेने के बाद जो मन अनंत का साक्षात्कार करता है, वही शुभ शीला जी को प्राप्त है। 'प्रिय मीत मिलन को' उनका हृदय उल्लसित होता रहता है। 'अवध कुँवर' के बिना उन्हें और कोई दिखाई ही नहीं पड़ता। 'सचराचर व्यापक सुखदायी श्याम' उनके 'रोमरोम' में समा गया है। वह 'प्यारा छबीला' जिस तरह कृपाशील तथा गुणों और शक्तियों का केन्द्र हो गया उस तरह न कोई हुआ है न होने वाला है। 'शुभ शीला' जी की रसिक भावना भक्ति की आदर्शमयी पवित्रता और सरसता के मणिकांचन योग से धन्य हो गयी है†।

(५३) 'वैष्णव विनोद§' काशी के बाबू गयाप्रसाद, उपनाम वैष्णवदास के एक सौ पाँच पदों का संग्रह, सीताराम और राधा कृष्ण के जीवन के सरस पक्षों को बड़ी मार्मिक सौन्दर्य भावना के परिवेश में प्रस्तुत करता है। सीताराम के विश्व मोहन सौन्दर्य को वैष्णवदास ने अपने हृदय की कोमलता के भीतर अनुभव किया है। उनके उन परम सुन्दर के हिन्दोलोत्सव को आकाश के देवता देखते हैं और सुमन वृष्टि की झड़ी लगा देते हैं। राम के 'मेघ स्याम सम बदन' की शोभा का वर्णन करने में वैष्णव दास जी अपने को अक्षम पाते हैं। अपनी लम्बी आयु की माला बना कर आयु के क्षणों के भक्ति-सुरभित पुष्पों की माला उन्होंने सीता राम को पहना दी है।

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३८० से ३८४ तक। † वही, पृष्ठ ३८४।
§ भारत जीवन प्रेस काशी से सन् १९०३ में मुद्रित।

(५४) 'वृहत् पद-विनोद ‡' रसदेव कवि की रचना है। रसदेव का हृदय भी रसिक साधना के मर्म को पहचानता है। राम के अनंत सौन्दर्य की भावना इस कवि का हृदय भी सहज सुन्दर भापा में व्यक्त कर सका है। 'राम की अभिराम छवि' को आठों याम देखते हुए रस देव भी 'सतकाम के मुख मसी मल' देते हैं। अनंत राम की अनंत शोभा का साक्षात्कार जो हृदय कर रहा हो उसे करोड़ों कामदेव भी प्रभावित नहीं कर सकते। 'जानकी-जान की छवि' को देख कर रसदेव ने 'आन की आस' छोड़ दी है †। 'रामलला की छवि' उसके मन में खटक रही है। इस शोभा को रसदेव ने छक कर पी लिया अब करोड़ों काम उसे इस पवित्र पथ से नहीं भटका सकते। उस युगल छवि पर रसदेव ने करोड़ों कामदेवों तथा अपने तन-मन-धन सब वार दिये हैं। इसी प्रक्रिया से रसिकोपासक अपनी पवित्रता को हृदय की कोमलता के पुट में साध कर सुरक्षित वना लेता है $।

(५५) 'विनय चालीसी *' के कुल चालीस दोहों की रचना रूप-सरस जी ने की है। ये अपने को राम की दासी मानते हैं और 'रघुबर प्यारी लाड़ली' और 'लाड़ले प्यारे राम' के सौन्दर्य और पावन प्रेम की भावना में रूप सरस जी ने अपने को खो दिया है। गल बाँही दिये हुए सीताराम के जिस सौन्दर्य का साक्षात्कार इन्होंने किया है, उसे देख कर 'कोटिचन्द्र' की 'जगमगी छवि' और 'कोटिकाम' की शोभा लज्जित हो जाती है। पवित्र हृदयरस से प्रसूत ये चालीस दोहे ही रूप सरस जी को अमर बना देने के लिए पर्याप्त हैं §।

(५६) 'झूलन विहार-संग्रहावली ×' कृपानिवास के द्वारा किया गया झूलनोत्सव सम्बन्धी पदों का संग्रह है। कई रसिकोपासक संतों की रचनाएँ इस संग्रह में संगृहीत हैं। रसिक निवास, रसिक अली, रामसखे, रसभामिनी, रसिक विहारिणी, युगलप्रिया तथा सरयूसखी इत्यादि के झूलनविहार के पद इस ग्रंथ में संकलित हैं। सावन में पावस की शीतलता और हरियाली से सिक्त और समृद्ध हो कर प्रकृति का जो सरस मनोहारी रूप सज धज कर निखरता है उसकी समग्र सुपमा से भगवान् के झूलनोत्सव की मादकता का विधान रसिक साधकों के कला सुषम हृदय ने किया है। रसिक महात्माओं के सुकोमल हृदयों में तरंगित होने वाले भावहिन्दोल एक स्थान में संगृहीत हो कर अनंत माधुर्य की अपार कमनीयता की सृष्टि-राशि का इस संग्रह में सर्जन कर सके हैं। संतों के लीला-रसलोलुप हृदयों ने युगल सुन्दर के झूलनोत्सव के मध्य-गत शोभासंभार पर विश्व की

‡ प्रकाशक छोटेलाल लक्ष्मीचन्द वम्बई वाले। प्रकाशन वर्ष, सन् १९०८। † रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३८५। $ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३८६-३८७। * ओरिएंटल प्रेस, अयोध्या में सन् १९३२ में मुद्रित। टीकाकार—राजकिशोरीवर शरण (परमानन्द)। § रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३८७-३८८। × प्रकाशक—सेठ छोटेलाल लक्ष्मीचंद, बंबई वाले। डायमंड जुवली प्रेस कानपुर में सन् १८९८ में मुद्रित।

सुषमा को निछावर करके स्वयं भी उसी शोभापारावार में विलीन हो गये थे। यही तरंगित होता हुआ सुषमा जलनिधि 'झूलन विहार संग्रहावली' में अपनी अनंत तरलता को प्रसारित करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। अनंत सुन्दर राम, असीम सौन्दर्यमयी सीता, परम रमणीय अयोध्या, अपार सुषमावती सरयू तथा सीता और राम पर निछावर होने वाली अयोध्या की प्रजा जो सौन्दर्य और पावनता को भी सुन्दर और पावन बना सकती थी, किशोर-किशोरी का अनंत ऐश्वर्य—ये सब मिल कर रसिकोपासक संतों के पावन हृदयों के अनंत सुन्दर हिंदोलों पर झूल रहे हैं। वाह्य प्रकृति के पावस से संतों के हृदयों में भी पावस उमड़ पड़ा है और अनंत की असीम शोभा उस पावस के हिन्दोल पर झूल उठी है‡।

(५७) 'सियाराम पचीसी†' सहादत गंज, पुराना चौक, लखनऊ के मदारीलाल वैश्य की रचना है। इसमें नाम के अनुसार केवल पच्चीस कवित्त और सवैये हैं। एक ही समस्या 'सिया सोने की अँगूठी, राम नीलम नगीना हैं।' पर पच्चीस सरस गेय कवित्त सवैयों की रचना हुई है। इस समस्या को आधार बना कर सिया-राम का बड़ा सरस स्मरण इन छन्दों में हुआ है। कवि का हृदय निश्चित ही सिया-राम के सौन्दर्य की अनुभूति पा सका है; अन्यथा पचीसी के छन्द 'रुचि रुचि बनी जोड़ी' से सौन्दर्य का इतना आकर्षक प्रभाव कैसे उत्पन्न कर सकते§।

(५८) 'भजन रसमाल'—मझौली राज्य के गोपालपुर क़स्बे में रानी हरियाली जी का मंदिर है। उस मंदिर के महंत हरिचरणदास ने इस ग्रंथ की रचना की। यह ग्रंथ संवत् १९४७, भाद्रपद कृष्ण दशमी रविवार को पूरा हुआ। हरिचरणदास मझौली के पैकवली मौजे के पवहारी धाम के महंत सीतारामदास के छोटे शिष्य थे। रसिक संप्रदाय का यह ग्रंथ भी सरस अनुभूति का सुन्दर सरोवर है। झूले पर झूलती हुई 'युगल जोरी' की शोभा को इस साधक ने भी अपने हृदय में बसा लिया है। झूलते हुए 'पीतम-प्रिया' के 'दृग कोर' को अपनी ओर मोड़ लेने की उत्कंठा इस साधक में है। सावन की इस रहस्यमयी छवि में वह 'निसिदिन' भूला हुआ रहना चाहता है। हरिचरणदास झूलते हुए युगलकिशोर के उन चरणों को प्रतिदिन अपने हृदय के भीतर देखते रहते हैं, जिनके पृथ्वी पर उतर आने से 'भुवन' का 'भाग' खुल गया।

राम के व्याह की झाँकी के भीतर भी हरिचरण चामरग्राही सेवक बन कर शरण पा जाते हैं। नींद से उठे हुए राम के उनींदे नैन अपनी दास्य भावना के भीतर देख कर हरिचरण उनके कमलमुख स्वयं धोने लगते हैं। भावना के इस चित्र में साधक हरिचरण को जो सुख मिलता है उसका वर्णन शेष अपने सहस्र मुखों से भी नहीं कर सकता। 'नृप लाल लली' के ऐश्वर्यमय सुन्दर जोड़े को इस साधक ने अपने मन में बसा लिया है।

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३८८ से ३९३ तक। † प्रकाशक—सेठ छोटेलाल लक्ष्मीचन्द, बंबई वाले। अक्तूबर सन् १९०६ में रामा प्रिंटिंग प्रेस, फैज़ाबाद में मुद्रित। § रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३९४-९५।

शरद पूर्णिमा की रात्रि में उमड़ी हुई चन्द्रिका के पारावार में इस जोड़ी के अमृतमय सौन्दर्य को देख कर हरिचरण अपार आनंद के उल्लास में डूब जाते हैं। वसन्तोत्सव के मादक वायुमंडल से घिरे हुए आनंदमग्न युगलकिशोर की शोभा की भावना करके भी हरिचरण खो जाते हैं। राम की जो 'निकाई हरिचरण' के हृदय पर छा गयी है उसे देख कर सैंकड़ों कामदेवों की समाहित शोभा का घमंड भी चूर हो रहा है, उन युगल किशोर के 'मुख की लुनाई' से करोड़ों चन्द्रों की छवि छटक रही है‡।

(५९) 'राम प्रिया-विलास' किन्हीं रामप्रिया जी की रचना है। गेय पदों का यह संग्रह भी बड़ा सुन्दर और हृदयग्राही है। 'राघव प्यारे' और 'किशोरी' की वसन्त लीला, अनंत माधुर्य से ओतप्रोत करके रामप्रिया जी ने प्रस्तुत की है।

अपनी दास्य भावना के भीतर अपने को राम की दासी की तरह प्रस्तुत करते हुए रामप्रिया जी ने कहा है—मैं आपको पंखा झलूंगी, आपके लिए मालाएँ बनाऊँगी, आपको वस्त्र और आभूषण पहनाऊँगी, पान का बीड़ा लगा कर दूंगी, आपके 'पगपंकज' दबाऊँगी तथा 'चारु चामर' चला कर आपकी दासी कहलाऊँगी। मैं अन्यत्र कहीं नहीं जाऊँगी, न तो अपनी दीनता किसी को सुनाऊँगी। मेरा सिर किसी के सामने न झुकेगा। हे राजाओं के राजा, महाराज राघवेन्द्र राम! आपकी कही जाने पर अब मैं किसी दूसरे की नहीं हो सकती।

वह कहते हैं—मुझे तो दर्शन का लोभ हो गया है। कोई यदि मुझे कुछ उपाय बता सकता तो ठीक होता। 'इश्क दशा' को तो कोई 'आशिक' ही जानता है, जो इश्क के रंग से लाल हो गया हो। 'पिया की सेज अलख अगोचर' है। उससे क्यों कर मिलना हो सकता है। रामप्रिया को तो 'रघुकुल भूषन' ही राह दिखाने वाला चाहिए†।

(६०) 'भक्त प्रमोदिनी $' के रचनाकार अयोध्या के पंडित रामलोटन मिश्र हैं। पंडित जी ने भी 'राजकुमार' को दृगों के बीच मे बसा लिया है। 'दिलदार, रघुवंशी, दशरथ के लाल' का जादू उन पर भी चल गया है। दर्शन के लिए उनके दोनों नयन तरस गये हैं। बिना दर्शन उनका जी नहीं मानता। प्रभु की बाट वे जोहते रहते हैं। वे 'प्रेम-रस-बोरा गीत' गाते रहते हैं और सुन-सुन कर 'बिरह झकझोरा' देता रहता है। 'रघुपति' ही इस विपत्ति को हर सकता है। 'सियराम' को अपना 'रखवार' बना कर वे अपने 'साँवलिया' के 'अवध की डगर' पर ही बस गये हैं*।

(६१) 'सीताराम-नखशिख-वर्णन' प्रेमसखी की कृति है। अलंकार विधान और विशेषतः उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा के सहारे सीताराम के सौन्दर्य का वर्णन यहाँ साहित्यिक परंपराओं का अनुसरण मात्र करता है। यह अनुसृति शैलीमात्र की है। उपमानों की

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३९५ से ३९८ तक। † वही, पृष्ठ ३९८। $ आफताब प्रिंटिंग प्रेस, फैजाबाद में सन् १९२३ में मुद्रित। * रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ३९८-३९९।

उद्भावनाएँ प्रायः मौलिक हैं। इस अलंकार विधान में भी रूपरस का कवि का लालच अवश्य ही व्यक्त होता है। रूप-रंस की अनुभूति न होती तो उपमानों को खोजने की कोमल व्यग्रता भी क्यों होती। सीता के चरणों की दस अंगुलियों को ब्रह्मा के चार मस्तकों, शिव के पाँच मस्तकों तथा अपने एक मस्तक की भाग्य स्थली के रूप में देखना निश्चित ही प्रेमसखी की नवीन उद्भावना है और इस कल्पना के माध्यम से भक्ति की भी बड़ी कोमल व्यंजना हो जाती है। किशोरी-किशोर के सहज मन्द मुसकान और अनूप रूप माधुरी को देख-देख कर प्रेमसखी उस पर अपने प्राण निछावर कर देते हैं और अपने 'अनेक जनम के अखिल अघ' निर्मूल कर लेते हैं। प्रेमसखी के अनुसार वे ही 'वड़भागो' हैं जिन्हें 'सिय छवि प्रिय' लगी है। जो लोग अन्यत्र चित्त देते हैं वे 'परम अभागी' हैं। 'सिया जू' की साड़ी की चर्चा करते हुए प्रेमसखी कहते हैं कि उस साड़ी को भाग्यों का भाग्य और सुपमा-सौभाग्य प्राप्त है जिसे कृपा करके 'सीता जू' ने 'निज तन' पर धारण कर लिया है। सीता के इसी अनुपम सौन्दर्य पर प्रेमसखी 'बार-बार बलिहारी' हैं। गलबाहीं दिये हुए 'नील पीत पट' वाले सियाराम को प्रेमसखी ने अपना जीवन बना लिया है‡।

(६२) 'फूल बँगला' में मोदलता जी ने 'स्वामिनी' और 'राघो सरकार' का 'सुमन शृंगार' प्रस्तुत किया है। 'युगल शोभा' से मोदलता जी ने अपने नयन रँग लिये हैं। 'श्री प्रिया जी' और 'अवध बिहारी' जो की नख-शिख शोभा देख लेने के बाद जिस भाव का अनुभव मंजुलता जी करते हैं उसे व्यक्त नहीं कर सकते। 'भाव बखान बनै ना'। उनके नयन बिना देखे मानते नहीं। 'रूप-सुधा-रस' का 'चसका' उन्हें लग गया है। 'मुख-सरोज-मकरन्द पान' करके उनका 'मन-मधुकर मस्ताना' हो गया है। उस मस्ताने मन के रहस्य को 'सुजान राम प्रिय' बिना दूसरा कोई नहीं जान सकता†।

(६३) 'सीताराम संयोग पदावली§' परम भक्त श्री वैजनाथ कुरमी के हृदय की मधुर भक्ति की तरंगों से आप्लावित रचना है। भक्त वैजनाथ रामचरित मानस के टिप्पणीकार तथा गोस्वामी जी के सब ग्रंथों के भावार्थकार थे। ये मानस के सिद्ध कथा वाचक भी थे। 'घनश्याम' और 'सिय स्वामिनी' के संयोग शृंगार की बड़ी कोमल झाँकियाँ कवि के हृदय से पदावली के रूप में साक्षात्कृत हो उठी हैं। 'श्याम, अनूप, भूप लालन' के 'मुखचंद' की माधुरी को देख कर वैजनाथ की भावना की नारी 'देह गेह की सुध' भूल गयी है। इस भक्त ने ऐसे लोक की भावना की है जो 'जानकी नाथ के हाथों बिकाते' संकोच नहीं करता। यह लोक नर-नारी-उभय-लोक है। राम की 'मृदु कटि पर पीत पट' की शोभा वैजनाथ के लिए अनिर्वचनीय हो जाती है। इस भक्त की आँखों ने राम की माधुरी को देख लिया है और फलतः इसके हृदय पर 'कहर' टूट पड़ा है। इसे 'तन मन की सुधि' नहीं रहती। 'आठों याम रामगुण' गाता रहता है। यह 'राघो जी' के अंग-अंग की माधुरी पर बलि हो गया है। रघुनन्दन को इसने जीवन और प्राण का आधार बना

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ४०० से ४०२ तक। † वही, पृष्ठ ४०२ से ४०४ तक। § जुलाई सन् १८८० में नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ में मुद्रित।

लिया है। 'रामसिय' की वसन्त लीला का अनुभव करके 'सुर-नर-मुनि' सब मोहित हो गये हैं। उस माधुरी के प्रभाव से कोई भी नहीं बच सका है।

'दोनों लालों' के हिन्दोलोत्सव की छवि पर भी वैजनाथ निछावर हुए हैं। युगल किशोर के हिन्दोलोत्सव के समय के सौन्दर्य पर वैजनाथ ने करोड़ों 'रति युत काम' देवों को वार दिया है।

'लाल' के बिना उनका मन धैर्य नहीं धारण कर सकता। जो श्याम से मिला सके वही 'उर की तपनि हर' सकता है। 'इश्क' की गंभीर पीड़ा उन्हें अब अधिक समय तक नहीं भा रही है। 'रघुवीर' को बिना देखे धैर्य नहीं। 'विरह शर' लग गया है। प्रिय ने दर्शन दे दिया। वैजनाथ अब उस पर बलि हो गया है। उसके नयन प्रिय की छवि को पी लेना चाहते हैं। उस माधुरी को पी-पी कर भी वे नहीं अघाते।

अतः 'सीताराम-संयोग पदावली' भक्त-हृदय की मंदाकिनी-धारा है जिसमें त्रिलोक पावनी शक्ति है‡। विश्व रक्षक राम की मधुर उपासना में जो भक्त-हृदय अपने को खो सकता है वही स्वर्ग की गंगा को पृथ्वी के उद्धार के लिए अपनी अनुचरी बना सकता है।

(६४) 'श्रीराम विलास' के कुल चालीस पृष्ठों के कलेवर में चौगड़वा, ज़िला बस्ती के ठाकुर मथुरा प्रसाद सिंह ने दोहे-चौपाइयों में रामचरित मानस की घटनाओं का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है। इस ग्रंथ का आरम्भ संवत् १९६४, चैत्र शुक्ल रामनवमी को हुआ। इस ग्रंथ में कवि ने 'सहित हुलास रामगुण' का वर्णन किया है। मथुरा प्रसाद ने राम के चरणों के अड़तालीस चिह्नों को सुजनों के लिए 'सुख-सुभ-दायक' माना है। राम की चितवन में अमृत की वर्षा को कवि ने माधुर्य के रूप में उत्प्रेक्षित किया है। 'युगल यार' को बिना देखे तरसते हुए नयनों की भावना मथुरा प्रसाद जी ने भी की है। 'यार' के विरह की असह्य वेदना की अनुभूति इस साधक को भी है।

जनकपुर की स्त्रियों ने राम से कहा—यद्यपि हम अविवेकी हैं जातिहीन हैं, और 'सब भाँति गँवारी' हैं तथापि आप प्रीतम से बिछुड़ कर जगत् के सब सुख हम लोगों के लिए दुख में बदल जाएँगे। इसके उत्तर में मथुरा प्रसाद के राम ने कहा है—प्राणी चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी हो वह मुझसे जब किसी भी प्रकार की प्रीति कर लेता है तब मैं उसकी रक्षा आँखों की पुतलियों की तरह करता हूँ। मैं उसके अवगुणों की तरफ़ नहीं देखता; केवल उसके गुणों को ही देखता हूँ। मुझ पर निछावर हो जाने वाले नेहियों के प्रति इस तरह का बर्ताव करने की मुझे बान पड़ गयी है। प्रेम से मुझ पर बलि हो कर ही मुझे कोई पा सकता है। मुझे पाने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। संसार में मेरे जितने प्रेमी हैं, जिनका यश चारों ओर फैला हुआ है, उनमें भी खोजने पर अवगुणों का कोई न कोई अपवाद अवश्य मिल जाएगा। पर मैं उनके अवगुणों की ओर दृष्टि भी नहीं ले जाता।

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ४०४ से ४१० तक।

कई तरह के प्रिय-प्रेमियों की चर्चा करते हुए मथुरा प्रसाद के राम, जनकपुर की नारियों से कहते हैं—अपने प्रेमी कंज को दिनेश जलाता है। विधु के लिए तरसते हुए चकोर के लिए चन्द्र के मन में कोई प्रेम नहीं रहता। फणी मणि के लिए बलि हो जाता है; पर मणि की शोभा वियोग काल में भी दीप्तिमती हीं रह जाती है। वियोग का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। चातक और मोर के हृदय में जलद के लिए कितना अपार प्रेम रहता है, पर मेघ उन पर वज्र और पत्थर ही गिराता है। मीन की प्रीति से जल कभी खिन्न हुआ ? मीन बलि हो जाता है—प्रेम की वेदी पर, परन्तु नीर प्रसन्न और अप्रभावित। दीपक अपने प्रेमी शलभ को संहारिणी ज्वाला ही देता है। एक तो एक के लिए अपना बलिदान दे देता है; पर एक उस एक की ओर देखता तक नहीं। हे सिद्धि इत्यादि राजकुमारियो, हमारा प्रेम ऐसा नहीं है। अपने प्रेमी की प्रीति का स्मरण मैं एक क्षण के लिए भी भंग नहीं करता। मैं अपने प्रेमी को इतना महान् बना देता हूँ कि शिव और ब्रह्मा की पंक्तियाँ उसके सम्मुख नतमस्तक हो जाती हैं। त्रैलोक्य में मैं उसकी पूजा करवाता हूँ। उसकी बड़ाई मैं कहाँ तक बताऊँ। मैं स्वयं उसे शीश नवाता हूँ। वह करोड़ों 'कसूर' करे उसका स्नेह मैं कभी नहीं छोड़ता। राज्य, त्रिभुवन की समस्त सम्पत्ति, अनुज, तनय, सीता तथा मेरा अपना शरीर भी मुझे इतना प्रिय नहीं है, जितना प्रिय, मुझे अपना प्रेमी होता है। मैं अनंत दुःखों को सह सकता हूँ; पर मित्र को नहीं छोड़ सकता।

मथुरा प्रसाद ने अपने रघुवीर के इस मधुर भाव को त्याग और बलिदान की आधार-भूमि पर प्रतिष्ठित करके अनंत कमनीयता के परिवेश में सँजो कर प्रस्तुत किया है‡। रूप-सौन्दर्य और हाव-भाव के विलासों के भी बड़े उच्चकोटि के कलाकार मथुरा प्रसाद जी हैं।

(६५) 'रम्य पदावली' के लगभग चार सौ पदों के संग्रह में कोविद कवि ने 'जनकनंदिनी-रघुनंदन' के मधुर जीवन की रम्य झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं। कोविद कवि ने राम-सिया के हिंदोल-कमल का अपने मन को मधुकर बना दिया है। इस कवि का भी रसिकोपासक साधकों में प्रमुख स्थान है†।

(६६) 'भक्तमनरंजनी $' के अपने वृहत् गीत संग्रह में प्रेमसखी ने अपने भक्त हृदय के सम्पूर्ण आनंद को उँडेल दिया है। अपने हृदय के माधुर्य से राम को रिझाने की अपनी इस प्रक्रिया में प्रेमसखी जी ने बड़े मधुरगीतों के, पुष्प 'रसिक बिहारी रामचन्द्र' के चरणों में अर्पित किये हैं। 'प्रेम का सुधारस' इन गीतों में लबालब भरा हुआ है। इस 'मधुर मधुर रस' को पी कर प्रेमसखी जी अघा गये हैं। रसिकोपासकों के बीच इस मधुर प्रयत्न को बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है*।

(६७) 'महारासोत्सव अर्थात् सीताराम रहस्य§' श्री हनुमत्संहिता का अवधी गद्य में अनुवाद है। अवध मंडल के उन्नाव ज़िले की हसनगंज तहसील में औरासी नाम का

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ४१० से ४१५ तक। † वही, पृष्ठ ४१५-४१६। $ प्रकाशक—सेठ छोटेलाल लक्ष्मीचन्द। सन् १९०१ में जैन प्रेस, लखनऊ में मुद्रित। * रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ४१७। § लखनऊ प्रिंटिंग प्रेस में सन् १९०४ ई० में मुद्रित।

एक गाँव है। महारासोत्सव के रचनाकार अंबिका प्रसाद दैवज्ञ इसी ग्राम के निवासी थे। रसिक संप्रदाय का यह गद्य साहित्य अनोखा है। बीच-बीच में इस अनुवाद में दोहे का प्रयोग भी हुआ है। इस ग्रंथ में उज्ज्वला, कांचनी, चित्रा, चित्ररेखा, सुधामुखी, हंसी, प्रशंसा, कमला, विशदाक्षी, सुदर्शका, चंद्रानना, चंद्रकला, माधुर्यशालिनी, वरा, कर्पूरांकी तथा वरारोहा—ये सोलह रसोत्सुका सखियाँ हैं।

मैथिली रघुनंदन की सेवा करने वाली सखियाँ भी संख्या में सोलह हैं। उनके नाम हैं—शोभना, शुभदा, शांता संतोषा, सुखदा, सती, चारुस्मिता, चारुरूपा, चार्वंगी, चारुलोचना, हेमा, क्षेमा, क्षेमदात्री, धात्री, धीरा तथा धरा। वह कमलाकार क्षेत्र, जिसके मध्य में सीता-राम का अनंत ऐश्वर्ययुक्त लीला धाम है उसके सोलह दलों पर ये सखियाँ निवास करती हैं। इस कमलाकार भूमि के अन्य बारह दलों पर क्षीरोद्भवा, भद्ररूपा, भद्रचारु, भद्रदा, भावावर्जिता, विद्युल्लता, पद्मनेत्रा, पावनी, हंसगामिनी, रमणीया, प्रेमदात्री, कुंकुमांगी तथा रसोत्सुका का निवास है। अन्य बारह उपदलों पर महार्हा, मालवी, माल्या, कामदा, काममोहिनी, रति, क्षिति, नतिवती प्रेमदा, कुशला, कला तथा लीला निवास करती हैं। ये चौबीसों अनंत राम के महाभाव में निमग्न हो कर उनकी सेवा करती रहती हैं तथा उनकी ओर निर्निमेष देखती रहती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य आठ दलों पर अनंत माधुर्यपूर्ण ऐश्वर्य से युक्त आठ कुंज हैं। प्रथम 'वेष कुंज' में विलासिनी सखी सीता-राम का शृंगार करती है। इसकी भी भक्तितन्मयावस्था है। 'मालती कुंज' में सांगानन्दा सखी रहती है। यह भी सीता-राम के आनन्द का विधान करती है और स्वयं आनंदावस्था में रहती है। नित्यानन्द में मग्न रहने वाली वृन्दा 'केलिकुंज' में निवास करती है। यह सीताराम की क्रीडाओं का विधान करती है। नित्या सखी का 'सुखद कुंज' सीताराम के आनंदानुभव का कुंज है। यह सखी भी उनके आनन्द के संभार जुटाती रहती है और स्वयं भी उनके प्रेमानंद में मग्न रहती है‡।

'हिन्दोलकुंज' प्रेम प्रदर्शिनी सखी का कुंज है। इस कुंज में जनकनन्दिनी और रघुनंदन को इस सखी से अनंत प्रेम की भेंट प्राप्त होती है। सेवा और प्रेम की अनंत मधुर मूर्ति यह सखी है।

'सुन्दर दोल' कुंज में वसंत रंगिनी सखी का आवास है। यहाँ वसन्त के अनंत शोभासंभार से सीता और राघव की यह सखी उपासना करके युगल किशोर की मधुरोपासना के आनंद में मग्न होती है।

'भोजन कुंज' सदानुमोदिनी सखी का निवास स्थल है। यह सखी सब सखियों के साथ, वसंत की शोभा से मंडित अपने कुंज में मैथिली-राघव को छह रसों और छप्पन प्रकार वाले भोजनों से तृप्त करती है। राघव-मैथिली को इस सेवा से मोदित करके यह सखी अनंत मधुर रस में निमग्न हो जाती है।

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ४१७ से ४१९।

'चारु कुंज' मदन मंजरी सखी का कुंज है। यह राघव-मैथिली का शयनकुंज है। यहीं मदन मंजरी शयनसेवा करती हैं।

कुंजों के इन आठ दलों के उपकोणों में वल्लियाँ और वृक्ष शोभित हैं। माधवी चंपा, मल्लिका, पुन्नाग, चमेली, लवंगलतिका, आँवला तथा तुलसी इत्यादि वृक्ष तथा लताएँ इन उपकोणों को अपने सौरभ और पुष्पों से सज्जित करती रहती हैं। इन उपकोणों में वीणा वादिका वीणावती, वंशी वादिका सुगंधिका, संगीत के सप्त स्वरों की सिद्धि से सुशोभित खजनाक्षी खँजरी लिये हुए, गान कलावती मृदंग के साथ तथा सारंग लोचनी नाम की सखी सारंगी के साथ रामसीता की सेवा में प्रस्तुत रहती हैं। सुख दायिनी सुखस्पर्शवती है। यह अपने सुखस्पर्श से युगल किशोर की सेवा करती रहती है।

इस कमल के मध्य में सब मणियों से निर्मित भवन में कोटि चन्द्र, सूर्य और अग्नि के तेज को पराहत करने वाला, चिंतामणि के मन को भी मुग्ध करने वाला, मंत्र पवित्र, अकलुष, दीप्तिमान सिंहासन है। ओंकार सहित सब बीजों का इसमें निवास है। अनंत शक्ति के केन्द्र इस सिंहासन पर युगल किशोर आसीन हैं। यहाँ भी सब सखियाँ उनकी सेवा करती रहती हैं ‡।

इसी रासेश्वर राघव का ध्यान, गुरु की कृपा से, रसिकोपासक प्राप्त करते हैं। रासेश्वर का यह आनंदात्मक रूप संघर्षों की शान्ति का आदर्श भाव स्थल है। रसिकोपासकों के अनुसार यह स्थूल जगत् भी रामचन्द्र की प्रभा और सीता के प्रभाव से नितान्त प्रकाशित हो कर परम पावन है। इस भाव समाधि को आधे पल के लिए भी प्राप्त करके रसिक भक्त भव-बंधन से मुक्त हो जाता है †।

(६८) 'भावना अष्टयाम§' सीताराम शरण' राम रसरंग मणि की रचना है। यह ग्रंथ सीताराम की आठोंयाम की मानसी पूजा है। इस मानसी पूजा में 'सिया युत श्यामल राम सुजान' का रत्नसिंहासन पर ध्यान किया गया है। सीताराम के सौन्दर्य का वर्णन इस ध्यान में 'सुलच्छन लाल' की शोभा से हो रहा है। भरत और शत्रुघ्न दाहिने बाएँ चँवर चला रहे हैं तथा 'मारुत लाल' हनुमान पंखा कर रहे हैं।

शयन शोभा के ध्यान में 'रसरंग विहारी राम शयन' कर रहे हैं। उनके वाम भाग में 'रसिकराज वल्लभा जी शयन कर' रही हैं। भक्ति और भक्त दोनों 'दिव्य विग्रहों की चरण-सेवा' करते हैं। 'श्री युगल के नयन पंकज निद्रा से मुद्रित' होते हैं। 'श्री युगल कृपा' ी इसी शोभा को मन से रख कर भक्त अपने को धन्य मानते हैं। भगवान् के शयनकक्ष के एक भाग में मन्द ध्वनि से विहाग गाते हुए 'सेवानुरागी साधक श्री भक्ति पद पंकजों को साष्टांग प्रणाम कर' निद्रा में युगल किशोर के स्वप्न के 'सुख सिन्धु में मग्न' होते हैं *।

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ४१९–४२०। † वही, पृष्ठ ४२०। § प्रकाशक दुर्गाप्रसाद। संवत् १९६१ में चन्द्रप्रभा प्रेस (काशी) में मुद्रित। * रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ ४२१।

मधुरोपासना का यही स्वरूप है। जगत् के आदर्शों के लिए जीवन का बलिदान देने वाले मर्यादापुरुषोत्तम के दुःख-संवेदना-युक्त जीवन के प्रति कृतज्ञ हो कर भक्त हृदय उनके विलास के शृंगारमय जीवन में मग्न हुआ है। मनुष्य के हृदय की विश्ववेदना के लिए अनंत अवकाश मर्यादोपासना में तथा उसके शृंगार को अनंत सौन्दर्य प्रदान करने वाले विश्व प्रेम के लिए असीम विस्तार मधुरोपासना में है। सजग हो कर दोनों साधनाओं के द्वारा मनुष्य अपने को धन्य और परम पूजनीय बना सकता है।

उपासना के क्षेत्र में मर्यादा और शृंगार दोनों प्रकार की उपासनाओं के द्वारा संतों ने मानव के रागात्मक अस्तित्व को परम सुन्दर बना देने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। मर्यादापुरुषोत्तम के उपासक गोस्वामी तुलसीदास जी ने राम के बलिदानपूर्ण जीवन को ही मुख्यतः चित्रित किया है। मधुरोपासक संतों ने उनके जीवन के शृंगारात्मक पक्ष को अधिक गौरव प्रदान किया है। पर दोनों उपासनाएँ मनुष्य को उसके अनंत विकास की ओर ले जाती हैं। मधुरोपासक संतों पर कई बार अश्लीलता का आरोप लगाया गया है, पर अश्लीलता सिद्ध साधकों के भीतर नहीं है। मार्ग का अन्वेषण करने वाले कुछ गुमराह साधकों की चूक को सम्पूर्ण साधना के इतिहास का आधार नहीं बनाना चाहिए। मधुरोपासना की साधना के क्षेत्र में भी हृदय की रसमन्दाकिनी ही मुख्यतः प्रवाहित हुई है। उसी मन्दाकिनी का साक्षात्कार कराने का प्रयत्न इस ग्रंथ में किया गया है। लेखक का विश्वास है कि यह साधना भी मनुष्य के हृदय के मधुरभाव का अनंत शृंगार कर सकेगी; क्योंकि इसमें स्वयं जगदम्बा सीता ही अनंत सखियों के रूप में अपने अनंत प्रिय राम की अनंतमुखी सेवा में अनुक्षण लीन हैं‡।

मार्गशीर्ष, कृष्णा नवमी, मंगलवार,
विक्रम संवत् २०१६।

---

‡ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ १७६–१७७। इसी ग्रंथ का पृष्ठ-४७२, अनुच्छेद-२।

परिशिष्ट—१

सन्दर्भ तथा सहायक ग्रन्थों की अनुक्रमणिका

१. रामचरित मानस
२. रामलला नहछू
३. वैराग्य संदीपिनी
४. वरवै रामायण
५. पार्वती मंगल
६. जानकी मंगल
७. रामाज्ञा प्रश्न
८. दोहावली
९. कवितावली
१०. गीतावली
११. श्रीकृष्ण गीतावली
१२. विनय पत्रिका
१३. इंडियन थीइज्म : डॉ. निकॉल मैकनिकॉल
१४. ऐन आउट लाइन ऑफ़ रिलीजस लिटरेचर आफ़ इंडिया : डा. फार्कुहर
१५. कल्याण : उपनिषद् अंक
१६. तुलसीदर्शन : डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र
१७. भागवत सम्प्रदाय : डॉ. बलदेव उपाध्याय
१८. श्रीमद्भगवद्गीता
१९. कुमारसंभव : कालिदास
२०. अथर्ववेदीय रामपूर्वतापनीय उपनिषद्
२१. अथर्ववेदीय रामोत्तर तापनीयोपनिषद्
२२. अथर्ववेदीय सीतोपनिषद्
२३. वाल्मीकि रामायण
२४. न्यायकोष : महामहोपाध्याय भीमाचार्य झलकीकर
२५. दि रामायण ऑफ़ तुलसीदास : एफ़्. एच्. ग्राउज
२६. श्री भाष्य : आचार्य रामानुज
२७. महाभारत : व्यासकृत

२८. डिक्शनरी ऑफ़ थॉट्स : ट्रॉयनएड्वर्ड्स
२९. वैष्णविज़्म्, शैविज़्म् एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टेम्स (एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ इंडोआर्यन रिसर्च में) : सर आर. जी. भण्डारकर
३०. भक्तिमार्ग : (एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ रिलीजन एण्ड ईथिक्स में) सर आर. जी. भण्डारकर
३१. ट्रैव्हिडियन्स (साउथ इंडिया) : एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ रिलीजन एण्ड ईथिक्स में।
३२. वेदिक माइथॉलॉजी : मैक्डानेल
३३. रिलीजन ऑफ़ दि वेद : ब्लूमफ़ील्ड
३४. रिलजन्स ऑफ़ इंडिया : हॉप्किन्स
३५. रिलीजन्स ऑफ़ इंडिया : वार्थ
३६. भगवद्गीता : गार्वे
३७. लाइफ़ ऑफ़ रामानुज : ए. गोविन्दाचार्य
३८. वेदान्त सूत्रज् विथ रामानुजज् कमेंटरी : सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दि ईस्ट, भाग ४८
३९. सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दि ईस्ट (भाग २४ की भूमिका) : थिबॉट
४०. भगवद्गीता विथ रामानुजज् कमेंटरी : ए. गोविन्दाचार्य
४१. दि टीचिंग्ज़ ऑफ़ वेदान्त एकॉर्डिंग टू रामानुज : वी. ए. सुक्थनकर
४२. यतीन्द्र मत दीपिका : ए. गोविन्दाचार्य
४३. दि लाइफ़ एण्ड टीचिंग ऑफ़ श्री माधवाचार्यर : सी. एम. पद्मनाभाचार
४४. दि भगवद्गीता विथ श्री माधवाचार्यज् कमेंटरी : सुव्बाराव
४५. ग्रियर्सन के द्वारा, इंडियन ऐंटीक्वेरी, भाग २२ पृ. २२५ पर सूचित अन्य ग्रंथ
४६. दि पोएम्स ऑफ़ तुकाराम : फ्रेज़र और मराठे
४७. राइज़ ऑफ़ दि मराठा पावर चेप्टर ८
४८. ज्ञानेश्वर ['इंडियन इंटरप्रेटर' (मद्रास) क्रिश्चियन लिटरेचर सोसाइटी] जुलाई १९१४ अंक
४९. नामदेव ,, ,, ,, ,, अप्रैल १९१३ अंक
५०. तुकाराम ,, ,, ,, ,, अप्रैल १९१२ अंक
५१. मराठा पोएट्स ,, ,, ,, ,, जनवरी १९१३ अंक
५२. लॉर्ड गौरांग : एस्. के. घोष (कलकत्ता : पत्रिका ऑफ़िस)
५३. हिस्ट्री ऑफ़ बेंगाली लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर : डी. सी. सेन (कलकत्ता यूनिवर्सिटी)
५४. चैतन्यज् पिल्ग्रिमेजेज़ एण्ड टीचिंग्ज़ : जदुनाथ सरकार
५५. कबीर एण्ड दि कबीर पन्थ : जी. एच्. वेस्टकॉट (कानपुर मिशन प्रेस)
५६. कबीर्स बीजक : प्रेमचन्द (कलकत्ता बैप्टिस्ट मिशन प्रेस)
५७. दि आदिग्रंथ : ई. ट्रम्प, लन्दन, (अल्लेन एण्ड को)
५८. दि सिख रिलीजन : एम. ए. मैकॉलिफ़ (ऑक्सफ़ोर्ड क्लैरेंडन प्रेस)
५९. दि तिरुवाशगम् ऑफ़ माणिक्क वाशगर : जी. यू. पोप ,, ,,

६०. तन्त्र ऑफ़ दि ग्रेट लिवरेशन (महानिर्वाण तन्त्र) : अर्थर ऐव्हेलॉन (लन्दन)
६१. हिम्स टु दि गॉडेस : अर्थर एण्ड ऐलेन ऐव्हेलॉन (लन्दन)
६२. प्रिन्सिपल्स ऑफ़ तन्त्र : ,, ,,
६३. सम ऑल्टरनेटिव्ह्ज़ टु जीज़ज़ क्राइस्ट : जे. एल. जॉन्स्टन (लॉंगमैन्स, ग्रीन एण्ड कं.)
६४. नारद पांचरात्र
६५. नारद भक्तिसूत्र
६६. शाण्डिल्य भक्तिसूत्र
६७. श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराण
६८. हरिभक्ति-रसामृत-सिंधु
६९. भगवद्भक्ति-रसायन
७०. वैष्णवमताब्जभास्कर
७१, श्रीराम पटल
७२. रामार्चन चन्द्रिका
७३. आह्निक सूत्रावली
७४. कुलार्णव तन्त्र
७५. अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ वैष्णविज़्म इन साउथ इंडिया : के. आयंगार
७६. अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ वैष्णव सेक्ट : राम चौधरी
७७. रामानन्द टु रामतीर्थ : जी. ए. नैटेसन
७८. अध्यात्म रामायण
७९. योगवासिष्ठ
८०. रघुवंश : कालिदास
८१. उत्तरराम चरित : भवभूति
८२. भुशुंडि रामायण
८३. अगस्त्य सुतीक्ष्ण संवाद
८४. गोस्वामी तुलसीदास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
८५. तुलसीदास : राम बहोरी शुक्ल
८६. तुलसीदास : डॉ. माता प्रसाद गुप्त
८७. भक्तमाल
८८. मूलगोसाइँ चरित
८९. भक्ति कल्ट इन एन्शिएंट इंडिया : भगवत्कुमार गोस्वामी
९०. वैष्णवधर्म नो संक्षिप्त इतिहास : दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री
९१. डॉ. बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन
९२. भक्ति रहस्य : गोपीनाथ कविराज : कल्याण का हिन्दू संस्कृति अंक, पृष्ठ ४३६ से ४४४ तक
९३. दीक्षा रहस्य : ,, ,, ,, वर्ष १५, अंक ४
९४. हिम्स ऑफ़ दि आलवार्स (हेरिटेज ऑफ़ इंडिया सिरीज, कलकत्ता)

९५. नम्मालवार (नेटेसन, मद्रास)
९६. इन्ट्रोडक्शन टु दि पांचरात्र एण्ड दि अहिर्बुध्न्य संहिता (अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, १९१६)
९७. रेन ऑफ़ रियैलिज्म इन इंडियन फ़िलॉसफ़ी : नागराज शर्मा : मद्रास
९८. श्री मध्व : लाइफ़ एण्ड टीचिंग्स : मद्रास
९९. श्रीवल्लभाचार्य : भाई मनीलाल पारेख : श्रीभागवत धर्म मिशन, राजकोट १९४३
१००. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : दीनदयालु गुप्त
१०१. पोस्ट चैतन्य सहजिया कल्ट ऑफ़ बेंगाल : मनीन्द्रमोहन बोस : कलकत्ता यूनिवर्सिटी, १९३०
१०२. ऑब्स्क्योर रिलीजस सेक्ट्स ऑफ़ बेंगाल : डॉ. एस. दास गुप्त (कलकत्ता यूनिवर्सिटी, १९४०)
१०३. वैष्णव लिटरेचर ऑफ़ मेडीव्हल बेंगाल (सी. डी. सेन, कलकत्ता १९१७)
१०४. दि चैतन्य मूव्हमेन्ट : एम. टी. केन्नेडी (दि रिलीजस लाइफ़ ऑफ़ इंडिया सिरीज़, कलकत्ता, १९२५)
१०५. श्री गौडीय वैष्णव साहित्य (बंगला) : हरिदास दास, हरिबोल कुटीर नवद्वीप।
१०६. फिलॉसफ़ी ऑफ़ दि वैष्णव रिलीजन, लाहौर, १९२३
१०७. चैतन्य चरितावली (५ भाग) : प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, गीताप्रेस, गोरखपुर
१०८. अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ दि वैष्णव फेथ एण्ड मूव्हमेंट इन बेंगाल : एस. के. डे, जेनेरल प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, कलकत्ता
१०९. भक्ति विनोद : जैवधर्म (बंगला) श्री सनातन गौडीय मठ, कलकत्ता
११०. मॉडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फ़ॉलोअर्स इन ओरीसा : नगेन्द्र नाथ वसु, कलकत्ता, १९११
१११. मेडीव्हल वैष्णविज्म इन ओरीसा, कलकत्ता १९४०
११२. उत्कल साहित्य में पंच सखा : जनवाणी पत्रिका, काशी, १९५० अप्रेल : प्रो. चितरंजन दास
११३. शंकरदेव ए स्टडी : हरमोहन दास
११४. असम के ब्रजबुलि साहित्य का दार्शनिक स्वरूप : सम्मेलन पत्रिका-भाग ३० सं. ६-७ और ११-१२
११५. मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र : आर. डी. रानडे, पूना १९३३
११६. वारकरीज़ दि फ़ोरमोस्ट वैष्णव सेक्ट ऑफ़ महाराष्ट्र : इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, भाग १५, सन् १९३९
११७. योगसूत्र : पतंजलि
११८. कलि संतरणोपनिषद्
११९. रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना : श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

परिशिष्ट—२

सन्दर्भ सूची

अंतर्यामी ४, ५८, ६१, ६२, २०२, २०७, २१७, २३७, ३२७

अंतःकरण १०

अदोल रहस्य दीपिका ४८२

अंबिका प्रसाद दैवज्ञ ५१२

"अकाराक्षरसम्भूतः......" ९

अक्षर ब्रह्म २७

अखिलेश्वर दास ४७२

अगस्त्य रामायण ४६८

अगस्त्य संहिता ४६४, ४६७, ४७३, ४८३

अगस्त्य सुतीक्ष्ण संवाद ४४, ४७, ४६४

अगु स्वामी ४७४

अग्नि-बीज ५

अग्नि-शक्ति ५, ७

अग्नि-षोमात्मक ५

अग्रदास ५१, ४११, ४१२, ४६२, ४७५

अग्र स्वामी ४८३

अचित् ४७, ५९, ६१, ६३, ८३

अज १०१, १०२

अणिमा ४१७

अतिप्राकृत ७४, ९१

"अथ यज्ञे समाप्तेतु......" ३७

अथर्ववेद ९, १०, १६

"अथाभ्यर्च्य विधातारम्......" ३१

अदग्र स्वामी ४७४, ४७५

अदिति ३३

अध्यात्म-रामायण ४४, ४७, ४७२, ४७३

अध्यारोप १९

अनन्य चिन्तामणि ४७८

अनन्य भोगत्व ५५

अनन्य शेषत्व ५५

अनन्य साधनत्व ५५

अनर्घराघव ४१७

अनवसाद ४८, ४९

अनसूया २३३, २३४

अनातोले ३८६, ३८७

अनिरुद्ध ९, १२, १४, ६२, ६४

अनुग्रह-शक्ति 'औ' ६, २१

अनुद्धर्ष ४८

अनुस्वार ६

अनेकान्तवाद १३९

अपर प्रणव १९, २०

अपरा प्रकृति १९, २०

अपवाद १९

अप्रस्तुत विधान १८०

अभय २१

अभिमान १४१, १७२

अभेदवाद ५४, ८९, १८९, ३४७

अभेदानुभूति ३, ८, ९, ५३, ११४, १९९, २७६

अभेदोपासना ५, ९, ३१, ४१०

अभ्यास ४८, ४९

अमर रामायण ४६०

अमर शक्ति ७

अमोघा शक्ति ६, ७
अरण्य काण्ड २३१, २४३, ३२७, ३३५, ३३७
अरविंद ३८९
अरि मर्दन ३४६
अरूप ९९, १०१, १०२, ३३१
अर्चावतार ६१, ६२
अर्चिरादि पथ ४८५
अर्थ पचक ४८४, ४८५
अर्थ भावना ६९
अर्द्धमात्रा १३, १५
अवधूत ४१, ४६
अवधूत रामायण ४७
अवस्तु १९
अविद्या ५३, १५२, २३९, ३०६, ३०८
अविद्या माया ४९७
अविरल हरि भक्ति ६४, ९९, १३५, १३६,
२३८, २८९, ३१३
अविवेक ३१०
अश्वमेध २५, ३७, ३८
अश्विनी २७, ३४, २७९
अष्टयाम ५१, ४१३, ४८३
अष्टयाम पूजा विधि ४८३
अष्टयामी उपासना ४७४
अष्टादश पुराण ४९२
अस्पन्दन १८
अहंकार १०, १७१, १७२, १९९, २३७,
३१०
अहंता १४१
अहंबीज २०
अहं ब्रह्मास्मि ५४
अहेतुकी भक्ति १०४
अरेबियन नाइट्स ३४५

'आ' अनंतवाची ५
'आइडियल्स एण्ड आइडियलिस्ट्स' १५७
"आगच्छ विष्णो..." २९
आगम ३०६
आठ सखा ४७४
आठ सखियाँ ४७४
"आत्मवत् सर्वभूतेषु" ३०
आदर्शवाद १०७, ३२०, ३२२
आदि ग्रं ४३
आदि रामायण ४६८
आनन्द रामायण ४६७, ४६८
"आनंदो ब्रह्म" १४६, २७२
आर्या रामायण ४७४
आल मंदार संहिता ४६६
आलवन्दार ३९
आलवार ३८, ५८
आवेशावतार ४७४
आशावाद १२२, ४५७
आश्रम ११२
आह्लादिनी शक्ति ४७६

इंडियन थीइज़्म ३४५
इंडिया आफ़िस ४६८, ४७०
इच्छा शक्ति १७, १८, २१
इव्सन १५६
इल ३७, ३८
इला ३७
इस्लाम ४३

ईक्षणा शक्ति १८, २०
ईशान ३६
ईशावास्योपनिषद् १४०
"ईशावास्यमिदं सर्वम्..." १४९, १७६, २९६
ईश्वर : सर्वभूतानाम् ५४, ६२, २९६
ईश्वरीय जीवन १४५, ३८८
ईसाई ३४८, ३८९, ३९४

उकाराक्षर सम्भूत: ११
"उग्रेण तपसा......" ३२
उज्ज्वल उत्कण्ठा विलास ४८४
उत्तर कांड ३२७, ३३७
उत्तर रामचरित १२३, ४६९
उदार राघव ४६९
"उद्धरेदात्मनात्मानं..." १८६, २९७
उद्धर्प ४९
उद्भवस्थिति ७१
उद्भिज्ज ११०
उन्नीस मुखवाला १०
उन्नीस विद्याएं १०
उन्मेप २१
उपवेद २०
उपांग २०
"उपागम्यच......" ३३
उपादान कारण ५५, ६०
उपासना त्रय सिद्धान्त ४७३, ४७४
उपेन्द्र २७
उभय प्रबोधक रामायण ४९०

ऊर्ध्व पुण्ड्र ४६५

ऋग्वेद १०, ५८, ४६१
ऋतधामा २७
"ऋतेज्ञानान्नमुक्ति:" २४१
ऋद्धि ३०७, ४३२
ऋषि-सभ्यता १३६
ऋष्यश्रृंग २५

एक जन्मवाद ३८६, ३८७
"एक मेवाऽद्वितीयम् .." ६१, ३०२
एकास्तित्ववाद ३४५, ३४६
एकेश्वर ४३, ३४५
"एकोऽहं वहुस्याम्" २०

ऐश्वर्याशया उपासना ४८२

ओंकार ब्रह्म १३, १६
ओं नमो नारायणाय ५, ४३
ओं नमो भगवते वासुदेवाय ५, ४७
ओं रामाय नमः ४३
ओं राम् रामाय नमः ४७, ४८
"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म..." ११

कंचन ३९
कड़ा मानिकपुर ४६
कणाद ५८
कपर्दि ५९
कपिदूत ४७४
कपिल ६२, १४३
कबीर ४२, ४३, ११५, ११६, ३१६-३१८, ४६०, ४६१, ४७४
कर्दम ३७, १४३
"कर्दमेनैव..." ३७
कर्मनासा ८७
कर्मयोग ३०६
कर्मवाद १९०
कर्म-सौंदर्य १, ५९, ७३, १३५
कर्मेन्द्रिय १०
कला ७३, ७४, ८९, ९०, १३२
कलाकार ७३, ७४
कलात्मक सौंदर्य ८९
कला सम्बंधिनी सम्पन्नता २५२
कलि ७५, १०५, १०६, १०८, १२०, ३९०
कलि कलुष ६७, १२३
कलि सन्तरणोपनिषद् ३१५
कल्प १०
कल्याण ४८, ४९
कवि ७४, ८५, ९०-९२, ९५-९७, १०३, १०४, १३४

कविता ९०, ९२, ९५, १०३, ३६९, ३७०
कवितावली १०३, ३१३, ३३८
कवित्त रत्नाकर ४३६, ४५९
कविप्रिया ४२३
कविराज लछिमन ५००
कश्यप ३८
काकुत्स्थ ४०
"कात्वं भवसि..." ३५
कादम्बरी ४१७
काम बीज "क्लीं" ५
काम भावना ६७, ६९
कामिका शक्ति ७
कामिल बुल्के ४६८
"कामी स्वतां पश्यति" १२९
कारण अवस्था ४७, ६१
कारण बीज २०
कारण शरीर ४८५
कार्य अवस्था ४७, ६१
काल ३५, ६३, ८५, ३०१, ३४२
कालतत्व ८
कालिदास ३१, ३८, १२४-१३०, १३२, २१६
"काव्यं यशसे..." ६५
काशी खण्ड ४७३
काष्ठ जिह्वा स्वामी ४९६
किष्किन्धा २५६, २६५, ३२७, ३३५, ३३७
कील्हदास ५१
कुंडलिया ५१
कुमारदास ४६९
कुमारसंभव ४७, १२६
कुलशेखर ३९
कूटनीति २४५, २४६
कूर्म १५
"कृताभिषेकः..." ३३
कृष्ण १, १४, २८, ४०, ४३, ६१, ३१४ ३१६, ३१९, ३२०, ३२४
कृष्ण गीतावली १०३, ३१३-३१७, ३१९, ३२०, ३२४, ३२५, ३३७
कृष्णचंद्र तर्कालंकार ४७४
कृष्णदास पयहारी ५०, ५१, ४७४
कृष्ण सहस्र ४९६
कृष्णेनु ४७४
कृष्णोपासना ९, १४, ४६, ३१४, ३१५
कृपा निवास ४७७–४७९, ५०६
केरल ३९
केशवदास ४१७–४२९, ४३१
कैलास ३३, १०३
कोकिल सन्देश ४७४
"कोन्वस्मिन् साम्प्रतम्" ३०
कोविद कवि ५११
कौशल खण्ड ४६०
क्रिया ४८, ४९
क्रिया-शक्ति १०, १८, २०, २७
क्रोध-बीज 'हुम्' ५, ६
"क्रोधाद्भवति" २८२
क्रोधिनी शक्ति 'र' ६, ७
क्वचिदन्यतोऽपि ७३
क्विन्टेसेन्स ऑफ़ इन्सेनिज़्म १५६
क्षात्र-धर्म १३६, १३७, २९०
क्षुधा-शक्ति ७

गया प्रसाद ५०५
गरिमा ४१७
गलता ५०, ५१
गाणपत्य १०२
गायत्री २८
गालवानन्द ४२, ४७४
गालवाश्रम ४६७
ग्राउज़ ३७५, ३७७, ३९०–३९२, ४८४

गीत काव्य ४७४
गीत राघव ४७४
गीता ४७, ३४६–३५२, ३९२, ४६१, ४६२
गीतावली १०३, ३१३, ३३९–३४१
गुणत्रय १९
गुरु अर्जुन ४३
गुरु ग्रंथ साहब ४३
गुरुदेव ५९
गो-लोक ४६५
गोसाईं चरित्र ३९६
गौतम १५७, १६९

"चंद्रदूत" ४७४
'चंद्रमाः मनसो जातः' २, ८, ६८
चंद्र बीज 'म' ५
चंद्र-शक्ति १७, १८
चंद्रहास ३७
चंपू रामायण ४६८
"चतुर्दश सहस्राणि" ३९
चतुर्वर्ग १६, ६६, १०६, ११२
चतुर्व्यूह ९, ११, १३, २५
चतुष्पाद ब्रह्म ९, १३, १४, २५
चरम मन्त्र ४८
चांद्र रामायण ४६८
चार उपाय ४४३
चार दिक्पाल ४४३
चार पुरुपार्थ ४४३
चार वेद ४९२
चार समुद्र ४४३
चार सम्पत्तियाँ ४४३
चार्वाक् ५८
चिंतामणि २१, १०५
चित् ८, १०, १२, ४७, ५९, ६०, ६१, ८३, १३६
चित्त १०
चित्रकूट माहात्म्य ४६८
चित्सुखी ४६२
चिदचिद्विशिष्टब्रह्म ८३, १०१
चिदानंद १४३, १४४
चेतनांश १९
चेतोमुख १३
चौदह विद्याएँ ४९२
च्यवन ३७

छांदोग्य १९९
छः प्रकार की अनन्यताएँ ४७८
छह शास्त्र ४९२

जनकराज किशोरी शरण ४८०
जमदग्नि १३७
जप ४००
जयदेव ४६९, ४७४, ४९८
जल-शक्ति ७
जागरित स्थान ९, १०
"जागरित स्थानो..." ९
जाग्रत अवस्था ९, १०
जानकी-गीत ४६७, ४७४
जानकी नवरत्न माणिक्य ४९३
जानकी बिन्दु ४९६
जानकी मंगल ३२९-३३२, ३३४, ४९६
जानकीवर शरण ४८९
जानकी सनेह हुलास शतक ४८५
जानकी स्तवराज ४६७
जानकी-हरण ४६९
जावालि ३८
जिज्ञासु ४५, ११७
जीव ४, १२, १५, ५२-५४, ५९, ६१-६३, ७१, ७२, ८७, ९३, ११४, ११६,

जीव १२०, १३८, १४१, १४२, १६७, २३९, २४०, २६०, २७८, २९७, ३०२, ३०५, ३०७, ३११, ३१८
जीवन्मुक्ति ११८, ४२९
जीवाराम ४६०, ४८३, ४८९
'जीवो ब्रह्मैव नापरः" ५२
जैन ३८, ५८, १५०
जैन-दर्शन १३९
ज्ञानाअली ४९२
ज्ञानेंद्रिय १०
ज्येष्ठा ४
ज्योति-शक्ति ७
ज्वालिनी शक्ति ७

झूलन विहार संग्रहावली ५०६

टंक ५९
टेंकलइ ६४

तत् ८
"ततो देर्वापि गन्धर्वाः..." ३२
"तत्त्वमसि" ५४
तत्सुखी ४६०, ४६२
तपसी शाखा ५१
तमिल ३८, ४३, ६४
तांत्रिक ५
तापिनी ७
तामसिक शक्ति २८३
तामसिक वैराग्य १४६
तारक मंत्र ८, ९
तारक ब्रह्म ८, १५
तिरुपति ४०
तिरुवाय मोलि ३८
तिरोधान २१
तीक्ष्णा शक्ति ७
तीन अवस्थाएँ ३०६
तीस मंजरियाँ ४९५
तुरीय ३०६
तुलसी चरित ३९६
तुलसी दर्शन ३१५
"तेऽपि रामस्य..." ३८
तैजस ब्रह्म १२
तोताद्रि ५१
त्राणन ३
त्रिगुण ४, २४०, २५२, २८४, ३०६, ३९८
त्रिदंडि संन्यासी ४३
त्रिदेव ३०, ३२
त्रिपुरासुर २७
त्रिमूर्ति ४, ४८, ४९
त्रि वर्ग ११२
त्रिविध पवित्रता १०४
त्रिसत्य २२८
त्वक्शक्ति

थीइस्टिक रिलीजन ३४६

दक्ष १२७
दत्तात्रेय ४१, ४६
दसनामी संन्यासी ४३
दशरथ-जातक ३८
दशलक्षण ४७४
दाम्पत्य १२४, १२५, १२७, १३१–१३५, १३९, २३३, २३४, २४३, २४४, ३१८
दादू ४२
दास्यभाव ५५, १३५
दिक्पाल ६, १८४, २७८, ४४४
दिव्य-शरीर ५४
दीनभाव २३७, ३४१
दीर्घकला शक्ति ७

"दुःखमात्रोत्पादकं .." ३८
दुरंत रामायण ४६८
दुर्गा ३
देवचरित्र १३८,१५०
दूतकाव्य ४७४
देव रामायण ४६८
देव वैद्य २७
देव हूति १४३
देवानन्द ४१
दोहावली ७४, ३१३, ३३७
द्रमिड ५९
द्वादशाक्षर मंत्र ४७
द्वारानन्द ४१
"द्विजाः शृणुत..." ३७
द्वैत १४०, ३१४, ३१७, ३४७
द्वैतभाव ८३
द्वैताद्वैत १४०

धन्ना ४२, ४६
धर्ममय रथ २८७
"धर्मो रक्षति रक्षितः" १८६
धारणा २३६
ध्यान २३६
ध्यान-मंजरी ५१, ४७५, ४७६
ध्वनि-विग्रह ४

नगरशोभा ४३३
नन्दन शिष्य ४२
नमः ४
नमोऽस्तुरामाय ३४
नम्मालवार ३८
नरहरिदास ४६, ७६, ३६४
नरहरियानन्द ४२, ४७३
नवधा-भक्ति ४६८
नव-निधि २१
नवरस ४९३
नवल सिंह श्रीशरणयुगल अली ५००, ५०१

न वेत्ति रामः... ३१
नागरी प्रचारिणी ४१
नाद ४, १८, २०
"नानापुराणनिगमागम..." १. ५७
"नान्तः प्रज्ञं..." १३
नाभादास ४०, ५०, ५१, ४१२–४१४, ४७५, ४७६
नामदेव ४३
नार ५५
नारायण-मंत्र ५
नारायण-शक्ति ७
नारी-शक्ति २९४
निगम ३०७
नित्यरासलीला ५०१
निद्रावाचक ७
निमित्त कारण ५५, ६०
निमेष २१
नियति १९०, ३४६, ३५०
निरंजन १४४, २९६, ३००
निरंश ५१
निराकार ३
निराशावाद ३८६
निष्ठा का अनुभाव ४८१
निरीश्वरवाद ५८
निरुक्त १०
निर्गुण-उपासना ८३, ९८, ३२१
"निर्ममो निरहंकारः..." ९३
निर्विशेष ५२
नीलकंठ चतुर्धर ३८
नीला देवी १८
नित्यराघव मिलन ४९३, ४९५

नृसिंह ४३, ४००
नृसिंह का 'क्ष्रौं' बीज-मंत्र ६
नृसिंह पुराण ४७३
नेपोलियन ३८७
'नेह नानास्ति किंचन' ५१
नेहप्रकाश ४७६
नैषध ४१७
न्याय १०
न्याय-तत्त्व ३९
न्यायशास्त्र २०

पंच महायज्ञ ४९
पंचविंशत्यक्षर मन्त्र ४८
पंच शतक ४८२
पंच संस्कार ४७४, ४९८
पंचाग्नि १५
पतंजलि २००, २४१
पदावली ५१, ४७९
पद्म २१
पद्मनाभ २७, ६२
पद्मपुराण ४७२
पद्मावती ४२, ४७४
पर ६१
परत्व ४७१
परब्रह्म २, ३, २०
पराप्रकृति १९, २०
पराभक्ति ४६८
पर्यालोचना २०
पांचरात्र १०–१४, २५, ६२
पांचरात्र का चतुर्व्यूह ६, ९
पाँच सुर तरु ४४३
पाखंडवाद २६०
पार्वतीमंगल ३२७–३२९
पॉलो थीइज्म ३५१
"पितामह वचः श्रुत्वा..." २९
पिप्पलाद लोमश संवाद ४६४
पीपा ४६
पीयानन्द ४७४
पीला-शक्ति ७
पुण्य सदन ४२
पुराण संहिता ४६६
पुरुष १६
पुरुषोत्तम-दर्शन १४७
पूर्णपुरुष ५९, ९१
पैन्थीइज्म ३५१
प्रकृति १६, ४७, ६३, १०१, २७९, २९२
प्रतिष्ठा-शक्ति ७
प्रतीकोपासना २२७
प्रद्युम्न ९, ११, १४, ६२, ६४
प्रपत्ति ५५, ५६
प्रभव २७
प्रभाकर ४७४
प्रभाकर वर्द्धन १५७
प्रयत्न पक्ष ३३८
प्रसन्न राघव ४१७, ४६९
प्रस्थानत्रय १८, १९
प्राकृत-जन ५८, ९१
प्राकृत सृष्टि ६३
प्राजापत्य-पुरुष २४
प्राणचन्द्र चौहान ४१४, ४१५
प्राण-बीज २०
प्रातिभासिक २२, २३
प्राप्ति सिद्धि १९
प्रारब्धवाद १२२, १८३
"प्राज्ञात्मकस्तु..." १२
प्राज्ञब्रह्म १२, १३, १४
प्रीति-शक्ति ७
प्रेम कली ४९६
प्रेम पचीसी ४७८
प्रेम परत्व प्रभा दोहावली ४८८, ४८९

प्रेम-भक्ति ८३, ९८, १११, १४४, १६७, २०५, २०७, २१४-२१६, २९६, २९८, ३१८, ३२०, ३२१, ३३७
प्रेम-शक्ति ७
प्रेम-सखी ५०८, ५११
प्रेमलता ४९६-४९८
प्रेमानंद १६९, २९३, ३१६

फ़ार्कुहर ३८, ४१, ४२, ४३, ४४
फूल वंगला ५०९

वड़कलै ६४
वनादास ४९०
वरवै नायिका भेद ४३२
वरवै रामायण ३२७
वर्नार्ड शॉ १५५-१५७
वलदेव उपाध्याय ४०–४२
वलदेवप्रसाद मिश्र ३१५
वहिर्यामी ५८, १९०, २०७, २३६
वहिष्प्रज्ञ १०
वहुजन्मवाद ३८७
वहुदेवात्मक एकदेववाद १६३
"वहूनिमे व्यतीतानि" ५३
वाइरन ३८६
वाणभट्ट १५७
वादरायण व्यास ४४
वाल अली ४७६
वारह वन ४६६
वारह सूर्य ६, ४४३
वालकाण्ड ३२७, ३३५, ३३७, ३३९
विंदु ४, १८, २०
वीज ४
वुद्ध १५०
वुद्धि वीज २३
वुद्धि-योग २०५
"वुद्धेः परं वुद्ध्वा" ९३
वृहद् उपासना रहस्य ४९६
वृहद् कौशल खण्ड ४६९
वृहद् पद विनोद ५०६
वृहद् ब्रह्म संहिता ४६४
वृहद् सदाशिव संहिता ४६६
वेन ४२४
वेनी ४३
वेनी माधवदास ३९६
वैजनाथ कुर्मी ५०९, ५१०
वोधायन ५८
वोपदेवाचार्य ४१
वौद्ध ३८, ५८, १५०
ब्रह्मपरिणामवाद ५५
ब्रह्मवीज २४
ब्रह्मयामल ४७३
ब्रह्मरन्ध्र ५१
ब्रह्मलीन २९५, २९९
ब्रह्मलोक २७८, २९५, ३०१
"ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" १७६
ब्रह्म संहिता ४६६
ब्रह्मसूत्र ४४, ३४६

भक्त प्रमोदिनी ५०८
भक्तमनरंजरी ५११
भक्तमाल ५१, ४१२
भक्ति-योग २४२, २४३
भक्ति-सुधाविन्दु ४२
भजन रत्नावली ४९९
भजन रसमाल ५०७
भद्रास्थिति ८
भरद्वाज संहिता ४७३
"भर्गोदेवस्य..." ८३

भर्तृमेंठ ३८
भवभूति ३८, १२३
भागवत ४३, ३९८, ४०६, ४११
भाग्यवाद ४२७
भारतिचंद ४२३
भारती शाह ४२३
भारुच ५९
भार्गव ३७
भावना अष्टयाम ५१३
भावना पचीसी ४७८
भावनामृत कादंबिनी ५०१
भाव-बीज २३
भाव-भक्ति के नौ लक्षण ४८१
भुशुण्डि रामायण ४७, ४६०, ४६८
भूः (सप्तलोक) १०
भूदेवी १८
भूषण रहस्य ४९६
भेद का स्वरूप ७
भेदाभेद १७, १६३, १८९
भोगपक्ष ३३८
भोग-शक्ति २१
भौतिक अधिष्ठान २८
भ्रमर-गीत ३२०
भ्रमर-दूत ४७४
भ्रमर-संदेश ४७४

मंजुल रामायण ४६८
मंत्र ३
मंत्र-रामायण ३८
मगहर ८७
"मत्तः परतरम्..." ६१, ९३
मथुराप्रसाद सिंह ५१०, ५११
मदनाष्टक ४३२
"मद्भक्ता-यत्रगायन्ति..." ६२
मदारीलाल वैश्य ५०७
मधुर साधना ४६४
मधुराचार्य ४६७, ४७०-४७२
मधुरा रति ४६२
मधुरोपासना ४६९, ५१४
मधुसूदन सरस्वती १८, १९
मन १०, १७, ४०
मनसिज २
मनोबीज २०
मनोमय ११, १२, १७
मम्मट ६५
मरमी ३०८
मराठा-भक्त ४४
मरु ८७
मर्यादोपासना ५१४
मलूकदास ४६
महाकारण २०
महाकाश ६४
महाजनदास ५०२
महात्मा गाँधी १५७, ३८९
महापूर्णाचार्य ४१
महाभारत ३८, ३८४
महारामायण ४६०, ४६८
महारासोत्सव ४६०
महारासोत्सव अर्थात् सीताराम रहस्य ५११, ५१२
महावीर १५०
महावीर चरित ४६९
महावीरदास ५०२
महाशंभु संहिता ४६६, ४७३
महासदाशिव संहिता ४६६
महिमा ४१७
मांडूक्योपनिषद् ९, ११, १२, १३, १४
माधवाचार्य ४१
माधुर्याशया ४८२
मानदा-कला ७
मानस रोग ३०८, ३०९, ३११

माया-बीज 'ह्रीं' ५
माया विशिष्ट १०२, १७३, २०१, ३२१
माहेश्वर यज्ञ ३४, ३५
मिश्र-सत्व ६३
मीमांसा १०, २०
मुदिता ३०५
मुद्गल भट्ट ४७४
मूल-प्रकृति २०
मूल-प्रकृति रूपा ५
मूलाधिदेव स्वरूप ७१
मृत्यु प्रणवकला ७
मेधा-शक्ति ७
मैंदरामायण ४६८
मक्निकॉल ४१, ४२, ३४५-३४९, ३५१, ३५२, ३५६, ३५९, ३६२, ३६५, ३७२, ३७५-३७७, ३८४, ३८५, ३८८, ३८९, ३९०, ३९५
मैथिली कल्याण ४६९
मोदलता ५०९
मोनो थीइज़्म ३४६

यंत्र ३
यजुर्वेद का पुरुष सूक्त २, १०
"यत्र सुप्तो..." १२
"यद्यदाचरति..." ६५
"यन्मायावशवर्ति..." ७२
यशोवती १५७
यामुनाचार्य ३९, ४१
याज्ञवल्क्य ५५, ३७२
युगलप्रिया ५०६
युगलप्रिया पदावली ४८३
युगलरूप ७०
युगलविनोद विलास ४९०
युगलानन्यशरण ४६०, ४७०, ४७३, ४८४, ४८५, ४८६, ४८७, ४८८, ४८९
युगलोत्कंठ प्रकाशिका ५०३
यूथेश्वरियाँ ४६४
"ये तु त्वरयितुम्..." ३४
"ये यथा माम्..." २८३
योग-माया १७, ४२७
योग-यज्ञ ३४०
योग वासिष्ठ ४७
"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" २००
योगानन्द ४२, ४७४
"यो बुद्धेः परतस्तु सः..." ८, ९३

रंगनाथ ३९
रंगनाथ मुनि ३९
रघुनाथदास ४५९
रघुराज विलास ४९८
रघुराज सिंह ४५९, ४६० ४९८
रघुवंश २२७
रघुवरदास ३९६
"रमावीज श्रीं" ५
रम्य पदावली ५११
रसदेव ५०६
रसबोधिनी ४७०
रस भामिनी ५०६
रसभावना ६७
रसमालिका ४८३
रसरंग मणि ४९१
रससिद्धि ६६
रसस्थिति २७९
रसाभास २७९
रसिक अली ४८२, ५०६
रसिक का लक्षण ४९४
रसिक निवास ५०६
रसिक विहारिणी ५०६
रसिक संप्रदाय ४६१, ४६२, ४६६

रसिकोपासना ४६३, ४६४, ४९६, ४९७
"रसो वै सः..." ५८
रहस्यमय ४७
रहीम ४३१–४३६
राका २१
रागमयी प्रीति ४६८
राघव विलास ४७४
राघवानन्द ४०, ४१, ४२, ४४
राधा ४३, ४६७, ४९५
राधाकृष्ण १
राम का पूजा यन्त्र ५, ६
रामकिशोर शरण ४७०
रामकृष्ण भण्डारकर ४४
रामकृष्णैक्य ३१९
रामगीतगोविंद ४७४
रामचन्द्र विलास ५००
रामचन्द्र शुक्ल १७, ४११, ४१२, ४५९, ४६०. ४६३
रामचंद्रिका ४१७, ४१९-४२१, ४२३-४२५, ४२९-४३१
रामचरणदास ४५९, ४६०, ४७०, ४७२, ४७३, ४८२, ४८३, ४९०,
रामचरितमानस ४१२, ५०९, ५१०,
रामझाँकी विलास ४९२
रामतत्त्व प्रकाश ४७२
रामतत्त्व भास्कर ४७३
रामदास गौड़ ४६८
रामदेव ४३
रामद्वयमन्त्र ४८
रामनर्म सखा ४९४
रामनवरत्न ४६०
रामनवरत्न सार संग्रह ४७२, ४९०
रामनामयश विलास ४९१
रामनारायणदास ४९९
राम पूर्वतापनीय उपनिषद १–६, ८
रामप्रिया ५०८
रामप्रिया विलास ५०८
रामप्रियाशरण ४९५
रामप्रेम मंजरी ५०२
रामबीज मन्त्र ४
रामब्रह्म ९, ११-१३, २९४
राममन्त्र ४१
राममिश्र ३९, ४१
रामरक्षा ५०
रामरहस्योपनिषद् ४६४
राम-रस-रंग-विलास ४९१
रामरसामृत सिन्धु ४७८
राम-राज्य १३६, १३७, ३३६, ३३८, ३४०, ३८८, ३८९
रामरूप यश विलास ४९१
रामललानहछू ३२५, ३२६, ३२७
रामलिंगामृत ४७०
रामलोटन मिश्र ५०८
रामवल्लभाशरण ४६९, ४७०, ४७२, ४८९
रामविलास ४७४, ५१०
रामशतक ४७४
रामशत वंदना ४९१
रामसखे ४९३-४९५, ५०६
रामस्तवराज ४६६
रामषडक्षर ४२, ४८
रामाज्ञा-प्रश्न ३३४-३३६
रामानन्द ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४६, ४७, ४९, ५०, ४७३
रामानुजाचार्य २८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४७, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५९, ६३, ६४ ८३, १०२, २०७, २३७ २३८, २९२
रामानुज सम्प्रदाय ४३, ४६
रामायण मणिरत्न ४६८

रामायण महानाटक ४१४
रामायण महामाला ४६८
"रामायनमः" ४
रामार्चन-पद्धति ४१
रामाष्टयाम ४७५
रामोत्तर तापनीय उपनिषद ८, ९, १०, ११, १३, १४
रायमल्ल पाण्डे ४५९
रास पंचाध्यायी ४३२
रास पद्धति ४७८
रीतिकाल ४६३
रुद्र ६, १५, २७, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ६७, २५७
रुद्रवाचस्पति ४७४
रुद्र-शक्ति ७
रूपकला ४२
रूप सरस ५०६
रैदास ४२, ४६, ४७४
रौद्री ४

लग्न पचीसी ४७७
लीलापुरुषोत्तम १०
लीला विग्रह १४४
लोकपाल ६, १५, ३०१
लोमश रामायण ४६८
लोमश संहिता ४६०, ४६४

"वंदे बोधमयम्..." ६९
वंदे श्री राघवाचार्यम् ४०
वरदान २१
वराह का 'हुम्' बीजमंत्र ६
वर्णभावना ६६
वर्णाश्रम धर्म ३४५, ४२३
वल्लभ ३९७, ४३२
वसिष्ठ संहिता ४६१, ४६६
वषट्कार ६, २८
वसु ६, १५, २७, ३४
वस्तु १९
वह्निकला ७
वाजपेय-छत्र २८
वात्सल्य-भक्ति ३१६, ३१७
वात्सल्य-भाव २५३
वानर ६, २२
वामदेव ३८
वाम-मार्ग १८२
वामा ४
वायु-शक्ति ७
वाराह पुराण ४७२
वाल्मीकि संहिता ४६५
वाल्मीकीय रामायण ४६७, ४६९–४७१
वासुदेव ९, १३, १४, ४७४
वास्तुवेद २०, ६२
"विकारापगमे" १९
विजय ४००
विजातीय ५१, ५२
वित्तभावना ६७
विदेह ९८ १५७, ४२४
विद्यापति ३१८
विद्या माया ४९७
विद्याशक्ति ७, १५, २३९, ३०३
विद्युत् माला १८
विधि ८३, ८८
विनय चालीसी ५०६
विनय-पत्रिका २१, १०३, ३१२, ३४१, ३४२, ३४४, ३७८
विनायक ६५, ६६, ६९, ७०
विभव ६१, ६२
विमल ज्ञान २६४–२७१
विमल-विज्ञान २७२–२८८

विमल-विज्ञान वैराग्य १४६–२३०
विमल-वैराग्य २३१–२५५
विमल सन्तोष ५७–१४५
विमोक्ष ४८, ४९
विराट् ब्रह्म ७
"विलसद्विप्रपाद" २८९
विवर्त्त ८४
विवृच्छक्ति २०
विवृति २०
विवेक ४८, ४९, ४२८
विशिष्ट ब्रह्म २४२
विशिष्टाद्वैत १६, २२, ३९, ४३, ४७, ५१, ५४, ५९–६१, ६३, ६४, ८३, ९८, ९९, १०१, १०२, १०६, १०८, ११३, १२२, १३९–१४१, १४४, १५९, १७५, १७६, २०२, २०५–२०७, २१०, २११, २१३, २१९, २२२, २३७, २३८–२४०, २४२, २७३, २७५, २७८, ३२६, ३२७, ३२९, ३५५, ३५६, ४२९, ४५०
विशुद्ध-सन्तोष २५६–२६३
विशुद्ध-ज्ञान ७०, ७१
विश्वंभरोपनिषद् ४६३
विश्वनाथ ४७४
विश्वनाथ सिंह ४७४
विश्व-शक्ति ७
विश्वात्मवाद २१०
विश्वाद्वैत ६७
विष-शक्ति ७
विष्णु सहस्र नाम ३१५
विष्वक्सेन (आदि अनंत नाम) २७, ४१
विज्ञान १४१, २७२, ३०४, ३९८, ३९९
"विज्ञानं-ब्रह्म" १४६, २७२
"विज्ञानमानन्दम् ब्रह्म" ३००
विज्ञानात्मा १६
वीर-लक्ष्मी २१
वीर-शक्ति २१
वेंकटाचार्य ४७४
वेंकटाद्रि ४०
वेदांग १५, २०, ३०
वेदान्त १९, ११७, २१०, २४१, २६४, २७२, २७३
वेदान्त देशिक ४०, ४७४
वेद्यान्तर विगलित २०६
वैदिक मणि संदर्भ ४७०
वैराग्य संदीपिनी ३१३, ३२६
वैशेषिक ५८
वैश्वानर ९, १०, ११, १४
वैष्णवदास ५०५
वैष्णव-भक्ति १०२
वैष्णव-मताब्ज भास्कर ४७, ४८, ५०
वैष्णव विनोद ५०५
वैष्णव-सम्प्रदाय २७५
वैष्णव-साधना १४
व्याकरण १०
व्याकरण-विद्या २०
व्यूह ६१, ६२, ६४

"शंकाहतात्मा..." ३५
शंख २१, ४६९
शठकोप ३८, ३९, ४१, ४६७
शब्द-ब्रह्म ७, १७
शरणागति २७१, २७९ ३४२
शरणागति धर्म ४८०
शाक्त १०२, १८२
शिक्षा १०
शिव परिवार ३२७

शिव संहिता ४६४, ४७०
शील भावना ६६, ६७
शुक संहिता ४६५
शुक्र नीति ४२४
शुद्ध चैतन्य ५२
शुद्ध-सत्व ६३, ६४
शुद्धाद्वैत १४०
शृंगार प्रदीप ४९९
शृंगार भक्ति ३१७, ३१८
शृंगार रहस्य दीपिका ४८३
शृंगाराद्वैत ३१७
शेष ६, १०, २७, ६३, ९३, १३०, १९०,
३०३ ४६९
शेषत्व ६३, ६५
शेषवृत्तिपरता ५५
शेष-शेषी भाव ५४
शेषी ६३
शौनकीय तन्त्र १७, १८
श्याम लगन ४९६
श्याम सखे की पदावली ५०१
श्याम सुधा ४९६
श्वेता-शक्ति ७
श्रद्धा के अनुभाव ४८१
श्रपण रामायण ४६८
श्रम भावना ६६
श्री देवी १८
श्रीनाथ मुनि ४१
श्रीभाष्य ४४, ४७
"श्रीमद् रामचन्द्र चरणौ शरणम्..." ४८
श्रीयानन्द ४१
श्रीरंगम् ३९
श्रीराम सान्निध्य १६
श्री वत्स २१
श्री वैष्णव ४०, ४३, ४७, ४९ ५५
श्री शैल ३९
श्री सम्प्रदाय ४३, ४७, ४९
'श्रेयान् स्वधर्मो...' ८४
संकर्षण ९, १०, ११, १४, ६२, ६४
संगीत रघुनन्दन ४७४
संत-धर्म ३६०
संत-सुख प्रकाशिका पदावली ४८५, ४८६
संतानक लोक ३२
संवृत-रामायण ४६८
"सकृदेव प्रपन्नाय..." ४८
सखी भाव ४६०, ४६६, ४६८
सगुण-अवतार १२
सगुण-ब्रह्म १४, १४०, २९३, २९५
सगुणोपासना ५८, ५९, ९८, १०१, १०२,
२०७, २७४, २७५, २९५,
३०७, ३३२, ३३३, ३३४
सच्चिदानन्द १२, १६, ८४, १०१, १०२,
१४१, १६५, २२५, २९४, ३००
सत् ८, १३६
सतरूपा १२४, १४२, १४३
सती-प्रथा १५६
सत्यं शिवं सुंदरं २२५
सत्य २३, ३०, ४९, ५८, ५९
सत्योपाख्यान ४६९
सत्व २७९, २९०, ३०६, ४२७, ४२८
सत्व प्रधान १४६
सत्व शून्य ६३
सदन ४३
सद्गुरु ३११
सदाशिव संहिता ४६६
सनकादि २३४, २९५, २९६, ३११
सनत्कुमार संहिता ४६६, ४७३
सनातन ब्रह्म २
"स पपात..." ३३

सप्त ऋषि ६७, १३१, १३२
सप्त-द्वीप १८
सप्तमहा व्याहृति १५
सप्त-समुद्र १८
सप्तांग १०
सप्तावर्ण ३०१
समवार व्रत ३६
समन्वयवादी ३१४
समय रस वर्धिनी ५०१
"समर्थोनास्मि..." ३४
समार्याशतक ४७४
सम्मोहन १२८
"सम्मोहात्..." २८३
सरयूदास ४७३
सरयू रस रंग लहरी तथा अवध पंचक ४९१
सरयू सखी ५०६
सरस्वती का 'ऐं' बीज ५, ६
"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" ५१, १६४, १९९, २९६
सर्वगतत्व २९६
सर्वदर्शन संग्रह १९
सर्व भाव ४६१
सर्व भूतान्तरात्मा १५
सर्ववाद ३१, ३२, ३६, १६३, १६४, ३४९, ३५१
सर्व व्यापी आत्मा ४
सर्व व्यापकतावाद २०१
सर्वार्थ-दर्शन ८१
सर्वास्तिवाद ३४५
सविशेष ५२
'स' सत्य १७
सहस्र गीति ३८, ४६७
सहस्र रजनी कथा ३४५, ३४७
सांख्य के पच्चीस तत्त्व ५५, ५०२
सांख्य-दर्शन १६, ४८०
सांख्य-योग ५१
"सांख्य योग वेदान्त" ५००
सांख्य-शास्त्र १४३, २३९
सांश ५१
साकल्य मल्ल ४६९
साक्षात् शक्ति १७, २१
साक्षी ५२
साधनावस्था ३९४
साध्य २७
सामवेद १०
सामीप्य ३९०
साम्यावस्था १९
सायुज्य २७६
सारूप्य ३९०
सालोक्य ३९०
सावित्री ३१
साहित्य साधना ८८, १०३
सिक्ख ४३
सिद्धान्त तत्त्व दीपिका ४७६
सिद्धान्त-तन्मात्रा ४१
सिद्धान्त मुक्तावली ४८०
सिद्धावस्था ३९४
सिनीवाली २१
सियवर केलि पदावली ४९२
सियाअली ५०१
सिया रामचरण चंद्रिका ५००
सियाराम पच्चीसी ५०६
सीतायन ४३५
सीताराम झूला विलास ४९१
सीताराम नखशिख वर्णन ५०८
सीताराम शरण रामरस मणि ५१३
सीताराम शरण 'शुभ शीला' ५०३–५०५
सीताराम श्रृंगार ५०२
सीताराम शोभावली प्रेम पदावली ४९१
सीताराम संयोग पदावली ५०९
सीता शक्ति १८

सीतोपनिषद् १६, १७, १८
सुन्दरकाण्ड २६४, ३२७, ३३५, ३३७
सुन्दर मणि संदर्भ ४७०, ४७१
सुखानन्द ४२, ४७३
सुदक्षिणा ३१
सुदर्शन ४६९
सुब्रह्मण्य रामायण ४६८
सुमेर देव ५१
सुरसुरानन्द ४२, ४७३
सुरसुरी ४२
सुवर्चस रामायण ४६८
सुशीला देवी ४२
सुषुप्ति १२, २१८
सूक्ष्म-जगत् ११
सूक्ष्म-रुद्र ७
सूक्ष्मेंद्रिय ८
सूरदास २७०, ३१४, ३१८, ३९६, ३९७, ३९८, ३९९, ४००, ४०१, ४०२, ४०३, ३०४, ४०६, ४०७, ४०८, ४०९, ४१० ४११, ४३२।
सूरसागर ४११
सृष्टि संकल्प शक्तयः २०
सेना ४२, ४६, ४७४
सेनापति ४३६, ४३७, ४३८, ४३९, ४४०, ४४१, ४४२, ४४३, ४४४, ४४५, ४४६, ४४७, ४४८, ४४९, ४५०, ४५२, ४५३, ५५४, ४५५, ४५६, ४५७, ४५८, ४५९।
सेवक सेव्यभाव ५४, २६८, ३०८
सैमुएल लवर ३८७
सोम ५, १५, ३५, २६४
"सोमसूर्य्या" ३३
सोमेश्वर ४७४
सोलह रसोत्सुका सखियाँ ५१२
सोलह शृंगार ४७५
"सोऽहमस्मि..." ३०६
सौम्य-शक्ति ७
सौर्य रामायण ४६८
सौलभ्य ४७१
सौहार्द रामायण ४६८
स्थाणु ३३
स्थूल-जगत् १०, ११
स्थूल-भुक् १०
स्थूल-भोग १२
स्पंदन १८, १९
स्मृतिका केन्द्र ७
"स्मृति मात्रेण पुंसाम्..." ३१५
स्वगत ५१, ५२
स्वजातीय ५१, ५२
स्वधा २१
स्वप्न १२, २१८
स्वप्न स्थान ११
स्वसुखी ४६०, ४६२
स्वान्तः सुख ५८, ७४, ७५, ९८, १२९
स्वातन्त्र्य-साधना ६६
स्वायम्भुव मनु १४२, १४३
स्वायम्भुव रामायण ४६८
स्वाहा २१
स्वेदज ११०

हंस २२९
हंस संदेश ४७४
हठ योग ४९, ५०, २०५, ४२९
हनुमत् चरित्र ४५९
हनुमन्नाटक ४७, ४१५, ४१७, ४६८, ४७२
हनुमत् बिन्दु ४९६
हनुमत्संहिता ४६०, ४६४, ४७३, ५११
हनुमान अगस्त्य संवाद ४६४
हनुमान बाहुक ३३७, ३३८, ४५९

हयहय वंश १३७
हरिचरणदास ५०७
हरिदास ४६६
हरिनाथ ४७४
हरि भक्ति सिन्धुवेला ४०
हरियाचार्य ४६७, ४७४
हरियानन्द ४१
हरिशंकर ४७४
हरिहर प्रसाद ४७३, ४९९, ५००
हर्ष १५७, ३१०
हर्ष चरित १५७
हस्ति वल्लभ ४६९
हिन्दुत्व ४६८
हिरण्य गर्भ १५
हिरण्य गर्भ-संहिता ४६६, ४७३
हृदयराम ४१५-४१७
ह्यूम ३८६
ह्लादिनी शक्ति ५, ७, २१
